

श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

‘यशस्तिलकचम्पू’ महाकाव्यम्

यशस्तिलकदीपिकाख्यया भाषाटीकया समेतम्
उत्तरखण्डम्

—अनुवादक-सम्पादक व प्रकाशक—

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व काव्यतीर्थ

अध्यक्ष—श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला

कमच्छा बी० २१।१२९ ठाकुरवाड़ी

वाराणसी (यू० पी०)

—प्राक्कथन-लेखक—

श्री० डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल

अध्यक्ष—कला व पुरातत्त्व विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

सम्पादन-प्रकाशन प्रभृति सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम आवृत्ति }
२१०४ प्रति }

श्रावण वीर नि० २४९७

वि० सं० २०२८

जुलाई १९७१

{ मूल्य इक्कीस २१ रु०
सजिल्द }

मुद्रक—आनन्द प्रेस, बी० १२।११२ गौरीगंज, वाराणसी-१

प्राक्कथन

संस्कृत के गद्य-साहित्य में अनेक कथाग्रन्थ हैं। उनमें बाण की 'कादम्बरी', सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' और घनपाल को 'तिलकमञ्जरी'—ये तीन अत्यन्त विशिष्ट ग्रन्थ हैं। बाण ने कादम्बरी में भाषा और कथावस्तु का जिस उच्च पद तक परिमार्जन किया था उसी आदर्श का अनुकरण करते हुए सोमदेव और घनपाल ने अपने ग्रन्थ लिखे। संस्कृत भाषा का समृद्ध उत्तराधिकार क्रमशः हिन्दी भाषा को प्राप्त हो रहा है। तदनुसार ही 'कादम्बरी' के कई अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में श्री० सुन्दरलालजी शास्त्री ने 'सोमदेव' के 'यशस्तिलकचम्पू' का भाषानुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की विशेष सेवा की है। हम उनके परिश्रम और पाण्डित्य की प्रशंसा करते हैं। इस अनुवाद को करने से पहले 'यशस्तिलकचम्पू' के मूल पाठ का भी उन्होंने संशोधन किया और इस अनुसंधान के लिये जयपुर, नागौर, सीकर, अजमेर और बड़नगर के प्राचीन शास्त्रभण्डारों में छानबीन करके 'यशस्तिलकचम्पू' की कई ह० लि० प्राचीन प्रतियों से मूल पाठ और अर्थों का निश्चय किया। इस श्रमसाध्य कार्य में उन्हें लगभग ८-१० वर्ष लगे। किन्तु इसका फल 'यशस्तिलकचम्पू' के अधिक प्रामाणिक संस्करण के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। 'यशस्तिलक' का पहला संस्करण मूल के आठ आशवास और लगभग साढ़े चार आशवासों पर 'श्रुतसागर' की सं० टीका के साथ १९०१-१९०३ में 'निर्णयसागर' यंत्रालय से प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ में लगभग एक सहस्र पृष्ठ हैं। उसी की सांस्कृतिक सामग्री, विशेषतः धार्मिक और दार्शनिक सामग्री को आधार बनाकर श्री कृष्णकान्त हुन्दीकी ने 'यशस्तिलक और इण्डियन कल्चर' नामका पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ १९४९ में प्रकाशित किया, जिससे इस योग्य ग्रन्थ की अत्यधिक ख्याति विद्वानों में प्रसिद्ध हुई। उसके बाद श्री सुन्दरलालजी शास्त्री का 'यशस्तिलक' पर यह उल्लेखनीय कार्य सामने आया है।

आपने आठों आशवासों के मूलपाठ का संशोधन और भाषाटीका तैयार कर ली है। तीन आशवास प्रथमखण्ड के रूप में १९६० में प्रकाशित हो चुके हैं और शेष पाँच आशवास टीका-सहित दूसरे खण्ड के रूप में प्रकाशित होंगे। प्राचीन प्रतियों की छानबीन करते समय श्री सुन्दरलालजी शास्त्री को 'भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन सरस्वती भवन' नागौर के शास्त्रभण्डार में 'यशस्तिलक-पञ्जिका' नामका एक विशिष्ट ग्रन्थ मिला, जिसके रचयिता 'श्रीदेव' नामक कोई विद्वान् थे। उसमें आठों आशवासों के अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दों का निघण्टु या कोश प्राप्त हुआ। इसकी विशेष चर्चा हम आगे करेंगे। इसे भी श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने परिशिष्ट दो में स्थान दिया है। इसप्रकार ग्रन्थ को स्वरूप-सम्पन्न बनाने में वर्तमान सम्पादक और अनुवादक श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने जो महान् परिश्रम किया है, उसे हम सर्वथा प्रशंसा के योग्य समझते हैं। आशा है इसके आधार से संस्कृत वाङ्मय के 'यशस्तिलकचम्पू' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ का पुनः पारायण करने का अवसर प्राप्त करेंगे।

'सोमदेव' ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना ९५९ ईसवी में की। 'यशस्तिलक' का दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित' भी है, क्योंकि इसमें उज्जयिनी के सम्राट् यशोधर का चरित्र कहा गया है। अर्थात्—'यशोधर' नामक राजा की कथा को आधार बनाकर व्यवहार, राजनीति, धर्म, दर्शन और भोक्ष सम्बन्धी अनेक विषयों की सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'सोमदेव' का लिखा हुआ दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत'

है, उसमें 'कौटिल्य' के अर्थशास्त्र को आधार मानकर 'सोमदेव' ने राजशास्त्र विषय को सूत्रों में निबद्ध किया है। संस्कृत वाङ्मय में 'नीतिवाक्यामृत' का भी विशिष्ट स्थान है और जीवन की व्यवहारिक निपुणता से ओतप्रोत होने के कारण वह ग्रन्थ भी सर्वथा प्रशंसनीय है। उस पर भी श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने हिन्दी टीका लिखी है। इन दोनों ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि 'सोमदेव' की प्रज्ञा अत्यन्त उत्कृष्ट कौटि की थी और संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था।

'सोमदेव' ने अपने विषय में जो कुछ उल्लेख किया है, उसके अनुसार वे देवसंघ के साधु 'नेमिदेव' के शिष्य थे। वे राष्ट्रकूट सम्राट् 'कृष्ण' तृतीय (९२९-९६८ ई०) के राज्यकाल में हुए। सोमदेव के संरक्षक 'अरिकेसरी' नामक चालुक्य राजा के पुत्र 'वाद्यराज' या 'वद्दिग' नामक राजकुमार थे। यह वंश राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्त पदवीधारी था। 'सोमदेव' ने अपना ग्रन्थ 'गङ्गाधारा' नामक स्थान में रहते हुए लिखा। धार-वाड़ कर्नाटक महाराज और वर्तमान 'हैदराबाद' प्रदेश पर राष्ट्रकूटों का अखण्ड राज्य था। लगभग आठवीं शताब्दी के मध्य से लेकर दशम शताब्दी के अन्त तक महाप्रतापी राष्ट्रकूट सम्राट् न केवल भारतवर्ष में बल्कि पश्चिम के अरब साम्राज्य में भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अरबों के साथ उन्होंने विशेष मेत्री का व्यवहार रखा और उन्हें अपने यहाँ व्यापार की सुविधाएँ दीं। इस वंश के राजाओं का विरुद्ध 'बल्लभराज' प्रसिद्ध था, जिसका रूप अरब लेखकों में बलहरा पाया जाता है। राष्ट्रकूटों के राज्य में साहित्य, कला, धर्म और दर्शन की चौमुखी उत्पत्ति हुई। उस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर दो चम्पू ग्रन्थों की रचना हुई। पहला महाकवि त्रिविक्रमकृत 'नलचम्पू' है। 'त्रिविक्रम' राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्र तृतीय (९१४-९१६ ई०) के राजपण्डित थे। इस चम्पू ग्रन्थ की संस्कृत शैली श्लेष प्रधान शब्दों से भरी हुई है और उससे राष्ट्रकूट संस्कृति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

त्रिविक्रम के पचास वर्ष बाद 'सोमदेव' ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की। उनका भरसक प्रयत्न यह था कि अपने युग का सच्चा चित्र अपने गद्यपद्यमय ग्रन्थ में उतार दें। निःसन्देह इस उद्देश्य में उनको पूरी सफलता मिली। 'सोमदेव' जैन साधु थे और उन्होंने 'यशस्तिलक' में जैनधर्म की व्याख्या और प्रभावना को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उस समय कापालिक, कालामुख, शैव व चार्वाक-आदि जो विभिन्न सम्प्रदाय लोक में प्रचलित थे, उनको शास्त्रार्थ के अखाड़े में उतार कर तुलनात्मक दृष्टि से 'सोमदेव' ने उनका अच्छा परिचय दिया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ भारत के मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहास का उमड़ता हुआ स्रोत है, जिसकी बहुमूल्य सामग्री का उपयोग भविष्य के इतिहास ग्रन्थों में किया जाना चाहिए। इस क्षेत्र में श्रीकृष्णकान्त हन्दीकी का कार्य, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, महत्वपूर्ण है। किन्तु हमारी सम्मति में अभी उस कार्य को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है, जिससे 'सोमदेव' की श्लेषमयी शैली में भरी हुई समस्त सामग्री का दोहन किया जा सके। भविष्य में किसी अनुसन्धान प्रेमी विद्वान् को यह कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

'यशस्तिलक' की कथा कुछ उलझी हुई है। 'बाण' की कादम्बरी के पात्रों की तरह इसके पात्र भी कई जन्मों में हमारे सामने आते हैं। बीच-बीच में वर्णन बहुत लम्बे हैं, जिनमें कथा का सूत्र खो जाता है। इससे बचने के लिये संक्षिप्त कथासूत्र का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राचीन समय में 'धौघेय' नाम का जनपद था। वहाँ का राजा 'मारिवत्त' था। उसने 'वीरभेरव' नामक अपने पुरोहित की सलाह से अपनी कुलदेवी चण्डमारी को प्रसन्न करने के लिये एक सुन्दर पुरुष और स्त्री की बलि देने का विचार किया और चाण्डालों को ऐसा जोड़ा लाने की आज्ञा दी। उसी समय 'सुदत्त'

नाम के एक महात्मा राजधानी के बाहर ठहरे हुए थे। उनके साथ दो शिष्य थे—एक 'अभयसूचि' नाम का राजकुमार और दूसरी उसकी बहिन 'अभयमति'। दोनों ने छोटी आयु में ही दीक्षा ले ली थी। वे दोनों दीपद्वार की भिक्षा के लिये निकले हुए थे कि चाण्डाल पकड़कर देवी के मन्दिर में राजा के पास ले गया। राजा ने पहले तो उसकी बलि के लिये तलवार निकाली पर उनके तपः प्रभाव से उसके विचार सौम्य हो गए और उसने उनका परिचय पूछा। इस पर राजकुमार ने कहना शुरू किया।

(कथावतार नामक प्रथम आश्वास समाप्त)।

इसी 'भरतक्षेत्र' में 'अवन्ति' नाम का जनपद है। उसकी राजधानी 'उज्जयिनी' शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। वहाँ 'यशोधर' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी 'चन्द्रमति' थी। उनके 'यशोधर' नामक पुत्र हुआ। एक बार अपने शिर पर सफेद बाल देखकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने पुत्र यशोधर को राज्य सौंपकर संन्यास ले लिया। मन्त्रियों ने यशोधर का राज्याभिषेक किया। उसके लिए शिप्रा के तट पर एक विशाल मण्डप बनवाया गया। नये राजा के लिये 'उदयगिरि' नामक एक सुन्दर तरुण हाथी और 'विजयनैनतेय' नामक अश्व लाया गया। यशोधर का विवाह 'अमृतमति' नाम की रानी से हुआ। राजा ने रानी, अश्व और हाथी का पट्टबन्ध धूमधाम से किया।

(पट्टबन्धोत्सव नामक द्वितीय आश्वास समाप्त)।

अपने नये राज्य में राजा का समय अनेक आमोद-प्रमोदों व दिग्विजयादिके द्वारा सुख से बीतने लगा।

(राजलक्ष्मीविनोदन नामक तृतीय आश्वास समाप्त)।

एक दिन राज-कार्य शीघ्र समाप्त करके वह रानी अमृतमति के महल में गया। वहाँ उसके साथ विलास करने के बाद जब वह लेटा हुआ था तब रानी उसे सोया जानकर धीरे से पलंग से उतरी और वहाँ गई, जहाँ गजशाला में एक महावत सो रहा था। राजा भी चुपके से पीछे गया। रानी ने सोते हुए महावत को जगाया और उसके साथ विलास किया। राजा यह देखकर क्रोध से उन्मत्त हो गया। उसने बाह्य कि वहीं तलवार से दोनों का काम समाप्त कर दे, पर कुछ सोचकर रुक गया और उलटे पैर लौट आया, पर उसका हृदय सूना हो गया और उसके मन में संसार की असारता के विचार आने लगे। नियमानुसार वह राजसभा में गया। वहाँ उसकी माता चन्द्रमति ने उसके उदास होने का कारण पूछा तो उसने कहा कि 'मैंने स्वप्न देखा है कि राजपाट अपने राजकुमार 'यशोमति' को देकर मैं वन में चला गया हूँ; तो जैसा मेरे पिता ने किया मैं भी उसी कुलगोत्रि को पूरा करना चाहता हूँ' यह सुनकर उसकी माँ चिन्तित हुई और उसने कुलदेवी को बलि चढ़ाकर स्वप्न को शान्ति करने का उपाय बताया। माँ का यह प्रस्ताव सुनकर राजा ने कहा कि मैं पशुहिंसा नहीं करूँगा। तब माँ ने कहा कि हम आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढ़ायेंगे और उसी का प्रसाद ग्रहण करेंगे। राजा ने यह बात मान ली और साथ ही अपने पुत्र 'यशोमति' के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। यह समाचार जब रानी ने सुना तो वह भीतर से प्रसन्न हुई पर ऊपरी दिखावा करती हुई बोली—'महाराज ! मुझ पर कृपा करके मुझे भी अपने साथ वन में ले चलें।' कुलटा रानी की इस ठिठ्ठाई से राजा के मन को गहरी चोट लगी, पर उसने मन्दिर में आकर आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई। इससे उसकी माँ प्रसन्न हुई, किन्तु असली रानी को भय हुआ कि कहीं राजा का वैराग्य क्षणिक न हो। अतएव उसने आटे के मुर्गे में विष मिला दिया। उसके खाने से चन्द्रमति और यशोधर दोनों तुरन्त मर गये।

(अमृतमति महादेवी-दुर्बिलसन नामक चतुर्थ आश्वास समाप्त)।

राजमाता चन्द्रमति और राजा यशोधर ने आटे के मुर्गे की बलि का संकल्प करके जो पाप किया, उसके फलस्वरूप तीन जन्मों तक उन्हें पशु योनि में उत्पन्न होना पड़ा। पहली योनि में यशोधर मोर की योनि में पैदा हुआ और चन्द्रमति कुत्ता बनी। दूसरे जन्म में दोनों उज्जयिनी की शिप्रा नदी में मछली के रूप में उत्पन्न हुए। तीसरे जन्म में वे दो मुर्गे हुए, जिन्हें पकड़ कर एक जल्लाद उज्जयिनी के कामदेव के मन्दिर के उद्यान में होने वाले वसन्तोत्सव में कुक्कुट-युद्ध का तमाशा दिखाने के लिये ले गया। वहाँ उसे आचार्य 'सुदत्त' के दर्शन हुए। ये पहले कलिङ्ग देश के राजा थे, पर अपना विशाल राज्य छोड़कर मुनिव्रत में दीक्षित हुए। उनका उपदेश सुनकर दोनों मुर्गों को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अगले जन्म में वे दोनों यशोमति राजा की रानी कुसुमावलि के उदर से भाई बहिन के रूप में उत्पन्न हुए और उनका नाम क्रमशः 'अभयरुचि' और 'अभयमति' रखा गया। एक बार राजा यशोमति आचार्य सुदत्त के दर्शन करने गया और अपने पूर्वजों की परलोक-गति के बारे में प्रश्न किया।

आचार्य ने कहा—तुम्हारे पितामह यशोधर स्वर्ग में इन्द्रपद भोग रहे हैं। तुम्हारी माता अभयमति नरक में है और यशोधर और चन्द्रमति ने इस प्रकार तीन बार संसार का भ्रमण किया है। इसके बाद उन्होंने यशोधर और चन्द्रमति के संसार-भ्रमण की कहानी भी सुनाई। उस वृत्तान्त को सुनकर संसार के स्वरूप का ज्ञान हो गया और यह डर हुआ कि कहीं हम बड़े होकर फिर इस भवचक्र में न फँस जायें। अतएव बाल्यावस्था में ही दोनों ने आचार्य सुदत्त के राघ में दीक्षा ले ली।

इतना कहकर 'अभयरुचि' ने राजा मारिदत्त से कहा—हे राजन्। हम वे ही भाई बहिन हैं। हमारे आचार्य सुदत्त भी नगर से बाहर ठहरे हैं। उनके आदेश से हम भिक्षा के लिये निकले थे कि तुम्हारे चाण्डाल हमें यहाँ पकड़ लाए।

(भव-भ्रमणवर्णन नामक पाँचवें आश्वास की कथा यहाँ तक समाप्त हुई)।

वस्तुतः 'यशस्तिलकचम्पू' का कथाभाग यहीं समाप्त हो जाता है। आश्वास छह, सात, आठ इन तीनों का नाम 'उपासकाध्ययन' हैं, जिनमें उपासक या गृहस्थों के लिये छोटे बड़े छियालिस कल्प या अध्यायों में गृहस्थोपयोगी धर्मों का उपदेश आचार्य सुदत्त के मुख से कराया गया है। इनमें जैनधर्म का बहुत ही विशद निरूपण हुआ है। छठे आश्वास में भिन्न-भिन्न नाम के २१ कल्प हैं। सातवें आश्वास में बाइसवें कल्प से तेतीसवें कल्प तक मद्यप्रवृत्तिदोष, मद्यनिवृत्तिगुण, स्तेय, हिंसा, लोभ-आदि के दुष्परिणामों को बताने के लिये छोटे-छोटे उपाख्यान हैं। ऐसे ही आठवें आश्वास में चौतीसवें कल्प से छियालीसवें कल्प तक उपाख्यानों का सिलसिला है। अन्त में इस सूचना के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है कि आचार्य सुदत्त का उपदेश सुनकर राजा मारिदत्त और उसकी प्रजाएँ प्रसन्न हुईं और उन्होंने श्रद्धा से धर्म का पालन किया, जिसके फलस्वरूप सारा पीषेय देश सुख एवं शान्ति से भर गया।

इसप्रकार सोमदेव का रचा हुआ यह विशिष्ट ग्रन्थ जैनधर्मावलम्बियों के लिये कल्पवृक्ष के समान है। अन्य पाठक भी जहाँ एक ओर इससे जैनधर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त कर सकते हैं वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के विविध अङ्गों का भी सविशेष परिचय प्राप्त कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक आश्वास में इस प्रकार की सामग्री विद्यमान है। उदाहरण के लिए तीसरे आश्वास में प्राचीन भारतीय राजाओं के आमोद-प्रमोद का एवं अनोखी देजोड़ राजनीति का सविस्तर उल्लेख है। बाण ने जैसे 'कादम्बरी' में हिमगृह का व्योरे-वार वर्णन किया है वैसे ही वर्णन 'यशस्तिलक' में भी है। सोमदेव के मन पर कादम्बरी की गहरी छाप पड़ी

थी। वे इस बात के लिए चिन्तित दिखाई देते हैं कि बाण के किये हुए उदात्त वर्णनों के सदृश कोई वर्णन उनके काव्य में छूटा न रह जाय। सेना की दिग्विजय यात्रा का उन्होंने लम्बा वर्णन किया है। इन सारे वर्णनों की तुलनात्मक जानकारी के लिए बाणभट्ट के तत्सदृश प्रसंगों के साथ मिलाकर पढ़ना और अर्थ लगाना आवश्यक है। सभी उनका पूरा रहस्य प्रकट हो सकेगा। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, इस ग्रन्थ के अर्थ-गाम्भीर्य को समझने के लिये एक स्वतंत्र शोधग्रन्थ की आवश्यकता है। केवल मात्र हिन्दी टीका से उस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति ही संभव है इस पर भी श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने इस महाकठिन प्रायः निष्ठीक ग्रन्थ के विषय में व्याख्या का जो कार्य किया है, उसकी हम विशेष प्रशंसा करते हैं और हमारा अनुरोध है कि उनके इस ग्रन्थ को पाठकों द्वारा उचित सम्मान दिया जाय।

महाकवि सोमदेव को अपने ज्ञान और पाण्डित्य का बड़ा गर्व था और 'यशस्तिलक' एवं 'नीतिवाक्यामृत' की साक्षी के आधार पर उनकी उस भावना की यथार्थ ही कहा जा सकता है। 'यशस्तिलक' में अनेक अप्रचलित विलुप्त शब्दों को जान बूझकर प्रयुक्त किया गया है। अशुक्त और क्लृप्त शब्दों के लिए सोमदेव ने अपनी काव्यरचना का द्वार खोल दिया है। कितने ही प्राचीन शब्दों का वे जैसे उद्धार करना चाहते थे। इसके पूर्वखण्ड के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—धृष्णि = सूर्यरश्मि (पूर्वखण्ड पृ० १२, पंक्ति ५)। वल्लिका = शृङ्खला, हिन्दी बेल; हाथी के बांधने की जंजीर को 'गजबेल' कहा जाता है और जिस लोहे से वह बनती है उसे भी 'गजबेल' कहते थे (१८१२ पूर्व०)। सामज = हाथी; (१८१७ पूर्व०) कालिदास ने इसका पर्याय सामयोनि (रघु० १६।३) दिया है और माघ (१२।११) में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कमल शब्द का एक अर्थ मृगविशेष अमरकोश में आया है और बाण की कादम्बरी में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सोमदेव ने इस अर्थ में इस शब्द को रक्खा है (२३।१ पूर्वखण्ड)। इसीसे बनाया हुआ कमली शब्द (२४।३ पूर्व०)। मृगांक—चन्द्रमा के लिए उन्होंने प्रयुक्त किया है। कामदेव के लिये पूर्णकाराति (२५।१ पूर्वखण्ड) पर्याय कुशाण-युग में प्रचलित हो गया था। अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दर्यनन्द दोनों ग्रन्थों में पूर्णक नामक मछुवे की कहानी का उल्लेख किया है। वह पहले काम से अविजित था, पर पीछे कुमुदती नामक राजकुमारी की प्रार्थना पर कामदेव ने उसे अपने वश में करके राजकुमारी को सौंप दिया।

आच्छोदना = मृगया (२५।१ पूर्व०); पिथुर = पिशाच (२८।३ पूर्व०); जरुथ = पल या मांस (२८।३ पूर्व०); दैधिकेय = कमल (३७।७ पूर्व०); विरेय = तद (३७।९ पूर्व०); गर्वर = महिष (३८।१ पूर्व०); प्रधि = कूप (३८।६ पूर्व०); गोमिनी = थी (४२।९ पूर्व०); कच्छ = पुष्पवाटिका (४९।२ पूर्व०); दर्दरीक = दाडिम (५५।८ पूर्व०); नन्दिनी = उज्जयिनी (७०।६ पूर्व०); मय = उष्ट्र (७५।३ पूर्व०); मितदु = अश्व (७५।४ पूर्व०); स्तभ = छाग (७८।६ पूर्व०); पालिन्दी = दीचि (१०६।३ पूर्व०); बलाल = वायु (११२।५ पूर्व०); पुलाक = घुंघरू (२३५।१ पूर्व०); इत्यादि नये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, जिनका समावेश सोमदेव के प्रयोगानुसार संस्कृत कोशों में होना चाहिए। सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दों का भी प्रयोग किया है; जैसे विश्वकहु = श्वा (६१।९ पूर्व०); शिपिविष्ट (७७।१ पूर्व०); जो ऋग्वेद में विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु पञ्जिकाकार ने जिसका अर्थ रुद्र किया है। समङ्ग (९५।१ पूर्व०) शब्द भोजकृत समरांगण सूत्रधार में कई बार प्रयुक्त हुआ है, जो कि प्रासाद शिल्प का पारिभाषिक शब्द था। इस समय लोक में आये खम्भे या पार्श्वभाग को समञ्जा कहा जाता है। समर्पि अर्थ में चित्रशिखण्डि शब्द का, प्रयोग (५१।१ पूर्व०) बहुत ही कम देखने में आता है। केवल महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय पर्व में इसका प्रयोग हुआ है और सोमदेव ने वहीं से इसे लिया होगा। इससे ज्ञात होता है कि नये-नये शब्दों को ढूँढ़कर लाने की कितनी अधिक प्रवृत्ति

उनमें थी। सोमदेव के शब्द शास्त्र पर तो स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है। ज्ञात होता है कि माघ, बाण और भवभूति इन तीनों कवियों के ग्रन्थों को अच्छी तरह छानकर उन्होंने शब्दों का एक बड़ा संग्रह बना लिया था, जिनका वे यथा समय प्रयोग करते थे। मौकुलि=काकु (१२५।७ पूर्व०); शब्द भवभूति के 'उत्तररामचरित' में प्रयुक्त हुआ है। हंस के लिये मुहिणद्विज अर्थात्—ब्रह्मा का वाहन पक्षी (१३७।३ पूर्व०) प्रयुक्त हुआ है।

इस ग्रन्थ के उद्धार करने में कवल एक व्यक्ति ने अपनी निजी शक्ति का सदुपयोग किया है। जिस प्रकार श्री सुन्दरलाल जो शास्त्री ने यशस्तिलक का पूर्व खण्ड प्रकाशित किया उसी प्रकार वे कठोर साधना करके इसका उत्तर खण्ड भी, जो कि निष्ठोक व महाविलष्ट है, प्रकाशित करके संस्कृत प्रेमी पाठकों का महान् उपकार करेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
व्यासपूर्णिमा (ता० ७-७-६०)

वासुदेव शरण अग्रवाल



सम्पादकीय

पाठकवृन्द ! पूज्य आचार्यों ने कहा है—

‘धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥’

अर्थात्—‘निर्दोष, गुणालंकारशाली व सरस काव्यशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण व मनन-आदि, धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का एवं संगीत-आदि ६४ कलाओं का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है एवं कीर्ति व प्रीति उत्पन्न करता है ।’

उक्त प्रवचन से प्रस्तुत ‘यशस्तिलकचम्पू’ भी समूचे भारतीय संस्कृत साहित्य में उच्चकोटि का, निर्दोष, गुणालंकारशाली, सरस, अनोखा एवं बेजोड़ महाकाव्य है, अतः इसके अध्ययन-आदि से भी निस्सन्देह उक्त प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु अभी तक किसी विशिष्ट विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के समूचे ‘यशस्तिलकचम्पू’ महाकाव्य की अनुसन्धानपूर्ण भाषाटीका नहीं की, अतः इस कमी को पूर्ण के लिए हमने ८-१० वर्ष पर्यन्त कठोर साधना करके इसकी ‘यशस्तिलकदीपिका’ नाम की भाषा टीका तैयार की और १९६० ई० में इसका पूर्वखण्ड प्रकाशित किया । तत्पश्चात् प्रस्तुत उत्तर खण्ड भी प्रकाशित किया ।

संशोधन एवं उसमें उपयोगी व महत्वपूर्ण प्रतियाँ—

गाठ आशवासवाला एवं आठ हजार श्लोक परिमाणवाला ‘यशस्तिलकचम्पू’ महाकाव्य निर्णय सागर मुद्रण यन्त्रालय बम्बई से सन् १९१६ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ था, उनमें से प्रथमखण्ड (३ आशवास पर्यन्त) मूल व संस्कृत टीका-सहित मुद्रित हुआ है और दूसरा खण्ड, जो कि ४ आशवास से लेकर ८ आशवास पर्यन्त है, ४॥ आशवास तक सटीक और वाक्यों का निष्पेक्ष (मूलमात्र) प्रकाशित हुआ है । परन्तु दूसरे खण्ड में प्रतिपेज में अनेक स्थलों पर विशेष अशुद्धियाँ हैं, एवं पहले खण्ड में यद्यपि उतनी अशुद्धियाँ नहीं हैं तथापि कतिपय स्थानों में अशुद्धियाँ हैं । दूसरा खण्ड तो मूलरूप में भी कई जगह त्रुटित प्रकाशित हुआ है ।

अतः हम इसके अनुसन्धान-हेतु जयपुर, नागौर, सीकर, अजमेर व बड़नगर-आदि स्थानों पर पहुँचे और वहाँ के शास्त्रभण्डारों से प्रस्तुत ग्रन्थ की ह० लि० मूल व सटिप्पण तथा सटीक प्रतियाँ निकलवाई और उक्त स्थानों पर महीनों ठहरकर संशोधन-आदि कार्य सम्पन्न किया । अभिप्राय यह है कि इस महाक्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थ की उलझी हुई गुत्थियों के सुलझाने में हमें इसकी महत्वपूर्ण संस्कृत टीका के सिवाय उक्त स्थानों के शास्त्रभण्डारों की ह० लि० मूल व सटिप्पण प्रतियों का विशेष आधार मिला । इसके सिवाय हमें नागौर के सरस्वती भवन में श्रीदेव-विरचित ‘यशस्तिलक पञ्जिका’ भी मिली, जिसमें इसके कई हजार अप्रयुक्त व क्लिष्टतम शब्द, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों में नहीं हैं, उनका अर्थ उल्लिखित है, हमने वहाँ पर ठहरकर उसके शब्दनिघण्टु (कोश) का संकलन किया, विद्वानों की जानकारी के लिए हमने उसे परिशिष्ट संख्या २ में ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया है । इससे भी हमें भाषाटीका करने में विशेष सहायता मिली एवं भाषाटीका को पल्लवित करने में ‘नीतिवाक्यामृत’ (हमारी भाषाटीका), आदि-पुराण, सर्वदर्शन संग्रह, पालञ्जल योग-दर्शन, साहित्यदर्पण, आत्ममीमांसा, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ श्लोकवातिक व रत्नकरण्ड श्रावकाचार-आदि अनेक ग्रन्थों की सहायता मिली ।

अतः प्रस्तुत 'यशस्तिलक' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भाषाटीका विशेष अध्ययन, मनन व अनुसन्धानपूर्वक लिखी गई है, निष्ठीक आश्वास (५ आश्वास से ८ आश्वास) सटिप्पण व कोश-सहित (यश० पं०) प्रकाशित किये जा रहे हैं । इसमें मूलग्रन्थकार की आत्मा ज्यों की त्यों बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है, शब्दशः सही अनुवाद किया गया है । कहानियों का भी शब्दशः अनुवाद हुआ है । साधारण संस्कृत पढ़े हुए सज्जन इसे पढ़कर मूलग्रन्थ लगा सकते हैं ।

हमने इसमें मु० सटी० व निष्ठीक प्रति का संस्कृत मूलपाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित किया है, परन्तु जहाँपर मूलपाठ अशुद्ध व असम्बद्ध मुद्रित था, उसे अन्य ह० लि० सटि० प्रतियों के आधार से मूल में ही सुधार दिया है, जिसका तत् तत् स्थलों पर टिप्पणी में उल्लेख कर दिया है और साथ ही ह० लि० प्रतियों के पाठान्तर भी टिप्पणी में दिये गए हैं । इसी प्रकार जिस श्लोक या गद्य में कोई शब्द या पद अशुद्ध था, उसे साधार संशोधित व परिवर्तित करके टिप्पणी में संकेत कर दिया है ।

हमने स्वयं वाराणसी में ठहरकर इसके प्रूफ संशोधन किये हैं, अतः इसका प्रकाशन भी शुद्ध हुआ है, परन्तु कतिपय स्थलों पर दृष्टिदोष से और कतिपय स्थलों पर प्रेस की असावधानी से कुछ अशुद्धियाँ (रेफ व मात्रा का कट जाना-आदि) रह गई हैं, उसके लिए पाठक महानुभाव क्षमा करते हुए और अन्त में प्रकाशित हुए शुद्धि-पत्र से संशोधन करते हुए अनुगृहीत करेंगे ऐसी आशा है ।

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की भाषाटीका का सम्पादन विशेष अनुसन्धानपूर्वक निम्नलिखित ह० लि० प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया गया है—

१. 'क' प्रति का परिचय—यह प्रति श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति दि० जैन सरस्वती भवन नागौर (राजस्थान) व्यवस्थापक—श्री पूज्य भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति गादी नागौर की है, जो कि संशोधन-हेतु नागौर पहुँचे हुए मुझे श्री० धर्म० सेठ रामदेव रामनाथ जी चाँदवाड़ नागौर के अनुग्रह से प्राप्त हुई थी। इसमें १०३ × ५ इञ्च की साईज के ३३१ पृष्ठ हैं। यह विशेष प्राचीन प्रति है, इसकी लिपि ज्येष्ठ वदी ११ रविवार सं० १६५४ को श्री 'रुकादेवी' श्राविका ने कराई थी। प्रति का आरम्भ—श्री पार्ष्वनाथाय नमः। श्रियं कुवलयानन्द-प्रसादितमहोदयः। इत्यादि मु० प्रतिवत् है। इसमें दो आश्वासपर्यन्त कहीं-कहीं टिप्पणी हैं और आगे मूलभाषा है। इसके अन्त में निम्न लेख उल्लिखित है—

'यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्माभूतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः। 'भद्रं भूषात्' 'कल्याणमस्तु' शुभं भवतु। संवत् १६५४ वर्षे ज्येष्ठ वदी ११ तिथी रविवासरे श्री मूलसंघे बलात्कारणने सरस्वतीगच्छे नञ्चाभ्याये आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मंडलाचार्य श्री सुवनकीर्ति तत्पट्टे मण्डलाचार्यानुक्रमे मुनि नेमिचन्द्र तत्पिण्ड आचार्य श्री यशकीर्तिस्तस्मै इदं शास्त्रं 'यशस्तिलकाख्यं जिनधर्मं समाश्रिता श्राविका 'रुका' जानावरणीयकर्म-धन्यनिमित्तं घटाप्यत।'।

ज्ञानवान्ज्ञानवानेन निर्भयोऽभयदानतः। अश्वदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥

शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। इस प्रति का सांकेतिक नाम 'क' है।

विशेष उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान—उक्त 'क' प्रति के सिवाय हमें उक्त नागौर के सरस्वती भवन में श्रीदेव-विरचित 'यशस्तिलकपञ्जिका' भी मिली, जिसमें 'यशस्तिलकचम्पू' के विशेष विलुप्त, अप्रयुक्त व वर्तमान कोशग्रन्थों में न पाये जानेवाले हजारों शब्दों का निघण्टु १३०० श्लोकपरिमाण लिखा हुआ है। इसमें १३ × ६ इञ्च की साईज के ३३ पृष्ठ हैं। प्रति की हालत देखने से विशेष प्राचीन प्रतीत हुई, परन्तु इसमें इसके श्रीदेव-विद्वान् या आचार्य का समय उल्लिखित नहीं है। उक्त 'यशस्तिलक पञ्जिका' का अप्रयुक्त विलुप्तम शब्द-निघण्टु हमने विद्वानों की जानकारी के लिए एवं 'यशस्तिलक' पढ़नेवाले छात्रों के हित के लिए इसी ग्रन्थ के अन्त में (परिशिष्ट संख्या २ में) ज्यों का त्यों ४ आश्वास से लेकर ८ आश्वास पर्यन्त प्रकाशित भी किया है।

'यशस्तिलक-पञ्जिका' के प्रारम्भ में १० श्लोक निम्नप्रकार हैं^१। अर्थात्—श्रीमज्जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके श्रीमत्सोमदेव सूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' की पञ्जिका श्रीदेव-विद्वान् द्वारा कही जाती है ॥ १ ॥ 'यशस्तिलकचम्पू' में निम्नप्रकार विषयों का निरूपण है—

१. यशोवरमहाकाव्ये सोमदेवविरचिते। श्रीदेवेनोच्यते पंजी नत्वा देवं जिनेश्वरम् ॥ १ ॥

छंदः शब्दनिर्घट्टवलंकृतिकलासिद्धान्तसामुद्रकः। ज्योतिर्वैद्यकवेदवादभरतानङ्गद्विपाश्चायुषम् ॥

तत्कथितानकमंभनीतिशकुनश्मार्गद्वयपुराणस्मृतिः। श्रेयोऽध्यात्मजगत्सिद्धिप्रवचनी व्युत्पत्तिरशोच्यते ॥ २ ॥

१. छन्दशास्त्र, २. शब्दनिघण्टु, ३. अलङ्कार, ४. संगीत-आदि कलाएँ, ५. मित्रान्त, ६. हस्तरेखा विज्ञान, ७. ज्योतिषशास्त्र, ८. वैद्यक, ९. वेद, १०. वादविवाद (खण्डन-भण्डन), ११. नृत्यशास्त्र, १२. काम-शास्त्र या मनोविज्ञान, १३. गजविद्या, १४. शस्त्रविद्या, १५. दर्शनशास्त्र, १६. पौराणिक व ऐतिहासिक कथानक, १७. राजनीति, १८. शकुनशास्त्र, १९. वनस्पतिशास्त्र, २०. पुनर्य, २१. वृक्षविज्ञान, २२. गणशास्त्र जगत में वर्तमान श्रेय (शाश्वत कल्याण) और २३. वक्तृत्व कला की व्युत्पत्ति ॥ २ ॥

अहं वा काव्यकर्ता वा तौ द्वारवेवेवराविह । विधुवल्नातिरेकेण को नामान्यस्वमोपहः ॥ ३ ॥

कवेरपि विदग्धोऽहमेतत्सूक्तिसमर्थने । यत्सोभामयविधौ स्त्रोणां पतिवन्न पिता प्रभुः ॥ ४ ॥

प्रयोगास्तमयं छन्दस्वप्रसिद्धिमयं तमः । तत्प्रयोगोदयार्को हि निरस्यत्यसमंजसम् ॥ ५ ॥

मैं (श्रीदेव) और यशस्तिलककार श्रीमत्सोमदेवसूरि ये दोनों ही लोक में काव्यकला के ईश्वर (स्वामी) हैं, क्योंकि सूर्य व चन्द्र को छोड़कर दूसरा कौन अन्धकार-विध्वंसक हो सकता है ? अपि तु कोई नहीं ॥ ३ ॥ 'यशस्तिलक' की सूक्तियों के समर्थन के विषय में तो मैं (श्रीदेव) यशस्तिलककार सोमदेवसूरि से भी विशिष्ट विद्वान् हूँ, क्योंकि स्त्रियों की सोभामय-विधि में जैसा पति समर्थ होता है वैसा पिता नहीं होता ॥ ४ ॥ यशस्तिलक के अप्रयुक्त शब्दनिघण्टु का व्यवहार में प्रयोग के अस्त हो जाने रूपी अन्धकार को और द्विपदी-आदि अप्रयुक्त छन्दशास्त्र विषयक अप्रसिद्धिरूपी अन्धकार को यह हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ (यशस्तिलक-पञ्जिका), जो कि उनका प्रयोगोत्पादक रूपी सूर्य-सरीखा है, निश्चय से नष्ट करेगा ॥ ५ ॥

कथयत्याकर्षकामान्यः स्वदोषेण यथा स्थलम् । स्वयमज्ञस्तथा लोकः प्रयोक्तारं विनिन्दति ॥ ६ ॥

नाप्रयुक्तं प्रयुज्जीतेत्येतन्मागनुसारिभिः । निघण्टुशब्दशास्त्रेभ्यो नूनं दत्तो जलाञ्जलिः ॥ ७ ॥

जह्ने पेलव योन्याद्यान् शब्दास्तत्र प्रयुज्जनं । नाप्रयुक्तं प्रयुज्जीतेत्येषः येषां तयो हृदि ॥ ८ ॥

नाप्रयुक्तं प्रयोक्तव्यं प्रयुक्तं वा प्रयुज्यते । इत्येकान्ततस्ततो नास्ति बागधीचित्यवेदिनाम् ॥ ९ ॥

साक्षा दशशती यावामपूर्वा समभूविह । कर्त्तव्यार्थसर्वज्ञाद्वर्णकशिशती तथा ॥ १० ॥

जिसप्रकार लोक में अन्धा पुरुष अपने दोष से स्वलन करता हुआ अपने खींचनेवाले पर कुपित होता है उसीप्रकार लोक भी स्वयं अज्ञ (शब्दों के सही अर्थ से अनभिज्ञ) है, इसलिए शब्दों के प्रयोक्ता कवि की निन्दा करता है ॥ ६ ॥ 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' इस प्रकार के भाग का अनुसरण करनेवालों ने तो निस्सन्देह निघण्टु शब्दशास्त्रों के लिए जलाञ्जलि दे दी, अर्थात्—उन्हें पानी में बहा दिया ॥ ७ ॥ जिनको ऐसी मान्यता है, कि 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' उनके यहाँ जह्ने, पेलव (पेलवं विरलं तनु इत्यमरः—छितरा) व योनि-आदि शब्दों का प्रयोग किस प्रकार संघटित होगा ? ॥ ८ ॥ इसलिए शब्द व अर्थ के वेत्ता विद्वानों का 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' अथवा 'प्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए' यह एकान्त सिद्धान्त नहीं है ॥ ९ ॥ प्रस्तुत शास्त्र (यशस्तिलक-पञ्जिका) में १३०० श्लोक परिमाण रचा हुआ अभूतपूर्व व प्रमुख शब्दनिघण्टु शब्द व अर्थ के सर्वज्ञ श्रीदेव कवि से उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

इसके अन्त में निम्न प्रकार उल्लिखित है—

इति श्रीदेव विरचितायां यशस्तिलक-पञ्जिकायां अष्टम आश्वासः । इति यशस्तिलकटिप्पणीकं समाप्तं । शुभं भवतु ।

इस प्रति का भी सांकेतिक नाम 'क' है ।

२. 'ख' प्रति का परिचय—यह सटिप्पण प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार जयपुर की है। श्री० माननोय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ प्रिन्सिपल संस्कृत जैन कालेज जयपुर एवं श्री० पं० कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल एम० ए० शास्त्री जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १२३ × ६ इञ्च की साईज के २५९ पत्र हैं। रचना शक संवत् १०८८ व लिपि सं० १८९९ की है। प्रति विशेष शुद्ध व टिप्पणी-मण्डित है। इसका आरम्भ निम्न प्रकार है—

श्रियं कुवलयानन्द प्रसादितमहोदयः । देवचन्द्रप्रभः पुण्याज्जगन्मानसवासिनोम् ॥ १ ॥

इसका अन्त निम्न प्रकार है—

वर्णः पदं वाक्यत्रिधिः समासो इत्यादि मु० प्रतिवत् ।

३. 'ग' प्रति का परिचय—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री० दि० जैन बड़ा धड़ा के पंचायती दि० जैन मन्दिर अजमेर के शास्त्र-भण्डार की है, जो कि श्री० वा० मिलापचन्द्रजी B. Sc. LL. B एडवोकेट सभापति महोदय एवं श्री० धर्म० सेठ नौरतमलजी सेठी सर्राफ आँ० कोषाध्यक्ष तथा युवराज पदस्थ श्री० पं० चिम्मल लाल जी के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें ११३ × ८३ इञ्च की साईज के ४०४ पत्र हैं। यह प्रति विशेष शुद्ध एवं सटिप्पण है। प्रस्तुत प्रति वि० सं० १८५४ के तपांसि मास में गंगा विष्णु नाम के किसी विद्वान् द्वारा लिखी गई है।

प्रति का आरम्भ—ॐ परमात्मने नमः ।

श्रियं कुवलयानन्द प्रसादितमहोदयः । देवचन्द्रप्रभः पुण्याज्जगन्मानसवासिनोम् ॥ १ ॥

इसके अन्त में—वर्षे वेद-शरेभ-शीतगुमिते मासे तपस्याह्वये, तिथ्यां.....तत्त्ववि मतं वेत्तुं जिनाधीशनाम् ।

गंगाविष्णुरितिप्रथमधिगतेनाभिरुपया निर्मिता, प्र (न्यस्या) स्य लिपिः समाप्तिमगमद् गुर्वङ्घ्रि-पथालिना ॥ १ ॥ श्रीरस्तु । श्रीः ।

विशेष—प्रस्तुत प्रति के आधार से किया हुआ यश० उत्तराद्ध का विशेष उपयोगी व महत्त्वपूर्ण मुद्रित संशोधन (अनेकान्त वर्ष ५ किरण १-२) की प्रतिएँ हमें श्री० पं० दीपचन्द्रजी शास्त्री पांड्या केकड़ी ने प्रदान की थीं, एतदर्थ अनेक धन्यवाद । उक्त संशोधन से भी हमें यश० उत्तराद्ध के संस्कृत पाठ-संशोधन में यथेष्ट सहायता मिली ।

४ 'घ' प्रति का परिचय—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री० दि० जैन बड़ा मन्दिर वीसपन्थ आम्नाय सौकर के शास्त्र भण्डार से श्री पं० केशवदेव जी शास्त्री व श्री० पं० पदमचन्द्र जी शास्त्री के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १३ × ५३ इञ्च की साईज के २८५ पत्र हैं। लिपि विशेष स्पष्ट व शुद्ध है। इसकी प्रतिलिपि फाल्गुन कृ० ६ शनिवार सं० १९१० को श्री० पं० चिमनराम जी के पौत्र व शिष्य पं० महाचन्द्र विद्वान् द्वारा की गई थी। प्रति का आरम्भ—ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

१. प्रसादीकृतः दत्त इत्यर्थः । २. चन्द्रवत्-कर्पूरवद् गौरा प्रभा यस्य ।

३. प्रसादितः निर्मलीकृतो महानुदयो येन सः । प्रसादीकृतः दत्त इत्यर्थः । ४. चन्द्रस्य मृगाङ्गस्येव प्रभा दीपिष्यस्यासी । चन्द्रः कर्पूरः तद्वत् प्रभा यस्य सः । हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः धनसारश्चन्द्रसंज्ञः इत्युभयश्राव्यमरः । ५. पुष्टि वृद्धि क्रियात् ।

श्रियं कुवलयानंदप्रसादितमहोदयः इत्यादि मु० प्रतिवत् है ।

अन्त में—वर्णः पदं वाक्यविधिः समासो इत्यादि मु० प्रतिवत् । ग्रन्थ-संख्या ८००० शुभं भूयात् । श्रेयोऽस्तु ।

इसका अन्तिम लेख—अथास्मिन् शुभसंवत्सरे विक्रमादित्यसमयात् संवत् १९१० का प्रवर्तमाने फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तिथौ षष्ठ्यां ६ शनिवासरं मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये वज्रमेरुगच्छे श्रीमदाचार्यवर आचार्यजी श्री श्री श्री १०८ श्री गुरुचन्द्रजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री कल्याण-कीर्तिजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री विशालकीर्तिजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री १०८ भानुकीर्तिजी तत् शिष्य पं० भागचन्द्रजी, गोवर्धनदासजी, हेमराजजी, वेणीरामजी, लक्ष्मीचन्द्रजी, लालचन्द्रजी, उदयरामजी मनसा-रामजी, आर्जिका विमल श्री,^१ लक्ष्मीभक्ति,^२ हरदाई,^३ बखती^४ राजा^५, राही^६ एतेषां मध्ये पंडित जी श्री भागचन्द्रजी, तत्शिष्य पं० जी श्री दीपचन्द्रजी तत्शिष्य पंडितोत्तम पंडितजी श्री श्री चिमनरामजी तत्पीत्र शिष्य महाचन्द्रेणेंदं 'यशस्तिलक' नाम महाकाव्यं लिपिकृतं सीकरनगरे जैनमन्दिरे श्री शान्तिनाथ चैत्यालये क्षेत्रावत-महाराज राजा श्री भैरवसिंह जी राज्ये स्वात्मार्थं लिपिकृतं शुभं भूयात् । इसका सांकेतिक नाम 'घ' है ।

५. 'च' प्रति का परिचय—यह प्रति बड़नगर के श्री दि० जैन मन्दिर मोट श्री० सेठ मलूकचन्द जी होराचन्द जी वाले मन्दिर की है । प्रस्तुत मन्दिर के अध्यक्ष श्री० धर्म० सेठ मिश्रीलाल जी राजमल जी टोंग्या सराफ बड़नगर के अनुग्रह एवं सौजन्य से प्राप्त हुई थी । इसमें १२×५३ इञ्च की सार्दज के २८३ पत्र हैं । इसकी लिपि पौष कृ० द्वादशो रविवार वि० सं० १८८० में श्री० पं० विरधीचन्द्र जी ने की थी । प्रति की स्थिति अच्छी है । यह शुद्ध व सटिप्पण है । इसके शुरु में मुद्रित प्रति की भाँति श्लोक हैं और अन्त में निम्नप्रकार लेख है—

वि० सं० १८८० वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे द्वादश्यां तिथौ आदित्यवासरं श्री मूलसंघे नंदाम्नाये बला-त्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये आचार्य श्री श्री शुभचन्द्रदेवाः तत्संध्याष्टके पंडितजी श्री श्री नौनिधिरामजी तत्शिष्य पं० श्री नवलरामजी तत्शिष्य पं० विरधीचन्द्रजी तेनेदं 'यशस्तिलकचम्पू' नाम शास्त्रं लिखितं स्ववाचनार्थं ।

श्री शुभं भवतु कल्याणमस्तु ।

इसका सांकेतिक नाम 'च' है ।

ग्रन्थ-परिचय

श्रीमत्सोमदेवसूरि का 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य संस्कृत साहित्यसागर का अमूल्य, अनोखा व बेजोड़ रत्न है। इसमें यशोधरमहाराज के चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर राजनीति, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष एवं सुभाषित-आदि विषयों के ज्ञान का विशाल खजाना वर्तमान है। अतः यह समूचे संस्कृत साहित्य में अपनी महत्त्वपूर्ण अनोखी विशेषता रखता है। इसका गद्य 'कादम्बरी' व 'तिलकमञ्जरी' की टक्कर का ही नहीं प्रत्युत उससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण व विलक्षण है। प्रस्तुत महाकाव्य महान् क्लिष्ट संस्कृत में अष्टमहस्री-प्रमाण (आठ हजार श्लोक परिमाण) गद्य पद्य पद्धति से लिखा गया है। इसमें आठ आश्वास (सर्ग) हैं, जो कि अपने नामानुरूप विषय-निरूपक हैं। जो विद्वान् 'नवसर्गगते भाषे नवशब्दो न विद्यते' अर्थात्—'नौ सर्ग पर्यन्त 'माय' काव्य पढ़ लेने पर संस्कृत का कोई नया शब्द बाकी नहीं रहता' यह कहते हैं, उन्होंने 'यशस्तिलकचम्पू' का गम्भीर अव्ययन नहीं किया, अन्यथा ऐसा न कहते, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में हजारों शब्द ऐसे मौजूद हैं, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों और काव्यशास्त्रों में नहीं पाये जाते। अतः 'अभिधाननिधानेऽस्मिन् यशस्तिलकनामनि। पठिते समग्रे नूनं नवशब्दो न विद्यते ॥ १ ॥' अर्थात्—'सुभाषित पदों की निधिवाले इस 'यशस्तिलकचम्पू' नामक महाकाव्य को पूरा पढ़ लेने पर निस्तन्देह संस्कृत का कोई भी नया शब्द बाकी नहीं रहता, यह उक्ति सही समझनी चाहिए।'

यश० पञ्जिकाकार श्री देव विद्वान् ने कहा है कि इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के मिश्र से राजनीति, गजविद्या, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या, आयुर्वेद, वादविवाद, नीतिशास्त्र, ऐतिहासिक व पौराणिक कथाएँ, अनोखी व बेजोड़ काव्यकला, ज्योतिष, वेद, पुराण, स्मृतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अलङ्कार, सुभाषित एवं अग्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दनिघण्टु-आदि के ललित निरूपण द्वारा ज्ञान का विशाल खजाना भरा हुआ है।

उदाहरणार्थ—राजनीति—इसके पूर्व खण्ड का तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० २२५-२५१, २५८-३१७, ३६५-३७७ आदि) राजनीति के समस्त तत्वों से ओतप्रोत है। इसमें राजनीति की विषय, विस्तृत व सरस व्याख्या है। प्रस्तुत शास्त्रकार द्वारा अपना पहला राजनीति ग्रन्थ 'नीतियाक्यामृत' इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के व्याज से अन्तर्निहित किया हुआ सा मालूम पड़ता है। इसमें काव्यकला व कहानीकला की कमनीयता के कारण राजनीति की नीरसता लुप्तप्राय हो गई है। गजविद्या व अश्वविद्या—इसके पूर्व खण्ड के द्वितीय व तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड-आश्वास २ पृ० १६३-१७९, एवं आश्वास ३ पृ० ३२६-३३९) में गजविद्या व अश्वविद्या का निरूपण है। शस्त्रविद्या—इसके तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० ३६२-३७४ व ३९३-३९५) में उक्त विद्या का निरूपण है। आयुर्वेद—इसके तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० ३४०-३५१) में स्वास्थ्योपयोगी आयुर्वेदिक सिद्धान्तों का वर्णन है। वादविवाद—इसके तृतीय आश्वास (पृ० २१८-२४१) में उक्त विषय का कथन है। नीतिशास्त्र—इसके प्रथम आश्वास (पूर्व खण्ड श्लोक नं० ३०-३२, ३५-३८, ४५, १२८, १३०, १३१, १३३, १४३, १४८-१५१,) में तथा द्वितीय आश्वास (पूर्व खण्ड श्लोक नं० ९-११, १३, २४, ३३, ३४, ५६-५७-आदि) नीतिशास्त्र का प्रतीक है।

१. देखिए—इसका अग्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु (परिशिष्ट २ पृ० ४१९-४४० एवं खण्ड व परिशिष्ट २ पृ० ४९८-५१६ उत्तर खण्ड)।

चतुर्थ आश्वास पृ० ४२ के सुभाषित पद्यों व गद्य का अभिप्राय यह है—यशोधर महाराज दीक्षा-हेतु विचार करते हुए कहते हैं—‘मैंने शास्त्र पढ़ लिए, पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया । याचकों अथवा सेवकों के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह हमारा यशोमतिकुमार पुत्र भी कवचधारी वीर है, अतः मैं समस्त कार्य में अपने मनोरथ को पूर्ण प्राप्त करनेवाला हो गया हूँ’ ॥ २६ ॥ पंचेन्द्रियों के सार्श-आदि विषयों से उत्पन्न हुई सुख-तृष्णा भी प्रायः मेरे मन को भक्षण करने में समर्थ नहीं है । क्योंकि इन्द्रिय-विषयों (भोगोपभोगपदार्थों) में, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एकवार परीक्षित हो चुकी है, प्रवृत्त होने से बार-बार खामे हुए को खाता हुआ यह प्राणी किस प्रकार लज्जित नहीं होता ?’ ॥ २७ ॥ मैथुन क्रीड़ा के अन्त में होनेवाले सुखानुमान को छोड़कर दूसरा कोई भी सांसारिक सुख नहीं है, उस सुख द्वारा यदि विद्वान् पुरुष उगाए जाते हैं तो उनका तत्त्वज्ञान नष्ट ही है’ ॥ २८ ॥ इसके पश्चात् के गद्य-खण्ड का अभिप्राय यह है कि ‘मानव को बाल्यावस्था में विद्याभ्यास व गुणादि का संचयरूप कर्तव्य करना चाहिए और जवानी में काम-सेवन करना चाहिए एवं वृद्धावस्था में धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए । अथवा व्यवहार के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए । यह भी वैदिक वचन है’ परन्तु उक्त प्रकार की मान्यता सर्वथा नहीं है; क्योंकि आयु अस्थिर है । अभिप्राय यह है, कि उक्त प्रकार की वैदिक मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है अतः मृत्यु द्वारा गृहीत केश-सरीखा होते हुए धर्म पुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा बाल्यावस्था से ही करना चाहिए ।

यशस्तिलक संबंधी धार्मिक प्रसङ्ग

यशस्तिलक की कथावस्तु बाण की कादम्बरी और धनपाल की तिलकमञ्जरी की तरह केवल आख्यान मात्र नहीं है, किन्तु जैन और जैनेतर दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ भी है । इसके साथ ही इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध रूप भी वर्णित हैं । कथा-भाग में भी सोमदेव ने जैन तत्वों व सुभाषितों का भी समावेश किया है । यशस्तिलक का चतुर्थ आश्वास विशेष महत्व पूर्ण है । क्योंकि इसमें कवि ने यशोधर और उसकी माता के बीच में पशुबलि-आदि विषयों को लेकर वार्तालाप कराया है । यशोधर जैन धर्म में श्रद्धा रखता है और उसकी माता ब्राह्मण धर्म में । इस सन्दर्भ में यशोधर वैदिकी हिंसा का निरसन करता हुआ अनेक जैनेतर शास्त्रों के उद्धरणों द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करता है ।

(देखिए वैदिकी हिंसा का समर्थन पृ० ५० श्लोक ४१-४४) तत्पश्चात् यशोधर कहता है कि ‘हे माता ! निश्चय से प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रिय राजकुमारों का श्रेष्ठ धर्म है, वह धर्म, निर्दोष प्राणियों के घात करने से विशेष रूप से नष्ट हो जाता है ।

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्वाद्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ।

अस्त्राणि तत्रैव नृपाः सिष्यन्ति न दोनकानीनपुमाशयेषु ॥ ५५ ॥

अर्थात्—जो शत्रु युद्धभूमि पर शस्त्र धारण किये हुए है, अथवा जो अपने देश का काँटा है, अर्थात् जो अपने देश पर आक्रमण करने को उद्यत है, उसी शत्रु पर राजा लोग शस्त्र प्रहार करते हैं । न कि दुर्बल, प्रजा पर उपद्रव न करने वाले और साधुजनों के ऊपर शस्त्र-प्रहार करते हैं ॥ ५५ ॥ इत्यादि पृ. ५४-५६ तक यशोधर ने अनेक जैनेतर शास्त्रों के उद्धरणों द्वारा जीव हिंसा व मांस भक्षण का विरोध किया । इसी प्रकार उसने अनेक जैनेतर शास्त्रों के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता (पृ. ६३-६४ तक) सिद्ध की ।

पश्चात् यशोधर ने माता के समक्ष वैदिक समालोचना (पृ. ६६ श्लोक नं. १२० से १२८ तक) की ।

चतुर्थ आश्वास (पृ. ८२-८३ श्लोक नं. १७९-१८७) के ती सुभाषित पद्यों में कूटनीति है ।

ऐतिहासिक व पौराणिक दृष्टान्तमालाएँ—इसके पूर्व खण्ड के तृतीय आश्वास (पृ. २८५-२८६) में उक्त विषय का उल्लेख है। इसी प्रकार चतुर्थ आश्वास के पृ० ८८ के गद्य में इसका विवेचन है।

अनोखी व बेजोड़ काव्यकला— इस विषय में तो यह प्रसिद्ध ही है। क्योंकि साहित्यकार आचार्यों ने कहा है—‘निर्दोष (दुःखवत्त्व-आदि दोषों से शून्य), गुणसम्पन्न (औदार्य-आदि १० काव्यगुणों से युक्त), तथा प्रायः सालंकार (उपमा-आदि अलङ्कारों से युक्त) शब्द व अर्थ को उत्तम काव्य कहते हैं।’

अथवा शृङ्गार-आदि रसों की आत्मावाले वाक्य (पद-समूह) को काव्य कहते हैं*। उक्त प्रकार के लक्षण प्रस्तुत यशस्तिलक में वर्तमान हैं। इसके सिवाय ‘ध्वन्यतेऽभिव्यज्यते चमत्कारालिङ्गितो भावोऽस्मिन्निति ध्वनिः’ अर्थात्—जहाँ पर चमत्कारालिङ्गित पदार्थ व्यञ्जना शक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उसे ध्वनि कहते हैं। शास्त्रकारों ने ध्वन्य काव्य को सर्वश्रेष्ठ कहा है।^३ अतः प्रस्तुत यशस्तिलक के अनेक स्थलों पर (पूर्वखंड प्रथम आश्वास पृ० ४५ (गद्य)-४७) ध्वन्य काव्य वर्तमान है, जो कि इसकी उत्तमता का प्रतीक है। एवं इसके अनेक गद्यां व पद्यां में शृङ्गार, वीर, करुण व हास्यदि रस वर्तमान हैं, उदाहरणार्थ आश्वास दूसरे में (श्लोक नं. २२०) पद्य शृङ्गार रस प्रधान है। एवं आश्वास चार (पृ. २० श्लोक ४) संयुक्त शृङ्गार रस प्रधान है इत्यादि।

ज्योतिष शास्त्र—आश्वास २ (पूर्व खण्ड पृ. १८०-१८२) में ज्योतिष शास्त्र का उल्लेख है। इसके सिवाय चतुर्थ आश्वास में कहा है, जब यशोधर महाराज की माता चन्द्रमति ने नास्तिक दर्शन का आश्रय लेकर उनके समक्ष इस जीव का पूर्वजन्म व भविष्य जन्म का अभाव सिद्ध किया तब यशोधर महाराज ज्योतिष शास्त्र के आधार से जीव का पूर्व जन्म और भविष्य जन्म सिद्ध करते हैं, कि हे माता ! जब इस जीव का पूर्व जन्म है तभी निम्न प्रकार आर्यच्छन्द जन्म पत्रिका के आरंभ में लिखा जाता है—‘इस जीव ने पूर्व जन्म में जो पुण्य व पाप कर्म उपार्जित किये हैं, भविष्य जन्म में उस कर्म के उदय को यह ज्योतिष शास्त्र उस प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार दीपक, अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। अर्थात्—जब पूर्व जन्म का सद्भाव है तभी ज्योतिष शास्त्र उत्तर जन्म का स्वरूप प्रकट करता है, इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीव नहीं है, अपितु गर्भ से पूर्व और मरण के बाद भी है इत्यादि।’

अप्रयुक्त-चित्रितम-शब्दनिघण्टु—अर्थात्-प्रस्तुत ग्रंथ में कई हजार ऐसे संस्कृत शब्द हैं, जो कि वर्तमान कोश ग्रन्थों में नहीं हैं, अतः हमने इसके निघण्टु या कोश का अनुसंधान किया और उसे परिशिष्ट नं० २ में स्थान दिया है।

दर्शनशास्त्र—इसके पंचम आश्वास में सांख्य, जैमिनीय, वामशास्त्री व चार्वाक दर्शन के पूर्व पक्ष हैं।

यथा—वृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नेति जातुचित् । विशुद्धयति कुतश्चित्तं निसर्गमलिनं तथा ॥

आ० ५ पृ० १५३ श्लोक ६४

न चापरमिषस्ताविधः समर्थोऽस्ति यदर्थोऽयं तपः प्रयासः सफलायासः स्यात् । आ. ५ पृ० १५३

१. तथा च काव्यप्रकाशकारः—तददोषो शब्दार्थौ सगुणानलङ्करी पुनः कदापि ।

२. तथा च विश्वनाथः कविराजः—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् — साहित्यदर्पण से संकलित—सम्पादक

३. तथा च विश्वनाथः कविराजः—‘वाक्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्’ साहित्यदर्पण (४ परिच्छेद) से संकलित—

४. यदुपचितमन्यज्जन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् । व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि ब्रह्मणि बीज इव ॥ १ ॥

आ. ४ (पृ० ५२ श्लोक ४७)

यतः । द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थितिः पुरुषः । प्रीतिः परा परस्परमनयोः स्वर्गः स्मृतः सद्भिः ॥

आ० ५ पृ. १५३ श्लोक ६५

अर्थात्—'धूमध्वज' नामके विद्वान् ने भीमांसक मत का आश्रय लेकर मुदत्ताचार्य से कहा—'जिस प्रकार वर्षण किया हुआ अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता (शुभ्रता) को प्राप्त भी नहीं होता उसी प्रकार स्वभावतः मलिन चित्त भी किन कारणों से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता । परलोक स्वभाव वाला स्वर्ग प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है जिस निमित्त यह तपश्चर्या का खेद सफल खेद-युक्त होसके । क्योंकि 'बारह' वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयु वाला पुरुष, इन दोनों की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति (दाम्पत्य प्रेम) को सज्जनों ने स्वर्ग कहा है ।'

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्यालापि नीलपटेन —

स्त्रीमुद्रां ज्ञापकं तनस्य महती सर्वायसंपत्करी, ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।

ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृताः लुञ्जिताः, केचित् पञ्चशिखीकृताश्च जटिनः कापालिकाश्चापरे ॥ ७७ ॥

आ. ५ पृ० १५६ श्लोक ७७

अर्थात्—जो मूढबुद्धि झूठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञान-वश कामदेव की सर्व श्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन रूप सम्पत्ति सिद्ध करने वाली स्त्रीमुद्रा का निरस्कार करने हैं, वे मानों—उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयता पूर्वक ताड़ित कर मुण्डन किये गए अथवा केश उखाड़ने वाले कर दिये गए एवं मानों—पञ्चशिखा-युक्त (चोटी धारी) किए गए एवं कोई तपस्वी कापालिक किये गए ॥ ७७ ॥

चण्डकर्मा—यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः, भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥

पृ० १५७ श्लोक ७९

अर्थात्—चण्डकर्मा कहता है, कि निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए—जब तक जियो तब तक सुख पूर्वक जीवन यापन करो । क्योंकि संसार में कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है । अर्थात्—सभी काल-कवलित होते हैं । भस्म की हुई शान्त देह का पुनरागमन किस प्रकार हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥

पश्चात् उनका अनेक प्रबल व अकाट्य दार्शनिक युक्तियों द्वारा खण्डन किया गया है

(आ. ५ पृ० १५९ श्लोक ९३) ।

यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासों (आ० ६-८) में श्रावकाचार का दार्शनिक पद्धति से अनेक कथानकों सहित साङ्गोपाङ्ग निरूपण है । सोमदेवसूरि ने इसका नाम उपासकाध्ययन रक्खा है; क्योंकि इन्होंने सान्तर्वे उपासकाध्ययन अङ्ग को आधार बनाकर इसकी रचना की है ॥

उपासकाध्ययन में ४६ कल्प हैं । प्रथम कल्प का नाम 'समस्तसम्यक्सिद्धान्तावबोधन' है; क्योंकि इसमें सैद्धान्त वैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, बौद्ध, जमिनीय, चार्वाक व वेदान्तवादी-आदि समस्त दर्शनों की मुक्ति विषयक मान्यताओं की अकाट्य युक्तियों से समीक्षा की गई है । यह विषय आ. ६ पृ० १८३ के पद्य से लेकर पृ० १९४ तक है । प्रस्तुत विवेचन सोमदेव का समस्त दर्शन संबंधी तल-स्पर्शी अध्ययन का प्रतीक है । इस तरह का दार्शनिक विवेचन उपलब्ध श्रावकाचारों में नहीं मिलता ।

१. व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालंकार : ।

२. तथा च सोमदेवसूरि :—'इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्' ।

आ० ५ श्लोक १५५ का अन्तिमधरण

२. दूसरे कल्प का नाम 'आप्तस्वरूपमीमांसन' है। इसमें आप्त के यथार्थ स्वरूप का निर्देश करते हुए, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध व सूर्य-आदि को देव मानने की युक्तिपूर्वक समालोचना की गई है। साथ में जैन तीर्थङ्करों को आप्त मानने में किये हुए आक्षेपों का समाधान युक्ति पूर्वक किया गया है।

३. तीसरा कल्प 'आगमपदार्थपरीक्षण' नाम का है। इसमें आगम के पदार्थों (जीवादि) का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा है कि 'ये सभी पदार्थ (जीवादि) द्रव्याधिक व पर्यायाधिक नय की अपेक्षा स्वभाव से वैसे उत्पाद, विनाश व स्थिर शील हैं जैसे समुद्र की तरङ्गें उस नयों की अपेक्षा स्वभावतः उत्पाद, विनाश व स्थिर शील हैं। पश्चात् समस्त वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानने वाले बौद्धों की और समस्त वस्तु को सर्वथा नित्य मानने वाले सांख्य की अकाट्य युक्तियों से समीक्षा की है। पश्चात् जैन साधुओं में आरोपण किये हुए दोषों (स्नान न करना, आचमन न करना, नग्न रहना व खड़े होकर भोजन करना) का युक्ति पूर्वक समाधान किया गया है।

४. चौथा कल्प 'मूढतोन्मथन' नामका है, इसमें सूर्य को अर्घ्य देना व ग्रहण में स्नान करना-आदि मूढ़ताओं के त्याग का विवेचन है। इसके पश्चात् पञ्चम कल्प से लेकर बीस कल्प पर्यन्त (पृ० २१२-२८१) सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित-आदि आठों अंगों में प्रसिद्ध अञ्जन चोर, अनन्त मति, उद्दयन, रेवतीरानी, जिनेन्द्र-भक्त सेठ, वारिषेण, वज्रकुमार व विष्णु कुमार मुनि की रोचक कथाएँ ललित व क्लृप्त संस्कृत-गद्य में कहीं गई हैं। ये कथाएँ अन्य किसी श्रावकाचार में नहीं हैं। प्रत्येक कथा के पूर्व उस अङ्ग का स्वरूप महत्वपूर्ण पद्यों में कहा गया है। २१ वें कल्प में सम्यग्दर्शन का विस्तृत विवेचन करते हुए रत्नत्रय का स्वरूप-आदि बतलाया है। सप्तम आश्वास, जो कि बाईस कल्प से ३२ कल्प पर्यन्त (पृ. २९४-३७५) है।

२२-२३ कल्प में मद्य प्रवृत्ति के दोष व मद्य निवृत्ति के गुण बतलाने वाली कथाएँ हैं। २४ वें कल्प में मांस-त्याग-आदि का विवेचन करते हुए मांसभक्षण का संकल्प करने वाले सौरसेन राजा की कथा है। २५ वें कल्प में मांस त्यागी चाँडाल की कथा है।

२६-३२ कल्पों में पाँच अणुवर्तों का वर्णन है एवं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के कटु-फल वर्णन करते हुए पाँच कथाएँ विस्तृत गद्य शैली में वर्णन की गई हैं, जो कि विशेष रोचक व नैतिक शिक्षा से ओत प्रोत हैं। ३३ वें 'कल्प में' तीन गुण व्रतों का वर्णन है।

३४ वें कल्प में सामायिक शिक्षाव्रत का कथन है, परन्तु सोमदेव ने सामायिक का अर्थ जिन पूजा संबंधी क्रियाकाण्ड कहा है। अतः ३४ वें कल्प में स्नानविधि, ३५ में समय-समाचार विधि, ३६ में अभिषेक व पूजन विधि, ३७ में स्तवन विधि ३८ में जप विधि ३९ में ध्यान विधि और ४० वें कल्प में श्रुताराधन विधि का वर्णन है। यह समस्त वर्णन विशेष महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि दूसरे श्रावकाचारों में नहीं हैं। सोमदेव की ध्यान विधि का वर्णन अनोखा व महत्वपूर्ण है। ४१ वें कल्प में प्रोषघोषवास का और ४२ वें कल्प में भोगोपभोगपरिमाण व्रत का कथन है।

४३ वें कल्प में दानविधि का वर्णन अनोखा व विशेष महत्वपूर्ण है। ४४ वें कल्प में ग्यारह प्रतिमाओं का और मुनियों के नामों की निरुक्ति पूर्वक व्याख्या की गई है, जो कि नई वस्तु है। ४५ वें कल्प में सल्लेखना का और ४६ वें कल्प में प्रकीर्णक सुभाषितों का कथन है।

इस प्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि का उपासकाध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय—प्रस्तुत शास्त्रकार श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा स्वयं लिखी हुई 'यशस्तिलक' की 'प्रशस्ति' से विदित होता है कि 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य के रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेव सूरि हैं, जो कि दि. जैन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम 'नेमिदेव' और दादा गुरु का नाम 'यशोदेव' था। ग्रंथकर्ता के गुरु दार्शनिक-चूडामणि थे; क्योंकि उन्होंने ९३ महावादियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। 'नीतिवाक्यामृत' की गद्य प्रशस्ति से भी यह मालूम होता है कि श्रीमत्सोमदेव सूरि के गुरु श्रीमत्नेमिदेव ऐसे थे, जिनके चरण वामल समस्त तार्किक-समूह में चूडामणि विद्वानों द्वारा पूजे गये हैं एवं पंचपन महावादियों पर विजयश्री प्राप्त करने के कारण प्राप्त की हुई कीर्तिरूपी मन्दाकिनी द्वारा जिन्होंने तीन भुवन पवित्र किये हैं तथा जो परम तपश्चरण रूप रत्नों को रत्नाकर (समुद्र) हैं। उसमें यह भी उल्लिखित है कि सोमदेव सूरि वादीन्द्रकालानल श्री महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज (लघुभ्राता) थे। श्री महेन्द्रदेव भट्टारक की उक्त 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिक विद्वत्ता की प्रतीक है। प्रस्तुत प्रशस्ति से यह भी प्रतीत होता है कि श्रीमत्सोमदेव सूरि अपने गुरु व अनुज सरीखे तार्किक चूडामणि व कविचक्रवर्ती थे। अर्थात्—श्रीमत्सोमदेव सूरि 'स्याद्वादाचलसिंह' 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभ पंचानन', 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' व 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्ति (उपाधि) रूप प्रशस्त अलङ्कारों से मण्डित हैं।

साथ में उसमें यह भी लिखा है कि उन्होंने निम्नप्रकार शास्त्र-रचना की थी। अर्थात्—वे षण्णवति प्रकरण (९६ अध्यायवाला शास्त्र), मुक्तिचिन्तामणि (दार्शनिक ग्रन्थ), त्रिवर्गमहेन्द्रमातलि-संजल्प (धर्मादिपुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र), 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य और 'नीतिवाक्यामृत' इन महा-शास्त्रों के बृहस्पति-सरीखे रचयिता हैं। उक्त तीनों महात्माओं (यशोदेव, नेमिदेव व महेन्द्रदेव) के संबंध में कोई ऐतिहासिक सामग्री व उनकी ग्रन्थ-रचना-आदि उपलब्ध न होने के कारण हमें और कोई बात ज्ञात नहीं है।

तार्किकचूडामणि—श्रीमत्सोमदेव सूरि भी अपने गुरु और अनुज के सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वान् थे। इनके जीवन का बहुभाग षड् दर्शनों के अभ्यास में व्यतीत हुआ था, जसा कि उन्होंने 'यशस्तिलक' की उत्पत्तिका में कहा है—'शुष्क घास सरीखे जन्मपर्यन्त अभ्यास किये हुए पक्षान्तर में (भक्षण किये हुए) दर्शन शास्त्र के कारण मेरी इस बुद्धिरूपी गो से 'यशस्तिलक' महाकाव्य रूप दूध विद्वानों के पुण्य से उत्पन्न हुआ है।^१ उनकी पूर्वाक्त स्याद्वादाचलसिंह, वादीभपंचानन व तार्किकचक्रवर्ती-आदि उपाधियां उनकी दार्शनिक प्रकाण्ड विद्वत्ता की प्रतीक हैं। साथ में प्रस्तुत 'यशस्तिलक' के पंचम, षष्ठ व अष्टम आश्वास में सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक व चार्वाक-आदि दार्शनिकों के पूर्वपक्ष व उनकी युक्ति-पूर्ण मीमांसा भी उनकी

१. श्रीमानस्ति स देवसङ्घतिलको देवो यशःपूर्वकः, शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्री नेमिदेवाह्वयः । तस्यावचर्यतपः स्थितेस्त्रिजवतेर्जतुर्महावादिनां, शिष्योऽभूदिह सोमदेव यतिपरतर्क्यैः काव्यक्रमः ॥ —'यशस्तिलकचम्पू',

२. इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिनुस्मृतचरणस्य, पंचपंचाधमहावादिविजयोपाजितकीर्तिमन्दाकिनोपविशितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमत्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण, वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्ति-वादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-कविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवति-प्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृत) समाप्तमिति ।—नीतिवाक्यामृत

३. देखिए यथा० आ० १ श्लोक नं० १७ ।

विलक्षण व प्रकाण्ड दार्शनिकता प्रकट करती है, जिसका हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं। परन्तु वे केवल दार्शनिक-चूड़ामणि ही नहीं थे, साथ में काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र व राजनीति-आदि के भी घुरन्धर विद्वान् थे।

कवित्व—उनका यह 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्य-कला पर भी उनका असाधारण अधिकार था। उसकी प्रशंसा में स्वयं ग्रंथकर्ता ने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं, वे जानने योग्य हैं।^{१-२}

मैं शब्द और अर्थ-पूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) को भोग चुका हूँ; अतएव अब जो अन्य कवि होंगे, वे निश्चय से उच्छिष्ट भोजी (जूँटा खाने वाले) होंगे—वे कोई नई बात न कह सकेंगे।^३ इन उक्तिओं से इस बात का आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणी के कवि थे और उनका यह महाकाव्य कितना महत्वपूर्ण है। महाकवि सोमदेव की वाक्कल्लोलपयोनिधि और कविराजकुञ्जर-आदि उपाधियाँ भी उनके श्रेष्ठ कवित्व की प्रतीक हैं।

धर्माचार्यत्व—यद्यपि अभी तक श्रीमत्सोमदेवसूरि का कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वास (६-८), जिनमें उपासकाध्ययन (आध्यात्मिक) का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है, एवं यश० के चतुर्थ आश्वास में वैदिकी हिंसा का निरसन करके अहिंसा तत्व की धार्मिक व्याख्या की गई है एवं अनेक जैनोत्तर उद्धरणों द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की गई है, इससे उनका धर्माचार्यत्व प्रकट होता है।

राजनीतिज्ञता—श्रीमत्सोमदेवसूरि के राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण उनका 'नीतिवाक्यामृत' तो है ही, इसके सिवा 'यशस्तिलक' के तृतीय आश्वास व चतुर्थ आश्वास में यशोधर महाराज का चरित्र-चित्रण करते समय राजनीति की मन्दाकिनी प्रवाहित की गई है यह भी उनकी राजनीतिज्ञता की प्रतीक है।

विशाल अध्ययन—'यशस्तिलक' व 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ उनका विशाल अध्ययन प्रकट करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समय में जितना भी जैन व जैनोत्तर साहित्य (न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति व दर्शन-आदि) उपलब्ध था, उसका उन्होंने गम्भीर व तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

ग्रन्थकर्ता का समय और स्थान—'यशस्तिलकचम्पू' के अन्त में लिखा है कि चैत्र शुक्ल १३ शक सं० ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को, जिस समय श्री कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेरमप्रभृति राजाओं को जीतकर मेलपाटी नामक सेना-शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त 'वह्निग' की (जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे) राजधानी गंगाधारा^४ में यह काव्य समाप्त हुआ और 'नीति

१. देखिए आ. १ पल्लोक नं० १४, १८, २३।

२. देखिए-आ० २ पल्लोक नं० २४६ आ० ३ पल्लोक नं० ५१४।

३. मया धार्म्यतन्मादे भुक्ते सारस्वते रसे । कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥ चतुर्थ आश्वास पल्लोक नं० २२३

४. "पाकानृपकालातीतसंवत्परशतद्वयस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरांतर्मतर्चनमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन् गृहीयतीन् प्रसाध्य मलयादी (मेलपाटी) प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे सति तत्पादपशोपजीविनः समधिगतपञ्चमहापाण्ड्यमहासामन्ताधिपतेचालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूड़ामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति ।"

५. चालुक्यों की एक शाखा 'चोल' नामक प्रांत पर राज्य करती थी, जिसका एक भाग इस समय के धारवाड़ जिले में आता है और श्री० आर० नरसिंहाचार्य के मत से चालुक्य अरिकेसरी की राजधानी 'पुलगेरी' में थी, जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है। गंगाधारा भी संभवतः वही है।

वाक्यामृत' 'यशस्तिलक' के बाद की रचना है; क्योंकि नीतिवाक्यामृत की पूर्वोक्त प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने को 'यशस्तिलक महाकाव्य का कर्ता प्रकट किया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे 'यशस्तिलक' को समाप्त कर चुके थे ।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वंश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम 'अकालवर्ष' था । ये अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे । इनका राज्य-काल कम से कम वाक संवत् ८६७ से ८९४ (वि० सं० १००२-१०२९) तक प्रायः निश्चित है । ये दक्षिण के सार्वभौम राजा थे और बड़े प्रतापी थे । इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे । कृष्णराजदेव ने—जैसा कि शोमनेल मूरि ने 'यशस्तिलक' में लिखा है—मिर्ज, चोल, पाण्ड्य और चेरम राजाओं को युद्ध में परास्त किया था । इनके समय में कनड़ी भाषा का सुप्रसिद्ध कवि 'पोन्न' हुआ है, जो जैन था और जिसने 'शान्तिपुराण' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है । महाराज कृष्णराजदेव के दरबार से उसे 'उभयभाषा कविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी ।

राष्ट्रकूटों या राठोरों द्वारा दक्षिण के चालुक्य (सोलंकी) वंश का सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने के कारण वह निष्प्रभ होगया था । अतः जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर रहे । अतः अरिकेसरी का पुत्र 'वद्दिग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी गङ्गाभारा नामक राजधानी में 'यशस्तिलक' की रचना समाप्त हुई है । इसी 'अरिकेसरी' के समय में कनड़ी भाषा का सर्व श्रेष्ठ जैन कवि 'पम्प' हुआ है, जिसकी रचना पर मुग्ध होकर 'अरिकेसरी' ने उसे धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिक में दिया था । उसके बनाये हुए दो ग्रंथ ही इस समय उपलब्ध हैं—१. 'आदिपुराणचम्पू' और २ 'भारत या विक्रमार्जुनविजय' । पिछला ग्रन्थ शक संवत् ८६३ (वि० सं० ९९८) में—यशस्तिलक से १८ वर्ष पहले—बन चुका था । इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था । तब उसके १८ वर्ष बाद—यशस्तिलक की रचना के समय—उसका पुत्र सामन्त 'वद्दिग' राज्य करता होगा, यह इतिहास से प्रमाणित होता है ।

वाराणसी

श्रावण कृ० ११ वीर नि० २४९७

विनीत—

सुन्दरलाल शास्त्री

—सम्पादक

विषयानुक्रमिका

चतुर्थ आश्वास

विषय					पृष्ठ
मङ्गलचरण					१
‘अमरुचि’ क्षुल्लक द्वारा मारिदत्त राजा को अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहा जाना—‘जब ऐसा संशकाशीन लालिमा का नेत्र प्रकट हो रहा था और जब स्थल-कमल-समुद्र की ऐसी पत्र-श्रेणी संकुचित हो रह थी, तब हे मारिदत्त महाराज ! मैं (यशोधर) रात्रि की घेला में अमृतमति महादेवी के महलद्वार पर पहुँचा’...					२
इसके बाद हे मारिदत्त महाराज ! मुझसे सरस वार्तनाग करने वाली ऐसी द्वारपात्रिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराये जा रहे मेरे द्वारा ऐसे राजमहल में वर्तमान ऐसे पलङ्ग को अलंकृत किया जाना’...					१२
तदनन्तर मेरे द्वारा मेरे पलङ्ग पर बैठी हुई ऐसी अमृतमति महादेवी देखी जाना, जिगसे मेरा हृदय प्रमुदित होना ...					१६
पश्चात् मेरे द्वारा अमृतमति महादेवी के दक्षिण पार्श्व भाग से धरीर के संघटन-महित बैठा जाना और रसिकता को प्राप्त हुए आनिन्दनों द्वारा मेरे हृदय की राजहंस का उस सुख (रतिविलास) के प्रवाह में विस्मृत हुआ जाना पुनः रति विलास के बाद मेरे द्वारा नन्द-भी ली जाना’...					१८
हे मारिदत्त महाराज ! मेरी (यशोधर महाराज की) पट्टरानी अमृतमति महादेवी द्वारा, मुझे स्वमास से शयन करता हुआ-भा देखकर और राजमहल का मध्यभाग धृत्य जानकर आभूषणों को उतारकर चैंबर ढोरने वाली का येष धारण करके किवाड़ खुले छोड़कर शीघ्र प्रस्थान किया जाना, पुनः मेरे द्वारा भी कालक्षेप न करके उत्सुकता से अङ्गरक्षक का येष धारण करके और प्रस्थान करके उस महादेवी के मार्ग को ढूँढ़ते हुए ऐसे अष्टबद्ध नामवाले नीच महाबल से प्रार्थना करती हुई अमृतमति महादेवी देखी जाना ।					२२
पश्चात् मेरे द्वारा अष्टबद्ध व अमृतमति का ऐसा कुतूहल देखकर विशेष कुपित होकर उन दोनों का बच करने के लिए स्नान में से बाधी निकली हुई तलवार खींची जाना, परन्तु कर्मयोग से तलवार खींचने के अवसर पर ही नैतिक विचार-धारा के कारण मेरा क्रोध, दीपक के जलाने से अन्धकार की तरह नष्ट हो जाना और मेरे द्वारा अमृतमति के प्रति कर्तव्य निश्चित किया जाना’...					२५
इसके बाद अमृतमति का अपना कुतूहल पूर्ण करके उद्दण्डपूर्वक मेरे समीप आना, जो कि उसका दुर्विलास न जानने वाले-सा होकर अमृतमति देवी की शय्या पर पूर्ण की तरह शयन कर रहा था, और उसके द्वारा मेरी बाहुरूपी पिंजरे का आश्रय करके अत्यन्त गह्र निद्रापूर्वक शयन किया जाना’...					२८
उक्त घटना के घटने से मेरा मन प्रसन्न न रहना व हृदय शून्य होना एवं अमृतमति के विषय में मेरी आश्चर्य-जनक विचार-धारा का होना’...					२८
तदनन्तर मेरे द्वारा स्थियों के विषय में नीतिकारों के वचनों का स्मरण किया जाना’...					३०
संक्षेपान्—यशोधर महाराज द्वारा यह सोचा जाना—कि ‘आश्चर्य है, विषय-सुखों में वृष्णा करना निरर्थक					

है, अतः भय क्या स्त्रियों को छोड़कर उस उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मी को भोगूँ ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि स्त्रीजन के बिना राज्यलक्ष्मी वन-सरीली निस्तार है ।

३१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा स्त्रियों से विरक्त करने वाले नैतिक सिद्धान्त सोचे जाना और 'स्त्रियाँ अपनी प्रवृत्ति नहीं छोड़ती इनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है' इस बात का दृष्टान्त माला द्वारा समर्थन किया जाना...

३२

पश्चात् उक्त घटना के कारण यशोधर महाराज द्वारा पूर्वकालीन अपने मन की रागकलुषता का और वर्तमान कालीन चित्त की निर्मलता-आदि का विचार किया जाना एवं पापिष्ठ विधि को उल्लाहना दिया जाना-आदि वंराज्य-पूर्ण विचार किया जाना...

३६

पुनः यशोधर महाराज द्वारा तपोवन के प्रति प्रस्थान करने के लिये यह उपाय सोचा जाना कि 'यदि यह आज की रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हो जायगी उस समय मैं 'सर्वावसर' नाम के समामण्डप में बैठकर अपनी माता चन्द्रमती देवी व समस्त सेवक-समूह को बुलाकर ऐसा कूटकाट (मायाचार) करूँगा, जो कि अद्वितीय, अनुपदिष्ट व पूर्व में अनुभव में नहीं आया हुआ एवं जो अनुचित होने पर भी समस्या विघ्नों को निवारण करने वाला है, इत्यादि' प्रसङ्ग वर प्रभात बेला का मरस वर्णन...

४०

तदनन्तर मेरे द्वारा 'अखिलजनावसर' नाम के समामण्डप में पहुँचना, वहाँ पर जब समस्त सेवकजन एकत्रित होकर यथास्थान पर स्थिति कर चुका था एवं शास्त्र-वाचक (पुरोहित) प्रवृत्त हो चुका था । इसी प्रकार जब तक मेरे द्वारा चन्द्रमति माता के प्रति लेख भेजने की इच्छा से 'मनोरथसारथि' नाम के मंत्री का मुख देखा जा रहा था । तब तक मेरे द्वारा अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक स्वयं आती हुई चन्द्रमति माता का देखा जाना पश्चात् उसको सम्मुख जाना और उसे लाकर महान् निद्रामय पीठ पर बैठाई जाना, एवं उसकी आज्ञा से मेरा भी अपने सिंहासन पर बैठना ।

४५

पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा मुझे आशीर्वाद दिया जाना । इसी अवसर पर कथावाचक द्वारा सुमायिता पथी का पढ़ा जाना और उसके लिए, मेरे द्वारा (यशोधर महाराज द्वारा) पारितोषिक दिये जाने का आदेश दिया जाना एवं उसके लिए वसुधार्प-सज्जानची द्वारा पारितोषिक दिया जाना ।

४६

इसके बाद चन्द्रमति माता द्वारा मन में ऐसा सोचा जाना कि 'मेरे पुत्र का मन सांसारिक भोगों से विरक्त करने वाली वार्ताओं में कैसे संलग्न हुआ ? ऐसा मालूम पड़ता है कि महादेवी के गृह पर प्राप्त हुए मेरे पुत्र का कोई वैराग्य का कारण अवगत हुआ है ? क्योंकि मेरे पुत्र ने इसे विशेष स्वाधीनता दे दी है । जो कि तलवार की धार-मरोखी पनि के हृदय को विदोर्ण किये बिना विश्राम नहीं लेती । मुझसे प्रियंवदा ने कहा था, कि आपकी पुत्रवधू की दृष्टि उस 'अष्टवक्त्र' नाम के निःकण्ट महावन से स्नेह करने में तत्पर-सी मालूम पड़ती है...'

४७

पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा मुझसे स्पष्ट पूछा जाना 'हे पुत्र ! इस युवावस्था में तेरा मन धर्मकलाओं में क्यों संलग्न है ? तेरी मुख-कान्ति मलान क्यों है ? तेरा शरीर कान्ति-हीन क्यों है ? तुम सिंहासन पर निश्चल होकर क्यों नहीं बैठते ? इसे सुनकर यशोधर महाराज द्वारा माता की अपने द्वारा कल्पित स्वप्न-कृतान्त सुनाया जाना...'

४८

पश्चात् माता द्वारा आशीर्वाद देकर मुझे समझाया जाना और मेरा स्वप्न-दर्शन असत्य साबित करने के लिए दृष्टान्तमाला उपस्थिति की जाकर मुझे समझाया जाना—'हे पुत्र ! तुम एम समस्त राज्यादि वैभव को छोड़कर किस अभिलाषा से तपश्चरण करते हो ? यह तपश्चरण स्वर्ग व मोक्ष-निमित्त नहीं है । क्या प्रत्यक्षफल से परोक्ष-फल निश्चय से महान् होता है ?

४९

इसके बाद माता द्वारा कहा जाना—'हे पुत्र ! यदि आपको दुष्ट स्वप्न का भय है तो कुलदेवता के लिए समस्त प्राणी-समूह की बलि (घात) करके दुष्ट स्वप्न का शमन-विधान करो। कुलदेवता के लिए प्राणियों का बलि-विधान सदा से चला आ रहा है और लोक-प्रसिद्ध भी है। पश्चात् उसके द्वारा मनु के दो उद्धरणों (श्लोक नं० ४२-४३) द्वारा और वैदिक प्रमाणों द्वारा पशुबलि सिद्ध की जाना'...

५०

तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा अपने दोनों श्रोत्र बन्द करके और दवांस ग्रहण करके पश्चात्पाद करते हुए कहा जाना—'हे माता ! यदि आपके द्वारा मेरे ऊपर कुपुत्र संबंधी निन्दाएँ घुलि न फेंकी जाय तो मेरे द्वारा कुछ कहा जाता है।'

उसे रोककर माता द्वारा नास्तिक दर्शन संबंधी पूर्वपक्ष दिया जाना। तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा अनेक प्रबल अकाट्य युक्तियों से और ज्योतिष शास्त्र के आधार से नास्तिक दर्शन का निरसन (खण्डन) किया जाना...

५१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा कहा जाना—'निश्चय से प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रिय राजाओं का श्रेष्ठ धर्म है, वह धर्म निर्वोष प्राणियों के घात करने से नष्ट हो जाता है। निश्चय से प्राणियों के व्यवहार-शास्त्र राजा के अधीन हैं। प्राणियों के पुण्य व पाप के कारण तथा चार वर्णों व चार आश्रमों के आचरण व मर्यादाएँ भी राजाधीन प्रवृत्त होती हैं। वे राजा लोग काम, क्रोध व अज्ञान से जिस प्रकार पुण्य व पाप आरम्भ करते हैं उसी प्रकार प्रजा भी आरम्भ कर देती है। उक्त बात का दृष्टान्तमात्रा द्वारा समर्थन किया जाना। इत्यादि अहिंसा प्रधान राजनीति की शिष्टेयी प्रवाहित की जाना'

५३

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा अनेक जैनोत्तर शास्त्रों के प्रमाणों से पशुबलि व मांस-संक्षण का निरसन किया जाना।

५५

तदनन्तर यशोधर महाराज व 'इन्द्राक्षितचरण' नाम के मुनिराज के मध्य द्वर्ध्व श्लोत्तरमाना का निरूपण होना जिसमें यशोधर महाराज की अहिंसाधर्म में शक्ति का उद्गम होना...

५७

तत्पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा जैनधर्म पर दोषारोपण किया जाना, अर्थात्,—'हे पुत्र ! दिगम्बरों के धर्म में देवतर्पण, पितृतर्पण व ब्राह्मण तर्पण नहीं है, एवं स्नान व होम की बात भी नहीं है। वे लोग वेद व स्मृति से बहिर्भूत है, ऐसे दिगम्बरों के धर्म में तुम्हारी बुद्धि किस प्रकार प्रवृत्त हो रही है ? जो दिगम्बर साधु ऊपर खड़े हुए पशु-मरीच आहार करते हैं। जो निर्लज्ज व दांच गुण से हीन है।' हे पुत्र ! दिगम्बरों का पूर्व में (कलियुग, त्रेता व द्वापर आदि) में नाम भी नहीं है। केवल कलिकाल में ही इनका दर्शन हुआ है। इनके मत में निश्चय से मनुष्य ही देव (ईश्वर) हो जाता है एवं ईश्वर भी बहुसंख्यावाना (चौबीस) है। इत्यादि'

५९

पुनः यशोधर महाराज द्वारा उक्त दोषों का परिहार किया जाना।

६१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की जाना।

६३

तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा दिगम्बर साधुओं के दोषारोपणों का परिहार किया जाना और जैनो के आप्त का स्वरूप निर्देश करके जैनोत्तर आस का निरसन किया जाना।

६५

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा मांस व मधु के त्याग का निरूपण करके वैदिक समालोचना की जाना

६६

पुनः यशोधर महाराज द्वारा यथाथ शास्त्र का स्वरूप निर्देश करके आस की मौमांसा की जाना

६८

इसके बाद चन्द्रमति माता द्वारा पुनः पशु-बलि से कुल देवता की पूजा का तथा मधु, मद्य व मांससंक्षण का समर्थन किया जाना...

७१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा पशु-बलि-आदि का निरसन किया जाना...

७४

पश्चात् हे मारिदत्त महाराज ! जब वह मेरी (यशोधर की) माता (चन्द्रमति) मेरे उक्त प्रकार के वचनों में निरुत्तर हुई और जब उसके द्वारा कोई दूसरा उपाय नहीं देखा गया तब उसने मेरे पैरों पर पड़कर मुझ से निम्नप्रकार प्रार्थना की—‘हे पुत्र ! यदि तू दुर्गति-गमन की आशाझूझ से अथवा किसी दूसरे कारण से जीव-वध में प्रवृत्त नहीं होते तो मत प्रवृत्त होओ, किन्तु आटे के मुर्गे से कुल-देवता के निमित्त बलि समर्पण करके उससे बचे हुए आटे में मांस का संकल्प करके तुम्हें मेरे साथ अवश्य भक्षण करना चाहिए ।’

७६

पुनः यशोधर महाराज की स्थियों के विषय में मानसिक नीतिक विचारधारा का, एवं मानसिक संकल्प से होने वाले दुष्परिणाम-आदि की विचारधारा का और तत्समर्थक दृष्टान्तमाला का निरूपण किया जाना

७७

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा माता के प्रति स्पष्ट कहा जाना—‘हे माता ! तेरी बुद्धि अयोग्य आचरण में दुराग्रह से विशेष मलिन किस प्रकार हुई ? अस्तु इस कार्य (आटे के मुर्गे का मारण व उसको मांस समझ कर भक्षण रूप कार्य) में धाप ही प्रमाण है । हे माता तुम्हीं शिल्पियों को बुलाकर मुर्गा बनाने की आज्ञा दो एवं यशोमति कुमार के राज्याभिषेक करने की लग्न के सोधन के लिये तुम्हीं ज्योतिषियों को आदेश दो ।’

७८

इसके बाद कुलटा अमृतमति महादेवी द्वारा उक्त वृत्तान्त सुना जाकर कूटनीति का विचार किया जाना—‘इस राजा के ऐसे कूट कपट का कारण निस्सन्देह मेरे द्वारा राज्ञि में किये हुए दुर्विलास का छोड़कर दूसरा नहीं है । पश्चात् दुर्गप्रज्ञ की दृष्टान्त-माला स्नायु पावने होचला है—विपत्त को अनुरक्त बनाना शक्य नहीं । अतः यह राजा जब तक मेरे ऊपर क्रोध रूपी विष का क्षरण नहीं करता तब तक मैं ही इसके ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण करती हूँ ।’

७९

तत्पश्चात् अमृतमति महादेवी द्वारा ‘गविष्ठिर’ नामक मन्त्री का यशोधर महाराज के पास भेजा जाकर निम्नप्रकार संदेश भेजा जाना—‘इस समय मेरे प्राणनाथ मोक्ष-सुख की इच्छा से अथवा उपस्थित हुए दोषों का निराकरण न होने की बुद्धि से दीक्षा धारण कर रहे हैं और मैं पुत्र यशोमति कुमार की लक्ष्मी भोगती हुई गृह में ही रहूँ यह बात अनुचित है’ परन्तु यदि हम दोनों चरित्र-पालन में तत्पर हों तो इसमें कोई आगम से विरोध नहीं है । क्योंकि शास्त्रों में पतिव्रता स्त्रियों के दुष्टान्तों द्वारा पतिव्रत धर्म का निरूपण किया गया है । दीक्षा-ग्रहण के दिन चन्द्रमति माता के साथ मेरे गृह पर आपको गणभोजन करना चाहिए ।’

८०

इसके अनन्तर यशोधर महाराज द्वारा गणभोजन की स्वीकारता देकर ‘गविष्ठिर’ मन्त्री को वापिस भेज कर विशेष पक्षपात किया जाना—

८१

‘अतः इस चण्डिका देवी के मन्दिर में गमन-करना आदि में देव ही कारण है’ ऐसा विचार कर कुछ निद्रा-सुख को भोग कर यशोधर महाराज का जाग्रत होना ।

८२

पश्चात् ‘बैकुण्ठमति’ नाम के क्षेत्रपाल द्वारा यह विदित होने पर कि चन्द्रमति माता चण्डिका देवी की क्षरण पूजा के लिए उसके मन्दिर में सपरिवार गई है मेरे द्वारा माँ ऐरावती-परमी नामकी हथिनी पर सवार होकर चण्डिका देवी के मन्दिर के प्रति द्रव्यान किया जाना इसी प्रसङ्ग में अनेक अपशकुन का होना—

८३

पुनः ‘हे चण्डिका देवी ! समस्त प्राणियों के भार देने पर जो कुछ फल होता है, वह फल यहाँ पर मेरे लिए प्राप्त होवे ।’ ऐसे अभिप्राय से यशोधर महाराज द्वारा चण्डिका देवी के सामने छुरी से उस मुर्गे का मस्तक काटा जाना, उस आटे के मुर्गे द्वारा जीवित मुर्गे की तरह शब्द किया जाना, उस मुर्गे के चूर्ण में ‘मांस’ ऐसा संकल्प करके रसोई घर में भेजा जाना । उस दिन से दूसरे दिन अमृतमति देवी द्वारा माता-सहित मेरे लिए भोजन बनाया जाना, परन्तु उस पापिनी कुलटा अमृतमति द्वारा माता-सहित मेरे भोजनों में विष प्रवेश किया जाना, जिससे यशोधर व उसकी माता का काल-कवलित होना, पुनः अमृतमति द्वारा विश्वाक रुदम आदि किया जाना एवं कवि की कामना तथा महा-कवि सोमदेव को छोड़कर दूसरे कवि उच्छिष्ट भोजी हैं, इसका वर्णन ।

८४

इति अतुर्य अश्वासः

भङ्गजाचरण

६६

मुनिकुमार ने कहा—मुर्गे के बघरूपी पाप-युक्त अमिश्राय से यशोधर का ऐसे सुवेल पर्वत के सभीपवर्ती गद्दी तट पर वर्तमान वृक्ष पर मोर-कुल में मोर होना, प्रसङ्गवश सुवेल पर्वत का, वृक्ष का एवं मयूर कुल-का सरस वर्णन

६७

पश्चात् शिकारी 'गजशल्यक' द्वारा मयूर का पिंजरे में बन्दीकृत किया जाकर, उज्जयिनी नगरी में यशोमति महाराज के लिए भेंट किया जाना और भाग्योदय से मोर के लिए जातिस्मरण प्रकट होना ।

१०४

पश्चात् राजमाता चन्द्रमति का विस्थानवल पर्वत की दक्षिण दिशा में वर्तमान 'करहाट' नाम के जनपद में 'गोधन' नाम के गोकुल (गोशाला) पति के गृह पर कुत्तों के कुल में कुत्ता होना । इसी प्रसंग में करहाट देश के ग्रामों की और गोकुल की छटा का सरस वर्णन एवं प्रस्तुत कुत्ता 'गोधन' नाम के गोकुलस्वामी द्वारा उज्जयिनी नगरी में यशोमति महाराज के लिए भेंट किया जाना ।

१०५

पश्चात् चन्द्रमति के जीव कुत्ते द्वारा मोर का प्राणान्त किया जाना, उसे जानकर यशोमति महाराज द्वारा कुत्ते का प्राणान्त किया जाना । इसी प्रसंग में मयूर व कुत्ते के मरण से यशोमति महाराज का गोकुल होकर इनकी पूर्वजों-जैसी क्रियाएँ किये जाने का आदेश देना ।

११०

इसके बाद यशोधर का जीव मयूर का मरकर 'शिवश्रिङ्गताण्डवमण्डन' नाम के वन में सेहिनी के गर्भ में आकर सेही होना, इसी प्रसंग में प्रस्तुत वन का सरस वर्णन और चन्द्रमति के जीव कुत्ते का मरकर सर्प होना, पश्चात् सेही द्वारा सर्प का भक्षण किया जाना, प्रसंगवश सर्प का वर्णन पुनः सर्प द्वारा सेही का खाया जाना ।

११७

उसके पश्चात् यशोधर के जीव सेही का सिन्धु नदी के जल में गहान् अजगर-सरीखी देह वाला 'रोहिताक्ष' नाम का गच्छ होता और चन्द्रमति के जीव काले साँप का सिन्धु नदी के अगाध जलाशय में 'शिशुमार' नाम का भोजन मकर होना, इसी प्रसंग में सिन्धु नदी का और उसके जल का तथा जल-क्रीड़ा करने वालों नागरिक कमनीय कामनियों का सरस वर्णन

११८

इसके बाद उस नागरिक स्त्रियों की जलक्रीड़ा के अवसर पर उस 'शिशुमार' नाम के मकर द्वारा, जो कि मुक्त 'रोहिताक्ष' नाम के मच्छ को पकड़कर खाने के निमित्त लोटा हुआ था, 'मदनमञ्जरिका' नाम की स्त्री पकड़ी जाना, जो कि यशोमति महाराज की कुसुमावली नाम की रानी की दासी थी, इससे कृपित हुए यशोमति महाराज द्वारा मच्छुवारों का समूह बुलाकर सगस्त जलचर दुष्ट जन्तुओं के विनाश के लिए आदेश दिया जाना, जिससे शिशुमार मकर की कण्ठनाल में लोहे का रज्ज काँटा पड़ना और रोहिताक्ष मच्छ के ऊपर मयानक जाल पड़ना, पश्चात् मच्छुवारों द्वारा लिये हुये दोनों को देखकर यशोमति महाराज द्वारा पितरों के सन्तर्पण के लिए ब्राह्मण-समूह की सदावर्त शाला के रसोइए के लिए समर्पण किया जाना इस तरह दोनों का प्राणान्त होना ।

१२३

पुनः चन्द्रमति के जीव मकर का और यशोधर के जीव रोहिताक्ष गच्छ का, उज्जयिनी के निकटवर्ती 'कङ्काहि' नाम के ग्राम में भेड़ों के भुण्ड के मध्य क्रमशः बकरी व बकरा होना, जबान होने पर एक दिन यशोधर के जीव बकरे द्वारा भपनी माता चन्द्रमति के जीव बकरी के साथ कामसेवन किया जाना और तत्काल भेड़ों के समूह के स्वामी द्वारा विशेष तीक्ष्ण सींगों से बकरों के मर्मस्थानों में निर्युर प्रहार किया जाना, एवं उसके ग्राधान से मरकर उसका उसी बकरी के गर्भ में आकर बकरा होना ।

१२४

इसी अवसर पर यशोमति महाराज का शिकार खेलने के लिये वन में जाना, इसी प्रसंग में शिकारी यशोमति महाराज का वर्णन होना, परन्तु कोई शिकार न मिलने से निराश और क्रुद्ध हुए उसके द्वारा बकरियों, भेड़ों समूह,

व शारङ्ग-समूह से सहित उक्त बकरा-समूह के मध्य में से वापिस लौटा जाना, इसी अवसर पर उसके द्वारा लोहे की नोक के तीर से मेरी माना बकरी का विदीर्ण किया जाना और उसका पेट फाड़ दिया जाना जिससे उसके द्वारा कम्पायमान शरीर वाला एवं अंगार-पुञ्ज के ऊपर धारण किया हुआ माँग-सरीखा (यशोधर का जीव गर्भ-स्थित बकरा) देखा जाना और रसोद्ग के लिए प्रतिपालन निमित्त दिया जाना ।

१२४

इसी प्रस्ताव में उस चन्द्रमति के जीव बकरी का मरकर कलिङ्ग देशों में भँसा होना, और एक व्यापारी द्वारा खरीदा जाकर उसका उज्जयिनी में आना और सिन्धुनदी में प्रविष्ट होना, पुनः यशोमति महाराज के आश्व पर उसके द्वारा सांघातिक प्रहार किया जाकर मारा जाना, जिसके फलस्वरूप राजा के आदेश से सेवकों द्वारा घोर वन्यगा देकर उस सेरे को मार दिया जाना, यहाँ माँग-जम्पट अमृत-मति द्वारा बकरे को पकवाकर भक्षण किया जाना । इस तरह भँसा और बकरे का प्राणान्त होना, अगले जन्म में दोनों मुर्गा-मुर्गी हुए

१२५

'मन्मथमथन' नाम की चरम देहधारी एक मुनिराज द्वारा जम्बूद्वीप के विजयाद्वे पर्वत पर ध्यानस्थ होना, इसी प्रसङ्ग में यित्रयाद्वे पर्वत की छटा का सरस वर्णन किया जाना, 'कन्दलविलास' नाम के एक विद्याधर का आकाश-मार्ग से उधर से निकलना, मुनिराज के तप के साहाय्य से उसके विमान का रुक जाना, जिससे कुपित होकर उसके द्वारा मुनि के ऊपर घोर उपसर्ग किया जाना, विद्याधरों के राजा रत्नशिखण्डी का प्रस्तुत मुनिराज के दर्शनार्थ यहाँ आना और 'कन्दलविलास' विद्याधर के दुष्कर्म को देखकर उस पर कुपित होना और उसे शाप देना कि इस दुष्कर्म के विपाक से तू उज्जयिनी में चण्डकर्मा नाम का कोटुपाल होगा

१२६

विद्याधर द्वारा पैरों पर गिरकर प्रार्थना की जाने पर रत्नशिखण्डी द्वारा कहा जाना—'जब तुझे आचार्य सुदन के दर्शनों का लाभ होगा और तू उनसे धर्मग्रहण करेगा तो तेरो इस शाप से मुक्ति हो जाएगी' इसी प्रसङ्ग में आचार्य सुदन का, जो कि कलिङ्ग देश के पार्तिशाली राजा थे, विस्तृत व अलंकार-युक्त वर्णन किया जाना

१२७

रत्नशिखण्डी द्वारा विद्याधर से यह कहा जाना कि एक दिन दरबार में सुदन राजा के समक्ष एक चोर उपस्थिति किया गया, जो कि सोते हुए नाई को मार डालने और उसका सर्वस्व हरण करने का अपराधी था, राजा द्वारा उसे दण्ड देने के विषय में धर्मोपकारियों की और दृष्टिपात किया जाना, धर्मोपकारियों द्वारा उसके ऐसे चित्र वश करने का आदेश देना, जिससे दस या बारह दिनों में प्रासात्याग कर देने, यह सुन कर राजा को अश्रिय जीवन से विशेष अग्रचि होना, जिससे उसके द्वारा राज्य स्थान का अपने छोटे भाई को राज्यलक्ष्मी समर्पण करके जिन दीक्षा धारण की जाना

१२८

इसी प्रसङ्ग में रत्नशिखण्डी द्वारा 'कन्दलविलास' नामक विद्याधर के प्रति उज्जयिनी नगरी में वर्तमान 'सहस्रकूट' नाम की वसति (जिन मन्दिर) का, जो कि त्रिचालिखित पांडण स्वप्नोंधात्री है, श्लेषप्रधान अलंकारों द्वारा सरस वर्णन किया जाना एवं परिसंख्यालंकार द्वारा उज्जयिनी का नलित निरूपण किया जाना

१२९

पुनः उस विद्याधरों के चक्रवर्ती रत्नशिखण्डी द्वारा उक्त निरूपण करके और मन्मथमथन ऋषि की पूजा करके इच्छित स्थान को प्रस्थान किया जाना और उसके शाप-वश कन्दलविलास विद्याधर का उज्जयिनी में आकर चण्डकर्मा नामक कोटुपाल होना

१३०

पुनः यशोधर के जीव (बकरे) का और चन्द्रमति के जीव (भैंसे) का उसी उज्जयिनी के समीप एक चाण्डालवस्ती में साथ-साथ मुर्गा-मुर्गी होना आत्माधरूपा व्यतीत हो जाने के बाद किसी अवसर पर चन्द्रकर्मा नाम के कोटुपाल द्वारा दोनों मुर्गा-मुर्गी का एक चाण्डाल पुत्र के हस्तगत देखा जाना, पश्चात् उससे लेकर यशोमति महाराज के लिए दिखलाये जाना, पुनः उनके द्वारा यह कहा जाना कि 'हे चण्डकर्मा ! यह मुर्गा का बड़ा तब तक तुम्हारे ही

हम्वगत रहे, क्योंकि मैं महसकूट चैत्यालय के उत्थान में कामदेव की पूजा के लिए जाऊँगा, तुम्हें वही पञ्चभुद्ध-प्रीड़ा के लिए इस पक्षी जोड़े को दिखाना चाहिए।' जैसी आज्ञा कहकर चण्डकर्मा द्वारा पिजरे के साथ प्रस्थान किया जाना। १५०

इसके बाद चण्डकर्मा का पिजरे के साथ उसी उत्थान में पहुँचना, एवं उन्नीस सश्रियों (शकुनसर्वज नामक विष्णुशक्त विद्वान्-आदि) का भी वहाँ पहुँचना, यहाँ पर उनके द्वारा यशोक वृक्ष के मूल में विराजमान हुए सुदत्ता-चार्य का देखा जाना, पश्चात् उनके समक्ष, शकुनसर्वज नामके विद्वान् द्वारा संख्यदर्शन का समर्पण किया जाना, धर्मवज्र नाम के विद्वान् द्वारा मीमांसक मत की स्थापना की जाना, हर्षप्रबोध द्वारा दक्षिणमार्ग व वाममार्ग के सिद्धान्तों का समर्थन किया जाना, और मुगल कीर्ति द्वारा बौद्ध दर्शन की स्थापना की जाना, एवं चण्डकर्मा द्वारा चार्वाक मत का समर्थन किया जाना, पश्चात् आचार्य सुदत्त द्वारा उन सभी दार्शनिकों की मान्यता का अष्टादश युक्तियों द्वारा लंडन किया जाना और अहिंसा को ही धर्म का मूल बताया और अपने पक्ष का समर्थन करते हुए सुदत्ताचार्य द्वारा उन मूर्ति-मूर्तियों के पूर्व सबों का दर्शन किया जाना, जिसके फलस्वरूप उन्हें यह निश्चय होना कि 'हमने यशोधर राजा व चन्द्रमणि की पर्याय में कुलदेवों के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई थी, जिससे हमें इस भवचक्र में घूबना पड़ा, इत्यादि' १५२

पश्चात् यशोमति महाराज द्वारा कुसुमानली महारानी के लिए अपनी शल्यवेधिता की कृशवत्ता प्रदर्शित करने के लिए बेदने में समर्थ बाण छोड़ा जाना, जिससे दोनों मूर्ति-मूर्तियों का ग्राह्य होकर मर जाना और धर्म के साहाय्य से दोनों का सुखर योगि में जन्म होना, अर्थात्-दोनों का यशोमति कुमार की रानी कुसुमानलि के गर्भ से समज (जोड़ा) भाई-बहन के रूप में उत्पन्न होना, इसी प्रसंग में गर्भवती कुसुमानलि रानी का वर्णन होना और रानी द्वारा अपने दोहले राजा के लिए प्रकट किये जाना और यशोमति महाराज द्वारा अधिकारियों के लिए उक्त कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा की जाना। पश्चात् उनका नाम 'यशस्तिनक और मदनमति रखला जाना और गाना के दोहना के अधीन अमयकवि और अमयगति नाम रखला जाना, प्रसंगवश यशस्तिनक और मदनमति के कुमार ज्ञान का निरूपण किया जाना १५७

एक दिन यशोमति महाराज का शिकार खेलने के लिए जाना और उनके द्वारा महसकूट जिनालय के उत्थान में श्री सुदत्ताचार्य का देखा जाना, अजमार नामक विदूषक द्वारा यह कहा जाना कि राजन् ! 'इस मुनि के दर्शन से आज शिकार मिलना असम्भव है, इसे सुनकर राजा का क्रोध हो जाना। इसी अवसर पर सुदत्ताचार्य की वदना के लिए आए हुए कल्याण मित्र नाम के वणिक्-स्वामी द्वारा यशोधर महाराज से कहा जाना—हे राजन् ! 'जसमय में आपका मुख लोक से म्लान क्यों हो रहा है ? विदूषक पुनः अजमार—'हे वणिक् स्वामी इस अमङ्गलीभूत नग्न के देखने से'।

कल्याणमित्र द्वारा यह कहा जाना—'राजन् ! ऐसा मत सोचो, क्योंकि यह मयवान् निस्तन्देह पूर्व में कलिङ्ग देश के राजा थे, तुम्हारे पिता से इनका वंशानुगत पूज्यता का संबंध था। इसने व्यभिचारिणी स्त्री भरोखी म्वयं आई हुई राज्यलक्ष्मी को चञ्चल स्त्री-सी जानकर तिरस्कृत किया और जिलोंक पूज्य नपण्चर्या में स्थित है, बातः इनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है। पुनः नग्नता के समर्थक अनेक प्रमाण दिये तब यशोमति कुमार द्वारा कल्याण मित्र के साथ मुनि राज को नमस्कार किया जाना और मुनिराज द्वारा उसे शुभाशीर्वाद दी जाना १६६

यशोमति कुमार को अपनी दुर्भावना पर पश्चाताप होना, और उसके मन में यह विचार आना कि 'अपने शिर कमल से प्रस्तुत मयवान के चरणों की पूजा करनी ही इस पाप का प्रायश्चित्त है' प्रस्तुत आचार्य द्वारा राजा के मन की बात जानकर उसे रोका जाना इससे प्रभावित हुए यशोमति कुमार द्वारा उन्हें अतीन्द्रियदर्शी जानकर अपने दादा यशोधर

महाराज और पितामही चन्द्रमति और माता-पिता के विषय में पूँछा जाना कि अब वे किस लोक में हैं ? मुनिराज द्वारा कहा जाना—राजन् ! तुम्हारे दादा यशोधर्ममहाराज तो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हैं । तुम्हारी माता पाँचवें नरक में है और तुम्हारी पितामही तथा पिता आठे के बने मुर्गे की बलि देने के गण से अनेक जन्मों में काट उठाकर अब तुम्हारे गृह में पुत्र-पुत्री के रूपमें वर्तमान हैं । यह सुनकर यशोमति कुमार द्वारा अपने दुष्कृत्यों पर वेद-शिक्ष होकर आचार्य से दीक्षा देने की प्रार्थना की जाना एवं समस्त परिवार को बुलवाकर मुनिराज द्वारा कथा सुनाया जाता है १७१

इसके पश्चात् मुनिकुमार द्वारा राजा मारिदत्त से कहा जाना 'राजन् ? हम वही धर्मयसि और अमरमति हैं, अपने पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनकर हमें अपने पूर्वजन्मका स्मरण होगया जिससे हमने संसार को छोड़ देने का निश्चय किया । उस समय हम दोनों की अवस्था केवल ८ वर्ष की थी, इसलिए हमें क्षुल्लक के वन दिये गए । आचार्य सुदत्त के साथ विहार करते हुए आगकी नगरी में आए तो तुम्हारे रोवक हमें पकड़ कर तुम्हारे पास ले आए ॥' १७५

मुनिकुमार की कथा सुनकर मारिदत्त राजा को अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई, उसकी जीवन-धारा धर्म की ओर प्रवाहित होने लगी । पुनः उसने मुनिकुमार से अपने समान बना लेने की प्रार्थना की । मुनिकुमार ने उन्हें अपने गुरु सुदत्ताचार्य के पास प्रस्थान करने को कहा १७६

१ लो कथ्य

इति पञ्चम आख्यायिकाः

श्री० सुदत्ताचार्य का चण्डमारी देवी के मन्दिर में पहुँचना, उससे मारिदत्त राजा की सभा का धुल्ल होना और मारिदत्त राजा द्वारा आचार्य की पूजा की जाने पर अमरयसि क्षुल्लक द्वारा प्रस्तुत राजा का परिचय देने के लिए आचार्य से यह कहा जाना कि—'भगवन् यदुवंश में 'चण्डमहाराज' नाम का राजा था, प्रसङ्गवश यदुवंश का व उक्त राजा का ललित निरूपण किया जाना और यह कहा जाना कि ये मारिदत्त महाराज उक्त राजा के सुपुत्र हैं और हमारी माता कुसुमावलि रानी के लघु भ्राता हैं, अर्थात्—हमारे छोटे मामा हैं, अब ये उपदेश सुनने के पात्र हैं, अतः उन्हें धर्मोपदेश दीजिए । पश्चात् मारिदत्त राजा द्वारा आचार्य के लिए नमस्कार किया जाना और निराकुल मनोवृत्ति वाले व बुद्धि गुणों से युक्त होकर पूज्य सुदत्ताचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न किये जाना 'भगवन् ! निस्सन्देह यह प्राणी धर्म से मुक्त होता है, उस धर्म का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने भेद हैं ? एवं उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? और उसका क्या फल है ?' १७९

इसके बाद आचार्य द्वारा धर्म, उसका स्वरूप व उसके भेद निरूपण किये जाना १८२

पश्चात् राजा द्वारा मोक्षमार्ग व संसारकारण गृहस्थ-धर्म व मुनिधर्म के विषय में पूँछा जाना १८२

तत्पश्चात्—आचार्य द्वारा मोक्षमार्ग व संसार के कारणों का निरूपण किया जाना १८३

५

सृष्टि के विषय में अनेक मान्यताएँ व उनकी समीक्षा—
सैद्धान्तिकविशेषिक, तार्किकविशेषिक, पाण्डुपत्र, कील, सांख्य,
बौद्ध, जैमिनीय, ज्ञानिक, वेदान्ती, माध्यमिक बौद्ध,
कारणद, तात्पागत, वापिल, व अद्वैतवादियों के मत व
उनकी समीक्षा और स्यादादियों द्वारा मानी हुई सृष्टि
का स्वरूप । १८३-१८४

२ रा कल्प

आप्तस्वरूपमीमांसा—सम्प्रदर्शन का माहात्म्य व
स्वरूप, आस का लक्षण, १८ दीप, ब्रह्मा, विष्णु, महेश-
आदि की आसता का निरसन, शिव को आस मानने के
विषय में विशेष प्रबल युक्तियों द्वारा समीक्षा की जाना,
एवं जैन तीर्थङ्करों को आस मानने में अन्धवादियों के
आरोपों का समाधान करते हुए उनकी आसता का
समर्थन १८५-२०४

३ रा कल्प

आगमपदार्थपरीक्षा—

आप्त की प्रामाणिकता से आगम की प्रामाणिकता,
आगम का लक्षण व विषय, वस्तु का स्वरूप द्रव्याधिक
व पर्यायाधिक तत्त्व की अपेक्षा उत्पाद, विनाश व स्थिर
शक्ति है, वस्तु को सर्वथा प्रतिक्षण विनाशशाली मानने
वाले बौद्धों का और सर्वथा गिर्य मानने वाले सांख्यों का
युक्तिपूर्ण खंडन, आत्मा का स्वरूप, आत्मा का ज्ञान-दर्शन
से शून्य मानने पर और ज्ञानमात्र को जीव मानने पर
आपत्ति का प्रसंग, जीव और कर्म का संबंध, जीव
के भेद, अजीव द्रव्य, द्रव्य का स्वरूप और भेद, मोक्ष
का लक्षण, बन्ध व मोक्ष-कारण, मिथ्यात्व के भेद,
प्रसंगम का लक्षण, कथाओं के भेद, योग, आर्हंतों द्वारा
माने गये लोक का स्वरूप, लोक की वातवलय के आधार
मानने की आर्हत्मान्यता का समर्थन, जैन शास्त्रों पर
अन्य मतावलम्बियों द्वारा चार दोषों (स्नान न करना,
आश्रमन न करना, नग्न रहना और खड़े होकर सोजना
करना) का आरोपण किया जाना और उन दोषों का
युक्ति व आगम प्रमाण से समाधान किया जाना व केवल
तुलना का प्रयोजन २०४-२१०

४ रा कल्प

सृष्टि का निषेध—

सूर्य को पूजा-निमित्त जल चढ़ाना-आदि व कैसे मानवी
को जैनधर्म में लाने की चेष्टा करनी चाहिए ? २११

५ रा कल्प

सम्यक्त्व के प्रतिचार (गच्छा-आदि) व शङ्का का
स्वरूप व उससे हानि और निःशंकित अंग का स्वरूप तथा
जमदग्नि तपसी के तपोभंग की कथा २१२-२१६

६ रा कल्प

जिनदत्त और पद्मरथराजा की प्रतिज्ञा के निर्वाह की
कथा २१६-२२२

७ रा कल्प

निःशङ्कित अंग में प्रसिद्ध भंजन चोर की कथा

२२३-२२५

८ रा कल्प

निःशंकित अंग का स्वरूप व उसमें प्रसिद्ध भक्त-
मति की कथा २२६-२३०

९ रा कल्प

निर्विक्रित्ता अंग का स्वरूप व उसमें प्रसिद्ध
उद्दामन राजा की कथा २३१-२३४

१० रा कल्प

अमूलदृष्टि अंग का स्वरूप व भवसेन नामक मुनि
को आगम विरुद्ध प्रवृत्ति का निरूपण २३४-२४०

११ रा कल्प

अमूलदृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

२४०-२४५

१२ रा कल्प

सम्यक्त्व के वर्धक गुण, जैन शासन के वर्धक गुण,
उपमूलन अंग का निरूपण और इसमें प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त
की कथा २४६-२४९

१३-१४ रा कल्प

विशतिकरण अंग का स्वरूप मंथ की वृद्धि के विषय

में एवं स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध बाह्येण मुनि का कथा २४६-२५७

१५, १६, १७, १८ वाँ कल्प

प्रभावना अंग का स्वरूप और इसमें प्रसिद्ध बज्ज-कुमार मुनि की कथा २५७-२७०

१९, २० वाँ कल्प

वात्मत्व अंग का स्वरूप और उसमें प्रसिद्ध विष्णु-कुमार मुनि की कथा २७०-२८१

२१ वाँ कल्प

सम्पत्त्व की उत्पत्ति के दो कारण, सम्पत्त्व के अस्तरंग व बाह्यसाधन, सम्यग्दर्शन के दो भेद, तीन भेद और दश भेद, उनमें दो भेदों का निरूपण, सम्पत्त्व के चिह्न, प्रथम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य का स्वरूप, सम्पत्त्व के तीन भेदों और दश भेदों का स्वरूप २८२-२८५ गृहस्थ आचक के ग्यारह भेद (११ प्रतिमाएँ) और मुनि के चार भेद, गण्यों के तीन भेद और उनके दूर करने का उपाय, सम्पत्त्व का माहात्म्य, सम्पत्त्व के अष्ट अंगों की परिपूर्णता के विषय में, सम्पत्त्व के पञ्चोस दोष, मोक्षमार्गी कौन है ? , निश्चय नय से रक्षाय का स्वरूप, 'रत्नत्रय आत्मस्वरूप है' इसका सरस समर्थन, आत्मा और कर्म में महान् भेद, 'आत्मा अपनी पर्याय का और कर्म अपनी पर्याय का कर्ता है' इसका वृष्टान्त द्वारा समर्थन, जिसका भन विणुद्ध है वह अहिंसक है और जिसका भन अणुद्ध (कषाय-युक्त) है वह हिंसक व पापी है, मुख-पुच्छ से पुण्य-पाप का वन्ध, यह चित्त अशुभ ध्याय द्वारा पापवन्ध और शुभ ध्यान द्वारा पुण्यवन्ध और शुक्लध्यान द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, चित्त को निश्चिन्त करने का उपदेश २८६-२९०

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व माहात्म्य, ज्ञान के दोष से बुद्धि की विपरीतता, ज्ञान के भेद २९०-२९१

चारित्र्य का लक्षण व भेद, सम्पत्त्व-हीन ज्ञान की व्यर्थता और ज्ञानहीन चारित्र्य की व्यर्थता, सम्पत्त्व से मुक्ति, ज्ञान से कीर्ति, चारित्र्य से पूजा और तीनों की प्राप्ति से मोक्ष की प्राप्ति का निर्वेश करके तीनों का स्वरूप-निर्देश,

अणुद्ध आत्मार्थी गारुड को शुद्ध करने का उपाय एवं सम्यग्दर्शन-आदि का आश्रय २९१-२९३

२२, २३ वाँ कल्प सप्तम आशवास

'यत्त सम्यग्दर्शन के गुणवर्द्धक हैं' इसका वृष्टान्त-माळा द्वारा समर्थन, आचक-व्रत के दो भेद, आठ मूल गुण, मद्य के दोष, मद्य पीनेवाले संन्यासी की कथा, मद्यव्रती धुतिल चौर की कथा २९४-२९७

२४ वाँ कल्प

मांस-भक्षण के दोष, धर्म-सेवन न करने वालों की भ्रष्टता, अहिंसा धर्म-पालन का उपदेश, मधु-सेवन के दोष, पाँच उदुम्बर फलों के दोष, मद्य पीनेवालों तथा अव्रतियों के साथ स्नान-पान का निषेध, चर्मपात्र में रक्खे हुए जल व घृत-आदि का निषेध २९८-३००

कुछ लोगों की भ्रान्त्यना है कि 'मूँग व खड़द-आदि एकेन्द्रिय जीवों का शरीर भी ऊँट व भेड़ा-आदि के शरीर की तरह मांस है, क्योंकि वह जीव का शरीर है' इसका युक्ति पूर्वक निरास, गाय का दूध शुद्ध है, परन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है, इसका वृष्टान्त द्वारा समर्थन, मांस स्पाज्य है और दूध पीने नायक है इसका नवित वृष्टान्त द्वारा समर्थन, मांस और घी में अन्तर, विधि द्वारा शुद्धि के विधान की समीक्षा, बौद्ध, सांख्य व चार्वाक आदि की भ्रान्त्यना को न मान कर मांस-भक्षण का त्याग करना चाहिए, लालसापूर्वक मांस खाने वालों को दोहरा पाप, मांस-भक्षण का संकल्प करने वाले राजा सीरसेन की कथा ३००-३०४

२५ वाँ कल्प

मांसत्यागी चाण्डाल की कथा ३०४-३०५

२६ वाँ कल्प

आयकों के बारह उत्तर गुण, पाँच अणुव्रत, व्रत का लक्षण, पाँच पापों के सेवन से दुर्गति, हिंसा और अहिंसा का लक्षण, समस्त गृह-कार्य देख-भाल कर करना और समस्त तरल पदार्थ (घी, दूध-आदि) वस्त्र से छानकर उपयोग में लाने चाहिए, ३०६

भोजन के अनुराग व उसके पालने का उद्देश्य, रात्रि-

भोजन का निषेध, अपने प्रवीनों को भोजन कराता, भोजन में त्याज्य वस्तु (अचार-आदि), असाता वेद्रीय कर्म के आस्रव के कारण, चाग्रि मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्य भावना का स्वरूप, द्विषा और अहिंसा में मुख्य व गौणभावों की विशेषता, निष्प्रयोजन स्थावरजीवों के घात का निषेध, दो इन्द्रिय-आदि जीवों का घात हो जाने पर आगमानुकूल प्रायश्चित्त-विधान, प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ और प्रायश्चित्त देने का अधिकार और पाप-त्याग की समीप प्रीति, योग का स्वरूप व भेद, सुसाधुभ योग, पाप से बचने का उपाय, रात्रि का कर्तव्य, जीवदया का महत्व, अहिंसाप्रती मृगसेन खोवर की कथा ३०७-३२४

२७ वाँ कल्प

अचोर्याणुव्रत का स्वरूप, उसकी विस्तृत व्याख्या, अचोर्याणुव्रत के अतीचार, अचोर्य का महात्म्य व चोरी से उभयलोक में दुःख एवं चोरी में आराक्त श्रीभूति पुरोहित की कथा ३२५-३३४

२८-३० वाँ कल्प

सत्याणुव्रत का स्वरूप, सत्यवादी को कैसा होना चाहिए ?, केवली सगवान्-आदि के अवशंवाद से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव, जो विद्वान् मोक्षमार्ग को स्वयं जानता हुआ भी ज्ञान का समुद्र करने-आदि से नहीं बचता, उसे ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म का वन्ध होता है, सत्याणुव्रत के मनीचार, स्त्री-आदिकी कथा करने का निषेध, ध्वन के असत्यसत्य व सत्यासत्य आदि चार भेद और उनका स्वरूप, सत्यवादी को अपनी प्रशंसा न करते हुए दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए । उसे दूसरों में विश्रामान गुणों का घात (लीप) नहीं करता चाहिए और अपने में अविद्यमान गुणों को नहीं कहना चाहिए; क्योंकि पर-निन्दा व आत्मप्रशंसा आदि से नीच भोग का बंध होता है, सत्य बोलने से लाभ, अगत्यमपेक्षा में हानि, असत्य-भाषी वस्तु और पर्वत-नारद की कथा, इसी प्रसङ्ग में मुलसा राजकुमारी का समर राजा के साथ संगम होना, जिससे अधुषिङ्गल का विरक्त होकर मरकर कादमुर होना-आदि की कथा ३३४-३५३

३१ वाँ कल्प

ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप, ब्रह्मचारी का कर्तव्य, 'ब्रह्म' शब्द की निश्चिन्ता, काम का मद न लाने की प्रेरणा, तांता-रित भोगों से तृप्त न होने के विषय में दृष्टान्तभाषा, काम मोगों की निन्दा, कामी की विवृत मनोवृत्ति, प्रचुर मात्रा में काम-संयम करने का दुष्परिणाम, काम को अय-रोग की तुलना, कामरूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर स्वा-ध्याय व धर्मध्यान आदि का अभाव, आहार की तरह भोग-सेवन करना चाहिए, ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार, काम के दश गण, क्रोध के आठ अनुचर, ब्रह्मचर्याणुव्रत से लाभ, परस्त्रीलम्पटता से उभय लोक में भयानक विपत्तियाँ मोगनी पड़ती हैं, दुराचारी कडारमिङ्गल की कथा ३५३-३६७

३२ वाँ कल्प

परिग्रहपरिमाणुव्रत का लक्षण, दश बाह्य व ओदर आभ्यन्तर परिग्रह, अथवा बाह्य परिग्रह के दो भेद और आभ्यन्तर परिग्रह का एक भेद, घन की तृणणा का निषेध, लोभी की निन्दा, सन्तोषी की प्रशंसा, परिग्रह में आसक्त मनुष्य की मनोवृत्ति विषुद्ध नहीं होती, परिग्रह में अनासक्त मानव की प्रशंसा, सत्याज को दान देने वाला सत्त्वलोमी, लोभ-वश परिमाण किये हुए धन से अधिक घन का संचय करनेवाला श्रम की क्षति करता है, प्रचुर धनाकांक्षा से पाप-संचय, लोभी विध्यावगन्ध की कथा ३६७-३७३

३३ वाँ कल्प

तीन गुणव्रत, दिग्व्रत व देशव्रत का लक्षण और उससे लाभ, अनर्थदण्ड का स्वरूप, अनर्थदण्डव्रत से लाभ, अनर्थदण्ड-विरति के अतीचार ३७४-३७५

एति सप्तम आश्रवास।

३४ वाँ कल्प

चार शिक्षाव्रत, सामायिक का लक्षण, मूर्तिपूजा का विधान अथवा देव-प्रतिमा की पूजन से लाभ, देवपूजा में अन्तरङ्ग व बहिरङ्गगुणों की आवश्यकता, स्नान करने का उद्देश्य, श्वेत्पूजा के लिए गृहस्थ को नित्य स्नान करना चाहिए और मुनि को दुर्जन से छू जाने पर स्नान करता चाहिए, स्नान के योग्य जल, स्नान के पाँच भेद, गृहस्थ

कण्टपर्यन्त व मस्तकपर्यन्त स्नान द्वारा बाह्य शुद्धि किये बिना देवपूजा का अधिकार नहीं, प्रशस्त मिट्टी-आदि से शुद्धि का विधान, आचमन किये बिना गृह में प्रवेश-निषिद्ध, स्नान करके अव्यग्रचित्त होकर पवित्र वस्त्र पहनकर भीम व संयमपूर्वक देवपूजा की विधि करनी चाहिए, हौम व भूतबलि का विधान, गृहस्थों के दो धर्म—लौकिक व पारलौकिक, जातियाँ व उनकी क्रियाएँ बनादि हैं; विशुद्ध जाति वालों के लिए जैन विधि, जैनों को वही लौकिक विधि विधान (विवाह-आदि) मान्य है; जिसमें उनका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता और चारित्र्य भी दूषित नहीं होता।
३७६-३७६

३५ वाँ कल्प

देवपूजा के अधिकारी दो प्रकार के हैं, अन्य मत की प्रतिमाओं में आप्त का संकल्प नहीं करना चाहिए, पुष्या-विक में जिनेन्द्र देव की स्थापना करने वालों के लिए पूजा-विधि, पंच परमेष्ठी तथा रत्नवय की स्थापना की विधि, अर्हन्त की पूजा, सिद्ध की पूजा, आचार्य-पूजा, उपाध्याय-पूजा, साधु पूजा, सम्मगदर्शन-पूजा, सम्मस्नान-पूजा सम्बन्ध चारित्र्य पूजा, दर्शन-भक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्र्य-भक्ति, अर्हन्त-भक्ति, सिद्ध-भक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति-भक्ति, आचार्य-भक्ति।
३७६-३८४

३६ वाँ कल्प

प्रतिमा में आस-आदि की स्थापना करने वालों के लिए पूजाविधि, अभिषेक, पूजा, स्तुति, जप, ध्यान व श्रुताराधना इन छह विधियों के कहने की प्रतिज्ञा, पूषक को स्वयं उत्तर दिशा की ओर मुँह करके स्थित होने का और जिन प्रतिमा को पूर्वाभिमुख स्थापन करने का विधान, देव-पूजा के छह विधि विधान-प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना सन्निधापन, पूजा और पूजाफल, प्रभु की धारणी, जलामिषेक, मुनकका दास्य व खर्जूर-आदि के रसों से जिनेन्द्र का अभिषेक, घृताभिषेक, धारोष्ण दुग्ध-प्रवाह से जितामिषेक, दही से अभिषेक, इलायची, लौंग व कङ्कूल (सुगन्ध जड़ी बूटी) के चूराओं के कलकों से प्रभु का अनिषेक, शुभ्र जल-पूर से भरे हुए चार कलशों से प्रभु का जलामिषेक, गन्धोद

कों से प्राभिषेक, यज्ञस्तस्नान, सोलह पाँखुड़ीवाले कमल की कणिका में अर्हन्त प्रभु को स्थापित करके उनकी पूजा करना व पूजा-फल
३८४-४०४

३७ वाँ कल्प

तीर्थचक्र अर्हन्त भगवान् की स्तुति, इसी प्रसङ्ग में (जिन-स्तुति को आधार मानकर) जैमिनीय मत-समीक्षा, सांख्यदर्शन-मीमांसा, चार्वाक-दर्शन-मीमांसा, वैशेषिक दर्शन की मुक्ति-मीमांसा, सुष्टि कर्तृत्व-मीमांसा, वेद की ईश्वर कर्तृत्व मान्यता की समीक्षा, बौद्धदर्शन-मीमांसा, बुद्ध के प्रमाणतत्त्व की मीमांसा व ज्ञानाद्वैतवादी योगान्तर (बौद्धविशेष) मत-समीक्षा आदि विषयों का जलित व युक्तिपूर्ण विवेचन।
४०५-४१३

३८ वाँ कल्प

जप-विधि, मनादि सिद्ध पैतास अक्षरों वाले पञ्चम-स्कार मन्त्र से जप करने का विधान, जप की माला-आदि, मन से व वचन से जप का विधान, पंच नमस्कार मन्त्र का माहात्म्य, जप प्रारम्भ करने के पूर्व सगळीकरण-विधान-आदि।
४१३-४१५

३९ वाँ कल्प

ध्यान-विधि, पद्मासन या लङ्कासन से स्थित होकर उच्छ्वासनिःश्वास रूपप्राणवायु के प्रवेश व निर्गम को सूक्ष्म करते हुए पादाग-वर्धित-सा निश्चल होकर ध्यानस्थ होना चाहिए, ध्यान, ध्याता व ध्येय का स्वरूप, धर्मध्यानी का परीधह-सङ्ग, ध्यान के योग्य स्थान, सबोज ध्यान (गृध-स्त्ववितर्कमयीचार शुक्लध्यान) का स्वरूप, सबोजध्यान (एकस्त्ववितर्क अधीचार नामक शुक्ल ध्यान) का स्वरूप, धर्मध्यानी को अज्ञान-निवृत्ति आवश्यक, ध्यान की दुर्लभता व ध्यान का काल, धर्मध्यान की उत्पत्ति में पचि कारण; धर्म ध्यान के अन्तराय ९, दुर्गुण, ध्यानी को शत्रु-मित्र में समभावी होने का विधान, पातञ्जल योगदर्शन के ध्यान का निरूपण और उसकी समीक्षा, धर्मध्यानी को शत्रु-मित्र में समभाव रखने वाला व सत्यवादी होना चाहिए, सात व रौद्रध्यान का स्वरूप और उनके स्थापने का उपदेश, दोनों ध्यानों से होने वाला दुष्परिणाम, धर्मध्यान

का स्वरूप, प्राज्ञाविचय नामक धर्मध्यान का स्वरूप; यथायविचय का स्वरूप; संस्थानविचय का स्वरूप; विपाक विचय का स्वरूप, धर्मध्यान का फल, शुक्लध्यान का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, ध्यान करने के योग्य वस्तु, धर्म ध्यानी को क्या विचार करना चाहिये ?, अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने योग्य स्वरूप, इसी प्रसङ्ग में 'जैने-विक, सांख्य व बौद्धदर्शन की मुक्ति-मीमांसा करके उक्त शीनों दार्शनिकों के निर्वाण अनेकान्त शैली के अनुसार भौतिक अर्हन्त भगवान् में प्रकट रूप से विद्यमान हैं' इसका विवेचन, अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने से लाभ, पूजविधान में व्यन्तरादिक देवताओं का अर्हन्त भगवान् के समान माननेवाला मनुष्य नरकगामी होता है, क्योंकि बिनागम में जिन-शासन की रक्षा के लिए शासन देवताओं की कल्पना की गई है, अतः उन्हें पूजा का एक अंश देकर उनको सम्मानित करना चाहिए, न कि जितेन्द्रसरीखी भ्रमिपैक-आदि पूजा द्वारा, निष्काम (निः स्पृह) होकर धर्माचरण करने का विधान; पंचमस्कार मन्त्र के ध्यान की विधि तथा महत्त्व, इस मन्त्र के ध्यान से समस्त उपद्रव शान्त हो जाते हैं; चूलिका-व्याख्या के कारण लौकिक ध्यान का निरूपण; लौकिक ध्यान की विधि, ध्यान का माहात्म्य।

शङ्का—संसारी जीव शिव (मुक्त) है और शिव संसारी जीव है; इन दोनों में क्या कुछ भेद है ? क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा एक है, इसका समाधान, आत्मध्यान के विषय में प्रश्न व उत्तर, शरीर और आत्मा की भिन्नता में उदाहरणमाला; जैसे धी मन्थनादि उपाय द्वारा धी से पृथक् कर दिया जाता है वैसे ही यह आत्मा ध्यानादि उपाय से शरीर से पृथक् की जाती है; शरीर साकार और आत्मा निराकार है इसके सम्बन्ध में उदाहरण-माला; आयुर्क्षी खम्भे पर टहरा हुआ यह शरीर ही योगियों का गृह है, योगियों का मन इसी आत्मध्यान रूपी चन्चुजनों में फ्रीड़ा करता है, इन्द्रियों से प्रेरित आत्मा क्षणभर ध्यान में स्थिर नहीं रहता; अतः धर्मध्यानी को जितेन्द्रिय होना आवश्यक है; आस-स्वरूप के ध्यान की विधि, पद्मासन, बीरासन और सुखासन का लक्षण और ध्यान की विधि।

४१५-४४०

४० वाँ कल्प

श्रुतपूजा—

४१ वाँ कल्प

४४०-४४२

प्रोषधोपवास का स्वरूप, उपवास की विधि, उपवास के दिन का कर्त्तव्य, उपवास के दिन आरम्भ के त्याग का विधान, प्रोषधोपवास के अतीचार, कायक्लेश के बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती एवं चारित्र्य धारक का माहात्म्य।

४४३-४४४

४२ वाँ कल्प

भोग व परिभोग (उपभोग) का लक्षण करके भोग परिभोगपरिभाषा व्रत का स्वरूप, धर्म और नियम का लक्षण, प्रस्तुत व्रत को सूरण-आदि के भक्षण का निषेध, भोगपरिभोगव्रत के अतीचार और इस व्रत से लाभ

४४४-४४५

४३ वाँ कल्प

दान का स्वरूप, दान में विशेषता का कारण, दाता, पात्र, विधि और द्रव्य का स्वरूप, सज्जन दाताओं के धन-वितरण के तीन उद्देश्य, दान के चार भेद, चारों दानों का फल, सबसे प्रथम अमयदान देने का विधान, उसकी प्रशंसा, साधुओं के लिए आहार-दान देना, तबसा भक्ति, दाता के सात गुण, दाता के विज्ञानगुण का लक्षण, किनके गृहों में साधु वर्ग को आहार-ग्रहण नहीं करना चाहिए ? गृहस्थ को दान-गुण्यादि धार्मिक कार्य स्वयं करना चाहिए, स्वयं धर्म करने का फल, मुनियों के आहार-ग्रहण के अयोग्य गृह, जिनदीक्षा तथा आहारदान के योग्य वर्ण, यज्ञ- (दान) पंचक करना चाहिए, नलिकाल में मुनियों के दर्शन को दुर्लभता, आधुनिक मुनियों को पूर्वकालीन मुनि-सरीखे समझकर पूजना चाहिए, पात्र के तीन भेद, अपात्र का लक्षण और उसे दान देना व्यर्थ, पात्र-दान से पुण्य, मिथ्यादृष्टि को केवल करणा युद्धि से ही कुछ देना चाहिए, बौद्ध व नास्तिक-आदि के साथ संबंध-विच्छेद, अन्य तरह से पात्रों के पाँच भेद और उनका स्वरूप, समीचीन आदि का लक्षण और उन्हें दान देने की प्रेरणा, जिस साधु में ज्ञान और तप नहीं है, वह तो केवल संघ का स्थान भरने वाला है। योगियों के विनय करने की

विधि, गुरु के निकट त्याग्य व्यवहार, आहार-दान के लिए साधुओं की परीक्षा करने का निषेध, गुराों की विशेषता से साधु की पूज्यता में विशेषता, साधुओं के लिए धन-सत्त्व करना चाहिए ।

जैनधर्म अनेक पुरुषों के आश्रय से उद्भूत हुआ है, साधुओं के नाम-आदि निक्षेप की अपेक्षा चार भेद, नागादि निक्षेपों का लक्षण, राजसदान, ताम्रदान का लक्षण, सारिक दान का लक्षण, उत्तम, मध्यम, अधम्य दान, भक्तिपूर्वक शाक-पात का दान भी प्रचुर गुण्य का कारण, आहार-देश में भीत रखने का आदेश, सोनव्रत से लाभ, कृष्ण साधुओं की परिचर्या, श्रुत के पाठकों और व्याख्याताओं के लिए निवास-स्थान, शास्त्र व आहारादि की सुविधा देना, क्योंकि उनके अभाव में श्रुत का विच्छेद हो जायगा, मुनियों को श्रुत के विद्वान् बनाना चाहिए, श्रुत का साहाय्य, ज्ञान की दुर्लभता, महत्ता, अज्ञानी और ज्ञानी में अन्तर, ज्ञान के बिना पुरुष अन्वा-स्ता है, प्रत्येक शास्त्र में स्वरूप, रचना, शुद्धि, भल-हृदय और वर्णन किया हुआ विषय होता है, और स्वरूप-आदि के दो दो भेद, मुनिदान के अतीचार, मुनियों को नमस्कार-आदि करने से नाम

४६५-४६९

४४ वाँ कल्प

आवको की ग्यारह प्रतिमाएं, पूर्व प्रतिमाओं के चारित्र को पालन करने में स्थित होकर आगे-आगे की प्रतिमाओं का चारित्र पालन करना चाहिए । एवं समस्त प्रतिमाओं में रत्नत्रय की भावनाएं एकसरीझों कहीं गई हैं, ग्यारह प्रतिमाओं के नामधारकों में संज्ञाभेद, जितेन्द्रिय, क्षण, अमण, माणाम्बर, नग्न, ऋषि, मृति, यति, जनगार, शुचि, निमंभ, मुमुक्षु, संसितव्रत, वाचंयम, अनूचान, अना-श्वान्, पांशो, पंचाग्निसाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वागप्रस्थ, शिखाच्छेदी, परमहंस, तपस्वी, अतिथि, दोषितात्मा, श्रोत्रि, होना, यष्टा, अश्वर्य, व आहारा इन मुनियों के नामों की शुक्तिपूर्वक निरुक्ति और इसी प्रसङ्ग में उपार्थ वेद व उपार्थ अंगीविद्या की निरुक्ति, धर्म में युक्त जाति-श्रेष्ठ है, शैव, बौद्ध, सांख्य और द्विज की निरुक्ति व स्वरूप, दान के अपात्र व्यक्ति, वेणविरत और सर्वविरत को अपेक्षा से भिक्षा के चार भेद

४६९-४६६

४५ वाँ कल्प

शरीर को विनाशान्मुख जानकर समाधिमरण करना चाहिए, शरीर-त्याग करना आश्चर्यजनक नहीं किन्तु संयम धारण आश्चर्यजनक है, अतः किनश्वर शरीर को नष्ट होते में शोक नहीं करना चाहिए, शरीर, स्वयं समाधि के समय की शापित कर देता है, जब मानवों को गम-दूती-सी वृद्धावस्था आजाय तब उन्हें जीवन की लासला क्यों करनी चाहिए ? समाधिमरण की विधि, यदि अन्न समय मन मलिन हो गया, तो जीवनपर्यन्त नित्य हुआ धर्मराजन व्यर्थ है, क्रमशः अन्न का त्याग कर दूध व मद्धा रख लेवे पुनः उन्हें भी छोड़कर गमंजल रख लेवे ।

पश्चात् सब कुछ छोड़ देवे, अचानक मृत्यु आने पर यह क्रम नहीं, आचार्य-आदि कुशल हो तो समाधि में कठिन ता नहीं होती, सत्लेखना के अतीचार, समाधिमरण से नाम

४६७-४७०

प्रकीर्णक का लक्षण, धर्मकथा करने का पात्र, तत्त्वज्ञान में बाधक दोष, संशयालु की अक्षमता, आठ मद, धमण्ड में आकर साधुओं जनों का निन्दक धर्मघाती है, गृहस्थ के छह धार्मिक कर्तव्य, देवपूजा की क्रमिक विधि (छह क्रियाएं), वस्त्राण-प्राप्त के उपाय, शिष्य-कर्तव्य, स्वाध्याय का स्वरूप, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, जरणानुयोग व ब्रह्मानु योग का स्वरूप, जीवसमाप्त, योग, गुणस्थान व मार्गणा इनके प्रत्येक के बौद्ध-बौद्ध भेद, चारों गतियों में होनेवाले गुण-स्थानों की संख्या, तप के दो लक्षण, संयम का स्वरूप, कषाय की निरुक्ति और भेदों का लक्षण, अनन्तानुबन्धि कषाय-सम्यक्त्व की घातक, अप्रत्याख्यान-देशव्रत की घातक प्रत्याख्यान-संयम की घातक और संज्वलन-यथाख्यात चारित्र की घातक क्रोध, मान, माया व लोभ के शक्ति की अपेक्षा चार-चार भेद और उनके कार्य, क्रोध का दुष्परिणाम, मान, माया और लोभ से ज्ञानि, संयम रूपी बोलों द्वारा क्रोध-आदि कषाय रूपी शक्तियों को निकालने का उपदेश, जितेन्द्रिय होने का उपदेश, विषय विष के तुल्य हैं, त्रयी-कर्तव्य, वैराग्य का स्वरूप, तत्त्वचिंतन का स्वरूप, नियम व यम ४७०-४७८

इसप्रकार सुइताचार्य द्वारा गृहस्थ-धर्म कहा जाना और जगदम्हारी देवी, भारिदत्त महाराज व नगरवासी जनों

स्वांग अपनी योग्यता के अनुरूप धर्म ग्रहण किया जाना और धुल्लक जोड़े द्वारा कुमारकाल व्यतीत करके मुनिधर्म व श्रायिका-धर्म ग्रहण किया जाना, धुल्लक जोड़े द्वारा समाधिभरण करके दूसरे देशान कल्प नामक स्वर्ग में जन्म लेना और श्रावकधर्म धारण किये हुए मारिन्दत राजा द्वारा उसी तरह स्वर्गलक्ष्मी का विलास प्राप्त किया जाना और चण्डभारो धर्मों द्वारा आचार्य को नमस्कार करके अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शनार्थ प्रस्थान किया जाना ४७६

श्रीसुदत्ताचार्य द्वारा सिद्धवर कूट पर धर्म ध्यान करके छान्तव नामके मातृवै स्वर्ग में समस्त देवी के नेता देव होना ।

श्रीसुदत्ताचार्य से धर्म ग्रहण करने वाले दूसरे पक्षी-मति कुमार-आदि का देवेन्द्र होना ४८०

ग्रन्थकार की कामना, इस अष्ट सहस्री प्रमाण वाले यशस्तिलक के अध्ययन का फल, ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति, रच्छुक नाम के लेखक का परिचय, ग्रन्थकर्ता का समय व स्थान, 'यशस्तिलक' महाकाव्य की चौदह वस्तुएँ ४८०-४८२

अन्त्य भंगल व आत्मपरिचय ४८३-४८४

श्लोकानामकाराधनुक्रमः (परि० नं० १) ४८५-४८७

अप्रयुक्त-विलिख्यतम-शब्द-निघण्टुः (परि० नं० २)

४८८-४९८

वन्धवाद व शुद्धि पत्र ५२९-५३२



श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यम्

उत्तरखण्डम्

यशस्तिलकदीपिका-नाम भाषाटीकासमेतम्

चतुर्थ आश्वास

श्रीमानस्ति समस्तवस्तुष्विषयध्यापारधारंगमः पारेऽशेषतमः पयोषि फलधीमंघ्ये पुणाम्भोनिधिः ।

किं चान्यद्भुवनत्रयस्य पतयो यस्मिन्नवाप्तोदये जायन्ते प्रतिधारका इव पुरश्छत्रत्रयं विभ्रतः ॥ १ ॥

तद्विधानलिखि जातकलमधुवि प्राबुर्भवज्योतिषि त्रिलोक्यभुभि दत्तयात्रककुभि स्वर्गिस्पृतानुष्टुभि ।

यस्मिन्नच्युति सर्वलोकमहति स्तोत्रोन्मुखश्रीकृति अयोभाजनतां जनः परमगात्स स्ताच्छिद्ये वो जिनः ॥ २ ॥

अनुवादक का मञ्जलाचरण

जो हैं मोक्षमार्ग के नेता, अह रागादि विजेता हैं ।

जिनके पूर्णज्ञान-दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है ॥

जिनने कर्म-शत्रु-विध्वंसक, धर्मतीर्थे दरवाया है ।

ऐसे श्रीऋषभादि प्रभु को, शत-शत शीश झुकाया है ॥ १ ॥

जो अन्तरङ्ग लक्ष्मी—अनन्तज्ञानादि व बहिरङ्ग लक्ष्मी—समवसरणादि विभूति से अलंकृत हैं जो समस्त जीवादि तत्त्वों के प्रत्यक्ष जानने में पारगामी हैं, जो समस्त अज्ञानसमुद्र से दूरवर्ती हैं, पूर्वजन्म में बांधी हुई तीर्थङ्कर प्रकृति के कारण जो सायंक नामवाले (तीर्थङ्कर) हैं, जो अनन्तज्ञानादि गुणरूप समुद्र के मध्य में वर्तमान हैं तथा केवलज्ञानादि लक्ष्मी के प्राप्त होने पर जिनके मस्तक पर तीन लोक के स्वामी (इन्द्र व धरणेन्द्रादि) तीन छत्र धारण करते हुए सेवकों-सरीखे आचरण करते हैं, ऐसे ऋषभदेव तीर्थङ्कर भगवान् आप लोगों को स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए होवें ॥ १ ॥

जिनके धर्मसाम्राज्य में समस्त लोक निश्चय से शाश्वत कल्याण परम्परा को प्राप्त हुआ । जिनकी शुक्लध्यानरूप ज्योति समस्त कर्मों को समूल नष्ट करनेवाली है । जो पाप कर्मों को नष्ट करनेवाले हुए हैं अर्थात्—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का तथा नामकर्म की सोलहप्रकृतियों का क्षय किया है । जिनकी विशुद्ध आत्मा में केवलज्ञानरूप तेज उत्पन्न हो रहा है । अर्थात् घातिया कर्मसंघात के घातने पर जिनके केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, जिससे तीन लोक में संचलन—आसनादि-कम्पन हुआ है, अर्थात् केवल ज्ञान प्रकट होने के अवसर पर इन्द्रादिकों के आसन कम्पायमान होते हैं

अहो स्वकीयप्रतापोद्रेकमुद्रितसमस्तसमुद्र कुवलयानिष्वनखन्द, अन्यथा तु विपन्नविकासीद्वेत्सलकङ्कोलिपल्ल-
बोह्लासलालशो गगनकाननप्रबोधप्रवाधिषातकीप्रसवपेशलस्त्रिषि प्रचेतःपुरकान्तरस्मेरताजिह्मबहुतप्रसूनसंवोहसुन्दरे त्रिदि-
बोधानान्तरालनिलोत्तमोलल्लाङ्गलोलतान्तकान्तहृदि पश्चिमाधलस्थलविलासिनोश्लेषमण्डनोत्तंसविकसत्काशमीरकुसुम-
केसरसरालाभोगभङ्गो अहर्पतिपथानुसारिविषलक्ष्मीपिण्डालक्तकरसप्रसाधितचरणमार्गनिर्गमद्युति खरकरानुवजनपराम्ब-
रचरचमूरचितारणमणियिमानप्रभापटलतुलने त्रिपुरदाहाजितभूर्जदिनिदिललाञ्छनाधलस्थलहृन्मनमरनीतिनिर्गम्ये मुरामुरस-
मरमेदिनीव्रवध्रिधरपूरप्रकाशिनि विनकुत्करकृपाणपातितवैद्यचित्ताचक्रबालानुकूले मातृमण्डलकोडाकोलालकुण्डकान्तिनिके-
तिनि रविरथतुरगवेगखरपुरोदस्तास्तमस्तकमनःशिलाधूलिलीले चण्डीशताण्डवाडम्बरधसरसुरप्रसारितमुवर्णमण्डपभिणि

और जिससे स्वर्गलोक में घण्टानाद-आदि होते हैं। जिनके केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिए देवों ने
अनेक दिशाओं में गमन किया है। जिनकी अनेक इन्द्रादिकों द्वारा समवसरण में विशेष ध्वजापूर्वक अनुष्टुप्
आदि छन्दों से स्तुति की गई है। जो निश्चलता को प्राप्त हुए हैं, अर्थात्—विहार करने के बाद योग-निरोध
हो जाने से जो निश्चल हुए हैं। जो समस्त लोकों के परमगुरु हो जाते हैं, अर्थात् अर्हन्त अवस्था के बाद
जिन्होंने सिद्ध पदवी प्राप्त की है एवं जो स्तुति करने में उत्कण्ठा रखनेवाले इन्द्रादिकों के लिए लक्ष्मी उत्पन्न
करनेवाले हैं, अर्थात् जिनका निर्वाण कल्याणक इन्द्रादिकों द्वारा विशेष उल्लासपूर्वक मनाया गया है ऐसे वे
जिनेन्द्र प्रभु आप लोगों के लिए स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए होंगे ॥ २ ॥

अगनी प्रताप की विरोधता से चारों समुद्रों को चिह्नित करनेवाले व कुवलय (पृथिवी मण्डल) को
उसप्रकार आनन्दित करनेवाले जिसप्रकार चन्द्रमा कुवलयों-चन्द्र विकासी कमलों को आनन्दित (प्रफुल्लित)
करता है, ऐसे हैं मारिदत्त महाराज ! अन्य अवसर पर मैं भी (यशोधर महाराज), पैदल मार्ग से ही तब
अमृतमति महादेवी के सहल द्वार पर प्राप्त हुआ, जब ऐसा संध्या कालीन लालिमा का तेज प्रकट हो रहा था।
जिसकी उत्कट अभिलाषा, आकाशरूपी वन के विकास से कम्पित होते हुए अशोक वृक्ष के पल्लवों के प्रफुल्लित
करने में है। जिसकी कान्ति आकाशरूपी वन के उद्योत के लिए शीघ्र गमनशील धातकी पुष्पों-सरीखी
मनोज्ञ है। जो ऐसे पलाश पुष्पों के समूह-सरीखा मनोज्ञ है, जो कि वरुण नगर के वन के विकास में प्रगुण
(प्रचुर) हैं। जिसकी कान्ति, स्वर्ग के बगीचे के मध्य में स्थित हुई व विकसित होने वाली जल पिप्पली
(जल पोपल) के पुष्पों सरीखी (लालिमा-युक्त) मनोहर है। जिसकी रचना, अस्ताचल के स्थल पर स्थित
हुई कमनीय कामिनियों के मस्तक को अलङ्कृत करने वाले मुकुट पर विकसित होते हुए केसर पुष्पों की
पराग के प्रचुर विस्तार सरीखी है। जिसकी कान्ति सूर्य के मार्ग का अनुसरण करनेवाली दिवस लक्ष्मी के
पिण्डप्राय लाक्षारस से सुशोभित हुए चरणों के मार्ग-निर्गम सरीखी है।

जिसकी तुलना सूर्य के पीछे गमन करने में तत्पर हुई देवसेना द्वारा निर्मित हुए पञ्चराग मणि के
विमानों की कान्ति-समूह से होती है। जिसके समीप उन दानव नगरों (त्रिपुर-पुरों) की सदृशता है, जो कि
त्रिपुर नाम के दैत्य विशेष को भस्मीभूत करने में अप्रतिहत व्यापारशाली श्री महादेव के ललाट पर स्थित हुई
तृतीय नेत्र की अग्नि द्वारा जल रहे थे। जो, देव और दानवों की युद्धभूमि पर बहते हुए, अधिरपूर सरीखा
प्रकाशशील है। जो सूर्य के हस्त पर वर्तमान तलवार द्वारा भारे हुए दैत्यों की मृतकाग्नि के मण्डल-सरीखा
है। जिसकी तुलना मातृमण्डल की क्रीड़ा के रुधिर गुण्ड की कान्ति के साथ होती है। जिसमें उस अस्ताचल
पर्वत के शिखर की मैनशिल सम्बन्धी धूलि की शोभा वर्तमान है, जो कि सूर्य-रथ के घोड़ों की वेगशाली
तीव्रतर टापों से उठी हुई थी। जिसमें श्री महादेव के ताण्डव नृत्य के आडम्बर (विस्तार) के अवसर

समस्तमालारामप्रथमतः विभूतकिशलयस्तम्भादम्बरे अपरगिरिशिखराश्रयाभ्रमावासतापसादानयितानिसधातुजलपाटलपट-
प्रतानस्पृशि पूर्वतराकूपारतीरावतरत्तपनस्थन्वनातिथेयक्रियोत्तालजलधिलवेवताप्रकल्पितप्रवालाङ्कुरोपचारव्यतिकरे सकल-
विषयिवश्यतावेशविजृम्भिष्यमाणमनसिजैश्वर्यपयोत्तपत्रसिन्धूरमुद्रोद्वेकरोचिषि नययौवनरसवशाङ्गनापयोधरभराविभ्रंविष्यन्-
वमदुमकन्दलकवम्बविडम्बिनि रतिकलहकृत्तिकुतूहलधूलविलासिजनसैनिकभृङ्गारसंगरसंभावनोत्तरङ्गान्तरङ्गानङ्गविस्तारि-
तातिरिक्तसंकेतकैतुकमनोये मिथूनचरणतङ्गरागापहारादिव वरवकम्बरपरागसंगमादिव बाङ्गिमोकुसुमकुटुम्बलपरिमलनादिव
ध्रुवदीतीरतपोधनोन्मुक्तस्तचन्दनवधनादिव फनककेतकीरजोरञ्जनादिव वृक्षोत्पलमञ्जरीमकरन्दस्पन्वादिव च नितान्तं
लोहितार्थति निजार्णमरञ्जितवहणपुरपुरीन्द्रकाधरबले सति संध्यारागमहसि,

तरसरसिकराश्रसक्षोभतमोक्षवाहणतोष्रेकुविनहृदयरक्षावेक्षणादिव अधोभ्रजविपक्षोत्प्रीवदानवावस्कन्दभीते-

पर देवों द्वारा फैलाए हुए सुवर्ण मण्डप की शोभा वर्तमान है। जिसका विस्तार अन्धकाररूपी तमाल वृक्षों के वन से पूर्व में ही प्रकाट हुए पल्लवोंके समूह-सरीखा है। जो, अस्ताचल पर्वत की शिखर पर आश्रय वाले निवास गृहों में रहने वाले तपस्वियों के शीले व चँदेवारूप किये गए (मुखाने के लिए फैलाए हुए) तथा गेह के जल से लाल किये हुए वस्त्रों के विस्तार की सदृशता धारण करता है।

जिसमें समुद्र की जल देवताओं द्वारा, जो कि पश्चिम समुद्र के तटपर आते हुए सूर्यस्थ की अतिथि सत्कार-क्रिया में उत्कण्ठित हो गये थे, रची हुई पल्लवाङ्गुरों की पूजा की तुलना पाई जाती है। जिसकी कान्ति समस्त कामी पुरुषों के वशीकरण प्रदेश पर फैलने वाली कामदेव की लक्ष्मी के परिपूर्ण लेख में स्थित हुए सिन्दूर-चिह्न की प्रचुरता-सरीखी है। जो उन कामदेवमयी वृक्ष के नये अङ्कुर-समूह को तिरस्कृत करता है, जो कि नई जवानों के रस में पराधीन हुई कमनीय कामिनियों के कुचकलशों के भार से प्रकट हो रहे थे। जो ऐसे मन में स्थित हुए कामदेव द्वारा फैलाई हुई व विशेष लालिमा वाली संकेत ध्वजाओं-सरीखा मनोहर है, जो कि कामी पुरुषों के समूह-रूपी सैनिकों के रति क्रोड़ा युद्ध की, जो कि रति क्रोड़ा सम्बन्धी कलह विधान में विशेष कौतुक करता है, विशेष रुचि में उत्कट है। जो विशेष विस्तृत लालिमा-युक्त होने से ऐसा मालूम पड़ता था—मानों रात्रि निकट होने के कारण चकवा-चकवी पक्षियों का वियोग हो जाने से उनके राग का अपहरण करने से ही मानों विशेष लालिमा-युक्त हुआ है। अथवा जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों हिंगुल व गुफाओं सम्बन्धी परागों के संगम से ही ऐसा हुआ है। अथवा ऐसा मालूम पड़ता था—मानों दाढ़िम वृक्ष के फूलों की कलियों के विमर्दन से ही ऐसा हुआ है। अथवा मानों—गङ्गा नदी के तटों पर वर्तमान तपस्वियों द्वारा सूर्य की पूजा के लिए ऊपर फैके हुए लाल चन्दन के सङ्कम से ही ऐसा हुआ है। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों घत्स्रा अथवा टेसू अथवा नाग केसर तथा केतकी के पुष्पों की पराग सम्बन्धी लालिमा के संयोग से ही ऐसा हुआ है। अथवा मानों—कर्णिकार वृक्षों की पुष्प मञ्जरियों के पुष्प रस के क्षरण से ऐसा हुआ है और जिसने अपनी लालिमा द्वारा पश्चिम दिक्पाल-नगर की कमनीय कामिनियों के ओष्ठदल रञ्जित किये हैं।^१

इसी प्रकार जब स्थल कमलों के समूह की पत्र-श्रेणी संकुचित हो रही थी, इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कच्चे मांस की आकांक्षा करनेवाले राक्षसों से उत्पन्न हुए क्षोभ के देखने से विशेष लालिमा-युक्त अपने हृदयों के संरक्षण की आकांक्षा से ही मानों अपने पत्र-समूह संकुचित कर रहे थे। अर्थात् मानों—स्थल कमलों ने ऐसा विचार किया कि 'हमारे हृदय लाल हैं, इसलिए कहीं राक्षस उन्हें मांस समझकर भक्षण न कर लें' इस प्रकार की शंका से ही मानों—कमलों ने अपने हृदयों का संवरण (संकोच) कर लिया था।^२

अथवा मानों—श्री नारायण के शत्रुभूत व विशेष अभिमानो दातव्यों की रात्रि संबंधी वाधा के भय

दितिसुतशत्रुकलत्रपरित्राणचरित्रेणैव अराजिह्यब्रह्मासनस्थलतसंभावनया सर्वतस्तद्वपुःसंभूमादिव च संकोचोदन्तपुट-
प्रकाण्डे स्थलमलिनखण्डे, अलिमात्रबादणोसमागमादिव मन्दरगिरिशिखरजवभिकानिवेक्षितसर्वावसरैरपि घनघुसृणावर्णितसुर-
सुन्दरीकपोलच्छविनि वितप्यमानतपनीयतलिकाकृतिमनोहरे भुवनान्तरप्रयाणकर्तुणि पुनर्वर्शनादरादिव कमलिनीकुलकुड्मल-
प्रणामाञ्जलिकारके तमोरातिमण्डले, पुनरावृत्तिभयासद्वतरणपथभुवोक्षितुमिथ विततविदग्धभरावकाशदेशरोहिणि महीकह-
गहनानि श्रितवति वरजरत्निकुरनिकुरभ्यानुकारिणि तिमिरनिकरे, श्रीवरोपरागनिरस्तान्तःकरणेनापरगिरिशिखरान्तर-
विहारिणा मुनिकुमारनिकायेन करघापलादिव परिमुषितबहलतरपाटलिम्नि पुनर्भुङ्गतामभनतिपुराणकपिलपनलोलातुल्यता-
मनुशील्य क्षणावुपशान्तवयसि समस्तसंध्यारागतेजसि, सुरनवीसंभेदरेखावचिकान्तेषु च समन्ततो विपस्थयन्तेषु, बहुलीभ-
वन्तोऽप्येव च योषितामलकधूपधूमेषु, वलयितास्त्रिवावत्सकुवलयेषु, स्खलितवेगास्त्रिवा कृष्णागुह्यपञ्जरितकणपाशेषु,

से श्रीनारायण की पत्नी (लक्ष्मी) के संरक्षण के लिए मानों स्थल कमल समूह की पत्र-श्रेणी संकुचित हो रही थी । अथवा मानों—वृद्धता के कारण शक्तिहीन हो रहे गह्वा ने ध्यान में ही रखा करने के उद्देश्य से ही समस्त दिशाओं में उनको धामने के लिए (वृद्ध होने के कारण कहीं गिर न जायें) इस प्रकार का आदर करने के कारण से ही मानों स्थल कमल समूह की पत्र-श्रेणी संकुचित हो रही थी । इसीप्रकार जब सूर्य इसप्रकार का हो रहा था । अस्ताचल की शिखररूपी जवनिका (पर्दा) द्वारा जिसने समस्त लोक को अनवसर (अप्रस्ताव) सूचित किया है । इससे ऐसा प्रतीत होता था—मानों विशेष मात्रा में वारुणों-समागम (मद्यपान पक्षान्तर में पश्चिम दिशा का आश्रय) करने से ही उसने समस्त लोक को अनवसर सूचित किया था । इसीप्रकार जिसकी कान्ति प्रचुर केसर रस से अव्यक्त लाल किये हुए सुर-सुन्दरियों (देवियों) के गालों जैसी थी ।

इसी प्रकार जो अग्निमें तपाई हुई सुवर्णमयी कड़ाही की आकृति सरीखा मनोज्ञ था । जिसका प्रस्थान कर्म अपर विदेहक्षेत्र में हो रहा था और 'पुनर्वर्शन हो', इस आदरसे ही मानों—कमलिनीयोंके वन की अव-
खिली कलियाँ ही जिसके लिए प्रणामाञ्जलि करने वाली थी ।^१

इसी प्रकार जब अन्धकार-समूह ऐसे वृक्षों के वनों में प्रविष्ट होचुका था, जो कि नीची पृथिवी के अवकाश प्रदेशों में उत्पन्न हो रहे थे । इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—'श्री सूर्य पुनः आवेगा' इस भय से उसके आगमन-मार्ग को बार-बार या छिप-छिप करके देखने के लिए ही मानों—वह वृक्षों के वनों में प्रविष्ट हुआ था । इसी प्रकार जो कुछ शुभ्र केश-समूह की सदृशता धारण कर रहा था^२ ।

इसी प्रकार जब ऐसा समस्त संध्याकालीन लालिमा का तेज, अल्पकालमें अत्यन्त जरा (वृद्धावस्था) से जीर्ण हुए वन्दर की मुख-शोभा को सदृशता का अभ्यास करके क्षण भर में तपष्ट तारुण्यशाली (मन्द तेजवाला) हो रहा था । इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसकी प्रचुर लालिमा, ऐसे मुनिकुमार-समूह द्वारा हस्त की चपलता से ही चुराई गई थी, जिसका मन गेरुआ रक्तवस्त्र की रक्तता में तत्पर (भ्रान्ति प्राप्त) है और जो अस्ताचल की शिखरों के मध्य भागों पर विहार करनेवाला है, इसी कारण से मन्द तेजवाला हुआ है^३ ।

इसी प्रकार जब निम्नप्रकार की घटनाएँ घट रही थीं तब मैं अमृतमति महादेवी के सहल-द्वार पर आया ।

जब सर्वत्र आकाश के प्रान्त भाग गङ्गा-यमुना के सङ्गम की आबली की शोभा-सरीखे मनोहर हो रहे थे । अर्थात् कुछ दिन शेष होने के कारण जब आकाश के प्रान्त भाग उज्ज्वल व कृष्ण हो रहे थे । जब ऐसी अन्धकार लहरीरूपी समुद्र-लहरियाँ, उसप्रकार प्रचुरतर होकर सुशोभित हो रही थीं जिसप्रकार कमनीय कामिनियों के केशपाश सम्बन्धी धूप के धुआँ प्रचुरतर होते हुए शोभाप्रमान होते हैं । जो, वेष्टन को प्राप्त

प्रवृत्तप्रवाहास्त्विव धूसुणरसविच्छुरितभ्रूलतालेखाभु, प्रसरन्तीष्विव लोचनाङ्गजनभागेषु, स्तिमितायमानास्त्विव ताम्बूल-
कृष्णिकादयामलिमाधरवलेषु, घनभावमुपगतास्त्विव स्तनाभोगलिखितमृगमदपत्रभङ्गेषु, लब्धावकाशास्त्विव सान्द्रमुर-
भितनाभिकुहरेषु, पयोधरपथप्रस्थितास्त्विव तमालदलधूलिधूसरितरोमराजितिगंभेषु, मन्थरप्रकारास्त्विव मेखलामणिकिकि-
णोजालवनेषु, विहितावतारास्त्विव नीलोपलतुलाकोटिषु, मुक्ताफलदन्तुरास्त्विव निर्माजितचरणमखपरम्परारसु, पर्यस्त-
विभ्रुभवनास्त्विव पावकपुनस्तकान्तिप्रभावेषु पादपल्लवेषु, पूर्वविगन्तादितस्ततो धावन्तोषु कृष्णलामुखमलिनचचिषु
तमःपयोधिवीचिषु, एवं द्विष्णुमयं जगदिति सत्यतां नयतीव प्रतिक्षणं कृष्णतां पुरुषति विद्वद्भीष्टिभूवने संजाते
च प्रदोषसमये, तदनु कामिनीप्रसाधनेष्विव यथास्थानमुपसरत्सु वनमृगेषु, प्रवसितेष्विव वासरखयोन्मुलेषु विकिरनिकरेषु,
वारवनितास्त्विव स्ववासाङ्गणभागिनीषु शार्दूलसमितिषु, कितवकटिभ्रेष्विव विमुच्यमानेषु संख्योपासनाञ्जलिमुकुलेषु,

होती हुई उस प्रकार सुशोभित हो रही थीं जिस प्रकार स्त्रियोंके कर्णपूर सम्बन्धी नील कमल वेष्टन को प्राप्त हुए शोभायमान होते हैं।

जो उस प्रकार निश्चल होती हुई सुशोभित हो रही थीं जिसप्रकार कृष्णागुरु से विलिप्त हुए कर्णों के पर्यन्त भाग निश्चल होते हैं। जो उसप्रकार चलित प्रवाह वाली हैं जिस प्रकार कुंकुम या केसर रस से व्याप्त हुई भुक्रुटिरूपी रत्नाभक्तियाँ चलित प्रवाह वाली होती हैं। जो उस प्रकार विस्तृत हो रही थीं जिस प्रकार नेत्रों के कज्जल मार्ग विस्तृत होते हैं। जो उस प्रकार निश्चल हो रही थीं जिस प्रकार ताम्बूल की कृष्णता द्वारा कृष्ण किये गए ओष्ठ दल निश्चल होते हैं। जो उस प्रकार कठिनता को प्राप्त हो रही थीं जिस प्रकार विस्तृत कुच कलशों पर लिखी हुई कस्तूरी की पत्ररचना कठिनता प्राप्त करती है। जिन्होंने उस प्रकार प्रवेश प्राप्त किया था जिस प्रकार प्रचुर व सुगन्धी कृत नाभिच्छिद्र प्रवेश प्राप्त करते हैं।

जिन्होंने उस प्रकार पयोधर-पथ (आकाश-मार्ग) में प्रस्थान किया था जिस प्रकार तमाखू के पत्तों की धूलि से धूसरित रोम-राजियों के निर्गम पयोधरपथ (कुच कलशों का मार्ग—वक्षः स्थल) पर प्रस्थान करते हैं।

जो उसप्रकार मन्द गमन के प्रकार से युक्त थीं जिसप्रकार कटिमेखलाओं (करघोनियों) की रत्न-निर्मित क्षुद्र घण्टिकाओं की श्रेणी के अग्रभाग मन्दगमन के प्रकार-युक्त होते हैं। जिन्होंने उसप्रकार प्रवेश प्राप्त किया था जिस प्रकार नील मणियों के नूपुर प्रवेश प्राप्त करते हैं। जो उस प्रकार मुक्ताफल के दाँतों से युक्त थीं, जिस प्रकार तिहनी द्वारा कृश को हुई चरणों की नख परम्पराएँ मुक्ताफल के दाँतों सरीखी शुभ्र होती हैं।

लाशारस से द्विगुणित कान्ति प्रभाव वाले चरणों के प्रान्त भागों पर जिनके द्वारा प्रवाल रत्नों के वन गिराए गए हैं, ऐसी सुशोभित हो रही थीं। जो पूर्व दिशा के प्रान्त भाग से यहाँ वहाँ वेग पूर्वक गमन कर रही थीं। इसी प्रकार जो घुँघुची के मुख (अग्र भाग) सरीखी श्याम कान्ति युक्त हैं।

इसी प्रकार जब रजनी मुख (शयन योग्य राशि-भाग), समस्त पृथिवी मण्डल पर प्रत्येक क्षण कृष्णता (श्यामता पदान्तर में कृष्ण भगवान्) की वृद्धि करता हुआ उत्पन्न हो चुका था। इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों 'समस्त लोक विष्णुमय है' इस बात को सत्यता में ही ले जा रहा है।

तत्पश्चात्—प्रदोष समय के अनन्तर जब वन के हिरण-आदि पशु उस प्रकार अपना-अपना स्थान प्राप्त कर रहे थे जिस प्रकार कामनीय कामिनियों के उवदन-आदि परिक्रम अपना-अपना स्थान प्राप्त करते हैं। जब पक्षियों के समूह उस प्रकार शयन योग्य आश्रय (घोंसला आदि स्थान) में तत्पर हो रहे थे जिस प्रकार पथिक लोग शयन योग्य आश्रय—स्थान प्राप्त करने में तत्पर होते हैं। जब व्याघ्रों की श्रेणियाँ उस प्रकार अपने निवास-अङ्गणों का सेवन कर रही थीं जिस प्रकार देव्याएँ अपने निवास अङ्गणों का सेवन करती हैं। जब

कुमुदकुम्भलेखिव विधटमानेषु चक्रवाकमियुनेषु, मुनिग्रन्थलेखिव संकोचनोचितेषु पल्लवकलोकसृपाटीपटेषु, प्रदोषकलिका-
स्थिवोन्मिषगतीषु विरहिणीनां मदनशिक्षिणिषामु, सुरभोगिभुजिष्यागजेष्विवाभिनयोन्मुखेषु हिरदनकुलेषु,

समुच्छलति च पुरदेवतानां प्रासादपरिसरेषु चाभरधारिणीनां रणन्मणिमञ्जीरमणितमनोहारिणि भवङ्गानक-
शङ्खकोलाहले, मुखरीमवत्सु मध्यमानेष्वर्णधारणःस्विवाम्यर्णतर्णकरचनाकर्णनोदीर्णन धेनुष्याणां दीर्घरन्ध्रितारवेण गोपुरमुखेषु,
विनिषज्यमाचरितुमिच्छतामसमशरसैनिकानां दधिचन्दनतिलकेष्विव च नयनविषयतामवतरन्सु नक्षत्रविम्बेषु, इतश्च
दुश्च्यवनविशि चिरमवेक्षितसुधाभूतिसाहायकेन तदासप्रतरागमनविलोकनादिव पुरःसत्त्वरसुचयगिरिशिखरान्तराला-
वुच्छलमानेन मदनसंयमेन दलितकर्पूरतणुमंभूलिनिकर इव, शिरःपिण्डकण्डूयनमिवोदस्तहस्तेन हरितरिसगा मुहुर्मुहुर्परि-
क्षिकीर्यमाणकरधारिणीकरोत्करागम इव, गगनपुरप्रवेष्टमाचरतः खण्डपरशुनूळामणेः पुरस्तादुहुराधिकाभिरुदीर्यमाण-
लाजाञ्जलिप्रकर इव विभाषरीषपूषवनदर्शनायासोबतो निशीथिनीनाथस्यान्तराप्रसारितसितवुकूलमुखपटप्रसर इव,

संध्योपासना सम्बन्धी अञ्जलिरूपी फूलों की अविकसित कलियाँ उस प्रकार विमुच्यमान (समाप्त) हो रही थीं जिस प्रकार जुआरी के वस्त्र, मंध्या में विमुच्यमान (जेहे हुए—दूर में दाव पर लगाए हुए) होते हैं। जब चक्रवा-चकवी के जोड़े उस प्रकार विधटमान (वियोग प्राप्त करने वाले) हो रहे थे जिस प्रकार कुमुद पुष्पों (चन्द्र विकासी कमलों) की कलियाँ विधटमान (विकसित) हो रही थीं। जब विद्वानों की पुस्तकों के अवयव उस प्रकार संकोचन (संपादन—परस्पर छेदन या संकेतन-पलटना) योग्य हो रहे थे जिस प्रकार रात्रि के अवसर पर अगस्ति वृक्ष के पत्ते संकुचित होते हैं। जब विरहिनी स्त्रियों की कामाग्नि की ज्वालाएँ उसप्रकार उद्दीप्त हो रही थीं, जिसप्रकार दीपक-कलिकाएँ रात्रि में उद्दीप्त होती हैं एवं जब हाथियों के समूह उस प्रकार अभिनय—पूर्ववृत्तानुकरण में तत्पर हो रहे थे जिरा प्रकार कामी देवताओं को वेश्या-श्रेणियाँ अभिनय में उन्मुख—शय्यागमन तत्पर होती हैं।

जब नगर देवताओं के चैत्यालय सम्बन्धी प्राङ्गणों में, मृदङ्ग, ढोल अथवा भेरी व शङ्खवाजों की ध्वनि, जो कि श्रवण धारण करने वाली स्त्रियों के शब्द करते हुए रत्नघटित तूपुरों के मणित (रतिकूजित) सरीखी चित्त का अनुरञ्जन करने वाली थी, प्रकट हो रही थी। जब नगर के प्रतोली, द्वार उत्तम गायों की दीर्घ गोध्वनि (रँभाने) के शब्द से, जो कि समीपवर्ती वल्लडों के शब्द श्रवण से उत्कृष्ट है, उस प्रकार शब्दाय-मान हो रहे थे जिसप्रकार देव व दानवों द्वारा विलोडन किये जाने वाले समुद्र-जल, शब्दायमान होते हैं और जब दिग्विजय करने के इच्छुक कामदेव सम्बन्धी सैनिकों के दही-मिश्रित चन्दन-तिलक-सरीखे शोभायमान होनेवाले नक्षत्र-मण्डल दृष्टिभोचरता को प्राप्त कर रहे थे।

इसी प्रकार जब एक पार्श्व भाग में पूर्व दिशा में चन्द्रमा का किरण-समूह दृष्टिभार्ग प्राप्त कर रहा था। जो इस प्रकार की (कल्पना) प्राप्त कर रहा था।

जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कामदेव की सेना द्वारा, जो कि [अपने मित्र] चन्द्रमा के निकटतर आगमन के देखने से ही मानों सामने शीघ्र ही उदयाचल की शिखर के मध्यभाग से सन्मुख जा रही थी और जिसने चन्द्रमा की सहायता चिरकाल से चाही है, तोड़े गए कर्पूर वृक्षों की गर्भधूलि की श्रेणी ही है। जो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों—ऐरावत हाथी द्वारा, मस्तक कुम्भों के खुजाने के बहाने से उठाए हुए शुण्डादण्ड से बारबार ऊपर फेंके जाने वाले शुण्डा-जलकणों के समूह का आगमन हो है। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों आकाशरूपी नगर में प्रवेश करते हुए चन्द्रमा के सामने नक्षत्र-कामिनियों द्वारा ऊपर फेंकी जानेवाली लाजाञ्जलियों (आर्द्रतण्डुल-आदि) की श्रेणी ही है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों रात्रिरूपी वषू के मुख-दर्शनार्थ आते हुए चन्द्रमा के बीच में फेलाया हुआ (तिरस्करिणी किया हुआ—जवनिक-

तिजमुहुज्जम्भोत्सवविजृम्भितस्य जलराशेर्दृष्टलहरिकोत्तम्भितफेनपुञ्जोच्छ्रय इव, उष्णकराभितापवृत्तितस्य घरणिघर-
कुटुम्बिग्रामस्य शिशिरकरमहोपतेः प्रसादावलोकनोद्भय इव, उत्प्रेक्षागर्हति विरहिणीकपोलपाण्डुरे पुरंदरपुरपुरंधिकास्मि-
तसितचोरिणि हसितसितपताकांशुकाङ्गवरे विडम्बितकेतकीरजःपटलकान्तिमि दृष्टिपथमभतरति सरस्वतीकटाक्षवलस-
तासराले किरणजाले, ततः प्रथमतरमधिरहतमतङ्गजखिरजलजहिमानमुपनेनुभिच्छुना करिर्धरिक्तिगोरकेण मण्डलितस-
टावक्रवालहारिणि समोपतराशोकतरुणपल्लवक्षि कपिशकुसुमस्तवकसुन्दरे कुसुम्भांशुकपिहितगीरीपक्षोधरविडम्बिनि
बूर्जटिजटाज्योतिरमन्वमन्दाकिनोद्विषडीरपिण्डहृदयंगमे पुष्पूतनिकेतकेतुरस्ताञ्चलकलितकलघोसकलशसम्भोर्लिहि रोहिणी-
मुखचुम्बनसंगलितजसुरसारणिताङ्गनिर्माणे क्षणमुपतर्प्यमाणे, पुनरनतिधिराश्वेव निकटगतगगनामगातरङ्गसंगमविष
मनसिजोत्सवप्रसाधितसितातपत्रोचिषि, योषिदोषधीनामधरदलेषु रागसंक्रमाविष पितामहमौलिमनोहरत्विषि, निखिल-
वगङ्गामधवलनसुधाकुम्भे रतिविनोदविद्योपदेशिनि, मदनरविमदोदोपनपिण्डे, सुरतश्रमाभ्यःकणलुण्ठिनि, पोलोमीविलास-

पड़दा) उज्ज्वल रेशमी वस्त्र का विस्तृत मुखवस्त्र ही है। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—अपने मित्र
चन्द्रमा के जन्मोत्सव से विशेष प्रमुदित हुए समुद्र की अत्यन्त चञ्चल तरङ्गों द्वारा उठे हुए फेनपुञ्ज की
उन्नति ही है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों सूर्य के सन्ताप से दुःखी हुए पर्वत सम्वन्धी कृषक-समूह के
चन्द्रमारूपी राजा की प्रसन्नता के निरोक्षण का प्रादुर्भाव ही है। जो विराहिणी स्त्री के गालों-सरीखा उज्ज्वल
है। जो इन्द्र नगर की कामिनियों के हास्य की उज्ज्वलता को तिरस्कार करने वाला है, अर्थात् उसके सरीखा है।
जिसके द्वारा शुभ्र ध्वजाओं का विस्तृत वस्त्र तिरस्कृत किया गया है। जिसने केशकी पुष्पा के पराग-पटल की
कान्ति तिरस्कृत की है। इसी प्रकार जो सरस्वती (श्रुत देवता) के नेत्र प्रान्तों की उज्ज्वलता से असराल—
अपर्यन्त है।

तदनन्तर जब उदयकाल में चन्द्रमा एक मुहूर्त पर्यन्त इस प्रकार की उत्प्रेक्षा के योग्य हो रहा था—

जो (चन्द्रमा) शीघ्र मारे हुए हाथियोंके रुधिर जल को जड़ता को ग्रहण करने के इच्छुक सिंह-
बालक द्वारा कुण्डलाकार किये हुए स्कन्ध के केसर-मण्डल का तिरस्कार करता है, अर्थात् उसकी सदृशता
धारण कर रहा है। जिसकी कान्ति (लालिमा) चन्द्र के निकटवर्ती अशोक वृक्षों की नवीन कोपलों सरीखी
है। जो अशोक वृक्ष के पाण्डुर व लाल फूलों के गुच्छों-सरीखा मनोहर है। जो कुसुम्भ (रागद्रव) रंगवाले
सूक्ष्म वस्त्र से ढँके हुए गौरी (पार्वती) के कुचकलश को तिरस्कृत कर रहा है। अर्थात् उसके सदृश है।
जो श्री महादेव की जटाओं की कान्तिमयों से प्रचुर हुए गङ्गा नदी के फेनपिण्ड-सरीखा मनोहर है। जो इन्द्र
(पूर्व दिशा का स्वामी) के महल पर वर्तमान ध्वजाओं के रक्ताञ्चलों से वेष्टित हुए सुवर्ण अथवा चाँदी के
कलश की लक्ष्मी का आस्वादन करनेवाला है। जिसकी शरीर-रचना रोहिणी (चन्द्र-प्रिया) के मुखचुम्बन से
निर्गलित हुए लाक्षारस से अव्यक्त लाल की गर्द है।

फिर शीघ्र ही लाल होने के बाद जिसकी शोभा कामदेव के महोत्सव में धारण किये हुए शुभ्र छत्र-
सरीखी हो रही है। अर्थात् जो उज्ज्वलता को प्राप्त हो गया है। इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—
समीपवर्ती आकाशगङ्गा की विशाल तरङ्गों के संसर्ग से ही उज्ज्वलता को प्राप्त हुआ था। जिसकी कान्ति
ग्रहाजी के मस्तक सरीखी उज्ज्वल है। इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कमनीय कामिनियों के
ओष्ठों में तथा औषधियों के पल्लवों में अपनी लालिमा का संक्रमण (स्थापन) करने के कारण ही वह शुभ्र
हो रहा है। मानों—जो समस्त लोकरूपी महल को शुभ्र करने में सुधाकुम्भ (चूना का घड़ा) ही है। जो रति
के क्रीड़ा विज्ञान का उपदेष्टा है। जो कामदेवरूपी हाथी के मद के उद्दीपन में जीवन है।

जो स्त्रीसङ्ग के श्रम से उत्पन्न हुए जलकणों का लुण्ठन-शील है। मानों—जो इन्द्राणी का क्रीड़ा-

दर्पणे, कमेण च नमुच्चिरपुदिगन्तपर्वतानां पादस्थलाङ्गुलीषु नखमणिभूयमुपगम्य संविष्य मेखलासु नायकमणिगणितिमनुभूयोपकण्ठदेशेषु कुण्डलमणिधियभाश्रित्य च क्षिरःश्रेणिषु शिखण्डमण्डनमणिभावं को नु खलु सकलभूवभोपकार-वद्धकक्षाणामेकान्तस्थितिवहलैरेभिरचलैः सह संगमनाम इति विचिन्त्येवमनवरत्नमुदयाचलाग्रसरसः कलहंस इवाकाशदेश-निर्धेगिमुपेयुषि कुमुदचक्षुषि, विजृम्भमाणसु च बालसखीष्वव पयोधिवेलानाम्, उपकल्पितपारणास्त्रिव चकोरकुल-कामिनीनाम्, उपाध्यायिकास्त्रिव युवतिरतिकेतवानाम्, गतिनिपन्त्रणमन्त्रसिद्धिष्विधाभिसारिकाभुजङ्गोनाम्, तिमिर-तिरस्कारसितशलाकास्त्रिव च भूवनलोचनमार्गाणाम्, अमृतधीतातसतन्तुसंतानमन्थरामाममिव व्योम निर्मापयन्तीषु शिशिर-करकिरणपरम्परासु, प्रकटोभवति च लोकान्तराविहानुसरतो रोहिणीपतेविरहविनोवनाय निजाङ्गनालिङ्गनव्यतिकरादिव हृदयप्रतिबिम्बितस्तनतमालरससिखितपत्रस्पृहणीये, हंसासविलम्बशंखलविलासिनि, अपहसितविरहिणीकपोलतलविलम्ब-नागालकभङ्गो कुमुदपारनिजोपसिद्धिस्तुल्यस्थितिनि, मधुधन्मातङ्गकटनिकटमबलेखारेखे, सुधासिन्धुप्रफुल्लनीलाम्बुजशङ्खनि,

दर्पण है। जिसने अनुक्रम से पूर्व में पूर्व दिशा-सम्बन्धी इन्द्र के और पूर्वदिशा के प्रान्तभाग संबंधी पर्वतों के पादस्थलों (प्रत्यन्त पर्वतस्थलों व पक्षान्तर में चरणस्थलों) को अंगुलियों में मणि-सरीखा नखपना प्राप्त किया था। बाद में मानों—जो, उक्त पर्वतों की कटिनियों में मध्यमणि की गणना में प्रविष्ट हुआ था। इसके बाद—मानों—जिसने उक्त पूर्व दिशा के प्रान्तभाग संबंधी पर्वतों की शिखरों के अधोभूमि-भागों में माणिक्य-सरीखे कुण्डलों की शोभा प्राप्त की थी। इसके बाद जिसने उक्त पर्वतों की मस्तक श्रेणियों में शिरोरत्नपना प्राप्त किया था। फिर जिसने निरन्तर निम्न प्रकार विचार करके 'जिन्होंने समस्त पृथ्वीमण्डल के उपकार करने में प्रीति बाँधी है, उनको सर्वथा स्थिति में प्रचुरता रखनेवाले इन प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले अचलों (कुण्ड पर्वतों) के साथ निश्चय से सङ्गम करने का क्रम क्या उचित है ? अर्थात् नहीं है। जिसने उस प्रकार आकाश देशरूपी सीढ़ी प्राप्त की थी, जिस प्रकार कलहंस उदयाचल के अग्रसरोवर से उड़कर आकाश प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जब चन्द्रमा की ऐसी क्षिर-श्रेणियाँ प्रसरित हो रही थीं, जो समुद्र-तरङ्गों की बाल सखी-सरीखों, चकोर पक्षियों के समूह की कामिनियों के लिए पारणा (व्रतान्त भोजन) देने वाली-सी, युवति कामिनियों के संभोग कपटों की सिखाने के लिए अध्यापिकाएँ जैसीं, व्यभिचारिणी स्त्रीरूपी सर्पिणियों के गमन को रोकने वाली मन्त्र सिद्धि-सरीखीं, शोभायमान हो रही थीं। जो जगत में स्थित प्राणी-समूह के नेत्र मार्ग में वर्तमान तिमिर नामक नेत्ररोग को नष्ट करने वाली उज्ज्वल शलाकाओं के समान सुभोमित हो रही थीं और जो आकाश को इस प्रकार का, जिसकी दीर्घता, अमृत द्वारा उज्ज्वल किये हुए अलसी के तन्तु समूह से मन्दगामी है, निर्मापित करती हुई सरीखीं सुशोभित हो रही थीं।

इसी प्रकार जब मृग-सरीखा चन्द्र-चिह्न प्रकट हो रहा था। जो कि चन्द्र के हृदय में प्रतिबिम्बित हुई (स्थासक की तरह स्थित हुई) स्तनरूपी तमाल रस से लिखी हुई पत्र रचना-सरीखा मनोहर था। इससे जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों पूर्वविदेह क्षेत्र से इस भरत क्षेत्र पर आते हुए चन्द्र का अपनी प्रिया (रोहिणी) से विरह नाश करने के लिए, अपनी प्रिया रोहिणी के आलिङ्गन के सम्बन्ध से हो मानो जो उक्त प्रकार की पत्र रचना से मनोज्ञ था।

जो हंस के पदा-मूल पर लगे हुए शैवाल-सरीखा शोभायमान हो रहा था। जिसने विरहिणी स्त्री के गालों के स्थल पर शोभायमान होते हुए बिखरे हुए केश तिरस्कृत किये हैं। जो कुमुद (चन्द्र विकासो कमल) के मध्य में स्थित हुए भ्रमर-समूह के साथ सदृशता धारण करता है। जिसकी सदृशता इन्द्र के ऐरावत हाथी के गण्डस्थल के उपरितन भाग में वर्तमान दान रेखा के साथ होती है। जिसमें क्षीर सागर में विकसित

प्रभूनस्तद्वकान्तरोद्गतहरितच्छदच्छायाच्छुषि लाञ्छने,

न खल्वसमानविग्रहः पुरुषाणामनारभ्य काञ्चिन्महतीमापदमुपशाम्यतीति मनोवयेव निजाप्यबोजसंरक्षणाय परं
केषुचिन्तीषावृत्तगहनप्रकाशवेशेषु तिभूय स्थितिकुशले च तमःपटले, भवतु च मधुगन्धलुब्धमधुपसंवाधनिदध्यमान-
विष्णुवीधितिप्रसारेषु धिलासिनामुषवसितवातायमविवरेषु,

करविलम्बितकुसुमसरसोरभसुभोगेषु अभाजीविनामापणरङ्गभागेषु,

परिवर्तमानकाश्मीरमलयजागुरुपरिमलोद्गारसारेषु सौगन्धिकानां विपणिविस्तारेषु,

ससंभ्रममितस्ततः परिसर्पता संभोगोपकरणाहितावरेण पौरनिकरेण निजविलासवर्जिताहंकारिमनोरथाभिरव-
धारितविटमुधाप्रधनसंकथाभिः स्मरकुरङ्गक्रोडावनवतलिभिः पथ्याङ्गनासमितिभिरात्मपतिसंविष्टधटनाकुलितदूहयेनाव-
धोरितसखीजनसंभाषणोत्तरदानसमयेन संवरता संचारिकानिकायेन च समाकुलेषु समन्ततो राजवीथीमण्डलेषु,

हुए नीलकमल-गी उपमा वर्तमान है। इसीप्रकार जो उज्ज्वल पुष्प-गुच्छों के मध्य में उत्पन्न हुए नीलपत्र
की शोभा को स्पर्श कर रहा है— उसकी उपमा धारण कर रहा है।

जब अन्धकारपटल 'महान् पुरुषों के साथ युद्ध करना, निश्चय से पुरुषों के ऊपर कोई महान्
विपत्ति उत्पन्न किये बिना शान्त नहीं होता' इसप्रकार की बुद्धि में ही मानों—अपने वंशव्रीज (अन्धकार) की
रक्षा के लिए केवल ऐसे प्रदेशों में, जो कि नीचे, ढँक हुए, गहन व सूर्यादि-तेज से हीन थे, छिपकर अपनी
स्थिति करने में निपुण हो रहा था।

जब विलासी पुरुषों के गृह सम्बन्धी झरोखोंके छिद्र, जिनमें मद्य की गन्ध में लुब्ध हुए भैवरों के
जमाव द्वारा, चन्द्र-किरणों का प्रसार रोका गया है, ऐसे हो रहे थे।

जब मालाकारों के बाजार के अग्रभाग, हाथों से ऊपर चलाए हुए पुष्पहारों की सुगन्धि से विशेष
मनोहर हो रहे थे।

जब सुगन्धि द्रव्य बेचनेवाले व्यापारियों की दुकानों के विस्तार, पलटे जानेवाले कुङ्कुम, मलयागिर
चन्दन, व अगुरु की सुगन्धि के प्रादुर्भावों से अत्यन्त मनोहर हो रहे थे।

जब राजमागों की श्रेणियाँ, नागरिक लोक-समूह से, जो कि सादर यहाँ वहाँ चारों ओर जा रहा
था व जिसने भोग-सामग्री के उपकरणों (साधनों—ताम्बूल-आदि) में आदर किया था, चारों ओर से व्याप्त
हो रही थीं।

जो (राजमाग-श्रेणियाँ), वेद्या-समूहों से व्याप्त हो रही थीं, जिनके मनोरथ कामी पुरुषों के लिए
अपने हाव-भाव व विभ्रम-आदि दिखाने से अहङ्कार-मुक्त हैं, जिन्होंने कामी पुरुषों के निरर्थक प्रयत्नों की वार्ताएँ
ठोक-ठीक निश्चय की थीं एवं जो कामदेवरूपी हिरण की क्रीड़ा की वनस्थलियाँ हैं।

इसीप्रकार जो, ऐसी दूती-समूह से व्याप्त हो रही थीं, जिसका हृदय, अपने स्वामी द्वारा सिखाई
हुई घटना से भरा हुआ है और जिसने सखीजनों के परस्पर भाषण सम्बन्धी प्रत्युत्तर देने का अवसर तिरस्कृत
किया है एवं जो विवक्षित गृहों में प्रवेश कर रहा था।

प्रवृत्तासु च दिवसव्यापारद्विगुणितानुरागबोग्दस्तासु नगरमिथुनानामनङ्गरसरहस्यगोष्ठीषु,

निखिलजनमनोनलिनसंभव सकलभुवनोत्पत्तिप्रजापते रतिरमण प्रियतमाधरामृतवर्षाविग्रहावकाण्डजन्मनः
कृशानुकुणभर्भानिव करान्विकिरतोऽमुष्मादुत्पातरक्षिमण्डलाचन्द्रात्स्वयमेव शुष्कदारःकमलिनीवनाद्यपि कष्टतरमवस्थान्तर-
मुपगतवति विरहिणीजने कि पञ्चभिरपि वार्णभन्धतः प्रहृतं युक्तमिति प्रवसितपथिकवनितामिरुपालब्धमाने च कुसुम-
धनुषि,

अहमपि तदाहो मनसिजातिशायिशरीरपरिकर कामिनीमुखकमलमधुकर विभ्रमविवक्षयेव विलासिनीनां नयनेषु
प्रतिफलन्तीभिः लावण्यरसपिपासयेव नयनेषु विलुण्ठयान्निःशृङ्खलान्तरिण्यपिप्राप्तयेनापरेण रतिस्फुरन्तीभिः परामर्श-
मन्तीषयेव स्तनतटेषु चोदृण्डया प्रवृत्ताभिरमृतमरीचिदीपितभिराज्याहुतिभिरिव संशुध्यमाणसदन्वहनः, रतिरहस्यवय-
स्याभिरिव शिथिलीक्रियमाणमानबन्धनः, प्रस्थापनवृत्तिकाभिरिव संपाद्यमानप्रियतमासमागमः, कुसुमशरप्रवेशोत्सवपता-

जब उज्जयिनी नगरी के स्त्री-पुरुषों के जोड़ों सम्बन्धी कामरस की गोप्यतत्व-वार्ताएँ प्रवृत्त हो रही थीं, जो कि सेवा, कृषि व व्यापार-आदि दैनिक कर्तव्यों द्वारा दुगुने हुए अकृत्रिम स्नेह की उत्कण्ठा से प्रवृत्त हुई थीं ।

जब प्रवासी पथिकों की विरहिणी उत्तम नायिकाओं द्वारा, कामदेव निम्नप्रकार से निन्दा-युक्त उलाहना के वचनों में प्राप्त किया जा रहा था । 'हे समस्त लोक के हृदय कमल में उत्पन्न होनेवाले व हे समस्त पृथिवी मण्डल सम्बन्धी उत्पत्ति के प्रजापति (ब्रह्मा) एवं हे रतिवल्लभ !

ऐसी विरहिणी स्त्रियों के समूह पर पाँच वाणों (उन्माद, मोहन, संतापन, शोषण व मारण) द्वारा निष्ठुर प्रहार करने का तेरा यह कार्य क्या उचित है ? जो कि स्वयं शुष्क सरोवर सम्बन्धी कमलिनी-धन से भी कष्टतर अवस्थान्तर को प्राप्त हुआ है और जो इस प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर हुए चन्द्र से, जो विरहिणी स्त्रियों के लिए चन्द्र न होकर उत्पात सम्बन्धी सूर्य-मण्डल है, एवं जिसमें प्रियतम के ओष्ठपान पीयूष की वर्षा का प्रतिबन्ध (वृष्टि रोकना) पाया जाता है एवं जो अग्नि कणों से भरे हुए मध्य प्रदेशों के समान किरणों को फेंक रहा है, विशेष कष्टतर अवस्थान्तर को प्राप्त हुआ है ।

कामदेव से भी अतिशयवान् शरीर समुदायवाले तथा कमनीय कामिनियों के मुखरूप कमलों के मकरन्द-आस्वादन करने में भ्रमर-स्वरूप ऐसे हे मारिदत्त महाराज । उस चन्द्रोदय काल में मैं भी, जिसकी कामाग्नि ऐसी चन्द्र किरणों द्वारा उसप्रकार उद्दीपित की जा रही थी जिसप्रकार धो की आहुतियों द्वारा अग्नि उद्दीपित की जाती है, अमृतमति महादेवी के महल-द्वार पर आया, जो (चन्द्रकिरणों), ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—भ्रुकुटि-संचालन की शोभा को देखने की इच्छा से ही रसिक कामिनियों के नेत्रों में प्रतिबिम्बित हो रही थीं । जो, लावण्यरूपी रस के पीने की इच्छा से ही मानों—कमनीय कामिनियों के गालोंपर विलुण्ठन कर रही थीं । जो, ओठों के चूमने की अभिलाषा-बुद्धि से ही मानों—कामिनियों के अधरों पर चमत्कृत हो रही थीं ।

जो कुचकलशों के स्पर्श करने की बुद्धि से ही मानों—स्त्रियों के कुच तटों पर दण्डाकाररूप से प्रवृत्त हुई थीं ।

जिसका मानबन्धन चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार शिथिल किया जा रहा था जिसप्रकार संभोगक्रीड़ा सम्बन्धी गोप्यतत्व की शिक्षा देनेवाली सखियों द्वारा मानबन्धन शिथिल किया जाता है । जिसे चन्द्रकिरणों

किंकिरिष्व सूर्यमानतवाराधनक्रमः, शृङ्गारजलधिविजृम्भमाणवात्याभिरिव प्रसर्पमाणमनःकल्लोलः सुरतसूत्राकर्षण-
सूचिभिरिव पूर्वमाणवक्षःस्थलः, प्रतीहारवेप्रसताभिरिव निषेद्यमानसभाविसर्जनकालः,

कीमल एव निशीथिन्याः प्रथमाष्टमभागेऽर्धपरिसमाप्त एव च सेवावसरे विसृज्य भूलतोल्लासेन प्रणामार्वाजित-
मौलिमणिमकरिकाभरीचिपरिवेषपुनरुत्तपादपीठक्षितौन्सामन्तमहीपतीन् अवलोकनप्रसादक्षानेन मन्त्रिपरिषदम् आलापसंभ्रमेण
बलमुत्थान् उपासनोपचारेण पुरोयसम् उपभोगपारितोषिकेण राजकुमारकान् पादवन्दनेन पितृपितामहसंबन्धवतीर्जरीतः
अनुव्रजनविनयेन च शुक्लम्, आसन्नचरकामरधारिणानुजिह्वितं तन्मयस्तद्वामबाहुः, अङ्गुलिनिवेशेन विनोदरबीना-
श्रुपान्तदतिनो जनस्य मन्विराणि घर्षयन्, दृष्टिप्रदानसंभावितान्तःपुरसमारक्षकलोकः, स्मरनिक्षिप्तविशिष्टाप्रभागानिबो-
धहस्ता विहङ्गयतेव विद्रुमोद्भेदशिक्षादम्बरमुल्लासयतेव सहविहरन्तीनां विलोचनानि विस्तारयतेव दशनरन्मोनुपचिन्व-

द्वारा प्रियतमा का समागम उसप्रकार भविष्यमें प्राप्त किया जा रहा है जिसप्रकार वर को प्रियतमा के गृह
पर लानेवाली दूतियों द्वारा प्रियतमा का समागम प्राप्त किया जाता है । जिसे चन्द्रकिरणों द्वारा प्रिया को
सेवा-परिपाटी उसप्रकार सूचित की जा रही थी जिसप्रकार कामदेवके आगमनके अवसर पर फहराई जाने-
वाली महोत्सव-ध्वजाओं द्वारा कामदेव की सेवा-परिपाटी सूचित की जाती है । जिसके चित्तकी संकल्प लक्षण-
वाली तरङ्गें चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार फैलाई जा रही थीं जिसप्रकार शृङ्गारसमुद्र में व्याप्त हुई वायु-
मण्डलियों द्वारा चित्त की संकल्पलक्षणवाली तरङ्गें फैलाई जाती हैं । जिसका वक्षःस्थल (हृदयस्थल) प्रस्तुत
चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार भरा जा रहा था जिसप्रकार मैथुनतन्तुओं के प्रवेश में समर्थ सुइयों द्वारा मैथुन-
वस्त्र का हृदय भरा जाता है और जिसकी सभा का विसर्जनकाल, प्रस्तुत चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार ज्ञापित
किया जा रहा था जिसप्रकार द्वारपालों की दैतलताओं द्वारा सभा का विसर्जनकाल सूचित किया जाता है ।

जब रात्रिसंबन्धी प्रथमप्रहर का मृदु अर्धभाग व्यतीत हो चुका था और जब सेवा का अवसर अर्द्ध-
परिसमाप्त हुआ था, अर्थात्—जब मेरी सभा के सदस्यों से आधी भेंट हुई थी तब मैंने सेवा में आए हुए सामन्त
नरेन्द्रों को, जिनके द्वारा प्रणाम से नम्रीभूत हुए मुकुटों या मस्तकों पर वर्तमान सुवर्ण-घटित रत्नजडित
(आभरणविशेषों) की किरणों के मण्डल द्वारा चरणावशेषवाली सिंहासनभूमि द्विगुणित की गई है, भ्रुकुटिलता
के उल्लास द्वारा विसर्जित किया । इसकेबाद सम्मुख निरीक्षण से व्याप्त हुए वस्त्राभरणादि के समर्पण द्वारा
मन्त्री-परिषत् का विसर्जन किया । बाद में सेनापतियों को आभरणों के आदर (दान) द्वारा विसर्जित करके
एवं राजपुरोहित को चरणों में नमस्कार करना-आदि सेवा-व्यवहार द्वारा विसर्जित किया । तत्पश्चात् राजपुत्रों
को वस्त्राभरणादि उपभोग सामग्री के पारितोषिक-दान द्वारा विदाई करके पिता (यशोधर्ममहाराज) तथा
पितामह (पिता के पिता—यशोबन्धु-महाराज) से संबंध रखनेवाली वृद्ध स्त्रियों की पादवन्दनपूर्वक विदाई
करके गुरुजनों की पोछे गमन तथा पूजनपूर्वक विदाई की । इसके बाद—मैं (यशोधर महाराज), जिसने
समीपवर्ती चँबरखोरेवाली स्त्रियों के स्कन्ध-प्रदेश पर बाँया भुजादण्ड स्थापित किया है, दूसरी हस्ताङ्गुलि
के निदेश (आज्ञा) द्वारा क्रोडागजों के समीपवर्ती जनों (महावत-वर्गैरह) के लिए गृहस्थान दिखा रहा
था । अर्थात्—‘आप लोग यहाँ बैठिए’ इसप्रकार कह रहा था । और इसके बाद मैंने सन्मुख अवलोकन द्वारा
अन्तःपुर संबंधी रक्षक-स्त्रियों का समूह अनुकूल किया ।

इसके बाद मैं, कर्पूर व तेल से जलाए हुए व हस्तों द्वारा धारण किये हुए ऐसे दीपक-मण्डल से वेष्टित
हुआ । जो कामदेव के तीक्ष्णबाणों के अग्रभागों का उपहास करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था । जो
प्रवालवृक्ष के अंकुरों के अग्रभागों के विस्तार की तिरस्कृत कर रहा था । जो साथ गमन करती हुई कामिनियों

तेवाधरवलानि स्पन्दयतेव वचनलावण्यमवस्कारप्रतेव वसोजमण्डलानि तरलयतेव त्रिवलितरङ्गान् गम्भीरयतेव नाभीकुहराणि बोधयतेव नखशुक्तीः समन्तात्प्रभापटलपल्लवितानि च कुर्वताभरणमणोन् कर्पूरतलप्रबोधितेन करवीरिकाचक्रवालेन परिवृतः, तारामणमध्यगतः शर्वरीपतिरिव, कल्पवल्लरीप्रवालपरिवारितः सुरतरुरिव, कनककेतकीकुङ्कुमलान्तरालवि-
लासरसः कलहंस इव, तत्कालोचितालावण्यपेशार्जनमर्केलिकर्लैर्भुङ्क्षुर्भुङ्क्षुपगुह्यमाणप्रसादपरम्परः, सन्धान्यसिन्धुर इव पुरश्चारिदीवारिस्थितोन्नतस्वर्गभूमिस्तनयस्वर्गेश्वरः शश्वरेणीयतनहास्तुन्नतोऽस्मि ।

तस्मिन्मृतमतिमहादेवीलावण्यशेषादिवोत्पन्नया . भ्रूविजृम्भितेनान्तर्वक्षिकानां चापकोटीरिव विफल्यमस्या, नयनविभ्रमेण बाणाडम्बरमिव च निराजआणया, चचनसौष्ठवेन गोपुरपरिधानि च प्रत्याविशंस्या, स्तनाभोगेन कपाटयुगल-
मिवापकुर्वाणया, रोमराजिनिर्गमेन वेत्रलतामिधाधिक्षिपन्त्या, उरुभारेण तोरणस्तम्भानि च विजयमानया, मेखलाजालेन वन्दनमालामिव पुनरुत्पन्नया, चरणनखस्फुरितेन रङ्गावलिमणीनिवासहमानया, वैकश्यकलक्ष्यवक्षिणेतरकक्षान्तरविनि-

के नेत्रों को उल्लासित करता हुआ—जैसा व उनकी दन्तकिरणों को विस्तारित करता हुआ—सा तथा उनके ओष्ठपल्लवों को पुष्ट करता हुआ सरोखा शोभायमान हो रहा था । जो साथ जाती हुई स्त्रियों की मुखकान्ति को कुछ संचालित करता हुआ जैसा, एवं उनके स्तन चक्रवालों को चारों ओर से वृद्धिगत करता हुआ जैसा तथा उनकी त्रिवलिरूप तरङ्गों को चञ्चल करता हुआ सरोखा सुशोभित हो रहा था ।

जो उनके नाभिच्छिद्रों को गम्भीर करता हुआ जैसा, तथा उनके नखरूपी सीपों को विस्तारित करता हुआ सरोखा सुशोभित हो रहा था और जो साथ जाती हुई स्त्रियों के आभरणों के मणियों को प्रभा-
पटलों से उल्लासित करता हुआ जैसा सुशोभित हो रहा था । उस अवसर पर मैं उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार तारागणों के मध्यवर्ती चन्द्र सुशोभित होता है और जिसप्रकार कल्पवृक्षों से वेष्टित हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है एवं जिसप्रकार सुवर्णकेतकी मुकुटों के मध्यवर्ती विलासरसवाला राजहंस सुशोभित होता है । मैं, जिससे अवसरोचित वचन-भाषण में मनोहर नर्म (हँसी मजाक) क्रीड़ा में चतुर पुरुषों द्वारा बारम्बार उचित दानपरम्परा ग्रहण की जा रही है एवं जिसके लिए अग्रेसर द्वारपालों द्वारा मार्गभूमि प्रदर्शित की जा रही थी, मदोन्मत्त हाथी-सरोखा चरणमार्ग से ही अमृतमति महादेवी के द्वारपर आया ।

इसके बाद—हे मारिदत्त महाराज । ऐसी द्वारपालिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराये जा रहे मैंने, उस 'मनसिजविलासहंसनिवासतामरख' (कामसेवन रूपी हंस की स्थिति के लिए कमल-सरोखा) नाम के राजमहल में वर्तमान पलङ्ग को अलंकृत किया । जो (द्वारपालिका), मानों—अमृतमति महादेवी के लावण्यशेष से उत्पन्न हुई थी, अर्थात्—जो कुछ महादेवी-सरोखी थी । जो भ्रुकुटि-संचालनादि व्यापार से रानियों की रक्षार्थ नियुक्त हुए पुरुषों के अनुपसंवन्धी अग्रभागों को तिरस्कृत करती हुई सरोखी सुशोभित हो रही थी । जो नेत्रों की शोभा द्वारा उक्त पुरुषों के वाणों के विस्तार को निराकृत करती हुई—सी शोभायमान हो रही थी । जो वचन-चातुर्य द्वारा प्रतीली-द्वार के अर्गलों को निराकृत करती हुई—सी थी । जो स्तनों के उद्घाटन द्वारा दोनों किवाड़ों को उद्घा-
टित करती हुई—जैसी सुशोभित हो रही थी । जो रोमराजि के दिखाने से रानियों की रक्षार्थ नियुक्त हुए पुरुषों की वेतलता को तिरस्कृत करती हुई—सरोखी सुशोभित हो रही थी । जो उरुस्थल से तोरणखम्भों को निराकृत करती हुई—सी थी । जो मेखलाजाल (करधोनी) की रचना द्वारा वन्दनमाला को द्विगुणित करती हुई—सी सुशोभित हो रही थी । जो चरण-नखों के तेज द्वारा रङ्गावलि के मणियों को तिरस्कृत करती हुई—सी थी । जिसने वैकश्यक^१ (उत्तरीय वस्त्र) सरोखे दिखाई देनेवाले और दाहिनी व बाईं बगलों के मध्यभागपर

१. तदुक्तं—तिर्यग्वक्षसि विक्षिप्तं वस्त्रं वैकश्यकमुच्यते ।

क्षिप्तकौशेयिकया प्रतापानुगतयेव मत्स्यकीर्त्या, मुजगाधिष्ठिलयेव कल्पलतिकया, सतद्विबुधयेव बलाहकमालया, लाञ्छनलेखालंकृतयेव चन्द्रकलया, भद्रकरकुलकलितयेव पारिजातमञ्जरिकया, विकृताकल्परासणीयकेन सकुतुहलमव-
लोकनीयया, निःशेषविषयभाषावेद्यधिषणया, प्रणयशठभावेनार्धमूर्धप्रणामगलितकर्णावतंसया प्रतीहारपालिकया
मनाविलम्ब्यमानः 'किमकाण्डे कठिनहृदया देवी । धतस्त्वमेवं संवृतासि ।' 'कथयामि । देवस्य किलाद्यापरं काचित्प्र-
णयिन्यभूदिति निशम्य देवी महति कोपे कृतावेशास्ते । विज्ञापयत्प्रपि च मन्मुखेन—देवस्य तयं व पयसिस्त्वावलमत्मानु
कितवोपचारवर्धिशिकेन—इति सचाटुकारं देव, देवस्थोपरि प्रसावनाय देव्याः पावयोः पतितायास्तपलत्तिकाविलं मे भालं
किं न पश्यति देवः ।

अपि च—

नयननवनिवानरेमिरश्रुप्रवाहैः स्तनकलकामुखाधव्यप्रधारासहस्रैः ।

सुतनु हृदयमध्यस्थे प्रियेऽस्मिन् भवत्या कथमिह बहिरेषा सज्यते मञ्जनश्रीः ॥ ३ ॥'

उत्तरीय वस्त्र—जैसे धारण किये हुए खड्गों को धारण किया था । इससे जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—
प्रताप-सहित कामदेव की कीर्ति ही है । अथवा मानों—दोनों सापों से वेष्टित हुई चन्द्रनवल्ली ही है । अथवा
मानों—विजली के गुणसे संयुक्त हुई मेघमाला ही है । जो चन्द्रचिह्न-रेखा से अलंकृत हुई चन्द्रकला-सरोस्त्री व
भ्रमर श्रेणी से वेष्टित हुई कल्पवृक्ष की लता-सरोस्त्री सुशोभित हो रही थी । एवं जो खड्गधारण करने से विकृत
वेप के सौन्दर्य से कीतुक-सहित निरीक्षण करने योग्य थी । जो समस्त देशों की भाषाओं तथा वेपों में बुद्धि
धारण करनेवाली थी । थोड़ा स्नेह दिखाने से थोड़े मस्तक मात्रके नमाने से जिसका कण्ठगूर नीचे जमीन पर
गिर गया था ।

एवं जिसने महारानी के प्रति राजा साहब का योग्य अनुराग जान लिया है तथा 'राजन् ! आप
विशेष बलवान् हैं, अतः मैं आपको रोकने में समर्थ नहीं हूँ' इसप्रकार कहकर जिसने हास्यपूर्वक गृहका देहली-
प्रवेश छोड़ दिया है ।

[उक्त महल में वर्तमान पलङ्ग को अलंकृत करने के पूर्व] हे मारिदत्त महाराज ! उक्त द्वारपालिका
द्वारा कुछ कालक्षेप कराए हुए मैंने उससे कहा—'हे द्वारपालिके ! क्या अमृतमति महादेवी असमय में मेरे
प्रति कठोर हृदयवाली है ? अर्थात्—क्या प्रस्तुत महादेवी का मेरे ऊपर प्रेम नहीं है ? जिससे तुम मेरे प्रति
इसप्रकार की नमस्कार न करनेवाली व मायाचारिणी हो रही हो । उक्त बात को सुनकर द्वारपालिका ने
राजा से कहा—

'मैं आपसे कहती हूँ' अर्थात्—आप मेरे वचन सुनिए ।

'आज कोई दूसरी ही स्त्री आप से स्नेह प्रकट करनेवाली हुई है' ।

इस बात को कहीं से सुनकर आज अमृतमति महादेवी आप से विशेष कुपित-सी हो रही है और
मेरे मुख से आपको निम्नप्रकार विज्ञापित करती है ।

'आपको वही प्रिया पर्याप्त है, अतः हमारे साथ कुटिलता का वर्तविपूर्ण मायाचार करने से कोई
लाभ नहीं ।'

'हे राजन् ! मेरे, जो कि आपको ऊपर महादेवी को प्रसन्न करने के लिए उसके चरण कमलों में पड़ी
थी, ललाट को, जो कि देवी के चरणकमलों में लगे हुए लाक्षारस से लिप्त हुआ है, क्या स्वामी नहीं देख रहे हैं ।'

विशेषता यह है कि—

[प्रकरण—हे राजन् ! एक अवसर पर मैंने प्रस्तुत महादेवी से कहा था—]

‘खदिरिके, मामपि महादेवी प्रत्येकमुपालभेथाः । तनु विवितमेवतद्देव्या यथा न स्वप्नेऽपि मे विप्रलम्भनकराः काञ्चिदपि प्रवृत्तयः । किंतु तवेवमशेषं घूर्तविलसितम् । त्वं हि न भवसि सामान्येति किमहं न जाने । कुलागतं च तव परनरप्रतारणे परमर्तपुण्यम् । अयमपि च जनो नन्वशेषवितकृष्टिनीचूर्णघटितवेह एव न भवति भवत्याऽचेष्टितानां भूमिः । तवलमत्र मुखाप्रयासेन । गृहाणैवं मुखताम्बूलम् । इतः समागच्छ । भव पुरोवर्तिनी । सा भूरहस्त्रियामयोरिषा-
वयोर्मध्ये संध्येव समागमविलम्बिनी’ इति विवितापुगतभावया, ‘श्लक्ष्णान्धलु देवः । नाहमलं निवारयितुम्’ इति सपरिहासं समुत्सृष्टगृहावग्रहणीवेशया, निविध्य च तिर्यक्प्रवृत्तकुण्डलमणिकिरणपल्लवितरत्नांशुवलयेनोत्तालतरलाङ्गुलिना हस्तेन मया सहागच्छन्तमलिलमनुचरबलमोषदाकेकरनिरोक्षणेन मनाप्रतिरहस्यगर्भसंभाषणेन च प्रतिपद्यमुल्लास्यमानमानसः, कक्षान्तराणि वशया वनगज इव च तया नीयमानः, सहेलमन्तःपुरप्रचारिभिरस्मद्दर्शनप्रभृत्तमनोनुरागकेतैः कुञ्जवामन-

‘हे शोभन शरीरवाली अमृतमति महादेवी ! जब यह प्रत्यक्षीभूत तुम्हारा प्राणवल्लभ तुम्हारे हृदय के मध्य स्थित है, अर्थात्—तुम्हारे समीपवर्ती हो रहा है, तब आपके द्वारा इस तुम्हारे शरीर पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली ऐसे आँसुओं के प्रवाहों द्वारा, जिनके आदिकारण दोनों नेत्ररूपी तालाब हैं, और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं एवं जिनकी हजारों धाराएँ कुचकलशों के मुखों के अग्रभागों पर व्यापारवाली हैं, होने-वाली स्नानलक्ष्मी बाह्य में क्यों रची जा रही है ? भावार्थ—प्रस्तुत द्वारपालिका यशोधर महाराज से कहती है कि हे राजन् ! एक अवसर पर मैंने रानी साहब से कहा था—कि हे शोभन शरीरवाली ! जब तुम्हारा भर्ता तुम्हारे चित्त में स्थित है तब यह रुदनलक्षणवाली स्नानलक्ष्मी तेरे द्वारा क्यों रची जा रही है ?’ ॥ ३ ॥

[उक्त द्वारपाली की बात सुनकर] प्रस्तुत राजा ने कहा—हे घूर्त खदिरिके ! तुम अमृतमति महादेवी से इम भाषा-प्रकार से मेरी निन्दा के वचन कहती हो ! अहो घूर्त खदिरिके ! देवी को विवित ही है कि मेरी कोई भी प्रवृत्तियाँ स्वप्न में भी फिर जाग्रत अवस्था का तो कहना ही क्या है, वञ्चना करनेवाली नहीं हैं, तब तो तुम्हारी ही यह सब प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली वञ्चना की चेष्टा है । तुम सब लोक की तरह सामान्य नहीं हो, इस बात को क्या मैं नहीं जानता ? तुम्हारी मुझे और दूसरे लोगों के ठगने की विशेष चतुराई कुल परम्परा से चली आ रही है । यह मानव भी (यशोधर महाराज भी) निश्चय से समस्त कामुक व कुट्टिनियों के चूर्ण से घड़े हुए—रचे हुए शरीरवाला ही है, इसलिए आपकी वञ्चना-क्रियाओं का पात्र नहीं हो सकता । अतः मुझ सरीखे मनुष्य में निष्फल वञ्चना करने के प्रयास से कोई लाभ नहीं है । मेरे इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए मुख-ताम्बूल के उद्गार को स्वीकार करो । इस स्थान से मेरी दृष्टि के सम्मुख आओ और अग्रगामिनी होओ । तुम हम दोनों के मध्य में उसप्रकार समागम में विलम्ब करनेवाली मत होओ जिसप्रकार दिन व रात्रि के मध्य में संध्या उनके समागम में विलम्ब करनेवाली होती है । इसके बाद मैंने ऐसे हाथ द्वारा, जिसमें चक्र के आकार प्रवृत्त हुई कुण्डल-मणियों की किरणों द्वारा रत्न किरणों से व्याप्त हुए कङ्कण, पल्लव युक्त किये गए हैं और जिसकी अंगुलियाँ उत्सुक व चञ्चल हैं, मेरे साथ आए हुए समस्त किङ्कर-समूह को रोका । अर्थात् ‘आप लोग यहीं ठहरिए’ ऐसा कहते हुए रोका ।

इसके बाद—मैं, जिसका मन, कुछ कटाक्षों के देखने द्वारा और ऐसे संभाषण द्वारा, जिसके मध्य संभोग सम्बन्धी गोप्यतत्त्व वर्तमान है, प्रत्येक चरण-स्थापन में विशेष उल्लास में प्राप्त किया जा रहा था । इसके बाद मैं उस द्वारपालिका द्वारा उसप्रकार कक्षान्तरों (गृह-प्रकोष्ठों—राजमहल के मध्यवर्ती कमरों) में लाया जा रहा था जिसप्रकार हथिनी द्वारा जंगली हाथी कल्पान्तरों (वन के मध्य भागों) में लाया जाता

किरातकञ्चुकीभिः कृत्तेन विकृतात्मापनर्तनकंतवन विकास्थमानलोचनः, समन्तावाकुलाकुलबिरलीमवत्सकलपरिजने,

यक्षकर्मसंश्रितकर्पूरदलदन्तुरितजातरूपभित्तिनि भृगमदशकलीपलिपतरजतधातायनविबरविहरमाणसमोरसुरभिते सान्द्रस्पन्दसंभाजितामलकवेहलीशिरसि धुसृणरसारुणितमरकतपरागपरिकल्पितभूमितलभागे मनाङ्गभोदमानमालतीमुकुल-
मिरत्तिनरङ्गदलिति तावरनवतुषारतलजम्बूद्वयमधुसरितवितानपर्यन्तावलम्बितमुक्ताकलमाले कूर्चस्थितविनिवेशित-
प्रसूनसमूहामोदभिलितालिकुलसङ्कारिणि संचारिमहेमकन्यकासोत्तंसितमुखदासताम्बूलकपिलिके तुहिनतरुविनिधितवली-
कान्तरमुक्तकुसुमलक्ष्मीरभाधिवास्यमानसुरतायसानिकोपकरणवस्तुनि मणिपिञ्जरोपविष्टशुकसारिकाभिधुनकप्यामानमग्म-
थकयासनाथे सारसजितफलकोटक्षेपिणा प्रसाधितकुतपयावनचपलेन समुद्रगकव्यञ्जनाचमनकविलोपिना कलमुकलोकेन
पर्याकुलितसीविदलपरिषदि विविधमणिमनोहराधिरोहिणीसरणिके सप्ततलप्रासादोपरितनभागवतिनि मनसिजविलासहंस-
निवासतामरसनामनि वासभवने, सरसचवनसरस्तम्भिकाचमुष्टयमध्यावतीर्णमुल्लपरपारापतपतङ्गपेशलप्रतिपादोपरिविन्ध्यस्त-

है और मैं कुवड़ों, बौनों, भोलों व कञ्चुकियों द्वारा, जो कि एक साथ अथवा लीला-सहित अन्तः पुर में संचार करनेवाले हैं और हमारे देखने से जिन्हें हृदय में कृत्रिम स्नेह व उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है, क्रमशः किये हुए विकृत (विचित्र कृत), व भाषण, नृत्य व कंतव द्वारा उल्लास-युक्त नेत्रोंवाला हुआ । इसके बाद मैंने ऐसे 'मनसिज-विलासहंसनिवासतामरस' नाम के महल में, वर्तमान पलङ्ग को अलङ्कृत किया, जिसमें (प्रस्तुत महल में), समस्त सेवक अत्यन्त व्याकुल होते हुए दूर हो रहे थे ।

जिसकी सुवर्ण-भित्तिर्धा, यक्षकर्म (कपूर, अगर, कस्तूरी व कङ्कोल इनको समभाग मिलाकर बनाया हुआ लेपन अथवा कुङ्कुम व श्रीखण्ड) से लिप्त हुई व कर्पूर खण्डों से व्याप्त होने के कारण उत्पन्न हुए दाँतोंवाली-सी प्रतीत हो रही थीं । जो, कस्तूरी-खण्डों से लिप्त हुए चाँदी के झरोखों के छिद्रों से संचार करती हुई वायु से सुगन्धित था । जिसका स्फटिक मणियोंका देहली-मस्तक विलेपन विशेष के रस से लिप्त था । जिसका भूमि-तलभाग, कुङ्कुमद्रव से अव्यक्त लालिमावाले नील मणियों के चूर्ण से रचा गया था । जहाँ पर रङ्गावली (नानारंग के चूर्ण से रचा हुआ मण्डन-विशेष) कुछ विकसित होती हुई मालती पुष्पों की कलियों से सुशोभित थी । जहाँ पर चँदोदा के पर्यन्त भाग पर लटकी हुई मोतियों की मालाएँ निरन्तर जलते हुए काला गुरु धूप के घुएँ से धूसरित हो रही थीं । जहाँ पर सँभोग सम्बन्धी उपकरणों के स्थापन प्रदेश पर रक्खी हुई नाना प्रकार की पुष्प राशियों की सुगन्धि से एकत्रित हुई भ्रमर-श्रेणी का झङ्कार (गूँजना) हो रहा था । जहाँ पर मुख को सुगन्धित करनेवाली सुगन्धि युक्त ताम्बूल की कपिलिका रांचरण करनेवाली सुवर्ण-मुतली का कर्णपूररूप हुई है । जहाँ पर मैथुन के अखीर में होनेवाली उपकरण वस्तुएँ (व्यञ्जनादि), कर्पूर वृक्षों से रची हुई पट्टियों के मध्य भागों से बंधी हुई पुष्प मालाओं की सुगन्धि से सुगन्धित की जा रही हैं । जो रत्न-घटित पिञ्जरां में बेठी हुई तोता-मैना के जोड़ों द्वारा कहीं जानेवाली काम-कथारों से सहित है । जहाँ पर ऐसे नपुंसक-समूह द्वारा कञ्चुकियों की परिषत् व्याकुलित हो रही है, जो खदिरादि वृक्ष के तस्ते को उठानेवाला और सँवारे हुए बाजे को बजाने में चञ्चल है तथा जो संपुटक (सन्दूक), पंखे व उदकपान को दूर करनेवाला है और जिसमें नाना प्रकार के रत्नों की मनोहर सीढ़ियों का मार्ग वर्तमान है एवं जो सात तल्लेवाले राजमहल के ऊपर आठवें तल्ले पर वर्तमान है ।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज ! मैंने किस प्रकार के पलंग को अलङ्कृत किया ? जो (पलंग), नवीन चन्दन वृक्ष के छोटे चार पायों के मध्य में प्राप्त हुआ है । अर्थात्—जिसमें उक्त प्रकार के चार पाँव

पादमण्डलं तरङ्गितबुलपटप्रसाधितहंसतुलिकमन्तरान्तरा हरिचन्दनस्थासकाङ्क्षितपर्यन्तमखिरलोपान्तपरिकल्पितघूपकूपिका-
खिरविस्तरदूमपटलमुभयपाद्वर्षोपवर्षितमणिप्रदीपिकमुपधानद्वयोत्तमिभतपूर्वापरभागमुत्फुल्लकमलाकरमिव सरोवरमम्बु-
धरपरिवारितमिव शंभुशिखरिणमरासुगुणमध्यवर्तिनमिव तुहिनकिरणमधरोत्तरसेतुबन्धावद्वमिव मन्वाकिनीप्रवाह-
मुच्छ्वसितमात्रेणापि तरलतरान्तरालविहितसुखसंवेधमनेकविस्मयनीयस्मरप्रवावेशकरं यन्त्रसुन्दरमन्वदिशम् ।

अतः शयनतलमलंकुर्वतीमपरामिव लक्ष्मीम्, अनिमिषतिवासान्नरलोकसुखतृष्णावतीर्णामिव सरस्वतीम्,
अवलारूपपरिणतामिव कलासमितम्, उपात्तभानुषोभावामिव सागराम्बराम्, अतिरोहितात्मशरीरामिव राज्याधिपेयताम्,
अखिलसुखसारक्षानिमिव स्वोत्वमुपागताम्, अनङ्गतोऽणञ्जमिव चरणपल्लवाभिरामाम्, अनङ्गभूषणावतिमिव स्फुरन्-
क्षमणिपरम्पराम्, अनङ्गकारिणिमिव पूर्वानुवृत्तजङ्घाभोगाम्, अनङ्गमण्डपिकामिवोदस्तम्भभिताम्, अनङ्गयोगाम्यासभूमिमिव

हैं। उत्कर्ष रूप से अव्यक्त शब्द करते हुए कबूतरपक्षियों से मनोहर प्रतीत होनेवाले प्रतिपादों (चार पाँवों के नीचे स्थित हुए पाँवों) के ऊपर जिसमें पलंग के चारों पाँव स्थापित किये गए हैं। जिसपर लहरों से व्याप्त हुआ—अर्थात्—मछली की चित्रकारी होने के कारण नीचा-ऊँचा प्रतीत होनेवाला—ब रेशमी वस्त्रों से निर्मित हुआ प्रास्तरण-विशेष (गद्दा) बिछा हुआ है। जिसका प्रान्तभाग बीच-बीच में परमोत्तम चन्दन के हस्त-प्रतिविम्बों (हाथियों) से चिह्नित था, अतः जो उसप्रकार शोभायमान हो रहा था जिसप्रकार प्रफुल्लित कमल-समूहवाला तालाब सुशोभित होता है। जहाँपर अविच्छिन्न (कट के निकटवर्ती) समीप में रचे हुए छोटे घूप-घड़ों के छिद्रों से फैलते हुए धूमपटल वर्तमान हैं, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था, जिसप्रकार कालमेघ से वेष्टित हुआ कैलाशपर्वत सुशोभित होता है। जिसके बाएँ व दाहिने भाग के समीप रत्नों के छोटे-छोटे दीपक स्थापित किये गए हैं, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार बृहस्पति और शुक्रके मध्यवर्ती परिपूर्ण चन्द्रमण्डल सुशोभित होता है। जिसके पूर्व व अपर भाग—अर्थात्—शिरभाग व पादभाग, तकियों के जोड़ों द्वारा रोक धाम किये गए थे, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार अधो-भाग व पूर्वभाग पर स्थित हुए सेतु-बन्धों से रुका हुआ गङ्गा नदी का पूर सुशोभित होता है। जहाँ पर उल्ल-सन मात्र से ही विशेष चञ्चल मध्यभाग द्वारा अनायास सुरत (मैथुन) किया गया है, इसीप्रकार जो अनेक आश्चर्य-जनक कामदेवरूपी पिशाच-प्रवेशों को करनेवाला है।

उक्त प्रकार के पलंग को अलङ्कृत करने के बाद [हे मारिदत्त महाराज !] मैंने अपने पलंग पर बैठो हुई उस प्रसिद्ध ऐसी अमृतमति महादेवी को देखा, जो ऐसी प्रतीत हो रही थी—मानों—दूसरी राज्य श्री ही है। अथवा मानों—मनुष्य लोक की सुखाभिलाषा से स्वर्ग लोक से आई हुई सरस्वती ही है। अथवा मानों—स्त्रीरूप से उत्पन्न हुई बहूतर कलाओं की श्रेणी ही है। जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—मानुषो स्यो-पर्याय धारिणी पृथिवी ही है। अथवा मानों—अपना स्वरूप प्रकट करनेवाली राज्य की अधिष्ठात्री देवी ही है। अथवा मानों—स्त्रीत्व को प्राप्त हुई समस्त सुखसारों की खानि ही है। जो उसप्रकार चरणरूपी पल्लवों से मनोज्ञ थी जिसप्रकार कामदेव की तोरणमाला पल्लवों से मनोज्ञ होती है। जो उसप्रकार देदीप्यमान नखरूपी मणि-माला से अलङ्कृत थी जिसप्रकार कामदेव की भूषणभूमि मणिमालासे अलङ्कृत होती है। जिसकी जङ्घाओं का विस्तार उसप्रकार क्रमशः पूर्वानुवृत्त (गो-पुच्छ की आकृति-सरोखा) था जिसप्रकार कामदेव के बाणों का भाता पूर्वानुवृत्त—फैला हुआ होता है। जो उसप्रकार घुटनों के ऊपरी भागरूपी खम्भों से आश्रित थी जिसप्रकार कामदेव की उपकारिका वसति खम्भों से आश्रित होती है। जिसका जघन-स्थल उसप्रकार विस्तीर्ण

विशालजघनस्यकाम्, अनङ्गजयपताकामिव विलतरोमराजिवर्णिकाम्, अमङ्गजलकेलिवापिकामिव गम्भीरनाभिमण्डलाम्, अनङ्गवत्तरणवसतिमिव वलिविराजिताम्, अनङ्गापुष्पपट्टिमिव मुष्टिमितमध्यभागाम्, अनङ्गशरासारवृष्टिमिव परिपूर्णपयोधराम्, अनङ्गवनवसुधामिव भुजलतानन्तिनीम्, अनङ्गदेशपत्रिकाभिवालकलिपिलिखितभालमध्याम्, अभ्युत्तिष्ठन्तीमिव भ्रूलताविलासेन, स्वागतप्रणयिनीमिव बिम्बाधरस्फुरितेन, विहितासनप्रदानामिव नीचीनिवेशोल्लासेन, पाद्यक्रियोपयुक्तामिव कर्णकण्ठयिनोवाङ्म्वरितहस्तनखप्रभाप्रवाहेन, अर्घ्यमुत्क्षिपन्तीमिव प्रत्यङ्गुनिर्गतरोमाञ्चकदम्बेन, संपादितमधुपर्कामिवालकवलरीन्यापारितबाहुमूलप्रदर्शनेन, आचामयन्तीमिव च शृङ्गाररसोत्तरङ्गितः कटाक्षवीरितः, भूतवासकसज्जिकास्थितिताममृतमत्तामहादेशीमपश्यम् । अवलोक्य च तत्त्वं ज्ञातो गङ्गातमः, महारण्यनिर्गमनादिव तदा हि मे समुल्लसितं हृदयेन, विध्याञ्जनोपवेहादिव प्रसन्नं चक्षुषा, अमृतवर्षाभिषेकादिव प्रशान्तं देहेन, सिद्धीष्विबन्धनादिव विरलं विरहज्वरेण, चिन्ता-

था जिसप्रकार कामदेव के ध्यानानुशीलन का स्थान विस्तीर्ण होता है । जिसकी रोमराजिरूपी पट्टि उसप्रकार विस्तृत थी जिसप्रकार कामदेव की विजयपताका विस्तृत होती है । जिसका नाभिमण्डल उसप्रकार गम्भीर था जिसप्रकार कामदेव की जलकोड़ा की बावड़ी गम्भीर होती है । जो उसप्रकार त्रिवलियों—उदर रेखाओं से अलङ्कृत थी जिसप्रकार कामदेव का अवतार-गृह बलियों (पूजाओं) से अलङ्कृत होता है ।

जिसके शरीर का मध्यभाग (कमर) उसप्रकार मुष्टि (संकुचित हाथ) द्वारा नापा गया है, अर्थात् जो कुशकटि (पतली कमर वाली) है जिसप्रकार कामदेव का धनुष दंड मध्यभाग में मुष्टिमित होता है । जो कामदेव की शरासार-वृष्टि- (बाण-समूह की वर्षा) सरीखी परिपूर्ण (परस्पर में सटे हुए पीन—स्थूल) पयोधरों (स्तनों) से अलङ्कृत थी । अर्थात्—जिसप्रकार पयोधर (मेघ) शरासार वृष्टि (जल की वेगशाली वर्षा) से सहित होते हैं । जो उसप्रकार बाहुरूपी लताओं को आनन्द-दायिनी थी जिसप्रकार कामदेव की वनभूमि लताओं से आनन्ददायिनी होती है । जिसका शिर का मध्यभाग उसप्रकार केशपाशों के अधर-विन्यास से लिखित था जिसप्रकार कामदेव की शासन पत्रिका का मध्यभाग लिपि-लिखित होता है । अकुटी रूपी लता के उल्लसन से अभ्युत्थान करती हुई-सी और बिम्बफल-सरीखे ओष्ठों के संचलन से स्वागत-प्रणयिनी (प्रवास्तरूप से आई हैं इसप्रकार अग्ने को कहती हुई-सरीखी) जैसी सुशोभित हो रही थी । जो नीची (स्त्री को कमर का वस्त्र-बन्धन) स्थान को ऊँचा उठाने से बैठने के लिए आसन-दान करती हुई सरीखी सुशोभित हो रही थी । जो कानों की खुजली को नष्ट करने के लिए ऊपर उठाए हुए हाथों के नखों की प्रभा-प्रवाह द्वारा पादप्रक्षालनोदक सम्बन्धी आचार में उद्यमशील-सरीखी और सर्वाङ्गीण रोमाञ्च-समूह द्वारा पूजा-पात्र को प्रदान करती हुई जैसी एवं केशपाशरूपी वल्लरी के कारण फैलाई हुई भुजा का मूलभाग (कुचकलश) के प्रदर्शन द्वारा मधुपर्क (दही मधु, घृत पाददान) को उत्पन्न करनेवाली-सी एवं जो शृङ्गाररूपी अमृत रस से उत्कृष्ट तरङ्गोंवाले नेत्रों के कटाक्षों के विलोकन द्वारा आचमन देनेवाली सरीखी सुशोभित हो रही थी एवं जिसने वासकसज्जिका—शृङ्गारकारिणी—की क्रिया की है । हे महापुण्यशाली गारिदत्त महाराज ! उसे देखकर मेरा हृदय उसप्रकार हर्षित हुआ जिसप्रकार दण्डकारण्य से निकलने पर हृदय हर्षित होता है और मेरे नेत्र उसप्रकार प्रसन्न हुए जिसप्रकार दिव्य अञ्जन के लेप से नेत्र प्रसन्न होते हैं एवं मेरे शरीर को उसप्रकार शान्ति मिली जिसप्रकार अमृत वृष्टि के स्नान से शान्ति मिलती है । मेरा विरह-ज्वर उसप्रकार

१. तथा चोक्तम्—'उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा । मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥'

—सं० दी० पृ० ३३ से संकलित—सम्पादक

मणिलाभादिब फलितं मनोरथैः, कामधेसुसमागमादिव चाभवत्कृतार्थागमः समस्तोऽपि प्रजापालमाश्रमः परिश्रमः ।

ततस्तच्छयनतले दक्षिणतः ससंवाधमुपविश्य तस्यास्ततस्तेन तेनार्घोक्तिमुभयेन मुग्धविवग्धभाषितेन मनागपरि-
समाप्तव्यापारेण स्निग्धमधुरावलोकितेन ईषन्निषेधार्पणरसिकेन समालिङ्गितेनान्यश्च तैस्तैरनङ्गनदरस्योपदेशप्रगल्भवृत्ति-
मिषिलासेस्तत्र तत्रावस्थान्तरं सुखलोतसि विजृम्भमाणमतःकलहंसा, वसन्त इव दक्षिणाशाप्रवृत्तमास्तः प्रवितर्क्य मनसिज-
रसोल्लासादिव तरलतारोदयेन लोचनद्वयेन कामसमीरसमागमादिव सपारिप्लवेनाधरपल्लवेन शृङ्गारामृतपानादिव संजातो-
त्सेकेन कपोलपुलकेन मदनानलसंधुक्षणादिवोष्मलेन स्तनयुगलेनावन्यजपञ्चन्यामिवर्षादिव च सान्द्रसङ्गेन तेनाङ्गेन संवा-

नष्ट हो गया जिसप्रकार सिद्धपुरुषों की औषधिके सम्बन्ध से ज्वर नष्ट होता है एवं मेरे मनोरथ उसप्रकार सफल हुए जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से मनोरथ सफल होते हैं और मेरा प्रजापालन में समर्थ हुआ समस्त खेद उसप्रकार सफल हुआ जिसप्रकार कामधेनु की प्राप्ति से समस्त खेद सफल होता है ।

प्रसङ्गानुवाद—इसके बाद मैं उस महादेवी के पलंग पर नींद-सी लेता हुआ । इसके पूर्व मैं अमृत-
मति महादेवी के दक्षिण पार्श्वभाग से शरीर के संघट्टन-सहित बैठा । बाद में उसके कामीजनों में प्रसिद्ध, आघी
उक्ति से मनोहर, कोमल और चतुर वचन द्वारा और कुछ आधे विलोकनवाली स्नेह-पूर्ण अमृतधारा-सी चितवन
द्वारा तथा कुछ निषेध व अङ्गारपण से रसिकता को प्राप्त हुए आलिङ्गन द्वारा एवं दूसरे चतुर कामीजनों में
प्रसिद्ध ऐसे चिलासों द्वारा, जिनमें कामदेवरूपी नट की कामदेव सम्बन्धी गोप्यतत्त्व की शिक्षा सम्बन्धी उपदेश
की प्रौढतर प्रवृत्ति पाई जाती है, उस उस सुख के प्रवाह में जिसका हृदयरूपी राजहंस विस्तृत हो रहा है, ऐसा
हुआ । उस दूसरी सुख की दशा को प्राप्त हुआ मैं उसप्रकार दक्षिणाशाप्रवृत्तमास्तशाली हुआ । अर्थात्—
जिसकी क्वासोच्छ्वास वायु पिङ्गला नाड़ी में संचार कर रही है, ऐसा हुआ जिसप्रकार वसन्त ऋतु, दक्षिणा-
शाप्रवृत्तमास्तशाली होती है । अर्थात् जिसमें वायु का संचार दक्षिण दिशा में होता है ।^१ इसके बाद मैंने ऐसे
स्मरमन्विरूपी महल का चितवन किया, जिसमें निम्न प्रकार की घटनाओं—मुख साधनों द्वारा मानसिक हर्ष
उत्पन्न किया गया है ।^२

जैसे चञ्चल व उज्ज्वल उदयवाले दोनों नेत्रों से, जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—कामदेव सम्बन्धी
रस (रागरूप जल) के उल्लसन से ही चञ्चल व उज्ज्वल हुए हैं, अर्थात्—जिसप्रकार जल के उल्लास से
वस्तु चञ्चल व उज्ज्वल होती है और चञ्चल ओष्ठपल्लव से, मानों—कामदेवरूपी वायु के समागम से
ही चञ्चल हुए हैं । अर्थात्—जिसप्रकार वायु से वस्तु चञ्चल होती है । एवं गालों के स्थल पर उत्पन्न हुए
प्रचुर रोमाञ्चों से, मानों—शृङ्गाररूपी अमृतपान से ही जिनमें भली प्रकार प्रचुरता उत्पन्न हुई है, अर्थात्—
जिसप्रकार अमृतपान से गालों पर रोमाञ्च प्रकट होते हैं । मानों—कामरूपी अग्नि के संधुक्षण से ही ऊष्म
होनेवाले कुचकलशों (स्तनों) से, अर्थात्—जिसप्रकार अग्नि के संधुक्षण से ऊष्मा प्रकट होती है । एवं काम-
देवरूपी मेघ की चारों ओर वृष्टि होने से ही मानों—स्वेद जल से व्याप्त हुए शरीर से ।

१. तथा चोक्तं स्वरोदयशास्त्रे—‘दाक्षिणात्योऽनिलः श्रेयान् कामसंश्रामयानुणात् ।

क्रियास्वभ्यास्वन्यः स्थावामनाडीप्रभञ्जनः ॥’

२. तथा चोक्तम्—‘पारिप्लवं नयनयोरधरप्रकम्पः कामं कपोलपुलके पुलकप्रबन्धः ।

ऊष्मागमः स्तनयुगे मकरन्दसङ्गः क्रीडाम्बुजे च नियतं वनितासु रागः ॥’

—सं० टी० पृ० ३५ से संकलित—सम्पादक

वितहृदयोन्मादं स्मरसूत्रविवरणवतोस्तास्ताः कथाः, पुनर्हिरेक इव मकरन्दपातेन, राजहंस इव मृणालखण्डनेन, कुरङ्ग इव मृगी-
शृङ्गविलेखनेन, वनपात्र इव लतावेष्टनेन, सिंह इव मेखलाधिरोहणेन, पुष्पाकर इव पिकवधूकूजितेन, उद्यावतिनपल्लव
इव पूर्णकुम्भाश्रयणेन, करभ इव विटपाकर्षणेन, सरित्पतिरिवापगावर्तपरिवर्तकलनेन, मकर इव कल्लोलताडनेन, वनगज
इव कमलिनीसरःपरिमलेन, द्रवन्निव विलीनयन्निव निमज्जन्निव विशन्निव निर्वापयन्निव च, सैस्तरनन्यजन्मनो रसप्रसरैः

इसके बाद मैंने कामीजनों में प्रसिद्ध ऐसी कथाएँ कहीं, जो चाटुकार परिभाषा से मनोहर थीं।
अर्थात्—जो स्नेह जनक व मिथ्या प्रशंसा से व्याप्त हुई परिभाषा (भाषण) से हृदय को उल्लासित करनेवाली थीं।
पक्षान्तर में अनियम में नियमकारिणी परिभाषाएँ (शास्त्र विशेष) जिसप्रकार मनोहर होती हैं। जो प्रणति
(पादपतन) व उपोद्घात (समीप में मस्तक-ताड़न) से विस्तृत थीं। पक्षान्तर में कथा-प्रारम्भ में मङ्गलार्थ
प्रणति (इष्ट देवता को नमस्कार) की जाती है, पश्चात् उपोद्घात (विवक्षित वस्तु का अवतरण-क्रम) द्वारा
कथाएँ विस्तृत होती हैं।

इसीप्रकार जो दण्डप्रदानानुतन्त्रप्रवृत्त हैं। अर्थात्—जो पुरुषकार (पुरुषत्व) दानानन्तर पश्चात्
सुरत (मैथुन) में प्रवृत्त हुई हैं। पक्षान्तर में जो, दण्डप्रदान (दक्षिणापथ—गुरुदक्षिणा के मार्ग पूर्वक ?)
अनुतन्त्र (वातिक—शङ्काएँ उठाकर उनका समाधान करना) द्वारा प्रवृत्त हुई हैं। एवं जो स्मरसूत्र धारण
(जङ्घाओं के ऊपर जंघाओं का स्थापन) द्वारा विवरण-युक्त हैं। अर्थात्—गोप्यस्थान-प्रकटन-युक्त हैं।
पक्षान्तर में शास्त्रों के मूल सूत्रों का विवरण वृत्तिग्रन्थ द्वारा होता है।

इसके बाद मैंने उस अमृतमति महादेवीके साथ उसप्रकार मकरन्दपान (ओष्ठ-चुम्बन) द्वारा
मैथुन-सुख भोगा जिस प्रकार भ्रमर मकरन्द-पान (पुष्परस-पान) द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उसके
साथ मृणाल-खण्डन (ओष्ठ-खण्डन) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख भोगा जिसप्रकार राजहंस मृणालखण्डन
(कमल की नाल के खण्डन) से सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ मृगीशृङ्गविलेखन (प्रिया के केश-
पाशग्रहण) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख भोगा जिसप्रकार हिरण मृगीशृङ्ग विलेखन (हिरणी के सींगों का
खरोचना) द्वारा सुख भोगता है। मैंने उसके साथ लतावेष्टन (भुजाओं द्वारा आलिङ्गन) द्वारा उसप्रकार
कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार वन का वृक्ष लतावेष्टन द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उस महादेवी
के साथ मेखलाधिरोहण (कटिदेश—कमर के ग्रहण) द्वारा उसप्रकार काम-सुख का अनुभव किया जिसप्रकार
सिंह मेखलाधिरोहण (पर्वत-नितम्ब पर आरोहण) द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ पिकवधूकूजित
(कोयल-सरीखी सरस बाणी के श्रवण) द्वारा उसप्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार वसन्त कोयल के
कलकल कूजित द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उस देवी के साथ पूर्णकुम्भाश्रयण (स्तनों के सदन) द्वारा
उसप्रकार सुरत-सुख का अनुभव किया जिसप्रकार उत्सव दिवसरूपी पल्लव पूर्णकुम्भाश्रयण (पूर्णकलशों)
के स्थापन द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ विटपाकर्षण (बाहुलताओं के आकर्षण) द्वारा उस-
प्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार छोट विटपाकर्षण (वृक्ष-शाखाओं के आकर्षण) द्वारा सुखानुभव
करता है। मैंने उस महादेवी के साथ आपगावर्तपरिवर्तकलन (नाभि प्रदेश के अवलोकन) द्वारा उसप्रकार
कामसुख भोगा जिसप्रकार समुद्र नदियों के सेंवर धारण द्वारा सुखानुभव करता है। जिसप्रकार मकर कल्लोल-
ताड़न (समुद्र-तरङ्गों के ताड़न) द्वारा सुखानुभव करता है उसीप्रकार मैंने उस महादेवी के कल्लोलताड़न
(बाहुदण्डों के ताड़न) द्वारा कामसुख का अनुभव किया। एवं जिसप्रकार विन्ध्याचल का हाथी कम-
लिनीसरःपरिमलन (कमलिनियों से व्याप्त हुए तालाव में डुबकी लगाने) द्वारा सुखानुभव करता है उसी-

प्रणयकोपसंघितानुरागमनुनयोपचरद्विगुणितस्नेहसङ्गमन्योन्यकलाकौशलपथितरसधोगममयद्विमुल्लङ्घितक्रमात्पदमनयेक्षित-
वपुःखेदमपुनर्लभ्यमिवापश्चिमं तथा सह संवेदसुखमनुभूय, उपान्तयन्त्रपुत्रिकोत्क्षिप्यमाणज्जनपदनापनीयमानसुरतधनः,

गलिते नितम्बदेशात्कान्धोभुगमण्डने नितम्बिन्याः । नखरेखाः पुनरधिकं शोभां जनयन्ति जघनस्य ॥ ४ ॥
भवति कचग्रहयोगात्सरलत्वं कुतलेषु युवतीनाम् । तन्निक्षेपविधेरिष कुटिलाः श्वासास्तु जायन्ते ॥ ५ ॥
दन्तक्षतमिदमधरे रमणीनां नेति मन्मथः किं तु । इत्थप्रलम्भमथतरोरयं पल्लवोल्लासः ॥ ६ ॥
वक्षुषि लासारागः कज्जलमधरे च मण्डनं कुर्वते । द्विधासस इव चित्रा वृत्तिमंदनस्य विपरीता ॥ ७ ॥
रमयति मनो नितान्तं स्वेवोद्गमबिन्दुमञ्जरीजालम् । लज्जित इव कुचमध्ये प्रविशति हारः पुरन्द्रीणाम् ॥ ८ ॥
उरसि नखक्षतपंक्तिर्धनितानां भाति सरसविनिवेशा । ह्रस्वशरणात्यविनिर्गममनितः प्रापेण मार्ग इव ॥ ९ ॥

प्रकार मैंने उस प्रिया के साथ कमलिनीसरःपरिगङ्ग (स्मरमन्त्र में सुखा मिलने) का कामसुख का अनुभव किया ।^१

उस अवसर पर मैं धारण करता हुआ-सा, तन्मय होता हुआ-सा, उसके मध्य प्रवेश करता हुआ-सरीखा, उसमें प्रविष्ट हुआ-सा तथा अपने को उस विशेष सुख में प्राप्त कराता हुआ-सरीखा प्रतीत हो रहा था ।^२ हे मारिदत्त महाराज ! मैंने उस प्रिया के साथ कैसे कामसुख का अनुभव किया ? उन-उन प्रसिद्ध कामदेव के रस प्रवाहों द्वारा व प्रणयकोप द्वारा जिसमें अनुराग वृद्धिगत किया जाता है । जिसमें मानव-व्यवहार द्वारा प्रेम का सङ्ग द्विगुणित किया गया है । जिसमें परस्पर के कलाचातुर्य द्वारा राग-वैग वृद्धिगत किया गया है । जो बेमर्याद है । जिसमें अपनी स्थिति के स्थान का अतिक्रमण किया है । जिसमें शारीरिक कष्ट की गणना नहीं की गई और जो अपश्चिम—अत्यन्त है एवं जो पुनः प्राप्त न होने योग्य सरीखा है । उस अवसर पर मैं ऐसा था जिसका संमोग-खेद समीपवर्ती अथवा दोनों पादर्व भागों में वर्तमान कला पुतलियों द्वारा प्रेरित की जानेवाली पंखों की वायु से दूर किया जा रहा था ।

जब नितम्बिनी (कमनीय कामिनी) के नितम्बदेश से करघोनी रूपी आभूषण खिसक जाता है तब जङ्घाओं की नखरेखाएँ फिर भी अधिक शोभा उत्पन्न करती हैं^३ ॥४॥ युवती स्त्रियों के केशपाशों को मुष्टि द्वारा ग्रहण करने से केशों में सरलता हो जाती है और श्वास कुटिल हो जाते हैं । इससे ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—केशों की कुटिलता के त्याग के दुःख से ही श्वास कुटिल हुए हैं^४ ॥५॥ रमणियों के ओष्ठों में वर्तमान यह प्रत्यक्ष दिखाई देता हुआ दन्तक्षत (व्रण) नहीं है, फिर क्या है ? मेरा मन यह कह रहा है कि श्द्र द्वारा पूर्व में भस्म किये हुए पश्चात् उत्पन्न हुए कामदेवरूपी वृक्ष का यह प्रवालों का उल्लास ही है^५ ॥६॥ नेत्रों में लगा हुआ लाधारस (अलक या ताम्बूलरस) और ओष्ठ में कज्जल शोभा को धारण करता है । अभिप्राय यह है कि पुरुष ने स्त्री के नेत्रों का चम्बन किया, अतः उनमें लाधारस या ताम्बूलरस लग गया । इसीप्रकार

१. ध्वन्यलंकारः ।

तथा चोक्तम्—‘अन्यार्थवाचकैर्यत्र पदैरन्यार्थ उच्यते । सोऽलंकारो ध्वनिर्ज्ञेयो वक्तुराशयसूचनात् ॥’

सं० टी० पृ. २६ से संकलित—सम्पादक

२. क्रियासमुच्चयालंकारः ।

३. संयुक्तशृङ्गाररसः । ४. उत्प्रेषालंकारः । ५. अपह्नुतिरलंकारः ।

स्तमगलकपोलभुजगा राजन्ते करजराजयः कुटिलाः । मदनस्य युवतिवसतिषु निवासलिखिता प्रशस्तिरिव ॥ १० ॥

नार्थिनि मलिनमुखत्वं वातुः कस्यापि युज्यते कर्तुम् । स्तब्धमविवेकि कठिनं भुजयुग्मं कोऽपि किं त्यजति ॥ ११ ॥

नीचैर्वृत्तिर्येषां त एव नन्वन्ति चिरतरं पुरुषाः । नूपुरचरिण्यं सुरते महोत्सवः केशकुतुम्बेषु ॥ १२ ॥

अपि च ।

पुष्पेष्वास्तशिलीमुखावलिरसूनीलालकधीरियं नेत्रे ओजसमीपमाश्रितवतां किञ्चिन्मिथो भाषितुम् ।

वक्त्रं क्षुम्भितुमुन्नतायिव कुचावस्थाः पुनः सुध्रुवः कार्त्तिकस्थानसमृद्धिमत्सरितया मध्यं कुशत्वं गतम् ॥ १३ ॥

मनसिजकलभोऽयं नूनमस्मिन् प्रवेशे निषसति वनितानाम्भुसमूलप्रचारः ।

यदिह तनुजराजिष्याजतो नाभिवाप्यां प्रसृतवपुरिवाख्या लक्ष्यते हस्त एषः ॥ १४ ॥

स्त्री के नेत्रों का काजल पुरुष के ओष्ठ पर लगा गया । अतः कामदेव की चेष्टा दिगम्बर मुनि-सरोस्त्री विपरीत होने के कारण आश्चर्यजनक होती है । अर्थात् जिसप्रकार ध्यान-योग से दिगम्बर मुनि के नेत्र रक्त हो जाते हैं एवं विशेष प्यास के कारण ओष्ठ श्याम हो जाते हैं ॥७॥ स्त्रियों की प्रकट हुई स्वेदबिन्दुरूपी मञ्जरी-श्रेणी मन को विनोद रूप से प्रभुदित करती है एवं हार मानों—लज्जित हुआ सरीखा स्तनों के मध्य प्रवेश करता है ॥८॥ स्त्रियों के हृदय पर तत्काल की हुई नखों की व्रणराजि (श्रेणी) ऐसी प्रतीत होती है—मानों—कामदेव के बाणरूपी काँटों के निकलने से उत्पन्न हुआ प्रायः मार्ग ही है ॥९॥ कमनीय कामिनियों के कुचों, गलों व गालों को स्थली तथा भुजलताओं पर स्थित हुई व बक्रा नखदात श्रेणियाँ सुशोभित होती हुई ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—कामदेवसंबन्धी युवतीरूपी महलोंपर निवास करने से उकीरी हुई प्रशस्तियाँ ही हैं ॥१०॥ याचक अथवा प्रयोजनार्थी पुरुष के आनेपर किसी दाता को अपना मुख म्लान (श्याम) करना उचित नहीं है । उदाहरणार्थ—क्या कोई पुरुष (उदरस्थित बालक या कामसेवन में प्रवृत्त हुआ पुरुष) ऐसे स्तनों के जोड़े को, जो कि स्तब्ध (उन्नत—उठा हुआ व पक्षान्तर में अभिमानी) और अविवेकी (अघटित व पक्षान्तर में सदसद्विवेक-शून्य) एवं कठिन (कर्कश—कड़े एवं पक्षान्तर में निर्दयी या लुब्ध) है, छोड़ता है ? अपितु नहीं छोड़ता ॥११॥ जिस पुरुषों में नीचैर्वृत्ति (विनयशीलता व पक्षान्तर में निष्कण्ट पद में स्थिति) होती है, वे ही पुरुष निरन्तर वृद्धिगत होते हैं । उदाहरणार्थ—सम्भोग क्रीड़ा में नूपुरों (पाद-मञ्जीरों) सरोखा महोत्सव क्या चिर पर स्थित हुए पुष्पों में होता है ? ॥१२॥ सुन्दर अकुटिलाशिली इस कमनीय कामिनी की यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई श्याम केशपाश-लक्ष्मी, कामदेव द्वारा प्रेरित की गई बाणश्रेणी सरीखी हुई । अर्थात्—इसके श्याम केशों की लक्ष्मी ऐसी प्रतीत होती है—मानों—कामदेव द्वारा प्रेरित की गई बाण-श्रेणी ही है । अथवा इसकी पुष्पों के मध्यवर्तिनी श्यामकेशलक्ष्मी अमर-रहित हो गई । इसके दोनों नेत्र दोनों कानों के समीप आश्रित हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—परस्पर में कुछ कहने के लिए ही श्रोत्रों के समीप आश्रित हुए हैं । इसके दोनों स्तन उन्नत हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—इसका मुख क्षुम्बित करने के लिए ही उन्नत (उठे हुए) हुए हैं । एवं करघोनी के स्थान की उन्नति से द्वेष करने के कारण से ही मानों—इसका मध्यभाग (कमर) कुश हो गया ॥१३॥ ऊरुओं (घुटनों के उपरितन भागों) के मूल में संचार करनेवाला यह कामदेव रूपी हाथी का वक्त्र निश्चय से कामिनियों के इस स्मर-मन्दिर प्रदेश में निवास करता है ।

१. दीपकोपमाहेत्वलंकारः । २. रूपकोपमालंकारः । ३. उत्प्रेक्षादीपकालंकारः । ४. समुच्चयरूपकोत्प्रेक्षालंकारः ।

५. श्लेषाशेषालंकारः । ६. भाषोपलंकारः । ७. उत्प्रेक्षालंकारः ।

इति भगवतः कुसुमशरस्य धरितचिन्तासन्तानस्तिमितान्तःकरणः स्तोकोन्मेषस्फुरितलोचनपथ्यन्तो निद्रामिवाहम-
करवम् ।

महादेवी तु मां स्वभावमुत्तमिवालक्ष्य, निभृतमाक्षिप्य मत्कण्ठदेशादुपधानीकृतं करम्, अवेक्ष्य मुहुर्मुहुराकुला-
कुलबिलोचना मवीयानमम्, उत्सृज्य शनैःशनैः शयनम्, उपविवायार्धमुहूर्तमात्रं बहिरन्तश्चाटमवापलत्थम्, अनुवितर्क्य
निःसंचारतया शून्यताबन्धमिव राजभवनमध्यम्, अवकीर्यात्मनः शोलमिव धम्मिल्लकुसुमानि, परामृश्य सच्चरितमिवाङ्ग-
रागम्, अवज्ञाय हितोपदेशमिव कर्णाभरणम्, अवधोयं मत्प्रणयमिव हृदयभूषणम्, अवधूय प्रियसखीमिव काञ्चीवाम,
निभंस्यं बान्धवमिव नूपुरयुगलम्, अपहाय वंहायकोचितपतिकेव सकलं बलयादिकं भण्डनम्, अन्यच्च राजमहिषीयोग्यभा-
कल्पम्, अतिरुचिरतमुपात्तनिजासन्नभरणधारिणीवेया विधाय किञ्चिदर्थोद्गलितमुपकरणमुत्सङ्गाधिकरणमसंघाय न
कपाटपुटमाशु प्रस्थितवती । सयाप्यकृत्वा कालक्षेपम् 'अहो, महादेव्याः कोऽप्यपर एव महासाहसव्यवसायो लक्ष्यते ।
यवस्थामयंरात्रवेद्यायां निष्येकाकिंघ्रसतीजनोचिताचरणेव लघुतरमुच्चलिता । तदलमत्र चित्तभ्रमकारिणा विचार-
चक्रेण । अवलोकयेयमहमेवास्थास्तावदाकूतपरिपाकम् ।'

यह प्रस्तुत प्रदेश में निवास करता है, यह कैसे जाना जाता है ? क्योंकि इस प्रदेश पर वर्तमान रोमाचली के
मिष में इस कामदेव रूपी दासी के रक्त की यह छत्रश दिखाई देनेवाली सूँड, जिसका शरीर इस नाभिरूपी
बावड़ी पर फैला हुआ-सा है, दिखाई दे रही है' ॥१४॥

उक्त प्रकार से मैं, जिसका मन श्रीमान् कामदेव संबंधी चेष्टा की चिन्ताश्रेणी द्वारा निश्चल है और
जिसके नेत्रों का प्रान्तभाग कुछ नेत्रों के उद्घाटन द्वारा स्फुरित (तेज-व्याप्त) हो रहा है, उस महादेवी के
पलङ्ग पर नींद-सी लेता हुआ ।

हे भारिदत्त महाराज ! मेरी पट्टरानी अमृतमति महादेवी ने तो मुझे स्वभाव से शयन करता हुआ-सा
देखकर मेरे द्वारा तर्किया रूप की हुई अपनी बाहु को मेरे कण्ठदेश से धीरे से खींचकर शीघ्र प्रस्थान किया ।
प्रस्थान करने से पहले, अतिव्याकुल नेत्रोंवाली उसने बारम्बार मेरा मुख देखा । बाद में उसने धीरे-धीरे
पलङ्ग को छोड़कर बाह्यरूप से व मन से गमन करने की चञ्चलता आवेक्षण में करके राजमहल के मध्यभाग
को, जिसमें किसी का प्रवेश न होनेके कारण शून्यता-सहित-सा निश्चय करके अपने बंधे हुए केशपाशों के
पुष्प उसप्रकार फेंके जिसप्रकार उसके द्वारा अपना उज्ज्वल ब्रह्मचर्य फेंका जा रहा है । बाद में उसने सदाचार-
सरीखा अङ्गराग (कपूर, कस्तूरी, आदि के रस का विलेपन) दूर किया । पश्चात् उसने कर्ण-कुण्डल-आदि
आभूषण उसप्रकार तिरस्कृत किये जिसप्रकार गुग्गुचन तिरस्कृत किये जा रहे हैं । बाद में उसने वक्षःस्थल
के आभूषण (मोतियों की माला व हार आदि) वैसे दूर किए जैसे उसके द्वारा मेरा प्रेम दूर किया जा रहा
है । इसके बाद उसने प्यारी सखी-सी कमर की करधोनी दूर की । बाद में बन्धु सरीखे नूपुरों के जोड़ों को
उतारकर विवदा-सरीखी होकर इसने समस्त हस्त व पाद के आभूषण (कटकादि) दूर किए एवं दूसरा पट्ट-
रानी के योग्य वेष को छोड़ा । इसके बाद शीघ्र ही अपने समीपवर्ती चँवर ढोरनेवाली का वेष धारण करके उसने
उत्तरीयवस्त्र और उपकरण (वक्षःस्थलपर धारण किया हुआ जम्फर वगैरह) को सिकुड़ा हुआ करके किवाड़ों
के जोड़े खुले छोड़कर शीघ्र प्रस्थान किया । हे भारिदत्त महाराज ! मैंने भी निम्नप्रकार मन में निश्चय करते
हुए कालक्षेप न करके उत्सुकता से अपने समीपवर्ती अङ्गरक्षक का वेष धारण करके उस महादेवी के मार्ग

इत्यवसितचेतसा, सोत्तालं विहितनिजनिःकटवर्तिसङ्गवह्वेषेण गवेधयत च तत्पद्मीम्,

राजमन्दिरस्य प्रथमकक्ष्यायां दक्षिणस्थां विज्ञा युवराजविनोदहस्तिनो विजयमकरध्वजनामधेयस्थापाश्रयाविभूर-
वर्तिनि कटजुरकुटीरके करिकदलावशिष्टयवसप्रस्तरविस्तरिण्यवगुण्ठितरज्जुपुञ्जपरिकल्पितशिरस्पदे निग्राघत्तम्, इभा-
भ्यङ्गकर्मपिहितलज्जास्थानम्, अतिकठिनकचकण्टकोद्गमरमुण्डमण्डलम्, अनवानुपद्मीनापटलसमभवसम्, उत्तानकपिकरा-
भोगनिभललाटम्, अङ्गुरलिखितकरोखासमानभ्रूकम्, उदञ्चनशूबिरातिशायिलोचनम्, अर्धदग्धाजिनमलिनपद्मपुटम्,
अविषमभूतनलदण्डद्वयसदृशनासोरम्, उगुरविकर्तरितसंघाटतटनुकितोभयवशनवसनम्, अतिपुराणकुञ्जकोटरप्रतिमगल्लम्,
असमस्थापितचरादकविकटवन्तम्, अजस्रभ्रूवर्षाश्लिबुकमध्यम्, एरण्डकाण्डविडम्बिधमनीगलनालम्, अवालवीरणदल-
पटितकिटिकास्यगुटवज्रसम्, उल्लम्बितमृतगोनसानुकारिक्षिपस्तिनिर्गमम्, अनिलभूतसम्प्राध्मातजठरम्, उवृक्षलानुकारि-
कटीभागम्, अमिलद्वितस्थाणुगणनोरुकम्, असनुकर्मकूर्परप्रतिष्ठाण्ठीवत्प्रदेशम्, उच्छूनसिराप्रग्विजटिलपिण्डिकम्,
उग्निरगतोरुकटधुण्टिकाकीकसम्, अनेकविपादिकाविलविरलवक्राङ्गुलिफटत्कपावम्, अघसंघातमिव दुर्निरोधम्, अमङ्गल-

को हूँते हुए मैंने ऐसे 'अष्टवङ्क' नामवाले महावतों में नीचमहावत से प्रार्थना करती हुई महादेवी देखी । मैंने मन में किस प्रकार का निश्चय किया ?

'अहो आत्मन् ! इस महादेवी का कोई (कहने के लिए अशक्य) अपूर्व ही महान् अद्भुत करने में उद्यम दिखाई देता है, क्योंकि इसने इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई रात्रि में, जिसमें अर्धरात्रि की बेला थोड़ी-सी समाप्त हुई है, अकेली व्यभिचारिणी स्त्रीजनों के योग्य चेष्टा-सरीखी होकर शीघ्र प्रस्थान किया, इसलिए इस विषय में हृदय में सन्देह उत्पन्न करनेवाले विचार-समूह से क्या लाभ है ? अतः मैं ही इस महादेवी के अमिप्राय का परिपाक देखता हूँ । अर्थात्—मैं दूसरों की कही हुई बात नहीं मानता ।'

[उक्तप्रकार का मन में निश्चय करनेवाले मैंने कैसे 'अष्टवङ्क' नामके नीच महावत से प्रार्थना करती हुई महादेवी देखी ?]

जो ऐसी वृक्षशाखा की कुत्सित कुटी में नींद ले रहा है, जो कि राजमहल के प्रथम प्रकोष्ठ की दक्षिणदिशा में वर्तमान 'विजयमकरध्वज' नामवाले युवराज (यशोमति कुमार) संबंधी क्रीडागज के राज्य स्थान से समीप थी एवं जिसमें हाथी के आस से बची हुई घास का बिछोना बिछा हुआ था तथा जिसमें कुण्डला-कार की हुई रस्तियों की श्रेणी से बनी हुई तकिया वर्तमान थी, जिसने हाथियों के तेल-मालिश संबंधी (मलिन) वस्त्र द्वारा अपने अण्डकोश आच्छादित किये हैं । जिसका मुखमण्डल अत्यन्त कर्कश केशरूपी कौटों से भयानक है । जिसके कान जोर्ण जूता के चमड़े सरीखे हैं । जिसका ललाट फैलाए हुए बन्दर के हाथ के विस्तार-सरीखा है । जिसकी दोनों भ्रुकुटियाँ कोयले से लिखी हुई मलिन एकरेखा-सी थीं । जिसके नेत्र नारियल के खप्पड़ के छिद्र-सरीखे भट्टे थे । जिसके नेत्र-पटल आवे जले हुए चमड़े जैसे मलिन हैं । जिसकी नासिका समरूप से धारण किये हुए कमलदण्डों के जोड़ों-सी थी । जिसके दोनों ओष्ठ, चूहों द्वारा नानाप्रकार से कुतरे हुए चनों-सरीखे थे । जिसके गाल अत्यन्त जीर्णवृक्ष की कोटर-सरीखे थे । जिसके दांत पंक्ति-रहित कौड़ियों जैसे बाहिर निकले हुए थे । जिसकी ठोड़ी बकरे की दाढ़ी-सी देखने में भट्टी थी ।

जिसका प्रकट हुई नसोंवाला गलारूपी नाल (कमल-डंठल), एरण्ड वृक्ष के तना या पत्रसमूह सरीखा है । जिसका हृदय विशाल तृणविशेष-रचित कुटी जैसा ऊँचा-नीचा है । जिसकी बाहुओं का विस्तार ऊपर लटके हुए व मरे हुए दो साँपों सरीखा है । जिसका उदर वायु से भरी हुई लुहार की धौंकनी-सा भरा हुआ है । जिसकी कमर ओखली जैसी है । जिसके ऊर अग्निसे आवे जले हुए ठूठों-सरीखे हैं । जिसके

स्थानमिव नितरामुदेजनीयम्, अखण्डमण्डूरकुलमिव मनुष्यरूपेण परिणतम्, अखिलमिव वैरूप्यमवचित्य वेवसा निष्पादितम्, अतिस्थूलवसासस्फूर्जत्फुलिपरिसरम्,

उद्धोषणपोरणधोमघर्जरितविन्दिवरम्, उद्वृप्तनिद्राभरव्यादीर्णबनकन्दरम्, उपलसंपुटनिष्पीडितमिव सर्व-तरपूर्वभागम्, उभयतः परिकुण्टमिव दीर्घतरापराम्, इह करिणिजनस्य दृष्टिविषमापतेविति मषोपुण्ड्रकमिव द्विपसमीप-विनियुक्तम्, अखिलमजोपजोयिकेलानोवनमण्डवङ्गनाभपवं लेसिकापसवमूर्ध्वशृङ्गकशास्मलीविटपकर्कशस्पर्शं स्थूले चरणाङ्गु-ष्ठमूले विनिवेश्य मत्प्रेमप्राप्तावपरिलोपोव्रगवद्भ्रान्तस्फुलिङ्गमिव करमुत्थापयन्ती, पुनरतिपतेन च तेन किञ्चिदलोल-मालम्पता विधुनुदमस्तिनेन वामहस्तेनाश्रुष्य कुरङ्गङ्गकलङ्कसंकाशं केशपाशमङ्कुशप्रहारनिर्वयेन चेतरेण करेण हन्यमाना, 'अये प्रियतम, अलमलमनेनावेगेन । क्षमस्त्वेनमेकमनुचितसंबन्धमपराधम् ।

आकर्ण्य सावत् । एवास्मि तव दासी । धृती च ते मया पावी । इयं च वासतेद्यौ मम कुशलेन सा विभासीत्, यद्यहमारमयशोर्नव स्थितवती । किं तु हतविधिनाहं मन्दभाग्यवती परवती विहिता । स च तपनः क्षणमपि वृष्टग्रह

जानुओं (घुटनों) के प्रदेश महान् कछुए के खपर-सरीखे हैं । जिसकी जङ्घाएँ सूजी हुईं नसों की गाठों से सर्वत्र व्याप्त थीं । जिसके पैरों की गाठों की दोनों हड्डियाँ ऊपर निकली हुईं व उत्कट हैं । जिसके फटे हुए पाँव अनेक प्रकार की खुजलियों से व्याप्त व तिल्ली व ऐली अङ्गुलियों से युक्त थे । जो पाप-समूह सरीखा महान् वाष्ट से देखने लायक था । जो रमशान-सरीखा अत्यन्त भयानक था । जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मनुष्य पर्याप्त को परिणमन हुआ मण्डूर- (लोह-मल) समूह ही है । अथवा मानों—पूर्वजन्म संबंधी पापकर्म द्वारा समस्त कुलपता को ग्रहण करके निर्माण किया गया है । जिसके उदर का पर्यन्तभूमि-प्रदेश महान् श्वासों से अप्रतिहतव्यापारशाली था । जिसने उत्पटित नासिका के निद्रा-शब्दों से दिशाओं के छिद्रों को बहरे या जलरित किये हैं । जिसकी मुखरूपी गुफा उन्माद को प्राप्त हुए निद्रा-भार से विदारित की गई है । जिसका पूर्व शरीर लघु होने से ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—पाषाण-पटल का जोड़ा अम्भित हुआ है । जिसका नीचे का शरीर विस्तृत है, इससे ऐसा प्रतीत होता था—मानों—अपर शरीर के दोनों भागों में ताना गया है । जो कज्जल के तिलक-सा हाथियों के समीप नियुक्त हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों—इन हाथियों के निकट महावत-समूह का दृष्टिविष (नजर-दोष) पड़ जायगा, इसलिए—मानों—जो कज्जल-तिलक ही है एवं जो समस्त महावत लोगों का जूँटा भोजन करनेवाला था ।

[हे मारिदत्त महाराज मैंने उक्त 'अष्टबङ्क' के सामने कैसी ? या क्या करती हुई ? अमृतमति देवी देखी ?

जो (अमृतमति) उसके पैरों के अँगूठे के समीप, जो कि विशेष सूखी हुई शाल्मलि वृक्ष की शाखा-सरीखा कठोर स्पर्श वाला व महान् था, बैठकर उसके हाथ को, जो कि मेरे प्रेमरूपी महल को नष्ट करने के लिए उत्कट वज्राग्नि के कण सरीखा था, ऊपर उठा रही थी । एवं जिसके चन्द्र-लाञ्छन सरीखे श्याम केशपाश सोकर उठे हुए व कुछ गाली देते हुए अष्टबङ्क द्वारा राहु-सरीखे मलिन बाएँ हाथ से खींचे गए थे और जो अङ्कुश के निष्ठुर प्रहार-सरीखे निर्दय दाहिने हाथ से पीटी जा रही थी एवं जिसने उस अष्टबङ्क से निम्नप्रकार प्रार्थना की थी ।

'बहो स्वामिन् ! इस प्रत्यक्ष प्रतीत हुए क्रोध से कोई लाभ नहीं । अद्वितीय, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए व अयुक्त मेरे अपराध को क्षमा कीजिए । अनुक्रम से सुनिए । यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई मैं आपकी दासी

इवामस्य न मां मुञ्चति । तत्किं नु खलु करोमि । नन्वहं हताशा । अलीयश्च मे निर्भागिन्याः पुराकृतं दुष्कृतम्, येन त्वयि न शङ्कोमि जीवितेश, मनोवुरागवक्ष्येन मुष्मागललापय्यकेन कायेन सदा सन्निधातुम् । तत्समागमसमये च यदि त्वामेव हृदये निधाय तेन सह नासे, तदास्थामेव निशि मगवती कात्यायनी मां ज्ञादतु । पृथिव्येनसा च भागिनी स्याम् । तत्प्रसीद । एष ते पावपतनं प्रणमदण्डः संभावय । इवमुपकरणम् । आलिङ्ग्य निर्वप्येकान्यङ्गकानि । गतेनैव पर्याप्तमन्तरायेण । इत्यनुनयन्ती च वृष्टा ।

तवतु बडवानलपरिव्यङ्गमिव मे संसारमुखतरङ्गस्यापुनरागमनवेलजमिव विषयाभिलाषमजस्य तमोर्दुरभि-
सन्धिमात्मसमसविधिमवेक्ष्य, आशुशुक्लकक्रोहतः अतिरुह इव दह्यमानान्तर्दहः, व्युतमर्यादमुद्रः समुद्र इवानिवार्य-
कोपप्रसरः, संहिकेयगृहोत्तशिशिरकर इव विभिन्नाननकान्तिः, आसन्नमरणः प्राणिगण इव कम्पोत्तरलतरकरणः छिद्यमान-

हैं। इस समय मैं आपके चरण कमलों की शपथ करती हूँ। यदि मैं स्वाधीन होती तो यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुई रात्रि [आपके बिना] मेरी कुशलता पूर्वक नहीं व्यतीत होती। किन्तु निन्दित ब्रह्मा ने मुझे अभागिनी को पराधीन बनाया है। वह कामदेव पिशाच-सरीखा आकर मुझे क्षणभर भी नहीं छोड़ता। अर्थात्—तुम्हारी अभिलाषा से ही मैं जीवित रह रही हूँ, इसलिए मैं अनुनय पूर्वक पूँछती हूँ कि मैं क्या करूँ? अर्थात्—मेरा क्या दोष है? विधि का ही दोष है। मेरा मनोग्रन्थ निश्चय से नष्ट हो गया। मुझे पापिनी का पूर्वजन्म में उपार्जन किया हुआ पाप विशेष शक्तिशाली है, जिससे मैं तुम्हारे पास इस शरीर से, जिसकी कान्ति निरर्थक नष्ट हो रही है, सदा निकट रहने के लिए उसप्रकार समर्थ नहीं हूँ जिसप्रकार आपका अनुराग मेरे हृदय में सदा निकट रहता है। अर्थात्—जिसप्रकार आप प्राणेश्वर में मेरा मानसिक अनुराग सदा रहता है उसप्रकार शरीर से समीप रहने के लिए समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं यशोधर के साथ काम सेवन के अवसर पर आपको ही हृदय में धारण करके नहीं रहती हूँ तो इसी रात्रि में परमेश्वरी चण्डिका माता मुझे खागाय और पृथिवी के पापों की भागिनी हो जाऊँ। इसलिए प्रसन्न होइए। यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ आपके चरण कमलों में नमस्कार ही प्रेम प्रायश्चित्त है, उसे ग्रहण कीजिए। इस उपकरण (कपूर, कस्तूरी, चन्दन-दिलेपनादि) को ग्रहण कीजिए। इन शारीरिक अङ्गों को आलिङ्गन देकर सुखी कीजिए। व्यतीत हुआ अन्तराय (विध्वत वाधा) ही पर्याप्त है। अर्थात्—इतने समय तक जो मैं न जा सकी वही काफी है।

इसके बाद मैंने उन दोनों (अमृतमति देवी व अष्टवङ्क) का वध करनेके लिए म्यान में से आधी निकली हुई तलवार खींची।

[हे मारिदत्त महाराज ! इसके पूर्व मैंने क्या किया ?]

मैंने उन दोनों अष्टवङ्क व अमृतमति का ऐसा कुकृत्य देखा, जो कि संसार-समुद्र सम्बन्धी मुख की लहर-सरीखे मुझे बडवानल के सम्बन्ध-सा था। अर्थात् जैसे समुद्र-तरङ्ग को बडवानल अग्नि का सम्बन्ध दुःखदायी होता है वैसे ही मुझे उन दोनों का कुकृत्य दुःखदायी हुआ। जो विषयों की लालसारूपी हाथी-सरीखे मुझे अपुनरागमनवेलज-द्वार-सरीखा था। अर्थात्—जैसे हाथी जिस दरवाजे से पीड़ित होता है, उस दरवाजे से फिर दूसरी धार नहीं आता, उस दरवाजे को 'अपुनरागमन वेलज-द्वार' कहा जाता है वैसे ही उन दोनों का दुर्विलास भी, मेरे विषयों की अभिलाषारूपी हाथी को अपुनरागमन वेलज द्वार-सरीखा था एवं जो, मेरी आत्मा द्वारा (स्वयं) प्रत्यक्ष किया हुआ था। उससे मैं वैसा जाज्वल्यमान हृदयवाला हुआ जैसे अग्नि से व्याप्त हुआ वृक्ष जाज्वल्यमान मध्यभागवाला होता है। [उस समय] मेरी क्रोध-प्रवृत्ति वैसी निषेध करने के अयोग्य हुई जैसे मर्यादा-रहित समुद्र की क्रोध-प्रवृत्ति निषेध करने के अयोग्य होती है। जैसे राहु से निगला

लवः पल्लव इव प्रबोधमानावरदलः, त्रिपुरवाहप्रवृत्तमतिः पार्वतीपतिरिव भ्रुकुटिमङ्गुरितभालमण्यः, ताप्यमानाधराहः कटाह इव लोहिततरुधन्वःस्थलः, तिमिरधीचिकाभिरिवामर्षोत्कृतिकाभिरन्धीक्रियमाणलोचनस्तवधाय कोशावधानुरोध-मसिमहमाकुलवान् । अमववच वेवात्तर्ध्व मे प्रवीपबोधादिव मनस्तमस्तनुच्छेदः । आः किमिवमहो कर्माहमनुष्ठातुं शक्यस्तितः । न खलु नार्य इव शुभमशुभं वा कर्म सहस्रवारम्भन्ते विनीतमतयः, नापि विपदि संपदि वा कृपणप्रकृतय इवाशु विभियां गच्छन्ति महापुभावाः, न चारुपमेधसामिव महीयसामुपपन्ना भवन्ति कामचारेण प्रवृत्तयः, न चतव्यगहनं किन्तु प्रातर्मयैव लज्जावनतमस्तकेन शिरः पिष्टाय स्थातव्यम् । शोचितव्यं च मयैव प्रणयितां पुरः पञ्चात्तापवुःप्रतिष्ठान-मिवमनुष्ठामम् । श्रोतव्या भविष्यन्ति मयैव कर्णकटुताकाराः पुरजनस्य धिक्काराः । सुष्ठु मलिनोक्तं स्यान्मयैवात्सीयं सामीयं च कुलम् । सोढव्या मयैव स्वबुद्धत्यनितसरविवादिश्वसशस्यस्पृशः कुलवृद्धानामभिधाः । अहमेवोदाहरणं भविष्यामि शुर्बुद्धीनां कुटुम्बविघटने । कलषतामेवत्येषवास्थाने विनियोजिता लज्जलता ।

स्त्रीवधावयमजनि तपस्योति मृतस्यापि मे न दुर्यशः प्रशान्तिमर्हति । शोकातङ्के पतिष्यति च सापराधस-

हुआ चन्द्र कान्ति-हीन होता है वैसे ही मैं भी दूर की हुई मुख-कान्तिवाला हुआ । जैसे निकट मृत्यु प्राणि-समूह चञ्चल देह से व्याप्त होता है वैसे ही मैं भी विशेष चञ्चल शारीरिक अवयव-युक्त हुआ । मैं वैसा कम्पित होते हुए ओष्ठदलवाला हुआ जैसा छेदे जानेवाला विलास-युक्त पल्लव कम्पित पल्लव-युक्त होता है । जैसे दैत्य विशेष के भस्म करने में प्रवृत्त हुई बुद्धिवाला रुद्र भ्रुकुटियों के चढ़ाने से वक्र हुए ललाट के मध्यभागवाला होता है वैसे ही मैं भी भौंहों के चढ़ाने से वक्र किये गए मध्यभागवाला हुआ । जैसे विशेष तपाए जानेवाले मध्यभागवाली कड़ाही विशेष रक्त होती है वैसे मैं भी विशेष रक्त वक्षः स्थलवाला हुआ और अन्धकार लहरी-सरीखों क्रोध-तरङ्गों से मेरे नेत्र अन्ये किये जा रहे थे ।

हे मारिदत्त महाराज ! कर्मयोग से तलवार खींचने के अवसर पर ही मेरे मन में स्थित हुआ क्रोध-रूपी अन्धकार-शरीर वैसा नष्ट हो गया जैसे दीपकके जलाने से अन्धकार नष्ट होता है । उस समय मैंने निम्न प्रकार चिन्तन किया—

‘अहो आत्मन् ! दुःख है कि मैं (यशोधर) इस अष्टवङ्क व अमृतमति देवी के बध-कर्म करने में क्यों प्रवृत्त हो रहा हूँ ? क्योंकि विद्वान् पुरुष स्त्रियों-जैसे शुभ व अशुभ कर्म सहसा (विना विचारे) आरम्भ नहीं करते । जैसे मूर्ख लोग विपत्ति व संपत्ति के अवसर पर विकृत हो जाते हैं, अर्थात् विपत्ति में व्याकुलित व सम्पत्ति में हर्षित हो जाते हैं वैसे महापुरुष विपत्ति व सम्पत्ति के समय विकृत नहीं होते । जैसे मूर्ख पुरुषों की चेष्टाएँ स्वेच्छाचार पूर्वक होती हैं वैसे महापुरुषों की नहीं होतीं । यद्यपि मेरे लिए इन दोनों का बध करना कठिन नहीं है किन्तु ऐसा करने से मुझे प्रातः काल में ही लज्जा से नम्रीभूत मस्तकवाला होकर मस्तक दबकर स्थित रहना पड़ेगा और स्नेही पुरुषों के आगे मुझे ही पश्चात्तापरूपी दुष्ट मूलवाला इस अमृतमति देवी का कुकृत्य प्रकाशित करके शोक करना होगा एवं कानों में कटुकता प्राप्त करनेवाले नागरिक लोगों के धिक्कार वचन मुझ से ही श्रवण करने योग्य होंगे । मुझ से ही मेरा व मामा का वंश विशेष मलिन किया हुआ होगा । मुझ से ही अपने कुल के ज्येष्ठ पुरुषों के वचन, जो कि मन को शल्य सरीखे छूनेवाले हैं और जिनके प्रकार अपनी स्त्री के वध लक्षणवाले पाप में उत्तरहीन हैं, सहन करने योग्य होंगे एवं मैं ही कुटुम्बी जन के नष्ट करने के विषय में दुष्ट बुद्धिवालों का उदाहरण होऊँगा और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई तलवार अयोग्य स्थान में अधिकृत हुई कलुषता प्राप्त करेगी । अर्थात्—वर देनेवाली व विजय लक्ष्मी प्राप्त करानेवाली नहीं होगी ।

विभीषतिबुद्धितो युवराजः । परं च बह्वपराधे हि देहिनि क्षणमात्रव्यथाशरणं मरणमनुग्रह इव । यच्च पुनरनवेक्षण-
भ्रूपस्थितस्य, अतंभाषणमासन्नस्य, उपेक्षणं विज्ञपयतः, अवधोरणमसमैः परिभूयमानस्य, आशाभङ्गकरणमर्थायतः, प्रीति-
वितरणं तदनभिमतानाम्, अस्मरणं प्रियगोष्ठोषु, अनवेक्षणं तत्परिजनस्य, अपवार्थं व्याहरणं स्वप्रकाशेष्वप्यालापेषु,
अनवसरानुसरणमसङ्गभावेऽपि प्रस्तावेषु कियेत, स्यात्प्रस्थानीतश्चिरमस्थाने कृतसमयः प्रणयः । साधितं चाभिमतम् ।
इदमेव च निश्चित्याविहितवृत्तान्तस्यैव तच्छ्रवणतलमुपगम्य पुरावर्तित्यतवतः प्रलयकालकलितप्रसरस्य मकराकरस्यैव
निर्मयादिमन्तविकल्पकलोलबोलायमानमानसस्य, सा निर्वृत्त्यात्मनो दुर्बिलसितमतिस्वरितगतिजनितं वातमन्तरं जयन्ती

‘यह यशोधर स्त्री का घात करने के कारण सन्यासी होगया’ ऐसी भेरी अपकीर्ति मर जानेपर भी
शान्त नहीं होगी एवं युवराज (श्री यशोमति कुमार) पाप करनेवाली माता के वध से दुःखित होकर पश्चाताप
रूपी रोग में प्रविष्ट होगा ।

अतः मैंने निम्नप्रकारेण निश्चय किया—दूसरी बात यह है कि विशेष पाप करनेवाले प्राणी से किया हुआ
मरण उसको थोड़े समय के लिए दुःख का स्थान है, अतः उसका उपकार सरीखा है । इससे यदि आये हुए
पुरुष की ओर दृष्टिपात न किया जाय तो अयोग्य स्थान में किये हुए अवसरवाला प्रणय (स्नेह) चिरकाल
तक के लिए नष्ट हो जाता है । यदि सन्मुख आये हुए पुरुष के साथ भाषण न किया जाय तो अयोग्य स्थान
में किये हुए अवसरवाला प्रणय (स्नेह) चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जाता है । अर्थात्—जैसे सन्मुख आए
हुए पुरुष के साथ भाषण न करने से स्नेह नष्ट हो जाता वैसे ही सन्मुख आई हुई अमृतमति देवीके साथ
वार्तालाप न किया जाय तो मेरा उसके साथ उक्त प्रकार का स्नेह चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जायगा ।
यदि योग्य शिक्षा देनेवाले का अनादर किया जाय तो उक्त प्रकार का प्रणय नष्ट हो जाता है । यदि विशेष बलिष्ठ
शत्रुओं से तिरस्कार किये जानेवाले पुरुष का निरादर किया जाय तो उक्त प्रकार का स्नेह नष्ट हो जाता है । यदि
याचना करनेवाले पुरुष की आशा का भङ्ग किया जावे तो स्नेह नष्ट हो जाता है । यदि द्वेष करनेवाले पुरुषों से
स्नेह प्रकट किया जावे तो उक्त प्रकार का स्नेह नष्ट हो जाता है । जैसे प्रेमी पुरुषों की सभाओं में प्रेमी का स्मरण
न करना प्रणय-भङ्ग करनेवाला होता है वैसे ही प्रिय गोष्ठी में अमृतमति देवी का स्मरण न करना भी उक्त
प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा । एवं जैसे प्रेमी पुरुष के परिवार की ओर दृष्टिपात न करना
प्रणय-भङ्ग कारक होता है वैसे ही अमृतमति देवी के परिवार (सखीजन) की ओर दृष्टिपात न करना भी
मेरे उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा । जैसे स्वाधीन भाषणों में स्नेही को दूर होने की कहना
प्रणय भङ्गकारी होता है वैसे ही स्वाधीन वार्तालाप के अवसर पर अमृतमति देवी को दूर होने की कहना भी
उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा । जैसे वैराग्यजनक अवसरों पर भी अनादर करना प्रणय
भङ्गकारी होता है वैसे ही वैराग्य व शृङ्गार जनक सभी अवसरों पर अमृतमति देवी का अनादर मेरे प्रणय
को भङ्ग करनेवाला होगा । मैंने कर्तव्य निश्चित कर लिया ‘मैं उस अमृतमति देवी के साथ वार्तालाप-आदि
नहीं करूँगा ।’

इसके बाद वह अमृतमति अपना कुक्कुट्य पूर्ण करके अपनी शीघ्र गति से उत्पन्न हुई वायु पर मध्य
में ही विजय श्री प्राप्त करती हुई और ऊर्ध्व श्वास द्वारा कञ्चुक को ऊँचा नीचा करनेवाले हृदय-कम्पन को
रोकती हुई उद्वण्डता पूर्वक मेरे समीप आई और उसने मेरे, जो कि दुर्विलास न जाननेवाले-सरीखा होकर
अमृतमति देवी की शय्या पर पूर्व की तरह सो रहा था और जिसका चित्त वैसा वेमर्यादावाली मानसिक
विकल्परूपी महातरङ्गों द्वारा कम्पित हो रहा था जैसे प्रलयकाल द्वारा विस्तृत होनेवाला समुद्र वेमर्याद
महातरङ्गों से कम्पित होता है, बाहुरूपी पिञ्जरे का वैसा आश्रय करके अत्यन्त गाढ़ निद्रा पूर्वक शयन किया

निश्चयानां चोत्कम्पोत्तालितवारबाणं हृदयतरङ्गिमाणमविनीतैरुपसृत्याश्रित्य च मम भुजपञ्जरं कुजनिकुञ्जमिव व्याली,
पञ्चन्योत्सङ्गमिव सौदामिनी, कुत्कीलकन्दरमिव भुजङ्गी, जगदन्तरालमिव कालदूती, जलविमर्शमिव मकरी, वनगहनमिव
निशाचरी, निजाङ्गस्पर्शबीभत्सयेव मदीयां तनुमशेषतः कण्टकयन्ती, बहुकालमात्मबुष्कर्मणः परिणतारम्भत्वादविदि-
तसाहसैवाङ्गनिक्षेपमात्रेणैवातिसास्त्रं श्यव्रासोत् ।

न खलु विषुतेङ्गिताकारस्य पुंसः काचिवपि भवति कार्यसिद्धिरिति जानतोऽपि न मे मनागपि प्रसीदति मनः ।
पिशाचच्छलितस्येव शून्यहृदयता, महाशोकतप्तस्येव दीर्घतरमुच्छ्वसितम्, अग्निपतितस्येव परिवर्तनबहुलता, ऋत-
स्येवातीव मुखशोषः, कीसीशोपहतस्येव बहुमुह्वितगुम्भणम्, उन्मत्तस्येव यत्किञ्चित्प्ररूपनम्, निषादानुगताङ्गी कुरङ्गीव च
व स्वचिदेव पवनादध्यातै बुद्धिः, मनोज्ञं घनवन्तमिव भावसम्भकारयत्याशाम्, आत्मनः क्षणमात्रमुद्योतमानमिव
प्रतिभासते, भवति च पुनर्बाष्पजलप्रवाहवृत्तिम् । अहो महादश्चर्यम् । इयं हि पुरा स्वैरविहारेष्वपि रममाणा भग्नघरणेन
नकाकिनी पद्मेकमपि ददाति, जलक्रीडासु बालमृणादस्पर्शनापि संविष्यजीवितेव मूर्च्छति, कुसुमावधयेष्वशोकवत्कल्पि-

जैसे दुष्ट हथिनी लताओं से आच्छादित मध्यवाले स्थान का आश्रय करके शयन करती है । जैसे बिजली मेघ
प्रदेश का आश्रय करके निद्रा लेती है । जिस तरह सर्पिणी पर्वत-गुफा का आश्रय करके शयन करती है । जैसे
यमराज की दूती तीन लोक के मध्य का आश्रय करके शयन करती है । जैसे मकरी समुद्र के मध्य का आश्रय
करके शयन करती है और जैसे राक्षसी वन के मध्य का आश्रय करके शयन करती है । क्या करती हुई उसने
शयन किया ? मेरे शरीर को रोमाञ्चित करती हुई जो ऐसी मालूम पड़ती थी मानों—मेरे शरीर के छूने में
ग्लानि होने के कारण से ही उसने मेरे शरीर को पूर्णरूप से रोमाञ्चित किया था । अज्ञात दुराचारवाली
वह ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—दीर्घकाल तक किये हुए अपने पाप सम्बन्धी दुराचार को जीर्ण करने के
कारण ही वह बिना जाने हुए दुबिलास-सरीखी थी ।

हे भारिदत्त महाराज ! उक्त घटना के घटित होने से 'निदचय से मानसिक विचार व उसके अनुसार
शारीरिक चेष्टा (आकृति) को प्रकाशित करनेवाले पुरुष की कोई भी कार्य सिद्धि नहीं होती । अर्थात्—
मानसिक विचार व उसके अनुकूल शारीरिक चेष्टा को गुप्त रखनेवाले पुरुष को ही कार्य में सफलता प्राप्त
होती है' उक्त नीति को जानते हुए भी मेरा मन जरा भी प्रसन्न नहीं रहता । मेरे हृदय की शून्यता (जड़ता)
वैसी होती थी जैसी यह द्वारा गूहीत पुरुष की हृदय-शून्यता होती है । उस समय मेरा स्वास वैसा विस्तृत हो
रहा था जैसा महान् शोक से पीड़ित हुए पुरुष का स्वास विस्तृत होता है । मेरे शरीर के बाएँ व दाहिने
पादवर्ग भागों में परिवर्तन की अधिकता वैसी होती थी जैसे अग्नि में पड़ा हुआ पुरुष विशेष परिवर्तन करता
है । ज्वर से पीड़ित पुरुष-सा मेरा मुख-शोष होता था । आलस्य से नष्ट होनेवाले पुरुष-सरीखी मुझे बार-बार
जैमाई आती थी । मेरे यद्वा तद्वा अनर्थक वचन वैसे हो रहे थे जैसे मद्यपान करनेवाले के वचन यद्वा तद्वा
अनर्थक होते हैं । मेरी बुद्धि कहीं पर वैसी स्थान प्राप्त नहीं करती थी जैसे जिसके शरीर के पीछे व्याघ्र लगा
है, ऐसी हिरणी कहीं पर स्थान प्राप्त नहीं करती । मेरा मन भी वैसा आशा (धन व भोगादि की वाञ्छा)
को अन्धकार-युक्त (शून्य) करता था जैसे वर्षा-दिन अतिशयरूप से आशा (पूर्व-आदि दिशा) को अन्ध-
कारित (अन्धकार से व्याप्त) करता है और मेरा मन अपना क्षणमात्र उद्योत करता हुआ-सरीखा प्रतिभासित
हो रहा था तथा अश्रुजल से पूर्ण हो रहा था ।

प्रसङ्गानुवाद—हे राजन् ! मैं निम्न प्रकार भली-भाँति विचार करके 'अखिल-जनावसर' नाम के
सभा मण्डप में प्राप्त हुआ । 'अहो महान् आश्चर्य है, कि यह अमृतमति महादेवी निदचय से पूर्व में वन क्रीडा

तास्वपि शय्यासु शर्करिलवेशपतितेव न सुषायते, मणिकुट्टिमेष्वपि संचरन्ती कण्टकोत्कटकमेव स्खलति, केलिकलहेष्वपि विमुष्यमाना कृतपिशाचोपग्रवेव विलपति, कथं चेदानीं तु सकुटोच्छ्रुतिता घोटिकेव भूशायमानगमना तथाविधप्रहारसंसा-
तेऽप्ययमेव काचिद्घृतेव तिष्ठति, कृष्णसंस्तरेऽपि निवसन्ती न मनागपि दुःसायते, परुषमार्गप्रचारेष्वपि कक्षान्तरेषु प्रविष्टमाना रथारूढेव प्रयाति, वीरचर्यातिवर्तिन्यामप्यस्यां वेलायामवगणा न विभेति । कथं तु नाम महिलानां स्वप्नेऽपि सरलभावः संभाव्यते, यासामन्तरमनद्याप्तावगाह इव मनः कुटिलतासरित्प्रवाहः कुन्तलच्छलेन ललाटतटेषु, भ्रूष्यमाना श्रवणान्तरालेषु, विलोकनव्याजेन लोचनकुहरेषु, आलापमिथेन वदनकन्धरेषु, गतिविभ्रमेण चरणवत्संसु, बहिवर्शनपथमगात् ।

अतएव प्राङ्गुलि वाहिनीनामिव सीमन्तिनीनां प्रायेण भवन्ति मलीमसाः प्रवृत्तयः । तथाहि—नावेक्षितो ममात्मनश्च कुलस्य परिचायः, न गणितो मे भनामप्यत्ययसाधारणः प्रयायः, नासोपिवापि प्रणयकलहेष्वपि मया विहितपरमार्थमिमेन कृतान्यनुनयप्रसादनानि, न स्मृतमननुभूतपूर्वमिवाजन्मसंबन्धितं सहावसथसख्यम्, न चिन्तिता सकल

आदि ऐच्छिक विहारों में आमोद-प्रमोद प्राप्त करती हुई अकेली भ्रमन पैरवाली-सरीखी होकर एक पैर रखने योग्य स्थान प्राप्त नहीं करती थी ।

यह देवी जल क्रीड़ादि के अवसरों पर कोमल कमलिनी-कन्द के छू जाने से भी मरी हुई-सरीखी मूर्च्छित हो जाती थी । यह देवी पुष्पों के तोड़ने के अवसरों पर अशोक वृक्ष के पत्तों से रची हुई शय्याओं पर भी ककरीले प्रदेश पर गिरी हुई-सी होकर सुख नहीं मानती थी । यह देवी रत्न-खचित भूमियों पर संचार करती हुई कण्टकों से ताड़ित पैरवाली-सरीखी स्खलन करती हुई चलती थी । यह क्रीड़ा कलहों में भी तिरस्कृत होती हुई यह द्वारा ग्रहण की हुई सरीखी विलाप करती थी । वह इस समय घुड़साल से छूटे हुए बन्धनवाली घोड़ी-सरीखी अत्यन्त तेजी से गमन करनेवाली कैसे हो गई ? वैसे प्रहारों (दक्षिण हाथ द्वारा ताड़नों) के संपात होनेपर भी जो दूसरी कोई धारण की हुई-सरीखी स्थित हो रही है । जो घास के बिछौने पर निवास करती हुई जरा-सी भी दुःखी नहीं होती । जो कठिन मार्गपर गमन करने पर भी बड़े-बड़े प्रकोष्ठों (कोठों) में प्रवेश करती हुई रथ पर चढ़ी हुई-सी प्रयाण करती है । वीर पुरुषों द्वारा प्राप्त होने के अयोग्य इस गाढ़ रात्रि में अकेली होकर क्यों भयभीत नहीं होती ? स्थियों में स्वप्न में भी सरलता हो सकती है, यह कैसे विचार किया जा सकता है ? जिन स्थियों की मानसिक कुटिलतारूपी नदी का प्रवाह मन में न समाता हुआ ही मानों—निम्न प्रकार बाह्य प्रदेशों में दृष्टि गोचर हो रहा है । जैसे—जो कुटिलतारूपी नदी-प्रवाह केशों के बहाने से उनके मस्तक तटों पर दृष्टिगोचर हुआ । जो भृकुटियों के मिग से कानों के मध्य प्रदेशों पर बाहर दृष्टि पथ को प्राप्त हुआ । जो देखने के बहाने से नेत्र-छिद्रों में बाह्य दृष्टि पथ को प्राप्त हुआ । जो वचनों के बहाने से मुखरूप गुहा में बाहर दृष्टि गोचर हुआ एवं जो गमन के मिग से पादमार्गों में बाहर दृष्टि मार्ग को प्राप्त हुआ ।

अतः स्थियों की प्रवृत्तियाँ प्रायः करके वैसे मलिन (पाप-युक्त) होती हैं जैसे वर्षा ऋतु में नदियों की प्रवृत्तियाँ प्रायः करके मलिन होती हैं । उक्त बात का निरूपण—इस कुलटा अमृतमति महादेवी ने मेरे तथा अपने वंश को निन्दा नहीं देखी । इसने अपने में रहनेवाले मेरे असाधारण प्रणय (स्नेह) की ओर थोड़ा सा भी विचार नहीं किया । इसने प्रणय-कोषों के अवसर पर भी यथार्थ अपराध करनेवाले मुझ से किये गए अनुनय-प्रसादनों (मान को दूर करनेवाली प्रसन्नताओं) की ओर दृष्टिपात नहीं किया । इसने जन्म पर्यन्त वृद्धिगत हुई सहवास मैत्री का इसलिए चिन्तन नहीं किया—मानों—जिसे इसने पहिले कभी अनुभव ही नहीं किया है । इसने सर्वलोक से पूज्य अपने महादेवी पद का विचार नहीं किया । मुझ से होनेवाली पराभव-

जनमान्या स्वस्य पदवी, कथमिव न स्थिता मत्तः परिभवाङ्कुश, कथमिव न लज्जितं सपत्नीजनस्य, कथमिव न बीभत्सितमपशःपटहस्य, कथमिव च नावधारितमनन्यजनमुलभविभासानां संपादनम् । यद्यपि च 'स्त्रियः श्लेषु रम्यते वासहस्तिपकादिषु' इति 'अपात्रे रमते नारी' इति वचनमस्ति, तथापि वयोभोगव्याख्येयिता कलासु विधुसत्वं वा पुष्पाणां संगमयन्यसंस्तुता अपि चनिताः । न चास्पृतेष्वन्यतमोऽपि गुणः । तत्किं नु कल्पस्थाः कश्चरलोचनाङ्गेऽस्मिन् कुञ्जे प्रीतिकारणम् । आः, अज्ञासिधमज्ञासिधम् । एष हि किल नितर्गकलकण्ठतया शुष्कानपि तरुणं परलक्ष्यतीत्यनेकशः कथितं कुमारैः । गृणन्ति च कलासु गीतस्यैव परं महिमानमुपाख्यायाः । सुप्रयुक्तं हि गीतं स्वभावबुभंगमपि नरं करोति पुष्पतीनां नयनमनोविभ्रामस्थानम् । भवति कुरूपोऽपि गायनः कामदेवाद्यपि कामिनीनां प्रियदर्शनः । गानेन हि दुर्बला अपि दूषितः पाशेनाकृष्टा इव सुतरां संगच्छन्ते । कुशलैः कृतप्रयोगं हि गेयभणनीय भानग्रहणपरमेव कंचिवनम्यजनसाध्यमा-
धिमुत्पादयति मनस्थिनीनाम् । अत एवोचन्ति नीतिवेदिनः—तैरप्योऽपि पुंयोगः स्त्रियो दूषयति, किं पुनर्न मानुषः । न चंतासामकालतावितामिध प्रवृत्तावपेतास्ति । प्रत्युत केतव्य इवाशुचिष्वेव वस्तुषु प्रायेण बध्नन्ति प्रीतिम् ।

भीति इसके मन में क्यों स्थित नहीं हुई ? यह सौत-समूह से क्यों लज्जित नहीं हुई ? इसने अपनीतिरूप नगाड़े की ध्वनि से कैसे घृणा प्राप्त नहीं की ? इसने ऐसे भोगों की उत्पत्ति का, जो कि दूसरे लोगों के लिए दुर्लभ हैं, स्मरण क्यों नहीं किया ? यद्यपि 'स्त्रियां दुष्ट सेवक व महावत्-आदि में अनुरक्त होती हैं' 'स्त्री अयोग्य पुरुष से रमण करती है' ऐसी उक्ति है । तथापि युवावस्था, कर्पूर, कस्तूरी व चन्दनादि भोग, सुन्दर वस्त्र व आभरण-आदि तथा संगीत-आदि कलाओं में प्रसिद्धि, पुरुषों के ये गुण, उन्हें अपरिचित स्त्रियों से भी संगम करा देते हैं । परन्तु इस कुब्जक में तो उक्त गुणों में से एक भी गुण नहीं है तब मैं फिर सोचता हूँ कि इस अमृतमति देवी का इस कुत्सित नेत्र कमलवाले कुब्जक में प्रेम करने का क्या कारण है ? [उक्त बात को सोचकर] सन्ताप पूर्वक यशोधर महाराज कहते हैं—मैंने प्रेमका कारण जान लिया, जान लिया ।

यशोमति कुमार ने भुज से अनेक बार कहा है कि यह (अष्टवक्त्र) स्वभाव से ही मधुर स्वरशाली होने के कारण सूखे वृक्षों को भी पल्लवित—उल्लसित कर देता है । अर्थात्—नीरस पुरुषों को भी अनुरज्जित कर देता है । विद्वान् अध्यापक लोग बह्तर कलाओं में गान कला का उत्कृष्ट माहात्म्य कथन करते हैं । अच्छे प्रयोग में लाया हुआ गीत निश्चय से स्वभाव से कुरूप मनुष्य को भी युवती स्त्रियों के नेत्र व हृदय को सुख उत्पन्न करनेवाला स्थान कर देता है ।

गायक कुरूप होने पर भी कामिनियों के लिए कामदेव से बढ़कर प्रिय दर्शन-शाली होता है । गान-कला के प्रभाव से वे स्त्रियाँ, जिनका दर्शन भी दुर्लभ है, जाल से खींची हुई-सरीखी विशेषरूप से संगत हो जाती हैं । संगीतशास्त्र में प्रवीण गायकों से अच्छी तरह गाया हुआ गीत मानवती स्त्रियों के अभिमान रूपी पिशाच को दूर करके दूसरी ही कोई अपूर्व मानसी पीड़ा, जो दूसरे के द्वारा न होनेवाली अर्थात्—गीत के बिना ऐसी मानसी पीड़ा कोई उत्पन्न नहीं कर सकता, उत्पन्न कर देता है । अतः नीतिशास्त्र वेत्ता कहते हैं 'पशुसंघी पुरुषसंयोग स्त्रियों को दूषित कर देता है फिर मनुष्यसंघी पुरुषसंयोग क्या दूषित नहीं करेगा ? ये स्त्रियाँ प्रवृत्ति (संभोग) में वैसे सुन्दरवस्त्र व मनोज्ञ वस्त्राभरणादि की अपेक्षा नहीं करतीं जैसे असमय में चमकनेवाली विजली प्रवृत्ति (चमकने) में कोई अपेक्षा नहीं करती । विशेषरूप से स्त्रियाँ वैसी अशुचि (मलिन) वस्तुओं (पुरुषों) में ही प्रायः करके प्रेम करती हैं जैसे केतकी पुष्प अशुचि वस्तुओं (विष्ठा) में ही प्रीति रखता है । विद्वानों ने कहा है—'ये स्त्रियाँ पुरुष के सुन्दर रूप की प्रतीक्षा नहीं करतीं, इन्हें पुरुष की जबानी में भी संस्था (मन का टिकना) नहीं है । स्त्रियाँ 'यह पुरुष है' ऐसा मानकर उसे भोग लेती हैं चाहे वह रूपवान् हो अथवा कुरूप हो ॥ १ ॥

उवाहरन्ति च—

‘नेता रूपं प्रतीक्षन्ते नासां वर्धसि संस्थितिः । विलुपं रूपवत्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१॥’ इति

आः पाण्डुरपुष्टे, त्ववालम्बनकजीविते हि मयि दुष्कर्मवमाचरन्ती कथं द्विधा न विवीर्णासि । अहो पर्याप्तं विषयसुखतर्पणं । तविवानीं किमिमाः परित्यज्य परमाज्ञाफलोपचर्यमैश्वर्यमनुभवामि । तन्न । विना हि विलासिनोजने-
नारण्यमिवेदं राज्यम्, मृतकमण्डनमिवाभरणम्, पङ्क्तोपवेह इव विलेपनम्, सुप्तसंवाहनमिव शरीरसंस्कारः, प्रकरणमिव
धामरातपत्त्राङ्गधरः, कालहरणोपाय इव कलानामभ्यासः, तुण्डकण्डूविनयममिव काव्याध्ययनम्, ग्रहाभिनिवेश इव
मन्त्रचिन्तनम्, कारागारप्रवेशनमिव सभाप्रदानम्, वृथाजीवितपूत्कार इव गेयसमाचारः, संसारसुखोत्सारणपटहनाव इव
दुन्दुभीनां नावः, शैलकन्धरावकाशा इव भवनविनिवेशाः, पितृवनानोबोद्यानानि, जठरभूतिवेतनमिव प्रजापालनम्,
नगरनापितकर्मैव प्रकृतोत्तमनुनयकरणम्, शुष्कनदीतरणमिव वाङ्मुष्यप्रयोगः, अन्धकारनर्तनमिव धनसंग्रहप्रयासः, पुराकृत-

पीडापूर्वक यशोधर महाराज सोचते हैं—

हे कुलटे अथवा निर्भागिनी ! मेरे विषय में, जिसके तुम्हीं आधार व अद्वितीय जीवन हो, निस्सन्देह
ऐसा पापाचरण करती हुई तू कैसे दो टुकड़ों में प्राप्त नहीं हुई ? अहो—आश्चर्य है, विषयसुखों में तृष्णा
करना निरर्थक है । अतः अब क्या स्त्रियों को छोड़कर उम उत्कृष्ट ऐश्वर्य (राज्य लक्ष्मी) को भोगूँ, जो कि
आज्ञारूपी लाभ से पूज्य है । वह भी उचित नहीं है; क्योंकि स्त्रियों को छोड़कर यदि ऐश्वर्य भोगा जाय तो
स्त्रीजन के बिना राज्य वन-सरीखा निस्सार है । कामिनोजन के बिना सुवर्णमय आभूषणों का धारण मुँहको
अलंकृत करनेसरीखा निष्फल है और कपूर, कस्तूरी व चन्दनादि का लेप करना कीचड़ के विलेपन-सा है ।
स्त्रीजन के बिना शरीर-मण्डन करना सोते हुए के पैर-दावने-जैसा निष्फल है । स्त्रीजन के बिना चमर ठोरेने
का व छत्र-धारण का विस्तार प्रकरण-सा है । अर्थात्—धीश्रपाल-आदि के वर्धापन (वर्षगांठ का उत्सव)
सरीखा है । लेखन व पठनादि कलाओं का अभ्यास समय व्यतीत करने का उपाय-सा है । कामिनोजन के
बिना काव्यशास्त्र का अध्ययन (पठन) मुख की खुजली दूर करनेसरीखा है और पञ्चाङ्ग मन्त्र का विचार
भूतावेश-सा है । रमणीजन के बिना सभा का मण्डन करना जेलखाने में प्रविष्ट होने जैसा है और गानकला
की समीचीन प्रवृत्ति वृथाजीवन का पूत्कार-सा है । कामिनीजन के बिना दुन्दुभियों को ध्वनि संसार-सुख को
दूर करनेवाली पटह-ध्वनि-सौ है और नन्धावर्त व स्वस्तिकादि महलों में निवास करना पर्वत-गुफाओं में
निवास करने सरीखा है तथा प्रमद वन श्मशान-तुल्य है । स्त्रीजन के बिना प्रजा की रक्षा उदरपूर्ति के लिए
वेतन-सरीखा है और प्रकृतियों (अमात्य-आदि) का विनय करना नगर के नाई-कर्म-सा है । अर्थात्—जिस
प्रकार नाई सभी के कर्म करता है । स्त्रीजन के बिना सन्धि व विग्रह-आदि पान्द्रुष्य नीति का
प्रयोग सूखी नदी में तेरने के समान कष्टप्रद है । कामिनी जन के बिना धन संचय करने का कष्ट अन्धकार
में नाँवने सरीखा निरर्थक है और शरीर को पुष्ट करना पूर्वजन्म में किये हुए गाप कर्म के भोग निमित्त सरीखा
है । अहो आश्चर्य है कि ब्रह्मा की एक पदार्थ में विरुद्ध गुणों की रचना सम्बन्धी उत्कृष्ट निपुणता क्या है ?
अर्थात्—यदि ब्रह्मा से ऐसी उपयोगी स्त्री रची गई तो उसे गुणहीन क्यों बनाया ? क्योंकि वही पदार्थ विष
फल सरीखा पूर्वारम्भ में सुस्वादु और परिणाम में विरस होता है, यही ब्रह्मा की एक पदार्थ में विरुद्ध गुणों की
रचना है । समुद्र की तरङ्गों सरीखे प्राणियों का जो उत्पत्ति स्थान है वही विनाश का स्थान है । अर्थात्—
जैसे समुद्र तरङ्गों का उत्पत्ति स्थान व विनाश स्थान होता है वैसे स्त्री-आदि इन्द्रियों के भी भोग तत्काल
में सुखोत्पत्ति के स्थान और परिणाम में नोरस होने के कारण दुःखोत्पत्ति के स्थान हैं । इन्द्रजाल-सरीखे जिस

कर्मनुभवनार्थमिव च देहपोषणम् । अहो किमिव विधातुरेकत्र विद्वद्गुणनिर्माणे परमं नेपुणम् । यत्किपाकफलनिधा-
पातसमुद्रः परिणामविरसद्वच स एव भवति भावः, समुद्रकल्लोलानामिव यदेव जन्तुमासुत्पत्तिस्थानं तदेव भवति विलयस्थ
च, माहेन्द्रविज्ञान इव यत्रैवेवं मनो बाढमुत्कण्ठते तत्रैव भवति मुहुः शिथिलावरं च, पथिकसंगतमिव यदेवानन्दजननं तदेव
भवति हेतुर्महत्ः परित्यागः च, इरिद्राग्नाहुत्पातस्थानितं एव भवति एव सर्वशक्त्यामारम्भस्तत एव भवत्युपरमवच ।
संप्रति हि मे विधिततमःपटलावकाशमिव सप्रकाशं मानसम्, उल्लिखिततिमिरवोषमिव यथार्थवर्णनमनोषं चक्षुः । सौत-
स्तुतोऽयमन्यथा ममाद्य सुविवेकनिश्चयपरिविस्तप्रसरः । तथाहि—युवजनभृगाणां बन्धाग्रामाय इव वनितासु कुन्तलकलापः,
पुनर्ममहोदहारोहणोपाय इव भ्रूलतोल्लासः, संसार-सागरपरिभ्रमाय मौयुग्ममिव लोचनयुगलम्, दुःखाटपीविनिपातकरमिव
आधि माधुर्यम्, मृत्युगजप्रलोभनकवल इवायमघरपल्लवः, स्पर्शविषकन्दोद्भेद इव पयोधरविनिवेशः, यमपाशवेष्टनमिव
भुजलतालिलङ्घनम्, उत्पत्तिजरामरणवर्त्मं वलीनां प्रपम्, आलम्बनकुण्डमिव नाभिमण्डलम्, अखिलगुणविलोपननखरेखेव
रोमराजीविनिर्गमः, कालव्यालनिवासभूमिरिव मेखलस्थानम्, व्यसनागमनतोरणमिषोरुनिर्माणम्, १

गुणग्रामविलोपेषु साक्षाद्बुर्नोतयः स्त्रियः । स्वर्गापवर्गभार्गस्य निसर्गावर्गला इव ॥१५॥

स्थान में यह मन दृढ़ता से उत्कण्ठित होता है उसी स्थान (स्त्री-आदि विषय) में बार-बार उदासीन हो जाता है । पथिकों के संगम-सरीखा जो स्थान अथवा वस्तु आनन्द जनक होती है वही महान् परिताप का कारण होती है । हृदी के राग सरीखे हृदयवाले अस्थिर चित्त-युक्त राजा सरीखे जिससे समस्त कार्यों की उत्पत्ति होती है उसी से विनाश भी होता है । इस समय मेरा मन, जिसमें से अज्ञान-समूह का प्रवेश दूर किया गया है, उसके सरीखा प्रकाशमान हो रहा है । इस समय नष्ट तिमिर-आदि दोषवाली सी मेरी चक्षु यथार्थ वस्तु के देखने की बुद्धिवाली है । अन्यथा—यदि ऐसा नहीं है तो मेरा यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मानसिक व्यापार, जो कि विशिष्ट विवेक व निर्णय करने में तत्पर है, कहाँ से हुआ ? उसी अज्ञान के निराकरण का कथन करते हैं—

कमनीय कामिनियों के केशपाश युवकजनरूपी हरिणों के बाँधने के लिए जाल-सरीखा है । उनकी भृकुटिलताका विलास संसाररूपी वृक्ष पर चढ़ने का उपाय-सरीखा है । रमणियों का नेत्र युगल संसार समुद्र में पर्यटन करने के लिए नौका युगल के बन्ध-सा है एवं उनकी वचन-मधुरता दुःखरूपी अटवी में पातन कारक (गिरानेवाली) सी है ।

स्त्रियों का विम्बफल-सा ओष्ठपल्लव मृत्युरूपी हाथीके प्रलोभन के लिये ग्रास-सरीखा है । कामिनियोंके कुचकलशों का विनिवेश स्पर्शविष (जिसके छूने से विष चढ़ता है) वाले गोलाकार मूल की उत्पत्ति-जैसा है और उनकी भुजारूपी लतासे आलिङ्गन करना यमराज के जाल द्वारा अपने शरीर का वेष्टन सरीखा है एवं उनके उदर की त्रिवलियाँ (तीन रेखाएँ) जन्म, जरा व मरणके मार्ग जैसी हैं । कामिनियों का नाभि-मण्डल आलम्बन कुण्ड-सा है । अर्थात्—जिस कुण्ड में ब्राह्मणों द्वारा पयु होमे जाते हैं—भारण कुण्ड सा है एवं उनकी रोमराजि का बाहिर निकलना समस्त गुणों (कवित्व शक्ति व वक्तृत्वकला-आदि) के दूर करने में नखरेखा-जैसा है । स्त्रियों का मेखला स्थान (गुह्य) यमराजरूपी कालें साँप की निवास-भूमि-सरीखा है और उनके ऊरुओं की रचना दुःखरूपी राजाके प्रवेश करने के तोरण-सरीखी है ।

गुणरूपी नगर को उजाड़ करने में, स्त्रियाँ प्रत्यक्ष से अन्याय-सरीखी हैं । अर्थात्—जैसे अन्याय से ग्राम उजाड़ हो जाते हैं वैसे ही स्त्रियों से गुण नष्ट हो जाते हैं और स्वर्ग व मोक्षमार्ग की स्वभाव से अर्गला (वेड़ा) सरीखी हैं ॥ १५ ॥ अमृतप्राय नेत्रोंवाली स्त्रियाँ परिपाक (कर्मोदय) में विष के समान कौन-कौन

विषयत् परिपाकेषु का विपत्ति न कुर्वते । जनयन्ति न का प्रीतिमापाते मयुरेक्षणाः ॥१६॥
 नार्पयन्ति मनः सद्गते कुर्वन्ति विरहे भयम् । अपूर्वैव स्थितिः काचित्सललानामिव योषिताम् ॥१७॥
 द्वेषं गच्छन्त्युपेक्षायां प्रीतो प्रीति न तन्वते । रोषे तोषे च नारीणां सुखमस्ति न कामिषु ॥१८॥
 प्रियोपचारसंचारे कुले रूपे वयस्यपि । अन्येष्वपि गुणेष्वसामपेक्षास्ति न मृत्युवत् ॥१९॥
 भ्रूणनुर्ध्वयो बाणास्त्रिशूलं च वलित्रयम् । हृदयं कर्तरी यासां ताः कस्य नु न चण्डिकाः ॥२०॥
 स्त्रीषु साक्षाद्विषं दृष्टी न सर्पेष्विति मे मनः । तद्दृष्ट एव लोको हि वृक्षसे भस्मतां गतः ॥२१॥
 एतदेव दृष्टं तस्मात् कार्यं स्त्रीषु हितेषिभिः । आहारवत्प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिरथवापरा ॥२२॥

किं च । अपि त्यजत्येवोपायपटुभिरनुप्रविश्यमानः सप्ताभिरप्यात्मनः स्वभावम्, अपि भवति विवितवेदितव्य-
 रपयुज्यमानं विषमप्यमृतम्, अपि जायते महासाहसं संशयतामानेतुं कंकसीनामपि कुलम्, अपि भवन्त्युपप्रलोभनप्रकीर्णरूप-
 चर्यमाणः क्रूरजन्तवोऽप्यनुलोमचरिताः, सुलभारच जल शिलानामपि भृशकरणे सन्ति विषयः, न पुनः स्त्रीणाम् । इमा

सी कान्ति उत्पन्न नहीं करती ? जीव अनुरक्त का (४) में हीन से स्नेह को उत्पन्न नहीं करती ? ॥ १६ ॥ स्त्रियाँ
 संयोग के अवसर पर अपना चित्त अर्पण नहीं करती, अर्थात्—मानसिक अभिप्राय प्रकट नहीं करती और त्रियोग
 में भय उत्पन्न करती हैं, इसलिए स्त्रियों की स्थिति (स्वभाव) दुष्टों-सरीखी कहने को अशक्य और अपूर्व
 (अभिनव) ही होती है । अर्थात्—जैसे दुष्टोंका संगम करने पर वे लोग मानसिक अभिप्राय प्रकट नहीं करते
 और दूर किये हुए भय उत्पन्न करते हैं ॥ १७ ॥ स्त्रियाँ निरादर करनेसे द्वेष करने लगती हैं और प्रेम करनेसे
 प्रेम नहीं करती, अतः स्त्रियों के कुपित व सन्तुष्ट होने पर उनसे कामी पुरुषोंको सुख प्राप्त नहीं होता^३
 ॥ १८ ॥ स्त्रियों को उपकार करना, उच्चकुल, सुन्दर रूप तथा जवान्ती एवं दूसरे गुणों की अभिलाषा वैसी
 नहीं होती, अर्थात्—उक्त गुणोंके कारण वे अनुरक्त नहीं होतीं, जैसे यमराज को उक्त अनुग्रह, उच्चकुल
 आदि गुणों की अपेक्षा नहीं होती । अर्थात्—उक्त गुणों के कारण वह किसी से अनुरक्त होकर उसे अपने
 मुख का ग्रास बनाना नहीं छोड़ता^४ ॥ १९ ॥ जिन स्त्रियों की भृकुटि धनुष है, तिरछी चितवन बाण हैं व उदर
 की त्रिवली त्रिशूल हैं एवं हृदय कैंची है, वे स्त्रियाँ चण्डिका देवी क्यों नहीं हैं ? ॥ २० ॥ मुझे ऐसा प्रतीत होता
 है—मानों—स्त्रियों की दृष्टि में साक्षात् विष होता है और सर्पों की दृष्टि में विष नहीं होता । क्योंकि उन
 स्त्रियों से दृष्टिगोचर हुआ मनुष्य तो भस्म होता हुआ देखा जाता है परन्तु सर्पों से दृष्टिगोचर हुआ पुरुष भस्म
 होता हुआ नहीं देखा जाता^५ ॥ २१ ॥ अतः सुखाभिलाषी पुरुष को स्त्रियों के विषय में यही निम्न प्रकार
 दो कर्तव्य करने चाहिए । या तो उनमें आहार की तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए अथवा उनसे नोहार-सी
 निवृत्ति (त्याग) करनी चाहिए^६ ॥२२॥

संभावना है कि उपाय-चतुर पुरुषों द्वारा मन्त्रित की जानेवाली अग्नि अपनी उष्णत्व प्रकृति को छोड़
 देती है परन्तु स्त्रियाँ अपनी प्रकृति नहीं छोड़ती । मान्त्रिक व तान्त्रिक पुरुषों द्वारा उपयोग किया
 जानेवाला विष भी अमृत हो जाता है । इसीप्रकार संभावना है कि अद्भुत कार्य करनेवाले पुरुषों
 से राक्षसी-समूह वशमें लाने के लिए शक्य है परन्तु छोटी स्त्रियाँ वश में नहीं लाई जा सकतीं ।
 लोभ दिखाने में प्रवीण पुरुषों से आराधन किये जानेवाले सिंह-व्याघ्रादि क्रूरजन्तु अनुकूल हो जाते हैं
 परन्तु स्त्रियाँ अनुकूल नहीं होतीं । सम्भावना है कि पाषाणों को मृदु—कीमल बनाने के उपाय हैं,
 परन्तु कठोर हृदयवाली स्त्रियों को मृदु हृदयवाली करने के उपाय नहीं हैं । ये कामिनियाँ निरन्तर शिक्षित

१. आक्षेपोपमालंकारः । २. उपमालंकारः । ३. जायलंकारः ।

४. समुच्चयोपमालंकारः । ५. उपमाक्षेपालंकारः । ६. उत्प्रेक्षानुमानालंकारः । ७. उपमालंकारः ।

ह्यनिशमनुनीयमाना गृहमकंदमिव विडम्बयन्ति पुरुषम्, उपचारं गृह्णाणा दानबुभंराः स मेघ इत्यादिभिपत्ति, अपेक्षमाणाः पशुमिव मन्थन्ते, हठाबुपभुज्यमाना श्मशानकुटमिव परिहरन्ति, सेषमनुपुज्यमाना भुगङ्ग इव वदन्ति, गुणवद्बुधो मिथ्याविबोद्धिजन्तः, शूचिक्रियेषु मृत्पिण्ड इवाभिनिविशन्ते । अनुरज्यन्त्य एव भवन्ति कारणमनयपरम्परायाः, हसन्त्य एव शल्ययन्त्यङ्गानि, पश्यन्त्य एव बहन्ति वेहन्, आलपन्त्य एव स्वलन्ति मनसः स्वयम्, आसजन्त्य एव कुर्वन्ति तृणादपि लघुतरं मनुष्यम्, आरक्ष्यमाणाः स्वच्छलेनैवारभन्ते दुष्कर्माणि । न चासामस्ति रक्षणोपायः । तथाहि—अनुभवः कृत-रक्षाशाल्याप्यहल्या किलाखण्डलेन सह संविषेक, हरदेहार्धाधितापि गिरिमुक्ता गजासुरेण, यमजठरालयापि छाया पावकेन,

की जानेवाली मनुष्य को वैसे विडम्बित (बलेशित) करती हैं जैसे गृह का नन्दन लंघयित किया जाता है । ये स्त्रियाँ पूजा (सम्मान) आदि द्वारा स्वीकार की जानेवाली परन्तु दान द्वारा भरण-पोषण के लिये अशक्य हुई पुरुष को बकरा मानकर उसका तिरस्कार करती हैं । ये स्त्रियाँ चाहें हुई पुरुष को पशु-सरीखा मानती हैं और जब ये बलात्कारपूर्वक भोगी जाती हैं तब पुरुष को वैसे छोड़ देती हैं जैसे श्मशान-घट अपवित्र जानकर छोड़ दिया जाता है एवं ये स्त्रियाँ क्रोधपूर्वक पूँछी जानेवाली सर्पिणी-सरीखा पुरुषको काट लेती हैं । ये स्त्रियाँ गुणवान् पुरुषों से वैसे भयभीत होती हैं जैसे लोग कटुक होने से नीम वृक्ष से भयभीत होते हैं । ये पवित्र आचारवान् पुरुषोंमें अपवित्र मिट्टी के बेल-सरीखा अभिप्राय रखती हैं । ये स्त्रियाँ स्नेह प्रकट करती हुई ही अनर्थपरम्परा की कारण होती हैं एवं हँसती हुई ही पुरुष के शरीरों की शल्य-सरीखों बलेशित करती हैं । ये देखती हुई ही पुरुष-शरीर को भस्म कर डालती हैं और भाषण करती हुई ही नित की स्थिरता नष्ट कर देती हैं । रतिविलास करती हुई ही मनुष्य को तृण से भी नीचा कर देती हैं और अनेक प्रकार से पालन-पोषण की जानेवाली अपने कपट से दुष्कर्म (आर-गमन-आदि कुकृत्य) आरम्भ करती हैं, इनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है । उक्त बात को दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन करते हैं—

लोक-प्रसिद्ध वैदिक वचन है कि अहल्या (गौतम-भार्या) ने, जिसकी रक्षा-शल्य (रक्षा के लिए कौटों की बाड़) की गई है, इन्द्र के साथ रतिविलास किया ।^१

शिवजी के शरीर के अर्ध भागपर स्थित हुई पार्वतीने गजासुरके साथ भोग विलास किया ।^२ इसी प्रकार यम के पेट में स्थित हुई भी 'छाया' नाम की कन्या ने पावक के साथ रतिविलास किया^३ और एक

१. अहल्या (गौतम पत्नी) की कथा—

गौतम व कौशिक साथ-साथ विशेष तपश्चर्या कर रहे थे । ब्रह्माजी उन दोनोंकी तपश्चर्या के प्रभाव से प्रसन्न हुए, इसलिए उन्होंने मन से अहल्या को उत्पन्न किया और उन दोनों में से किसी एक को इन्द्रपद देने की इच्छा की । कौशिक ने 'ऐश्वर्य होनेपर समस्त वैभव प्राप्त होते हैं' ऐसा विचारकर इन्द्रपद ग्रहण किया और अहल्या के साथ रमण किया । गौतम ने उसे शाप दिया, जिससे उसका शरीर भर्गो (भोजियों) से आच्छादित हुआ ।

२. पार्वती की कथा—हिमालय पर्वतराज को पुत्री गौरी ने हाथों का रूप धारण करनेवाले शिवजी को हृषिकी बनाया फिर स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली उसने गजासुर के साथ भोग-विलास किया । उस दोष से उसे शिवजी ने मार दिया ।

३. छाया की कथा—यत्सगोत्र में जन्मधारण करनेवाले आकम्पनि ने शीर्थयात्रा करने के इच्छुक होते हुए 'यह यम वर्मराज है' ऐसा सोचकर अपनी युवती छाया नाम की कन्या को उसके लिए रक्षणार्थ समर्पण कर दिया । यम ने भी उसे अपने पेट में स्थापित कर लिया । एक समय जब यम उस छाया नामकी कन्या को सरकण्डों के वन में स्थापित कर मानसरोवर में स्नान करने के लिए गया तब उस छाया ने पावक के साथ भोग-विलास किया ।

एकवसनर्वेदेकवधूर्मूलवेद्येन, एवमन्याश्चोपाध्यायिकाप्रभृतयो मित्रपतिसमक्षमुपपतिभिः सहारेभिरे महासाहसानि । अति-
सूक्ष्मसंगंश्चायं मार्गो यथा न देवोऽपि प्रहीतुं शक्नोति सहिलानां हृदयम् । कथमन्यथेमे पुरातन्यौ धृतेः—

पौंचलपाञ्चलचित्तत्वाग्नेःस्नेहान्न स्वभावतः । रक्षिता यस्ततोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥२३॥

यदयं च महो त्यक्ता जीवितार्थं च हारितम् । सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां बल्लभो नरः ॥२४॥

अहो, क्वथं नु क्षलु चित्तस्य वचनगोचरतिचारिणो पुरस्तात् संव्याचनस्येव रागकलुषता, क्व चैवानो
भारजलघीतस्य वसमस्येव निर्मलभावः, क्व तादृशं पाशपतितस्य पक्षिण इव चक्षुषश्चापलम्, क्व चेदानीं कुलिशकोलि-
तस्येव निश्चलभावः । हतविधे, किमपरः कोऽपि न तवास्ति बधोपायो येनैवमुपप्रलम्ब्य प्राणिनः संहरति । कथं हि

शाट नाम के वणिक की पत्नी ने मूलदेव के साथ काम सेवन किया ।^१ इसी प्रकार दूसरी भी 'उपाध्यायिका'
आदि स्त्रियों ने अपने पति के समक्ष जारों के साथ रतिविलास किया । स्त्रियों के हृदय को देवता भी
नहीं जान सकता, अतः वह अतिसूक्ष्म सृष्टिवाला है । अन्यथा ये पुरानी बातें कैसे मूनी जाती हैं ।

व्याभिचारिणी होने से व चञ्चल चित्तवाली होने से तथा स्वाभाविक स्नेह-हीन होने के कारण स्त्रियाँ
सावधानता पूर्वक रक्षा की हुई भी इस संसार में अपने पतियों के साथ विकृत होती हैं, अर्थात्—उन्हें
धोखा देती हैं* ॥२३॥ जिसकी रक्षा के लिए मैंने राज्य छोड़ा और जिसकी रक्षा मैंने (छुकार नगर के
राजकुमार ने) आधी आयु दी वह मेरी पत्नी स्नेह-रून्य होकर देवकेशी के साथ जाकर मुझे छोड़ रही है, अतः
संसार में कौन पुरुष स्त्रियों का प्रेमपात्र हुआ है ? ॥२४॥

१. एकशाटवाणिक-पत्नी की कथा—'एकशाट' नामके महाजन ने, जो कि सर्वत्र अविदवासी था, अपनी स्त्री की
रक्षा के लिए अपने को पत्नी के साथ एक साड़ी में ढक लिया । षष्ठिमूलदेव उस बात को सुनकर आया और वहाँपर
हार्षों के कड़े पहिने के बहाने से जब संकेत किये हुए मेघों से पानी बरस रहा था तब अर्धरात्रि में उसने उसकी
पत्नी को, जो सात तल्लेवाले महल के अग्रभागपर सो रही थी, अपहरणकर लिया ।

* जात्यलंकारः ।

२. उक्त श्लोक की कथा—पटना नगर की राजकुमारी समस्त शास्त्रों में प्रवीण थी, उसने यह प्रतिज्ञा की कि
जो मुझे संगीत-आदि कलाओं में जीत लेगा उसी की मैं पत्नी होऊँगी । उक्त बात को सुनकर छुकार नामक नगर के
राजकुमार ने वहाँ आकर उसे कलाओं में जीतकर उसके साथ विवाह किया । एक समय उस कन्या के पिता को महान्
असाध्य बीमारी हुई । वहाँ पर किसी कुलाचार्य ने ऐसा उपदेश दिया 'यदि इसकी राजकुमारी को देवी को बलि दी
जायगी तब यह जीवित रह सकता है, अन्यथा नहीं । उक्त बात को सुनकर जमाई राजकुमार राज्य को छोड़कर स्त्री
को लेकर महान् जटवी में प्रविष्ट हुआ । वहाँ पर दुष्ट साँप ने उस राजकुमारी को काट खाया । अपनी पत्नी के मोह
से राजकुमार के हृदय में साहस पूर्वक अग्नि में प्रवेश करने का अभिप्राय हुआ । उस समय वन देवता ने इसके
ऊपर दया करते हुए कहा—यदि आप अपनी आधी आयु दोगे तो तुम्हारी पत्नी जीवित हो सकती है । प्रस्तुत
राजकुमार ने अपनी पत्नी की रक्षा के लिए वैसा ही किया । अर्थात्—अपनी आधी आयु दे दी, जिसने उसकी प्रिया
जीवित हो गई । वह अपनी प्रिया के साथ एक नगर में प्रवेश करता हुआ व्याऊ के पास सो गया । उसी अवसर पर
स्वेच्छाचार से आया हुआ उस नगर का निवासी देवकेशी उसे जगा कर ले गया । फिर सोकर उठे हुए उसके पति ने
देवकेशी के साथ उसी नगर में प्रवेश करती हुई उसे देखा और पकड़ लिया । कहाँ जा रही है ? ऐसा विवाद होने पर
उसकी पत्नी ने कहा—यह देवकेशी मेरा पति है । पुनः राजपुत्र ने कहा—यदि तेरा यह निश्चय है तो वन देवता के

त्वमेवमसि मध्यस्थो यदेवमसृजो वस्तुनि वेहिनः स्नेहयसि । सुधा च तवैवमतिवारुणकर्मणो धमं इति प्रसिद्धिः । अज्ञो, कथमिव लोकस्माद्द्वार्यगुणरमणीयताश्रुति अपुत्रि शूनः स्वतास्तुक्षतलोहितपरिष्कृते शृङ्गे कौकस इव तर्पः । अताम्बूलमुखं हृद्यपानत्करनिकेतनमिव करोति महोद्बेगं चित्तस्य । अनुपनीतं हि चक्षुः स्फुटितपिण्डगण्डमिव सहर्ती करोति विचिकित्सामन्तःकरणस्य । अवहितसंस्कारं हि शिरः क्षणादेव भवति योगमुन्निवारणादपि कण्ठतरम् । मनागेवोपेक्षितसृष्टिः शरीरयष्टिश्चर्मकृद्भृतिरिव विवधाति पित्रेयनासमासध्वरम् । अरे, हतघ्न चित्त, कथमिव त्वमत्र प्राप्तसंसारफलमिवाभिनिविशसे । प्रसरमलभमानं प्राणव्ययैरपि संगन्तुमिच्छसि, विद्युत्प्रमानं परिमुषितसर्वस्वमिव ताम्बसि, अनुष्वधमानं ग्रहगुहीतमिवात्मानं विषमसि । अहो, किमिवमस्थ जगतो महान्ध्रं यवनिधामस्यान्तःसारतामवबुद्धधमगमपि भण्डरिव

आश्चर्य है मैं सोचता हूँ कि कहीं यह पूर्व में होनेवाली कहने के लिए अशक्य मेरे मन की सन्ध्या-कालीन मेघ-सरीखी रामकलुषता और कहीं इस समय होनेवाली चित्त की वैसी निर्मलता जैसे श्वेत द्रव्य के जल से प्रक्षालित हुआ वस्त्र निर्मल (शुभ्र) होता है । कहीं पूर्व में होनेवाली जाल में पड़े हुए पक्षी-सरीखी मेरी नेत्र-चपलता और कहीं इस अवसर पर होनेवाली वज्र द्वारा कीलित हुई-सी मेरी चक्षु-निश्चलता । हे पापिष्ठ विधे ! क्या तुझे दूसरा कोई भी घात करने का उगाय नहीं था, जिससे तुम अमृतमति देवी को इस प्रकार का लोभ दिखाकर वशीभूत करके मुझ-सरीखे प्राणियों का घात करते हो । निस्सन्देह आप कैसे मध्यस्थ हो ? जिससे ऐसे अतुल्य पदार्थ में प्राणियों को स्नेह युक्त करते हो । ऐसा होनेपर विशेषरूप से हिंसा करनेवाले आपकी 'धर्म' ऐसी ख्याति झूठी है । आश्चर्य है किस प्रकार से विवेक-हीन लोक की सुगन्धित वस्त्रादि के संयोग से मनोज्ञता को पुष्ट करनेवाले शरीर में वैसी तृष्णा कैसे हो रही है ? जैसे कुत्ते को अपनी तालु में हुए व्रण से उत्पन्न हुए रक्त से आर्द्र (गीली) हुई नीरस हड्डों में तृष्णा होती है । जैसे चमड़ा बेचनेवाले (चमार) का गृह चित्त को दुःखित करता है वैसे ही ताम्बूल से रहित हुआ मुख महान् दुःख उत्पन्न करता है । जैसे शरीर का व्रणस्फोट (पका हुआ फोड़ा) विशेष घृणा उत्पन्न करता है वैसे ही संस्कार (प्रक्षालन-क्रिया) हीन नेत्र चित्त में विशेष घृणा उत्पन्न करता है एवं निर्वचय से संस्कार-हीन (तैलमर्दन-आदि क्रिया से हीन) हुआ मस्तक तत्काल ही डूस-मच्छड़ को निवारण करनेवाले पंखा से भी निन्दित प्रतीत होता है । यह शरीर-यष्टि थोड़ी-सी ही संस्कारों (स्नान-आदि क्रिया) से उपेक्षित हुई (हीन हुई) वैसी निकटवर्ती पुरुष को नाक बन्द करनेवाली कर देती है जैसे चमार की चमड़े की मशक निकटवर्ती पुरुष की नाक बन्द करने-वाली कर देती है ।

अरे दुरात्मन् नष्ट आचरण-शील मन ! तू इस स्वीजन में, प्राप्त हुए संसार फल-सरीखा क्यों अभि-प्राय करता है ? रे मन ! तू अप्राप्त इष्ट वस्तु के संयोग को महान् कष्ट उठा करके भी प्राप्त करने की चेष्टा करता है । अरे चित्त ! स्त्रियों से वियोग-प्राप्त किये जा रहे तुम उनकी प्राप्ति की वैसी आकाङ्क्षा करते हो जैसे नष्ट हुए समस्त धन की पुनः प्राप्त करने की आकाङ्क्षा की जाती है । अरे चित्त ! तुम स्वीजन का संयोग प्राप्त करते हुए अपने को पिशाच से पकड़े हुए-सरीखे पीडित करते हो । आश्चर्य है कि इस लोक का यह अज्ञान क्या है ? जिससे यह लोक इस शरीर व स्वीजन के आभ्यन्तर स्वरूप को निरन्तर जानता हुआ भी उनकी प्राप्ति के लिए वैसा [वञ्चनार्थ] प्रयत्नशाल किया जाता है जैसे विदूषकों द्वारा राजाओं या नाटक-दर्शकों का

समक्ष जो जो वस्तु तूने मेरी ली है, वह मेरे लिए दे जा । उसने कहा—दे दो । ऐसा कहते ही वह तत्काल काल-कवलित हो गई । बाद में विद्वानों ने उस राजकुमार से पूछा—यह कैसी घटना है ? तब उसने प्रस्तुत श्लोक पढ़ा । अर्थात्—मैंने इसके लिए राज्यादि छोड़ा—तथापि कठोर हृदयवाली यह मुझे छोड़कर देवकेशी के साथ जा रही है ।

काह्यते । न वेत्ति बहिष्कायाप्रतारितमुदुम्बरफलस्येवास्य कलेवरस्यान्तर्भीमसताम् । न चेत्तदवद्या शोच्यं, किं नु सत्त्वर्थ-
वराकः करोतु जन्तुः । कर्मव तावत्प्रथममनुकूलं न भवति जीवलोक्तस्य । यतः क्व निसर्गतः पर्वदिवसानोव पुराकृतपुष्पलव-
विपाकदुर्लभाणि प्राणिषु स्त्रीविलसितानि, क्व च तदुच्छेदनकरागमः कृतान्तपञ्चकुलसमः स्वच्छन्दवृत्तैर्गुणविद्वेषणस्याधर्म-
स्तेरज्ञावतिमिरस्यैश्वर्यमहाप्रहस्य च समवायः । यथाजनाभिप्रायमुपवर्शितविधयस्ते च ते जागमाः प्रमाणम् । उपतप्त-
देवपिप्रतिधिचेतसि हि पुंसि किमप्यशुभं कर्म न भवति दोषायेति, तैस्तैर्निर्वर्शनेरभ्युपगमयितारः प्रायेण समीपवर्तितः
पुरुषाः । यौवनाविर्भावः पुनः कादम्बरीयोग इव परं मुमुक्षूणामपि नाविकार्यं मनांसि विश्वाभ्यर्षति ।

श्रीमदः सर्वेन्द्रियाणां अनुष्ठान्धत्वमिवाप्रतीकारसुपघातकरणम् । अनङ्गसिद्धान्तः खलोपदेश इवानर्थभुजङ्ग-
धानामुत्तरपनवण्डः । कवयः पुनः पिशाचा इव विषयेषु विभ्रमयन्ति निसर्गादिजिह्वाभ्यपि चित्तानि । डिण्डिमध्वनिरिव
व्यसनव्यालप्रबोधनकरः कलातामस्यासः । नियोगलाभ इयापातसुन्दरः प्रसङ्गोन्मादयति सुखिबुधोऽपि पुरुषान् । प्रणमिजन-
विलसो हृदयमुपनिषत्य वर्णयति च । याचितकमण्डनमिव छन्दानुवर्ती परिजतः । तदेतेष्वेकमप्यलमुपहन्तुं प्राणिनः,
किं पुनरभीषां न समवायः । तद्वहमेवमनुसंभावयेयम्, स्वयमुचितं कर्मानुष्ठानमुपशर्तः स्वव्यसनतर्पणाय कामचारक्रियासु
प्रवर्यन्ते विवेकविकलाः । न खलु आत्मपेक्षया पापमपापं धर्मो वा भवत्यधर्मः । स्यादपि यदि कर्मविपाकस्तथैव दृश्येत, न

समूह हँसी भँजाक के लिए प्रयत्नशील किया जाता है । यह लोक इस शरीर के बाहिरी वर्णन से धोखा खाया
हुआ उदुम्बर फल-सरीखे इस शरीर की भीतरी ग्लानि नहीं जानता । अथवा इस विषय में शोक नहीं करना
चाहिए । निस्सन्देह यह विचार प्राणी क्या करे ? अनुक्रम से पूर्व में इस प्राणी-समूह का पूर्वजन्म में किया
हुआ कर्म अनुकूल (सुखजनक) नहीं होता, क्योंकि कहाँ तो प्राणियों में वर्तमान स्थियों के विलसित (प्रेमो-
द्योतक हाव-भाव-आदि), जो कि स्वभाव से दीपोत्सव-आदि पर्व दिनों-सरीखे प्रमुदित करनेवाले हैं और जो
पूर्वोर्जाजित पुण्य-लेश के उदय से दुर्लभ हैं, और कहाँ वह पुण्य का नाश करनेवाला मिथ्याशास्त्र, जो कि
सिद्धान्त में कहे हुए पञ्चकुल बड़ई व लुहार-आदि-सरीखा आचार-विचार को तण्ट करता है । जो (मिथ्या-
शास्त्र), स्वच्छन्दवृत्ति, गुण-विद्वेषण, अधर्मरुचि, अज्ञानरूप अन्धकार तथा ऐश्वर्य महायह उक्त पाँचों का
समुदाय है । प्रस्तुत मिथ्या शास्त्र लोक के मानसिक अभिप्रायानुसार कर्तव्य प्रकट करने वाले हैं । अर्थात्—
जैसे जन साधारण चाहता है वैसे ही शास्त्र मिथ्या दृष्टि पढ़ते हैं । वे आगम जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्त (वेद व
स्मृतियाँ) प्रमाण माने जाते हैं ।

प्रायः करके समीपवर्ती पुरुष, 'देवता, पिता व अतिथियों को चित्त से तृप्त करनेवाले पुरुष से किया
हुआ कोई भी अशुभ (पाप) कर्म निश्चय से दोषजनक नहीं होता' ऐसे छोटे दृष्टान्तों द्वारा अशुभ कर्म कराने-
वाले होते हैं । जवानी की उत्पत्ति मदिरापान-सरीखी निश्चयसे मोक्षाभिलाषी पुरुषोंके चित्तों को भी बिना
विकार प्राप्त किये विश्राम नहीं लेती । लक्ष्मी का मद पाँचों इन्द्रियों के विनाश का कारण है, जो जन्मान्ध-
सरीखा चिकित्सा के अयोग्य है । कामशास्त्र दुष्टोपदेश-सरीखा धन, धान्य व जीवन का क्षयरूपी सर्पों को
जगानेवाली यष्टि है । फिर कवि लोग व्यन्तरो-सरीखे स्वभावसे सरल चित्तों को भी इन्द्रियों के विषयों में
भ्रान्ति उत्पन्न कराते हैं । संगीत-आदि कलाओं का अभ्यास डमरू की ध्वनि-सरीखा दुःखरूपी कालसर्प को
जगानेवाला है । सचिव आदि उत्तम पदों की प्राप्ति-सरीखा स्त्रीजनों का भोग प्रथमारम्भ में मनोहर प्रतीत
होता हुआ हठात्कार से विशिष्ट विद्वान् पुरुषों को भी उन्मत्त बना देता है । यह केवल उन्मत्त ही नहीं करता
अपितु चित्त में प्राप्त हुआ दर्प कराता है । इच्छानुसारी परिवार याचना की द्विई वस्तु को सुसज्जित करने-
सरीखा केवल शोभा के लिए है । अतः इनमें से एक भी पदार्थ जब प्राणियों का विशेष रूप से पतन करने में

चैवम् । तथाहि—वाच्यमानं पुस्तकमिव प्रतिक्षणमवहोयते सकलजनसाधारणानामोद्देशाणामप्यायंवि । मुनिगिरिसिद्धेषु वृद्धिरिव न चिरस्थायिनी भवति देहकान्तिः । स्त्रीमनसोऽप्यस्थिरतरमिव मौनमाजवंजवीभाजोपभोते चित्तिपाते च पतति । न भवत्यस्य इव महानगोचरः । कीनाशस्तु यः परं धोभत्सुमपि शरीरिणमतिस्पृहयालुतया गिलति, स कथं स्वभावमुभयं परिहरेत् । लब्धेव मे वृत्तिचक्रेवो मा भ्रूयति स यदि क्वाचित्कानिचिद्दिनानि वृत्तान्तर इवास्ते, तदावश्यं विषयविजय-प्रासादविनिर्माणाविव भवितव्यं गिरसि पलितवल्लरीपताकारोद्गतेन, हितोपदेशनिधेयपरिपाकाविव वादभुक्तम्पितस्यमुत्त-

समर्थ है तब इन सब का समुदाय क्या प्राणियों का अनर्थ नहीं करेगा ? इससे मैं (यशोधर) निम्न प्रकार विचार करता हूँ ।

स्वयं पुण्य कर्म करनेमें असमर्थ पुरुषोंसे अपने व्यसन-गोषण के लिए अज्ञानी पुरुष स्वेच्छारों में प्रवृत्त किये जाते हैं । निस्सन्देह जाति (ब्राह्मणत्वादि) की अपेक्षा से पाप, पुण्य नहीं होता और धर्म अधर्म नहीं होता । हो सकता है यदि कर्म का उदय विपरीत रूप से देखा जावे । अर्थात्—अधर्म से सुख और धर्म से दुःख होता हुआ देखा जाय तब कहीं अधर्म, धर्म हो सकता है किन्तु वैसा नहीं देखा जाता, किन्तु पाप से दुःख और पुण्य से सुख होता हुआ देखा जाता है ।

अब उसी का निरूपण करते हैं—समस्त लोक-सरीखे धनाढ्यों या राजाओं की भी आयु पढ़ी जाने-वाली पुस्तक-सी क्षण-क्षण में क्षीण हो रही है । जैसे मुनियों की केश-वृद्धि चिरस्थायिनी नहीं होती वैसे शरीर-कान्ति भी चिरस्थायिनी नहीं होती । यह जबानी स्त्री-चित्त से भी विशेष चञ्चल है । यह प्राणी संसार स्वभाव से आए हुए मरण के अवसर पर भरता ही है । महापुरुष भी साधारण लोक-सरीखा मृत्यु का विषय होता है । निस्सन्देह जो यमराज कुरूप प्राणी को भी विशेष चाहनेवाला होने से खा लेता है वह स्वभाव से सुन्दर राजा को कैसे छोड़ेगा ? 'मुझ यमराज को शीघ्र ही जीविका (लोक को अपने मुखका ग्रास बनानेरूप वृत्ति) का उच्छेद (नाश) नहीं होना चाहिए' इससे यदि वह कुछ दिनों तक अपने दाँतों के मध्य में स्थापित करनेवाला-सा स्थित रहता है । अर्थात्—यदि किसी को तत्काल नहीं निगलता तो उस कालमें निश्चय से वृद्ध के शिर पर सफेद बालों की लतारूपी ध्वजा का आरोहण होना चाहिए । जिससे ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—विषय-विजय-प्रासाद के निर्माण से ही ऐसा हुआ है । अर्थात्—जैसे जब राजा किसी विषय (देश) पर विजयप्री प्राप्त कर लेता है, जिससे वह उस देश को ग्रहण करता हुआ वहाँ पर प्रासाद (महल) का निर्माण करके उसके ऊपर ऊँची ध्वजा स्थापित करता है, वैसे ही यमराज भी जब वृद्ध पुरुष इन्द्रिय-भोगों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह (यमराज) प्रासाद (प्रसन्नता) का निर्माण करता है इससे वृद्ध के मस्तक पर श्वेत बालरूपी ध्वजा स्थापित करता है । इससे ही मानों—उसके मस्तक पर श्वेतकेशरूपी ध्वजा का आरोहण होता है । वृद्ध का शिर विशेष रूप से कम्पित होता है मानों—हितोपदेश के निषेध की परिपूर्णता से ही अतिशयरूप से कम्पित हो रहा है । एवं उसके नेत्र अन्धकार-पटल से सदा आच्छादित होते हैं—मानों—मानसिक स्फूर्ति के दण्ड हो जाने से ही ऐसे हुए हैं । वृद्ध पुरुष की मुखरूपी गुफा से लार बहती है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—शारीरिक सन्धि-वन्धनों के टूट जाने से ही ऐसा हुआ है । तथा वृद्ध पुरुष की दन्त-शक्ति चारों ओर से गिरने-योग्य होती है—इससे मानों—रति शक्ति के विधवा होने से ही ऐसा हुआ है तथा वृद्ध-शरीर प्रचुररूप से त्वचाओं की संकोचरूपी लहरों से व्याप्त होता है । इससे मानों—मोहरूपी वायु के प्रसार से ही ऐसा हुआ है । उसकी पीठ झुक जाती है—मानों—सरसता के विनाश से ही टेढ़ी हुई है । उसका स्तनानल-जाल (शरीररूपी महान् वृक्ष के लता-समूह-सरीखी नसों व हड्डियों की श्रेणी) विशेषरूप से प्रकट होती है—मानों—लावण्यरूपी समुद्र के जल के विनाश होने से ही ऐसा हुआ

माहुर्येन, मनःस्फुरितविगमाविष नितरामावरोतव्यं धक्षुस्तिमिरपटलेन, संविबन्धविधटनाविवातीय स्यन्वितव्यं वदनकन्दरेण, रतिशक्तिवैधव्याविष समन्ततः पतितव्यं दन्तवलयेन, मोहानिलविजृम्भणादिषु घनतरं तरङ्गमयितव्यमपघनेन, सरसत्व-
क्षयादिषु नितान्तमवनमनीयं पृष्ठवंशेन, सावण्यजलधिगलनादिवात्यर्थं प्रकटितव्यं स्नानलज्जालेन, आसन्नतरमरणभयादिषु प्रकामं वेपितव्यमङ्गणेन । यस्यां पुनर्लक्ष्म्यामयं सहानाग्रहो लोकस्य सा देवात्कश्चमुपागतापि सूतककणिकेव न भवति स्थिरा, खलुमैत्रीय संगच्छमानापि जनप्रत्यवश्यं कांचिद्विषयम्, अपामार्गयवागूरिव लब्धापि न सक्षयते परिणमयितुम्, प्रयत्नपरिपालितापि कुलदेव करोत्युपपत्तावभिलाषम्, अनुभूयमानापि भविरेव मोह्यत्यन्तःकरणम्, ग्रहोपरागलेखेव गताप्यसंतापयन्ती न व्यवशिष्टते, साहसंरूपस्थितापि राक्षसीव छल्यति केवलं महापुरुषेषु प्रतिष्ठां प्रत्यवसादयितुम्, वृजनेषु क्षणमार्गं सखीभावमुपयाति । अलमसि विस्तरेण ।

अहं तावत्परवशेनैव गलितग्रोहपाश इवाभूवम् । किन्तु सकलजनविदितमप्रियं न मे किमप्यस्ति प्रयत्नतः । पाणिपरिगृहीता भुजङ्गीव सकृदेव मोक्तुमशक्या चेयं राज्यलक्ष्मीः । कष्टश्च खलु महर्षेश्वर्यो देहिनामात्मलाभः, यत्र धायसमपि कर्माचरितुं न लभ्यते स्वातन्त्र्येण । मन्ये च महर्षिनावलम्बनजीविता कुलदेवतैव न मामनुमन्यते तपस्यायाम-
श्वादेव । नवे च वयसि मयि संजातनिर्वेदे विधास्यन्तेऽनुभवंपरिणामा इव संहृत्य मन्त्रिणो मनीषितस्यान्तरायम् । इयतोऽ-

है । विशेष निकटवर्ती मरण के भय से ही मानों—बृद्ध का शरीर अधिक कम्यित होता है ।

जिस घनादि सम्पत्ति में लोक का महान् आदर है वह भाग्योदय से हस्त में प्राप्त होती हुई भी पारद रस की कणिका-सरीखी स्थिर नहीं रहती । वह (लक्ष्मी) प्राप्त होती हुई भी निश्चय से चुगलखोर की मैत्री-सरीखी कोई भी आपत्ति उत्पन्न कर देती है तथा प्राप्त हुई भी लक्ष्मी अपामार्ग के बीज की तरह पचाने (भोगने) को शक्य नहीं होती । वह लक्ष्मी प्रयत्न पूर्वक रक्षा की गई भी व्यभिचारिणी स्त्री-सी उपपत्ति—दूसरे पुरुष—की अभिलाषा करती है । जिस प्रकार मद्य भोगी जा रही भी मन को मूर्छित करती है उसी प्रकार लक्ष्मी भोगी जा रही भी मनको मोहित—अज्ञानी—करती है । यह लक्ष्मी नष्ट होती हुई चन्द्र-ग्रहण व सूर्य-ग्रहण की रेखा-सी अवश्य क्लेशित करती है । यह लक्ष्मी राक्षसी-सी साहसों से प्राप्त हुई भी केवल महानुभावों को प्रतिष्ठा (शोभा) को नष्ट करने के लिए उन्हें धोखा देती है । वह लक्ष्मी क्षण भर में दुष्टों की सखी हो जाती है । विशेष विस्तार पूर्वक कथन करना पर्याप्त है ।

मैं (यशोधर) अनुक्रम से पराधीनता से ही मोहजाल को नष्ट करनेवाला-सरीखा हुआ हूँ, किन्तु दीक्षा-ग्रहण करते हुए मेरे पूर्वार्क वैराग्य का कारण छोड़कर दूसरा कोई भी सर्वलोक विख्यात वैराग्य का कारण नहीं है । हस्त से धारण की हुई सर्पिणी-सरीखी यह राज्यलक्ष्मी एकवार में ही छोड़ने के लिए अशक्य है । महान् धनादि ऐश्वर्य में प्राणियों की उत्पत्ति कष्टदायक है, क्योंकि जिसके होने पर वनाद्ध पुरुष कल्याण-कारक आचरण भी स्वाधीनतापूर्वक करने के लिए समर्थ नहीं होता । मैं जानता हूँ कि मेरे दर्शनाधार से जीवित रहनेवाली व कुलदेवता-सी चन्द्रमती महादेवी (मेरी माता) मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुज्ञा नहीं देगी । जब मुझे इस युवावस्था में संसार, शरीर व भोगों से वैराग्य उत्पन्न होगा तब मन्त्रोगण एकत्रित होकर मेरे मनोवाञ्छित कार्य में वैसे विघ्न करेंगे जैसे पापकर्म के उदय मनोवाञ्छित कार्य में विघ्न करते हैं । जो अमृतमति महादेवी इतने वैराग्य का कारण है, वह अपने ऊपर लोगोंको प्रसन्न करने के लिए मेरे तपोवन में गमन करने का निषेध करनेवाली वैसी होगी जैसे सप्तमकरण गगन करने का निषेध करता है । मेरी आज्ञा-नुसार चलनेवाला नृप-समूह पिशाचवृन्द-सा भोक्षसाधन-कार्य में मेरे अनुकूल होगा यह बात असम्भव है । स्वभाव से स्नेह करनेवाला युवराज (यशोमति कुमार) चरणों को ग्रहण करता हुआ तपश्चरणार्थं प्रस्थान

कथान्तरस्य हेतुलोकैरञ्जनेनापि भविष्यति मे विष्टिरिव प्रस्थानविघातकारिण्यमृतमतिमहादेवो । कुष्करसमग्रहसंदोह इव भवेत्सि मामनुलोमयिष्यति सामन्तनिवहः । प्रापिते वस्तुनि पाश इव करिष्यति गतिभङ्गां पादयोः पतनिसयं प्रणयी युवराजः । किमेकविषलताबोवादेव सकलमपि वनमुपहर्तुं युक्तमिति विलपदन्तःपुरं शिवाकुलमिध विघ्नविध्यस्थ-भिलषितयात्रासमयम् । तिर्यग्गमिष्यन्ति च पतत्रिण इव पुरद्वारः कामितस्य प्रतिलोमनाय । यतः ।

अप्रापितोऽपि जायेत पाषायाप्रेसरो जनः । धर्मानुष्ठानबेलायां निसर्गात्प्रतिलोमनः ॥२५॥

तबहमत्र कं नु खलूपायसारध्यामि । अथवा रचित एवोपायः । तयाहि—यक्षीयं विभाजरी कुशलेन विभा-स्यति, तथा सर्वावसरं सभामण्डपमास्थाप्याह्वय चाम्बादेवीमखिलं धानुषरलोकमिदमेकमशिक्षितमननुभूतपूर्वमनुचितमप्यु-पस्थितघञ्जलनिस्तरणोपायं निकटकूटकपटमनुष्ठास्यामि । भवति हि मृषोद्यमपि प्रायेण बहोद्यकर्मणे, यत्रात्मनो नहिंका-मुत्रिकफलविलोपः । मायापि खलु परं निःश्रेयसमेवारभते, या न भवति परेषां परमार्थतः प्रताएणकरो ।

बहिरतिपदवापि त्रिप्या सुकृतमेवातनोति, यदि न मनस्तमोबहुलम् । अवसानेध्वम्यपावृत्तिरपि व्यापारो न करोति कामप्यर्थक्षतिम्, यदि न विनेद्यानां जनयति ध्यसनानि ।

तथा च प्रवचनम्—वासुपूज्यभगवतो वन्दनामिधेण गतो मिथिलानगरीनाथः पद्मरथो बभूव गणधरदेवः । मातुः कानिचिद्दिनानि वसान्तरोऽपि पञ्चशतयुवतिरतिभारः सुकुमारश्च साधयाभासाभिमतम् ।

करने में वैसा विघ्न करेगा जैसा चरणोंपर पड़ा हुआ जाल गमन करने में विघ्न करता है । 'क्या एक जहरीली लता के दोष से समस्त वन का उच्छेद (काटना) उचित है ?' ऐसा सार्थक विलाप करती हुई मेरी पत्नी-समूह भृगाली-समूह-सी तपोवन के प्रति प्रस्थान करने में विघ्न करेगी । जैसे आड़े आए हुए पक्षी गमन करनेमें अपशकुन करते हैं वैसे नगर के सम्पत्तिशाली पुरुष तपोवन के प्रति प्रस्थान करने में विरोध करने के लिए आड़े आ जाएंगे; क्योंकि—लोक विना याचना किया हुआ भी पाप-निमित्त अग्रेसर होता है परन्तु पुण्यकर्म करने के अवसर पर वह स्वभाव से प्रतिकूल हो जाता है ॥२५॥

अतः मैं निस्सन्देह तपोवन के प्रति प्रस्थान करने के लिए कौन-सा उपाय रचूँ ? अथवा मैंने उपाय प्राप्त कर लिया । उसी उपाय को दिखाते हैं—

यदि यह आज की रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हो जायगी उस समय मैं 'सर्वावसर' नामके सभामण्डप में बैठकर अपनी भाता चन्द्रमती देवी व समस्त सेवक-समूह को बुलाकर ऐसा समोपवर्ती कूटकपट (मायाचार) करूँगा, जो कि अद्वितीय, किसीके द्वारा उपदेश नहीं दिया हुआ, पूर्व में अनुभव में नहीं आया हुआ एवं जो अनुचित होनेपर भी समस्त आए हुए विघ्नों को निवारण करनेका उपाय है, क्योंकि वह असत्य वचन भी बहुलता से कल्याण-निमित्त होता है, जिसमें अपनी आत्माका इसलोक व परलोक संबंधी सुख का विनाश नहीं होता । जो मायाचार निश्चय से दूसरों को धोखा देनेवाला नहीं है, वह भी निस्सन्देह उत्कृष्ट पुण्य को ही उत्पन्न करता है । बाह्यरूप में अत्यन्त कठोर भी क्रिया (आचार—केशलुञ्चन व उपवासादि) पुण्य को ही उत्पन्न करती है यदि उसमें मन अज्ञान-बहुल न हो । समाप्ति में असत्य व्यापार भी कोई पुण्य-विनाश नहीं करता, यदि वह शिष्यों को दुःख उत्पन्न नहीं करता ।

उक्त बात के समर्थक सिद्धान्त-वचन हैं—मिथिलानगरी का स्वामी पद्मरथ नामका राजा बारह में तीर्थङ्कर श्री वासुपूज्य भगवान् को वन्दना के बहाने से चम्पा नगरी में प्राप्त हुआ । वहाँ दीक्षा चारण करके गणधर देव हो गया । इसी प्रकार सुकुमाल स्वामी, जो कि पाँच सौ युवतिरूपी रतियों के लिए कामदेव-सरीखे

तद्विलम्बम् अम्ब मन्मनोरथानां कल्पलतिके, निशमय ममैकां विज्ञप्तिम् । अयमायुक्तस्तत्रभवताः प्रणामा-
ञ्जलिः । निसर्गकस्वभाव संपन्न-वर्जप्रारम्भविधिजनकप्रणम-तद्विलम्बम्, स्वप्नि-ननागवधानं कर्तुमर्हसि । उचितोक्ति-
कुलशौलाविगुणधरणे दुरापकलसंपावनचिन्तामणे पुरोहित, सपादपतनं याचितोऽसि । प्रयच्छेतः प्रियशिष्याय कर्णम् ।
वीरश्रीविलासकमलाकर सकलविगलपप्रसाधनकर सेनापते, भव व्यसङ्गमपहाय प्रयतचेताः । कीर्तिसुधाधवलितरशेष-
राजनिवास महाहवभरारम्भनिर्व्यूढमहासाहस सामन्तसमाज, समाकर्णय सम्यगिममुदन्तध्वतिकरम् । राज्यलक्ष्मीरक्षाक्षम-
प्रतापप्रसर निखिलमण्डलेश्वरप्रणामकर्कशकर क्षीवारिक, निषीवावधारयितुमेनं क्षुत्तान्तम् । एवमन्योऽपि यः कश्चिन्म-
त्प्रणयो परिजनः स क्षणमेकमनन्यमनाः शृणोतु । अद्य विभातशेषायां निशि स्वप्नमहमेवमदशम्—आत्मनः किलापनीय
राज्यभारं यशोमतिकुमार इव निहितवान् । विहाय राजधानीमाश्रमावग्यामिव प्राविक्षम् । उत्सृज्य कनकासनमुपलगहन
इवोपविष्टवान् । अवसत्य राजमन्दिरमद्रिकन्दरमिवाशिष्यम् । अवधूय वसुधाधिपत्यचिह्नानि तपःश्रीलिङ्गानीव गृहीत-
वान् । परिहृत्य विषयरसमनुष्ठानमानस इवाधूयम् । विमुच्य भवादृशं परिजनं मुमुक्षुर्नैरिव संगतोऽस्मि । परित्यज्य
विलासिनीजनमरण्यलतावनमिवोपागृहीष्यम् । अवगणय्य बान्धवेषु परिचितस्वमदशोसत्वेध्विच प्रीति गतवान् । एवम-या-

थे, और जिन्होंने अपनी माता से कुछ दिनों तक दीक्षा ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की थी और जिन्हें माता द्वारा कुछ दिनों तक दीक्षा ग्रहण में विघ्न बाधाएँ उपस्थित की गई थीं, दीक्षा ग्रहण को सिद्ध किया ।

उस कारण से मेरे मनोरथों की पूर्ति के लिए कल्प लता-सरीखी हे माता चन्द्रमती ! मैं पूजनीय आपके लिए यह प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ । मेरा एक विज्ञापन सुनिए । निर्दोष प्रकृतिशाली व समस्त सन्धि व विग्रह-आदि कार्यों के प्रारम्भ में निर्विघ्न मन्त्र-प्रभावशाली हे मन्त्री-मण्डल ! आप भी थोड़ी एकाग्रता धारण के योग्य हैं । विशेष उदयवाले पवित्र वंश और परस्त्री के प्रति मातृ भगिनी-भाव-आदि गुणों की पृथिवी (आधार) एवं दुर्लभ अपूर्व लाभों को प्राप्ति करने में चिन्तामणि-सरीखे हे पुरोहित ! मैं चरणों में नमस्कार पूर्वक आप से प्रार्थना करता हूँ कि प्रिय शिष्य मेरा विज्ञापन ध्यान पूर्वक सुनिए । वीर लक्ष्मी को क्रीड़ा करने के लिए कमल-वन-सरीखे व समस्त दिशा समूह को वश करनेवाले हे सेनापति । आप चित्त की अस्थिरता छोड़कर सावधान चित्त-युक्त होंवें । कीर्तिरूप सुधा द्वारा समस्त राजमहलों को उज्ज्वल करनेवाले और महासंग्राम-भार के प्रारम्भों में महान् अद्भुत कर्मों को वृद्धिगत करनेवाले हे मेरे अधीनस्थ राजसमूह ! प्रत्यक्ष किये हुए इस वृत्तान्त प्रघट्टक को सावधानी पूर्वक श्रवण कीजिए । जिसके प्रताप का विस्तार, राज्य-लक्ष्मी की रक्षा करने में समर्थ है और जिसका हाथ, समस्त मण्डलेश्वर राजाओं को नम्रीभूत करने में विशेष कठिन है, ऐसे हे द्वारपाल । तुम मेरी बातको यथार्थ निश्चय करने के लिए बैठो । इसी तरह दूसरा भी मुझसे स्नेह करनेवाला कोई कुटुम्ब वर्ग है, वह सब क्षणभर सावधान चित्त होकर सुने—मैंने आज इसी पश्चिम रात्रि में निम्न प्रकार स्वप्न देखा । अर्थात्—मैंने स्वप्न में अपने को निम्नप्रकार देखा—

मैंने निश्चय से अपना राज्यभार छोड़कर युवराज (यशोमति कुमार) में स्थापित करते हुए सरीखा अपने को देखा और इस राजधानी (उज्जयिनी नगरी) को छोड़कर तपोवन में प्रविष्ट होता हुआ-सा जाना । मैंने सुवर्ण-सिंहासन को छोड़कर स्वयं को पाषाण पर्वत पर स्थित हुआ-जैसा देखा और राजमहल को अनादृत करके पर्वत गुफा का आश्रय किये हुए-सरीखा तथा छत्र-चँवर-आदि राजचिह्नों का परित्याग करके तपोलक्ष्मी के चिह्न (पीछी व कमण्डलु-आदि) ग्रहण करते हुए सरीखा देखा । मैं विषय-स्वाद को छोड़कर क्रिया सरोवर में लीन हुआ-सा हो गया और आप सरीखे कुटुम्बी जनों को छोड़कर मोक्षाभिलाषी महामुनियों के साथ संगत हुआ-जैसा हो गया ।

मैंने स्त्री-समूह को छोड़कर स्वयं को वनलताओं के वन का आलिङ्गन करते हुए-सरीखा देखा एवं

व्यप्यतेकशः संसारसुखविमुखानि भस्पुराकृतपुण्यावसानसूचनोत्प्रेक्षाणि चतुर्यं पुरुषार्थसमर्थनोचितानि स्वप्नजातान्यवग्रहम् । अवबुद्धश्च तर्दसाहं वक्ष्यामि केनचिद्विबोधित इव । सत्यफलादयं अवन्ति प्रायेण निशावसानेववलोकिताः स्वप्नाः । नापि मे तामसगुणमयी दोषमयी वा प्रकृतिः, येनान्यथापि संभाव्येरत् । न चाभीष्टिहामुत्र च विरोधाश्रितं किञ्चिन्नरीक्षितम् । अपि च ।

श्रुतान्यधीतानि, मही प्रसाधिता वलानि विलानि ययार्थमर्थिने ।

पुत्रोऽप्ययं वसंहरः प्रवर्तते, सर्वत्र सम्पूर्णमनोरथागमः ॥२६॥

विषयजोऽपि सुखतर्षो न मे मनः प्रायेण प्रत्यवसावधितुमोत्तरः । पतः ।

सकृद्विज्ञातसारेषु विषयेषु भुङ्क्ष्वः । कथं कुर्वन् लज्जेत जन्तुद्वयवितचवंगम् ॥२७॥

न भवान्तकसंपर्कात्सुखमन्यन्वचोऽन्यम् । तेन सन्तः प्रतार्यन्ते यदि तत्त्वज्ञता हता ॥२८॥

बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कुर्यात्, कामं धौवने, स्थावरे धर्मं मोक्षं चेत्यपि, नायमेकान्ततोऽनित्यत्वावापुषः धर्मोपपन्नं वा सेवेतेत्यपि श्रुतेः । अपि च ।

बन्धु-आदि वर्गों में परिचय को छोड़कर अटवी के हरिण-आदि प्राणियों में अनुराग को प्राप्त हुआ सरीखा अपने को देखा ।

इसीप्रकार मैंने दूसरे भी अनेकप्रकार के स्वप्न-समूह देखे, जो कि संसार-सुख छुड़ानेवाले हैं और जिनका उद्देश्य मेरे पूर्वजन्मोपाजित पुण्य कर्म के विनाश को सूचित करता है एवं जो मोक्ष पुरुषार्थ के समर्थन में उचित हैं । जैसे मैंने स्वप्न-समूह देखे वैसे जाग गया—मानों—बोलते हुए किसी से जगाया गया हूँ ।

पश्चिम रात्रि में देखे हुए स्वप्नों का फल प्रायः करके सत्य होता है । मेरी प्रकृति तामसी नहीं है तथा दोषमयी भी नहीं है, जिससे मेरे स्वप्न मिथ्याफलवाले संभावना किये जावें । इन स्वप्नों के मध्य में मैंने इस जन्म व भविष्य जन्म को विनाश करनेवाला कुछ नहीं देखा । विशेष यह है—

मैंने शास्त्र पढ़ लिए । पृथ्वी को अपने अधीन कर ली । याचकों अथवा सेवकों के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह यशोमतिकुमार पुत्र भी कवचधारी वीर है, अतः मैं, समस्त कार्य में अपने मनोरथ को पूर्ण प्राप्ति करनेवाला हो गया हूँ ॥२६॥

पञ्चैन्द्रियों के स्पर्श-आदि विषयों से उत्पन्न हुई सुख-तृष्णा भी प्रायः मेरे मन को भक्षण करने में समर्थ नहीं है । क्योंकि—इन्द्रिय-विषयों (भोगोपभोग पदार्थों) में, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एकबार परीक्षा की गई है, बार-बार खाये हुए को खाता हुआ यह प्राणी किसप्रकार लज्जित नहीं होता ? ॥२७॥ मैथुन क्रोडा के अखीर में होनेवाले सुखानुमान को छोड़कर दूसरा कोई भी सांसारिक सुख नहीं है, उस सुख द्वारा यदि विद्वान् पुरुष ठगाए जाते हैं, तो उनका तत्त्वज्ञान नष्ट ही है ॥२८॥ 'मानव को बाल्य अवस्था में विद्याभ्यास-गुणादि कर्तव्य करना चाहिए और जवानी में कामसेवन करना चाहिए एवं वृद्धावस्था में धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए । अथवा अवसर के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए ।' यह भी वैदिक वचन है । परन्तु उक्तप्रकार की मान्यता सर्वथा नहीं है, क्योंकि आयुर्कर्म अस्थिर है । अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार की वैदिक मान्यता आदि उचित नहीं है, क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है, अतः मृत्यु द्वारा गृहीत-केश-सरीखा होते हुए धर्मपुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा बाल्यावस्था से ही करना चाहिए । तथा च—

ध्यानानुष्ठानशक्तात्मा युवा यो न तपस्यति । स जराजर्जरोऽन्येषां तपोविघ्नकरः परम् ॥२९॥

तदहमेतत्स्वप्नदर्शनमशूभ्यपरामर्शनं कर्तुमीहे, यदि तत्रभवन्तो न मे भवन्त्युत्सर्गणामपवादा इव प्रतिबन्धो-
पायाः । प्रत्युपपन्नं चेत् । पुरा हि युष्माकमेकैकदाः परिगणनातीतानि परमुखेनाप्यभ्ययितास्त्यहं संपादितवान् । भवद्भिः
पुनरशेषः किमेकमपि स्वयमभ्ययितं न मे संपाद्यत इति । तथाप्यमो परमार्थेन प्रतिस्वप्नव्याजेन वा तपस्यायां यदि न
सामर्थ्यमस्ति, निरस्याप्येतानात्महितमनुष्ठास्यामि । को नु खलु विघटितं चेत् स्फटिकवलयमिव मुषापि संधातुमर्हति ।
निसर्गविस्मये हि मनसि मरुभूम्यामिव वृथा भवन्ति परजनस्य रसानयनक्लेशाः । अन्यत्र कृतनिश्चये हि चेत्तसि मरणो-
पदेश इव विफलो भवति निकटवर्तिनां प्रतिकूलतया मयःसमागमनविनियोगः । स्वभावनिष्ठुरं हि मनः विलासाकलमिव
न देवोऽपि शक्नोति पल्लवयितुम् । अभिनिवेशकर्कशे हि हृदये कुलिश इव न प्रवेशं लभन्ते गुणवत्सोऽपि दधूनां प्रार्थनाः ।
किं च ।

देवस्यापि वज्रः प्रायः पुंसि जाताग्रहग्रहे । ऊषरे वर्षवन्न स्याद् गुणकारि मनागपि ॥३०॥

धर्मध्यान व चारित्र के पालन में समर्थ आत्मावाला जो पुरुष जवान होकर तपश्चर्या नहीं करता,
वह पुरुष वृद्धावस्था में भग्न शरीर-युक्त होकर तपश्चर्या करता हुआ, केवल दूसरे साधुओं की तपश्चर्या में
विघ्न उपस्थित करनेवाला होगा ॥२९॥ अतः मैं (यशोधर) इस स्वप्न-दर्शन को सफल विचारवाला करने की
इच्छा करता हूँ । यदि आप लोग मुझे निषेध करने के उपाय उसप्रकार न होवें जिसप्रकार विशेष कहीं हुई
विधियाँ, सामान्य कहीं हुई विधियों के निषेध करने के उपाय होती हैं । आपके द्वारा यह मेरी प्रार्थना पालन
की हुई होगी, क्योंकि जब मैंने पूर्व में आप लोगों में से एक एक की अगणित प्रार्थनाएँ दूसरों के संदेश-वचन
भात्र से भी पालन की हैं तब आप समस्त सज्जन मेरी स्वयं की हुई एक भी प्रार्थना को क्या पालन नहीं करोगे ?
तथापि—यदि आप मेरी प्रार्थना सम्पादन नहीं करेंगे—और आप लोग यदि मुझे तपश्चर्या करने की अनुमति
नहीं देंगे तो मैं परमार्थ रूप से अथवा स्वप्न-प्रतीकार के बहाने से इन स्वप्नों का निषेध करके आत्महित
करूँगा, अर्थात्—तपोवन के प्रति गमन करूँगा । क्योंकि निश्चय से स्फटिक मणि के कञ्चूण-सरीखे विघटित
हुए (विरक्त हुए) चित्त को कौन पुरुष निरर्थक भी संधान (जोड़ना पक्षान्तर में अनुराग-युक्त) करने के
योग्य है । स्वभावतः स्नेह-हीन चित्त में निश्चय से दूसरे लोगों के रसानयन क्लेश वृथा होते हैं । अर्थात्—
शृङ्गाररस का प्रदर्शन मरुभूमि की तरह नेत्रों के संताप के लिए होता है । भावार्थ—जैसे मरुभूमि में स्वयं
प्यासे होने पर रसानयन क्लेश—दूसरे के हाथ में रस (जल) देखकर नेत्रों को क्लेश होते हैं, वैसे वैराग्य-
युक्त पुरुष को तपश्चर्या की प्यास होने पर दूसरे मनुष्यों द्वारा शृङ्गाररस का दिखाना नेत्रों के संताप के लिए
होता है । दीक्षा-आदि धारण करने का निश्चय किये हुए चित्त को निश्चय से निकटवर्ती पुरुषों की प्रतिकूलता
द्वारा वापिस लाने का अधिकार वैसा निष्फल होता है जैसे मरणोपदेश निष्फल होता है । अर्थात्—‘तू मरजा’
इसप्रकार का उपदेश सुननेवाला क्या कोई मरता है ? अर्थात्—जिसतरह दिया हुआ मरणोपदेश निष्फल होता
है उसीतरह वैराग्यशील चित्तको सरागी बनाने का प्रयत्न भी निष्फल होता है । पाषाणखण्ड-सरीखे स्वभाव से
कर्कश मन को निस्सन्देह देवता भी उल्लासित—रागयुक्त करने समर्थ नहीं होता । जैसे वज्र में गुण (तन्तु)
प्रवेश नहीं होता वैसे निश्चय से अभिप्राय से कठिन हृदय में स्त्रियों की याचनाएँ गुणकारिणी होती हुई भी
प्रवेश (संक्रमण) नहीं करती ।

थोड़ा-सा कहता हूँ—उस पुरुष में, जिसमें प्रायः करके आग्रह रूप पिशाच उत्पन्न हुआ है, देवता

इति संकल्प्य अवश्यमिह जन्ममि न मे शयनतलमारोहन्ति महिला इति च पर्यासोऽथ लोकोल्लोकाञ्चल इव 'प्रकाशान्धकारावृत्तिमन्थरितमनःप्रसरे विद्युदाभोगभङ्गुरे नभसीव निमेषोन्मेषाकुलितनयनपर्यन्ते स्वापप्रबोधव्यति-
रिक्तामपरामेव काञ्चिन्नसालामिव संकीर्णरसासरालां निद्रावशामनुभवति मयि सति । ग्रहो घर्मावलोक,
मदभिमतसाधुकारवाधेनेव ध्वनितं शङ्खेन, मत्प्रवजनमञ्जुलरघेनेव समुष्णलितं संगीतकनिनादेन, मत्कार्य-
परिच्छेदेनेव स्फुटितं पूर्वदिग्भागेन, मद्राज्याभिलाषेणैव विरलीभूतं तारकमिकरेण, मन्मनसिजविलासेनेव विज्झा-
यितमिन्दुविम्बेन, मर्दुराभ्यभनमेव विकसितनखिन्वबुन्देन, सद्विषयमुक्षतर्णेणैव विघटितं तमःपटलेन, मन्मोहपाशेनेव
विगलितं संध्यारारेण, मद्रपुषेव लोकलोचनगोचरसानुपगतमरुणकिरणेन, मद्भूषनविन्यासेरिव पर्याकुलितं नग-
निगमगोपुरसरित्प्रवेक्षजसमाजेन । तवम्बुहभनवाप्तनिशानिद्रोऽपि बातायनविवरलब्धप्रसरेण रविणा प्रणयिनेव कररपर्शत्

के भी वचन उसतरह थोड़े भी उपकारक नहीं होते जिसतरह ऊपर भूमि में मेघों की वृष्टि जरा-सी भी उप-
कारक नहीं होती ॥३०॥

प्रसङ्गानुवाद—हे भारिदत्त महाराज ! मैं पूर्व में क्या-क्या करके 'अखिलजनावसर' नामके सभा-
मण्डप में प्राप्त हुआ ?

पूर्वोक्त विषय को मन में धारण करके और 'निश्चय से इस भव में मेरी शय्या पर स्थिरा आरोहण
नहीं कर सकती' इसप्रकार पूर्व में विचार करके मैं उक्त सभामण्डप में प्राप्त हुआ ।

हे राजन् ! क्या होनेपर मैं उक्त सभामण्डप में प्राप्त हुआ ? जब मैं, जिसकी चित्तप्रवृत्ति वैसी वसी
प्रकाश व अन्धकार के आवरण से मन्थरित (व्याप्त या भरी हुई) हुई है, अर्थात्—जो वैराग्य व उद्वेग दोनों
से व्याप्त है, जैसे उदयाचल व अस्ताचल प्रकाश व अन्धकार दोनों से युक्त होते हैं । जिसके नेत्रप्रान्त निमेष
(नेत्रों का मींचना) व उन्मेष (नेत्रों का खोलना) से संयुक्त हैं, अतः जो विजली के विस्तार से विनाशशील
आकाश-सरीखा था । अर्थात्—जिसप्रकार विजली मेघों के मध्य में प्रवेश करती हुई अन्धकार उत्पन्न करती
है और प्रकट होती हुई प्रकाश करती है उसीप्रकार मेरे नेत्रप्रान्तों में निमेष व उन्मेष उत्पन्न हुए । मैं कैसी
निद्रावस्था का अनुभव कर रहा था ? जो शयन व जागरण-युक्त थी ; अतः जो अपूर्व, अनिर्वचनीय तथा संमिश्र
रसों से अधिक हुई रसाला (शक्कर व मसाला पड़ा हुआ दही—शिखरत) सरीखी थी । अर्थात्—जिसप्रकार
रसाला संमिश्र (मिले हुए) रसों से व्याप्त होती है ।

धर्म का अनुसन्धान करनेवाले हे भारिदत्त महाराज ! इसके बाद शङ्ख की ध्वनि हुई, उससमय
ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मेरे मनचाहे दीक्षाग्रहण का समर्थक साधुकारवचन ही है । हे राजन् ! उस-
समय गीत, नृत्य व वादित्रों की ध्वनि प्रकट हुई, जो—मानों—मेरे दीक्षाग्रहण की माङ्गलिक ध्वनि ही है ।
पूर्वदिशा का प्रदेश विकसित हुआ, जो मानों—मेरी दीक्षा-ग्रहण का निश्चय ही है । उससमय ताराओं की श्रेणी
मेरी राज्याभिलाषा-सी विरलीभूत हुई । उस समय चन्द्रमण्डल मेरे कामभोग-जैसा कान्ति-हीन हो गया । हे
राजन् ! उस समय कमल-समूह वैसा विकसित हुआ जैसे मेरा वैराग्य, चित्त से विकसित—उल्लासित—हुआ ।
हे राजन् ! उससमय अन्धकार-पटल मेरी विषय सुख की अभिलाषा-सरीखा नष्ट हुआ । उससमय सायंकालीन
संध्या की लाली मेरे मोहजाल-सरीखी नष्ट हुई । हे भारिदत्त महाराज ! उससमय सूर्य की किरणें मेरे शरीर-सी
लोगों को दृष्टिगोचर हुई । हे राजन् ! जनसमाज (लोक-समूह), पर्वत-मार्ग, नगरद्वार व नदी स्थानों से आकर
उसप्रकार व्याप्त हुआ जिसप्रकार जनसमाज (सेवक-समूह) मेरी महल-रचनाओं में व्याप्त होता है । हे
राजन् ! इसके बाद मैं, रात्रि में निद्रा को प्राप्त न करता हुआ भी गवाक्षजालों (झरोखों) से प्रविष्ट होने-

प्रकोषितः । सिन्धुर इव धाव्यामुत्सृज्य, उत्तानवेदिनो हि नरस्य मुखसाध्वमपि कार्यमुदके विशीर्णं चूर्णमिव न भवति यत्न-
कतरेपि कर्तव्यं प्रतिविधेयमित्यवधार्य, तस्याः बुष्कर्मणो महादेव्याः शरीरसंगमादिव विहितेष्वप्यमञ्जनो निर्वर्त्य च गोसर्ग-
समयगन्धविनमुपासनलिप्तिम् अपाततोद्वेग्ये हि मनसि न कलुषरोपनीतः परिग्रहासङ्गो भवति कर्मपरिष्कृतायेत्यनुध्याय
गृहीतोद्गमनोपमङ्गलदुकूलः, समाचर्य तपश्चर्यानुशासनेन 'हरिरोहणेनाङ्गनागम्, आवृत्य हितोपदेशमिव कर्णाभरणम्,
'अहो गुणवतां वर हार, हरं सुरतजिनोदेषु सेवितोऽसि । तदस्य प्रणयिनः सर्वं क्षम्यताम्' इत्यनुनयेनेव कण्ठे गृहीत्वा
मुक्ताफलभूषणानि, ईषत्प्रागभारथीपरिषयोत्कण्ठयेव निधाय करे कङ्कणालंकारम्, माजनि सम तपस्यायाः कोऽप्यन्तराय इति
सिद्धशेषामिव शिरसि विनिवेद्य कुसुमानि, हस्तेकृत्य चेतिकर्तव्यतासारमिव ताम्बूलमखिलजनावसरं सभामण्डपमुपा-
गतोऽस्मि । मिलिते यथाभागमवस्थिते च सर्वस्मिन्ननुजीविलोके प्रवृत्ते च पुस्तकवाचनके चन्द्रमतिप्रवादेवौ प्रति मूलं
प्रहेतुभिष्यथा पावन्मनोरथसारथेः मन्त्रिणो मुक्तमवलोकयामि, तावत्स्थयमेव मय्येकपुत्रे परमधरसलतया रात्रिकृतमन्तरं
वर्षजलमिव गणयन्तीमतिपातयामवयोभिराप्तपुरुषैरधिष्ठिता

वाले सूर्य द्वारा उसप्रकार कर-स्पर्श (किरणों के स्पर्श व पक्षान्तर में हस्तस्पर्श) से जगाया गया जिसप्रकार
स्नेही पुरुष द्वारा कर स्पर्श से मित्र जगाया जाता है । फिर हाथी-सरीखे मैने शय्या (गलङ्ग) को छोड़कर
निम्नप्रकार भलीभाँति विचार किया । निश्चय से अस्थिर चित्तवाले पुरुष का बिना प्रयत्न सिद्ध होने योग्य कार्य,
गानी में फँके हुए चूने-सरीखा सैकड़ों प्रयत्नों से भी चिकित्सा करने योग्य नहीं होता । अभिप्राय यह है कि उक्त
नैतिक सिद्धान्त को स्मरण करते हुए मैने उक्त घटना किसी के सामने प्रकट नहीं की । इसके बाद हे मारिदत्त
महाराज ! उस दुराचारिणी महादेवी (अमृतमति) के अस्पृश्य शरीर के स्पर्श से ही मानों—प्रातःकालीन
स्नान करनेवाले मैने प्रभातकालीन उपासना विधि पूर्ण की । 'मोह-बन्ध से रहित चित्त में दूसरे पुरुष द्वारा
समीप में लाए हुए वस्त्रादि-परिग्रह का स्वीकार करना, निश्चय से कर्मबन्ध के निमित्त नहीं होता' ऐसा
चिन्तन करके मैने धुले हुए वस्त्र का धोती जोड़ा व माङ्गलिक दुपट्टा धारण किया । पश्चात् मैने गोशीर्ष
चन्दन द्रव से विलेपन किया, जो—मानों—तपश्चर्या करने में उत्पन्न हुआ अकृत्रिम स्नेह ही है, फिर मैने
हितोपदेश-सरीखे दोनों कर्ण-कुण्डल धारण किए ।

हे गुणवानों में श्रेष्ठ हार ! तुम संभोग-क्रीड़ा में विशेष रूप से खेदखिन्न किये गए हो, अतः इस
स्नेही का समस्त अपराध क्षमा करो' इसप्रकार अनुनय से ही मानों—मैने मोतियों का हार कण्ठ में धारण
किया । थोड़ी-सी पूर्व की राज्य पालन रूपी भार को लक्ष्मी के विवाह की उत्कण्ठा से ही मानों—मैने हस्ता-
भूषण (कङ्कण-अलङ्कार) हस्त में धारण किए । फिर मैने पुण्य मस्तक पर धारण किए, जो ऐसे प्रतीत
होते थे—मानों—'मेरी तपश्चर्या में कोई विघ्न न होवे' इसकारण से सिद्धचक्र-पूजा संबंधी पुण्यमाला ही है ।
और मैने ताम्बूल हस्त में ग्रहण किया, जो—मानों—मेरी दीक्षाग्रहण का निश्चय ही है ।

उपसंहार—तदनन्तर मैं 'अखिल जनावसर' नाम के सभामण्डप में प्राप्त हुआ ।

हे राजन् ! जब समस्त सेवकजन एकत्रित हो चुका था व यथास्थान पर स्थिति कर चुका था एवं
शास्त्र वाचनेवाला (पुरोहित) प्रवृत्त हो चुका था । इसीप्रकार जब तक मैं चन्द्रमति माता के प्रति लेख
भेजने की इच्छा से 'मनोरथ सारथि' नाम के मन्त्री का मुख देख रहा था तब तक अत्यन्त उत्कण्ठा पूर्वक
स्वयं आती हुई ऐसी चन्द्रमति माता को मैने देखा । जो, मुझ एकलौते पुत्र में उत्कृष्ट स्नेह के कारण रात्रि-
संबंधी विरह को सौवर्ष-समान जान रही थी । जो अत्यन्त वृद्ध उम्रवाले मन्त्री-आदि हितेषी पुरुषों से
अधिष्ठित थी ।

मुत्सुकोरमुकमागच्छन्तीममरसरितमिव हंसकुलपरिवृतामुत्कुलसितसरोजवनविहारिणीमिव सरस्वतीमलितगुणानुगतमिव मत्पितुः कीर्तिमनेककक्षान्तरविनियुक्तविनतमहासामन्तावणमणिमौलिमखोलोन्मुखराजिरञ्जितोपसंख्यानां संध्यारागेत्त-
रोयवसनामुदयमानचन्द्राकृतिमिवापश्यम्, अभिप्लुष्टधुवचलं च । उदयावसतामुत्पलवन्प्रतिमोपयोऽन्वृत्तिमाजलः सकल्लोलः
सिन्धुरिव पुनस्तच्चरणनखकरोत्सार्यमाणोसंसकुमुमसौरमासक्तभङ्गावजितोत्तमाङ्गः

पातालमूलं स भुजङ्गपालो दिवं स देवाधिपतिर्यथा च । मञ्जोवनेनापि तथा स्वमेवामावधृतारं वसुधां प्रशाधि ॥३१॥

इति विहिताशीर्वावोच्चारः शिरःसमाव्राणपरिकल्पितबालकालोचितोपधारः सुखशयनसंकथाभिर्मुहुर्मुहुर्ममा-
लापयन्तीमपितहस्तावलम्बनः पुरः परिसरन्नभृतभरीधिर्मूर्त्यनुगतस्तबालोक इव तं सभामण्डपमुपनीय महर्षिसिंहासनपीठिक-
यायुषाधीविशम्, उपाविशं च तवावेषासिजासने । प्रवृत्तासु च तासु तासु किञ्चवन्तीषु वाचकः संसारस्वरूपनिक्षेपप्रस्ता-
वायातमिवमध्यगोष्ठ ।

चरैव धन्या वनिताजनां यस्याः समालिङ्गनभाजि पुंसि । अन्याङ्गनादीक्षणविभ्रमभाणां न जातु जायेत समागमधोः ॥३२॥

जो उसप्रकार हंसकुल (गुरुजनों या निर्दोष पुरुष-समूह) से वेष्टित थी जिसप्रकार गङ्गानदी हंस-
श्रेणी-से वेष्टित होती है । जो उसप्रकार विकसित हुए उज्ज्वल कमलवनों में विहार करनेवाली थी जिसप्रकार
सरस्वती विकसित हुए उज्ज्वल कमल खण्डों में विहार करती है । जो मेरे पिता यशोधर्महाराज की कीर्ति-
सरीखी सर्वगुण-सम्पन्न थी । जिसकी साड़ी बहुत से गृह प्रकोष्ठों में नियुक्त हुए नम्रोभूत महान् सेवक
राजाओं के अरण (लाल) मणियों से व्याप्त (जड़ित) मुकुटों की किरणोन्मुख श्रेणी द्वारा रञ्जित की गई
है । जिसका दुपट्टा, संध्याकालीन लालिमा-सरीखा है और जिसकी आकृति उदित हुए चन्द्र की आकृति-जैसी थी ।
फिर मैं उसके सन्मुख गया और मैंने उस सभामण्डप में उसे लाकर महान् सिंहासन पीठ पर बैठाया एवं
मैं भी उसकी (माता की) आज्ञा से अपने सिंहासन पर बैठा । हे राजन् ! मैं उससमय ऐसे समुद्र-सरीखा था,
जिसके जल उदयाचल के शिखर पर संचार करती हुई चन्द्र प्रतिमा के उदय से वृद्धिगत हो रहे थे और जो
विशाल तरङ्गों से व्याप्त था । जिसने (मुझ यशोधर ने) ऐसा मस्तक स्वीकार किया था, जिसपर उस चन्द्रमती
माता के चरणनखों की किरणों से तिरस्कार किये जा रहे मुकुट के पुष्पों की सुगन्धि में लम्पट हुए भीरे
वर्तमान थे । एवं जिसे माता ने निम्नप्रकार आशीर्वाद का उच्चारण किया था । हे पुत्र ! 'जैसे वह जगत्प्रसिद्ध
शेषनाग पाताल-लोक का प्रतिपालन करता है एवं जैसे वह देवेन्द्र स्वर्ग का शासन करता है वैसे ही तुम मेरी
आयु से भी (विशेष समय तक) चन्द्र व ताराओं पर्यन्त इस पृथिवी का शासन करो' ॥३१॥ एवं जिसका
मस्तक-सूँघने से बाल्यकालोचित व्यवहार किया गया है । हे राजन् ! मैंने कैसी मेरी माता को सिंहासन पर
बैठाया ? जो सुखपूर्वक निद्रा की कथाओं से मुझ से बार-बार एकान्त में भाषण कर रही थी । हे राजन् !
हस्तावलम्बन देनेवाला व माता के आगे गमन करता हुआ मैं चन्द्र-मूर्ति से अनुगत चन्द्रोद्योत-सरीखा था ।
हे राजन् ! जब वे वे जगत्प्रसिद्ध किंवदन्तियाँ—प्रवृत्त हो रहीं थीं तब कथावाचक विद्वान् ने संसार स्वभाव के
कथनावसर पर प्राप्त हुए निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक पढ़े—

स्त्रीजनों में वृद्धावस्था ही पुण्यवती है, क्योंकि जिस वृद्धावस्था रूपी स्त्री का आलिङ्गन करने-
वाले मानव में (वृद्ध पुरुष में) परस्त्रियों के देखने की शोभा-प्राप्तिरूपी लक्ष्मी कभी भी उत्पन्न नहीं
होती ॥३२॥ उस कारण से हे आत्मन् ! जब तक वृद्धावस्था, शारीरिक शक्ति को नष्ट नहीं करती एवं
इन्द्रिय-समूह में अन्धकार का विस्तार नहीं करती तब तक आप इस समय उस अनिर्वचनीय कर्त्तव्य को

ततश्च । यावज्जरा जस्यते न शरीरशक्तिं यावत्समश्च न तमोति हृषीकवर्गः ।
तावत्त्वमाधर विचार्य तदत्र किञ्चिज्जन्माङ्कुरः पुनरयं रमते न यत्र ॥ ३३ ॥

त्वं मन्विरद्विषणवारतनूद्वाह्यस्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः ।
विलम्बितास्यहनिशमिमं न तु चित्तं वेत्ति वण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव ॥ ३४ ॥

राजा—(स्वगतम् ।) साधु भो वाचक, साधु । यतः, कथमिव त्वमद्य मन्वेतःप्रविष्ट इव ब्रूषे । पुनरपि
वाचको सामतीव संसारसुखसनाथासु कथासु यत्तावन्भानुपलब्ध

को नाम न जगति जनः कुशलैः स्वस्य क्रियेत वशवर्ती । स्त्रीषु खलेष्विव विधिरपि मूढः खलु वश्यतोपाये ॥ ३५ ॥

इतीदं च । राजा—(सविस्मयः । स्वगतम् ।) अहो रात्रिप्रकृतवृत्तान्तवेदिन इवास्याद्य सरस्वती
प्रेरयति इच्छांति । बाढमानन्वितश्चाहमनेन । न च स्वामिप्रसादः सेवकेषु प्रसिद्धिद्विषन्तामणिरिव फलमसंपाद्य
विश्राम्यतीति । (प्रकाशम् ।) अहो वसुवर्षं, वितीर्यतामस्मं सुभाषितवर्षाय पारितोषिकम् ।

वसुवर्षः—यथाज्ञापयति देव इति । तथा कृतवति वसुवर्षे माता—(स्वगतम् ।) अहो, कुतोऽद्य मे पुत्रस्य
अवभोगनिर्भर्त्सनपरागु कामिनीजनसंभावनभङ्गुरारम्भनिर्भरासु च गोष्ठीष्विदं परं मनः । किं नु खलु न महावेद्योऽहं

विचार करके उसका आचरण करो, जिस कर्त्तव्य के करने पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला संसाररूपी अङ्कुर
(संसार-प्रादुर्भाव) फिर से क्रीड़ा नहीं करता ॥३३॥ हे आत्मन् ! तुम पापाश्रय को उत्पन्न करनेवाले व
महल, धन, कलत्र व पुत्रादि की आकाङ्क्षा रूपी अन्धकारों द्वारा नष्ट बुद्धिवाले होते हुए निरन्तर क्लेशित
हो रहे हो । हे चित्त ! तुम विना अवसर के गिरनेवाले यमराज के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले मरणलक्षण-वाले
वण्ड को नहीं जानते हो ॥३४॥ उक्त सुभाषित श्रवण कर यशोधर महाराज अपने मन में निम्नप्रकार चिन्त-
वन करते हैं—हे सुभाषित वाचनेवाले ! तुमने विशेष प्रशस्त निरूपण किया । क्योंकि आज तुम मेरे मन में
प्रविष्ट हुए सरीखे स्पष्ट बोलते हो । हे मारिदत्त महाराज ! कथावाचक विद्वान् ने मुझे संसार-सुख से विमुख
करनेवाली कथाओं में विशेष रूप से ध्यान देनेवाले देखकर फिर से निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक पढ़ा—
विद्वानों से संसार में कौन पुरुष अपने वशवर्ती नहीं किया जाता ? परन्तु दुष्टों या चुगलखोरों की तरह
स्थियों के वशीकरण के उपाय में विधि भी मूढ़ है । अर्थात्—वशीभूत करना नहीं जानता ॥३५॥ यशोधर
महाराज आश्चर्यान्वित होते हुए अपने मन में निम्नप्रकार चिन्तवन करते हैं—आश्चर्य है कि आज दिन
रात्रि में उत्पन्न हुए वृत्तान्त को जाननेवाले-सरीखी इस कथावाचक की सरस्वती (वाग्देवता) वचनों को
प्रेरित कर रही है । इसने मुझे विशेष आनन्दित किया । सेवकों में प्रसिद्धि-प्राप्त किया हुआ स्वामी का प्रसाद
(प्रसन्नता) चिन्तामणि-सरीखा कुछ लाभ उत्पन्न किये बिना विश्राम नहीं लेता । इसप्रकार विचार कर
यशोधर महाराज ने स्पष्ट कहा—हे 'वसुवर्ष' नामके खजानची ! तुम सुभाषित की वृष्टि करनेवाले इस कथा-
वाचक के लिए पारितोषिक दो ।

वसुवर्ष नामका कोषाध्यक्ष—स्वामी की जैसी आज्ञा है । जब उक्त कोषाध्यक्ष ने उस कथावाचक
विद्वान् के लिए पारितोषिक वितरण कर दिया तब चन्द्रमती माता अपने मन में निम्न प्रकार विचार करती
है—'आश्चर्य है, आज के दिन ऐसी वार्ताओं में, जो सांसारिक भोगों का तिरस्कार करने में तत्पर हैं, एवं

गतस्यास्य किमपि वैराग्यकारणमभूत् । समानिच्छत्या एव हि पुत्रेणैवं महति स्वात्मन्ये स्थापिता । अतिप्रसक्तं च स्त्रीषु स्वातन्त्र्यं कल्पत्रमिव परगुर्नाधिवार्यं हृदयं विरमति । कथितं च मे साधोपायनविनिवृत्तया रसायनसिद्धेर्माहात्म्य-
सिकस्य सुतया प्रियंवद्या यथा—अम्बादेवि, तव स्नुषायाः प्रणयधर इव दृश्यते तस्मिन् कुङ्गे- वृष्टिपिनिपातः ।' (प्रकाशम् ।) अतः, कथमिव तवर्माविलासहृसाभिनवसमागमसरस्यापि वयसि चतुर्थपुरुषार्थप्रार्थनोत्थासु कथासु गत-
तृष्णमपि सतृष्णमिवाह्य ते प्रतिभाति जेतः । वदनच्छायाप्यन्यथैव ते वृश्यते । वपुरपि मलिनं कमलमिवातीव ते विच्छाद्यम् । इवासा अपि होमधूमोवग्ना इव तवाधरदलं मलिनयन्तो वीर्यतरमारपच्छन्ते । लोचने अपि सान्नित्रोद्वेक-
धुवने शत्रुकुलमिव ते मन्दस्पन्दे । मदारम्भे सामज इव मुहुर्मुहुरायसमायासि जृम्भितेषु । कर्मणि विनिवृत्तस्तुरग इव न स्थिरस्तिष्ठसि चासने । राजा—(स्वगतम् ।) अहो, प्रारम्भे देवस्य महतो खलु कार्यघटनासु तत्परता, मातुश्च मयि संप्रज्ञेयु । (प्रकाशम् ।) अम्ब, विज्ञापयामि स्वोपजपथमुत्थितं कथयामास । मातापि निश्चर्यमम्

यातु द्विषत्पक्षमदः समोक्षितुं प्रतीक्ष्यलक्ष्मीस्त्वमिहोदिताच्चिरम् ।

महीं च रत्नाकरवारिमेललां समं स्नुषानप्तुजनेन रक्षतात् ॥ ३६ ॥

ओ स्त्रीजनों की अनुकूलता की स्वयं विनश्वरता के आरम्भ से गाढ़ है, मेरे पुत्र का यह मन विशेष संलग्न कैसे हो गया ? मैं ऐसा सोचती हूँ कि महादेवी के गृह में प्राप्त हुए मेरे पुत्र को निश्चय से क्या कोई वैराग्य-
कारण नहीं हुआ ? अपि तु अवश्य हुआ है । क्योंकि न चाहती हुई ही मेरे पुत्र (यशोधर) ने इसे विशेष स्वाधीनता में स्थापित कर दिया है । क्योंकि विशेष मात्रा में प्राप्त हुई स्त्रियों की स्वाधीनता, तलवार की धार-सरीखी पति-हृदय को बिना विदीर्ण किए विश्राम नहीं लेती । 'रसायनसिद्धि' नाम के रसोईये की प्रियंवदा नाम की पुत्री ने, जो कि मुझे लाड़ू-आदि भेंट लाने के अधिकार में नियुक्त की गई है, मुझसे कहा था—
यथा—हे माता ! आपकी पुत्रवधू (अमृतमति महादेवी) की दृष्टि उस प्रसिद्ध 'अष्टवक्त्र' नामके निकृष्ट महावत्त में स्नेह करने में तत्पर हुई-सरीखी देखी जाती है ।' फिर चन्द्रमती माता ने मुझसे स्पष्ट कहा—हे पुत्र ! इस युवावस्था में, जो कि लक्ष्मी-भोग रूपी हंस के नवीन समागम में सरोवर-सी भी है, मोक्ष पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा का उत्थान करनेवाली धर्म-कथाओं में, अभिलाषा-रहित हुवा भी तेरा मन, इस समय तृष्णा-
युक्त-सरीखा किस प्रकार प्रतिभासित हो रहा है ? हे पुत्र ! तेरी मुख-कान्ति भी दूसरी-सरीखी (म्लान) दिखाई देती है । तेरा शरीर भी मलिन कमल-जैसा विशेष कान्ति-हीन दृष्टिगोचर हो रहा है । तेरे स्वांस भी होम संबंधी धुएँ की उत्पत्ति-सरीखे तेरे ओष्ठदलों को मलिन करते हुए विस्तृत रूप से निकल रहे हैं । हे पुत्र ! तेरे दोनों नेत्र भी विशेष निद्रा की अधिकता से आच्छादित हुए शत्रुसमूह-सरीखे मन्द स्पन्द (ईषच्चलन) युक्त हैं । अर्थात्—जिसप्रकार तेरा शत्रु समूह मन्दस्पन्द (अल्पव्यापार) युक्त है । हे पुत्र ! तुम बार-बार जैभाई लेने में मद के आरम्भ में हाथो-जैसे कष्ट प्राप्त कर रहे हो । हे पुत्र ! तुम गमनादि क्रिया में अधिकृत होते हुए सिंहासन पर घोड़े-सरीखे निश्चल होकर नहीं बैठते । फिर यशोधर महाराज अपने मन में निम्न प्रकार विचार करते हैं—'आश्चर्य है देव (पुराकृत कर्म) की निस्सन्देह प्रारम्भ में कार्य करने में विशेष एकाग्रता है और माता को मेरे विषय में शिष्टतापूर्ण अनुसन्धान करने में विशेष एकाग्रता है ।' इसके बाद यशोधर महाराज ने स्पष्ट निवेदन किया—हे माता ! 'विज्ञापित करता हूँ' । ऐसा कहते हुए उसने अपने द्वारा कल्पना किये हुए मार्गवाला स्वप्न में प्राप्त हुआ वृत्तान्त कहा । माता ने भी स्वप्न में प्राप्त हुए वृत्तान्त को सुनकर सर्वरूप से रक्षा करने के लिए निष्ठीवन (थूक) सम्बन्धी बिन्दुओं को भय-सहित व कम्पित हृदय पूर्वक एवं दयालुता के उदय-सहित नाना प्रकार से क्षरण करके निम्नप्रकार मुझे समझाया ।

हे पुत्र ! यह दुःस्वप्न शत्रुपक्ष पर गिरे । पूज्य राज्यलक्ष्मीवाले आप, इस भूमण्डल पर दोषकाल

इति समयं सोढुं गृह्ययं सानुकम्पोषयं च समन्ताद्सह्यविप्रधो विकिरन्ती मामेवमब्रुवुषत्—पुत्र, सर्वपात्रेषु कृषसङ्गविविधोऽपि कथं स्वमद्याधारान्ध इवावभससे । को हि नाम सचेतनः स्वप्नेषु भक्तभुपलभ्य गौणि प्रसारयति । यदि च नियमेन सत्फला भवन्ति स्वप्नास्तहि हृतमेतदार्थकस्य प्रियामाया मोक्षकमन्दमठिकावलोकनादामन्त्रितमहोपतेर-पाहयानम् । प्राणिनो ह्यनिलानलयोनसान्तरिताः स्वप्नायस्यायामर्थजतं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा निरीक्षन्ते । कथितवती चाभुतं मे पथि सहागच्छन्तीयं तव धात्री कुहिता वसन्तिका, यथा—आर्याणि, प्रभातशेधायां निशि स्वप्ने किलाहं यवागूरिव संवृतास्मि । भुक्ता च मन्मातुः श्राद्धामन्त्रितैर्भुवेर्भरिति ।

निष्कण्टकं राज्यामवं प्रवृद्धाभमे निवेशावहिताश्च भूपाः ।

विशो वर्शतास्तव कामितानि यच्छन्ति चिन्तामणिभिः समानाः ॥ ३७ ॥

अमुनि पूर्वैर्भवताजितानि त्याग्य भोगाय ब्रह्मन्ति सन्ति । इच्छाविषयेयश्च विलासिनीनामयं गणस्तेऽप्सरसां सदृशः ॥ ३८ ॥ निष्कारणं सर्वमिव विहाय त्वं केन कामेन तपो हि कुर्याः । स्वर्गपदार्थमिव न सम्यग्दृष्टादृष्टं जलं किमरीयः ॥ ३९ ॥

अवाप्तया कोऽपि न वसति ते तत्रोत्सृज कोषविषं न बोधः ।

भयेन किं मन्वविसर्पिणीनां कन्यां श्यजन्कोऽपि निरीक्षितोऽस्ति ॥ ४० ॥

पर्यन्त उदय प्राप्त करें और ब्रह्म व पोते वर्ग के साथ समुद्रजल मर्यादावाली इस पृथिवी का प्रतिपालन करें । ॥ ३६ ॥

हे पुत्र ! समस्त शास्त्रों में विद्वानों की सङ्गति से विचक्षण होते हुए भी तुम इस समय भूख या क्रियामूढ़-सरीखे किस प्रकार प्रतीत होते हो ? निश्चय से कौन चतुर पुरुष स्वप्न में धान्य प्राप्त करके [उसे भरने-हेतु] गोपी (बोर या धेला) धारण करता है ? अपि तु कोई नहीं करता । यदि स्वप्न नियम से सत्य फलवाले होते हैं तो आचार्य की, जिसने रात्रि में स्वप्न में लड्डुओं से भरी हुई छात्रशाला को देखने से राजा को परिवार-सहित निमन्त्रित किया था, यह जगत्प्रसिद्ध नष्ट दृष्टान्त कथा [सच्ची] समझनी चाहिए । अतः प्राणी वात पित्त व कफ-सहित होते हुए स्वप्नावसर में पूर्व में उत्पन्न हुए या पूर्व में नहीं उत्पन्न हुए वस्तु समूह को देखते हैं । इस समय में ही मेरे मार्ग में साथ आती हुई इस तुम्हारी धाय की पुत्री वसन्तिका नाम-वाली ने मुझ से निम्न प्रकार कहा था—यथा—‘हे स्वामिनि ! पश्चिम रात्रि के प्रान्तभाग में निश्चय से मैं स्वप्न में यवागू-सरीखी हुई । अर्थात्—मैंने स्वप्न में विशेष मात्रा में यवागू (पतले भात) देखे । और जिन्हें, मेरी माता के श्राद्ध में निमन्त्रित किये हुए ब्राह्मणों ने भक्षण किये ।

हे पुत्र । यह राज्य, क्षुद्र शत्रुओं से रहित होता हुआ वृद्धिगत हुआ है व यह सामन्त वर्ग (अधी-नस्थ नृप-समूह) आपका आशावर्ती हुआ सावधान है । ये दश दिशाएँ चिन्तामणि-सरीखीं आपके लिए अभि-लषित वस्तु देती हैं ॥३७॥ ये धनादि लक्ष्मियाँ, जिन्हें आपने पूर्वजों (यशोवन्धु व यशोर्ध्व राजा) से उपाजित की हैं, दान तथा भोग निमित्त वर्तमान हैं एवं रुम्भा, तिलोत्तमा, मेनका और उर्वशी-आदि अप्सराओं-सरीखी यह कामिनियों की श्रेणी आपकी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती हुई विनयशील है ॥३८॥ हे पुत्र ! तुम इस समस्त पूर्वोक्त राज्यादि वैभव को निष्प्रयोजन छोड़कर निश्चय से किस अभिलाषा से तपश्चरण करते हो ? यह तपश्चरण स्वर्ग व मोक्ष निमित्त नहीं है । हे पुत्र ! क्या प्रत्यक्ष फल से परोक्ष फल निश्चय से विशेष महान् होता है ? अपि तु नहीं होता ॥३९॥ हे राजन् ! यदि कोई पुरुष तुम्हारी आज्ञानुसार प्रवृत्ति नहीं करता तो

दुःस्वप्नशङ्का तव चेवथास्ति सर्वः समस्तः कुलदेवतार्थ ।
कृत्वा बलि शान्तिकपोष्ठिकार्थं पश्चात्प्रतिस्वप्नविधिं विधेहि ॥ ४१ ॥

न चेवं मनागपिकमलीकितं वा । तथाहि—

मधुपर्कं च यज्ञे च पितृवत्तकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या माय्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४२ ॥

एष्वयेषु पशून्हिंसन्वेदवेदार्थविवृजः । आत्मानं च पशून्श्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४३ ॥

तथा वेदेऽप्यात्मक्षेयोर्थमश्वविघ्नोपशमनाय च राजसूयपुण्डरीकाश्वमेधगोसववाजपेयाविधु वार्षिकामेष्टिकारीरित्यादिषु च यज्ञेषु प्रवृत्तोऽयं प्राणिवधः स च यज्ञो न भवति । यतः ।

यजार्थं पशवः शृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञो हि धूर्ये सर्वेषां तस्माद्यज्ञे यज्ञोऽवधः ॥ ४४ ॥

इति । राजा—(कर्णौ पिषाय निःस्वस्य च :) किं नु खलु न करोति वेदिनामयं मोहबन्धः, तस्य प्रसव-

उस पर क्रोधरूपी जहर छोड़ो, क्योंकि ऐसा करने में कोई दोष नहीं है । हे राजन् ! क्या खटमलों के भय से कन्या (शीत-निवारण वस्त्र—गोदड़ी) को छोड़ता हुआ कोई भी पुरुष देखा गया है ? अपि तु नहीं देखा गया ॥४०॥^१ हे पुत्र ! यदि आपको दुष्ट स्वप्न का भय है तो कुलदेवता के लिए समस्त प्राणिवर्गों की बलि (घात) करके रात में दुष्ट स्वप्न का ऐसा शमन निश्चय करो, जिसमें शान्ति देनेवाला कर्म और शारीरिक पुष्टि निमित्त कर्म इन दोनों का प्रयोजन वर्तमान है^२ ॥४१॥

हे पुत्र ! यह कुलदेवता के लिए प्राणियों का बलि विधान सदा से प्रचलित हुआ चला आ रहा है और लोक-प्रसिद्ध है । तथाहि—[यशोधर की माता निम्न प्रकार से उक्त बात का समर्थन करती है—मनु नाम के ऋषि ने कहा है कि निम्नलिखित चार स्थानों में ही पशु-बध करने योग्य हैं, अन्यत्र अर्थात्—भक्षण, व शारीरिक पुष्टि-आदि के निमित्त पशु-बध करने योग्य नहीं हैं । मधुपर्क (अतिथि सत्कार के अवसर पर अर्थात्—ब्राह्मण के गृहपर यदि ब्राह्मण अतिथि आता है, उस समय उसके चरण प्रक्षालित करके उनपर दही, मधु व घी छोड़े जाते हैं एवं बड़ा बैल व बड़ा बकरा मारकर उसे व अन्य ब्राह्मणों को खिलाया जाता है एवं चन्दन व पुष्प माला से उस अतिथि की पूजा की जाती है, इसे 'मधुपर्क' कहते हैं) २—यामकर्म (अश्व-मेध-आदि यज्ञ), ३—पितृकर्म (श्राद्ध कर्म) एवं ४—रुद्र-आदि की पूजा विधान के अवसर पर^३ ॥४२॥ वेद-पाठ व वेद के अर्थ को जाननेवाला इन पूर्वोक्त चार कार्यों में पशुओं का घात करता हुआ अपनी आत्मा व पशुओं को उत्तमगति (स्वर्ग-आदि) में प्राप्त कराता है^४ ॥४३॥

शास्त्र में आत्मा के पुण्य-निमित्त व समस्त विघ्नों के विनाशार्थ निम्न प्रकार के यज्ञों में किया हुआ प्राणि-बध, प्राणि-बध (जीव हिंसा) नहीं है । राजसूय, पुण्डरीक, अश्वमेध, गोसव व वाजपेय-इत्यादि अन्य भी यज्ञों के भेद हैं । एवं वार्षिकामेष्टि (यज्ञ विशेष) व कारी । क्योंकि ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ-निमित्त पशुओं की सृष्टि की है । निश्चय से यज्ञ समस्त याचक, आचार्य व यजमानादिकों के ऐश्वर्य-हेतु है, इसलिए यज्ञ-निमित्त की हुई प्राणि हिंसा हिंसा नहीं है ॥४४॥ उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज ने श्रोत्रों को बन्द करके व स्वांस-ग्रहण करके निम्न प्रकार कहा—'प्राणियों का यह मोहबन्ध (रागादि) व उसका उत्पत्ति स्थान अज्ञान-सम्बन्ध भी क्या-क्या अन्तर्ध नहीं करता ? कैसे हैं यशोधर महाराज ? जिसका मन निर्दय

धूमिरजानसंभ्रमश्चेति, कर्कशोदकवितर्ककर्करसंपातस्तिमितचेताः क्षणमात्रमतिकर्तव्यताविमूढमनःश्रोता इव सूखेदमवा-
वीत्—प्रसोदाम्ब । ववामि किञ्चिद्दहम्, यदि तत्र भवती मयि बुध्युन्नापचावपरागं न विकिरति । माता—पुत्र, मैवं
मयि शङ्कुषः । प्रतिष्ठस्व न्यायनिष्ठरतया गोष्ठीसौष्ठवेषु । न खलु केवलमहं प्रसवधमिणी, किं तु भवत्यितुः प्रसादा-
स्तकलव्यवहारवेदिनी च । यद्येवं युक्त एव पूर्वपक्षः । यस्मात् 'न धर्मोऽधरेत्, एष्यत्फलत्वात्संशयितत्वाच्च । को
ह्यवालितो हस्तगतं पादगतं कुर्यात् । वरमद्यकपोतः श्वोमधूरात् । वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः'
इति महाभारत लोके लौकायतिकलोक्तलोलाहलः । स चात्मनो गर्भाविमरणपर्यन्ततायां सुघट एव । राजा—

सत्यं न धर्मः किमस्ते यदि स्याद्गर्भाविमरणान्तर एव जीवः ।

५ चंदम् । आतिस्मरणासथ रक्षसा च वृष्टेः परं किं न समस्ति लोके (लोकः^१) ॥ ४५ ॥

उत्तर फल के विचाररूपी पाषाण के पतन से निश्चल है और जिसकी चित्त-संगति अल्पकाल तक कर्तव्य-
निश्चय में विमूढ़-सी है ।

हे माता ! प्रसन्न होइए । मैं कुछ कहता हूँ, यदि उस वचन के कहने पर आप मेरे ऊपर कुपुत्र संबंधी
निन्दारूप धूलि नहीं फैकती । इसके बाद यशोधर की माता ने कहा—हे पुत्र ! तुम पुत्र से इस प्रकार का भय-
मत करो । हे पुत्र ! मेरी वार्ता-प्रारम्भ की प्रतिभा-शीलता में न्याय-निष्ठरता पूर्वक पूर्वपक्ष करो । हे पुत्र !
निश्चय से मैं केवल तुम्हें जन्म देनेवाली ही नहीं हूँ किन्तु आपके पिता की करुणा से समस्त व्यवहार को
जाननेवाली हूँ । अतः हे पुत्र ! मेरा पूर्वपक्ष करना उचित ही है, अतः यशोधर की माता उसी वार्ता का प्रारम्भ
करती है—जिस कारण हे पुत्र ! लोक में निश्चय से निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन विशेषरूप से है—यथा
'धर्मों का आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्माचरण में भविष्यकालीन फल है । वर्तमान काल में धर्मा-
चरण का फल दृष्टि गोचर नहीं होता । इतना ही नहीं, अपि तु—धर्माचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि
संशयित्वात् । अर्थात्—यह नहीं जाना जाता कि धर्माचरण से फल मिलेगा ? अथवा नहीं मिलेगा ? इस
प्रकार का सन्देह होने के कारण भी धर्माचरण नहीं करना चाहिए अब उक्त विषय को दृष्टान्त से दृढ़
करते हैं ।

निश्चय से कौन विद्वान् पुरुष हस्तगत सुवर्ण-आदि वस्तु को पादगत करेगा ? अर्थात्—दोनों पैरों
से ग्रहण करेगा ? अभिप्राय यह है कि हाथ निकटवर्ती हैं और पैर तो दूरवर्ती हैं, अतः जिस प्रकार निकटवर्ती
हाथों में प्राप्त हुई सुवर्ण-आदि वस्तु को विद्वान् दूरवर्ती पैरों से धारण नहीं करता उसीप्रकार प्रत्यक्ष फलवाले
कामिनी-आदि भोग ही ग्रहण करना चाहिए और अदृष्ट-परोक्ष-फलवाले धर्म का आचरण छोड़ देना
चाहिए । कल प्रातःकाल प्राप्त होनेवाले मयूर की अपेक्षा आज प्राप्त होनेवाला कबूतर श्रेष्ठ है । यद्यपि मयूर
में मांस अधिक है और कबूतर में अल्प है तथापि भविष्य में प्राप्त होनेवाले विशेष मांसशाली मयूर की अपेक्षा
आज वर्तमान में प्राप्त होनेवाला अल्प मांस-युक्त कबूतर ही श्रेष्ठ है । अर्थात्—उसी प्रकार भविष्य में स्वर्गादि
विशेष फलशाली धर्म की अपेक्षा वर्तमान में अल्प फलवाली ज्वानी व कमनीय कामिनी-आदि उपभोग
वस्तुएँ ही श्रेष्ठ हैं । सन्देह-युक्त २१६ तोला परिमाणवाले सुवर्ण सिक्के या सुवर्णमयी हृदय-भूषण (हार) की
अपेक्षा स्तोभर तोल का निश्चित सुवर्ण श्रेष्ठ है । जब आत्मा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त हो है तब वह नास्तिक
दर्शन युक्ति-युक्त ही है । फिर यशोधर महाराज ने कहा—

हे माता ! तेरा वचन सत्य है परन्तु यदि जीव (आत्मा) गर्भ व मरण के मध्यवर्ती ही होता

१. 'परः किं न समस्ति लोकः' ह. लि. (क) प्रती पाठः ।

स्वयं कृतं जन्तुषु कर्म नो चेत्समः समस्तः खलु किं न लोकः । भूतात्मकं चित्तमिव च मिथ्या स्वरूपभेदात्पवनावतीव ॥४६॥
एवं चेदमपि संगच्छते—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् । व्यञ्जयति शास्त्रभेदसमाप्तिं ब्रह्मार्णो दीप इव ॥ ४७ ॥

नवं ययश्चास्तुरास्तरुण्यो रम्याणि हर्म्याणि मित्राः श्रियश्च ।

एतानि संसारतरोः फलानि स्वर्गः परोऽस्तीति मूर्धन्यं शार्ता ॥ ४८ ॥

बोधस्त्वमोषां पुनरेक एव स्वर्गार्थं यन्नास्ति जगत्पुण्यः । तत्संभवे तत्त्वविधा परं स्थात्सेवाय वेहस्य तपःप्रपासः ॥ ४९ ॥

तब धर्म नहीं किया जाता परन्तु यह बात नहीं है । अर्थात्—जीव गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही नहीं है । अब उक्त बात को आक्षेप (दृष्टान्त) द्वारा समर्थन करते हैं—निश्चय से क्या लोक में जाति स्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होते ? अर्थात्—यदि जीव, गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही होता तब जाति स्मरणवाला पुरुष क्यों इसप्रकार कहता है । 'मैं पूर्वजन्म में इसप्रकार (अमुक कुल में अमुक रूप से उत्पन्न होनेवाला) हुआ था ।' अथवा पाठान्तर में जब जाति स्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर हो रहे हैं तब क्या परलोक (पूर्वजन्म) नहीं है ? एवं क्या निश्चय से लोक में राक्षस (व्यन्तर) दृष्टिगोचर नहीं होते ? अर्थात्—किसी का पिता-आदि भरकर राक्षस हुआ श्मशान भूमि में जन्म धारण करता हुआ सुना जाता है । यदि गर्भ से लेकर मरण-पर्यन्त ही जीव होता तब व्यन्तर किसप्रकार हुआ ? अथवा पाठान्तर में जब पुरुष मरकर राक्षस हुए सुने जाते हैं तब क्या परलोक-(भविष्यजन्म) नहीं है ? अपितु अवश्य है । सारांश यह है उक्त राक्षसों के दृष्टान्त से भविष्य जन्म सिद्ध हुआ समझना चाहिए ॥४५॥ यदि प्राणियों का स्वयं उपाजित किया हुआ पुण्य व पापकर्म नहीं है तो निश्चय से समस्त लोक समान (सदृश) क्यों नहीं होता ? अर्थात्—फिर राजा, किष्कुर, गुरु, विष्य, धनाढ्य व दरिद्र इत्यादि भेद किसप्रकार संभव होगा ? 'यह आत्मा पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चारों भूतों से निष्पन्न है' इसप्रकार की नास्तिक दर्शन की मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इनमें स्वरूप-भेद वर्तमान है । अर्थात्—विज्ञान, सुख व दुःख-आदि गुणवान् जीव है और भूत (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु) अचेतन (जड़) होने के कारण जीवद्रव्य से भिन्न हैं । उदाहरणार्थ—जिसप्रकार वायु और पृथिवी द्रव्य स्वरूप भेद के कारण भिन्न-भिन्न हैं । अर्थात्—वायु चञ्चल स्वभाव-युक्त व पृथिवी स्थिर स्वभाववाली है । उसीप्रकार आत्मा चेतन ज्ञानादिगुणवान् है और पृथिवी-आदि भूत अचेतन होते हुए धारण-आदि गुण-संयुक्त हैं ॥४६॥

जब इसप्रकार उक्त भेद सिद्ध है तभी निम्नप्रकार आर्याच्छन्द जन्मगत्रिका के आरम्भ में लिखा जाता है—इस जीव ने पूर्व जन्म में जो पुण्य-पाप कर्म उपाजित किये हैं, भविष्य जन्म में उस कर्म के उदय को यह ज्योतिषशास्त्र उसप्रकार प्रकट करता है जिसप्रकार दीपक अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि वस्तुओं को प्रकट (प्रकाशित) करता है । अर्थात्—जब पूर्वजन्म का सद्भाव है तभी ज्योतिःशास्त्र उत्तर जन्म के स्वरूप को प्रकट करता है । इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही जीव नहीं है, अपितु गर्भ से पूर्व व मरण के बाद भी है ॥४७॥ पुनः यशोधर महाराज ने कहा—नवीन यौवन, विशेष सुन्दर युवतियाँ, मनोज्ञ महल और विशेष शुभ घनादि लक्ष्मियाँ, ये संसाररूपी वृक्ष के फल हैं । 'स्वर्ग भिन्न है' यह बात मिथ्या है, किन्तु यौवन, स्त्री व धनादि सुख सामग्री ही स्वर्ग है ॥४८॥ परन्तु इस यौवन, स्त्री व धनादि सुख सामग्री में एक ही (महान्) दोष है, क्योंकि संसार में यौवन, स्त्री व धनादि सुख का कारण

वाक्यस्य मीमांस्यस्तपोविकारो युवा तपस्येद्यवि सत्र वृद्धः । कुटुम्बभारविहृतश्च मय्यो वृद्धः पुनर्बुद्धिहाय एव ॥५०॥

परोपरोधाद्यमेवमात्मा मिथ्याग्रहप्रस्तमनःप्रतानः । स्वयं-विजानन्नपि देवदूतैराकृत्य भोयेत भवधमाय ॥ ५१ ॥

चरमोऽपि पक्षः श्रेयानेव । द्विषा क्षलु प्राणिनामापदो भवन्ति—संभवत्प्रतीकारः, कालकृतावताराश्च । तत्रा-
द्यानामुपशमनाय प्रतिस्वप्नविधिः श्रेयःसंनिवेरेव एणाजिरेषु राजव्यञ्जनव्याजेन द्विषद्विषवराणाममर्दविषवर्धस्थ प्रतीकार
इव । मध्यमस्तु पक्षोऽतीव मध्यमः ।

अहोरात्रं यथा हेतुः प्रकाशव्यान्तजन्मनि । तथा भहीपतिहेतुः पुण्यपापप्रवर्तने ॥ ५२ ॥

उक्तं च—रात्रि रश्मिणि रश्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः । राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ५३ ॥

इति । नूतसंरक्षणं हि क्षत्रियाणां महान् धर्मः । स च निरपराधप्राणिष्वे नितरां निराकृतः स्यात् । नृपति-
प्रतिष्ठानि च खलु देहिनां व्यवहारतन्त्राणि प्रवर्तन्ते । नृपत्यायत्ताः पुण्यपापहेतवो वर्णाधमाणांमाचारव्यवस्थाश्च । ते

स्थिर नहीं हैं, किन्तु यौवन-आदि सब क्षणिक ही हैं । यदि ये यौवन-आदि स्थिर होते तो तत्त्वज्ञानियों का
तपश्चर्या-प्रयास केवल शारीरिक खेद-निमित्त होता ॥४९॥

हे माता ! शिशु को दीक्षा-ग्रहण का अधिकार नहीं है, क्योंकि उसकी प्रकृति हिताहित के विवेक से
शून्य होती है । यदि जवान पुरुष तपश्चर्या करे तो उस तपश्चर्या करने में प्रायश्चित्त है, अथवा शरीर-
दण्डन का कष्ट होता है । इसीप्रकार अर्द्धवृद्ध पुरुष तो कुटुम्ब की उदर-पूर्ति करता है । वृद्ध पुरुष दीर्घकाल
में उदर-पूर्ति करता है ॥५०॥ यह जीव माता-पिता-आदि के अनुरोध से असत्य पिशाच-ग्रह से ग्रहण किये
हुए मानसिक व्यापारवाला होता है । अतः स्वयं विशेष जानता हुआ भी यमराज के किङ्करीं द्वारा खींचकर
संसार-भ्रमण के लिए ले जाया जाता है ॥५१॥ हे माता ! यद्यपि चरम पक्ष (शान्तिक पीठिक लक्षणवाला
अखीर का कथन) शुभ ही है, परन्तु प्राणिहिंसा के कारण कल्याण-कारक नहीं है । निश्चय से प्राणियों की
विपत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, १—संभवत्प्रतीकार (जिनके दूर होने का उपाय हो सकता है) एवं २—
यमराज द्वारा उत्पन्न होनेवाली मृत्यु । उन दोनों विपत्तियों के मध्य पहिली संभवत्प्रतीकारवाली आपत्तियों के
उपशमन के लिए स्वप्नशमन-विधान पुण्याचरण से ही होता है, जो कि (स्वप्न-शमन-विधान), संग्रामाङ्गणों
पर राज-चिह्नों के मिष से शत्रुसर्पों के क्रोधरूप विष-धर्षण की प्रतिक्रिया (दूर करने का उपाय—विद्याधर-
औषधि, मन्त्रजल व हवनादि) सरोखा है । मध्यमपक्ष 'दुःस्वप्नशङ्का' इत्यादि तो जीवहिंसा के कारण निःकृष्ट
है । जिसप्रकार प्रकाश की उत्पत्ति में दिन कारण है और अन्धकार की उत्पत्ति में रात्रि निमित्त है उसीप्रकार
पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में राजा कारण है ॥५२॥ अर्थशास्त्रकार चाणक्य ने कहा है—राजा के धर्मात्मा होने पर
प्रजा धर्मात्मा होती है और राजा के पापी होनेपर प्रजा भी पापी हो जाती है एवं राजा के मध्यस्थ होने
पर प्रजा भी मध्यस्थ हो जाती है । प्रजा के लोभ राजा का अनुसरण करते हैं । जैसा राजा होता है, प्रजा
भी वैसी होती है ॥५३॥ हे माता निश्चय से प्राणियों की रक्षा (प्रतिपालन), क्षत्रिय राजकुमारों का श्रेष्ठ
धर्म है, वह धर्म, निर्दोष प्राणियों के घात करने से विशेष रूप से नष्ट हो जाता है । निश्चय से प्राणियों के
व्यवहार शास्त्र राजा के अधीन हैं । प्राणियों के पुण्य व पाप के कारण तथा चार वर्णों (ब्राह्मणादि) व चार
आश्रमों (ब्रह्मचारी आदि) के आचरण व मर्यादाएँ भी राजाधीन प्रवृत्त होती हैं । ये राजालोभ काम, क्रोध

च नृपतयः कामक्रोधान्मामजनेन वा पर्येष शुभमशुभं वा कपरिभन्ते तथैव जानपदा अपि । श्रूयते हि—वज्रमीमण्डले
नृपतिबोधावभूदेवेष्टवासवोपयोगः, पारसीकेषु स्वसवित्रीसंयोगः, सिंहलेषु च विद्युर्वायुसृष्टिप्रयोग इति । ततश्च ।

यथैव पुण्यस्य सुकर्मभाजां षष्ठांशभागी नृपतिः कुवृत्तः । तथैव पापस्य कुकर्मभाजां षष्ठांशभागी नृपतिः कुवृत्तः ॥ ५४ ॥

अपि च । यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ।

अस्त्राणि तथैव नृपाः क्षिपान्त न धीनशानानि शशुभाशयेषु ॥ ५५ ॥

तन्मातः, अहमेहिकामुत्रिकचरित्रानपत्रपस्तेषु प्राणिषु कथं नाम अस्त्रं प्रयोजयामि । किं च ।

न कुर्वीत स्वयं हिंसां प्रवृत्तां च निवारयेत् । जीवितं बलमारोग्यं वायव्याञ्छन्महोपतिः ॥ ५६ ॥

यो दद्यात्काञ्चनं मेहं कृत्स्नां चापि वसुंधराम् । एकस्य जीवितं दद्यात्फलेन न समं भवेत् ॥ ५७ ॥

यथात्मनि शरीरस्य दुःखं नेच्छन्ति जन्तवः । तथा यदि परस्यापि न दुःखं तेषु जायते ॥ ५८ ॥

इति श्लोकत्रयं गतवस्थेव विने हिरण्यगर्भस्य मन्त्रिणः सुतेन नीतिबृहस्पतिना भामध्यापितवती भवत्येव ।
कथं नाम विस्मृता । विधेयमेव वाशुभमपि कर्म । को बोधो यदि हन्यमानस्येवात्मनो न भवेद्युः सुलभ्यान्यापदि
विजृम्भितानि ।

व अज्ञान से जिसप्रकार पुण्य या पाप आरम्भ करते हैं उसीप्रकार प्रजाजन भी आरम्भ कर देते हैं । उक्त
घात का समर्थन दृष्टान्त-माला द्वारा करते हैं—निश्चय से सुना जाता है कि रत्नपुर, नाम के नगर में राजा
के दोष (मद्यपान) से ब्राह्मणों में मद्यपान की प्रवृत्ति हुई एवं राजा के दोष से राखवान देशों में अपनी माता
के साथ संयोग प्रवृत्त हुआ । राजा के दोष से सिंहल देशों में वर्ण-सङ्करता प्रवृत्त हुई सुनी जाती है । अतः—

जिसप्रकार सदाचारी राजा पुण्यकर्म करनेवाले लोगों के पुण्य के छोटे अंश का भोगनेवाला होता
है उसीप्रकार दुराचारी राजा पापी लोगों के पाप के छोटे अंश का भोगनेवाला होता है ॥५४॥ तथा च ।
जो शत्रु युद्धभूमि पर शस्त्र धारण किये हुए है अथवा जो अपने देश का काँटा है, अर्थात्—जो अपने देश पर
आक्रमण करने को उद्यत है, उसी शत्रु पर राजा लोग शस्त्र प्रहार करते हैं, न कि दुर्बल, प्रजा पर उपद्रव-आदि
न करनेवाले और साधुजनों के ऊपर शस्त्र प्रहार करते हैं ॥५५॥ अतः हे माता ! मैं इस लोक व परलोक के
आचरण में निर्लज्ज होता हुआ किसप्रकार उन धीन-आदि निरपराध प्राणियों पर खड्ग-आदि शस्त्र चलाऊँ ?

हे माता ! मैं और कुछ विशेष कहता हूँ—

राजा, दीर्घायु, शारीरिक सामर्थ्य व निरोगता की निरन्तर अभिलाषा करता हुआ स्वयं प्राणियों
का घात न करे और दूसरों द्वारा किये हुए प्राणिघात को रोके ॥५६॥ जो पुरुष मुमेरु पर्वत प्रमाण सुवर्ण-
दान करता है और समस्त पृथिवी का दान करता है । एवं जो एक जीव के लिए अभयदान (रक्षा) देता
है, वह पुरुष फल से समान नहीं है । अर्थात्—उसे दोनों दानों की अपेक्षा अभय दान (जीवन-दान) का
विशेष फल प्राप्त होगा ॥५७॥ जिसप्रकार प्राणी, अपने शरीर के लिए दुःख देना नहीं चाहते उसीप्रकार यदि
दूसरे प्राणी को दुःख देना नहीं चाहें तो उन प्राणियों को दुःख उत्पन्न नहीं होता ॥५८॥ हे माता ! उक्त तीनों
श्लोक, कल आपने ही हिरण्यगर्भ नाम के मन्त्री के पुत्र 'नीतिबृहस्पति' से भुले पड़ाये थे । हे माता ! तुम उक्त
श्लोकों का किसप्रकार से भूल गई ? जब पापकर्म करना चाहिए, उसमें क्या दोष है ? यदि घाते जानेवाले
प्राणी की तरह अपनी आत्मा को आपत्तियों के शुल्भ व व्यापार-युक्त विस्तार न होवें । अर्थात्—जब घाते
जानेवाले प्राणी को तरह घातक पुरुष को विशेष दुःख भोगने पड़ते हैं तब हिंसादि पातक क्यों करना चाहिए ?
जब ब्राह्मणों व देवताओं के सन्तुष्ट करने के लिए एवं शारीरिक पुष्टि के लिए संसार में प्राणिहिंसा को छोड़कर

सन्तर्पणार्थं द्विजदेवतानां पुष्टधर्ममङ्गलस्य च सन्तुष्टयायाः । अन्येऽपि लोके बहवः प्रशस्ताः सन्तः कुतः पापमिहाधरन्ति ॥५९॥

शुश्रोणितसंभूतमशुचीनां निकेतनम् । मांसं चेत्प्रीणयेद्देवनेत व्याघ्रानुपात्महे ॥ ६० ॥

मिथ्या चायं प्रवादः पशुपहारेण देवतास्तुष्यन्तीति ।

हृताः कृपाणेन वनेऽपि जन्तवो बाहं स्त्रियन्ते गलपीडनाच्च । अदन्ति चैतान्स्वयमेव वेद्यो व्याघ्रः स्तवार्हाः परमत्र सन्तु ॥६१॥

कृत्वा मिषं देवमयं हि लोको मध्ये च मांसे च रतिं करोति । एवं न चेद्दुर्गतिसंगतिः स्याद्विषकर्मणां कोऽपर एव मार्गः ॥६२॥

यदि च हिंसैव परमार्थतो भवति धर्मः, कथं तर्हि मृगयायाः पार्पाधिरिति रुद्धिः, मांसस्य च पिषायाऽनयनम्, तत्संस्कर्तुं गृहाद्वहिर्वासः, रावणशाक इति नामान्तरव्यपदेशः, पर्वदिवसेषु धर्मनं च

पाषन्ति पशुरोमाणि पशुनाशेषु भारत । तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥ ६३ ॥

इति कथमियं पौराणिकी श्रुतिः ।

दूसरे भी बहुत से प्रशस्त उपाय हैं तब हे माता ! सज्जन पुरुष इस लोक में किस कारण से हिंसादि पापकर्म करते हैं ? ॥५९॥ हे माता ! मांस, जो कि शुक्र (वीर्य) व शोणित (रुधिर) से उत्पन्न हुआ है एवं विष्ठादि का स्थान है, यदि देवताओं को सन्तुष्ट करता है, तो आप लोग आइए, हम व्याघ्रों (चीतों या बाघों) की उपासना करते हैं, क्योंकि वे भी मांस से सन्तुष्ट होते हैं ॥६०॥

‘पशुओं को बलि करने से देवता सन्तुष्ट होते हैं’ यह कथन असत्य है । हे माता ! पशु-आदि प्राणी वन व नगर में तलवार से मारे हुए विशेषरूप से मरते हैं एवं गला-मरोड़ने से भी मरते हैं । कुलदेवता-आदि इन मरे हुए पशुओं का स्वयं भक्षण करते हैं । अर्थात्—जब ये हम लोगों से दान-ग्रहण करने में कुछ अपेक्षा करते हैं तब तो निश्चय से इस संसार में व्याघ्र ही स्तुति करने योग्य हों, क्योंकि व्याघ्रादि हिंसक जन्तु तो पशुओं को मारकर स्वयं भक्षण करते हैं और देवता तो हम लोगों को प्रेरित करके मरण कराकर बाद में खाते हैं, अतः देवता स्तुति-योग्य नहीं हैं ॥६१॥ यह पापी मनुष्य, निश्चय से देवता का बहाना करके मद्यपान व मांस भक्षण में अनुराग करता है । यदि इस प्रकार का देवता का बहाना न होता तो पापियों को दूसरा कौन सा दुर्गति (नरकादिगति) का मार्ग होता ? क्योंकि यही तो—देवता का मिष ही—पापियों का दुर्गति-मार्ग है ॥६२॥

हे माता ! यदि प्राणियों का वध करना ही निश्चय से धर्म है तो शिकार की ‘पापधि’ नाम से प्रसिद्धि क्यों है ? और मांस को ‘पिषायाऽनयन’ (ढक करके लाने लायक) नाम से प्रसिद्धि किस प्रकार से है ? एवं मांस पकानेवाले का ‘गृहाद्वहिर्वास’ (घर से बाहिर निवास करना), तथा मांस का ‘रावण शाक’ इस प्रकार का दूसरा नाम-कथन किस प्रकार से है ? एवं अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व एकादशी-आदि पर्व दिनों में मांस का त्याग किस प्रकार से है ?

हे युधिष्ठिर महाराज ! जितने पशुओं के रोम पशु-शरीरों में वर्तमान हैं उतने हजारों वर्ष पर्यन्त पशुघातक नरकों में पकते हैं ॥६३॥ इस प्रकार की यह महाभारत शास्त्र की श्रुति किस प्रकार से है ? प्राणों के घात से निवृत्त होता, अर्थात्—समस्त प्राणियों की रक्षा करना, दूसरों के धन का अपहरण करने का जीवन पर्यन्त नियम करना, मिथ्या भाषण का त्याग, अर्थात्—हित, मित व प्रिय वचन बोलना, मुनियों या दूसरे अतिथियों को आहार-वेला में अपनी शक्ति के अनुसार दान देना, पर पुरुषों की युवतिजनों से मौन भाव, अर्थात्—दूसरे की स्त्रियों को प्रशंसा न करना—परस्त्रियों के प्रति मातृ-भगिनी-भाव एवं लोभरूपी जल

प्राणाधाताग्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं काले शक्त्या प्रवेद्य युवतिजनकधामूकभावः परेयाम् ।

तृष्णास्त्रीतोविबन्धो गुणेषु च विनतिः सर्वभूतानुकम्पा सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष मार्गः ॥६४॥

इति कथमेतत्सर्वपथीनमुवाच वररुचिः ।

होमस्नानतपोजाप्यश्रद्धाध्यादयो गुणाः । पुंस्त्रिं हिंसारते पार्थ चाण्डालसरसोत्तमाः ॥६५॥

इति कथमिदं व्यासोक्तिः ।

भूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥६६॥

इति कथमिदमाह वैवस्वतो मनुः ।

अवशेषेण हि सतामसतां प्रप्रेहेण च । तथा सत्त्वेष्वभिद्रोहादवर्मस्य च कारणात् ॥६७॥

विमाननाच्च मान्यानां विश्वस्तानां च घातनात् । प्रजानां जायते लोपो मृपतेश्चाधुषः क्षयः ॥६८॥

कथमिदमभाषत पाङ्गुण्यप्रस्तावे भारद्वाजः ।

चातुर्मास्येष्वधर्मासिकम्, दशपौर्णमासयोश्चातुरात्रिकम्, राजनक्षत्रे गुरुपर्वणि च त्रेरात्रिकम्, एवमन्यासु चोपहतासु तिथिषु द्विरात्रमेकरात्रं वा सर्वेषामघातं घोषयेवायुर्बलवृद्धधर्ममिति कथमुपनिषन्नि वदति स्म विशालाक्षः ।

प्रवाह का बांधना—अर्थात्—परिग्रह का परिमाण करना, गुरुजनों के लिए नमस्कार करना एवं समस्त प्राणियों के प्रति दयालुता, यह सर्वसाधारण सर्वशास्त्रों में पुण्यों का मार्ग है, जिसे कोई उल्लङ्घन नहीं करता ॥६४॥
वररुचि—कात्यायन नाम के विद्वान् ने यह सर्वसाधारण कल्याण का मार्ग किस प्रकार कहा ?

हे अर्जुन ! होम, स्नान, सांतपन-आदि तप करना, मन्त्रों का जाप करना, ब्रह्मचर्य-आदि गुण, हिंसक पुरुष में वर्तमान हुए चाण्डाल के तालाब के जल-सरोखे अग्राह्य हैं ॥६५॥ इस प्रकार का यह व्यास-वचन किस प्रकार से है ? समस्त प्राणियों में समता (दयालुता) परिणाम रखता हुआ गृहस्थ भी जिस किसी आश्रम (ब्रह्मचर्य-आदि) में रत हुआ धर्म का अनुष्ठान करे, जटो व मूण्डो-आदि चिह्न धर्म का कारण नहीं है ॥६६॥ इस प्रकार यह सूर्यपुत्र मनु ने किस प्रकार कहा ? निश्चय से शिष्ट पुरुषों का तिरस्कार करने से, दुष्ट पुरुषों के स्वीकार (आदर) करने से, प्राणियों का घात करने से, पाप के प्रयोजन से, माननीय (पूज्य) पुरुषों का भङ्ग करने से, एवं विश्वस्त पुरुषों का घात करने से प्रजानों का विनाश होता है और राजा की आयु क्षीण (नष्ट) होती है ॥६७-६८॥ यह वचन पाङ्गुण्य (सन्धि व विग्रह-आदि) के अवसर पर भारद्वाज नाम के ब्राह्मण विद्वान् ने किस प्रकार कहा ?

'राजा का कर्तव्य है कि वह आयु व शक्ति की वृद्धि के लिए वर्षा काल में पन्द्रह दिन तक समस्त प्राणियों के घात न करने की घोषणा करे । तथा वर्षा ऋतु में अमावस्या व पूर्णमासी के समय चार दिन तक, अर्थात् वर्षा ऋतु सम्बन्धी दो अमावास्या व दो पूर्णमासी इस प्रकार चार दिन तक, समस्त प्राणियों के बध न करने की घोषणा करे । इसी प्रकार राज नक्षत्र (जिस नक्षत्र में राजा का जन्म हुआ है) में तथा संक्रान्ति आदि गुरुपर्व में तीन दिन तक समस्त प्राणियों की हिंसा न करने की घोषणा करे । इसी प्रकार दूसरी उपहृत (ग्रहण-आदि से दूषित) तिथियों में दो दिन तक अथवा एक ही दिन समस्त प्राणियों के घात न करने की घोषणा करे ।' इस प्रकार वेदान्त शास्त्र में विशालाक्ष (प्रभाकर ऋषि) ने किस प्रकार कहा ? 'मधु व मांस-आदि का आहार शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्दित है' इस प्रकार शिकार करने की जीविका में आनन्द माननेवाले

आहारः साधुजनविरिन्दितो मधुभासाविरिति कथं चेवं मृगयोपयोगानन्दं शबरद्वन्द्वं निन्दितावादि बाणेन ।

माता—(स्वगतम् ।) अहो, मधोये मुते सांप्रतं जैनजनवात इव लग्नः प्रतिभासते । विषमयत्न खलु भवत्ययं जनः, यस्मान्निचरं समयान्तरोपरिधत्तप्रतीकाराण्यप्यन्धेषां मर्नासि प्रायेण पश्यतो हर इव हरत्याहंतो लोकः । तद्वासना-वासितं हि चेतो न ब्रह्मणापि शक्यतेऽन्यथाकर्तुम् । बुद्धिचित्तस्यैव खलु करिणां कूटपाकल इव प्राणिनां क्षयणकोप-भीतश्चित्तस्याभिनिवेशः । कथितं च मेऽपरेद्युरेव शिवभूतेः पुरोहितस्यात्मजेन शिवशर्मणा, यथा—अम्बावेदि, राजाद्य भ्रमणिकायां गतस्तत्कमूलनिवासिनमवाससमिन्द्राचित्तचरणनामधेयमद्राक्षीत् । तद्दर्शननिधारणे च कृतकापेयमपि मामवमत्स तेन सह महतीं वेलांमिति प्रश्नोत्तरपरम्पराप्रवृत्तमुबन्तमकार्षीत्—

को भगवन्निह धर्मो यत्र दया भूय सर्वसत्त्वानाम् । नो नामाप्नो यत्र हि न सन्ति सांसारिका दोषाः ॥ ६९ ॥

भोलों के समूह की निन्दा करते हुए 'बाण' नाम के महाकवि ने यह किस प्रकार कहा ? फिर यशोधर महाराज की माता (चन्द्रमति) अपने मन में निम्न प्रकार चिन्तन करती है—आश्चर्य है कि इस समय मेरे पुत्र में जैन लोगों की वासना संगत हुई सरीखी प्रतिभासित होती है । निश्चय से यह जैनलोक असाध्य होता है । क्योंकि यह चोर-सरोखा दूसरों के चित्तों को, जिनके प्रतीकार (प्रतिक्रिया या चिकित्सा) दूसरे शास्त्रों से रचे गए हैं, अर्थात्—जिनकी वासना दूसरे शास्त्रों से रची गई है, प्रायः करके हृरण कर लेता है । अर्थात्—उनमें अपनी वासना लगा देता है (अपने धर्म में ले आता है) । जैन लोक की भावना से वासित हुए मन को ब्रह्मा भी अन्यथा करने को समर्थ नहीं है । दिगम्बर मुनि द्वारा प्राप्त कराया गया प्राणियों के मन का अभिप्राय, उस प्रकार चिकित्सा करने के अयोग्य है अथवा प्रतीकार करने के अयोग्य है जिस प्रकार हाथियों का कूट-पाकल (सद्यः प्राणहर ज्वर) चिकित्सा करने के अयोग्य होता है । परसों शिवभूति पुरोहित के पुत्र शिवशर्मा ने मुझ से कहा था । हे माता ! वन क्रीडार्थ गए हुए यशोधर महाराज ने आज वृक्ष की मूल में बैठे हुए 'इन्द्राचित्तचरण' नाम के दिगम्बर मुनि को देखा । उन्होंने उसके साथ गोष्ठी निवारण में चञ्चलता करनेवाले मुझे तिरस्कृत करके उस मुनि के साथ विशेष समय तक इसप्रकार का वार्तालाप किया, जो प्रश्न-परम्परा व उत्तर-परम्परा में प्रवृत्त हुआ था, अर्थात्—मेरे राजा सा० (यशोधर महाराज) ने प्रश्न-परम्परा की ओर प्रस्तुत मुनि ने उत्तर-परम्परा दी ।

अब यशोधर महाराज व उक्त 'इन्द्राचित्तचरण' नामके मुनि के मध्य हुई प्रश्नोत्तरमाला का निरूपण करते हैं—

राजा—हे भगवन् ! इस संसार में धर्म का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिस धर्म में समस्त प्राणियों की दया है, उसे धर्म कहते हैं ।

राजा—हे ऋषिराज ! आस (ईश्वर) का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिसमें क्षुधा व पिपासा-आदि संसार में होनेवाले अठारह दोष नहीं हैं वही आस है ॥६९॥

राजा—आस के जानने का क्या उपाय है ?

ऋषि—हे राजन् ! पूर्वापर के विरोध से रहित निर्दोष शास्त्र ही आस के जानने का उपाय है ।

राजा—हे भगवन् ! तपश्चर्या—दीक्षा—का क्या स्वरूप है ?

तज्जाने क सथायः शान्तं ज्ञानं वाच्यतामस्मात् । तर्हि ततः किं विद्वत्प्राप्तं ह्यदिनिग्रहो यत्र ॥ ७० ॥
 जीवः को यत्रंते भवन्ति बुद्ध्यावयः स्वसंवेद्याः । तस्यामूर्तस्य सतः शरीरबन्धः कथं भवति ॥ ७१ ॥
 स्वकुतः कर्मभिरेव प्रयाति जीवः शरीरबन्धं वा । चातेरितः परागं भवति यथा संगमो नमसः ॥ ७२ ॥
 तैरेव गर्भवासे स जीयते निजकलोपभोगार्थम् । अशुचिनि मदनद्वन्द्वेतिपात्यते आश्रयो मदत् ॥ ७३ ॥
 अस्मादृशां स धर्मः कथं तु निजशक्तितो व्रतग्रहणात् । किं व्रतमिह वाञ्छाया यो दर्शनपूर्वको नियमः ॥ ७४ ॥
 किं दर्शनमिदमाहुर्वा श्रद्धा युक्तिः पदार्थेषु । के पुनरमी पदार्था मरेतव्रतंते जगद्वक्त्रम् ॥ ७५ ॥

ऋषि—हे राजन् ! जिसमें विषयों (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप व शब्द) की संगति का त्याग है, उसे तप—दोषा—कहते हैं ॥७०॥

राजा—हे ऋषिराज ! आत्मा (जीव) का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिसमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होने योग्य बुद्धि, सुख व दुःख-आदि गुण पाये जाते हैं, उसे जीव (आत्मा) कहते हैं ।

राजा—हे भगवन् ! जब आत्मा अमूर्तिक है तो उसके साथ मूर्तिक शरीर का बन्ध किस प्रकार से हुआ ? ॥७१॥

ऋषि—हे राजन् ! स्वयं अपने द्वारा उपार्जन किये हुए कर्मों द्वारा यह जीव वैसा शरीर के साथ बन्ध को प्राप्त होता है जैसे वायु द्वारा प्रेरित हुईं धूलियों से आकाश का संगम होता है ॥७२॥ और उन्हीं कर्मों के द्वारा गर्भवास (सम्मूच्छन्, गर्भ व उपपाद लक्षणवाले जन्म स्थान) में अपने पुण्य-पाप लक्षणवाले कर्मों के सुख-दुःख रूप फलों के भोगने के लिए लाया जाता है—जिसप्रकार चारों वेदों का पढ़नेवाला ब्राह्मण विद्वान्, घतूरा व मादक कोदों द्वारा विष्टा में पटका जाता है ॥७३॥

राजा—हे भगवन् ! वह पूर्व में कहा हुआ समस्त जीवों में दया लक्षणवाला धर्म हम-सरोखे गृहस्थ पुरुषों को किसप्रकार से प्राप्त होता है ?

ऋषि—हे राजन् ! अपनी शक्ति के अनुसार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग-आदि व्रतों के पालन करने से उक्त धर्म प्राप्त होता है ।

राजा—हे भगवन् ! इस संसार में व्रत क्या है ?

ऋषि—हे राजन् ! सम्यग्दर्शन (तत्त्व-श्रद्धा) पूर्वक इच्छाओं के निरोध (रोकने) को व्रत कहते हैं ॥७४॥

राजा—हे ऋषिवर ! सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

ऋषि—हे राजन् ! तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष) को तर्कशास्त्र के अनुसार यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

राजा—हे भगवन् ! वे श्रद्धा के योग्य तत्त्व (पदार्थ) कौन हैं ?

ऋषि—हे राजन् ! जिन जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष-आदि पदार्थों से यह तीन लोक व्याप्त है, वे ही पदार्थ हैं ॥७५॥

तत्प्रभृति न साभिलाषं सेवते मधुनि, न मांसमभिनन्दति, नाखेटकमनुमन्यते, न हृद्यकव्याथंभालभते पशून्, धृतिस्मृतिवाक्येषु च प्रतिकूलतया प्रयच्छत्युत्तरणीति । (प्रकाशम् । भुक्तोष्ठतया प्रसार्य समीपवर्तिनः ।)

रे मम पुत्रस्य च तम्प्रस्य च सर्वस्वलाविनः, प्रजानां च लज्जालूभाः, निशाचराः, किमेधमस्मत्पुत्रो भवतां नार्थयितुं युक्तः । तनु सदाहं निवारयामि भवतः, यदुतायमद्याप्यपरिपक्वबुद्धिः अगलीकवेतव्यात्मसमारोपितपण्डित-मन्यभाजः श्रीविलासरसवासनासंजातमुकुमारप्रकृतिश्चन्द्रग्रहिल इव प्रसिद्धेष्वपि वस्तुषु विस्मयोत्फुल्लजोचनद्विष्टमानगल-क्षयल इवाहितकारिणोऽपि जनस्य मुग्धतयातीवमुखनिरीक्षणकुतूहलो कदाचिदपि जग-मोहनाम्यस्तकौशलैरिन्द्रजालकैरिव विगर्चरन् संगमयितव्य इति कोपसकम्पां वाचमुच्चारयन्ती तर्जयित्वा च मनाभ्रूक्षेपेण भाम्—अहो असंजातबुद्धिपरिपाक चार्वाक, समाकर्णय । ज्ञातः खलु भवतोऽभिप्रायः ।

तत्राहमेव समर्था वातुमुत्तरमित्यभिप्रेत्येधमवादीत्—

न तर्पणं देवपितृद्विजानां स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता ।

धृतेः स्मृतेर्बाह्यसरे च धीस्ते धर्मं कथं पुत्र दिगम्बराणाम् ॥ ७६ ॥

शिवभूति पुरोहित के पुत्र शिवशर्मा ने कहा—हे माता ! तभी से यशोधर महाराज मधु-आदि को रुचि-पूर्वक सेवन नहीं करते, न मांस को प्रशंसा करते हैं और न शिकार की अनुमोदना करते हैं एवं देव व पितृ कार्य में पशु-हिंसा नहीं करते और वेद व स्मृति शास्त्र के वचनों में पराङ्मुखतापूर्वक उत्तर देते हैं । उक्त बात को सुनकर चन्द्रमति माता निकटवर्ती सेवक जनों की ओर [क्रोध-वश] ओष्ठ दीर्घ करके उन्हें उलाहना देती हुई प्रकट रूप से निम्नप्रकार कहती है—मेरे पुत्र व सैन्य का समस्त धन भक्षण करनेवाले एवं प्रजा से घूस लेनेवाले बरे पिशाचो ! क्या मेरा पुत्र (यशोधर) आपको इसप्रकार के दिगम्बरों का संगम कराकर विनाश करने योग्य है ? निश्चय से मैं सदा आप लोगों को निषेध करती हूँ कि हमारा पुत्र अब भी परिपक्व बुद्धिवाला नहीं है एवं जिसने झूठी विद्वत्ता द्वारा अपनी आत्मा में अपने को पण्डित मानने का अभिप्राय आरोपित किया है और लक्ष्मी की क्रीड़ा सम्बन्धी भोगानुराग की वासना द्वारा जिसको सुकुमार प्रकृति उत्पन्न हुई है एवं जो प्रसिद्ध पदार्थों में भी वैसा आश्चर्य से नेत्रों को प्रफुल्लित करनेवाला है जैसे चन्द्रग्रहिल (जो गर्भिणी स्त्री चन्द्रग्रहण होने पर खुली जगह क्षमन करती है उसका पुत्र चन्द्रग्रहिल होता है) बालक विख्यात पदार्थों में भी आश्चर्य से नेत्रों को प्रफुल्लित करने का विनोद करनेवाला होता है । एवं जो मूर्खता से वैसा अहितकारी मनुष्य का भी विशेष रूप से मुख-निरीक्षण करने का विनोद करनेवाला है जैसे कण्ठविदारण किया जानेवाला चकरा मूर्खता से अहितकारी जन (धातक—कसाई) का विशेष रूप से मुख निरीक्षण का विनोद करनेवाला होता है । ऐसा हमारा पुत्र, उन दिगम्बरों के साथ कदापि संगम कराने योग्य नहीं है, जो कि इन्द्रजालियों-सरीखे जगत् को वशीकरण करने में प्रवीणता का अभ्यास किये हुए हैं । इसप्रकार क्रोध से कम्पन-युक्त वाणी उच्चारण करती हुई मेरी माता चन्द्रमति ने कुछ भ्रूवुटि-श्लेष द्वारा मेरा अनादर करके मुझसे कहा—अहो बुद्धि परिपाक की उत्पत्ति से शून्य व नास्तिक मतानुयायी यशोधर ! सुन । निश्चय से मैंने आपका अभिप्राय जान लिया । मैं ही उस विषय में उत्तर देने में समर्थ हूँ, ऐसा निश्चय करके उसने मुझसे निम्न प्रकार कहा—

हे पुत्र ! इन दिगम्बरों के धर्म में देवतर्पण, पितृतर्पण व ब्राह्मणतर्पण नहीं है एवं स्नान व होम की बात भी नहीं है । ये लोग वेद व स्मृति (धर्म-शास्त्र) से विशेष रूप से बाह्य हैं, ऐसे दिगम्बरों के धर्म में तुम्हारी बुद्धि किसप्रकार प्रवृत्त हो रही है ? ॥७६॥ जो दिगम्बर साधु ऊपर खड़े हुए पशु-सरीखे आहार

उद्धरः पशूनां सङ्घं प्रसन्ते ये लज्जया शीघ्रगुणेन हीनाः । स्वस्तः परस्तेः सह को हि गोष्ठौ करोतु देवद्विजनिम्बकं च ॥७७॥
 नामापि पूर्वं न समस्त्यभोषामभूत्कलौ दर्शनमेतद्वीर्यम् । देवो मनुष्यः किल सोऽप्यनेकस्त एवमिच्छन्ति च निविचारम् ॥७८॥
 धर्मं प्रमाणं खलु वेद एव वेदात्परं देवतमत्र नास्ति । यो वेदं सम्मदं न हि वेदमेतं वर्णाश्रमाचारमसौ न वेद ॥ ७९ ॥
 यत्किञ्च भक्तिभावो गतेषु हरं हरिं सर्वत्र भावयन्ति ॥ ८० ॥ यन्ति कृष्टाः स्वपुरीं क्षणेन तुष्टाः प्रयच्छन्ति च राज्यमेते ॥८०॥

राजा—(स्वगतम् ।) अहो, निसर्गावङ्गारमलिते हि मनसि न भवति खलु सुखासंख्योऽपि शृङ्गरे । यतः ।

अन्तर्न विज्ञाय युषानुरागिता स्वभावबुष्टाशयता विमूढता ।

युक्तोपदेशे च विगृह्य वादिता भवनयमी तत्त्वविवक्षहेतवः ॥ ८१ ॥

अपि च । यः कार्यवादेशु करोति संघां स्वपक्षहानौ च भवेद्विलक्ष्यः ।

तत्र स्वयं सामपरेण भाव्यं केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ॥ ८२ ॥

इयं हि तावज्जननी मदीया राज्यस्थ साक्षाद्विदेवता च । सर्वं तवस्या घटते विघातं प्रभयंवेवेच्छति तत्करोति ॥ ८३ ॥

(प्रकाशम् ।) अज्ञानभावावय आपलाढ्या कारुण्यतो बाधितावकाशः ।

पूर्वं त्वयैवाहितकर्मगुणैर्वा बुधे यवि क्षन्तुभनास्त्वमत्र ॥ ८४ ॥

करते हैं। जो निर्लज्ज तथा शीघ्रगुण से हीन हैं। उन दिगम्बरों के साथ, जो हरि (विष्णु), हर व ब्रह्मा-
 आदि देवताओं तथा ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाले हैं, तुमको छोड़कर दूसरा कौन पुरुष स्पष्ट रूप से गोष्ठी
 (वार्ता) करता है? ॥७७॥ हे पुत्र ! इन दिगम्बरों का पूर्व में (कृतयुग, त्रेता व द्वापर-आदि) में नाम
 भी नहीं है। केवल कलिकाल में ही इनका दर्शन हुआ है। इनके मत में निश्चय से मनुष्य ही देव (ईश्वर)
 हो जाता है एवं वह ईश्वर भी बहुसंख्या-युक्त (चौबीस) है। वे दिगम्बर ही इसप्रकार विचार-शून्य बातको
 मानते हैं ॥७८॥ हे पुत्र ! धर्म के विषय में निश्चय से वेद ही प्रमाण है। वेद को छोड़कर संसार में देव नहीं
 है। अर्थात्—वेद ही देवता है। जो पुरुष भली प्रकार इस वेद को नहीं जानता, वह चारों वर्णों (ब्राह्मणादि)
 तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) के आचार को नहीं जानता ॥७९॥ हे पुत्र ! यदि तुम्हारी देवताओं
 में भक्ति है तो श्री महादेव अथवा लक्ष्मीकान्त अथवा श्री सूर्य देवता की पूजा करो। क्योंकि ये देवता कुपित
 हुए मृत्यु प्राप्त करते हैं व सन्तुष्ट हुए राज्य देते हैं ॥८०॥

सक बात सुनकर यशोधर महाराज अपने मन में विचारते हैं—

अहो आत्मन् ! निश्चय से स्वभाव से अङ्गार-सरीखे मलिन मन को अमृत से प्रक्षालन भी शुद्धि-
 निमित्त नहीं होता। क्योंकि—ये निम्न प्रकार चार पदार्थ तत्त्वज्ञान के निषेध के कारण हैं। चित्तवृत्ति न
 जान करके बुरा स्नेह करना, स्वभाव से दुष्ट हृदयता, अज्ञानता व युक्त उपदेश में बलात्कार से वाद विवाद
 करना ॥८१॥ जो पुरुष कर्तव्य-विचारों में प्रतिज्ञा करता है। अर्थात्—‘यदि ऐसा नहीं होगा तो मैं अपनी
 जीभ काट लूँगा’ इत्यादि प्रतिज्ञा करता है। एवं जो अपने पक्ष के निग्रह-स्थान (पराजय) होने पर व्याकुलित
 या लज्जित हो जाता है उस पुरुष के प्रति मुद्गुभाषी होना चाहिए, क्योंकि स्पष्ट है कि किसी भी उपाय से
 कर्तव्य सिद्ध करना चाहिए ॥८२॥ यह चन्द्रमती निश्चय से मेरी हितकारिणी माता है और इतना ही नहीं,
 अपितु राज्य की अधिष्ठात्री भी है। अतः इसको मेरे विषय में सभी कार्य (राज्य से निकालना-आदि) करने
 का अधिकार प्राप्त है। क्योंकि स्वामी जो चाहता है, वही करता है अर्थात्—प्रकरण में माता जो चाहेगी
 वही होगा ॥८३॥

पुत्रस्य पित्रानुवरस्य भर्त्रा शिष्यस्य चादौ गुरुणा च सार्वम् । सुशिक्षितस्यापि सुमेधसोऽपि न श्रेयसे स्याद्विह नाप्यमुत्र ॥ ८५ ॥
 देवाभिवेकार्चनवन्दनानि जपप्रसंख्याश्रुतपूजनानि । यथा स लोकः कुरुते तथाम्ब प्रष्टव्य एवैष जनो भवत्या ॥ ८६ ॥
 मर्त्येषु चेत्सद्यसु नाकिनां वा विधाय पुण्यं पितरः प्रधाताः । तेषामपेक्षा विजकाकभुक्तः पिण्डभवेद्वर्षकृतेन कापि ॥ ८७ ॥
 गण्यन्तरे जन्मकृतां पितॄणां स्वकर्मपाकेन पुराकृतेन । तत्रापि किं तर्नं च दृष्टमेतत्तृप्तिः परेषां परतर्पिणीति ॥ ८८ ॥
 पेनापि केनापि मिथेण मान्यवर्धमो विधेयः स्वहितैकतानः । अनेन कामेन कृतः पुराणमार्गोऽयमात्मास्पृश्यप्रवीणः ॥ ८९ ॥

निनिमित्तं न कोऽपीह जनः प्रायेण धर्मधोः । अतः श्राद्धादिकाः प्रोक्ताः क्रियाः कुशलबुद्धिभिः ॥ ९० ॥

किं च पर्वतोर्ध्वतिथिश्राद्धवारजासरतारकाः । नित्यं वातुमशक्तानां पुण्यायोक्ताः पुरातनैः ॥ ९१ ॥

जन्मेकमात्राधिगमो द्वितीयं भवेन्मुनीनां व्रतकर्मणा च । अमी द्विजाः साधु भवन्ति तेषां संतर्पणं जैनजनः करोति ॥ ९२ ॥
 द्वयेव मार्गेण जगत्प्रवृत्तं गृहस्थवृत्त्या यतिकर्मणा च । तस्य ह्यस्यापि विभिन्नसृष्टेः शीतोष्णवर्णकतया प्रवृत्तिः ॥ ९३ ॥

अब यशोधर महाराज स्पष्ट कहते हैं—हे माता ! अवसर प्राप्त किया हुआ मैं यदि अज्ञानता से अथवा चञ्चलता से अथवा दयालुता से अथवा पूर्व में आपके द्वारा स्थापित किये हुए गुणों के कारण अपना पक्ष-स्थापन करूँ तो आपका हृदय क्षमा करने योग्य होवे ॥ ८४ ॥ हे माता ! पुत्र का पिता के साथ, सेवक का स्वामी के साथ एवं शिष्य का गुरु के साथ वाद विवाद करना इस लोक व परलोक में कल्याणकारक नहीं है, चाहे वह (पुत्र-आदि) कितना ही सुशिक्षित (विद्वान्) व प्रशस्त बुद्धिवाली भी हो ॥ ८५ ॥ हे माता ! वह प्रशस्त आर्हत (जैन) लोक, जिसप्रकार से देवरत्नपन, पूजन, स्तवन, मन्त्र-जाप, ध्यान व श्रुत पूजा करता है उसीप्रकार से आप इससे पूछ सकती हैं, मैं क्या कहूँ ॥ ८६ ॥ हे माता ! जब पूर्वज लोग पुण्य कर्म करके यदि मनुष्यजन्मों में अथवा स्वर्ग लोकों में प्राप्त हो चुके तब उन्हें उन श्राद्धपिण्डों की कोई भी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, जो कि ब्राह्मण व काकों द्वारा भक्षण किये गये हैं एवं जो एक वर्ष में किये गए हैं ॥ ८७ ॥ हे माता ! पूर्वजन्म में उपार्जन किये हुए अपने कर्मों के उदय से दूसरी गति (स्वर्गादि) में जन्म धारण करनेवाले पूर्वजनों की दूसरी गति (स्वर्गादि) में भी उन पूर्वजनों ने क्या यह नहीं देखा ? अथवा नहीं जाना ? कि 'ब्राह्मणादि का तर्पण पिताओं (पूर्वजनों) को तृप्त करनेवाला है' । क्योंकि वे भी श्राद्ध-आदि नहीं करते और न वैसी प्रवृत्ति करते हैं ॥ ८८ ॥ हे माता ! 'आत्म-हित में श्रद्धा रखनेवाले सत्पुरुषों का, जिस किसी भी बहाने से धर्म (दान-पुण्यादि) करना चाहिए' इस इच्छा से अपनी आत्मा की सुख-प्राप्ति करने में विचक्षण चिरन्तन पुरुषों ने यह श्राद्ध लक्षणवाला मार्ग किया है ॥ ८९ ॥ हे माता ! इस संसार में कोई भी पुरुष, निष्कारण प्रायः धर्म में बुद्धि रखनेवाला नहीं होता, इसलिए चतुर-बुद्धिशाली विद्वानों ने श्राद्ध-आदि क्रियाएँ कही हैं ॥ ९० ॥

पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार के अवसर सदा दान करने में असमर्थ पुरुषों के पुण्य निमित्त कहे हैं—
 पर्व (अमावास्या-आदि), तीर्थ (गङ्गा-गोदावरी-आदि), अतिथि, श्राद्ध (पक्ष के मध्य में आहार दान), वार (रविवार-आदि), वासर (जिस दिन में पिता-आदि पूर्वजों का स्वर्गवास हुआ है) एवं रोहिणी-आदि नक्षत्र ॥ ९१ ॥ हे माता ! मुनियों के दो जन्म होते हैं—पहला जन्म उत्पन्न होना (गर्भ से निकलना) और दूसरा जन्म दीक्षा कर्म द्वारा । इसलिए ये मुनि लोग यथार्थरूप से द्विज (दो जन्मवाले-ब्राह्मण) हैं । उन मुनि-लक्षण-युक्त ब्राह्मणों का सन्तर्पण (चार प्रकार के दान द्वारा सन्तुष्ट करना) जैनजन (आर्हत लोक) करता है [अतः हे माता ! आपने कैसे कहा कि जैनों के यहाँ ब्राह्मण-सन्तर्पण नहीं है] ॥ ९२ ॥

स्नात्वा यजेताप्तमथागमं वा पठेद्यदि ध्यानमुपावरेद्वा । स्नानं भवेदेव गृहाश्रितानां स्वर्गापवर्गागमसंगमाय ॥ ९४ ॥

सरित्सरोधारिधिवापिकासु निमज्जतोन्मज्जनमात्रमेव । पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात् ॥ ९५ ॥

तदाह—रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः । न ते कालेन शुद्धयन्ति स्नानात्तोयशर्तरेषु ॥ ९६ ॥

षट्कर्मकार्थमथान्नशुद्धयं होमो भवेद्भूतबलिश्च नाम ।

पुण्यायतः स्वर्गसुखोपिऽङ्गः कथयति किं बलिभक्त निलिप्ताः ॥ ९७ ॥

तत् 'अग्निमुखा वै देवाः' इत्यस्यायमर्थः—अग्निरयि भासुरं मुखं येषां ते तथा । चन्द्रमुखी कन्येतिवत्, न पुनरग्निरेव मुखं येषामिति, प्रतीतिविरोधात् ।

मोक्षार्थमुक्तधियां नराणां स्नानेन होमेन च नास्ति कायम् । गृहस्थधर्मो न पतेर्यतेर्वा धर्मो भवेन्नो गृहिणः कदाचित् ॥ ९८ ॥

तदुक्तम्— विमत्सरः कुचेलाङ्गः सर्वद्वन्द्वविर्वाञ्छितः । समः सर्वेषु भूतेषु स यतिः परिकीर्तितः ॥ ९९ ॥

हे माता ! यह मनुष्य लोक दो धर्म-मार्गों से प्रवृत्त हुआ है । गृहस्थों के आचार मार्ग द्वारा और मुनियों के आचार-मार्ग द्वारा । उन दोनों गृहस्थ व मुनिमार्गों की एकरूप से प्रवृत्ति नहीं है । क्योंकि उन दोनों के आचार (क्रियाएँ) शीत व उष्ण-सरीखे भिन्न-भिन्न हैं । अर्थात्—जिस प्रकार शीत स्पर्श पृथक् और उष्ण स्पर्श पृथक् है उसी प्रकार गृहस्थ धर्म पृथक् और मुनि धर्म पृथक् है । क्योंकि दोनों के आचार एक सरीखे नहीं हैं ॥ ९३ ॥ गृहस्थ श्रावक को स्नान करके सर्वज्ञ, बीतराग अर्हन्त भगवान् की, अथवा आगम की पूजा करनी चाहिए, अथवा शास्त्रों का अध्ययन या धर्म ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार गृहस्थों का जल स्नान स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के संगम के लिए होता ही है । अर्थात्—गृहस्थ धर्मानुष्ठान करने से पूर्व में स्वर्ग जाते हैं, व वहाँ से चय करके मनुष्य जन्म धारण करके मुनि धर्म के अनुष्ठान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ९४ ॥ हे माता ! नदी, तालाव, समुद्र व बावड़ी में डुबकी लगाना और निकलना मात्र यदि पुण्य निमित्त है तो मछली-आदि जलचर जीवों को पूर्व में स्वर्ग होना चाहिए और अन्य ब्राह्मणादि को बाद में ॥ ९५ ॥ शास्त्रकारों ने कहा है—जो पुरुष राग, द्वेष व मद से उन्मत्त हैं, अर्थात्—खाए हुए घनुरे-सरीखे हैं एवं जो स्त्रियों में लम्पट हैं, वे सैकड़ों तीर्थों में स्नान करने से भी चिरकाल में भी शुद्ध नहीं होते ॥ ९६ ॥ स्तम्भन, मोहन, बशोकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और मारण इन छह कर्मों के लिए अथवा अन्न को पवित्र करने के लिए होम होता है । एवं व्यन्तरी के सन्तुष्ट करने के लिए उनकी पूजा होती है । अमृत मास भोजन करने-वाले और स्वर्ग-सुख के योग्य शरीरवाले देवता क्या अग्नि में आहुति किये हुए पदार्थ का भक्षण करते हैं ? अपि तु नहीं करते ॥ ९७ ॥ उस कारण से 'अग्निमुखा वै देवाः' इस वेदवाक्य का यह अर्थ है कि जिनका मुख अग्नि के समान प्रकाशमान है वे देव हैं । 'चन्द्रमुखी कन्येतिवत्' अर्थात्—जिस प्रकार उक्त पद का चन्द्र-सरोखे मुखवाली कन्या, यह अर्थ होता है । अर्थात्—इसका यह अर्थ नहीं है कि कन्या का मुख चन्द्र ही है । उसी प्रकार उक्त वेद वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि 'अग्नि ही है मुख जिनका', क्योंकि इस अर्थ में प्रतीति से विरोध है । क्योंकि मुख की प्रतीति दन्त, आँठ, नासिका, नेत्र व श्रोत्रों से होती है, अग्निरूप से नहीं । मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बुद्धिवाले मुनियों को स्नान व होम से प्रयोजन नहीं है । तथ्य यह है कि गृहस्थ-धर्म, मुनि धर्म नहीं है एवं मुनि धर्म कभी भी गृहस्थ का धर्म नहीं हो सकता ॥ ९८ ॥ कहा है—जो पुरुष मात्सर्य (दूसरों के शुभ में द्वेष करना) से रहित है एवं जिसका शरीर मलिन वस्त्र-सा मलिन है तथा जो समस्त कलह से रहित होता हुआ समस्त प्राणियों में समान बुद्धि रखता है, वह यति (मुनि) कहा गया है ॥ ९९ ॥ स्नान तीन प्रकार का होता है—ब्रह्म स्नान, व्रत स्नान और मन्त्र स्नान । उक्त तीन प्रकार के स्नानों

आपस्नानं व्रतस्नानं मन्त्रस्नानं तथैव च । आपस्नानं गृहस्थस्य व्रतमन्त्रैस्तपस्विनः ॥ १०० ॥

न स्त्रीभिः संगमो यस्य यः परे ब्रह्मणि स्थितः । तं शुचिं सर्वदा प्राहुर्मरितं च हुताशनम् ॥ १०१ ॥

इति । ऋचः सामान्यधर्माणि यजुष्यङ्गानि भारत । इतिहासः पुराणं च त्रयीद्वं सर्वमुच्यते ॥ १०२ ॥

ततश्च श्रुतिस्मृतिसंयामतीव बाह्योऽद्यत्वेनार्हत्समये कथं नाम ज्योतिषाङ्गे वचनमिदमुक्तम्—

समग्रं जनिता दृष्टः क्षपणः क्रोपितः पुनः । तद्भूतस्तस्य पीडायां तावेव परिपूजयेत् ॥ १०३ ॥

सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी । तस्यां च स्यादस्ति स्यान्नास्तीति नग्नश्रमणक इति बृहस्पतिराखण्ड्यस्य पुरस्तं समर्थं कथं प्रत्यवतस्ये ।

प्रजापतिशोक्ते च चित्रकर्मणि—

श्रमणं तंललिप्ताङ्गं नवभिभित्तिभिर्मृतम् । ओ लिखेत्स लिखेत्सर्वा पृथ्वीमपि ससागराम् ॥ १०४ ॥

में से जल स्नान गृहस्थ का होता है और व्रत व मन्त्रों द्वारा स्नान तपस्वी का होता है ॥१००॥ विद्वानों ने उस पुरुष को, जिसका स्त्रियों के साथ संगम नहीं है, एवं जो आत्म भावना में लीन है, सदा शुचि कहा है एवं वायु तथा अग्नि का सदा पवित्र कहा है ॥१०१॥ ऋग्वेद-वाक्य, सामवेद-वाक्य, अथर्वण वेद के मन्त्र, यजुर्वेद वाक्य (काण्डी) और निम्न प्रकार वेद के लक्ष्य ब्रह्म । शिष्टा, कल्प, लगकरण, रुद्र ज्योतिष व निरुक्त । तथा इतिहास (महाभारत व रामायण), पुराण, मोमांसा व न्याय शास्त्र इन १४ विद्यास्थानों को त्रयी विद्या कहते हैं ॥१०२॥

अब जैनधर्म को प्राचीनता सिद्ध करते हैं—हे माता ! आपके कहे अनुसार जब जैन दर्शन वेद व स्मृति से विशेष बहिर्भूत है एवं अभी कलिकाल से ही उत्पन्न हुआ है तब ज्योतिष शास्त्र में, जो कि वेदाङ्ग है, यह निम्न प्रकार वचन कैसे कहा ? 'जो पुरुष पूर्ण रूप से शनैश्चर द्वारा देखा गया है । अर्थात्—जो सप्तम स्थान में स्थित हुए शनैश्चर ग्रह द्वारा देखा गया है और जिसने दिगम्बर साधु को क्रुपित किया है, जिससे जब उसे शनैश्चर ग्रह सम्बन्धी व दिगम्बर भुनि सम्बन्धी पीड़ा (शारीरिक कष्ट) उपस्थित हुई है, तब उस पीड़ा के निवारण के लिए उसे शनिभक्त व दिगम्बर भक्त होते हुए शनैश्चर व दिगम्बर साधु की ही पूजा करनी चाहिए न कि उक्त पीड़ा के निवारणार्थ अन्य देवता की पूजा करनी चाहिए' ॥१०३॥ सांख्य, नैयायिक व चार्वाक (नास्तिक) दर्शन ये तीनों आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्याएँ) हैं । अर्थात्—अध्यात्म विद्या के प्रतिपादक दर्शन हैं । एवं उसी आन्वीक्षिकी (अध्यात्म विद्या) में अनेकान्त (प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सद्रूप (विद्यमान) है और परचतुष्टय की अपेक्षा असद्रूप (अविद्यमान) है—इत्यादि) के समर्थक वचन को दिगम्बर साधु कहता है । अर्थात्—उक्त आन्वीक्षिकी विद्या में जैन-दर्शन भी अन्तर्भूत है । इसप्रकार बृहस्पति (सुराचार्य) ने इन्द्र के समक्ष उस अनेकान्त-समर्थक जैनदर्शन को कैसे प्रतिपादन किया ? अर्थात्—यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित होता तो बृहस्पति ने इन्द्र के समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्या में कैसे स्वीकार किया ? इसीप्रकार हे माता ! यदि जैन धर्म अभी का चला हुआ होता तो प्रजापति द्वारा कहे हुए चित्रशास्त्र में निम्न प्रकार वचन कैसे कहे गए—जो चित्रकार, करोड़ सूर्य-सरोखे तेजस्वी व नव भित्तियों (कोठ, बंदी-आदि नौ भित्तियों) से संयुक्त श्रमणतीर्थङ्कर परमदेव को चित्र में लिखता है—चित्रित करता है—वह असंख्यात समुद्र-सहित पृथिवी को भी चित्र में लिखता है । अर्थात्—उसे पृथिवी, गालाल व स्वर्ग लोक को चित्र में चित्रित करने का प्रबुर पुण्य होता है ॥१०४॥ इसीप्रकार सूर्यसिद्धान्त में निम्नप्रकार अर्हत्प्रतिमा-सूचक वचन किसप्रकार कहे गये हैं ? वे तीर्थङ्कर परमदेव, जो कि

आवित्यभते च—

मववीजाङ्कुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमुपेताः । ते देवा दशतालाः शोया देवा भवन्ति नवतालाः ॥ १०५ ॥

धराहमिहरव्याहृते प्रतिष्ठाकाण्डे च—विष्णोर्भगवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्रह्मणो मातृणामिति मातृमण्डलविदः शंभोः सप्तमा द्विजः । आख्याः सर्वहिताय शान्तमनसो जन्ता जिनानां विदुर्ये यं देशमुपाभिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम् ॥ १०६ ॥

निमित्ताध्याये च— पद्मिनी राजहंसाश्च निर्घन्थाश्च तपोधनाः । यं देशमुपसर्पन्ति सुमिधं तत्र निविशेत् ॥ १०७ ॥

तथा—उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेष्ठ-कण्ठ-गुणाढ्य-व्यास-भास-वोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायण-कुमार-माध-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषूपाल्यानेषु च कथं तद्विषया महतो प्रसिद्धिः । तस्मात्

चत्वार एते सहजाः समुद्रा यथैव लोके ऋतवोऽपि षट् च । चत्वार एते समयास्तथैव षट् दर्शनानीति वर्तन्ति सन्तः ॥ १०८ ॥

संसार के बीजरूप रागद्वेषों के अङ्कुर (मोहनीय कर्म) का क्षय करनेवाले हैं एवं जा आठ महाप्रातिहार्य रूपों के ध्वज से व्यास हैं, दश हाथ परिमाणवाले होते हैं, अर्थात्—उनकी प्रतिमा दश हाथ की होनी चाहिए और बाकी के हरि व हरादि देवता तो हाथ के परिमाणवाले होते हैं । अर्थात्—उनको प्रतिमाएँ नौ हाथ की होनी चाहिए ॥ १०५ ॥

इसीप्रकार हे माता ! आपके कहे अनुसार यदि दिगम्बर मत (जैनदर्शन) अभी कलिकाल में ही उत्पन्न हुआ है तो 'धराहमिहर' आचार्य द्वारा कहे हुए 'प्रतिष्ठाध्याय' में निम्नप्रकार के वचन किसप्रकार से उल्लिखित हैं ? वेष्णवों को विष्णु की और आदित्योपजीवी ब्राह्मणों को श्री सूर्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए । ब्राह्मण, ब्रह्मा की प्रतिष्ठा करना जानते हैं एवं मातृमण्डल वेत्ताओं को सात माताओं की व भस्म सहित ब्राह्मण को शंभु की प्रतिष्ठा करनी चाहिए । बौद्धों को बुद्ध की तथा शान्त मतवाले दिगम्बरों को जिनेन्द्रों की प्रतिष्ठा करना जानना चाहिए । अतः जो गृहस्थ पुरुष जिस देव की सेवा में तत्पर हैं, उन्हें अपनी शास्त्रोक्त विधि से उस देव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए ॥ १०६ ॥

इसीप्रकार निमित्ताध्याय में निम्नप्रकार के वचन कैसे कहे गए ? कमलिनी, राजहंस एवं निष्परिग्रही दिगम्बर साधु जिस देश में आते हैं । अर्थात्—कमलिनी जिस तालाव-आदि में उत्पन्न होती है एवं राजहंस व दिगम्बर साधु जिस देश में आते हैं, उसमें सुकाल कहना चाहिए ॥ १०७ ॥ उसीप्रकार से उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेष्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माध व राजशेखर-आदि महाकवियों के काव्यग्रन्थों में उस उस अवसर पर एवं भरतप्रणीत काव्याध्याय में तथा सर्वजन प्रसिद्ध उन उन दृष्टान्त कथाओं में किसप्रकार से दिगम्बर सम्बन्धी विशेष प्रसिद्धि वर्तमान है ? उस कारण हे माता ! जिस प्रकार ये चारों समुद्र स्वभाव से उत्पन्न हुए वर्तमान हैं एवं जिस प्रकार लोक में छह ऋतुएँ (हिम, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा व शरद) भी वर्तमान हैं उसी प्रकार ये चार आगम (जैन,

१. अशोककृश, दिव्यपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चौसठचामर, दिव्यसिंहासन, करोड़ सूर्यों से अधिक तेजप्रिय शरीर-तेज, साढ़ेचारह करोड़ दुन्दुभिवाजे और छत्र ।

२. सप्तमातृमण्डल—ब्रह्माणी, इन्द्राणी, वाराही, भैरवी, चामुण्डा, कर्णमोटी व चर्चा ।

यश० सं० टी० प्र० ११३ से संकलित—सम्पादक

यावत्समर्थं वपुःशुद्धतायां यावच्च पाणिद्वयेति बन्धम् । तावन्मुनोनामशने प्रवृत्तिरित्याशयेन स्थितभोजनास्ते ॥१०९॥
शास्त्रप्रकोटावपि यत्र सङ्गो निर्बिकचनत्वं परमं न तिष्ठेत् । मुमुक्षवस्तत्र कथं नु कुर्वन्मिति वृक्षलाजिनवल्कलेषु ॥११०॥
शौचं निकाभं मुनिपुंगवामां कमण्डलोः संश्रयणात्समस्ति । न चाङ्गुली तर्पित्वपितायां तिष्ठति न सां सप्तं कर्मिण्यत्र ॥१११॥

ववस्ति जंभास्तमिहान्तमेते रागादयो यत्र न सन्ति बोधाः ।

मद्याविशन्वोऽपि च यत्र बुद्धः शिष्टैः स निन्देत कथं नु धर्मः ॥११२॥

परेषु योगेषु मनोषयान्धः प्रीतिं वधात्यात्मपरिग्रहेषु । तथापि देवः स यदि प्रसक्तमेतज्जगद्देवमयं समस्तम् ॥११३॥

लज्जा न सज्जा कुशलं न शीलं भृतं न पूतं न वरः प्रचारः । मध्येन मन्वीकृतमानसानां विवेकनाशाच्च पिशाचभावः ॥११४॥

आतङ्कुशोकामयकेतनस्य जीवरूपं दुःखानुभवश्चमस्य । देहस्य को नाम कृतेऽस्य मांसं सचेतनोऽद्यात्क्षणभङ्गुरस्य ॥११५॥

वक्तं च— तिलसर्वपमात्रं यो मांसमश्नाति मानवः । स श्वभ्रान्त निवर्तते यावच्चन्द्रविवाकरो ॥११६॥

जैमिनी, शाक्य व चांकर) और छह दर्शन (जैन, जैमिनी, शाक्य, शङ्कर, सांख्य व चार्वाक दर्शन) वर्तमान हैं, इस प्रकार सज्जन पुरुष कहते हैं ॥ १०८ ॥ [हे माता ! जो तूने कहा है कि 'उद्धाः पशूनां सदृशं ग्रसन्ते' अर्थात्—'दिगम्बर साधु खड़े होकर पशु-सरीखे भोजन करते हैं' उस कटु-आलोचना का उत्तर यह है] कि 'जब तक दिगम्बर साधुओं का शरीर ऊपर खड़े होने में समर्थ है एवं जब तक दोनों हाथ परस्पर में मिलते हैं तभी तक मुनियों की भोजन में प्रवृत्ति होती है' इस अभिप्राय से वे खड़े होकर भोजन करनेवाले हैं ॥१०९॥ हे माता ! जिस दिगम्बर शासन में जब केश के अग्रभाग को नोंक बराबर भी सूक्ष्म परिग्रह रखने पर उत्कृष्ट निष्परिग्रहता नहीं रह सकती तब उस दिगम्बर शासन में मुमुक्षु साधु लोग दुपट्टा, मृगचर्म व वृक्ष की छाल रखने में किस प्रकार बुद्धि करेंगे ? ॥ ११० ॥

हे माता ! [जो तूने कहा है कि दिगम्बर साधु 'शौचगुणेन हीनाः' अर्थात्—शौच गुण से हीन हैं वह भी मिथ्या है, क्योंकि दिगम्बर मुनिश्रेष्ठ कमण्डलु ग्रहण करते हैं, इससे उनमें विशेष रूप से शौच गुण (जल द्वारा गुदा-प्रक्षालन) है, क्योंकि जब अंगुलि सर्प द्वारा ढसी जाती है तब अंगुलि ही काटी जाती है, उस समय कोई पुरुष नाक नहीं काटता । अर्थात्—जो अपवित्र अङ्ग है वही जल द्वारा प्रक्षालन किया जाता है ॥१११॥ ये जैन लोग संसार में उसी पुरुष श्रेष्ठ को आत्म (ईश्वर) कहते हैं, जिसमें राग, द्वेष व मोह-आदि १८ दोष नहीं हैं । जिस धर्म में मद्यपान-आदि का शब्द सुनना भी भोजन-त्याग के निमित्त है, वह धर्म विद्वानों द्वारा किस प्रकार निन्दा योग्य हो सकता है ? अपि तु नहीं हो सकता ॥११२॥ जो देव, जरासन्ध व कंस-आदि शत्रु-सम्यन्धों में बुद्धि से क्रोधान्ध है एवं सत्यभामा व रुक्मिणी-आदि स्त्रियों में प्रीति धारण करता है, तथापि वह हरि व हर-आदि देव (ईश्वर) है तब तो 'समस्त संसार देवमय है' यह प्रसङ्ग उत्पन्न हुआ समझना चाहिए । अर्थात्—जब शत्रुओं से द्वेष करनेवाले व स्त्रियों में अनुराग करनेवाले को ईश्वर माना जायगा तब तो सभी ईश्वर हो जायेंगे बिना ईश्वर कोई नहीं होगा ॥११३॥ जिन रुद्रादिकों के चित्त, मद्यपान द्वारा जड़ हो चुके हैं, उनके न लज्जा, न इच्छानुसार उद्यम, न निपुणता न ब्रह्मचर्य, न पवित्र शास्त्र ज्ञान और न प्रवृत्त प्रवृत्ति ही है [यदि उनमें उक्त गुण नहीं हैं तो क्या है ?] प्रत्युत उनमें प्रमाद दोष के कारण पिशाचता ही है ॥११४॥ हे माता ! जीव के ऐसे शरीर के लिए, जो कि सद्यः प्राण हर व्याधि, पश्चात्ताप व सामान्य रोगों का निवास है तथा दुःखों के उदय का स्थान है एवं जो क्षणभङ्गुर है, कौन बुद्धिमान् पुरुष मांस-भक्षण करेगा ? अपि तु नहीं करेगा ॥११५॥ शास्त्रकारों ने कहा है कि जो पुरुष तिल व सरसों बराबर मांस भक्षण करता है, वह नरक

संदिग्धेऽपि परलोके त्याज्यमेवाशुभं बुधेः । यदि न स्वात्ततः किं । स्यादस्ति चेद्भास्तिकी हतः ॥११७॥

मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकनिपीडनात् । जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कलसाकृति ॥११८॥

तथा च स्मृतिः—

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निनः भस्मसात्कृतं । तस्य चेतद्व्युत्पापं मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥११९॥

यथाजनाकूलमयं प्रवृत्तः परस्परार्थप्रतिकूलवृत्तः । विधौ निषेधे च न निश्चयोऽस्ति कथं स वेदो जगतः प्रमाणम् ॥१२०॥

तथाहि—मांसं वेदाघरितुमिच्छसि, आश्वर । किं तु विधिपूर्वकमाश्वरितव्यम् । तदाह—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां तु काम्यया । यथाविधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्थये ॥१२१॥

क्रीत्वा स्वयं वा हृत्पुष्टाद्य परोपहतमेव च । अर्चयित्वा पितॄन् देवान्स्वादन्मांसं न दुष्यति ॥ १२२ ॥

मातरि स्वसरि वा चेतप्रवर्तितुमिच्छसि, प्रवर्तस्व । किं तु विधिपूर्वकं प्रवर्तितव्यम् । तदाह—गोसवे

से चन्द्र-भूर्य पर्यन्त नहीं निकल सकता ॥११६॥ स्वर्ग-आदि के संदिग्ध (सन्देह-युक्त) होनेपर भी विद्वानों को मद्य-मांस-आदि का भक्षणरूप पाप छोड़ना ही चाहिए । यदि स्वर्गादि नहीं है, तो क्या है ? अर्थात्—मांस-आदि के त्यागी का कुछ भी अरुचिर (बुरा) नहीं होगा, अगि तु अच्छा ही होगा और यदि स्वर्ग-आदि हैं तब तो चार्वाक (नास्तिक) खण्डित ही है ॥११७॥ विद्वान् लोग ऐसे मधु (सहृद) का किस प्रकार भक्षण करते हैं ? जोकि दाहद की मक्खियों के गर्भ में उत्पन्न हुए मक्खियों के बच्चों के अण्डों के निचोड़ने से उत्पन्न हुआ है एवं जिसकी आकृति जरायुपटल-सरीखी है ॥११८॥ स्मृति शास्त्र में भी कहा है—सात ग्रामों को अग्नि से जलाने पर जितना पाप लगता है, उतना पाप पुरुष को मधु की बूँद का आस्वादन करने से लगता है ॥११९॥ वैदिक-समालोचना—हे माता ! यह वेद (ऋग्वेद-आदि), जो कि मनुष्यों की इच्छानुसार प्रकृतिवाला है । अर्थात्—लोक जिसप्रकार से विषयादि सेवन करना चाहता है वेद भी उसी प्रकार से कहता है । एवं परस्पर पूर्वापर के विरोध सहित होता हुआ प्रवृत्ति को प्राप्त हुआ है तथा जिसमें विधि (कर्तव्य) व निषेध का निश्चय नहीं है, संसार को प्रमाणभूत किस प्रकार से हो सकता है ? ॥१२०॥ अब वेद सम्बन्धी उक्त बात का समर्थन किया जाता है—यदि मांस भक्षण करना चाहते हो तो उसका भक्षण करो किन्तु वेद में कही हुई विधि से भक्षण करना चाहिए ।

मांस-भक्षण की विधि—

प्रोक्षणादि विधि (कुश-दर्भ व मन्त्र जल से पवित्र करना-आदि) से अधिकृत हुआ पुरुष ब्राह्मणों की इच्छा से कुश व मन्त्र जल से पवित्र किये हुए मांस का भक्षण करे । परन्तु प्राणों के विनाश होनेपर भी प्रोक्षणादि विधि के बिना मांस भक्षण न करे ॥१२१॥ पितरों (पूर्वजों) व देवताओं की पूजा करके ऐसे मांस को खानेवाला दोषी नहीं है, जो कि खरीदकर प्राप्त हुआ है, अथवा जो निश्चय से स्वयं जीव-घात किये बिना उत्पन्न किया गया है तथा जो दूसरे पुरुष द्वारा लाया गया है ॥१२२॥ यदि माता वा बहिन के साथ मंथुन करना चाहते हो तो मंथुन करो किन्तु विधि पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए । वह विधि कौन सी है, उसका निरूपण करते हैं—गोसव नाम के यज्ञ में केवल ब्राह्मण (दूसरा नहीं) गोवध से यज्ञ करके एक वर्ष के अन्त में माता की भी (अपि—भी—शब्द से बहिन की भी) अभिलाषा करता है । माता का सेवन करो और बहिन का सेवन करो । इस प्रकार का वचन एवं इसप्रकार के दूसरे भी विधान वेद में वर्तमान हैं, वे वे विधान

ब्राह्मणो गोसवेनेष्ट्या संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषतीति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारमिति । एवमन्येऽपि सन्ति यथा-
लोकाभिप्रायं प्रवृत्तास्ते ते विधयः ।

प्रसिद्धिरत एवास्थ सर्वसाधारणी मता । को हि नाम भवेद्धेष्ट्यो लोकच्छब्दानुवर्तनः ॥ १२३ ॥

हिताहितावेदि जगन्निर्गतः परस्परस्त्रीषनलोलमानसम् । तत्रापि यद्यागम एष तन्मनोवशेन वर्तते तवा किमुच्यते ॥ १२४ ॥

‘सुरा न पेया, ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ इत्यपि वचनमस्ति । ‘सौत्राभणो य एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवति’
इत्यपि । तथा ब्राह्मणे ब्राह्मणमालभेत’ इति । अपि च—

शूद्रान् शूद्रशूद्रा शूद्रप्रेषणकारिणः । शूद्रवत्ता च या वृत्तिः पर्याप्तं नरकाय ते ॥ १२५ ॥

तथा मांसं श्वच्छाण्डालकव्यादाविनिपातितम् । ब्राह्मणेन गृहीतव्यं हव्यकव्याय कर्मणे ॥ १२६ ॥

इत्यपि । सद्यः प्रतिष्ठितोवन्ते सिद्धान्ते परमाग्रहः । किं वेदोक्तैरिमैः (?) सुक्तेरेत विज्ञानुपास्महे ॥ १२७ ॥

प्रमाणं व्यवहारेऽपि जन्तुरेकस्थितिर्भतः । को नामेत्थं विरुद्धार्थं सावरो निगमे नरः ॥ १२८ ॥

लोगों के अभिप्रायानुसार प्रवृत्त हुए हैं । इस कारण से इस वेद की रूपाति सर्वसाधारणी (समस्त लोगों को सामान्यरूप) मानी गई है । अर्थान्तर न्यास अलङ्कार द्वारा उक्त बात को दृढ़ करते हैं स्पष्ट है—कि लोगों के अभिप्रायानुसार प्रवृत्ति करनेवाला कौन पुरुष द्वेष करने योग्य होता है ? अपि तु कोई नहीं ॥ १२३ ॥ हे माता ! यह संसार, जो कि स्वभाव से पुण्य व पाप को जाननेवाला नहीं है और जिसकी चित्तवृत्ति एक दूसरे की स्त्री व धन में लम्पट है, इसप्रकार के संसार में यदि यह वेद स्वरूप शास्त्र, जगत् के अभिप्रायानुसार कहता है—प्रवृत्त होता है—उस समय क्या कहा जावे ? अर्थात्—फिर तो संसार परस्पर की स्त्री व धन में विशेषरूप से लम्पट मनवाला होगा ही ॥ १२४ ॥ अब वेद में पूर्वापर विरोध दिखाते हैं—

‘मद्यपान नहीं करना चाहिए,’ ‘ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए’ यह वचन भी वेद में हैं, उक्त वाक्य के विरुद्ध वाक्य—यथा—‘जो पुरुष सौत्राभणि नाम के यज्ञ में पेट्टी, गोपी व माधवी लक्षणवाली सुरा (मद्य) पीता है, उस पुरुष द्वारा सुरा पी हुई नहीं ‘समझी जाती’ यह वाक्य भी वेद में है । इसीप्रकार ‘ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) के लिए ब्राह्मण (चारों वेद का ज्ञाता ब्राह्मण विद्वान्) को मार देना चाहिए’ यह वाक्य भी वेद में है । अब मांस विरुद्ध वाक्य दिखाते हैं—शूद्र का अन्न, शूद्र की सेवा, और शूद्र की नौकरी करनेवाले एवं शूद्र द्वारा दी गई जीविका यह तेरे लिए पूर्णरूप से नरक में गिराने के हेतु हैं ॥ १२५ ॥ अब मांस भक्षण का समर्थक वेद वाक्य दिखाते हैं—‘वेद-पाठक ब्राह्मण को देवतर्पण व पितृतर्पण कार्य के लिए कुत्ता, चाण्डाल, और व्याघ्रादि द्वारा पशुओं को मारकर लाया हुआ मांस ग्रहण करना चाहिए’ ॥ १२६ ॥ यह वचन भी वेद में है । वेद की समालोचना—वेद व स्मृति शास्त्र में, जिसमें तत्काल विषयों की वार्ता स्थापित की गई है यदि आप लोगों का विशेष आग्रह है, तो वेद में, कहे हुए निरर्थक सुभाषितों से क्या प्रयोजन है ? आप लोग आइए हम लोग विटों (जारों—कामुकों) की उपासना करते हैं, क्योंकि वे लोग भी तत्काल पूँछी हुई विषयों की बात का उत्तर (व्यभिचार-आदि का) देते हैं ॥ १२७ ॥ जब व्यापार-आदि व्यवहार में भी एक वाक्यता-शाली (पूर्वापरविरोध-रहित—सत्य वक्ता) मानव प्रमाण माना गया है तब कौन पुरुष इस प्रकार (पूर्व में कहे हुए) पूर्वापर-विरुद्ध अर्थ कहनेवाले वेद में आदर-युक्त होगा ॥ १२८ ॥

१. ‘किं वेदोक्तैर्मुखाभूतं’ यद्यपि सर्वत्र ह. लि. प्रतिपु मुद्रितः व्याकरण-विरुद्धः पाठः समुपलभ्यते परन्तु भगवते मुधः
इति चेत् सम्यक् स्यात् —सम्पादकः

यदि च वेदोक्तेन विधिना विधीयमाना हिंसा न भवत्यधर्मसाधनम्, कथं तर्हि सायंसागः पशुरेवं संबोध्यते 'अन्वेनं मातानुमन्यतामनुपितानुभ्रातानुसगन्धोऽनुसखा सधूष्यः' इति ।

अथ पौष्ट्येयागमवचोदनायां विचारे महत्पातकम् । तदाह—

मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंपुतम् । अप्रमाणं तु यो ब्रूयात्स भवद्ब्रह्मघातकः ॥ १२९ ॥

पुराणं मानवी धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १३० ॥
इत्येतन्मुग्धभाषितम् ।

बाह्येष्वेवकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया । बाह्येष्वेवकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥ १३१ ॥

तस्मात्

वस्तानुपात्रं सकलैः प्रमाणैर्वृण्तेषु तत्त्वेषु भवत्प्रमाणम् । अन्यत्र शास्त्रं तु सतां प्रवृत्त्यै पूर्वापरस्थित्यविरोधनेन ॥ १३२ ॥
उमापतिः स्कन्दपिता त्रिशूली संख्यासु यो नृपतिर्य चर्मवासाः । भिक्षाशनी होमजपोपपन्नः कथं स वेदोऽन्यजनेन तुल्यः ॥ १३३ ॥

यदि वेद में कहे हुए विधान से की जानेवाली हिंसा, अधर्म साधन नहीं है तो मारा जानेवाला पशु, इसप्रकार से क्यों संबोधन किया जाता है ? 'हे पशु ! इस हिंसक पुरुष के माता-पिता व बन्धु [दोषी] जाना जावे एवं इसका सम्बन्धी और समूह-सहित मित्र दोषी जाना जाय' । अब जिसप्रकार पुरुषकृत शास्त्र विचार किया जाता है उसी प्रकार वैदिक वचनों में विचार (तर्क-वितर्क) करने में महान् पाप है, जैसा कि कहा है—मनुरचित धर्म शास्त्र और व्यास व वसिष्ठ ऋषि-प्रणीत शास्त्र वेद में कहे हुए-सरीखा प्रमाण है । जो मानव उक्त धर्म शास्त्र को अप्रमाण—असत्य—कहेगा, वह ब्राह्मण-घात के पाप का भागी होगा ॥ १२९ ॥ पुराण ग्रन्थ (महाभारत व रामायण-आदि), स्मृति शास्त्र, छह अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष व निरुक्त) सहित वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद व सामवेद) एवं आयुर्वेद ये चारों शास्त्र आज्ञा सिद्ध हैं । अर्थात्—इनके वचन ही प्रमाण माने जाते हैं । ये हेतुवादों (युक्तियों) द्वारा खंडनीय नहीं हैं ॥ १३० ॥ उक्त दोनों श्लोकों को कपोल-कल्पित—मिथ्या—समझना चाहिए । क्योंकि जब सुवर्ण अग्नि में तपाने, काटने व कसौटीपर कसने आदि की क्रियाओं द्वारा परीक्षण किया हुआ शुद्ध है तब उसमें शपथ-खाना क्या है ? अर्थात्—उक्त क्रियाओं द्वारा परीक्षित-शुद्ध सुवर्ण के विषय में कसम खाने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसकी शुद्धता प्रत्यक्ष प्रतीत ही है । एवं जब सुवर्ण उक्त क्रियाओं द्वारा परीक्षण किये जानेपर अशुद्ध है तब उसे शुद्ध बनाने की कसम खाने से क्या लाभ है ? क्योंकि अशुद्ध वस्तु कसम खाने से शुद्ध नहीं हो सकती ॥ १३१ ॥ उस कारण से—

वही शास्त्र, जो कि अविसंवादि होने से स्वीकृत व्यवहारवाला है एवं प्रत्यक्ष व अनुमान-आदि समस्त प्रमाणों द्वारा परीक्षित है, प्रत्यक्ष देखे हुए शास्त्रों में सत्यार्थ है । इसके विपरीत जो शास्त्र, प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणों द्वारा परीक्षा किया हुआ नहीं है व स्वर्ग-आदि परोक्ष (बिना देखे हुए) विषयों का निरूपण करनेवाला विसंवादी है, यदि वह पूर्वापर के विरोध से रहित है तो प्रमाण होता हुआ विद्वानों की प्रवृत्ति-हेतु है ॥ १३२ ॥ देव-समीक्षा—वह (जगत्प्रसिद्ध) रुद्र (श्री महादेव), जो कि उमा—पार्वती-का पति व कार्तिकेय का पिता होने से ब्रह्मचर्य का भङ्ग करनेवाला है । जो त्रिशूल-धारक होने से शत्रुओं से द्वेष करनेवाला है, जो प्रभात, मध्याह्न व सायंकाल में नृत्य करता हुआ मृगचर्म को धारण करनेवाला है, अर्थात् मोह-युक्त है । एवं जो भिक्षा-भोजन करने के कारण क्षुधा दोष-युक्त है तथा होम व जप करता है । उक्त बातों के कारण वह रास्ता-गोर-सरीखा होने से देव (ईश्वर) किसप्रकार हो सकता है ? ॥ १३३ ॥ जो (ऋषिभादि तीर्थङ्कर) देवों व

देवेषु चाप्येषु विचारचक्षुर्धर्मार्थवक्ता किमु निन्दकः स्यात् ।

एवं न चेत्तहि यथार्थदर्शी भानुः प्रवीणोऽपि च निन्दकः स्यात् ॥ १३४ ॥

यो भाषते दोषमविद्यमानं सतां गुणानां ग्रहणे च मूकः ।

स पापभासस्यासौ विनिन्दकश्च यतोवधः प्राणिवधात् गरीयान् ॥ १३५ ॥

अथायमाप्तः पर एव न स्यादेवंविधो रुद्रगणोऽपरस्तु । परः पुनः किं गुण एव देवः संसारदोषानुगतो न यो हि ॥ १३६ ॥

गुणाः कुतस्तस्य भवन्ति गम्याः शास्त्रात्प्रणीतास्त्वयमेव तेन ।

वने परोक्षोऽपि पतत्रिस्तार्थं दृष्टो ध्वनेस्तत्र विनिश्चयो हि ॥ १३७ ॥

सर्गस्थितिप्रत्यवहारवृत्तेर्हिमातपान्नःसमयस्थितेर्वा । आद्यन्तभावोऽस्ति यथा न लोके तथैव मुक्तागममालिकायाः ॥ १३८ ॥

श्रुतास देवः श्रुतमेतदस्मादिमो हि बीजाङ्कुरवत्प्रवृत्ती । हिताहितज्ञे स्वयमेव ईशानिक पुंसि जातिस्मरवत्परेण ॥ १३९ ॥

दूसरे गुरु-आदि के विषय में विचार चक्षु (ज्ञाननेत्रवाला) है और दिगम्बर होकर यथार्थवक्ता (सत्यवादी) है, हे माता ! क्या वह निन्दा का पात्र हो सकता है ? यदि वह निन्दा का पात्र है तब तो यथार्थ वस्तु को प्रकाशित करनेवाला सूर्य व दीपक भी निन्दा का पात्र हो जायगा ॥ १३४ ॥ जो पुरुष दूसरे के गैरमोजूद दोष कहता है व साधुओं के जानादि गुणों में मूक रहता है, वह पुरुष पापी व निन्दा का पात्र है, क्योंकि किसी की कीर्ति का घात करना उसकी हिंसा करने से भी महान् होता है ॥ १३५ ॥ यदि 'रुद्र लक्षणवाला देव ही आप (ईश्वर) है और निश्चय से अर्हन्त ईश्वर नहीं है' ऐसा आप कहते हैं तो आपके द्वारा माने हुए ग्यारह रुद्रों में तो ईश्वर होने योग्य वीतरागता व सर्वज्ञता-आदि गुण नहीं हैं, इसलिए ईश्वर होनेलायक गुणों से युक्त दूसरा रुद्रगण होना चाहिए । यदि आप पूछें कि फिर यह ईश्वर होने योग्य दूसरा रुद्रगण किन गुणों से युक्त होना चाहिए ? तो उसका उत्तर यह है, कि जो सांसारिक क्षुधा व तृषा-आदि अठारह दोषों से व्याप्त नहीं है—वीतराग है—वही देव (ईश्वर) है । अभिप्राय यह है कि आपके द्वारा कहे हुए ग्यारह रुद्रों में ईश्वर होने योग्य गुण नहीं हैं, अतः राग, द्वेष रहित जिनेन्द्र ही देव है ॥ १३६ ॥

जनों द्वारा माने हुए ईश्वर के गुण किससे जानने योग्य हैं ? उस आप गुह्य द्वारा स्वयं कहे हुए शास्त्र से वे गुण जानने योग्य हैं । उस शास्त्र का निश्चय किसप्रकार होगा ? इसका समाधान यह है कि शास्त्र की ध्वनि (शब्दों का वाचन) से शास्त्र का निश्चय होगा । जिसप्रकार वन के परोक्ष (दृष्टि द्वारा अगम्य) होनेपर भी पक्षी-समूह का निश्चय उसकी ध्वनि—शब्द—से होता है । जिस पक्षी की ऐसी ध्वनि है, वह पक्षी अमुक होगा, उस ध्वनि से ही पक्षी जाना जाता है, उसीप्रकार जिस देव ने यह शास्त्र कहा है उस शास्त्र से ही उसके दोषवान् व निर्दोष होने का निश्चय होता है ॥ १३७ ॥ जिसप्रकार लोक के मध्य में सृष्टि (उत्पत्ति), स्थिति व संहार (विनाश) की प्रवृत्ति का आदि (शुरु) व अन्त—अखीर-नहीं है, अर्थात्—सृष्टि-आदि अनादि काल से चले आ रहे हैं व अनन्त काल तक चलें जायेंगे । एवं जिसप्रकार शीत ऋतु उष्ण ऋतु व वर्षा ऋतु की प्रवृत्ति अनादि काल से चली आ रही है व अनन्त काल तक चली जायगी । उदाहरणार्थ—उत्पत्ति के बाद विनाश होता है व विनाश के बाद उत्पत्ति होती है एवं शीत ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु होती है और ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु होती है, उसके बाद शीत काल होता है । अर्थात्—एक से एक सदा होता है उसीप्रकार मुक्त परम्परा व श्रुतपरम्परा की शुरु व अखीर नहीं है । अर्थात्—ईश्वर व श्रुत भी अनादि हैं । उदाहरणार्थ—मुक्त (ईश्वर) से आगम (द्वादशाङ्ग श्रुत) होता है और आगम (शास्त्र) से मुक्त होता है ॥ १३८ ॥ उसी का निरूपण—आगम (शास्त्र) से वह जगत्प्रसिद्ध तीर्थङ्कर अर्हन्त

असंशयं हेतुविशेषमावाद्योपलः स्यात्कनकं तथैव । अतर्बहिषास्तसमस्तदोषो ज्योतिः परं स्याद्यमेव जीवः ॥१४०॥

अङ्गारवत्तद्धि न जातु शुद्धचेदूपान्तरं वस्तुनि यत्र नास्ति । दृष्टो मणीनां मलसंशयेन सेजःप्रभावः पटुभिः कृतेन ॥१४१॥

भूता भविष्यन्ति भवन्ति चान्ये लोकत्रयज्ञाः क्रमशः त्रितीयाः ।

यथा तथाप्ता यदि को विरोधो बहुत्वमप्यत्र च बाधमस्ति ॥१४२॥

हरिः पुनः क्षत्रिय एव कश्चिज्ज्योतिर्गणैस्तुल्यगुणोरविश्च ।

देवी स्त एती यदि मुक्तिमार्गो पृथक् सौम्यस्तथा न ॥१४३॥

असौम्यमेतदुपया विभक्तिं वशावतारेण स वर्तते च । शिला प्लवातप्यतिविस्मयाहं मातः कथं संगतिमङ्गुलीदम् ॥१४४॥

देव होता है और उस तीर्थङ्कर देव से आगम की उत्पत्ति होती है, निश्चय से दोनों श्रुत व देव, बीज व अङ्कुर की तरह प्रवृत्त होते हैं । अर्थात्—जिसप्रकार बीज से अङ्कुर होता है और अङ्कुर से बीज होता है । हित (सुख व सुख के कारण) व अहित (दुःख व दुःख के कारण) को जानने की शक्ति जन्म से स्मरणवाले पुरुष की तरह पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य व पाप से होती है । दूसरे पुरुष से क्या प्रयोजन है ? अपि तु कोई प्रयोजन नहीं । अर्थात्—जिसप्रकार जन्म से स्मरणवाला पुरुष दूसरे से नहीं पूँछता किन्तु स्वयं ही जान लेता है उसीप्रकार यह आत्मा, जो कि तीर्थङ्कर होनेवाला है, पूर्वजन्म-कृत पुण्योदय से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा स्वयं हिताहित को जानता है उसे दूसरे पुरुष (गुरु-आदि) की अपेक्षा से कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥१४५॥

जिसप्रकार भिन्न भिन्न कारणों (अग्नि में तपाना व छेदन-आदि साधनों) से सुवर्ण पाषाण, निस्सन्देह सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार यही संसारी जीव (मानव), अन्तरङ्ग कारण (कर्मों का क्षय-आदि) बहिरङ्ग (गुरु-आदि का उपदेश-आदि) कारणों से कर्ममल कलङ्क को क्षीण करनेवाला होकर मुक्त (ईश्वर) हो जाता है ॥१४०॥ अभव्य पुरुष में रूपान्तर नहीं है, अर्थात्—वह मिथ्यात्व को छोड़कर कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता—कभी शुद्ध नहीं हो सकता । वह अभव्य लक्षणवाला पुरुष, उसप्रकार कदापि शुद्ध नहीं होता जिसप्रकार अङ्गार (कांयला) कदापि जलादि द्वारा शुद्ध नहीं हो सकता एवं जिसप्रकार विचक्षण पुरुषों द्वारा किये हुए मल-विनाश से मणियों—रत्नों—में कान्ति का प्रभाव देखा गया है, अर्थात्—उसीप्रकार यह संसारी भव्य मानव, अन्तरङ्ग (सम्यग्दर्शन-आदि) व बहिरङ्ग (गुरु-उपदेश-आदि) कारणों द्वारा कर्म-मल कलङ्क का क्षय करता हुआ शुद्ध—मुक्त-हो जाता है ॥१४१॥ जिसप्रकार भूतकालीन, भविष्यत्कालीन व वर्तमानकालीन दूसरे लोकत्रय के जाननेवाले राजा क्रमशः हुए होवेंगे व हो रहे हैं उसीप्रकार यदि अतीत, अनागत व वर्तमानकालीन तीर्थङ्कर परमदेव हुए, होंगे व हो रहे हैं तो इसमें क्या विरोध है ? अपि तु कोई विरोध नहीं । इसीप्रकार तीर्थङ्करों की अधिकता के विषय में भी कोई विरोध नहीं, क्योंकि परमत में भी देवताओं की प्रचुरता अतिशय रूप से है । अर्थात्—जिसप्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नवग्रह, तिथि, देवता व बारह सूर्य इनमें संख्या की अधिकता पाई जाती है उसीप्रकार तीर्थङ्कर परम देवों में भी प्रचुरता समझनी चाहिए ॥१४२॥ फिर श्रीनारायण कोई क्षत्रिय ही हैं और सूर्य भी शुक्र व शनैश्चर-आदि-सरीखा है । जब ये दोनों (श्री नारायण व सूर्य) मुक्ति का उपाय बतानेवाले देवता हैं तो आदि क्षत्रिय पृथुराजा व चन्द्रमा ये दोनों मुक्ति का उपाय बतानेवाले देवता क्यों नहीं हैं ? अपितु होने चाहिए ॥१४३॥

१. तथा चोक्तं समन्तभद्रेण महर्षिणा—

दोषावरणयोर्हीनिनिःशेषास्त्यतिशयनात् । स्वक्षिप्तया स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥१॥

देवागमस्तोत्र से—

स्वयं स कुण्ठी पश्योः किलार्कः परेषु रोगातिहरदम् चित्रम् ।

अजा परेषां त्रिनिहन्ति वातं स्वयं तु दातेन हि सा श्रियेत ॥ १४५ ॥

माता—(स्वगतम् ।)

गतः स कालः खलु यत्र पुत्रः स्वतन्त्रवस्थां हृदयेप्सितानि । कार्याणि कार्येत हठाशयेन भयेन वा कर्णचपेटया वा ॥ १४६ ॥

पुत्रा निजादेशनिवेशितधीः स्वयंप्रभुः प्राप्तपदप्रतिष्ठः । शिष्यः सुतो वात्महितैर्बलाद्धि न शिक्षणीयो न निवारणीयः ॥ १४७ ॥

(प्रकाशम् ।)

तत्रोपदेशः खलु किं तु कुर्माद्विनोतचित्तस्य बन्धुतस्य । को नाम धोर्मास्त्वचनाम्बुराशेरुपायनार्थं लवणं नयेत ॥ १४८ ॥

विचक्षणः किं तु परोपदेशे न स्वस्य कार्ये सकलोऽपि लोकः । नेत्रं हि दूरेऽपि निरीक्षमाणमात्मावलोक्य त्वसमर्थमेव ॥ १४९ ॥

निघ्नन्ति निःसंशयमेव भूषाः पुत्रं च मित्रं पितरं च बन्धुम् ।

स्वस्य श्रिये जीवितरक्षणाय राज्यं कुतः शान्तिपरायणानाम् ॥ १५० ॥

तस्य दुःस्वप्नविधेः शमार्थं संरक्षणार्थं निजजीवितस्य । दुर्वासनां वत्स विहाय जीवन्निधेहि यत् कुलदेवतायाः ॥ १५१ ॥

किमङ्गः महामुनिर्गीतमः प्राणत्राणार्थमात्मोपकारिणमपि नाडीजङ्घं न जघान । विश्वामित्रः सारमेयम् ।

हे माता ! जब वह विष्णु इस समस्त संसार को अपने उदर के मध्य में धारण करता है तब शूकर, कच्छप-आदि दश अवतार कैसे धारण करता है ? अर्थात्—जो समस्त तीन लोक को उदर के मध्य धारण करता है, वह दश अवतार कहाँ ठहरकर ग्रहण करता है ? यह बात 'शिला पानी में तेरती है' इससे भी विशेष आश्चर्यजनक है, अतः किसप्रकार युक्तिसङ्गत हो सकती है ? अपितु नहीं हो सकती ॥ १४४ ॥ वह सूर्य स्वयं तो निश्चय से पादों में कुण्ठ रोगवाला है और भक्तों की रोग-पीड़ा-विध्वंसक है, वह उसप्रकार आश्चर्यजनक है जिसप्रकार बकरी दूसरे लोगों की दूषित वायु नष्ट करती है और स्वयं बात रोग से मृत्यु प्राप्त करती है ॥ १४५ ॥ अब उक्त बात को सुनकर माता चन्द्रमति अपने मन में निम्नप्रकार चिन्तन करती है—निश्चय से वह अवसर निकल गया, जिसमें यशोधर पुत्र, मेरी स्वतन्त्र वृत्ति से मनचाहे कार्य कराने के लिए हठ, नीति व भय से अथवा कान उभेठ कर प्रेरित किया जाता था । अर्थात्—अब हठादि से कर्तव्य कराने के लिए समर्थ नहीं रहा ॥ १४६ ॥ इस समय यह जवान है, शिशु नहीं है, जिसने अपनी आज्ञा में लक्ष्मी आरोपित—स्थापित की है एवं स्वयं सब का स्वामी है तथा जिसने राज्य पद में प्रतिष्ठा प्राप्त की है, अतः यह स्पष्ट है कि अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषों द्वारा विद्यार्थी अथवा पुत्र बलात्कार से न शिक्षा देने योग्य है और न रोकने योग्य है ॥ १४७ ॥ हे पुत्र ! तुम सब विषयों में प्रवीण हो, इसलिए निष्पत्य से विनय में तत्पर चित्तवाले और अनेक शास्त्रों में निपुणता-प्राप्त किये हुए तुम्हें मेरा उपदेश क्या करेगा ? उदाहरणार्थ—वौन बुद्धिमान् पुरुष लवण समुद्र को भेंट देने के लिए नमक लाता है ॥ १४८ ॥ हे पुत्र ! तुम बुद्धिमान् हो, परन्तु सभी लोग दूसरों को उपदेश देने में प्रवीण होते हैं, परन्तु अपने कर्तव्य-मालम में प्रवीण नहीं होते । जैसे चक्षु दूरदर्ती वस्तु को देखनेवाली होती है परन्तु स्वयं अपने को देखने में असमर्थ ही होती है ॥ १४९ ॥ हे पुत्र ! राजा लोग अपनी लक्ष्मी व जीवन-रक्षा के लिए निस्सन्देह पुत्र, मित्र पिता व भाई को मार डालते हैं । क्योंकि क्षमाशील राजाओं का राज्य किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है ? ॥ १५० ॥ अतः हे पुत्र ! इस दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए व अपनी आयु के संरक्षण के लिए दिग्गम्बरो का उपदेश छोड़कर पशुओं से कुलदेवता की पूजा करो ॥ १५१ ॥

एवमन्येऽपि शिबिदधीचिबलिवाणाधुरप्रभृतीनामवतिपतीनां सुरभित्तमयावीनामितरेषां च सत्त्वानामालम्बनेनात्मनः शान्ति-
कर्माणि सम्पत्तरेभिरे ।

यथा जलैः पङ्कजिनौवलानां पङ्कजनं लेपो नभसो यथा च । राजस्तथा शुद्धमतेन पापैः संबन्धगन्धोऽस्ति कथंचनापि ॥१५२॥

विषं विषस्यीवधमन्निरग्नेरिषं प्रसिद्धिर्महती यथैव । पुण्याय हिंसापि भवेत्तथैव सर्वत्र हे पुत्र न पङ्कजानि ॥१५३॥

गोब्राह्मणस्त्रीभूमिदेवतानां विचारयेत्कश्चरितं विप्रश्चित् ।

श्रुतिस्मृतीनिहासपुराणवाचस्पत्यआत्मना चेन्न तवास्ति कार्यम् ॥१५४॥

न कापि धंसः पुरुषार्थसिद्धिःसूक्ष्मेक्षयातोवपरोक्षकस्य । जगत्प्रवाहेण तु घतितध्वं महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥१५५॥

विलासिनीविभ्रमदर्पणानि कंदर्पसंतर्पणकारणानि । क्रियाश्रमच्छेदकराणि हासुं मधूनि को नाम सुधीर्यतेत ॥१५६॥

मताः ममा मन्मथतत्त्वविद्विर्मुक्ताः स्त्रियो मद्यविर्जिताश्च ।

ये भुञ्जते मांसरसेन हीनं ते भुञ्जते किं नु न गोमयेन ॥१५७॥

अहो पुत्र ! गौतम नाम के महामुनि ने प्राण रक्षा के लिए अपना उपकार करनेवाले बन्दर को क्या नहीं मारा ? इसीप्रकार हे पुत्र ! विश्वामित्र नाम के महामुनि ने अपना उपकार करनेवाले कुत्ते को क्या नहीं मारा ? इसी-
प्रकार दूसरे राजाओं ने भी शिबि, दधीचि, बलि व वाणासुर आदि नामवाले राजाओं के घात द्वारा और गाय
बगैरह पशुओं के एवं दूसरे प्राणियों के घात द्वारा अपने शान्ति कर्म भली प्रकार आरम्भ किए । हे पुत्र !
जिसप्रकार कमलिनियों के पत्ते जलों से लिप्त नहीं होते एवं जिसप्रकार कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं होता
उसीप्रकार शुद्ध बुद्धिवाले राजा का पापों से बन्धलेश भी किसी प्रकार नहीं होता ॥१५२॥ हे पुत्र ! जिसप्रकार
विष की ओषधि विष व अग्नि की ओषधि अग्नि है' यह विशेष प्रसिद्धि है उसी प्रकार जीव वध भी कल्याण
हेतु होता है । हे पुत्र ! सभी खेतों में छह हल ही नहीं होते, अर्थात्—किसी खेत में कम और किसी में ज्यादा
भी हल होते हैं एवं किसी में छह ही हल होते हैं ॥१५३॥ कौन विद्वान् पुरुष गायों, ब्राह्मणों, स्त्रियों,
गौतम-आदि महामुनियों एवं देवताओं के आचार का विचार करता है ? यदि तुम्हें अपनी आत्म-रक्षा से
प्रयोजन नहीं है तो वेद, स्मृति (धर्म शास्त्र), इतिहास और रामायण-महाभारत-आदि पुराणों के वचन
छोड़ो । अर्थात्—यदि तुम आत्म रक्षार्थी हो तो वेद-आदि के वचन मत छोड़ो ॥१५४॥ हे पुत्र ! सूक्ष्म दृष्टि
से विशेष परीक्षा करनेवाले मानव की कोई पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) सिद्धि नहीं होती । अतः
मनुष्य को लोक मार्ग से प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि जिस मार्ग से सज्जन प्रवृत्त होता है, वही कर्तव्य
मार्ग है ॥१५५॥ हे पुत्र ! कौन विद्वान् पुरुष ऐसे मधु व मद्य-आदि के छोड़ने का यत्न करेगा ?
जो (मधु-आदि), कमनीय कामिनियों के विलासी (हाव-भाव-आदि) के देखने में दर्पण-सरीखे हैं और
कामोद्रेक के उद्दीपन के कारण हैं एवं कर्तव्य करने से उत्पन्न हुए परिश्रम को नष्ट करनेवाले हैं ॥१५६॥ हे
पुत्र ! कामशास्त्र के रहस्य में प्रवीण-पुरुषों ने मरी हुई स्त्रियाँ और मद्य न पीनेवाली स्त्रियाँ समान मानी
हैं । हे पुत्र ! जो मांस रस-रहित भोजन करते हैं वे लोग क्या गोबर-सहित भोजन नहीं करते ? ॥१५७॥

१. गौतम नाम के महामुनि की कथा—एक समय गौतम नाम के महामुनि तीर्थयात्रार्थ गए परन्तु मार्ग भूल जाने
के कारण महान् वन में प्रविष्ट हुए । व्यास से व्याकुलित हुए एवं भूख की अग्नि द्वारा जलती हुई कुक्षिवाले उन्हें
स्वच्छन्द विहार करनेवाला बन्दर तालाब-आदि जलस्थान पर ले गया । बाद में उस मुनि ने बन्दर द्वारा विक्षेपा
हुवा पानी पीकर उस बन्दर को मार कर उसके मांस का भोजन करके वन को पार किया ।

यदि च मधुमांसनिबन्धने महादोषस्तथा मधुमेतन्महविषयदाहृतम्—

‘न मांसभक्षणं दोषो न भवे न च मरणे । प्रवृत्तिरेव भूतानां निवृत्तेऽपि महत्फलम् ॥’ इति १५८॥

कथं च हृष्यकव्यविधिषु प्रयत्नेन तदग्रहणम् । तदाह—

‘तिलैर्वीहिषैर्मर्षैरद्भिर्मूलफलैश्च । दत्तेन च । पियले विमिश्रितैः सैः पुनश्च ॥१५९॥
द्वी मासो मत्स्यमासेन त्रीन्मासान् हारिषेन च । औरभ्रंशाय चतुरः शकुनेनैव पञ्च वै ॥१६०॥
षण्मासांश्छागमासेन पार्थसेन हि मधु वै । अष्टादशेऽपि मासेन सौरवेण नवैव तु ॥१६१॥
दश मासास्तु तृप्यन्ति वराहमहिषानिघैः । शशकूर्मस्य मासेन मासानेकादशैव तु ॥१६२॥
संवत्सरं तु गश्येन पयसा वायसेन वा । धार्धौणसस्य मासेन तृप्तिर्द्विधाधार्धिकी ॥१६३॥’ इति ।

राजा—(स्वगतम् ।)

ऐश्वर्यमेकं तिमिरं नराणामेवंविधो बन्धुगणो द्वितीयम् । किं नाम पापं न करोतु जन्तुर्मदेन मोहेन च निचिचारः ॥१६४॥
यिमां मनोवर्षकरैर्विलासैरापातरम्यन्त विलासिनोत्तमा । प्रतापितान्तःकरणो वुरता भवादयोऽपेय विशत्यवश्यम् ॥१६५॥
बलावमोभिर्विषयैर्वराकः प्रायेण जानन्नपि मोहितात्मा । मृत्योः पुरोवार्तिविहारभाजां बन्धः करीवास्यदमापदां स्यात् ॥१६६॥

॥१५७॥ हे पुत्र ! यदि मद्यपान व मांस-भक्षण में मद्यान् दोष है तब महर्षियों में निम्न प्रकार वचन कैसे कहा ?
‘मांस-भक्षण में पाप नहीं है एवं मद्य-पान व कामोत्तम में भी पाप नहीं है, क्योंकि प्राणियों की मद्यपान आदि में प्रवृत्ति ही होती है । परन्तु मद्यपान व मांस-भक्षण के त्याग करने से गहात फल होता है’ ॥१५८॥ हे पुत्र ! और किस प्रकार से देवकार्य व पितृकार्य विधानों में शास्त्र प्रमाण से मांस-ग्रहण वर्तमान है । उक्त बात का निरूपण—‘तिली, धान्य, जी, उड़द, पानी और मूलोंके साथ मांस को विधिपूर्वक देनेसे मानवों के पूर्वज सन्तुष्ट होते हैं ॥ १५९ ॥ मछली के मांस से दो महीनों तक हरिण-मांस से तीन महीनों तक और भेड़ के मांस से चार महीने तक एवं शकुनि (पक्षीविशेष) के मांस से पाँच महीने तक पिता-आदि पूर्वज तृप्त होते हैं ॥१६०॥ निश्चय से बकरे के मांस से छह माह तक पार्थ (मृगविशेष) के मांस से सात माह तक और कस्तूरी मृग के मांस से आठ महीनों तक तथा कर्मृग के मांस से दश महीने तक पितरगण (पूर्वज) तृप्त होते हैं ॥ १६१ ॥ शूकर व भैंसा के मांस से तो दश महीनों तक एवं खरगोस व कछुए के मांस से ग्यारह महीनों तक पितृगण तृप्त होते हैं ॥ १६२ ॥ गाय के दूध अथवा उसकी खीर से एक वर्ष तक पितृगण तृप्त होते हैं एवं गण्डक-मांस से पूर्वजों की बारह वर्ष तक होने वाली तृप्ति होती है ॥ १६३ ॥’

उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज अपने मन में निम्नप्रकार सोचते हैं—ऐश्वर्य (राज्यादि वैभव), मानवों का पट्टिका अन्धकार है । इसीप्रकार माता-पिता-आदि लक्षणवाला बन्धुवर्ग दूसरा अन्धकार है । अतः ऐश्वर्य के गर्व से व इसप्रकार के बन्धुवर्ग के मोह से विवेकशून्य हुआ प्राणी कौन सा पाप नहीं करता ? ॥१६४॥ लक्ष्मी के होने पर हृदय में भद उत्पन्न करनेवाले प्रथम प्रारम्भ में रश्मिक प्रतीत हुए कमनीय कामिनियों के विलासों (नेत्र आभाओं) द्वारा वञ्चित मनवाला यह प्राणी निश्चय से दुष्ट स्वभाव-वाली संसाररूपी अटकों में प्रवेश करता है ॥१६५॥ इस दुष्ट विषयों के कारण अज्ञान-युक्त आत्मावाला विचारा-वाली संसाररूपी अटकों में प्रवेश करता हुआ भी हठ से उसप्रकार मृत्यु नगरी में विहार करनेवालों आपत्तियों का स्थान होता है, जिसप्रकार जंगली हाथी मृत्यु-नगरी की गज-बन्धनों (हाथी पकड़ने के लिए बनाया हुआ गड़दा) में विहार करनेवालों आपत्तियों का स्थान होता है ॥१६६॥

१. यमासंख्याक्षेपालंकारः । २. रूपकालंकारः । ३. ‘वारी तु भजवन्धनो’ इत्यमरः । ४. रूपकदृष्टान्तालंकारः ।

(प्रकाशम् ।) नान्येषु पापं मनसा विचिन्त्य साक्षात्कथं तत्क्रियते मयाद्य ।

एवमाभूता किं तु कथा न लोके सशालिशिष्यस्य वसोः प्रसिद्धा ॥१६७॥

पिबेद्विषं यक्षमृतं विचिन्त्य जिजोषिषुः कोऽपि नरो वराकः । किं तस्य तन्नं व करोति मृत्युमिच्छा यजान्नेव मनोषितानि ॥१६८॥
 रजस्तमोभ्यो बहुलस्य पूसः पापं सत्तां नैव निवर्तनाय । नाप्येनसामासजतामपेक्षा जाती कुले वा रजसामिवास्ति ॥१६९॥
 जातिजंरामृत्युरपामयाद्या भूषेषु चान्येषु समं भवन्ति । पुण्यजनेभ्योऽभ्यधिकाः क्षितीशा मनुष्यभावे त्वविशेष एव ॥१७०॥
 यथा मम प्राणिषधे भवत्या महान्ति दुःखानि भवन्ति मातः । तथा परेषामपि जीवहानौ भवन्ति दुःखानि तवम्यकानाम् ॥१७१॥
 परस्य जीवने यदि स्वरक्षा पूर्वं क्षितोदाः कुत एव मन्त्रुः । शास्त्रं तु सर्वत्र यदि प्रमाणं श्वकाकमासेऽपि भवेत्प्रवृत्तिः ॥१७२॥
 भवन्नकृत्मावहितो हि लोकः कदापि नेवं जगदेकमार्गम् । यद्धर्मबुद्ध्या विदधाति पापं तन्मे मनोऽनोव दुभोति मातः ॥१७३॥
 लोके विनिन्द्य परवारकर्म मात्रा सहैतत्किमु कोऽपि कुर्यात् । मांसं जिघत्सेद्यदि कोऽपि सोलः किमागमस्तत्र निवर्तनीयः ॥१७४॥

अब यशोधर महाराज ने अपनी माता (चन्द्रमति) से निम्नप्रकार स्पष्ट कहा—हे माता ! जो पाप दूसरे प्राणियों के प्रति मन से चिन्तन करने योग्य नहीं है, वह पाप इस समय मेरे द्वारा प्रत्यक्ष से किस प्रकार किया जा सकता है ? हे माता ! तूने वसुराजा व शालिशिष्य नाम के मन्त्र की लोक प्रसिद्ध कथा क्या नहीं सुनी ? ॥१६७॥ यदि कोई भी विचारा मानव जीने का इच्छुक होता हुआ जहर को अमृत समझकर पी लेवे तो क्या वह जहर उस मनुष्य की मृत्यु नहीं करता ? क्योंकि चाही हुई वस्तुएँ केवल मनोरथ से प्राप्त नहीं होतीं । अर्थात्—उसी प्रकार धर्म बुद्धि से पाप करता हुआ प्राणी क्या पुण्य प्राप्त कर सकता है ? ॥१६८॥ पाप और अज्ञान से अधिकता प्राप्त किये हुए पुरुषों (गौतम व विश्वामित्र-आदि) का पाप विद्वज्जनों के दृष्टान्त के लिए नहीं होता । अर्थात्—जिस प्रकार उन पापियों ने प्राणियों का मांस भक्षणरूप पाप किया उसप्रकार हेयोपादेय का ज्ञान रखनेवाले सज्जन पुरुष नहीं कर सकते । सम्बन्ध प्राप्त करते हुए पापों को उसप्रकार जाति (मातृपक्ष) व कुल विषयक वाञ्छा नहीं होती जिसप्रकार धूलियों को जाति व कुल विषयक अपेक्षा (इच्छा) नहीं होती । अर्थात्—जिसप्रकार उड़ती हुई धूलियाँ सभी के ऊपर गिरती हैं, किसी को नहीं छोड़तीं उसी प्रकार बँधने वाले पाप भी किसी को नहीं छोड़ते ॥१६९॥ जन्म, जरा, मृत्यु, और रोग वगैरह दुःख राजाओं व दूसरे प्राणियों में समानरूप से होते हैं । उनमें राजा लोग पुण्यों के कारण मनुष्यों से अधिक होते हैं, राजा लोगों व पुरुषों में मनुष्यता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है ॥१७०॥ हे माता ! जिसप्रकार मुझ प्राणी के वध होने पर आपको महान् दुःख होते हैं उसीप्रकार दूसरे प्राणियों के वध होनेपर भी उनकी माताओं को विशेष दुःख होते हैं ॥१७१॥ हे माता ! यदि दूसरे जीवों के जीव से अपनी रक्षा होती है तो पूर्व में उत्पन्न हुए राजा लोग क्यों मर गए ? यदि शास्त्र सर्वत्र प्रमाण है तो कुत्ता व कौए के मांस के भक्षण में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए ॥१७२॥ हे माता ! [संसार में] मनुष्य-समूह पाप कर्म में सावधान होकर विद्यमान है । यह संसार किसी भी अवसर पर एकमत में आश्रित नहीं होता । निश्चय से मानवगण जिस कारण धर्म बुद्धि से पाप करता है उस कारण मेरा मन विशेषरूप से सन्तप्त होता है ॥१७३॥ जब परस्त्री-भोग संसार में विषयरूप से निन्दनीय है तब यह परस्त्री-भोग क्या कोई भी माता के साथ करेगा ? अपि तु नहीं करेगा । इसीप्रकार यदि कोई भी पुरुष जिह्वालम्पट हुआ मांस भक्षण की इच्छा करता है तो उस मांस भक्षण के समर्थन में क्या वेद शास्त्र उदाहरण देने योग्य है ? ॥१७४॥ इन्द्रिय-लम्पट और लोगों की

१. आक्षेपालंकारः । २. आक्षेपालंकारः । ३. उपमालंकारः । ४. जातिः अतिशयालंकारश्च । ५. दृष्टान्तालंकारः ।
 ६. जातिरलंकारः । ७. जातिरियम् । ८. आक्षेपालंकारः ।

सोलेन्द्रिर्धर्तोकमनोनुकूलः स्वाजीवनादागम एव सृष्टः ।
स्वर्गो यदि स्यात्पशुहिसकानां सूनाकृतां तर्हि भवत्स कामम् ॥१७५॥
मन्त्रेण शस्त्रैर्गलपीडनाद्वा वेद्यां बहिश्चापि वधः समानः ।
स्वर्गो यदि स्यात्सर्वहिसितानां स्ववात्सर्वैर्यज्ञविधिनां किं तु ॥१७६॥

मातः, आकर्णयात्रोपाख्यानम्, यन्मयापरेष्वरेव विद्यानवद्यनामकाहुपासकावुपभुतम् । तथाहि—किलाखण्डल-
सभायां ब्राह्मणाचरणं प्रति विवदमानमनसो द्वौ विद्योक्तसाधेतत्परीक्षार्थमेकश्छगलच्छलेनापरस्तवाजीवनव्याजेन पाटलिपुत्र-
पुरबाहिरिकायामवतेरतुः । तस्मिन्नेवावसरे सप्त-आगतं पञ्चशतीं छात्राणामध्यापयन्नुपाध्यायः सकलवेदवेदाङ्गोपाङ्गी-
पवेशावर्धयः काङ्क्षायननाभयः क्षणितभीकश प्रारब्धं विधितुस्तत्रैवाजगाम । ईसाचक्रे च पुरुषेणाविष्ठितमतीव महा-
वेहमजम् । 'अहो, साधु भवत्ययमजास्तनंधयः शत्रु यज्ञकर्मणे' इत्यनुध्याय तं गोधमेवमन्यधात्—'अरे मनुष्य, समानीयता-
मित इतोऽयं छागस्तव चेदस्ति विक्रेतुमिच्छा' इति । पुरुषः—'भट्ट, विविक्तीपुरेवंनं यदि भवानिदं मे प्रसादीकरोत्य-
ङ्गुलीयकम् ।' उपाध्यायस्तथा विधायापवर्धं च सं पुरुषमात्मदेशीयं शिष्यमाविशति—'अहो कुशिक वरस, बलीयानयम-
जास्तनंधयः । तदतिथस्तमुपसंध्यानेन बद्धवानीयतामुववसितम् । अहमप्येष तवानुपवमेवागच्छामि ।' तथाचरति
तच्छिष्ये स वसुधायां कुशिककीलित इव निषण्णः संभूय सर्वैरपि तदन्तेवासिभिरुत्थापयितुमशक्यः 'प्रीयन्तामत्रैवास्प

चित्तवृत्ति के अनुकूल चलनेवाले पुरुषों ने अपने विषयों के पोषणार्थ यह वेद सिद्धान्त रचा है । यदि अश्वमेध-
आदि यज्ञकर्म में पशु-वध करनेवालों को स्वर्ग प्राप्त होता है तो वह स्वर्ग कसाईयों को विशेषरूप से प्राप्त होना
चाहिए ॥१७५॥ अथर्वणमन्त्र व संहिता-वाक्य अथवा शस्त्र व कण्ठ-मरोड़ना इनसे यज्ञ-वेदो (प्रालम्भन
कुण्ड) पर अथवा याग मण्डप के बाह्य स्थानपर जीव धात करना एक सरीखा पाप है । यदि यज्ञ में मन्त्रो-
च्चारण पूर्वक होमे गए पशुओं को स्वर्ग होता है ? तो अपने पुत्र-आदि कुटुम्ब वर्गों से यज्ञ-विधि क्यों नहीं
होती ? ॥१७६॥ हे माता ! इस जीव-धात संबंधी दृष्टान्त कथा सुनिए, जिसे मैंने परसों 'विद्यानवद्य' नाम के
श्रावक से सुनी थी ।

सौधर्मेन्द्र की सभा में ब्राह्मणों के आचरण के प्रति विवाद करते हुए दो देवता उनके आचार की
परीक्षा के लिए एक बकरा के बहाने से (बकरा बनकर) और दूसरा बकरे की जीविका करनेवाले के बहाने
से (बकरा ले जानेवाला शूद्र बनकर) पटना नगर के समीपवर्ती वन में अवतीर्ण हुए । उसी अवसर पर
'काङ्क्षायन' नाम का उपाध्याय (पाठक), जो कि साढ़े पाँच सौ छात्रों को अध्यापन करनेवाला था एवं
जिसकी मर्यादा चारों वेद व छह वेदाङ्गों (शिक्षा व कल्प-आदि) व उपाङ्गों के उपदेश देने में है, तथा
जो साठवीं बार यज्ञ करने का इच्छुक था, वहीं आया । उसने महाशूद्र-सहित व विशाल कायवाले बेल-सरीखे
बकरे को देखा । फिर यह विचारकर कि 'आश्चर्य है कि यह बकरी का बच्चा निश्चय से यज्ञ कर्म में अच्छा है'
उस बौद्धा होनेवाले पुरुष से निम्न प्रकार कहा—'अरे मनुष्य ! उस स्थान से इस स्थान पर इस बकरे को लाओ
यदि तुम्हारी इस बेंचने की इच्छा है ।' फिर बकरा ले जानेवाले मानव ने कहा—'भट्ट ! मैं तो इस बकरे को
बेंचने का इच्छुक हूँ यदि आप यह मुद्रिका मेरे लिए प्रसन्न होकर अर्पण करें ।' फिर उपाध्याय ने मुद्रिका
देकर उसे वापिस भेजा और शिष्य को आज्ञा दी । 'अहो 'कुशिक' नामवाले बच्चे ! यह बकरी का बच्चा विशेष
बलिष्ठ है, अतः इसे विशेष यत्न पूर्वक दुपट्टे से बाँधकर मेरे गृहपर ले जाओ । मैं भी आपके पीछे ही आऊँगा ।

चैटस्य मासेन विविपूर्वकं देवाः पितरो ब्राह्मणाश्च' इत्युक्तापांस्त्वणरुद्रममर्चयिष्योन्मेधकलुषचक्षुषमाशु स्वयमेव वषापो-
 द्धृतपर्वताकारपापाणां त्वं स क्षमस्तमुपाध्यायं मनुष्यवद्बभावे—'ननु भट्टस्य किमर्थं महानेन प्रयासः' इति । भट्टः
 सभयः सविस्मयश्च प्रत्याचष्टे—'महापुरुष, तव स्वर्गगमनाय' इति । छापः—'अग्रे क्वन्तु ते वराकतनवः पशवो ये
 मक्षमिषेण भवता भक्षिताः । अत्र तु प्रस्तरप्रतिभाकवलन इव केवलं दन्तशङ्खस्तव' इति विचिन्त्य किंविद्धिहस्य च स
 स्तभस्तं पुनरेवमबोचत्—

'मार्हं स्वर्गफलोपभोगतृप्तौ नाभ्यर्चितस्त्वं मया सन्तुष्टस्तृणभक्षणं सततं हन्तुं न युक्तं तव ।

स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बाधध्वं ॥१७७॥'

तद्वत् भो महाराज, सा महीयाम्बिका समोक्तिषु निरुत्तरा सती परगुपायान्तरभण्ड्यन्ती 'तव्यप्रतिष्ठातन्त्रेषु
 हि राजपुत्रेषु इत्याद्येन स्वन्ति ताविधिः आचरिष्यताः अन्येभ्यः । तदेतं कुशलमितिभिः शान्तिकर्मण्य कर्तव्याः
 कार्यैश्चस्म्यन्तराः' इति, तथा 'महोदयि हि पुत्रे सत्रिशीर्षा बालताल इव चाटुकारस्वेतुला एवालापाः इत्याद्यन्ते, न पुनः
 कर्णकटुकाः' इति च विचिन्त्य, 'माता, 'अलमवमनेन ममाध्येयस्करेणोपचारेण' इति सया सहचदुमानं विनिष्ठावभाणापि

जब शिष्य वैसा ही कर रहा था अर्थात् जब वह बकरे की बांधकर ले जा रहा था तब वह बकरा पृथिवीपर
 बच्च से कीलत हुआ गरीखा बैठ गया और प्रस्तुत उपाध्याय के साढ़े पाँच मी शिष्य मिलकर भी उसे उठा
 न सके । 'इस बकरे के मांस द्वारा वेदीक विधि में गोवन्नावि देवता, पिता-आदि पूर्वज एवं ब्राह्मण-आदि तृप्ति
 प्राप्त करें' इस प्रकार के भाषण से उत्कट क्रोध करनेवाले व जिसके नेत्र क्रोधरूप विष की उत्पत्ति से लाल
 हुए हैं एवं जो शीघ्र स्वयं ही बध करने के लिए उठार हुए, पर्वताकार सरीखे पापाणों से कर्कश हो रहा था
 ऐसे उपाध्याय से वह बकरा मनुष्य-सरीखा (मनुष्य की वाणी से) निम्न प्रकार बोला—'भट्ट का यह महान्
 प्रयास किस कारण से हो रहा है ?' उपाध्याय भयभीत व आश्चर्यान्वित होता हुआ निम्न प्रकार बोला—
 'हे महापुरुष ! आपके स्वर्गगमन के लिए मेरा प्रयास है ।' उक्त बात को सुनकर बकरे ने मन में विचार किया ।
 'दूसरे पक्ष, जो कि यज्ञ के वहाने से आपके द्वारा भक्षण किये गए हैं, वे अकिञ्चित्कर (अल्प) शरीरधारी थे,
 परन्तु विशाल शरीर-धारक मेरे विषय में चट्टान की मूर्ति को चवाने समान केवल तुम्हारे दाँत दूँगे ।' फिर
 उस बकरे ने कुछ हँसकर उपाध्याय से कहा—'हे भट्ट ! मैं (बकरा) स्वर्ग के भोग नहीं चाहता । 'मुझे स्वर्ग
 पहुँचाओ' इसप्रकार मैंने तुमसे प्रार्थना नहीं की । मैं तो वेरी आदि के पत्तों को चवाने से ही निरन्तर सन्तुष्ट
 हूँ । श्रेष्ठ वर्णवाले तुम्हें कर्ण चाण्डाल-सरीखे होकर मेरा बध करना उचित नहीं है । यदि तुम्हारे द्वारा यज्ञ में
 मारे हुए प्राणी निश्चय से स्वर्ग जाते हैं, तो तुम माता-पिताओं तथा अपने पुत्रों व बन्धुवर्गों से यज्ञ क्यों नहीं
 करते ?' ॥१७७॥

फिर हे मारिदत्त महाराज । जब वह मेरी माता (चन्द्रमति), जो कि मेरे उक्तप्रकार के वचनों में
 उत्तरहीन है व जिसने दूसरा उपाय नहीं देखा और जो 'हे माता ! मेरे इन पैरों पर पड़ने रूप अकल्याणकारक
 विनय से पचांस है' इसप्रकार विशेष मान-सहित मेरे द्वारा निवारण भी की जा रही है, मेरे पैरों पर विशेष प्रकट
 की हुई करुणापूर्वक व प्रकट हुई विशेष विनय सहित गिरी और उसने मुझसे निम्नप्रकार प्रार्थना की । मेरी माता
 ने क्या विचार कर ? मुझसे निम्नप्रकार प्रार्थना की ? 'निस्सन्देह समस्त संसार में सम्मान-समूह प्राप्त करने-
 वाले राजपुत्रों के कर्तव्य स्वभाव से कुटुम्बवर्ग के प्रति धर्तता के कारण निर्दय होते हैं, अतः निपुणबुद्धि-
 शाली पुरुषों को इन राजपुत्रों के लिए सामग्री से ही कर्तव्यों में अपने अधीन करना चाहिए ।' और निश्चय
 से महान् पुत्र के प्रति माताआ के शिशुकालसरीखे मिथ्यास्तुतिवाले व स्नेहपूर्ण मोठे वचन ही प्रशंसनीय होते

सप्रणयमतिप्रकटितकथनामयवाविर्भूतायुक्प्रथये च पादपोनिपरय मामेधमस्यथितवती—‘पुत्र, अहमनाथेत्यनुकम्पया वा, मातेति वरसल्लया वा, महंगायतज्जीवितेसुपरोधेन वा, वृद्धेति दयालुतया वा, गुरुवचनमनुलङ्घनीयमित्याशयेन वा, सविष्यत्यवश्यमनेनास्पृशितभाङ्गेन पूर्वमाचरितस्यापि मुकुतस्थ हानिरिति परामर्शेन वा, किमपरः कोऽपि नास्ति तत्र पण्डितमन्यभावस्यास्पदं येन मयि जरत्यामेवमतोव विहितविचारचफलोऽसीत्पुत्रपालनभयेन वा, युक्तमपुत्रं वा गुरुरेव जानातीति मार्गानुसारणेन वा, न भवति शुभं चेदनुष्ठानमहमेव स्यामेतसां भागीति मनोधया वा, चिरमियं महीयसि पदे स्थिता मयापमानिता रात्री न शोविष्यतीति संभावनेन वा, पुरा हि तस्या एव मम प्रभवन्ति वचांसि कुतो नाद्येति स्नेहानुगमनेन वा, नो चेदात्मागमेव करिष्यामि देवतोपहाराय त्वमेव तावदनुभवोभयकुलविशुद्धः श्रियोज्याः फलमित्य-
पवादोभस्याया वा, यदि परलोकबोधाशङ्कनेनान्येन वा केनचित्कारणेन प्राणिघाते न व्याप्रियसे, मा प्रावतिष्ठाः । किं तु विनिवेदितवक्षिणोत्सर्वेदविद्विर्वाशिर्धः परिध्यावितसकलसत्त्वोपहारकलोत्कटेन पिष्टकुक्कुटेन कुलदेवतार्थं बलिमुपकल्प्य तदवशिष्टं पिष्टं मांसमिति च परिकल्प्य मया सहायक्यं प्राप्तनीयम्’ इति ।

राजा—(स्वगतम् ।) ‘अहो, महिलानां दुराग्रहनिरवग्रहाणि परोपधाताग्रहाणि च भवन्ति प्रायेण चेष्टितानि । स्त्रियो हि नाम भवन्तु भर्तृषु शम्भ्यापस्ये पुत्रेषु च प्रतिपालनसमये प्रकामं निमृष्टार्या निरङ्कुशाचरणससर्थाश्च, न

हैं न कि कानों को बट्ट प्रतीत होनेवाले ।’ उमने मुझसे कौसी प्राबंन की?—हे पुत्र ! यदि तुम दुर्गति-गमन की आशङ्का से अथवा किसी दूसरे कारण से जीवबध में प्रवृत्त नहीं होते तो मत प्रवृत्त होओ, किन्तु आटे के मुर्गे से, जिसमें ऐसे प्राह्मणों द्वारा, जिसका अनाथ शिरोर रूप से निवेशन की हुई दक्षिणा के लिए है और जो त्रयीवेदविद्या में निपुण हैं, समस्त प्राणियों की बलि का फल विविध ग्रन्थों के प्रमाणपूर्वक ज्ञापित किये जाने से महान् है, कुलदेवता के निमित्त बलि (पूजा) समर्पण करके तथा उससे बचे हुए आटे में मांस का संकल्प करके निम्न प्रकार कारणों से तुम्हें मेरे साथ अवश्य भक्षण करना चाहिए ।

हे पुत्र ! तुम्हें किन कारणों से उक्त कार्य करना चाहिए ? ‘हे पुत्र ! मैं अनाथ हूँ, इसप्रकारकी दया-
लुता से अथवा ‘यह मेरी माता है’ ऐसी अनुरागता से, अथवा ‘यह मेरे दर्शनाधीन जीवनवाली है’ इसप्रकार के आग्रह से, अथवा, ‘यह वृद्ध है’ इसप्रकार की दयालुता से, अथवा ‘माता-पिता-आदि गुरुजनों का वचन उल्लङ्घन करने लायक नहीं है’ ऐसे नैतिक अभिप्राय से, अथवा ‘इसका मनोरथ पूर्ण न होने से पूर्वकाल में विधिपूर्वक किये हुए पुण्य का नाश अवश्य ही होगा’ इसप्रकार के विचार से अथवा हे पुत्र ! तुम्हारी मूर्खता का स्थान क्या कोई दुगरा गुण या स्वभाव नहीं है ? जिससे तुम मुझ वृद्धा के विषय में भी उक्तप्रकार किये हुए विचार से विशेष अस्थिर प्रकृतिवाले हो रहे हो’ इसप्रकार की उलाहना के भय से, अथवा ‘योग्य-अयोग्य को गाथा गिता ही जानते हैं’ इसप्रकार के मार्ग का अनुसरण (स्वीकार) करने से, अथवा ‘यदि यह शुभ अनुष्ठान नहीं है तो मैं ही पाप-भागिनी होऊँगी’ ऐसी बुद्धि से अथवा ‘विशेष पूज्य स्थान पर अधिष्ठित हुई भी, मेरे द्वारा तिगस्कृत होने के कारण यह चिरकाल तक जीवित नहीं रहेगी’ इस-
प्रकार के विचार से अथवा ‘जब उसके परोक्षकाल (पोठ पोछे) में ही मेरे वचन उसको आज्ञापालन में समर्थ होते हैं तब इससमय उसके सगंध क्यों नहीं आज्ञापालन में समर्थ होंगे ?’ इसप्रकार के प्रेमका अनुसरण करने से अथवा ‘यदि मेरा वचन स्वीकार नहीं करते तो मैं ही अपने को देवता की बलि निमित्त कर दूँगी, फिर मातृ-पितृवंश में शुद्ध हुए तुमही इस राज्य की लक्ष्मी का फल भोगा’ इसप्रकार के अपवाद के भय से ।

उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया ‘आश्चर्य है कि स्त्रियों के कार्य, बहुलता से दुराग्रह से रुकावट-हीन और दूसरों का बध करने में दृढ़प्रतिज्ञा-युक्त होते हैं । क्योंकि

पुनः पौरुषेयेषु कर्मसु । यस्यात्कमलिनीवलेह्यु ललकणुत्तेज नदीनां मग्नत्वात्तत्त्वावतीव निःसारत्वान्च । पुरुषोऽपि गृहकार्यान्वयत्र स्थिरं प्रमाणयन्मदीप्रवाहपतितः पावप इव न विरं नन्दति । स्त्री तु पुरुषमुष्टिस्थिता खड्गयश्चिरिव साधयत्यभिमतमर्थम् । अभिनिवेशं च पुनः पापपुण्यक्रियासु प्रधानं निधानमामनन्ति मनीषिणः । बाह्यानीश्रियाणि तपनतेजांसोऽप्यशुभेष्वशुभेषु च वस्तुषु समं विनिपतन्ति । न चैतावता भवति तदधिष्ठातुः कुशलेन चादृष्टेन संबन्धः । संकल्पोपपन्नप्रतिष्ठानि च देवसाधुश्रमभाजिज शिलाशकलानि किमत्यासावयन् पुरुषो न भवति लोके महापञ्चपातकी । सकृदेव चाशुभसंकल्पमलिते मनसि दुरपवाहकलुषिते सत्पुरुषचेतसोऽप्यदुर्लभाः खलु पुनस्तत्प्रसन्नतायामुपायाः । चिरेणापि च कालेन कृतः कल्याणकर्मणां प्रचयः प्रमादवशेन सकृदपि संजातविधिदुरभिसंधिः पापकनिकोपात्प्राप्ताव इव क्षणेन विनश्यत्यामूलतः । संकल्पेन च भवन्ति गृहमेधिजोऽपि मुनयः । यथा—उत्तरमथुरायां निशाप्रतिमास्थितस्त्रिदिवसुत्रित-कलत्रपुत्रनिश्रोपद्रवोऽप्येकवल्बभावनमानसोऽर्हदासः । मुनयश्च गृहस्थाः । यथा—कुसुमपुरे विरावाकणितसुतसमर-स्थितिरातापनयोगपुत्रोऽपि पुरुहूतदेवर्षिः ।

स्त्रियां, पति के साथ सुरत (मैथुन—भोग) समय में और पुरुषों के पालनपोषण के अवसर पर यथेष्ट गृह कार्यों में छोड़ी हुई व सामु-आदि से निर्भय—स्वाधीनता पूर्वक—कार्यसम्पादन में समर्थ हों न कि पुरुषों द्वारा किये जानेवाले कार्यों में । क्योंकि स्त्रियों का मन कमलिनी-पत्तों पर पड़े हुए जलविन्दुसरीखा विशेष चञ्चल व अत्यन्त निर्बल होता है । पुरुष भी गृहकार्य (भोजन बनाना आदि) को छोड़कर दूसरे कार्यों में स्त्री को प्रमाण मानता हुआ नदीप्रवाह में पड़े हुए वृक्ष-सरीखा चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता एवं स्त्री तो पुरुष की मुट्ठी में स्थित हुई—पुरुष से परतन्त्र हुई—उसप्रकार अभिलषित प्रयोजन सिद्ध करती है जिसप्रकार उत्तम खड्गयष्टि (तलवार) योग्य पुरुष की मुष्टि में स्थित हुई अभिलषित प्रयोजन (विजयश्री) सिद्ध करती है । विद्वान् लोग चित्त की आसक्ति को ही पाप-पुण्य क्रियाओं का मुख्य स्थान कहते हैं । क्योंकि यद्यपि चक्षु-आदि इन्द्रियां पुण्यजनक व पापजनक कार्यों में सूर्य-प्रकाश-सरीखों एककाल में ही प्रवृत्त होती हैं, परन्तु इतने मात्र से—केवल दर्शनमात्र से ही—दर्शन व स्पर्शन करनेवाले मानव को पुण्य व पाप से संबंध नहीं होता । उदाहरणार्थ—मानसिक संकल्प द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व देव (ईश्वर) की समानता को प्राप्त हुए पाषाण-खण्डों (पाषाणमयी देवमूर्तियों) की आसादना (तिरस्कार) करता हुआ मानव क्या लोक में महापञ्च पातकी^१ (स्वामी-द्रोह व स्त्री-वध-आदि का करनेवाला) नहीं होता ? जब मन एकबार भी पापपरिणाम से दूषित (मलिन) हो जाता है तब निश्चय से उसे निर्मल करने के उपाय वैसे दुर्लभ होते हैं जैसे निन्दा से मलिन हुए मत्पुरुष के चित्त को निर्मल बनाने के उपाय दुर्लभ होते हैं । जैसे अग्नि डालने से गृह नष्ट—भस्म हो जाता है वैसे ही चिरकाल से संचय किया हुआ पुण्यकर्म-समूह भी, जिसमें असावधानों से एक बार भी नष्ट अभिप्राय उत्पन्न हुआ है, क्षणभर में समूल नष्ट हो जाता है । पुण्यपरिणाम से गृहस्थ भी मुनि-सरीखी मान्यता प्राप्त करते हैं । जैसे उत्तर मथुरा में रात्रि में ध्यानस्थ हुआ अर्हदासनामका सेठ, देवविशेष द्वारा किया गया है स्त्री, पुत्र व मित्र का उपद्रव जिसका, ऐसा होनेपर भी एकत्वभावना के चिन्तन में मग्नचित्त हुआ मुनिसदृश मान्यता को प्राप्त हुआ ।^२ एवं मुनि भी पापपरिणाम से गृहस्थसरीखे हो जाते हैं । उदाहरणार्थ—जिसप्रकार

१. उक्तं च—'स्रामिद्रोहः स्त्रीवधो बालहिंसा विश्वस्तानां घातनं लिङ्गभेदः । प्रायेणैतत्पञ्चकं पातकानां कुर्यात्सद्यः प्राणिनः प्राप्तदुःखान् ॥ १ ॥'

२. अर्हदास की कथा—उत्तर मथुरा में जब अर्हदास नाम का सेठ चतुर्दशी का उपवास किये हुए रात्रि में वमशान भूमिपर ध्यानस्थ होकर एकत्व भावना में लीन था तब उसके व्रत को नष्ट करने में तत्पर हुए वनदेवताओं ने अनेक उपद्रव किये, तथापि उसे जरा भी मानसिक क्षोभ नहीं हुआ, जिससे उसे मुनिसदृश मान्यता प्राप्त हुई ।

अस्ति च जगत्प्रसिद्धमिवमुवाहरणम्—एकस्मिन्नेव किल कामिनीकलेदरे मुनिकामिकुणपाणिनामभिनवेश-
निमित्तो विविचित्रनिर्दोषः कर्मविपाक इति । किं च ।

नरेषु संकल्पवशेन मन्मथो यथा प्रवर्तेत पयसश्च धेनुषु ।

तथैव कर्माण्युभयानि मानसाद्भाति बोधाधिपतिविजृम्भितात् ॥१७८॥

इयमिच्छा च मे मोहविह्वला कालरात्रिरिव दुष्परिहारा जानुभञ्जनीय मे गतिभङ्गाय प्रत्यवस्थिता । तवब्राह्म
'इतस्तदभितो व्याघ्रः केनास्तु प्राणिनो गतिः' इतीमं न्यायसापत्तितो यद्यवगणयेयमस्याः प्रतिश्रुतम्, तदेत एव समोपवर्तितो
'देव, बुद्धेः कलमनाग्रहः' इत्युपविशन्तो भविष्यन्त्युपाध्यायाः । सकलजनसमक्षं परमपमानिता चेयं जरती न जाने किं
करिष्यति । स्वस्य च मनसि चोश्वापि क्रियोत्प्रेक्षा सा न भवति पुंसः श्रेयस्करी, या न रञ्जयति परेषां चेतांसि ।

पटना नगर में 'पुरुहूत' नामका देवपि (दिगम्बर मुनि), आतपन योग में स्थित हुआ भी, जिसने गुप्तचर
द्वारा अपने पुत्र की युद्धस्थिति सुनी थी गृहस्थसरीखा हो गया । 'सर्वलोक में विख्यात निम्नप्रकार दृष्टान्त वचन
है—केवल मरी हुई वेश्या के शरीर को लेकर दिगम्बर मुनि न वेष्टनसक्त विद् तथा कुत्ते के अभिप्राय में
कारण नानाप्रकार के आस्रववाला कर्मविपाक (उदय) है ।^१

जैसे कामवासना के अभिप्राय से मनुष्य में काम (मैथुनेच्छा) उत्पन्न होता है और जैसे गरे हुए
बछड़े का करङ्क (काँचा) देखने से गायों के थनों से दूध झरता है वैसे ही यह जीव मानसिक शुभ-अशुभ
अभिप्राय से क्रमशः पुण्य-पाप कर्मों का बंध करता है ॥ १७८ ॥

मोह (अज्ञान) से विह्वल—व्याकुलित हुई मेरी माता (चन्द्रमति) और मोह (प्राणि-हिंसा) से
विह्वल (भयानक) यह यज्ञ, वैसा मेरे लिए दुःख से भी त्यागने के लिए अशक्य है जैसे मोह (मूर्छा) से
विह्वल—व्याकुलित करनेवाली—कालरात्रि दुःख से भी त्यागने के लिए अशक्य होती है । एवं जैसे यन्त्र
विशेष गतिभङ्ग (गमन-रोकने) के लिए स्थित होता है वैसे यह मेरी माता व यज्ञ गतिभङ्ग (ज्ञान नष्ट
करने) के लिए स्थित है । उससे मैं यहाँपर 'इस ओर जाने से नदी का तट है और उस ओर जाने से व्याघ्र

१. 'यथा कुलुमपुरे कृतोदन्तास्लेशबाहकादाकर्णितवृत्तसमरस्थितिरातपनयोगशुतः पुरुहूतो देवपिः' नागौर की ह० लि० (क)
से समुद्धृत पाठान्तर—

नोटः—यद्यपि इसका अर्थ भी उपर्युक्त सरीखा है तथापि यह पाठ मु० प्रति के पाठ की अपेक्षा विशेष उत्तम है ।

२. पुरुहूत देवपि की कथा—पाटलिपुत्र नगर के 'पुरुहूत' नाम के राजा ने पुत्र के लिए राज्यभार समर्पण करके जिन-
दीक्षा धारण कर 'देवपि' नाम प्राप्त किया । एवं पर्वत-मेखलापर आतपन योग में स्थित हुआ । उसने पत्रवाहक
गुप्तचर से, जिसने प्रसूत विद्याधर की उपासना के लिए आए हुए श्रावक के साथ बातचीत की थी, शत्रुओं के साथ
अपने पुत्र का युद्ध सुना । फिर कुपित हुए उसने युद्ध करने का उद्यम किया और पहाड़ी से चढ़े हुए सरीखा हो
गया । वाद में अवशिष्टानो चारणशुद्धिधारो मुनि ने उसे समझाया—कि ऐसे त्रिलोक पूज्य दिगम्बर वैप को धारण
करके इसप्रकार चिन्तन करना योग्य नहीं है ।

३. दमशान भूमि पर गड़ी हुई मृत वेश्या को देखकर दिगम्बर मुनि ने विचार किया—इसने तपश्चरण क्यों नहीं किया ?
वृथा ही मर गई । जिससे मुनि को स्वर्ग का कारण पुण्य बन्ध हुआ । फिर उसे देखकर वेश्यावक्त विद् ने विचार
किया कि यदि यह जीवित रहती तो मैं इसके साथ मोग करता अतः उसे पाप का कारण दुर्गति का बन्ध हुआ ।
कुत्ते ने उसे देखकर उसके मांस-मक्षण की इच्छा की, इससे उसे पाप का कारण नरक बन्ध हुआ ।

तथा च लौकिकी श्रुतिः—किल बृहस्पतिः सवृक्षोजपि जुङ्गारनगरे लोचनाञ्जनहरेण कितवेन मिथ्यापवाददूषितः शत-
क्रतुसभायां प्रवेशं न लेभे । अलब्धाशनांशेन तु वज्रकनागना धाजोयमेन 'अयं भिक्षाभ्रनणव्याजेनार्भकाभक्षयति' इत्युप-
हृतश्चक्रपाणिः परिव्राट्चाराणस्याम् । मधुपेषु मध्ये गीतपयाश्च मार्कण्डेतापमस्तापसाश्रमेषु । ज्ञानं च प्रतिकूलवदोष-
निपातमोषधमिव न भवति विहितोपयोगमप्यर्थक्रियाकारि । किं नु सत्त्वज्ञो द्वेपायनो येन न तादृशं कर्म समाचचार ।
पौलस्त्यो नीतिशास्त्रेषु नाभोषीद्दण्डक्योपाख्यातम्, येन स परदारानपाद्वत् । नहुषेन न सम्यगुपासितं गुरुकुलं
येन सप्तर्षीन्समुप्यानकार्षीत् । प्रजापतिर्जड एव एषो वा, येनात्मदुहितरि मनश्चकार । वरश्चिश्च वृषलीनिमित्तमासव-
निपोद्ब्रह्ममिति ।

(प्रकाशम् ।) अम्ब, न वात्केलित्वपि मे कदाचित्प्रतिलोमतां गतासि । न वाद्यं कथमद्यं ते चन्द्रमलेर-
प्यस्थाने दुराग्रहमलीमसा मतिः समजनीति । तत्पर्याप्तमत्रात्तापपरम्परा । भवतु । भवत्येवात्र प्रमाणम् । उत्तिष्ठ ।
ननु सर्वं पूर्णन्तामत्र कास्तिनानि । आहूय त्वमेवादिश कृकवाकुषिनिर्माणे शिल्पिनः । सायु समाज्ञापय त्वमेव भगवतो-
मवनशीभारम्भाय देवभोगिनम् । अनुशाधि त्वमेव यशोमतिकुमारस्य राज्याभिवेकविवसगगनाय मौहृतिकान् ।

हे, अतः किस मार्ग से प्राणी का गमन हो ?' इसप्रकार की नशा में पड़ा हुआ मैं यदि इस माता द्वारा प्रतिज्ञा की हुई बात (आटे के मुर्गे की बलि) तिरस्कृत करता हूँ तो ये समीपवर्ती लोग 'हे राजन् ! तुम्हें का फल आग्रह न करना है' इसप्रकार उपदेश देते हुए मेरे उपाध्याय हो जाँगें एवं सपस्त पुरुषों के रागक्ष तिरस्कृत को हुई यह वृद्ध माता न मालूम क्या करेगी ? अपने मन में वर्तमान शुद्धभी कर्मेव्य करने की इच्छा यदि दूसरों के चित्त को प्रमुदित नहीं करती तो वह पुरुष को कल्याण करनेवाली नहीं होती । उक्त बात की समर्थक लौकिक कथाएँ—निस्सन्देह 'बृहस्पति' सदाचारी होनेपर भी जब जुङ्गार नाम के नगर में 'लोचनाञ्जनहर' नामक जुवारी द्वारा मिथ्या-अपवाद से दूषित हुआ तब इन्द्र-सभा में प्रविष्ट न हो सका । दूसरी कथा—'चक्रपाणि' नामका सन्यासी 'वज्रक' नाम के स्तुतिपाठक से, जिसे प्रस्तुत सन्यासी से भोजन का भाग नहीं मिला था, 'यह भिक्षार्थ घूमने के बहाने से बच्चों को खाता है' ऐसी निन्दा से दूषित होने के कारण काशीनगर में प्रवेश न कर सका । 'मार्कण्ड' नामका तपस्वी, जिसने शराबियों के बीच में उनके स्नेह से केवल दूध ही पिपा था, 'इसने शराब पी ली' इसप्रकार की लोक-निन्दा के कारण तपस्वियों के आश्रम में प्रवेश न कर सका । प्रतिकूल साग्य के उदय से व्याप्त हुआ ज्ञान, उपयोग किया हुआ भी सेवन की हुई औषधि की तरह सफल नहीं होता ।

निस्सन्देह क्या 'द्वेपायन' नाम के गुनि मूर्ख थे, जिससे उन्होंने द्वारिका नगरी को भस्म किया । क्या लङ्काधिपति रावण ने नीतिशास्त्रों में 'दाण्डव्य' राजा का उदाहरण नहीं सुना था ? जिससे उसने परस्त्री (सती सीता) का अपहरण किया । क्या 'नहुष' राजा ने भली प्रकार गुरुकुल की उपासना नहीं की ? जिससे उसने सप्तर्षियों को बेलों-सरोखे बाहन बनाए । क्या ब्रह्मा विवेक-हीन या बहिरं थे ? जिससे उन्होंने अपनी पुत्री के भोगने की इच्छा की । कात्यायन नाम के तपस्वी ने दासों के निर्मित शराब से भरा हुआ घड़ा उठाया ।

अब यशोधर महाराज ने स्पष्ट कहा—हे माता ! जब बाल-क्रीड़ाओं में भी किसी भी अवसरपर तुमने मेरी प्रतिकूलता प्राप्त नहीं की, अर्थात्—सदा मेरे अनुकूल रही—तब न जाने आज चन्द्रमति (निर्मल बुद्धि-युक्त) तेरी बुद्धि अयोग्य आचरण में दुष्ट आग्रह से विशेष मलिन किस प्रकार हुई ? अतः इस कार्य में विशेष बातलाप करने से कोई प्रयोजन नहीं । अस्तु इस कार्य (आटे के मुर्गे का गारण व उसको मांस समझ-कर भक्षणरूप कार्य) में आप ही प्रमाण हैं । हे माता ! उठो । निस्सन्देह प्रस्तुत कार्य में आपके ही मनोरथ पूर्ण हों । तुम्हीं शिल्पियों को बुलाकर मुर्गा बनाने की आज्ञा दो व तुम्हीं कुलदेवता-गृह की शोभा करने के

एवमन्यन्यपि विधाय त्वमेव देवद्विजपरिजनपूजापुरःसराणि गृहकार्याणि । अहो वैरि कुलकमलाकरनीहार प्रतीहार, विमृश्य-
तामयमजोयोर्जि यथायथमनुजोविनिवहः । अहमप्येव विरप्रवृत्तवार्तासंजातश्रयो मनागप्यस्नाद्वसुमतीतिलकास्सभामण्ड-
पाद्वरवेशवर्तिनि तस्मिन्मदनविलासनामनिवासभवने स्वरविहाराय गच्छामि । तदनु तस्मिन्मयि शक्यातलमसंकृतधत्तहो
विक्रमालंकार, सा भवोयामृतमतिमहादेवी विवसादोयमादानुमागत्य गतात्कुसुमशेखरकान्तपुष्पवटोर्मदनदमयन्तिकायाः
प्रसाधिकाया ब्रुहितुविनोदकलहंसिकायाश्च सधीक्याः संजातसकलसेवावसराया संसदि प्रवृत्तमुदन्तमाकर्ष्य, 'न कुल-
मे यामिनोसमाचरितसहसावस्थ वसुमतीपतेरपरमेष्ठिषकूटकपटानुष्ठानमस्ति । मन्ये च वुष्करमेवमस्मास्थिरचित्तस्य
विरकासभावीनि भविष्यन्त्यापूषि । कुलवधूनां ह्ययमन्यश्च देवद्विजाग्निसमक्षं मातापितृवित्रोतस्य कायस्यैव भवतीश्वरः,
न मनसः । तस्य पुनः स एव स्वामी यथायमसाधारणः प्रवर्तते परं विध्वम्भाविश्रमाधयः प्रणयः । तथाहि—

पुरापि किं न रेमे गङ्गा सह महेश्वरेण, राधा नारायणेन, बृहस्पतिपत्नी द्विजराजेन, तारा च बालिना ।
महासत्त्वेषु हि जगति न किञ्चिद्विद्वदस्ति । अन्यत्र विरक्ते चेतसि रागप्रत्यानयनात् । को हि नामायःपिण्ड इव तप्तातप्ते
मनसी संघातुमर्हति । किं च परमकुहल इव पुरंजीषु ब्रुहिमानवान्मोति स्वर्धेयसम् । अन्यथा कृत्याराधक इव ध्रुवं पञ्चजनः

लिए देवता-पूजक पुजारी ब्राह्मण को भलो प्रकार आज्ञा दो । एवं यशोमति कुमार के राज्याभिषेक करने की
लग्न के गोपण के लिए तुम्हीं योनिविधियों को आदेश दो : देवपूजा, द्विजपूजा व परिजन (कुटुम्ब) पूजा-
आदि दूसरे भी गृहकार्य तुम्हीं कराओ । शत्रु समूहियों कण्ठ वन के गोपण के लिए हिम-सरीखे हे द्वारपाल !
तुम इस समस्त किकर-समूह को भी उपयुक्त स्थानपर भेज दो एवं यह मैं भी, जिसे लम्बी बेला पथस्त उत्पन्न हुए
वार्तालाप से खेद उत्पन्न हुआ है, इस 'वसुमतीतिलक' नाम के सभा मण्डप से कुछ निकटवर्ती उस 'मदन-
विलास' नाम के निवास भवन में स्वच्छन्द विहार-निमित्त जाता हूँ । इसके बाद जब मैं प्रस्तुत 'मदनविलास'
नाम के निवास भवन में स्थिति हुए पलंग को अलङ्कृत कर चुका था तब अहो ! पराक्रम-पञ्चानन मारिदत्त
महाराज ! उस मेरी अमृतमति महादेवी ने दिन सम्बन्धी भोजन-ग्रहण करने के निमित्त आकर वापस गये हुए
'कुसुम शेखर' नाम के विद्यार्थी से एवं 'विनोद कलहंसिका' नाम की सखी से, जो कि 'मदनदमयन्तिका' नाम
की मृदङ्गार कारिणी की पुत्री थी, सभा में, जिसमें समस्त पुरुषों की सेवा का अवसर उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न
हुए वृत्तान्त को सुनकर निम्न प्रकार विचार किया—'इस राजा के ऐसे कूट कपट का कारण निश्चय से मेरे
द्वारा रात्रि में किये हुए दुर्विलास को छोड़कर दूसरा नहीं है । ऐसे अस्थिर चित्तवाले इस यशोधर महाराज
की आयु (जीवन) दीर्घ होगी, इसे मैं असम्भव मानती हूँ । अर्थात्—यह निकट मृत्यु है । निश्चय से यह
यशोधर अथवा इससे भिन्न दूसरा कोई भी मानव देव, ब्राह्मण व अग्नि के समस्त माता-पिता द्वारा किये
गए कुलवधुओं के शरीर का ही स्वामी होता है, न कि उनके चित्त का । उन कुलवधुओं के चित्त का वही
स्वामी होता है, जिस पुरुष में ऐसा प्रेम पाया जाता है, जो कि अनोखा और विश्वास एवं दुःख-निवारण का
स्थान होता है । अब अमृतमति उक्त बात को दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन करती है—

पूर्वकाल में भी शन्तनु राजा की पत्नी गङ्गा ने क्या महेश्वर के साथ रतिविलास नहीं किया ?
राधा नाम की गोपी ने क्या श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) के साथ रतिविलास नहीं किया ? और बृहस्पति की पत्नी
ने क्या चन्द्रमा के साथ रमण नहीं किया ? एवं सुप्रोव की पत्नी तारा ने बालि के साथ क्या रतिविलास नहीं
किया ? निश्चय से महासाहसियों को संसार में कोई भी कार्य असम्भव नहीं है, परन्तु विरक्तचित्त को अनुरक्त
बनाना शक्य नहीं । निश्चय से कौन पुरुष लोहे के गोलों-सरीखे तप्त और अतप्त चित्तों को जोड़ने में समर्थ होता
है ? विशेषता यह है कि केवल स्त्रियों से ईर्ष्या न करनेवाला बुद्धिमान पुरुष ही अपना कल्याण प्राप्त करता है,

पञ्चतामश्चेत् । भवेद्वाचयमक्षिगतः । तत्रैव यावन्न सपि रोषविषं वर्धति तावद्दहेवात्य तत्रार्थमि । यथा चैयं ममात्मजस्य
राज्याभिषेकवार्ता प्रतिस्वप्नविधि किंवदन्ती च वादमुच्छ्रिता । सा यदि वेवात्तयैव परमार्थसती तदाचिरात्प्रकारं मे
मनोरथाः फलिताः । सिद्धं च मे समोहितम् । न चेतदाश्चर्यम् । अनुकूलं हि देवं करोति कुरङ्गमपि कण्डीरवातिवर्तनम् ।
अचलानपि च विदारयति तलदण्डेन । केवलमत्रोत्तापकस्य परिहर्तव्यम् । उत्तापकस्य हि पुरुषस्य हस्तायातमपि कार्यं
निधानमिव न सुखेन जीर्यति । भवति च जोषितव्यसंवेहाय । किं च न खलु बुभुक्षितवशाद्बुद्धिभराणि पच्यन्ते ।
नाप्युद्धुक्कृत्यते पातुम्' इति च वितर्क्य, तथा—

अनुमयत बधत मधुरं यत्कार्यं तदपि मानसे कुरुत । रोति कलं हि मधुरः सविषं च भृङ्गं वधति ॥ १७ ॥

सुध्नां वहति लोकोऽयं यथा दग्धमिहेन्धनम् । अनुशील्य जयं नेयस्तयारातिमंहात्मना ॥ १८० ॥

पुंसामसारसत्त्वानां किं कुर्याद्विक्रमक्रमः । भस्मीभवन्ति काष्ठानि तेजसानुगतान्यपि ॥ १८१ ॥

ज्ञानवानपि कार्येषु जनः प्रायेण मुह्यति । हस्तग्यस्तप्रधोपस्य किं न स्खलति शेमुषी ॥ १८२ ॥

प्रायः सरलचित्तानां जायते विषवागमः । शृजुर्गति यथा छेवं न वक्रः पादपस्तथा ॥ १८३ ॥

अर्थात् ईर्ष्यालु तो मर जाता है । अन्यथा—स्त्रियों से ईर्ष्या करनेवाला पुरुष निश्चय से वंसा मरण प्राप्त करता है जैसे क्रूरा (देवी विशेष) की आराधना करनेवाला पुरुष मरण प्राप्त करता है । अथवा यह निश्चय से स्त्रियों से द्वेष करने योग्य होता है ! अतः यह राजा जब तक मेरे ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण नहीं करता तब तक मैं ही इसके ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण करती हूँ । जिसप्रकार से यह मेरे पुत्र (यशोमतिकुमार) की राज्याभिषेक-वार्ता, दुष्ट स्वप्न का शमन-विधान और राजा के दीक्षा-ग्रहण की लोक-वार्ता विशेषरूप से उठी है, वह दीक्षाग्रहण-वार्ता यदि पुण्ययोग से वास्तविक सत्य होगी तब तो इस समय ही मेरे मनोरथ विशेष रूप से पूर्ण हुए ! मेरा मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा ही । यह मनोरथ-सिद्धि लक्षणवाला कार्य आश्चर्य-जनक नहीं है । क्योंकि निश्चय से जब देव अनुकूल होता है तब वह (हितकारक पुण्य) हिरण को भी सिंह का वात्सक कर देता है और पर्वत को भी नलदण्ड से विदीर्ण कर देता है, परन्तु इस कार्य में उत्सुकता—अस्थिरता छोड़ देनी चाहिए । क्योंकि अस्थिर चित्तवाले पुरुषका हस्त में आया हुआ भी कार्य निधि-सरीखा अनायास से परिणामन नहीं करता—सिद्ध नहीं होता एवं अस्थिर चित्तता जीवन को संदिग्ध कर देती है । अर्थात्—अस्थिरता में मरण भी उत्पन्न हो जाता है । निश्चय से भूखे पुरुष को इच्छामात्र से उदम्वर फल नहीं पकते किन्तु प्रयत्न द्वारा पकाये जाते हैं । इसीप्रकार उबलता हुआ जलादि पीने के लिए शक्य नहीं होता ।

‘तुम लोग मनुष्यों का सम्मान करो व कानों को अमृत सरीखे मिष्ट वचन बोलो तथा जो कर्त्तव्य चित्तमें वर्तमान है, उसे करो । जैसे मयूर मधुर शब्द करता हुआ विषैले साँप को खा लेता है’ ॥१७९॥ जैसे यह लोक ईधन को जलाने के लिए मस्तक पर धारण करता है वैसे नीतिशास्त्र में प्रवीण पुरुष को भी शत्रु को शान्त करके क्षय करता चाहिए’ ॥१८०॥ स्वाभाविक शक्तिहीन पुरुषों की पराक्रम-परिपाटी क्या कर सकती है ? जैसे ईधन अग्नि से सहित होते हुए भी भस्म हो जाते हैं’ ॥१८१॥ ज्ञानवान् पुरुष भी प्रायः करके कर्त्तव्यों में अज्ञान-युक्त हो जाता है । जैसे अपने हाथ पर दीपक स्थापित करनेवाले पुरुष की बुद्धि क्या स्खलित नहीं होती ?’ ॥१८२॥ सरल (निष्कपट) चित्तशाली पुरुषों का प्रायः करके मरण होता है । जैसे सरल—सीधा-वृक्ष काटा जाता है वैसे वक्र (टेढ़ा) वृक्ष नहीं काटा जाता । अभिप्राय यह है कि इससे मनुष्य को कुटिल ही होना

रक्तभावं समस्तानां प्रदर्शयति यः पुमान् । आविर्भावस्त किं न स्यात्पादाकान्तजगत्त्रयः ॥ १८४ ॥

बहिर्भूतलङ्घनस्थानः पूर्वं यः स्पातप्ररोहवत् । किमसौ न भिनत्येव प्राप्य कालं महीभूतः ॥ १८५ ॥

शूरोऽपि सत्त्वयुक्तोऽपि नीतिं वेत्ति न यो नरः । तत्र संनिहिता नित्यमापदः शरभोपमे ॥ १८६ ॥

अपि च ।

भूर्तेषु मायाविषु वुर्जनेषु स्वार्थकनिष्ठेषु विमानितेषु । वर्तेत यः साधुतया स लोके प्रतायते मुग्धमतिर्न केन ॥ १८७ ॥

इति च विभृश्य, शठप्रतिशठन्यायेन किमपि निःशलाके शिक्षयित्वा कुमारव्यस्येनालकभञ्जनेनाधिष्ठितं गविष्ठिर-
ममाहं प्रहितवती । स तर्थागत्य प्रविश्य च निवेदितावसरो मामुन्मूलितमगमिवातोव परिप्लानम्, आलिख्यपरावृष्टं
चित्रमिव मलिनच्छादयम्, अग्निलङ्घितं रत्नमिव नष्टतेजसम्, उत्पादितपक्षं ताश्चमिव गलितप्रभावमवलोक्य 'महा-
न्धत्वस्य महीपतेनं वषट्त्वेव गजस्य क्षीर्नस्याभिनिवेशः । कुतोऽन्यथाश्च वायं नीलिकोपवेहद्वृषितदेहस्त्रिपद्गणप्रवाह इव
नितरां मलीमसच्छविः समपावि' इति परामर्शविस्मितान्तरङ्गः कृतागमनपर्वतुयोगश्चैवं सां व्यजितवत्—'वेच, देवी

चाहिए' ॥१८३॥ जो पुरुष समस्त प्राणियों में रक्तभाव (अनुराग) प्रदर्शित करके उदित होता है, वह, क्या
वैसा पादाक्रान्तजगत्त्रय—चरणों द्वारा तीन लोक को व्याप्त करनेवाला (तीन लोक का स्वामी) नहीं होता ?
जैसे सूर्य, पूर्व में रक्तभाव (अरुणता-लालिमा) प्रदर्शित करके उदित होता हुआ बाद में पादाक्रान्त जगत्त्रय
(किरणों द्वारा तीन लोक को व्याप्त करनेवाला) होता है ॥१८४॥ जो पुरुष पीपल के अङ्कुर सरीखा पूर्व में बाह्य
में मृदु (कोमल) होता हुआ लघु रूप से उत्पत्ति-युक्त होता है, वह समय पाकर क्या वैसा महीभूतों (राजाओं)
को विदीर्ण नहीं करता ? जैसे पीपल का अङ्कुर समय पाकर महीभूतों (पर्वतों) को विदीर्ण करता है, ॥१८५॥
जो पुरुष बहादुर व शक्तिशाली होता हुआ भी नीतिशास्त्र को नहीं जानता, अष्टापद-सरीखे उस पुरुष के
पास सदा आपत्तियाँ (मृत्युएँ) निकटवर्ती होती हैं । अर्थात्—जिसप्रकार अष्टापद मेघ की गर्जना से ही
मर जाता है ॥१८६॥ तथा जो पुरुष, धोखेबाजों, कपटियों, शत्रुओं, स्वार्थ-साधन में तत्पर रहनेवालों एवं
मानभङ्ग में प्राप्त कराये गए पुरुषों के साथ हितरूप से प्रवृत्ति करता है, वह विवेकहीन पुरुष रांसार में किस
पुरुष द्वारा नहीं ठगाया जाता ? ॥१८७॥

हे मारिदत्त महाराज ! उस अमृतमति देवी ने उक्त विचार करने के बाद शठ-प्रतिशठ न्याय (तोते
के पंखों का लुञ्चन व स्त्री के शिर का मूडना रूप प्रकार) से कुछ भी (सत्य-असत्य) एकान्त में शिक्षा
देकर 'अलकभञ्जन' नाम के कुमारकाल के मित्र से युक्त 'गविष्ठिर' नाम का अपना मन्त्री मेरे पास भेजा ।
उसने उसी तरह से आकर द्वारपाल द्वारा सूचित अवसर-वाला होकर मेरे 'तिलक-भवन विलास' नाम के महल
में प्रविष्ट होकर मुझे निम्न प्रकार का देखा । जैसे उखाड़ा हुआ वृक्ष कान्तिहीन होता है वैसे मैं भी विशेष
कान्तिहीन था । जैसे लिखकर मिटाया हुआ चित्र मलिन कान्ति-वाला होता है वैसे मैं भी मलिन कान्ति-युक्त
था । जिसप्रकार अग्नि से व्याप्त हुआ माणिक्य कान्ति-हीन होता है उसी प्रकार मैं भी कान्ति-हीन था और
जिस तरह लींचे हुए पंखोंवाला गरुड पक्षी नष्ट हुए माहात्म्यवाला होता है उसी प्रकार मैं भी नष्ट हुए
माहात्म्यवाला था । फिर उस मन्त्री ने 'निश्चय से तत्काल में पकड़े हुए हाथी-सरीखे इस राजा की उद्विग्न-
उदास चित्तता का अभिप्राय अत्यधिक है, अन्यथा—यदि यह उदास चित्त नहीं है—तो इस समय ही यह
वैसा विशेष मलिनता से दूषित कान्तियुक्त कैसे हुआ ? जैसे गुलिका-मिश्रण से दूषित देहवाला गङ्गा नदी का

मन्मुखेनेदमाह—यवुत देवः किलाद्य बुःस्वप्नोपशमनार्थं भगवत्याः कात्यायन्याः विष्टकुम्बुवेन बलिमुपहर्तुमादत्त इति कर्णपरम्परया श्रुतम्, सद्यवि सत्यं तवास्तामसी ताम्रबुडस्तावत् । अहमेवात्मना परिकल्पिततदुपहारवर्त्मना परितोषयामि भगवतीम् । प्रज्ञाम्भस्तु देवस्य सर्वोऽपि प्रत्यूहव्यूहाः । प्रवर्धतां च देवस्येदमाचन्द्रार्कमसमधीप्राज्यं राज्यम् । न च मया विना भवति देवस्य कोऽप्यूनः प्रवेशः । मदिधानां हि देवस्य किंकरीणानतीव सुलभत्वात् । नीतिरपि तथास्ति—

‘आम्मानं सततं रक्षेद्दार्तरपि घनैरपि ।’ इति ।

अथ भर्तृविविधे प्रेषणात्रोद्ये देवो न करोति कठणां तवा मिथुनधरस्य पक्षिणश्चक्रवाकोव देवस्याहं सहचर्यत एव रात्री विद्युत्तासि, गरसः कमलिनीवात एष जडरतासि, जलनिधेर्वैलेवात एष चपलासि, मभसः शशिप्रतिमेवातएव सकलङ्कासि, विटपिनश्चायेवात एवान्योपभोग्यासि, कुलजालस्य मेसलेवात एष क्षुब्राधिष्ठतासि, तपमस्य प्रभेवात एव संतापिकासि,

पूर विशेष मलिनता से दूषित कान्ति-युक्त होता है ।’ इस प्रकार के विचार से जिसका मन आश्चर्यान्वित हुआ है और जिससे आने का प्रश्न (आप किस प्रयोजन से आए हैं ?) किया गया है, मुझ से निम्न प्रकार विज्ञापन किया—

हे राजन् ! अमृतमति महादेवो मेरे मुख से निम्न प्रकार कहती है—‘जो कि राजा सा० निश्चय से आज दिन दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए परमेश्वरी कात्यायनी कुल देवता की आटे के मुर्गे से बलि (पूजा) देने के लिए आदरयुक्त है’ यह बात मैंने कर्ण-परम्परा से सुनी है । यदि वह बलिदान सत्य है तो यह आटे का मुर्गा तब तक एक ओर रहे, मैं ही स्वयं अपने आप किये हुए उसके पूजा-मार्ग से परमेश्वरी चण्डिका को प्रसन्न करती हूँ । ऐसा करने पर मेरे स्वामी के समस्त विघ्नसमूह धान्त हो जायेंगे । मेरे स्वामी का अनांखी लक्ष्मी से प्रचुरता-प्राप्त हुआ राज्य चन्द्र सूर्य पर्यन्त बृद्धिगत होवे । मेरे प्राणवल्लभ को कोई भी स्थान मेरे बिना न्यून नहीं है, क्योंकि निश्चय से मुझ सरीखी दासियाँ मेरे स्वामी को विशेष सुलभ हैं । नीतिशास्त्र का मार्ग भी वैसा है—‘मनुष्य को स्त्रियों से व घनों से अपनी रक्षा निरन्तर करनी चाहिए’ । यदि मेरे इस प्रकार के बलिनिधान लक्षणवाले कार्यकारण के योग्य कर्तव्य में मेरे स्वामी दया नहीं करते । अर्थात्—मेरा मरण नहीं चाहते हैं तो मैं मेरे प्राणवल्लभ की वैसी सहचरी होऊँगी जैसी चकवी, चकवा पक्षी की सहचरी होती है, उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज चिन्तवन करते हैं, ‘इसी कारण तू रात्रि में विद्युत् (वियोग-प्राप्त) हुई है । अर्थात्—जैसे चकवी रात्रि में चकवा से विद्युत् रहती है वैसे तू भी उस मूर्ख कुबड़े में अनुरक्त होने के कारण मुझसे रात्रि में विद्युत् रही । मैं मेरे स्वामी की वैसी सहचरी होती हूँ जैसे कमलिनी तालाब की सहचरी होती है । उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज मन में विचार करते हैं ‘इसी कारण तू वैसी जडरत (उस मूर्ख कुबड़े में अनुरक्त) है जैसे कमलिनी जडरत (डकार लकार का शङ्खालङ्कार में अभेद होने के कारण जलरत—पानी में लीन) होती है ।

मैं अपने स्वामी की वैसी सहचरी होती हूँ जैसे समुद्र की लहर उसकी सहचरी होती है, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू समुद्र-लहर-सी चञ्चल है । मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे चन्द्रमूर्ति आकाश की सहचरी होती है । यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू वैसी कलङ्क-सहित (व्यभिचार-दूषित) है जैसे चन्द्रमूर्ति कलङ्क-सहित (श्यामलाञ्चन से व्याप्त) होती है । मैं आपकी वृक्ष की छाया-सरीखी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू छाया-सरीखी अन्य-उपभोग्या (जार द्वारा भोगने योग्य व पक्षान्तर में दूसरे पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य) है । मैं आपकी कुलाचल को तटो-सी सहचरी होऊँगी,

रथस्य मार्गभूमिरिवात एव पांशुलासि, प्रवीणस्य शिखेवात एव मलिनोद्गारासि, वसन्तस्य वनलक्ष्मीरिवात एव मन्मथ-
कथाक्षमाथासि, मलयाचलस्य घनवनलतेवात एव कटुस्वभावासि, गजस्य मदलेखेवात एव कामचारप्रवर्तनासि, हिमगिरे-
गङ्गेवात एव नीचानुगतासि, रत्नस्य रागनसिरिवात एव परभागघटितासि । एवमग्यदरि ममाम्यथार्थोपकल्पनविषयम-
भिधाय तद्देवस्य सर्वदा राज्यसुखं दायभागिनोव समांशतयानुभूयेवातीमेकाग्रयेवं परमार्थनौपस्थितप्रत्यवायवचनमभीषया
वा देवः प्रव्रजति । अहं तु पुत्रस्य श्रियमनुभवन्ती गृह एव तिष्ठामि । इत्यतीवासंगतपुत्रयकुलानुत्तितं शिष्टजनविगहितं
च । न चैवमावयोरनुष्ठानाविष्ठितयोः कोऽप्यगमविरोधो जनापवादानुबन्धो वा । तथा चोक्तम्—

‘संयज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिष्कृतम् । पुत्रेषु वारात्रिक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ १८८ ॥

यशोधर चिन्तित्वन करता है कि इसी कारण तू तटी-सरीखी क्षुद्र-अधिष्ठित है । अर्थात्-हीन कुवड़े से सहित
व पक्षान्तर में क्षुद्र—व्याघ्रादि—सहित है । मैं आपकी सूर्य की कान्ति-सी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता
है कि इसीलिए तू सन्ताप (दुःख व पक्षान्तर में गर्मी) देनेवाली है । मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे
रथ की मार्गभूमि उसकी सहचरी होती है, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू मार्गभूमि-सरीखी पांशुला
(कुलटा व पक्षान्तर में धूलि-सहित) है । मैं आपकी दीपक-ज्वाला-सी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है,
इसी कारण तू दीपक-लौ-सरीखी मलिनोद्गारा (कपट-पूर्ण वचनों को प्रकट करनेवाली व पक्षान्तर में धुरे
का वमन करनेवाली) है । मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे वनलक्ष्मी वसन्त को सहचरी होती है, यशोधर
सोचता है—इसी कारण तू वनलक्ष्मी-सी कामकथा-संयुक्त है । मैं आपकी वैसी सहचरी होनी हूँ जैसे चन्दन
वृक्ष की लता मलयाचल की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है इसी कारण तू चन्दनलता-सी कटुस्वभाववाली
है । मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे मदलेखा हाथी की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है कि इसी
कारण तू यथेष्ट पर्यटन करनेवाली है । मैं आपको वैसी सहचरी होऊँगी जैसे गंगा नदी हिमालय पर्वत की
सहचरी होती है, यशोधर सोचता है—इसी कारण तू नीचानुगता (निकृष्ट कुञ्जक के साथ अनुराग करनेवाली
व पक्षान्तर में नीचे बहनेवाली) है । एवं मैं आपको वैसी सहचरी होऊँगी जैसे रत्न की तेजोवर्ति उसको
सहचरी होती है ।

यशोधर सोचता है—इसी कारण तू परभागघटिता (विट् के भाग्य के लिए रची हुई व पक्षान्तर
में शोभा से घटित) है । हे मारिदत्त महाराज ! इसप्रकार गविष्ठिर मन्त्री ने मुझ से अमृतमति महादेवी के
दूसरे भी ऐसे वचन कहे, जो कि काकु व वक्रोक्ति अलङ्कार से अलङ्कृत थे । फिर उसने निम्न प्रकार वचन
कहे उस कारण मैंने अपने प्राणवल्लभ के राज्य सुख की सर्वदा दाय-भागिनी-सरीखी होकर समान भागरूप
से भोगा, परन्तु इस समय मेरे प्राणनाथ अकेले ही मोक्ष सुख के इच्छुक होने के कारण अथवा उास्थित हुन्
दोषों का निराकरण न होने की वृद्धि से दीक्षा धारण कर रहे हैं और मैं पुत्र यशोमतिकुमार की लक्ष्मी भोगती
हुई गृह में ही रहूँ, यह बात अनुचित व दोनों कुलों (ससुर व पिता का वंश) के अयोग्य एवं शिष्ट पुरुषों
से निन्दित है । परन्तु यदि हम दोनों (राजा व रानी) चरित्रपालन में तत्पर हों तो इसमें कोई आगम
(शास्त्र) से विरोध नहीं है और न लोकातिन्दा का हो संशय है । मैं अपने स्वामी की सहचरी होऊँगी इसका
शास्त्रप्रमाण द्वारा समर्थन करती हूँ—

मोक्षाभिलाषी मानव को सर्वलोक साधारण भोजन छोड़ कर अर्थात्—धान्य व फलों एवं पत्तों में
प्रवृत्ति करके—समस्त परिवार को छोड़कर एवं स्त्रियों को पुत्रों के लिए समर्पण करके तपश्चर्या के लिए
वन में जाना चाहिए अथवा स्त्रियों के साथ वन में जाना चाहिए ॥१८८॥ स्त्रियों के लिए भिक्ष कोई यज्ञ

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यतो न कृतं नाप्युपोषितम् । पतिं शुश्रूषयेन्न तेन स्वर्गे भवियते ॥ १८९ ॥'

किं च—

'विशीलः कामवृत्तो वा गुणर्वो परिवर्जितः । उपचयः स्त्रिया साध्व्या सततं देव्यपतिः ॥ १९० ॥' इति ।

तथा च श्रुतिः—किल यावत्प्रस्थभावेऽपि रामस्य सीता सधर्मचारिण्यासीत् । द्रौपदी धनंजयस्य, सुदक्षिणा विलोपस्य, लोचामुद्रागस्त्यस्य, अरुन्धती वशिष्ठस्य, रेणुका च जमदग्नेरिति । पतिविरहे ह्येकेनाप्यङ्गुष्ठेन तपस्यन्त्यः स्त्रियो भवन्त्यवदं धितकारणोचराः । यथा प्रयागे प्रायोपवेशनस्थितापि ब्रह्मबन्धू ब्राह्मणी गोविन्देन परित्राजा सह किल परीवादभागिनी बभूवेति । तपोग्रहणदिवसे चाम्बादेव्या सह मदीये निलये प्रवृत्तं कर्त्तव्यमिति चाभ्यर्ध्य विरते तस्मिन्नहमिदमवाविषम्—'अहो सत्ययुधिष्ठिर गविष्ठिर, यदि त्वमं कर्त्तव्यापि कदाचिन्महादेव्याः प्रतिकूलमाचरितवानस्मि तदा त्वमेवात्र साक्षी । तदेवं निवेदय देव्याः—यद्वाह भवती तत्सर्वं देवेन प्रतिपन्नम् । अन्यत्र पूर्वमुत्थापितात्पक्षात् । इति निवेदितेति कर्त्तव्ये सबहुमानं विसर्जिते च तवमात्ये मया चिन्तितम्—'अहो महादेव्यामतीव सख्यं संवीणताबहिःस्यायाम् । किं च—

राज्यस्थितं सामबहाम यथा कुन्जेन सार्धं रतिमातरोति । सा मे वनस्थस्य मुमुक्षुस्तेभवेत्सदाचारमतिः किलेति ॥ १९१ ॥

नहीं है और न व्रत है एवं न उपवास भी है । तो फिर क्या है ? जिस कारण उसे पति की सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए, जिससे स्त्री स्वर्ग में पूजी जाती है ॥ १८९ ॥ विशेष यह है—पतिव्रता स्त्री द्वारा पति, चाहे वह शील-रहित है, अथवा स्वेच्छाचारी है, अथवा गुणहीन है, निरन्तर ब्रह्मा, विष्णु व महेश आदि देवताओं-सरीखा सेवा करने योग्य है ॥ १९० ॥ अंद में भी कहा है—वन प्रस्थान के अवसर पर भी सीता (जनक पुत्री) श्रीरामचन्द्र की सधर्मचारिणी (साथ गमन करनेवाली) हुई । द्रौपदी वन प्रस्थान के अवसर पर अर्जुन की सधर्मचारिणी हुई एवं सुदक्षिणा विलोप राजा की सहगामिनी हुई तथा लोचामुद्रा नाम की अगस्त्य-पत्नी अगस्त्य की सहचारिणी हुई एवं अरुन्धती नाम की वशिष्ठ-पत्नी वशिष्ठ की सहचारिणी हुई इसीप्रकार रेणुका नाम की कन्या अपने पिता परशुराम का सहचारिणी (साथ जानेवाली) हुई ।

पति के वियोग में निश्चय से एक पैर के अंगूठे पर भी स्थित होकर तपश्चर्या करती हुई स्त्रियां निश्चय से निन्दा-योग्य होती हैं । उदाहरणार्थ—प्रयाग तीर्थ पर प्रायोपवेशनव्रत में स्थित हुई भी 'ब्रह्मबन्धू' नाम की ब्राह्मणी गोविन्द नाम के तपस्वी के साथ निन्दा को प्राप्त हुई । 'दीक्षा-ग्रहण के दिन चन्द्रमति माता के साथ मेरे गृह पर आपको गणभाजन करना चाहिए' ऐसी याचना करके जब गविष्ठिर नाम का मन्त्री चुप हो गया तब मैंने उससे ऐसा कहा—युधिष्ठिर महाराज-सरीखे सत्यवक्ता हे गविष्ठिर ! यदि मैंने मनोरञ्जन या हँसी मजाक में भी किसी अवसर पर भी अमृतमति महादेवी का अहित किया है तो उस अवसर पर आपही साक्षी हों । उस कारण मेरी प्रियतमा से ऐसा कहो—कि जो कुछ भी आपने कहा है वह सब यशोधर महाराज ने अमृतमती महादेवी के शरीर का बलिदान कार्य को छोड़कर, स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार जब महादेवी का मन्त्री, जिसने निश्चित कार्य निवेदन किया है, विशेष सम्मान के साथ भेज दिया गया तब मैंने (यशोधर ने) निम्न प्रकार विचार किया—आश्चर्य है कि अमृतमति महादेवी में आकार-गुप्ति की प्रवीणता अवश्य ही विशेष रूप से वर्तमान है ।

जो वह महादेवी राज्य में स्थित हुए मुझे छोड़कर कुवड़े के साथ रतिविलास करती है, वह क्या वन में स्थित हुए व मोक्षाभिलाषी मेरे साथ सदाचारिणी होगी ? ॥ १९१ ॥ स्त्रीजनों की चित्तवृत्ति, जो कि

वेष्टमनुष्यैरथ राक्षसैर्या निसर्गतो गूढतरप्रचारा । ईदृक्तया ज्ञातुमियत्तया वा न शक्यते स्त्रीजनचित्तवृत्तिः ॥ १९२ ॥

इहैव वात्स्यायनगोत्रजस्य पुत्री भृगोः काञ्चनिकेतिनाम्नी ।

पतिं च पुत्रं च विदं च हत्वा भर्त्रा तु सार्धं बहून् विवेश ॥ १९३ ॥

अथवेतदप्यस्यासंभार्यम् । राक्षसिणो लोकः प्रायेणान्वयष्टिरिव परामर्शमकृत्वा शुभायाशुभाय वा कर्मणे तोलयत्या-
त्मानम् । इयं पुनः प्रकृत्यैव विषजातिरिव दुष्टस्वभावा, मकरदंष्ट्रैव वक्रजालिनी, कर्णिसुतकशैव बहुकूटकपदवेष्टिता,
कुमारविद्येवानेककुतुकवेष्टिनो, लङ्गीव जिह्वापि स्पृशन्ती वारयत्यङ्गानि । छलयति च नियतिरिव बुद्ध्या बृहस्पतिमपि
पुरुषम् । मदीयं तु विलसितं स्वहस्ताङ्गनराकर्षणमिव मे संजातम् । अस्याश्च खल्वखिल्वसंयोगसमम् ।

कालश्च सकृदभ्येति यं नरं कालकाङ्क्षिणम् । दुर्लभः स पुनः कालस्तस्य कर्म चिकीर्षतः ॥ १९४ ॥

एतदेवायंशास्त्रस्य नित्यमध्ययने फलम् । यत्परानभिसेषसे ताभिसंघीयते परैः ॥ १९५ ॥

इति सां च नीतिमसौ बहुधा पठति । स्वभावमुभगावेशोऽपि च शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु शस्त्रीष्विव पयोधवः परं परोपघाता-
यैव प्रभवति । किं च ।

स्वभाव से विशेष गहन होती है, इन्द्र-आदि देवताओं से, पुरुषों से, अथवा राक्षसों से इस रूप से अथवा इतनी
रूप से जानने के लिए शक्य नहीं होती ॥१९२॥ उदाहरणार्थ—इसी भरतक्षेत्र की उज्जयिनी नगरी में वात्स्या-
यन ऋषि के कुल में उत्पन्न हुए 'भृगु' नामक ब्राह्मण की 'काञ्चनिका' नामवाली पुत्री ने पति, पुत्र व विदु को
मारकर पति के साथ अग्नि में प्रवेश किया ॥१९३॥ अथवा यह बात भी इस महादेवी (अमृतमति) में
असम्भव है । अर्थात्—यह मरेगी यह कदापि सम्भव नहीं, प्रत्युत मुझे मारेगी । क्योंकि निश्चय से बिना
विचारे उतावली में आकर कार्य करनेवाला जन-समूह अन्धे की लकड़ी-सरीखा होता है । अर्थात्—जैसे
अन्धे पुरुष की लकड़ी अविचार पूर्वक यहाँ-वहाँ पड़ती है वैसे ही लोक भी बिना विचारे कार्य करता है,
इसलिए लोक तो शुभ अथवा अशुभ कर्म करने के लिए अपनी आत्मा को संशय में डालता है । अर्थात्—बिना
विचारे उतावली पूर्वक कार्य करनेवाला लोक मरता है, परन्तु यह तो कदापि नहीं मरेगी । फिर यह महादेवी
तो प्रजाति से विषजाति-सरीखी दुष्ट स्वभाववाली है । यह मगर की दाढ़-सरीखी वक्र स्वभाव-युक्त एवं मूलदेव
के चरित्रसरीखी बहुत से कूट कपटों से वेष्टित है तथा धूर्तशास्त्र-रचयिता की विद्या-सरीखी बहुत से मायाचारों
को जाननेवाली है । जैसे तलवार जिह्वा से छूती हुई अङ्ग विदीर्ण करती है वैसे यह भी मुझे स्पर्श करती हुई
मेरे अङ्ग विदीर्ण करती है । यह देवी बुद्धि से बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पुरुष को भी वेंसा धोखा देती है जैसे
नियति (भाग्य) बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पुरुष को धोखा देती है । मेरा कार्य तो अपने हाथ से अङ्गार-
खींचने-सरीखा (दुःखदायक) हुआ ।

एवं इसका कार्य खल्वखिल्व के संयोग सरीखा घातक हुआ । अर्थात्—जिस तरह गव्जे
पुरुष के मस्तक पर बेलफल का गिरना घातक होता है उसी तरह इसके कार्य भी मेरे घातक हैं । अवसर एक
बार मिलता है । अवसर चाहनेवाले पुरुष को व अवसर के अनुकूल कार्य करने के इच्छुक पुरुष को अवसर
दुर्लभ होता है । अभिप्राय यह है कि यह जानती है कि यशोधर की मृत्यु करने का यही अवसर है, यह वाद में
नहीं मिलेगा ॥१९४॥ नीतिशास्त्र के सदा काल पढ़ने का यही फल है कि नीतिवेत्ता मानव शत्रुओं को धोखा
देता है और स्वयं शत्रुओं से धोखा नहीं खाता ॥१९५॥ यह महादेवी मेरे सामने ऐसी नीति को अनेक बार

इच्छन्गृहस्थात्मन एव शान्तिं स्त्रियं विवर्थां खलु कः करोति ।

दुग्धेन यः पोषयते भुजङ्गी पुंसः कुतस्तस्य सुभङ्गलानि ॥ १९६ ॥

इति बुद्धिबृद्धेर्पविश्वमानामिदं पूर्वमेव नाचरितम् । तदहमेवमाकलयेयम्—सत्तपःप्रत्यवायवरः सकलजनरञ्जनकरश्चाय-
मस्याः सर्वोऽपि मृत्युनोपायेन कार्योपक्रमः । भूयते ह्यात्मनः किल स्वच्छन्दयुक्तिमिच्छन्ती विषद्विषितमद्यगण्डूषेण
मणिकुण्डला महादेवो यवनेषु निजतनुजराज्यार्यमजरारजं राजानं जघान, पिषालस्तकदिग्धेभाघरेण वसन्तमतिः
सूरसेनेषु सुरतविलासम्, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवम्, निशितनेमिना मुकुरेण
मविराक्षी मगधेषु भन्मण्विनोदम्, कवरीनिगूढेनासिपत्रेण चण्डरसा पाण्डुषु मुण्डोरम्, इति ।

यथोच्छिष्टाण्डा मण्डूक्यो लोकविप्लवहेतवः । तथा स्त्रियः स्वभावेन भर्तृभ्यस्तत्पराः ॥ १९७ ॥

संप्रतं च मे समस्तापि कार्यपरिणतिः, 'वारी मुण्डयित्वा मक्षप्रश्नः' इतोमं न्यायमनुसरति । न चास्ति भतः परोऽन्य-
प्रमादी । यस्मात्

अन्तःपुरे भूमिपतिर्भवान्धः करोति यः संगतिमङ्गनाभिः । तस्य ध्रुवं स्यादचिरेण मृत्युर्विलप्रवेशाविव दवुरस्थ ॥ १९८ ॥

पढ़ती है । शास्त्रोपदेश, जो कि स्वभावतः दूसरों की प्रतिजनक अभिप्रायवाला भी है, स्त्रियों के लिए दिया हुआ केवल वैसा दूसरों के घात करने में समर्थ होता है जैसे छुरी पर चढ़ा हुआ पाणी केवल दूसरों के घात करने में ही समर्थ होता है । अपने गृह व आत्मा की शान्ति का इच्छुक कोन पुरुष निरवय से स्त्री को चतुर करता है ? उदाहरणार्थ—जो पुरुष सर्पिणी को दूध पिला कर पुष्ट करता है, उसे उत्तम सुख कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? ॥१९६॥ विद्वानों द्वारा उपदेश दिये जानेवाले इस शास्त्रोपदेश को मैं पहिले से ही व्यवहार में नहीं लाया । उससे मैं ऐसा जानता हूँ कि इस महादेवी का सभी कार्य प्रारम्भ, मेरी दीक्षा में विघ्न उपस्थित करने में तत्पर व सगस्त लोगों को अनुरक्त करनेवाला एवं कोमल उपाय से किया हुआ है । उदाहरणों में सुना जाता है—म्लेच्छ देशों में 'मणिकुण्डला' नाम की महादेवी ने अपना स्वेच्छाचार चाह कर अपने पुत्र को राज्य देने के लिए विषमिली हुई शराव के कुरले से 'अजरारज' नाम के राजा को मार डाला । 'सूरसेन' नाम के देश में 'वसन्तमति' नाम की महादेवी ने विष-मिश्रित लाक्षारस से लिप्त हुए अघर (ओष्ठ) से 'सुरतविलास' नाम के राजा का वध किया । 'दशार्ण' नामके देश में 'वृकोदरी' नाम की महादेवी ने विष से लिप्त हुए करधोनी के रत्न से 'मदनार्णव' नामक राजा की हत्या की एवं मगध नाम के देश में 'मदिराक्षी' नाम की महादेवी ने तीक्ष्ण धारवाले दर्पण से 'भन्मण्विनोद' नाम के राजा का घात किया तथा पाण्डु नामक देश में 'चण्डरसा' नाम की महादेवी ने केशपाश के मध्य में छिपाई हुई तलवार की धार से मुण्डोर नाम के राजा का घात किया । जैसे पिशाच-राहित छोटे मेढ़क वर्षा ऋतु में लोगों के उत्पात के कारण होते हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी स्वभाव से भर्ता (पति व पक्षान्तर में राजा) की दुःख देने में तत्पर होती हैं ॥१९७॥ इस समय मेरा समस्त कर्तव्य का उदय 'शिर-मुण्डन' कराकर शुभ नक्षत्रों (पुष्य व पुनर्वसु-आदि) का पूँछना इस न्याय का अनुसरण करता है । अर्थात्—जैसे बाल बनवा कर शुभ-अशुभ नक्षत्र पूँछना निरर्थक है, वैसे ही अचसर निकल जाने के बाद कर्तव्य करने का विचार भी निरर्थक है । मुझसे दूसरा कोई विशेष आलसी नहीं है । जो राजा मदाय्य हुआ अन्तःपुर में स्त्रियों से संगम करता है उसको निस्सन्देह वंशी शीघ्र मृत्यु होती है जैसी सर्प के बिल में प्रवेश करने से मेढ़क की मृत्यु होती है ॥१९८॥ [हे मारिदत्त महाराज !] मैं उक्त नीति को निरन्तर पढ़ता

इति प्रत्यहमधीयानोऽपि तस्या बुद्धिर्भयः सन्नि संवातपरः समभवम् । अपि च ।

अज्ञानभावादयवा प्रमादादुपेक्षणाद्वात्ययभाति कार्ये । पुंसः प्रयासो विफलः समस्तो गतोवक्ते कः खलु सेतुबन्धः ॥१९९॥

विहाय शास्त्राण्यवमत्य मन्त्रिणो मित्राण्यवज्ञाय विरुद्धं वाग्धवान् ।

भवन्ति ये वृत्तयन्तोक्तयो नृपाश्चिराय तिष्ठन्ति न तेषु संपदः ॥२००॥

न चापि मे क्षन्ति विनीतचेतस्तस्तुलासमाः कार्यविचारकर्मणि ।

अधी त्वा मे च तन्निगूतलो वरः परं ते भव्यन्त्युपाकृताः ॥२०१॥

अपि च ।

प्रकास्ति यः श्रोतृवशेन धर्मं नृपेच्छया यो निगूणानि कार्यम् । अकल्पकामोपचयेन वैद्यस्त्रयस्त एते कलिकालपादाः ॥२०२॥

एकैकमेवा गुणमाकलय्य मया ह्यमी मन्त्रिपदे नियुक्ताः ।

सिहेषु वृष्टं यदि नाम शौर्यं क्षेमोऽस्ति किं तैः सह संगतस्य ॥२०३॥

प्रवर्तते यो नृपतिः खलानां प्रमाणयन्नात्महिताय वाचः । नूनं स कल्याणमतिर्न किं स्यादाशीर्द्धिर्वः कलिकरो यवेच ॥२०४॥

हुआ भी उस दुष्टात्मा अमृतमति महादेवी के महल में उसके साथ सहवास करने में तत्पर हुआ । तथा च—जब कर्तव्य, अज्ञानता से अथवा असावधानता से अथवा अनादर के कारण अवसर चूकनेवाला हो जाता है तब उसको सिद्ध करने के लिए किया हुआ मनुष्य का समस्त श्रम निरर्थक है । क्योंकि जैसे जल के निकल जानेपर उसको रोकने के लिए पुल बाँधना निरर्थक है^१ ॥ १९९ ॥ जो राजालोग नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों को छोड़कर मन्त्रियों का तिरस्कार करके व मित्रों का तिरस्कार करके एवं बन्धुजनों का अनादर करके दुष्ट नीति का अनुसरण करनेवाले होते हैं, उनके पास चिरकाल तक धनादि लक्ष्मियाँ नहीं ठहरती^२ ॥ २०० ॥

मेरे मन्त्री-आदि राजकर्मचारी विनयशील नहीं हैं और कर्तव्य का विचार-कर्म करने में तराजू के दण्डसरीखे कर्तव्य विचारक व न्यायवान नहीं हैं । जो ये सदा मेरे निकटवर्ती हैं, स्वीकार किये हुए वे लोग चित्त को मद-युक्त करते हैं, अर्थात्-नीतिशास्त्र से पराङ्मुख हैं^३ ॥ २०१ ॥ जो वक्ता श्रोता की अधीनता से धर्म—आचार का निरूपण करता है । अर्थात् श्रोता जिस धर्म में लीन है, वक्ता भी उसी धर्म का उपदेश करता है । एवं जो मन्त्री राजाकी इच्छानुसार मन्त्र (कर्तव्य-विचार) करता है और जो वैद्य ज्वरादिरोग-पीडित पुरुष को बड़ी बुरी इच्छा (अपथ्य सेवन की रुचि) के अनुकूल उपदेश देता है । अर्थात् जो वैद्य, रोगी को जैसा रुचता है उसी के अनुसार औषधि का उपदेश करता है । पूर्वोक्त ये तीनों लोग (धर्मवक्ता, मन्त्री व वैद्य) कलिकाल के तीन पैर हैं । अर्थात् कलिकाल विशेष पापी है, जो कि पूर्वोक्त तीन पैरों से प्रवृत्ति करता है, यदि इसके चार पैर होवें तो लोक में समस्त अधर्म—पाप-ही प्रवृत्त हो जाय^४ ॥ २०२ ॥ मन्त्री पदपर नियुक्त हुए इनका एक-एक गुण (दयालुता-आदि) निश्चय करके मैंने इन्हें अवश्य मन्त्री पद पर नियुक्त किये हैं । अभिप्राय यह है कि केवल एक एक गुणसे अलङ्कृत हुए ये लोग कार्यसिद्ध करनेवाले नहीं हो सकते । उदाहरणार्थ—यदि सिंहों में शूरता देखी गई तो क्या उसके साथ संगम करनेवाले मानव का कल्याण हो सकता है ? उसीप्रकार दयालुता-आदि एक-एक गुण से युक्त मन्त्री भी राज्य-संचालन कार्य करनेवाला नहीं हो सकता^५ ॥२०३॥ जो राजा दुष्टों के वचनों को अपने सुखके लिए प्रमाण मानता हुआ प्रवृत्ति करता है क्या वह निश्चय-

१. आक्षेपालंकारः । २. जात्यलंकारः । ३. उपमालंकारः । ४. रूपकालंकारः । ५. आक्षेपालंकारः ।

प्रतिक्षणं संशयितायुधो ये न येष्वास्ति च कार्यवाये । त एव मन्त्रेऽधिकृता नृपाणां न ये जलोकासमवृत्तयश्च ॥२०५॥
किं च ।

प्रजाविलोपो नृपतीच्छया स्यात्प्रजेच्छया चाचरिते स्वनाशः । न मन्त्रिणां धेयविद्यायिनीवत्पुत्रं सर्वबोभयतः समस्ति ॥२०६॥
तथाप्यमीभिः कुशलोपदेशोर्भाव्यं नृपे दुर्नयचेष्टितेऽपि । अन्धः स्वलेष्टश्चपि आत्मबोधावाकर्षकं तत्र क्षपन्ति लोकाः ॥२०७॥

यतो यथार्थं वदतां नराणामात्मक्षयः स्यात्परमेक एव ।

राष्ट्रस्य राजो ध्रुवमात्मनश्च मिथ्योपदेशस्तु करोति नाशम् ॥२०८॥

तदेतद्विषयं मम दुर्नयेन दुर्मन्त्रिणां संशयणेन चैव । यथायथं कार्यमिवं प्रयातं देवोऽपि शक्तो घटनाय नास्ति ॥२०९॥

गविष्ठिरस्यापि मया पुरस्तादिकचित्प्रतिज्ञाविषयीकृतं च । सत्यव्युत्तानां किमु जीवितेन राज्येन वा लोकविगहितेन ॥२१०॥

से वैसे कल्याण करनेवाली बुद्धि से युक्त हो सकता है ? जैसे सर्पों के साथ क्रोडा करनेवाला पुरुष वधा कल्याण करनेवाली बुद्धि से युक्त होता है ? ॥२०४॥ जो मन्त्री, प्रत्येक क्षणमें अपने जीवन को संशय में डालनेवाले होते हैं ! अर्थात्—‘यह राजा हमको मार डालेगा’ इसप्रकार भयभीत चित्तवाले होते हैं, एवं जिनके मन्त्रोपदेश में धन-ग्रहणकी लालसा नहीं पाई जाती तथा जो गींच-सरीखा चेष्टावाले नहीं हैं । अर्थात्—जैसे गींच स्तनपर लगाई हुई रक्त पीती है किन्तु दूध नहीं पीती वैसे ही जो मन्त्री दोनों को ही ग्रहण करते हैं और गुणों का उपदेश नहीं देते, ऐसे गुणोंको छोड़कर केवल दोष-ग्रहण करनेवाले जो नहीं हैं । वे ही मन्त्री, राजाओं के मन्त्र में अधिकारी हैं ॥ २०५ ॥ जब मन्त्रीलोग राजाकी इच्छानुसार राजकार्य करते हैं तब प्रजाका नाश होता है । अर्थात् अधिक टेक्स-आदि द्वारा प्रजा पीडित होती है । जब मन्त्रीलोग प्रजा की इच्छानुसार राजकार्य करते हैं तो धन का क्षय होता है, क्योंकि प्रजा राजा के लिए धन देना नहीं चाहती, इससे राजकोश खाली हो जाता है । इस कारण दोनों प्रकार से—राजा की इच्छानुसार व प्रजा की इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेवाले मन्त्रियों को सदैव वैसे मुख नहीं है जैसे कुल्हाड़ी या घण्टा मस्तक पर धारण की हुई घट्टन से दुःखी करती है और मुख पर स्थापित की हुई मुखभङ्ग करती है^१ ॥ २०६ ॥ तो भी अन्याय करनेवाले राजा के प्रति इन मन्त्रियों को कल्याण कारक उपदेश देनेवाले होने चाहिए । जैसे—अन्धा पुरुष यद्यपि अपने नेत्र-दोष से गिरता है तो भी लोग उसके खींचनेवाले मनुष्य को ही दोषी कहते हुए चिल्लाते हैं, अर्थात् वैसे ही जब राजा अन्याय करता है तब प्रजा मन्त्री को ही दूषित करती है^२ ॥ २०७ ॥ क्योंकि जब मन्त्रीगण सत्यवादी होते हैं तब उनके मध्य केवल मन्त्री ही मरता है, परन्तु झूठा मन्त्र (कर्तव्य-विचार) तो देश, राजा व मंत्रों का निस्सन्देह विध्वंस कर देता है । भावार्थ—मन्त्रियों का कर्तव्य है कि वे राजा को ठीक परामर्श दें, चाहे इससे राजा उनसे कुपित हो क्यों न हो जाय; क्योंकि राजा के कुपित होने से एक मन्त्री की ही मृत्यु की सम्भावना है परन्तु मृत्यु-भय से झूठा मन्त्र देना पर तो राजा, राष्ट्र और मन्त्री सभी का नाश हो जाता है । अभिप्राय यह है कि मन्त्रियों को सदैव उचित परामर्श देना चाहिए^३ ॥ २०८ ॥ उस कारण पूर्वोक्त यह कार्य अपनी इच्छा से मेरी दुर्नीति के कारण व दुष्ट मन्त्रियों के आश्रय से नष्ट हो गया, अब इसे प्रयत्नपूर्वक सफल बनाने के लिए देवता भी समर्थ नहीं हैं^४ ॥ २०९ ॥

मैंने ‘गविष्ठिर’ नाम के मन्त्री के सामने कुछ वचनों (महादेवी के गृह पर जाना व भोजन करना)

१. काकु वक्रोक्त्यलंकारः । २. उपमालंकारः । ३. उपमालंकारः । ४. दृष्टान्तालंकारः । ५. समुच्चयालंकारः ।
६. समुच्चयालंकारः ।

देवे तु पुंसः प्रतिकूलवृत्तौ जिवेकितः नैव भवद् गुणाय । किं लक्ष्मणस्यास्ति रणेषु भङ्गः सीतामसौ येन मुमोक्ष रामः ॥२११॥
तत्र देवमेव धारणम् ।' इति विचिन्त्य किञ्चिन्निद्रामुखमनुभूय प्रमुञ्चय च

'कुर्वन्भूपतिमन्त्रिणेषु करिणामानन्दलोलारसं नासाप्रस्फुरितेन केलिरभसं वाजिघ्नजानां बहून् ।

क्रीडाशीलनिकुञ्जकन्दरभूषां नृत्तं दधन् केकिनामद्यायं किमकाण्ड एष नगरे तुरध्वनिः श्रवते ॥२१२॥'

इति बुधप्रबोधं सन्धिविग्रहिणमापृच्छमाने, वाताघनोपान्तवर्तिनी निवर्त्य च नेत्रे

'नृत्यैः समं वाश्विलासिनीनां संगीतकस्यापि महाप्रबन्धः । गृहेषु सर्वेषु च पूर्णकुम्भाः पुष्पाक्षतव्याकुल एष लोकः ॥२१३॥'

इत्यस्य च हेतुविगर्शजातचेतसि मयि, 'देव, परिकल्पितनिश्चितनमसितोपचारा चन्द्रमतिमहादेवी सपरिवारा चण्डिका-
चरणार्चनायोक्त्वलिता प्राप्ता च पुरवीथीमध्यम्, यतोऽयमाकर्ष्यते महानातोद्यध्वनिः । तदर्थं चैष नगरे पौराणामुद्यावो-
द्यमः । तत्र देवः कालविलम्बनमकृत्वा सज्जीभवतु मज्जनादिषु क्रियासु ।' इत्यागत्य वैकुण्ठमतिना वरिष्ठकेन विज्ञप्ते
तथैव सहजतनं सफलोक्त्य,

के पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है । उसे यदि नहीं करता हूँ । अर्थात्—महादेवी के महल पर नहीं जाता है, और भोजन नहीं करता हूँ, तो सत्य से च्युत हुए पुरुषों को लोकनिन्दित जीवन से व लोक-निन्दित राज्य से क्या लाभ है' ॥ २१० ॥ जब पुरुष का भाग्य पराङ्मुख होता है तब उस मनुष्य की चतुरता गुणकारिणी नहीं होती । जैसे—क्या गृह धूमि पर लक्ष्मण की पराजय हो रही थी ? जिससे यह श्रीरामचन्द्र श्रीसीता को वन में अकेली छोड़कर लक्ष्मण की सहायता के लिए गए थे ॥ २११ ॥ अतः इस चण्डिका देवी के मन्दिर में गमन करना-आदि कार्य में देव (भाग्य) ही शरण (रक्षक) है, ऐसा विचार कर कुछ निद्रा के सुख को भोगकर फिर जाग्रत होकर मैंने अपने दोनों नेत्र गवाक्ष (क्षरोखे) के निकटवर्ती किये । फिर जब मैं 'बुधप्रबोध' नाम-के महादूत से निम्नप्रकार पूछ रहा था—[हे दूत !] आज बिना अवसर ही नगर में मेरे द्वारा यह धाजों की ध्वनि क्यों सुनी जा रही है ? जो कि राजमहल के हाथियों में आनन्दलीला के रस को उत्पन्न कर रही है । जो धोणा (नयने) के स्फुरण से घोड़ों की श्रेणी में क्रीडा करने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर रही है और जो क्रीडापर्वतों के लता-आच्छादित प्रदेशों में व कन्दराओं में रहनेवाले मयूरों का नृत्य धारण कर रही है^१ ॥ २१२ ॥ 'वेश्याओं के नृत्य के साथ गीत, नृत्य व वादित्र का भी महान् प्रघट्टक (जमाव) वर्तमान है एवं समस्त गृहों पर पूर्ण मङ्गल कलश स्थित हैं और यह लोक पुष्पाक्षतों के ग्रहण करने में व्याकुल हुआ दिखाई दे रहा है' ॥ २१३ ॥ जब मैं उक्त घटनाओं के कारण-विचार में अपना मन संलग्न कर रहा था तब 'वैकुण्ठ-मति' नामके क्षेत्रपाल ने आकर मुझे निम्न प्रकार सूचित किया—'हे राजन् ! चन्द्रमति महादेवी, जिसने समस्त प्रार्थना किये हुए पूर्वजों व देवताओं के निमित्त नैवेद्य का व्यवहार उत्पन्न किया है एवं जो परिवार-सहित है, चण्डिका देवी की चरण-पूजा के लिए गई है और नगर के मार्ग के मध्य में प्राप्त हुई है, जिससे यह महान् धाजों की ध्वनि सुनाई दे रही है । उसी निमित्त से यह नगर में नागरिकों का महोत्सव संबंधी उत्साह है । उस देवी की चरणपूजा में राजाधिराज (यशोधर महाराज) काल-विलम्ब न करके स्नानादि क्रियाओं में उद्यत होवें ।' फिर मैंने प्रस्तुत 'वैकुण्ठमति' क्षेत्रपाल के वचन स्नानादि क्रिया द्वारा सफल किये व निम्न-प्रकार चिन्तवन करके 'ऐरावणभक्तो' नामकी हथिनी पर सवार होकर चण्डिका देवी के मन्दिर के प्रति चन्द्र-मति माता के पीछे प्रस्थान किया ।

न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभक्ष्यार्था वा । यतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वाहणम् ॥२१४॥

इत्यनुस्मृत्य, विहिततवाराधनोचिताचारे समावह्याभ्युत्थानं करेणुकाभाषायंपुरोहितसखे भैरवोभजनं प्रति गन्तुमुद्यते च 'हंहो विवेकबृहस्पते, स्वभावत एव सहासत्ववसते कण्ठगतेष्वपि प्राणेषु किमनुष्ठितेमाचरितेतात्मानः प्रियं कर्तुं युक्तम्' इति भक्तिकयेव प्रसितोमतया वृंहितमिङ्गितं च सतङ्गजगणिकया, 'कथमयं विद्वानप्यहितोपदेशाद्बुद्धमकराकरवति भवोत्पत्तिं निमङ्क्तुमुद्यतः' इति कृपयेव कम्पितमवत्या, 'अये दुर्वासनावश, विशामीश, कथमीवृत्तिधरभिसंधरेष्यत्कलमघ-निवेकमातङ्ग' भवान्सहिष्यते' इति सूचयतेव धूमधूसरतामुपगतमाकाशलयेन, 'अपि पञ्चभोकल, लोकपाल, त्वज्जन्मजनित-पुष्पवर्षेण दुरेनसोऽस्माववशमीरुच्ये भवतः कथं भया सोढव्या भविष्यन्ति चिताचित्रभानोः कलुषितानिमिषमुक्ताः शिला-लेखाः' इति शोकानलोलवणेनेवोत्काशवाजाभिराडभ्वरितमन्वरेण, 'अपि प्रतिपन्नोत्पद्यकय पृथ्वीनाथ, तेषु तेषुत्सवेषु संया दितानन्वदुन्दुभिवावयापुष्पावनुवकंशमणः कर्मणस्त्वपि कथावेषे सति कथं नु भया नाम कर्णकटुप्रभावस्त्वद्वान्धवहारावः धोतव्यो भविता' इति शोचनादिष्व प्रवृत्तवाष्पस्यन्दमा दुर्दिगीभूतं विवा, 'त्वमेवमवयमहो राजन्, जानीहि । न खलु भवत्ययमायतिषु हिताय क्रियोपायः । तदतसत्रापहणेन । निवृत्त्य गम्यतां हर्म्यम्' इत्याचरितवाक्षिण्येन सुहृदेव प्रतिवातं

‘कानों में शङ्ख के कुण्डलों का धारण करना अथवा शाकमात्र का भक्षण व दुग्धपान, जलपान, कन्द भक्षण व भिक्षासमूह का भोजन व्रत नहीं है किन्तु स्वीकार किये हुए पदार्थ का निर्वाह करना ही उन्नत बुद्धि-शाली महानुभावों का व्रत है ॥ २१४ ॥’ इसके पूर्व में, जिसने चण्डिका देवी की पूजा संबंधी योग्य क्रिया की है एवं जिसके समीपवर्ती आचार्य व पुरोहित हैं, जब चण्डिकादेवी के मन्दिर की ओर प्रस्थान करने उद्यत हुआ तब निम्नप्रकार अपशकुन हुए और दूसरे भी शकुनशास्त्र प्रसिद्ध अपशकुन हुए, जिनकी सङ्गति दुष्टस्व-भाव वाले फलों को देनेवाली है । ‘बुद्धि में बृहस्पति-सरोखे व स्वभाव से ही महान् धर्मपरिणाम के निवास-स्थान ऐसे अहो यशोधर महाराज ! प्राणों के कण्ठगत होनेपर भी आपको अनुचित आचरण द्वारा अपनी आत्मा का प्रिय करना क्या उचित है ? अपि तु नहीं है’ इसप्रकार की बुद्धि से ही मानों—ऐरावण-पत्नी नाम की हथिनो ने उल्टी चिहारने की ध्वनि को व चेष्टा की । ‘यह यशोधर महाराज विद्वान् होकर के भी पापो-पदेश से, दुःखरूपी मकर-समूह से व्याप्त हुए संसार समुद्र में डूबने के लिये किसप्रकार उद्यत हुआ ?’ इसप्रकार की कृपा से ही मानो भूमि कम्पित हुई । ‘अये दुर्वासना के अधीन राजन् ! इसप्रकार के मानसिक अभिप्राय से उत्पन्न हुए दुःखसन्ताप को, जिसमें मविष्य में समूहरूप से आनेवाला पापबंध वर्तमान है, आप कैसे सहन करोगे ?’ इस प्रकार के अभिप्राय को सूचित करता हुआ ही मानों—दिशासमूह वृष्टि से धूसरता को प्राप्त हुआ ।

‘हे सधर्मलोकपाल यशोधर महाराज ! इस दुष्ट पाप से मरे हुए आपको चिताग्नि की ज्वालाओं के अग्र भाग, जो कि देवों के मुख मलिन करनेवाले हैं, आपके जन्मावसर पर पुष्पवृष्टि करनेवाले भुषसे कैसे सहन करने योग्य होंगे ?’ ऐसी पश्चातापरूपी अग्नि से व्याप्त हुआ ही मानों—आकाश उल्का (विजली) ज्वालाओं से आच्छादित हुआ । ‘उन्मार्ग की वार्ता स्वीकार करनेवाले हे राजन् ! मुर्गे के बधरूप पाप से, जिसमें उत्तर-काल में सुख नहीं है, तुम्हारे मरनेपर, मेरे द्वारा, जिसमें उन उन प्रसिद्ध उत्सवों (राज्याभिषेक-आदि) के अवसर पर आनन्द दुन्दुभिवाजों की ध्वनि उत्पन्न कराई गई है, आपके बन्धुवर्गों की कर्णशूल प्राय रोदनध्वनि कैसे श्रवण करने योग्य होगी ?’ ऐसे शोक से ही मानों—अश्रुपतन उत्पन्न करनेवाला भूमि-समीपवर्ती आकाश मेघाच्छादित (जलविन्दुओं से व्याप्त) हुआ । घूलि-चिह्न वाली वायु सन्मुख प्राप्त हुई, जो ऐसी मालूम पड़ती थी मानों—निम्नप्रकार सन्मान करनेवाला अभीष्ट मित्र ही है—

पांशुलक्षणेन, 'खरकिरणकरनिधारण एवाहं प्रभवामि, न पुनरापातवण्डे यमवण्डे' इति धियेव भुवि निपतितमातपत्रेण, 'न भवतीथं सा परागसंततिर्यास्माभिः क्षप्यते निवारयितुम् । एषा स्वपरैव धात्रिवारणे न कुशलः प्रलयकालानिलोऽपि' इति चिन्तयेव विनिकीर्णं विलासिनीकरेभ्यश्चामरनिवहेन, 'महापुरुष, एवमद्युभाभिनिवेशेषु युष्माकृशेषु न चिरमस्माकृशः कल्याण-परम्पराचिह्नविनिवेशः सह सभागमः' इति प्रकटितसाचिष्येतेव कुटिलितं पताकासंतानेन, 'सर्वथा महोत्सवपुरश्चारिणाम-स्माकं किमेवमसदृशधर्मणि कर्मणि विनियोगो युक्तः' इति स्वदुःखनिवेदनादिव छर्परितमातोछवाद्येन, 'यद्यपि देवः काम-क्रोधाभ्यामजानेन वाद्यान्ध्याभावः संजातः, तथापि न सलु भवत्प्रसादाग्निरन्तराशीविलासप्रकाशानामस्माकृशानामुपेक्षितु-बुचितम्' इति बुद्धयेव निपत्य पुरस्तिर्जम्भूतं तोरणेन, 'अतिप, अद्यापि न किञ्चिद्विनश्यति । तदावासमनुसृत्यापरमेव किञ्चिदिहानुय स शिबकरप्रतिष्ठानमनुष्ठानमाचरितव्यम्' इत्युपदिशतेव पृष्ठतः शवितं दधिमुखेन, 'हे महीपाल, किं को-ऽपि परोपरोधावात्मन्यभ्येयांसि कुर्वन्नावलोकितोऽस्ति, येनेत्यमकल्पने पथि प्रस्थितोऽसि' इत्युपहसतेवापाचीनतया वासित-भादित्यसुतेन, एवमन्येपि सद्योबुरन्तकलप्रवायिसङ्गस्तंस्तंश्चालिङ्गेरभावि, तथापि 'नियतिः केन लङ्घ्यते' इति सत्यतां नयन्निव त्रिशूलिनीतिलधमनुजगाम ।

'हे पृथिवोपति यशोधर महाराज ! आप इसप्रकार निश्चय से जानो कि यह कर्तव्य (मुर्गे का वध) का उपाय निश्चय से उत्तरकाल में सुख के लिए नहीं है, अतः इस कर्तव्य के उपाय में आग्रह करना निरर्थक है; अतः लौटकर गृह पर जाइए ।' छत्र पृथिवी पर गिरा । इससे जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—'मैं (छत्र), सूर्य-किरणों के रोकने में ही समर्थ हूँ, न कि दुःख से भी निवारण के लिए अशक्य भरणकाल के रोकने में समर्थ हूँ' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानों—वह पृथिवी पर गिरा एवं वेद्याओं के करकमलों से चमर-समूह नानाप्रकार से यहाँ वहाँ गिरे । इससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों—निम्नप्रकार की चिन्ता से ही वे यहाँ वहाँ गिरे हैं—'यह वह रेणुमण्डली नहीं है, जो कि हमारे (चमरों) द्वारा रोकने के लिए शक्य है, यह योगी महा-पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष को हुई दूसरी ही (पापखण्डली) रेणुमण्डली है, जिसे रोकने में कल्पान्त (प्रलय) काल का वायुमण्डल भी समर्थ नहीं है ।' ध्वजा-समूह कुटिल हो गया । जो ऐसा मालूम पड़ता था मानों—जिसने निम्न-प्रकार मन्त्रित्व प्रकट किया है—

'हे राजन् ! इसप्रकार का पाप करने यदि जाते हो तो तुम्हीं जाओ हम नहीं जाते । क्योंकि ऐसा जीववधसंबंधी पापकर्म का अप्रियाय वाले आप-सरीखे पुरुषों का हमसरीखे पुरुषों के साथ सभागम, जिनका स्थापन बहुत से कल्याणों (पुत्रजन्म-आदि महोत्सवों) के चिह्न के लिए है, चिरकाल तक नहीं होता ।'

'हे राजन् ! ऐसे विपरीत स्वभाव-वाले जीववधरूप पापकर्म में, पुत्र-जन्म-आदि महोत्सवों में अग्रेसर रहनेवाले हमलोगों का अधिकार क्या युक्त है ? अपितु नहीं है ।' ऐसा दुःख-निवेदन करने से ही मानों—बाजों की ध्वनि कुत्सित शब्द करती हुई । 'यद्यपि राजा राग, द्वेष अथवा अज्ञान से इससमय विपरीत परिणाम-वाला हो गया है तो भी हमको, जिनके लिए आपके प्रसाद से निरन्तर लक्ष्मियों के भोग उत्पन्न होते हैं, निश्चय से आपके विषय में अनादर करना योग्य नहीं है । अर्थात्—हम राजा को महल के मध्य में ही रोकना चाहते हैं, जाना नहीं देना चाहते ।' ऐसी बुद्धि से ही मानों—तोरण, आगे गिरकर तिरछा हो गया । फिर गधे ने रैकता शुरू किया । इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह निम्नप्रकार उपदेश दे रहा है—

'हे राजन् ! अब भी कुछ अशोभन नहीं है, उससे राजमहल में जाकर आपको ऐसा कोई दूसरा ही कर्तव्य आचरण करना चाहिए, जिसका मूल इस लोक व परलोक में कल्याणकारक है ।' एवं कोई ने प्रलि-कूलता से कर्णकट्ट शब्द किया । इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह निम्नप्रकार उपहास कर रहा है—

तत्र च सवित्र्या प्रोक्षितवक्षिणानां च ब्राह्मणानां वचनान्

सर्वेषु सत्त्वेषु हृतेषु यन्मे मधेत्फलं देवि तदत्र भूयात् । इत्याशयेन स्वयमेव वेद्याः पुरः शिरस्तस्य चक्रेतं शक्या ॥२१५॥

विज्ञानिनां शिल्पविशेषभावावेवंविधाग्नेऽभिनिवेशतश्च । स हन्यमानो हि न कामवस्थां सचेतनादप्यधिकां चकार ॥२१६॥

पिष्टं च मांसं परिकल्प्य तस्य महानसे प्रेषितवास्ततश्च । अन्येष्टुरम्बासहितस्य देवी सा मे व्यधाद्भोजनमादरेण ॥२१७॥

तया सुतेन स्मृत्या च माता सा मे मुनिं च जलावनतम् । सा कुष्टधीर्मे जननीपुत्रस्य संचारयामास विधामिषाणि ॥२१८॥

बधाय दूताः प्रहिता हि यावद्यावद्गृहेष्वौषधमीक्ष्यते च । आतं नृपे वृष्टिर्विषं जनानामिति स्म तावद्विससर्ज लोकम् ॥२१९॥

एकान्तमालोक्य विकीर्य केशान्हा नाथ नाथेति गिरं गिरन्तो । निपत्य मे वक्षसि दुःखितेव हरोष कण्ठं यमपाशिकेव ॥२२०॥

अग्रेऽपि मे स्त्रीष्वनुरक्तचित्ता विश्वासमाधाति नराः प्रमत्ताः । प्रायो वशेयं तनु तेव्वक्षस्य नदीतटस्थेऽप्येव पादपेषु ॥२२१॥

आकल्पं परिपूर्णकामितफलाः कामं भवन्तु प्रजाः क्षोणीशाः प्रतिपालयन्तु वसुधां धर्मानुबद्धोत्सवाः ।

‘हि राजन् ! क्या कोई भी दूसरों के आग्रह से पापकर्म करता हुआ देखा गया है ? जिससे तुम ऐसे निन्द्य मार्ग में प्रवृत्त हुए हो ।’ उक्त अपशकुन होने के अनन्तर मैं, चण्डिकादेवी के मन्दिर में माता के पीछे गया । इससे ऐसा मालूम पड़ता था—‘मांसां—’नियति (भवितव्यता) किसके द्वारा उल्लङ्घन की जा सकती है ? इस वचन को सत्यता में प्राप्त करा रहा हूँ । उस चण्डिकादेवी के मन्दिर में प्रोक्षित करने के कारण दान प्राप्त करनेवाले ब्राह्मणों के वचन से—

हे चण्डिकादेवी ! ‘समस्त प्राणियों के मार देने पर जो कुछ फल होता है, वह फल यहाँपर मेरे लिए प्राप्त होवे ।’ ऐसे अभिप्राय से मैंने स्वयं चण्डिकादेवी के सामने छुरी से उस मुर्ग का मस्तक काट दिया^१ ॥ २१५ ॥ विज्ञानियों की शिल्पकला के अतिशय से और सर्वजीव-वध के संकल्परूप मेरे अभिप्राय से मेरे द्वारा घात किये जानेवाले उस आटे के मुर्ग ने जोवित मुर्ग से भी अधिक कौनसी अवस्था नहीं की ?^२ ॥ २१६ ॥ मैंने उस मुर्ग के चूर्ण में ‘मांस’ ऐसा संकल्प करके रसोई घर में भेज दिया, फिर उस दिन से दूसरे दिन अमृतमतिदेवी ने माता-सहित मेरे लिए आदरपूर्वक भोजन बनाया^३ ॥ २१७ ॥ उस पापिनी अमृतमति ने, माता के साथ व कुसुमावली नाम की पुत्रवधू तथा यशोमतिकुमार के साथ हर्षपूर्वक भोजन करनेवाले माता-सहित मेरे भोजनों में विषभोजन प्रवेश कर दिया । अर्थात्—उसने मेरे लिए व मेरी माता के लिए विषभोजन दे दिया । अर्थात्—यशोमतिकुमार व कुसुमावली का भोजन-यात्र एक था और चन्द्रमति एवं यशोधर का भोजन-यात्र एक था^४ ॥ २१८ ॥ जब तक वैद्य बुलाने के लिए दूत भेजे गए और जब तक गृह में जहर उत्सारने की औषधि देखी जाती है तब तक उसने लोगों को इसलिए भेज दिया कि राजा में लोगों का दृष्टि-विष उत्पन्न हुआ है^५ ॥ २१९ ॥ एकान्त देखकर व केश बिखराकर ‘हा नाथ हा नाथ’ इसप्रकार वाणी बोलती हुई वह दुःखित-सरीखी होकर मेरे वक्षःस्थल पर गिरी । फिर यमराज की जाली-सरीखी उसने मेरा कण्ठ बाँध लिया^६ ॥ २२० ॥ यशोधर के सिवाय दूसरे भी जो पुरुष स्त्रियों में अनुरक्त होने से असावधान होते हुए विश्वास प्राप्त करते हैं, निश्चय से उनकी भी प्रायः करके यही दशा होती है, जैसे नदी के तटवर्ती वृक्षों की होती है^७ ॥ २२१ ॥ प्रजा के लोग प्रलयकाल पर्यन्त अभिलषित फल परिपूर्ण करनेवाले यथेष्ट होंगे । धर्मों

१. ‘शक्या’ इति पाठान्तरं । २. अतिशयालंकारः । ३. व्यतिरेकालंकारः । ४. रूपकालंकारः ।

५. सहोक्त्यलंकारः । ६. नात्यलंकारः । ७. उपमालंकारः । ८. उपमालंकारः ।

सन्तः सन्तु सरस्वतीप्रणयिनः सार्धं धियः संगमं भूयावेश जिनोक्तिमौक्तिकसतारामस्त्रिलोकीमुदे ॥२२२॥

मया वागर्थसंभाने भूक्ते सारस्वते रसे । कथयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥२२३॥

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ति-

शिखण्डमण्डनोभयलक्षणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते

यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्येऽमृतमतिमहादेवीदुर्विलसनो नाम चतुर्थ आश्वासः ॥

(पूजा व दानादि) में आनन्द प्राप्त करनेवाले राजालोग पृथिवी को रक्षा करें । विद्वान् पुरुष लक्ष्मियों के साथ सरस्वती (जिन-वचन) से स्नेह करनेवाले हों एवं यह जिनवचनरूपी मोतियों की लता का बगीचा तीन लोक के आनन्द के लिए होवे ॥ २२२ ॥ जब मुझ सोमदेव ने शब्दसंस्कार व शब्दार्थसंस्कार-सहित शास्त्ररूप अमृतरस का आश्वादन कर लिया तब दूसरे कविलोग निश्चय से उच्छिष्ट भोजी होंगे ॥ २२३ ॥ इसप्रकार समस्त तार्किक- (षड् दर्शनवेत्ता) चक्रवर्तियों के चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य नेमिदेव के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्यपद्य विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलक महाकाव्य' ८, 'अमृतमति महादेवी दुर्विलसन' नामका चतुर्थ आश्वास पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादासजी शास्त्री व श्रीमत्पूज्यपाद आध्यात्मिक सन्त

श्री १०५ सुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधानशिष्य, जैनन्यायतीर्थ,

प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद-विशारद एवं महोपदेश-आदि अनेक

उपाधिविभूषित सागरनिवासी श्रीमत्सुन्दरलाल जी दास्त्री द्वारा रची

हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' की

'यशस्तिलकदोषिका' नामकी भाषाटीका में अमृतमति-

महादेवी-दुर्विलसन नामका चतुर्थ आश्वास पूर्ण हुआ ।



पञ्चम आश्वासः

श्रीमानशेषभुवनाविर्पतिजिनेन्द्रचन्द्रप्रभस्तत्र तनोतु मनीषितानि ।

यद्वीक्षणवधि मनःकुमुदाकरः स्थाल्लोकस्य सोधनदलामृतपूरसारः ॥१॥

त्वं सर्वस्य सदागतिजिनपते त्वं नाथ कर्मान्तभूस्त्वं दाता वरदस्त्वमम्भुतरुचो लोकेश ते ज्योतिषी ।

स्वन्नामामृतमत्र योगिविषयं त्वं देव तेजः परं त्वं चानङ्गन सर्वगोऽपि नियतः पायाः तमस्तो अगतः ॥२॥

तदन्वहो सकलदिवसीमन्तिनीसीमन्तसंतानितप्रतापसिन्दूर वुरितविदूर, तस्माद्बुरन्तव्यसनवपालव्यासङ्गपाशाद्बुरभिनवेशात्

तैसे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आपके कल्याणों को वृद्धिगत करें । जो कि अन्तरङ्गलक्ष्मी (अनन्त-दर्शनादि) व बहिरङ्गलक्ष्मी (समवसरण-आदि विभूति) से विराजमान होते हुए समस्त तीन लोकों के स्वामी हैं । जिनके दर्शनमात्र से भी चित्तरूपी कुमुद- (चन्द्रविकासी कमल) वन, भव्यजीव-समूह के नेत्ररूप-पत्तों को अमृतधारा के प्रवाह से विशेष कृतार्थ हो जाता है ॥ १ ॥ हे जिनेन्द्र ! आप समस्त प्राणी-समूह को सदाशरण (दुःख-नाश करने में समर्थ) हो । हे तीन लोक के स्वामी ! आप अङ्गना (शान्त-रूपी-आदि) की विनाशभूमि हैं ।

हे भगवन् ! आप स्वर्ग व मोक्षसुख के देनेवाले व अभिलषित वर देनेवाले हैं । हे तीनलोक के स्वामी ! आपके ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले दोनों नेत्र, आश्चर्यजनक लोक व अलोक को प्रकाश करनेवाली दीप्ति से युक्त हैं । हे भगवन् ! आपका नामरूपी अमृत (मोक्ष-सुख का कारण होने से) इस संसार में शीतमग्न घरादि योगीपुरुषों द्वारा जानने योग्य है । हे परम आराधना-योग्य प्रभो ! आप कर्ममल कलङ्क को भस्म करनेवाले होने से उत्कृष्ट अग्निरूप हैं । हे स्त्री-रहित प्रभो ! आप केवलज्ञान से लोकाकाश व अलोकाकाश में व्यापक (सर्वत्र व्याप्त) होते हुए भी चरमशरीरप्रमाण होने से मर्यादीभूत हैं, अतः आप संसार में स्थित प्राणी-समूह की अज्ञान से रक्षा कीजिये । अभिप्राय यह है—कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यजमान, आकाश, चन्द्र व सूर्य ये शंभु की आठ मूर्तियाँ हैं, उसके निराकरणार्थ आचार्यश्री ने चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर को उक्त आठ मूर्तियुक्त निर्देश किया है । यथा 'सदागतिः' पद से वायुमूर्ति व 'कर्मान्तभूः' पद से पृथ्वी मूर्ति सूचित किये गए । 'कर्मान्तभूः' पद का यह अर्थ है कि कर्मक्षय की पृथ्वीरूप गणधरादिसमूह या भव्यसमूह को रक्षा करनेवाले । इसीप्रकार 'दाता' पद से यजमानमूर्ति, 'ज्योतिषी' पद से 'चन्द्रमूर्ति' व 'सूर्यमूर्ति' कथन किये गए एवं 'स्वन्नामामृतम्' पद से जलमूर्ति, परमतेजः पद से 'अग्निमूर्ति' और 'सर्वगोऽपि' तथा 'अनङ्गन' इस संबोधनपद से आकाशमूर्ति निरूपण की हुई समझनी चाहिए ॥ २ ॥ उसके बाद समस्त दिशारूपी स्त्रियों के शिर के केशमार्गों पर प्रतापरूपी सिन्दूर को विस्तारित करनेवाले व पाप से दूरवर्ती ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! उस मुर्गे के वधरूपी पाप-युक्त अभिप्राय से, जिसमें दुष्ट स्वभाववाले दुःख-रूपी दुष्टगज अथवा कालसर्प का गंगमरूपी पाश (बन्धन) वर्तमान है, देवी-समूह द्वारा मेवन किये हुए मध्य भागवाले 'सुबेल' नामक पर्वत के ईशानकोण की समीपवर्ती स्वभावतः प्रचुर जलवाली भूमि में वर्तमान वृक्ष पर मैं (यशोधर), भयूरकुलमें जन्म लेनेवाला हुआ । अर्थात्—उस सुबेल पर्वत के समीपवर्ती नदी तट पर वर्तमान वृक्ष पर मैं (यशोधर) मोरकुल में मोर हुआ । सुबेल पर्वतका निरूपण—

१. उपमालंकारः ।

२. रूपकः श्लेपालंकारश्च ।

हिमालयाद्दक्षिणदिक्कपोलः शैलः सुवेलोर्जस्त लताविलोलः । चकार यः कान्ततयामरीणां वीतस्पृहं नाम नयेषु चेतः ॥३॥
 नभः परिच्छेत्तुमियोद्यतस्य द्रष्टुं विगन्तानिच विस्तृतस्य । ऊर्ध्वस्त्वतिर्यक्वचनहस्वमुच्चर्मं शक्यते यस्य जनेन भातुम् ॥४॥
 नमेरुसन्तानकपारिजातमाकन्दमन्दारमनोहरासु । यस्यामराः केलिकृतः स्थलीषु स्मरन्ति नो मन्दनकाननस्य ॥५॥
 फलेस्तरुणामधृतानुकूलमणिप्रकाशश्च वरोनिवेशः । दिवौकसां स्रग्धसुस्तानि यत्र लोकः स्थितः प्रार्थयते न जातु । ६॥
 यत्तुङ्गापृङ्गाप्रविलम्बिबिम्बः पर्यन्तनक्षत्रमणिप्रबुम्बः । आभाति राकातुहिर्नाशुमालो प्रसाधितं छत्रमिवाम्बरस्य ॥७॥
 यश्चित्रमेघाम्बरमण्डिताङ्गः समन्ततश्चामरचारसङ्गः । पूषातपस्त्रो द्विजगीतकीर्तिरिन्द्रोत्सवस्येव विभति लक्ष्मीम् ॥८॥
 यश्च बवर्चिर्निकटिकटकवन्द्योत्पाटिताटनिपुटकिनीकम्बस्तुरधरवदनविन्यासः साबुहास इव, पञ्चचिन्निकटतटतटाकोदर-
 वरदेहवौलेयकपालसंकुलमेखलः प्रतिपन्नकपालिकुल इव, बवर्चिर्निखिलतरुपनीतानेकनेत्रसंततिः शतधृतिरिव, बवर्चिर्प्रान्त-
 प्रभृतापगाप्रवाहविषमवलनः पवनाशन इव, बवर्चिस्केसरिकिशोरसरनक्षरोत्खातकरिङ्गुम्भस्थलोच्चलन्मुक्ताफलजालजटिल-

हिमालय पर्वत की दक्षिण दिशारूपी स्त्री के गालों-सरीखा शोभायमान 'सुवेल' नाम का पर्वत है, जिसमें मन्द-मन्द वायु द्वारा कम्पित होती हुई लताएँ वर्तमान हैं एवं जिसने मनोहरता के कारण देवियों के हृदय को दूसरे पर्वतों में इच्छा-रहित किया था' ॥३॥ जिस सुवेल पर्वत की ऊँचाई व दीर्घता का महत्व अतिशय रूप से मनुष्यों द्वारा मापने या जानने के लिए अशक्य है । जो विशेष ऊँचा होने से ऐसा प्रतीत होता था—मानों—आकाश को विदीर्ण करने के लिए ऊपर गया है और विस्तृत होने के कारण—मानों—दिशाओं का अन्त देखने के लिए दीर्घता को प्राप्त हुआ है' ॥४॥ जिस पर्वत के उन्नत प्रदेशों पर, जो कि नमेरु, सन्तानक, पारिजात (देववृक्ष), आमवृक्ष और मन्दार वृक्षों से हृदय को अनुरञ्जित करनेवाले हैं, फ्रीडा करनेवाले देवता लोग नन्दन-वन का स्मरण नहीं करते' ॥५॥ जिस 'सुवेल' पर्वत पर स्थित हुआ जन-समूह वृक्षों के अमृततुल्य स्वादिष्ट फलों व रत्नकान्ति-युक्त गुफास्थानों के कारण देवविमान संबंधी सुखों की कभी प्रार्थना नहीं करते' ॥६॥ जिस सुवेल पर्वत की ऊँची शिखर के उपरितन भाग पर जिसका मण्डल ठहरा हुआ है और जो पर्यन्त भाग पर स्थित हुए नक्षत्ररूपी मणियों को चुम्बन करनेवाला है, ऐसा पूर्णिमा-चन्द्र आकाश के सजाये हुए छत्र-सरीखा शोभायमान हो रहा है' ॥७॥ जो प्रस्तुत पर्वत इन्द्रोत्सव की लक्ष्मी धारण करता हुआ-सा शोभायमान हो रहा है । जिसका शरीर नानावर्ण-वाले मेघरूपी वस्त्रों से मण्डित है और इन्द्रोत्सव भी नाना वर्णवाले मेघों का आवास है । जो, चारों ओर से चामरों (चमरी-मृगों के समूह) से चारुसङ्ग (सुन्दर सङ्गम-वाला) है और इन्द्रोत्सव भी च-अमरों (देवताओं) के सुन्दर संगम से युक्त होता है । सूर्य ही है छत्र जिसका, और इन्द्रोत्सव भी सूर्य-सरीखे तेज से विराजित होता है । इसीप्रकार जिसकी कीर्ति द्विजों (पक्षियों) द्वारा गान की गई है और पक्षान्तर में जिसकी कीर्ति द्विजों (ग्राह्यणों) द्वारा गान की गई है, ऐसा होता है' ॥८॥ जिस 'सुवेल' पर्वत की गुफाओं का वदन विन्यास, किसी स्थान पर, शूकर-समूह की दाढ़ों द्वारा उखाड़े हुए तरल कमलिनियों के मूलों से उन्नत दन्तशाली है । इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—अट्टहास ही कर रहा है । किसी स्थान पर जिसकी मेखला (पर्वत-नितम्ब), तट के निकटवर्ती सरोवरों के मध्य भाग में विदीर्यमाण शरीरवाले कल्लुओं के पृष्ठ भागों से व्याप्त है । इससे जो मानों—रुद्र-समूह की अङ्गीकार करनेवाला ही है । किसी स्थान पर जिसके द्वारा अनेक नेत्रों (वृक्ष-मूलों

१. रूपकतिशयालंकारः । २. उत्प्रेषालंकारः । ३. समुच्चयातिशयालंकारः । ४. हेतुपमातिशयालंकारः ।
 ५. उपमालंकारः । ६. इलेषोपमालंकारः ।

वल्लरीप्रतानः कामिनीकुन्तलसंतान इव, क्वचिन्नेश्वरसहस्रोच्चरणनखनक्षत्रपवित्रोपत्यकानिचयः सुरशिलोच्चय इव, क्वचिन्निर्झरजलज्वरितशिलान्तः कृतकुञ्जरतटाधामः सामन्त इव, माकलोक इव कुशिकभुतावलोकः, शरदामम इव कृतकमलसमागमः, सरस्वतीसभावेश इव पुण्डरीकावकाशोपवेशः, समीक्षासिद्धान्त इव कपिलकुलकान्तः, शुद्धान्त इव सकञ्चुकिवृत्तान्तः, पवनमार्ग इव सवन्तोत्सर्गः, शरोष्काश इव पारापतनिवेशः, कात्यायिनोनिलय इव विहितहेरम्बप्रणयः, पिङ्गलेक्षणावास इव शाक्वरनिवासः, कल्याणापधन इव समदनः, अनात्मवानपि सचेतकः, शशीभस्मुरपि कविष्वजचित्तः, अमेवशरासतोऽपि सद्युगः, अमनसिजरसोऽपि संजातभोगिनोत्पन्नः, अरेवतीपतिरपि तालसाञ्छनः, अव्यधिकोऽपि विहङ्गिका-
ध्यासितस्वन्यः, अकुसुमापुषोऽपि सपुष्पवाणः,

व मृग-विशेषों } का समूह समस्त वृक्षों के समीप लाया गया है। इससे मानों—इन्द्र ही है अर्थात्—जैसे इन्द्र अनेक नेत्रों (चक्षुओं) से अलङ्कृत होता है। किसी स्थान पर बहती हुई नदियों के प्रवाहों का जहाँपर एक बलन (वृमाव-फिराव) हो रहा है। इससे मानों—सर्प ही है अर्थात्—जैसे सर्प, एक बलन- (संचार) युक्त होता है। किसी स्थान पर जहाँपर लता-समूह, ऐसे मोतियों के समूह से मिश्रित हो रहे हैं, जो कि तरुणसिंहों के कठिन नखों द्वारा विदारण किये गए हाथियों के कुम्भस्थलों से उछलकर गिर रहे थे। इससे मानों—कमनीय कामिनियों का केश-माश ही है। अर्थात् जैसे कामिनियों के केश-पाया मोतियों की मालाओं से अलङ्कृत होते हैं। किसी स्थान पर जिसका उपत्यका- (तलहटी) समूह, भीलों की स्थियों के चरण-नखरूपी नक्षत्रों से पवित्र हो रहा है, इससे मानों—सुमेरु पर्वत ही है। अर्थात्—जैसे सुमेरु पर्वत नक्षत्रों से मण्डित होता है। किसी स्थान पर जिसने शरत्तों के जलद्वारा शिलाओं का प्रान्त भाग जर्जरित किया है, इससे मानों—हाथी के पार्श्व भागों पर निष्ठुर प्रहार करनेवाला राजा ही है। कुशिकभुतों (उल्लुओं) के लिए अवलोक (नेत्रकान्ति) देनेवाला वह ऐसा प्रतीत होता था—मानों—कुशिकभुत (इन्द्र) के अवलोक (दर्शन) वाला स्वर्गलोक ही है। कमलों (मृगों) का सम्मुख आगमन करनेवाला जो ऐसा भालूम पड़ता था—मानों—कमलों का समागम किया हुआ शरद ऋतु का आगमन ही है। जो, पुण्डरीक-अवकाश-उप-वेश है। अर्थात्—जहाँपर व्याघ्रों के स्थान (गुफा-आदि) के समीप प्रदेश वर्तमान है। इससे मानों—पुण्डरीक-अवकाश उपवेश वाला सरस्वती का सभादेश ही है। अर्थात्—जैसे सरस्वती का सभास्थान, जिसमें श्वेत कमल के अवकाश के चारों ओर व्याख्यान वर्तमान है। जो कपिलकुल-कान्त है। अर्थात्—जो कपिलकुलों (वानर-समूहों) से मनोज्ञ है अथवा वानर-समूहों के लिए अभीष्ट है। इससे मानों—सांख्य दर्शन ही है। अर्थात्—जैसे सांख्यशास्त्र कपिल-कुल-कान्त (कपिलमुनि के शिष्य वर्ग को अभीष्ट) होता है। जो सकञ्चुकि वृत्तान्त है। अर्थात्—जिसका मध्य भाग कञ्चुकी (सर्पों) द्वारा कुण्डलाकार किया गया है। इससे मानों—अन्तःपुर ही है। अर्थात्—जैसे अन्तःपुर कञ्चुकियों (रक्षकों) के वृत्तान्त-सहित होता है। जो सत्-दन्त-उत्सर्ग है। अर्थात्—जिसके तटों की उत्कृष्ट रचना समीचीन है। इससे मानों—आकाश ही है। अर्थात्—जैसे आकाश, सत्-अन्तोत्सर्ग (चारों ओर नक्षत्रों-सहित) होता है। जो पारापत-निवेश (क्यूतरों की स्थिति वाला) है। इससे मानों—तालाब का स्थान ही है। अर्थात्—जैसे तालाब का स्थान क्यूतरों के स्थान-सहित होता है। जो विहित हेरम्बप्रणय है। अर्थात्—जो हेरम्बों (भेमाओं) के साथ स्नेह करनेवाला है; इससे—मानों—पार्वती-मन्दिर ही है। अर्थात्—जैसे पार्वती-मन्दिर हेरम्ब (श्रीगणेश) के साथ किये हुए स्नेह-युक्त होता है। जो शाक्वरों (गायों) का निवास है, इससे मानों—रुद्रावास ही है, अर्थात्—जैसे (रुद्रा-वास शाक्वरों, वृषभों) का निवास होता है। जो समदन, (राजवृक्षों से सहित) है, इससे मानों—विवाह-दिन का शरीर ही है। अर्थात्—जैसे विवाह दिन का शरीर, समदन (कामदेव को जाग्रत करनेवाला) होता

किं च ।

पाताले पादमूलोपलविलसवह्निष्पृहवृत्तान्तकान्तस्तिर्यक्प्रान्धारभागाभ्यक्षरवभूषन्धुराधित्यकान्तः ।

अर्धं गन्धर्वरामारतिरमसभरोल्लोलघृणाकरालस्त्रैलोक्यालोक्यलक्ष्मीर्जयति गिरिरथं मेरुलीलासरालः ॥९॥

तस्य नुरसुन्दरीसमाजसेवितसकलमेखलस्यावलस्यैशान्यां दिशि निसर्गाबुदकवत्यामुपत्यकायामस्ति भो भूवन-
त्रयीत्यवहाराद्रितामप्यगृणपथ्य, पुण्यजनानन्वावापः पादपः । यः खल्वनेकविकिरकुलकामिनोतिशितशिशोस्लेखनलमुख-

है । जो अनात्मवान् हो करके भी सचेतक है, अर्थात्—जो जितेन्द्रिय न होकर के भी आत्मशानी है । यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो जितेन्द्रिय नहीं है, वह आत्मशानी कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि जो अनात्मवान् (अचेतन—जड़) है और सचेतक (हरीतकी-वृक्ष-सहित) है । जो 'अवीभत्सु' होकर के भी कपिध्वजाचिह्न है । अर्थात्—जो अर्जुन न होकर के भी वानर के चिह्नवाली ध्वजा से सहित है । यहाँपर विरोध मालूम होता है क्योंकि जो अर्जुन नहीं है, वह वानर के चिह्न वाली ध्वजा से युक्त कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अवीभत्सु (अक्रूर) है एवं जिसके चिह्न कपि (वानर) व ध्वजा (वृक्ष) हैं ।

जो अमेरुवारासन (रुद्र-रहित) होकर के भी सद्गुण (पार्वती-सहित) है यहाँपर विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि जो रुद्र-रहित होगा, वह पार्वती परमेश्वरी से सहित कैसे हो सकता है ? उसका परिहार यह है कि जहाँपर अमेरु (तमेरु वृक्ष), शर (बाणतृण), अमन (सर्जका वृक्ष व प्रियाल वृक्ष) वर्तमान हैं और जो निश्चय से सद्गुण (विषम—ऊबड़-खाबड़ प्रदेश-सहित) है । जो अमनसिजरस (काम-राग रहित) होकर के भी संजातभोगिनीसङ्ग (जिसको भोगने योग्य स्त्रियों के साथ संग उत्पन्न हुआ है) है । यहाँपर भी विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि कामवासना से दून्य पुरुष स्त्री-संगम नहीं कर सकता । उसका समाधान यह है, कि पर्वत के कामवासना नहीं होती, क्योंकि वह जड़ है । अतः जो काम-राग-रहित है एवं निश्चय से संजातभोगिनी सङ्ग (जिसको सर्पिणी का सङ्गम उत्पन्न हुआ है) है । जो अरेवतीपति होकर के भी ताल-लाञ्छन है । अर्थात्—जो बलभद्र न होकर के भी तालवृक्ष के चिह्नवाली ध्वजा से व्याप्त है । यहाँपर विरोध प्रतीत होता है क्योंकि जो बलभद्र नहीं है, उसके तालवृक्ष के चिह्नवाली ध्वजा कैसे हो सकती है ? उसका समाधान यह है कि जो रेवती के एवं उपलक्षण से दूसरों के क्षेत्रों (खेतों) से रहित है; क्योंकि 'शिलायां सस्यं न भवति' अर्थात्—चट्टानों पर धान्य उत्पन्न नहीं होती एवं निश्चय से तालवृक्षों से सहित है ।

जो अवैवधिक होकर के भी विहङ्गिका—अध्यासित स्कन्ध है । अर्थात्—जो वैवधिक (कावड़ी—वहँगीधारक) न होकर के भी विहङ्गिका (वहँगी) से समाधित स्कन्ध वाला है । यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है—कि जो वैहगीधारक नहीं है, वह वैहगी से आश्रित स्कन्ध वाला कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है जिसमें वैवाधिक (ताराओं का समूह) नहीं है और निश्चय से जिसका तट प्रदेश विहङ्गिकाओं—पक्षि-णियों—से आश्रित है । और जो अकुसुमायुध हो करके भी सपुष्पवाण है । अर्थात्—जो कामदेव न हो करके भी पुष्पों के वाण वाला (कामदेव) है । यहाँ पर भी विरोध है क्योंकि जो कामदेव नहीं है, वह कुसुमशर—कामदेव—कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि जो 'अकुः—सुमः—आ-युधः' है । अर्थात्—जो अकुः (भूमि-रहित), व सुमः (उत्तम शोभा-युक्त) एवं जिसमें चारों ओर से सिंह व हाथियों का युद्ध वर्तमान है और निश्चय से जिसमें पुष्पों से व्याप्त हुए वाण वृक्ष वर्तमान हैं ।

विशेषता यह है—सुमेरुपर्वत की शोभावाला यह सुमेरु-सा सर्वोत्कर्ष रूप से वर्तमान है । जो अधो-

विलिख्यमानशाखाभुजशिखरः, शिखरशिखाहम्भरितनिधिडोडकीहवण्डजडिम्भतुण्डखण्डचमानकुम्पलपर्यन्तः, कुम्पलपर्यन्तं
संचरन्चारणभ्रमूविमानभणिकिङ्किणीजालविलुण्ठितविटपाप्रल्लवपुटपटलः, पल्लवपुटपटलान्तरालखेलद्वाचालकीरकुटुम्बिनी-
कृतकितवालापक्षिस्मापितपथिकसार्धः, पथिकसार्धकषारथायातभिलितानेकदेशिकोचितविचित्रवार्ताकर्णनोदीर्घवचनवनदेवतो-
त्तरलतरहस्ताहूयमानसहचरीनिचयः, सहचरीनिचयकरकिशलयसंवाहनसुखसुप्तागन्तुकलोकोपसेव्यभानबहुशतलज्जया-
च्छन्नतलवेशः, छायाच्छन्नतलवेशाभयमुर्ध्ववतुच्छवाञ्छागच्छदविच्छिन्नस्निग्धव्यसंवायकलहाकुलितपुरःप्रयातपाण्य-
संदर्भः, पाण्यसंदर्भपरिभ्रमभ्रमविधाम्यथाभ्रमाभ्रकदभ्रंगभितस्कन्धाभोगपरिसरः, स्कन्धाभोगपरिसरोपरचितवनचरनिवास-
निवर्णविह्वलध्वगमियुनरतपृष्ठताकुलितशकुन्तप्रजः, श्रजापतिरिव प्रवर्षितानेकवर्णप्रसूतिः, निश्चितभुवनविनिर्माणप्रवेश

भाग में पादमूल के पाषाणों पर क्रीड़ा करते हुए सर्प-समूहों के कुण्डलाकार किये हुए शरीररूपी पर्वत से मनोहर है और मेरुपर्वत भी 'अहिर्व्यूहवृत्तान्तकान्तः' अर्थात् नागदेव की कथा से मनोहर है। जिसकी ऊर्ध्वभूमि का अन्त तिरछे विस्तृत प्रदेशों पर आश्रय करनेवाली किरात-कामिनियों से व्याप्त है और मुनेरुपर्वत भी जिसकी ऊर्ध्वभूमि का प्रान्तभाग बरवाली देवियों व विद्याधरियों से व्याप्त है। जो ऊर्ध्व प्रदेशों पर गवैयों की कामिनियों के संभोग क्रीड़ा सम्यन्धी वेगातिशय से चञ्चल हुए अग्रभाग से उन्नत है। एवं मेरु भी गन्धर्व-कामिनियों की रति से व्याप्त है एवं जिसकी लक्ष्मी (शोभा) तीनों लोकों (ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक) से निरीक्षण करने योग्य है ॥ ९ ॥

जिसका असंख्य गुणरूपी पण्य (बैचने योग्य वस्तु) तीन लोक के व्यवहार में आचरण किया गया है ऐसे हेमारिदत्त महाराज ! वौसा है वह वृक्ष ? जिस पर मैं (यशोधर) मोरों के कुल में मोर हुआ ? जो (वृक्ष), यक्षों के आनन्द की क्यारी है। जिसकी लताओं के बाहु-शिखर अनेक पक्षी-समूह की कामिनियों (पक्षिणियों) की तीखी शिखा के अग्रभागों से व्याप्त हुए नखों व चोंचों द्वारा चुण्टन किये जा रहे हैं। जिसकी कोपलों के अग्रभाग वृक्ष-शिखर के अग्रभागों पर वर्तमान विस्तृत व घने घोंसलों पर क्रीड़ा करते हुए पक्षियों के शावकों को चोंचों से छेदन किये जा रहे हैं। जिसकी शाखाओं के अग्रभागों के पल्लव पुट-पटल (समूह) कोपलों के अग्रभागों पर संचार करते हुए देवविशेषों की सेना के विमानों की रत्नजडित सुवर्णमयी क्षुद्रघण्टिकाओं की श्रेणी से तोंड़े गये हैं। जहाँ पर, संयुक्त प्रवाल-(कोमल पत्ते) समूहों के मध्य भागों पर क्रीड़ा करती हुई व विशेष शब्द करने वाली शुक-कामिनियों (मेनाओं) से किये हुए घूर्तता-युक्त एकान्त भाषणों द्वारा पथिक-समूह आश्चर्यान्वित करायें गये हैं। जिस पर ऐसे वन देवताओं के, जो कि पथिक-समूह की कथारूपों जिह्वारथों से आकर मिली हुई, अनेक देशों के योग्य तथा चमत्कार करनेवाली किम्बदन्तियों के सुनने से विशेष वाणी बोलने वाले हैं, विशेष चञ्चल करकमलों द्वारा वन-देवताओं का कामिनी-समूह बुलाया जा रहा है। जिसका अधःप्रदेश, ऐसी छाया से आच्छादित है, जो कि स्त्री-समूह के हस्तपल्लवों से किये हुए पाद-मर्दन से उत्पन्न हुए मुख से सोए हुए पथिकजनों द्वारा स्वीकार की जा रही है एवं जो घनी व शीतल है। जहाँ पर ऐसे पथिकों के, जो कि छाया से आच्छादित हुए अधःप्रदेश के आश्रय के लिए दड़ती हुई प्रचुर अभिलाषा से आ रहे थे एवं जो घने व श्रान्त (थकित) थे, मंघटन से उत्पन्न हुई कलह के कारण पहिले से आया हुआ पथिक-समूह व्याकुलित हुआ है। जिसके विस्तृत स्कन्ध का समीपवर्ती स्थान पथिक-समूह के साथ पर्यटन करने से उत्पन्न हुए श्रम के कारण विश्राम करते हुए तपस्वी-बालकों के कुशों से आच्छादित हुआ है। विस्तृत स्कन्ध की आगे की भूमि पर निर्माण करायें हुए किरात भवनों में स्थित हुए विट (कामुक) पथिकों के स्त्री-पुरुषों के ओड़ों के मैथुन की

इव दलबहुलः, काकुत्स्थकथावतार इव कपिकुलविलुप्यमानपलाशप्रसरः, सत्रमण्डप इव द्विजराजविराजितः, पर्जन्यागम इव श्यामलिताखिलदिग्बलयः, छन्दःप्रस्तार इव पादप्रबन्धावकट्टबसुचः, क्षितिपजययात्राकाल इव सुखधायपत्रः, काननधौ-प्रसावितातप्तप्राभोग इव सुवृत्तमण्डलः, पुण्योदयक्षिप्त इव संपादितफलपरम्परः, शरणागतसंभावनाविव वृत्तरमभ्युत्थितः, प्राघूर्णकपरिरम्भसंभ्रमादिव प्रसारितशाखावृक्षसमूहः, इवमिवाद्यर्थयोगोपमादिव ॥ इत्युदकुम्भप्रवागाञ्जलिः, सिद्धालय इवानेकशस्त्रबशदमितोपयाचितपिण्डपञ्चाङ्गुलावकट्टबुध्नः, कुबेरपुरनिवास इव प्ररोहबोलावक्षयक्षकुलकुमारः, पशुपतिरिव गामधिष्ठितः समीपतरविनायकश्च, नारायण इव वनमालाविभूषणः परिकल्पितभुजगशयनश्च, पितामह इव वयःपरिमतः

निलज्जता के कारण जहाँ पर पक्षियों के बच्चे व्याकुलित हो रहे हैं। जिसने अनेक वर्णों (स्वेत व पीत-आदि) की उत्पत्ति वैसी प्रकट की है जैसी ब्रह्मा अनेक वर्णों (ब्राह्मणादि) की उत्पत्ति प्रकट करता है। जो वैसा दलबहुल (पत्तों से प्रचुर) है जैसे समस्त लोक की रचना का स्थान दलबहुल (कारण भामिनी की अधिकता-युक्त) होता है।

जो वैसा कपिकुलविलुप्यमानपलाशप्रसर है। अर्थात्—जिसके पलाशों (पत्तों) का विस्तार या समूह कपिकुलों (वानर-समूहों) से तोड़ा जा रहा है, जैसे रामायण का प्रवेश कपिकुलविलुप्यमान पलाशप्रसर होता है। अर्थात्—जिसमें कपिकुलों (सुग्रीव-आदि वानरवंशजों) से पलाशप्रसार (राक्षस-व्यापार) मारने-योग्य होता है। जो वैसा द्विजराजों (मुख्य पक्षियों) से सुशोभित है जैसे दानशाला द्विजराजों (मुख्य ब्राह्मणों) से सुशोभित होती है। जो वैसा समस्त दिशा-समूह को नीलवर्ण-युक्त करनेवाला है जैसे वर्षाकाल समस्त दिशा-समूह को श्यामवर्णशाली करता है। जो वैसा पादप्रबन्धों (जड़-समूहों) द्वारा पातालभूमि को व्याप्त करनेवाला है जैसे छन्दप्रस्तार पादप्रबन्धों (अक्षरसंघात-समूहों) द्वारा पृथिवी को व्याप्त करता है। जो वैसा सुखधायपत्र (शोभनकान्तियुक्त पत्तोंवाला) है जैसे राजाओं की दिग्विजय की यात्रा का अवसर सुखधायपत्र (तेजस्वी अश्व-आदि वाहनों से युक्त) होता है। जो वैसा सुवृत्तमण्डल (जिसका मण्डल—वर्तुलता अच्छी तरह निष्पन्न) है, जैसे वनलक्ष्मीका मण्डित छत्रविस्तार सुवृत्तमण्डल (निष्पन्न वर्तुलाकार वाला) होता है। जो वैसा संपादितफलपरम्पर (अनार-आदि फलसमूह को उत्पन्न करनेवाला अथवा भेंटरूप से उपस्थित करनेवाला) है जैसे पुण्योदय का दिन सम्पादितफलपरम्पर, (अभिलषित सुखरूपी फल-समूह को उत्पन्न करनेवाला) होता है। दूर से पथिकों के सन्मुख आया हुआ जो ऐसा प्रतीत होता था मानों—शरणागत पथिक-आदि को प्रसन्न करने के कारण से ही दूर से उनके सन्मुख आया है। मानों—अतिथियों के आलिङ्गन के आदर से ही जिसने अपनी शाखारूपी हजारों भुजाएँ (बाहू) फैलाई हैं। मानों—अपनी सम्पत्ति को दान करने के विनय से ही जिसने संयुक्त पुण्य-कलियों की नमस्कार-अञ्जलि बाँधी है। जिसका मूलप्रदेश वैसा देवियों के अनेकवार की हुई प्रार्थनाओं एवं पिण्डपञ्चाङ्गुलों (टूटे हुए एरण्ड-वृक्षों?) से घिरा हुआ है जैसे देवमन्दिर देवियों के नमस्कारों व पिण्डपञ्चाङ्गुलों (चूर्ण के हाथाओं) से घिरे हुए बुध्न (नीचे का भाग) से व्याप्त होता है। जहाँपर शाखाओं पर बँधे हुए झूलाओं से झूलने में यक्ष-समूह के कुमार वक्ष (निपुण) हो रहे हैं, अतः जो अलंका नगरी के मन्दिर-सरीखा है। अर्थात्—जैसे अलंकानगरी का मन्दिर जहाँपर बँधे हुए झूलाओं के झूलने में यक्ष समूहों के कुमार प्रवीण होते हैं। जो वैसा गो-अधिष्ठित (पृथिवी पर स्थित) व समीपतर विनायक (जिसके समीप पक्षियों के नायक—गर्ह-आदि) हैं जैसे रुद्र गो-अधिष्ठित (वृषभ-अधिष्ठित) व समीपतर विनायक (जिसके समीप श्री गणेशजी वर्तमान हैं) होता है। जो नारायण-सरीखा वनमाला विभूषण (वन-श्रेणी को अलंकृत करनेवाला) व परिकल्पित भुजगशयन (जिस पर सर्पों द्वारा स्थिति की गई है) है।

अर्थात्—जैसे श्री नारायण वनमाला-विभूषण (जालन्धर दैत्यमार्या-सहित) और परिकल्पित भुजग-

समहो महाराज, बिटपिनमभिवसति, संस्तैः स्वंरविहारचरितैरनेकरत्नरचिता इव गिरिवरोर्विरचयति, विविश्रोद्गमस्तम्ब-
तुल्यवाङ्मवरा इव शाखिशिखाः कुर्वाणे, बुद्धप्रवतचापचापलाविता इव दिशो वर्शयति, वातचित्रोल्लेखा इव मेदिनीवैद्यते,
विविधमणिमेवकिता इव सरसीः सञ्जयति, वनदेवताचामरचतुरा इव लतामृहावनीविनिर्मणे, केशपाशपेशला इवोपवन-
श्रियः संपादयति, शयरशिबिरशिसण्डमण्डनोचितकलापे, पुलिन्वसुन्दरीवलंसोक्तलवन्दके, वनेश्वरवनिताहितबहुवलयतिनोदे,
नरेश्वरशीलाञ्छनपिच्छमुच्छिन्ति, महामुनिसंयमोपधिनित्यन्धमाङ्गकहसंकुले, प्रचलाकिना कुलेऽहमवाप्तजन्मा । कदा-
सिद्धयतिवत्सरास्तरानोरसारिणःश्रवणतद्भूतरेणरम्, अतिजरण्डशिसण्डमण्डनोगतित्वलितकलुषप्रसरम्, किमपि
खेदसमप्रमप्रसरतद्वनतरविकरतिकरतिरुध्यमानमार्गोदयः, वेशन्तोषान्तालोपमावाधासंजातकलापोच्चयोऽप्यागामितस-
पतिवशात्प्रवृत्तप्रतीचीनचरणप्रचारः, सत्त्वचित्तविक्रमस्य दुराचारविक्रमस्य पक्षधनपतेः सतङ्गजवस्यात्मजेन गजशल्क-

समान शरीरवाले व तीनलोक के प्राणियों द्वारा माननीय आचारवान् तेरी फलादि सम्पत्तियाँ याचक गनों से
अवनी-सरीखी समझकर पथेष्ट भोगने-योग्य होती हैं' ॥ १० ॥

हे मारिदत्त महाराज ! मैंने कैसे मयूर-कुल में जन्म-धारण किया ? जो (मयूर-कुल), उस वृक्ष
पर निवास कर रहा था । जो उन उन प्रसिद्ध इच्छानुसार की हुई पर्यटन की चेष्टाओं से पर्वत की गुफाओं को
अनेक रत्नों से रची हुई-सरीखी रच रहा था । जो वृक्षों की शिखरों की विचित्र उत्पन्न हुए गुच्छों के समूह की
रचना-वाला कर रहा था । जो दिशाओं को इन्द्रधनुष को चञ्चलता से व्याप्त हुई सरीखी दिशा रहा था ।
जो, पृथिवियों की मनोज्ञ चित्रों से सहित हुई-सी धारण कर रहा था । जो महासरोवरों की नाना माणिक्यों
से रंगविरंगे-से कर रहा था । जो लतामण्डप की भूमियों को वनदेवताओं के चमरों से शोभित हुई-सरीखी
रच रहा था । जो उपवन की लक्ष्मियों को केशपाशों से मनोज्ञ-सी उत्पन्न कर रहा था । जिसका
पिच्छ-समूह भोल-समूह के मस्तकों के भूषण-योग्य है । जिसके पिच्छों के अग्रभाग भोलों की सुन्दारियों
द्वारा मुकुट किये गए हैं अथवा कर्णपूर किये गये हैं । जिसकी पिच्छरूपी कङ्कण-कीड़ा भोलों की स्त्रियों के
लिए गुणकारिणी है । जो राजलक्ष्मी के योग्य चिन्ह रूपी पिच्छों से वृद्धि प्राप्त कर रहा था एवं जो महामुनियों
के चारित्र्योपकरण (पीछी) के कारणीभूत पिच्छों से व्याप्त है । इसके बाद हे मारिदत्त महाराज ! किसी
अवसर पर मुझे सदाचार के पालन में धारणी व पापाचार में आसक्त 'सतङ्गजव' नाम के भोलों के गृहस्वामी
के पुत्र 'गजशल्क' नाम वाले ने देखा । कैसे मुझ को ? गजशल्क ने देखा ?

जिसने लघु सरोवर के तट से ऐसा जल पिया था, जिसकी छोटी-छोटी तरङ्ग-श्रेणियाँ अपनी
निःश्वास सम्बन्धी अवसान वायु से प्रेरित की गई हैं एवं जिसकी कलुक्ता की व्याप्ति विशेष वृद्धिगत मोर की
चोटी-श्रेणी के हिलाने से वृद्धिगत हुई है, फिर नहीं उत्पन्न हुए पिच्छकलाप-समूह वाला होने पर भी मविष्य
से प्रकट होनेवाली पिच्छ-कलाप-समूह की संपत्ति के कारण जिसका चरण-प्रचार (पैरों की प्रवृत्ति) भय से
विपरीत (पीछे गमन-युक्त) हुआ था । जिसके मार्ग का अग्रभाग कुछ अनिवर्चनीय विशेष खेदपूर्वक आगे जाने-
वाले प्रौढ़ जीवनशाली मोर-समूहों से रोका जा रहा है ।

हे मारिदत्त महाराज ! कैसे 'गजशल्क' ने मुझे देखा ? जो कि उसी लघु सरोवर के समीप पक्षियों
व वायु-सरीखे तेज दीड़नेवाले भूगों को मारने के लिए आया हुआ था । जो नेत्रों की किरणों से, जिनकी कान्ति
मदोन्मत्त हाथी के श्विर से अव्यक्त लालिमावाले सिंह-कण्ठ के केशों-सरीखी थी, दिशाओं में बन्धन श्रेणियों
का विस्तार (फैलाव) करता हुआ-सरीखा शोभायमान हो रहा था । जो, मोरों के नेत्रान्त-सरीखे शुभ्र व विस्तृत

माप्ता तत्रैव शकुन्तवातप्रसीसमूहमुपहन्तुमागतेन, सित्पूररुधिराक्षणहरिकण्ठकेशकान्तिभिर्वृष्टिवीधितिभिर्वीतंसजालानीव विक्षु प्रतन्वता, मयूरापाङ्गपाण्डुरवंशनवीप्तिप्रसरंराशामुक्षेपु मृगबन्धानिव प्रसारयता, भाविभवान्धकारमर्लरिव लता-प्रसानवर्लस्तिरोहितसनुना, शनिनेव मधोमाषाङ्गारकालकायेन, पलिशवेशाश्रयिणा तेनान्तकेनेवावलोकितः । पक्षाणाम-द्यापि पक्षतिप्रवेश एवासादितोदयत्वावतिदीनरयत्वाच्च रोवस्थोरन्यतरस्मिन्नपि त्रिषये विहर्तुमसमर्थः, परिगृह्य पञ्जरे कृतकारागारकियः, प्रकटप्रचलाकप्रचयश्च, तज्जनकेन पौराङ्गनापाङ्गपताकितशालायां विशालायां पुरि यशोमतिमहाराजायोपायनीकृतः, समवलोक्य च तां संसारसारावनीं तल्लिसगदिव सुन्दरं मन्दिरं च रंवावाविभूतभवसंभान्नः,

संवेयं नगरो, तत्रैव भवनं, ता एव केलीधराः, संवेया वनभूः, स एव सरसीसारे विलासाचलः ।

संवासी यनिता, स एव समयस्ते येष मे वाचकादिनां देवलमेक एव हि यत्र जगोद्भूतनाकृतिः । ॥१॥

इति क्षणमुपजातान्तर्वाष्पीदन्तः, पुनरन्तःपुरकृशोवरीणां निवासतरुस्कन्धावरोहावकाशैरिवोत्सङ्गदेशीगिरिशिखरैरिव पयो-धरैः प्रभववमवलरीगह्वरैरिव बाहूपगूहर्भः सरोजसरःप्रार्णैरिव मुखाध्याणैः शयनकुञ्जकैतिचूर्लैरिव कुन्तलजालैर्विनोद्यमानः, पुत्र इव प्रियोपचारेषु सहचर इव विहारकर्मषु वीपोत्सवादी गृहमिव पर्वप्रासाद इव मण्डनविधिषु शिष्य इव मर्तनक्रियाषु

दन्तकान्ति से दिशाओं के अग्रभागों पर मृग-बन्धनों का आरोपण करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था । जिसका शरीर, लताश्रेणी के पत्रों से, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—भविष्य जन्म-सम्बन्धी अज्ञानान्धकार के समूह ही हैं, आच्छादित था । जिसका शरीर कज्जल, उड़द के कण व कोयला-सरोखा काला था एवं जो पलिश देश (जहाँ पर स्थित होकर हिरण मारे जाते हैं) का आश्रय करनेवाला था, अतः मानों—यमराज ही है । फिर मुखे (मोर पर्याय के धारक यशोधर को), जिसके पिच्छ अभी भी पिच्छों के मूल-प्रदेश में ही उदित हुए थे एवं जिसका वेग अति दीन था, इसीलिए आकाश व पृथिवी में से किसी भी स्थान पर पर्यटन करने के लिए असमर्थ था । उस गजशल्यक ने पकड़कर पिञ्जरे में बन्दीकृत किया । अर्थात्—जेलखाने में प्रविष्ट किया । इसके बाद उत्पन्न हुए पिच्छसमूह से अलंकृत हुए मुझ को उक्त 'गजशल्यक' के पिता 'मत्तङ्गजव' ने उज्जयिनी नगरी में, जिसके गृह-नगर की कामिनियों के कटाक्ष प्रान्तों द्वारा ध्वजाओं से संयुक्त किये गए हैं, यशोमति महाराज के लिए भेंट कर दिया । सांसारिक सार वस्तुओं की भूमि उस उज्जयिनी को और स्वभावतः मनाज राजमहल को देखकर मुझे भाग्योदय से जाति स्मरण प्रकट हुआ । फिर मुझे निम्नप्रकार जातिस्मरण के साथ क्षण भर में नेत्रों के मध्य आँसुओं के पतन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई ।

वही यह उज्जयिनी नगरी है ! वही यह 'त्रिभुवन तिलक' नाग वा राजमहल है ! वे ही क्रीड़ा भूमियाँ हैं । वही यह वनभूमि है । वही सरोवर के समोपवर्ती क्रीडापर्वत है । वही यह अमृतमति महादेवी पत्नी है और वही यह यशोमति नाम का पुत्र है एवं वे ही मेरे कुटुम्ब वर्ग हैं, परन्तु आश्चर्य है कि केवल अकेला मैं ही (यशोधर ही) अन्यादृश (विलक्षण—मोर की पर्यायधारक) हो गया हूँ ॥१॥

फिर मैं अन्तःपुर की स्त्रियों व मत्त कामिनियों के उत्सङ्ग देशों (गोदियों) से, जो कि निवास वृक्ष के तना से उतरने के स्थानों की तरह थे, क्रीड़ा किया जा रहा था और उनके पर्वत-शिखर सरोखे कुचकलशों से क्रीड़ा किया जा रहा था । उनकी भुजाओं के आलिङ्गनों से, जो कि उनकी क्रीड़ा-योग्य उपवन-सम्बन्धी

१. 'यत्र स्थित्वा मृगा हन्त्यस्ते स प्रदेशः पलिश उच्यते'

सं० टी० पृ० १८० से संकलित—सम्पादक

२. समुच्चयोपमालंकारः ।

पण्यस्थानमिवापरास्वपि क्रीडासु वरारोहाणां च स्वयं नखनिस्तुषितमण्डलैः कसमतन्कुलैः प्रतिनिकायमुपचार्यमानः, क्षितिपतिना च तेन जेमनावसरेषु स्वहस्तवर्तितकायैः प्रथमकथलैः संभाव्यमानः, तत्र लक्ष्मीविलासाकुले राजकुले सभा-
स्तार इव प्रगल्भप्रचारः सुखेनाहमासाचक्रे ।

इतश्चास्ति खलु विन्ध्यादक्षिणत्वां दिशि त्रिदशवेशाभयधीनिकटः करहाटो नाम जनपदः । यत्र

सस्यसंपत्तिसंक्षिप्तसीमामुवः,	प्रचुरपथिकप्रियापणितपथिवस्तवः ।
सत्प्रवापीप्रपारामरभ्योवमाः,	पद्मिनीलण्डताण्डविततोमाशयाः ॥१२॥
श्रीविलासोत्सवस्वलितसुरसमितयः,	कुल्लफलपल्लवील्लासिवनवृत्तयः ।
पिकवधूरुतमनोहारिसर्वतैवः,	सकलसंसारसुखसेवितागन्तवः ॥१३॥
समरभरभागिभटभावदाहोत्कटाः,	लेलबुल्मदवधोत्साततटिनीतटाः ।
स्यागभोगप्रभावाद्भुतव्यातयः,	शुद्धवर्णाश्रमाचरितविगतेतयः ॥१४॥

लतावन-सरीखे थे तथा कमलों से अलंकृत हुए सरोवर के जीवन-सरोखे मुग्न-चुम्बनों से एवं शय्यावृक्ष के क्रीडापिच्छों (मोरपंखों) सरीखे केश पाशों से क्रीडा किया जा रहा था । मैं मत्त कामिनियों के स्वयं दिये हुए धान्य-तण्डुलों से, जिनका समूह नखों द्वारा भूसी-रहित किया गया है, प्रत्येक गृह में वैसे प्रतिपालन किया जा रहा था, जैसे हित करने के विषय में पुत्र प्रतिपालन किया जाता है, जैसे पर्यटन क्रियाओं में मित्र सेवन किया जाता है, जैसे दोपोत्सव-आदि में गृह सेवन किया जाता है (सजाया जाता है), जैसे भूषाविधानों से अमावस्या-आदि पर्वों के समय राजमहल सेवा किया जाता है (सुसज्जित किया जाता है) और जैसे नृत्य-शिक्षाओं से शिष्य सेवन किया जाता है—कला-प्रवीण किया जाता है एवं जैसे दूसरी रमण क्रियाओं से प्रेमपात्र सेवन किया जाता है । यशोमति राजा द्वारा भोजनावसरों में अपने करकमलों से रचे हुए प्रथम आसों से सन्तुष्ट किया हुआ मैं उस लक्ष्मी के भोग से परिपूर्ण राजमहल में सभ्य-सरीखा प्रौढ़ प्रवेशवाला होकर सुखपूर्वक स्थित हुआ ।

हे मारिदत्त महाराज ! एक पार्श्वभाग में निश्चय से 'विन्ध्याचल' नामके पर्वत से दक्षिण दिशा में स्वर्ग लक्ष्मी के समीपवर्ती 'करहाट' नाम का देश है । जिसमें ऐसे ग्राम-विन्यास (समूह) हैं । जिनमें धान्य-सम्पत्तियों से व्याप्त हुई सीमाभूमियाँ (खेत) वर्तमान हैं । जिनमें बहुत सी पथिक-कामिनियों द्वारा मार्ग में वस्तुएँ खरीदी गई हैं । जिनकी उत्पत्तियाँ या उन्नतियाँ उपवनों, बावड़ियों, प्याऊओं एवं बगीचों से मनोहर हैं एवं जिनमें कमलिनी-वनों से तड्ढाग नचाए गए हैं ॥ १२ ॥ जिन्होंने लक्ष्मीभोग-महोत्सवों से देव-समूह तिर-स्कृत किये हैं । जहाँपर उद्यान-वृत्तियाँ, फेले हुए फलों व पल्लवों से शोभायमान हैं । जहाँपर समस्त ऋतुएँ (हिम व शिशिर-आदि) कोकिलाओं के मञ्जुल गानों से मन को हरण करनेवाली हैं एवं जहाँपर पथिकलोग समस्त सांसारिक मुक्तियों से सेवा किये गए हैं ॥ १३ ॥ जो संग्राम-भार को सेवन करनेवाले योद्धाओं के अभिप्राय से उत्पन्न हुए युद्ध से उत्कट हैं । जहाँपर नदियों के तट क्रीडा करनेवाले व हर्षित हुए बैलों द्वारा गिराए गए हैं । जिनकी प्रसिद्धि लक्ष्मियों के दान व उपभोग के माहात्म्य से आश्चर्य कारिणी है । एवं जहाँपर शुद्ध (संकरता-रहित) वर्णों (ब्राह्मणादि) व आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) के आचरणों से ईतियाँ (अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि उपद्रव) नष्ट हुई हैं ॥ १४ ॥ जिनमें सरल क्षरणागतों की रक्षा करने में कुलपरम्परा से चली आई कीर्ति पाई जाती है । जहाँपर धर्म, अर्थ व काम इन तीनों पुरुषार्थों के अनुष्ठान में समाननीति रखनेवाले मानव पाये जाते हैं । अर्थात्—जहाँपर लोग धर्म नष्ट करके धनोपार्जन नहीं करते एवं धन को अन्याय पूर्वक नष्ट करके

प्रवणशरणागतोदरणकुलकीर्तयः, सन्ति धर्मार्थकामेषु सन्नोतयः ।

सुकृतफलभूमयो ग्रामविनिवेशिकाः, कामितावाप्तिविजितामरोद्देशकाः ॥ १५ ॥

अपि च यत्र

सोत्सेपसंश्लिख्यराधगतास्तुष्टमपुष्पप्रभातम्, प्रविभाष्य भूमयः ।

संध्याग्रमाविव विवापि रहन्ति कान्ताः कोकाः सरसु कृतकूजितकण्ठपीठाः ॥ १६ ॥

तत्र भवत इव सकलगोमण्डलाधिपतेर्गोधनाभिधानवसतेरस्ति सलु गोकुलविशालं श्रीशालं नाम वनधान्यधामारामने-
दिष्टं गोण्डम् । यत्कचचिदुभयगलमण्डलवालाकुलितवस्तवकरंरकम्, क्वचिद्गोपालपोतपरिप्लवोपवृत्तमानवृद्धवृष्णिकम्, क्वचि-
वृत्सेक्षणञ्जस्तनधेनुवृद्धधाराध्यामानधरापीठम्, क्वचित्कालशेषकलशराशिद्विभाषणप्रीयमाणान्तिधिपेठम्, क्वचित्स्वन-
विनिवृत्तनिचिकीनितिलनिकटनिक्षिप्यमाणवधिवभ्रूवृक्षतप्रसवम्, क्वचिद्दलितधामवासेरकार्मकमाप्तिशङ्कितशकृत्करिणुर-
क्षुद्रमानाधनिवेशपल्लवम्, क्वचिसरुणतराभीरोद्गुणधनप्रुषणधोरघातघूर्णमानरणरभसक्षोभसंशुभितरक्ताक्षकक्षम्, क्वचि-
ब्रुन्माधनायहरिभूयमुदबाध्यमानप्रणोहीपक्षम्, क्वचिद्बद्धकण्ठगोक्षीरप्रतोक्ष्यमाणगृहगृहावग्रहणोगृहदेवताकुलम्, क्वचिद्गो-
मिथुनपरिणयोत्पुल्लपल्लवस्ववासिनीजनोन्माद्यमाणमङ्गलम्, क्वचिद्द्विभन्धमन्धानध्वनिविनर्त्यमानभवनबहिगम्, क्वचिन्मा-

भोग नहीं भोगते एवं भोग नष्ट करके धर्म व धन का संचय नहीं करते । एवं जो पुण्य के फलों (सुखों) के स्थान हैं तथा जिन्होंने अभिलषित फलों की प्राप्ति से स्वर्गलोक जीते हैं ॥ १५ ॥

जिस करहाट देश में—मञ्जुल शब्द करनेवाले कण्ठपीठों से व्याप्त हुए चक्रवा विपुल आकाश को ऊँचे महलों की शिखरों पर आश्रय करनेवाले सुवर्ण की शोभायमान कान्ति से सर्वत्र व्याप्त हुआ देखकर शब्दायमान कण्ठवाली चक्रवियों को, दिन में भी तालाबों पर वैसे छोड़ देते हैं, जैसे संध्या के आगमन काल में छोड़ देते हैं ॥ १६ ॥

हे मारिदत्त महाराज ! उस करहाट देश में 'गोधन' नामके गोविन्द का, जो कि बेसा समस्त गो-मण्डल (गायों के समूह) का स्वामी है जैसे आप समस्त गोमण्डल (पृथिवी मण्डल) के स्वामी हैं, गायों के समूह से बहुल वन एवं धान्यों का स्थान तथा बगीचों के निकटवर्ती 'श्रीशाल' नामका गोकुल (गोशाला) है । जो (गोकुल), किसी स्थान पर बन्धन-रहित (छूटे हुए) कुत्तों के बच्चों से जहाँ पर बकरियों के बच्चे व्याकुलित किये गये हैं । जो कहींपर ग्वाल-बालकों की मैथुन क्रिया से जहाँपर वृद्ध मेढे दुःखित किये जा रहे हैं । किसी स्थान पर बछड़े के देखने से यन्तों से झर रहे गो-दुग्ध की धाराओं से पृथ्वीतल प्रक्षालित किया जा रहा है । कहींपर मट्टा के घड़ों की राशि-वितरण करने से जहाँपर अतिथि-समूह सन्तुष्ट किया जा रहा है । कहीं पर वन से लौटी हुई उत्तम गायों के ललाट-परिभागों पर दही, कुश, दूर्वा व अक्षत पुष्प स्थापित किये जा रहे हैं । कहींपर टूटे हुए बन्धनधाले (छूटे हुए) ऊँट-बालकों के पर्यटन से भयभीत हुए बछड़ों के खुरों से जहाँ पर घास चरने की नौदों के पत्ते, कुचले या रौंदे जा रहे हैं । कहींपर प्रौढ़ यौवनवाले अहारों से घूमाये हुए प्रचुर मुद्गरों के निष्ठुर प्रहारों द्वारा जहाँपर युद्ध-वेग के संचलन से क्रुद्ध हुआ भैंसाओं का झुण्ड मूर्च्छित हो रहा है । कहीं पर विशेष वलिष्ठ अथवा उन्मत्त साड़ों के झुण्ड की लड़ाई से जहाँपर वालर्गभिणी गायों का झुण्ड भूमि पर लोट-पोट किया जा रहा है । कहीं पर प्रौढ़ बछड़ों वाली गायों के दूध से गृह-देहलो के गृह देवताओं का समूह पूजा जा रहा है । कहींपर गाय-बेल के विवाह के अवसर पर विकसित पुष्प-पल्लवों से युक्त हुईं सुहा-

हेयीबोह्व्याहाराह्वयमास्ययः पानपरपथिकगणम्, पक्षिचिरसंधानबामिनीच्युतचपलतरतर्णकसोवहवित्तधारकवीर्यमानजरतीरक्षा-
विधानम्, सुरसुरभिनिधानमिर्वचनपराभिरधि गणसिन्धुभिर्गुण्डिभिः प्रगतिभिः परेषुकाभिः सङ्गतिभिः समांसमीनाभिः
बहुतिभिः सुवताभिः संपाताताभिः पाल्मनीभिः विगतबेहदसावतीकासंविभासृष्टिभिरुजाभिर्वाभिर्वेसरवालेयकारेयजाति-
मिदं प्रभूतम्, वसिष्ठवधुतोवधीनामिव समवायभूतम् । तत्र तस्य विष्णुसारात्म्यं प्रजपानस्य सधनि मृगवंशवंशे सा
मवीया चन्द्रमतिमता अवस्थानरूपातिरेकैरतिशयितसकलशालाकुक्लोकः कोलेयको बभूव जातयुवभावश्च । योग्यस्वभावः
खल्वयं इवेतिपिङ्गलपराक्रमो निसर्गान्मार्गायुक्कमदश्च विद्वत्करवदूनीन्नाणी मृगयाविमोक्षस्थेऽनुध्याय तेन वस्यतिना तस्या-
मेव मालवीमुखेऽनुमण्डनरज्यामुज्जयिन्यां यशोमतिमहाराजाय वैवांसोऽपि प्राभूतमानायि । राजा सं नित्यजागरूकसुतम-
वलोकय स्वगतम्—

‘निर्मासास्यः कपिलनयनः स्वरूपतीक्ष्णाप्रकर्णः कुक्षिसामः पृथुरुजयनः पूर्णवस्त्रः प्रवेशः ।

बुधस्तिग्धप्रतनुबानः सारमेयो महीषाभाक्षेढाय प्रजवधरणः क्षिप्रिवाभुग्नवालः ॥१७॥

मन्ये धानेन शरमासुतेनाकुरङ्गमिव हरिणलाञ्छनम्, अरक्ताक्षमिव महिषवाहनम्, अक्षेष्टायुधमिवाविवराहचरितम्, अहर्य-
क्षामिव सिंहवाहिनीम्, असत्त्वसंचाराश्च धनावनौधरधराः । मृगयाप्रभोरथाश्चाद्य मे फलिष्यन्ति कामितकथाः ।’

प्रकाशम्—‘मद्विनोबानन्वनमते पशुपते, इत इतः समानीयतामयं पक्षपुरुषः ।’ पशुपतिः—‘यथाज्ञापयति वेधः ।’ राजा
प्राप्तमेनं क्वानं समं हस्ताभ्यां परामुद्य प्रलोभ्य तत्प्रियंस्तेस्तेस्तेस्तुभिनिष्ठोऽथ च तवानने ‘यत्राहं क्वचिदवतिष्ठे तत्रायं
वराहवैरी संयमनीयः’ इत्युक्त्वा वाप्तादगणिमुखायाकाण्डमृष्यवे समर्पयामास ।

गिनी स्त्री समूह द्वारा जहाँपर मङ्गल-गान गाया जा रहा है । कहीं पर वही के मधने से उत्पन्न हुई मधन-ध्वनि
से जहाँपर गृह के मयूर विशेष रूप से नचाए जा रहे हैं । कहींपर गायों की दोहन-ध्वनि से दूध पीने में तत्पर
हुआ पथिक समूह बुलाया जा रहा है । कहींपर बन्धन की खूंटो से छूटे हुए चञ्चल बछड़े के रोदने से होनेवाले
वच्चे का रक्षा-विधान वृद्ध स्त्रियों के लिए सोंपा जा रहा है ।

इसीप्रकार जो (गोकुल-गोबाला) दूसरी भी बहुत सी एकबार ब्याई हुई गायों से प्रचुर हुआ काम-
धेनुओं के स्थान-सरीखा सुशोभित हो रहा था । फिर कौन २ सी गायों से वह प्रचुर था ? जो बहुत सी प्रचुर-
प्रसूतिवाली (अनेकवार ब्याई हुई) गायों से एवं बहुत सी समांसमीना (प्रतिवर्ष प्रसन्न करनेवाली) गायों
से प्रचुर था । जो बहुत सी सुखपूर्वक दुही जानेवाली गायों से व बहुत सी अल्प दिनों के गर्भवाली गायों से
प्रचुर था । जो ऐसी दूषित गायों से रहित था । जिनमें गिरे हुए गर्भवाली, बन्ध्या, सींगों से रहित (मुण्डी) व
गभिणी होकर बैल द्वारा मैथुन की गई, दूषित गाएँ हैं, इसीप्रकार जो घोड़े, खच्चरगधे, गधे, और मेंढों की
जातियों से प्रचुर था एवं जो दधिसागर, क्षीरसागर व घृतसागरों का समुच्चय-सरीखा शोभायमान था ।

उक्त गोकुल में उस पूर्वोक्त विशेष पराक्रमी गोधन नाम के गोकुल पति के गृह पर कुत्तों के कुल में
वह मेरी चन्द्रमति माता कुत्ता हुई । जो कि वेग, बल व रूप की अविकता से समस्त गोकुल संबंधी कुत्तों के
मध्य अतिशयवान् व युवावस्था प्राप्त करनेवाला हुआ । ‘सिंह-सरीखा पराक्रमी यह कुत्ता, जिसके चारों पैर
स्वभावतः शिकार करने में कुशल हैं, निश्चय से राजाओं की शिकार क्रीड़ा में योग्य स्वभाव वाला है’ ऐसा
चिन्तन करके उस गोधन नामके गोकुल-स्वामी द्वारा उसी उज्जयिनी नगरी में, जो कि मालवा देश की

१. ‘समांसमीना तु या सा प्रतिवर्षं प्रजायते’ इत्यभिधानचिन्तामणिः ।

एवं स्वाचरितोपचितप्रयोगाद्विभिन्नयोगाद्द्वयोरप्यावयोस्तत्र पूर्वभवानुभूतभूमिग्यासे नृपनिवासे सह संवसतो-
रेकवा भिन्नान्निवासाशयानामन्तःपुरपुरंघ्रिकालंकारविकृतकायानां शान्मलीनाममृतमतिमहादेवीशंभायाशु प्रकाशित-
वतिकेलीनां गमनाभिनिवेशवशरसप्रसनामुक्तमणिकिङ्किणीजालकलकोलाहलेन सजलजलधरध्वनिनेव नूपुरनादेन विनोद्यमान-
मानसः सुभगकंदर्पाभिषत्य सौषल्याधिरोहणाध्वना सप्तमं तलमध्याह्नोऽस्मि ।

तत्र च क्षणमात्रमिव स्थित्वा प्रतिनिष्ठासु तासु प्रतीपवशिनोष्वहं भूतभवानुभूतभवनभूमिसंभावनाविभूतान्तः-
करणतया मनाविलम्बमानस्ताममृतमतिमहादेवीं तेन कुञ्जेन सह विहितमोहनामघलोक्य प्रबृद्धानवधिक्रोधविष्वरधी-
लोचनः कोपादोषधुत्त्रोटिशलकोल्काजालवर्षविष्यन्नेस्तुण्डतण्डनः, निबिडावेशवशविशोयमाणवर्हविहिताकालकेतुद्वगतिभिः
पक्षप्रवृत्तिभिः, कीकसावसानविश्रान्तनखमुखमार्गोद्वगलद्विधिरधाराकाण्डताण्डवितसंध्यारागसंततिभिः कृकाहृतिभिश्च
तयोराचरितमुत्तमुत्तान्तरायः, संवाधधिरिन्ध्यायानसविषशरीरिकया कथाचित्परिवारदारिकया सुप्रतिष्ठेन कथाचिदेव-
लतया कथाचित्तालवृत्तेन कथाचित्प्रकोणदण्डिकया कथाचिद्वाङ्गुलीजालेन कथाचिवनुपबोनया, तथापराभिरपि समुत्सा-
हितसौविकलसदःशरीराभिरवरोधविलासिनीभिश्च तेन तेनोपकरणकलापेनातिनिर्वयहृदयं प्राणप्रयाणपर्यन्तजलंरितकायः,

स्त्रियों के मुखरूपी चन्द्रों को कान्तियुक्त करने में पूर्णिमा की रात्रि है, भाग्य से यशोमति महाराज के लिए
भेंट कर दिया गया ।

यशोमति महाराज ने उस कुत्ते को देखकर अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—'ऐसा कुत्ता
राजाओं की शिकार के लिए होता है । जो दुबल मुख वाला व पीत-रक्त नेत्रोंवाला है । जिसके दोनों कान,
कुछ तीक्ष्ण प्रान्त भागवाले हैं । जो दुबल उदर वाला, विस्तीर्ण कमर के अग्रभाग से युक्त एवं स्थूल हृदय-
शाली है, जिसके सूक्ष्म दाँत दूध जैसे सचिककण हैं । जो वेमशाली (तेज) पैरों से युक्त होता हुआ कुछ टेढ़ी
पूँछवाला है' ॥ १८ ॥

मैं इस कुत्ते के कारण चन्द्र को मृग-रहित-सा मानता हूँ । अर्थात्—मानों—यह कुत्ता चन्द्र के मृग को
मार डालेगा । मानों—इससे महिष-वाहन वाले यम को महिष-रहित सरीखा मानता हूँ । अर्थात्—यह यम-
वाहन महिष (भैंसा) को भी नष्ट कर देगा । इसके कारण आदिवराह-चरित को वराह-शून्य-सा मानता हूँ ।
इससे सिंह-वाहन-शालिनी पार्वती को सिंह-रहित मानता हूँ । अर्थात्—यह भवानी-वाहन सिंह का भी वध कर
देगा । इससे अटवी, पर्वत व पृथिवी को प्राणियों (मृग, व्याघ्र व वराह-आदि) के प्रवेश से रहित हुई
मानता हूँ । अर्थात्—यह, अटवी, पर्वत, व पृथिवी के (मृग-आदि) को मार डालेगा । आज मेरे शिकार के
मनोरथ अभिलाषित कथा वाले होकर फलेंगे (पूर्ण होंगे) ।' इसके बाद यशोमति महाराज ने निम्नप्रकार
स्पष्ट कहा—'मेरी क्रीड़ा को वृद्धिगत करनेवाली बुद्धि से अलंकृत हे पशुपति (कुत्तों के रक्षक) इस कुत्ते
को इस स्थान से इस स्थान पर लाओ । पशुपति—स्वामी की जैसी आज्ञा है उसके अनुसार करता हूँ । फिर—
यशोमति महाराज ने प्राप्त हुए इस कुत्ते को साथ-साथ दोनों करकमलों से छुआ और उसको प्रिय लगनेवाली
वस्तुओं (दूध-जलेंद्री-आदि) का प्रलोभन देकर उसके मुख का चुम्बन किया । 'हे अकाण्ड मृत्यु ! 'जहाँ कहीं-
पर मैं ठहरोँ वहाँपर तुम्हें इस कुत्ते को बांधना चाहिए' ऐसा कहकर प्रस्तुत राजा ने उसे कुत्तों के प्रांतपालकों
में मुख्य 'अकाण्ड मृत्यु' के लिए दे दिया । इसप्रकार स्वयं उपार्जन किये हुए कर्म से वृद्धिगत व्यापार वाले
कर्म की अधीनता से जब हम दोनों भी (मोर व कुत्ते का जीव, जो कि पूर्व भव में क्रमशः यशोधर व चन्द्र-
मती था) पूर्वभव (यशोधर व चन्द्रमति की पूर्व पर्याय) में भोगे हुए विस्तृत भूमिवाले त्रिभुवन तिलक नाम

केकिनमेवमापावितामृतमस्मिन्महादेवोद्गोहं परत बध्नीताहत मारयतेति परिवेदनमुखरमुखीभिः सोपानभार्गेण निर्लोहितः, शुनीमृनुना च तेन ममायनेतन्मपूरमारणे प्रेरणोपक्रम इति मन्यमानेताणवान्तरेऽवसन्नशरीरतया समागतः समवर्तिवशां वशामहमानिन्दे ।

क्षितिपतिना च तेन समीपसंपादितधूतेन मुञ्च मुञ्चेमं चित्रपिङ्गलमसौवर्वरगलं गिरता सारकेलिमपहाया-
कर्षेण श्रीर्षवेदो बृहदत्तप्रहारकलः सोऽपि भण्डिलस्तामेव विवसकरात्मजाअयस्थामवस्थाननुससार ।

राजा गलनिर्गतप्राणयोरावयोरकामकृतामुपसंपन्नतामवेत्य शोकात्कुसंकुलकायः

प्रासादमण्डनमणौ रमणीविनोदे कोडावनीधरशिलातलचित्रतेले ।

को नाम केलिकरतातविधिं बध्नां नृत्तानुगं त्वयि करिष्यति कीर्तिशेषे ॥१८॥

के राजमहल में साथ-साथ निवास कर रहे थे तब एक समय में (यशोधर का जीव जो मोर हुआ है) ऐसी अन्तःपुर में निवास करनेवाली दासियों के नूपुरों की मञ्जुल ध्वनि से, जिसमें गमनाभिप्राय की अशीमता से शब्द करते हुए कमर की करधोनी में बंधे हुए मणिकिङ्किणी-समूह की मधुर ध्वनि पाई जाती है एवं जिसकी ध्वनि जलसे भरे हुए मेघों की ध्वनि-सरीखी है, आनन्दित किये जा रहे मनवाला होकर 'सुभगकन्दर्प' नामक राजमहल की सीढ़ियों से सातवें तल्ले पर चढ़ गया । वे दासियाँ ? जिनका शरीर अन्तःपुर की कुटुम्बिनी स्त्रियों के अलंकारों से विकृत हो रहा है एवं जिन्होंने अमृतमति महादेवी से मिलने के लिए अपनी गमनक्रीड़ा शीघ्र प्रकट की है ।

फिर—भूतकाल संक्षेपी यशोधर परान्तर में चले हुए राजमहल की भूमि के स्मरण से प्रकट हुई चित्तवृत्ति के कारण में (यशोधर का जीव मोर) उस 'सुभग कन्दर्प' नामक महल के सातवें तल्ले पर कुछ विलम्ब करता हुआ उस महल में अल्पकाल पर्यन्त स्थित हुआ और जब वे (अमृतमति महादेवी के दर्शनार्थ आई हुई स्त्रियाँ) वापिस चली गईं तब उस अमृतमति महादेवी को उस कुबड़े के साथ मैथुन क्रीड़ा करने-वाली देखकर मेरे बुद्धिरूपी नेत्र बड़े हुए अमर्यादीभूत क्रोध से विकल (अन्ध) हुए । फिर मैंने निम्न प्रकार उपायों से उस कुबड़े व अमृतमति महादेवी के संभोग-सुख में विघ्न उपस्थित किया । ऐसी चींचों के प्रहारों से, जिनमें विस्तृत क्रोध से टूटती हुई चींच के टुकड़ेरूपी उल्काजाल (विजली-समूह) की वृष्टि से टुकड़े पाये जाते हैं और बाएँ व दाहिने पंखों के प्रहारों से, जिन्होंने गाढ़ क्रोध से मष्ट होते हुए पिच्छों द्वारा अकस्मात् केतुग्रह का उदय उत्पन्न किया है, एवं चार के गले के प्रहारों से, जिन्होंने हड्डियों के अखीर में लगे हुए नख व मुख के मार्गों से ऊपर उछलती हुई रुधिर की छटाओं से असमय में संध्याकालीन लालिमा की श्रेणियाँ विस्तारित की हैं । फिर ऐसा करने से मुझे किसी कुटुम्बदासी ने जिसका शरीर, युद्धरूपी ब्रह्मा की मानसिक एकाग्रता के समीप है, ताम्बूलादि के पात्र के संपुटक से अत्यन्त निर्दयपन पूर्वक प्राण निकलने पर्यन्त जर्जरित शरीरवाला किया । किसी कुटुम्बदासी ने वेंटलता से, किसी दूसरी कुटुम्बदासी ने पंखे से किसी दासी ने विस्तृत लाठी से तथा किसी ने सुपारी-वर्गैरह फल-समूह से एवं किसी ने जूते से मुझे जर्जरित शरीर-वाला किया । इसीतरह दूसरी अन्तःपुर की स्त्रियों ने भी, जिन्होंने कञ्चुकी-समूह के शरीर अच्छी तरह उत्साहित किये हैं, एवं 'अमृतमति महादेवी के साथ द्रोह करनेवाले इस मयूर को तुम लोग पकड़ो, बाँधो, ताड़ित करो व जान से मारो' इसप्रकार रोने व विलाप करने में जिनके मुख वाचाल हैं, उन प्रसिद्ध उपकरण-समूह (कपूर का पिटारा व हंसिया आदि साधन) से मुझे अत्यन्त निर्दय हृदय पूर्वक प्राण निकलने पर्यन्त जर्जरित शरीरवाला किया । उक्त स्त्रियों से सीढ़ियों के मार्ग से भेजे हुए मुझे (मोर को), जो कि आखिरी शरीर के

सिंहः सुखं निवसतावधलोपकण्ठे सोऽकण्ठमेणनिधयश्चरतात् स्थलीषु ।

सत्त्वाः परेऽपि विपिने विलसन्वशाङ्कं नाकं गतोऽग्रमसुता मनु विश्वकदुः ॥ १९ ॥

इति संशोध्य 'हंहो' स्वपरजनपरीक्षणमायाकार मायाकार, कार्यन्तामनयोर्भूदेवसंदोहसाक्षिणीः पितृलोकसन्नह्यचारिणीः पावकप्रदानवैहायिकान्वाहार्यपुरःसरसमयाः क्रियाः । प्रदाप्यन्तामनयोर्नास्ति जननीजनकयोरिव सर्वत्र सत्प्रसभामण्डपाधिपाः प्रपाः' इत्यन्वतिष्ठत् ।

समस्तसत्त्वसदयहृदय, शुभधानोदय, पुनरस्ति जलु खेचरीसंगीतकमुत्तरचूलिकाचक्रवालारसुबेलशैलावपरविम्बेवताविनोवा-यतनं शिखण्डिताण्डवमण्डनं नाम धनम् । यदेवं वेहिमो वर्णनविषयतां नयन्ति ।

तथाहि—वुर्जनहृदयमिव दुष्प्रवेशम्, प्रलयकालमिव भयानकम्, निगद्यागममिव गहनावसानम्, बुद्धाण्डकमिवा-

कारण कुत्ते के समीप आया था, उस कुत्ते ने (जो कि पूर्वभव में चन्द्रमति का जीव था), जो इस प्रकार मान रहा था कि इस मोर के बात करने में मेरा यह प्रेरणा का उपक्रम (जानकर आरम्भ करना) है, यमराज की अश्लील अवस्था में ला दिया (मार डाला) । फिर वह कुत्ता भी निकटतर जुआ खेलनेवाले व 'इस मोर को छोड़ो-छोड़ो' इस प्रकार से विशेषरूप से वेग-वाले गले के शब्द पूर्वक चिल्लाते हुए राजा द्वारा शतरंज-क्रीड़ा छोड़कर फलक से जिसको मस्तक पर प्रहार की निष्ठुर अवस्था हो गयी है, मरणावस्था को प्राप्त करता हुआ । अथानन्तर यशोमति महाराज ने गले से निकले हुए प्राणवाले इन दोनों मोर व कुत्ते की बिना इच्छा से उत्पन्न हुई मृत्यु जान कर शोकरूपी रोग से व्याप्त हुए शरीरवाला होकर निम्नप्रकार शोक प्रकट किया—हे मयूर ! जब तुम, जो कि राजमहल को अलंकृत करने में शिखर-सरीखे हो व रमाणियों का मनोरञ्जन करनेवाले हो एवं जिससे क्रीड़ा भूमि पर स्थित पर्वत की शिलातल पर चित्ररचना होती है, मर चुके तब स्त्रियों की क्रीड़ा से उत्पन्न हुए हस्तताड़न-विधान को, जो कि नृत्य का अनुसरण करनेवाला है, कौन करेगा ?' ॥ १८ ॥ यह शिकारी कुत्ता निस्सन्देह स्वर्ग चला गया, अतः अब सिंह पर्वत के समीप सुखपूर्वक निवास करे एवं मृग-समूह उत्कण्ठापूर्वक वनस्थलियों में ध्येष्ट विहार करे तथा दूसरे प्राणी भी वन में निःशङ्कतापूर्वक विशेषरूप से क्रीड़ा करें' ॥ १९ ॥ फिर यशोमति महाराज ने इस प्रकार किया—अपने व दूसरे लोगों की परीक्षा करने में श्रोतारायण-सरीखे परीक्षक हे द्वारपाल ! इस मयूर व कुत्ते के निमित्त से तुम्हारे द्वारा ऐसी क्रियाएं कराई जावें, जो कि ब्राह्मण समूह के प्रत्यक्ष विषयीभूत हों एवं पितृलोक-सरीखों (यशोर्व व यशोधर-आदि पूर्वजों-जैसी) हैं । तथा अग्नि-संस्कार, वैहायिक व मृत की मासिक क्रिया और षण्मासिक आदि काल जिनमें वर्तमान है । इसीप्रकार चन्द्र-मति व यशोधर महाराज सरीखे इनके उद्देश्य से सर्वत्र विशेषरूप से ऐसी प्याऊं दान कराई जावें, जिनमें भोजनशाला, गोष्ठीशाला व छत्रादि स्थान, इनके अधिकारी वर्तमान हों ।

समस्त प्राणियों में कर्षणा से व्याप्त मनवाले व पुण्यरूपी तेज के उत्पत्तिस्थान ऐसे हे भारिदत्त महा-राज ! इसके पश्चात्—मोर-पर्याय व कुत्ते की पर्याय के अनन्तर—दूसरा भव वर्णन किया जाता है । विद्याधरियों के संगीत से शब्दायमान शिखर-मण्डलवाले सुबेल पर्वत से पश्चिम दिशारूपी देवता का क्रीडा-मन्दिर 'शिखण्डिताण्डवमण्डन' नाम का धन है । विद्वान् लोग जिसका निम्नप्रकार वर्णन करते हैं—जो दुष्ट-हृदय-सरीखा दुष्प्रवेश (दुःख से भी प्रवेश करने के लिए अशक्य) है । जो प्रलयकाल-जैसा भयानक है । जो गणित-शास्त्र-सा अवसान (अखीर) में गहन (प्रवेश करने के लिए अशक्य व पक्षान्तर में विलुप्तता से जानने-योग्य) है । जो आत्मज्ञान-सरीखा अलब्धमध्य संचार है (जिसके मध्यभाग में पर्यटन प्राप्त करने के लिए अशक्य

लब्धमधसंचारम्, राजकुलमिव क्षुद्रलोकाधिष्ठितम्, कामेक्षणाचरितमिव स्वभावविषमम्, निःस्वामिकमिवामर्यादव्य-
वस्थम्, छत्रभङ्गमिव बहुकण्टकोपद्रवम्, खलोपदेशमिव दुरन्तम्, नृपतिचित्तमिव दुःखोपसेव्यम्, समराङ्गणमिव सखङ्ग-
संघट्टम्, वेतालकुलमिव महादेहभोषणम्, कलिङ्गवनमिव दन्तिदुर्गम्, स्वर्चुनीप्रवाहमिव कृताष्टापदावतारम्, नाटेरमिव
सचित्रकम्, वर्षारित्रमिव घनमेघरावम्, रघुवंशमिव मागधीप्रभवम्, चन्द्रमिवामृताम्पवम्, गिरिसुताचरितमिव विजया-
विस्तृतम्, जलनिधिमिव जम्बुकाध्युषितम्, रथचरणपाणिमिव सुदर्शनाधारम्, युधिष्ठिरमिव मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवा-
नुगम्, सुभटानौकमिवाभीरुप्रतिष्ठितम्, पुण्यवर्धिवन्धुमिव लक्ष्मीनारायणम्, जटामासी व शुभ्रकमलों से प्रचुर, जातवृहतीकम्, समर्थस्थान-

है व पक्षान्तर में जिसके मध्यभाग का ज्ञान अशक्य) है । जो वैसा क्षुद्रलोको (व्याघ्रादि दुष्ट जीवों) से व्याप्त है जैसे राजकुल क्षुद्रलोको (असहिष्णु लोगों) से व्याप्त होता है । जो स्त्रियों के चरित्र-सरीखा स्वभाव से विषम (ऊबड़-खाबड़ व पक्षान्तर में कुटिल) है । जो वैसा अमर्याद व्यवस्थित (वेमर्याद स्थितिवाला) है जैसे राजा-रहित नगरादि अमर्याद व्यवस्थित (सदाचार नियम से विचलित) होता है । जो वैसा बहु कण्टकोपद्रव (सूक्ष्म तीक्ष्ण काँटों के उपद्रव वाला) है जैसे छत्रभङ्ग (राज्य-नाश अथवा राजसिंहासन से राजा का व्युत्त होना) बहुकण्टकोपद्रव (दुष्ट शत्रुओं के उपद्रवों से व्याप्त) होता है । जो दुष्ट-शास्त्र-सरीखा दुरन्त (अन्त-रहित व पक्षान्तर में दुष्ट-स्वभाव वाला) है । जो वैसा दुःखोपसेव्य (दुःख से आश्रय के योग्य) है जैसे राजा का चित्त दुःखोपसेव्य (आराधना करने को अशक्य) होता है । जो वैसा सखङ्ग-संघट्ट (गण्डकों-गेडों-के युद्ध से व्याप्त) है जैसे संग्राम-भूमि सखङ्ग-संघट्ट-खङ्गों (तलवारों) की टक्करी से सहित होती है । जो वैसा महादेह-भोषण (विस्तृत होने के कारण भयानक) है जैसे वेतालों (व्यन्तरादिदेवों) का समूह महादेह-भोषण (महान् शरीर के कारण भयानक) होता है । जो कलिङ्ग देश के वन-सरीखा दन्तियों (पर्वतों) व पक्षान्तर में हाथियों-से दुर्गम् है ।

जो कि गङ्गा के प्रवाह-सरीखा कृत-अष्टापद-अवतार (शरभ जीवों से किये हुए प्रवेशवाला व पक्षान्तर में कैलाश पर्वत से अवतरण करने वाला) है । जो नट-सरीखा सचित्रक (चित्रकों-व्याघ्र विशेषों-से व्याप्त व पक्षान्तर में आश्चर्यजनक) है । जो वर्षाकाल-सा घन-मेघराव (बहुत सी मोरों से व्याप्त व पक्षान्तर में प्रचुर मेघों की गर्जनावाला) है । जो वैसा मागधी प्रभव (पीपलों की उत्पत्तिवाला) है जैसे रघुवंश मागधीप्रभव (सुदर्क्षिणा नाम की दिलीप राजा की पत्नी के वर्णनवाला) होता है । जो चन्द्र-सरीखा अमृता-आस्पद (गूडूची का स्थान व पक्षान्तर में अमृत का स्थान) है । जो वैसा विजया-विस्तृत (हरीतकियों-हरड़ों से विस्तृत) है जैसे पार्वती का चरित्र विजया (विजया नाम की अपनी सखी) से विस्तृत होता है । जो वैसा जम्बुक-अध्युषित (शृगालों से सेवन किया हुआ) है जैसे समुद्र जम्बुक-अध्युषित (वरुण दिक्पाल से सेवन किया हुआ) होता है । जो वैसा सुदर्शन-आधार (सुदर्शन नाम की औषधि विशेषों का स्थान) है जैसे श्रीनारायण सुदर्शन-आधार (सुदर्शन नाम के चक्र से अधिष्ठित) होते हैं । जो वैसा मरुद्भव-अर्जुन-नकुल, सहदेवा-अनुग (वायु की उत्पत्ति, मोर या वृक्षविशेष, नेवला, बला (खरहंटो) से व्याप्त है जैसे युधिष्ठिर महाराज जिसके अनुगामी भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव नामके पाण्डुपुत्र हैं ऐसे हैं । जो (सुभटों की सैन्य-सरीखा) अभीरु (शतावरी-सहित व पक्षान्तर में अकातर—वीर पुरुषों-से सहित) है । जो क्षीरसागर के मन्यन-सा लक्ष्मी-सनाथ (ऋद्धि व वृद्धि नाम की औषधियों से सहित व पक्षान्तर में लक्ष्मी-सहित) है । जो वैसा जातवृहतीक क्षुद्रवार्ताकी (रान कटेहली की उत्पत्तिवाला) है जैसे छन्दशास्त्र जातवृहतीक (दो अक्षरवाली छन्दजाति से व्याप्त) होता है । जो वैसा तपस्विनी-प्रचुर (जटामासी व शुभ्रकमलों से प्रचुर) है जैसे आश्रमस्थान तपस्विनियों-संन्यासिनियों-से प्रचुर होता है । जो श्रीमहादेव की जटा-अन्ध-सरीखा चन्द्रलेखा-

मिव तपस्वितोप्रचुरम्, धूर्जटिजटाजूटमिव चन्द्रलेखाध्यासितम्, युगप्रयावसानमिव कलिपरिगृहीतम्, विदसमिव सार्कमण्डलम्, अनम्बरिवमण्परिमेदः स्फारम्, अमाहेश्वरमपि जातशिवप्रियम्, अवेदवचनमपि गायत्रीसारम्, अकविलोकगणनमपि सकालिदासम्, अप्रथमाश्रममपि ब्रह्मचारिबहुलम्, अस्याद्वादसमयमपि सर्वधर्मावम्,

अध्यामित (वाकुचियों से आश्रित) वपश्चान्तर में चन्द्रकला से सहित) है । जो वैसा कलिपरिगृहीत (विभीतक तरु-बहेड़े के वृक्ष से सहित) है जैसे कृतयुग, त्रेता व द्वापर इन तीन युगों का पर्यन्त भाग कलि-परिगृहीत (दुःखमकाल-सहित) होता है । जो वैसा सार्कमण्डल (अकीआ वृक्षों के वन से व्याप्त) है जैसे दिन सार्कमण्डल (श्रीसूर्यमण्डल-सहित) होता है ।

जो अनम्बरिव (युद्ध-रहित) होकर के भी अरि-मेद-स्फार (शत्रुओं की मेदधातु से प्रचुर) है । यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो युद्ध-रहित होगा, वह शत्रुओं की मेदधातु से प्रचुर कैसे हो सकता है ? उसका परिहार यह है कि जो अनम्बरिव (नृप-रहित) है और निश्चय से अरिमेद (बिट् खदिर वृक्षों) से प्रचुर है । जो अमाहेश्वर (रुद्र-रहित) होकर के भी जातशिवप्रिय (उत्पन्न हुई पार्वती प्रिया वाला) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो रुद्र-रहित होगा, वह पार्वती प्रिया-शाली कैसे हो सकता है ? उसका परिहार यह है कि जो अमा-हि-ईश्वर (निश्चय से लक्ष्मी व स्वामी से रहित) है और निश्चय से जातशिवप्रिय (उत्पन्न हुए तत्विशेष से व्याप्त) है । अथवा—जो अमाहेश्वर (महेश्वर देवता की आराधना न करनेवाला) होकर के भी जात शिवप्रिय (शिवजी से प्यार करनेवाला) है । यह भी विरुद्ध है क्योंकि जो महेश्वर (शिव) देवता का आराधक नहीं है वह शिव से प्यार करनेवाला कैसे हो सकता है ? अब परिहार करते हैं जो, अ + मा + हि ईश्वर अर्थात्—प्रायः करके वन स्वामी-हीन होता है, अतः जिसमें लक्ष्मी व स्वामी नहीं है और निश्चय से जो, जात शिव प्रिय (धतूरी की उत्पत्ति वाला) है । जो अवेदवचन (वेद-वचन से रहित) होकर के भी गायत्रीसार (साठ छन्द-जातियों से सार) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो वेदवचन नहीं है, वह साठ प्रकार की छन्दजातियों से सार कैसे हो सकता है ? उसका परिहार यह है कि जिसमें अवेदों (स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसक वेद-रहित मुनियों) के वचन पाये जाते हैं, क्योंकि मुनिलोक वनवासी होते हैं । एवं निश्चय से जो गायत्रीसार (खदिर वृक्षों से मनोहर) है ।

जो अकविलोकगणन (कवि-समूह की गणना से रहित) होकर के भी सकालिदास (कालिदासकवि-सहित) है । यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो कविलोक की गणन से रहित होगा, वह कालिदास महाकवि-से सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अक-विलोक-गणन है (जिसमें कष्ट के देखने की गणना है) और जो निश्चय से सकालिदास (आश्रतरु-सहित) है । जो अप्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम से रहित) होकर के भी ब्रह्मचारी-बहुल है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो ब्रह्मचर्याश्रम-रहित होगा, वह ब्रह्मचारियों से बहुल कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अप्रथमान-आ—श्रम है, अर्थात्—जिसमें चारों ओर से कष्ट विस्तृत नहीं हो रहा है और जो निश्चय से ब्रह्मचारी-बहुल है (पलाश वृक्षों से प्रचुर है) । जो अस्याद्वाद समय (एकान्त समय) हो करके भी सर्वधर्मान (महावीर तीर्थङ्कर-सहित) है । यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो एकान्तदर्शन होगा, वह चरमतीर्थङ्कर-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अस्याद्वादसमय (शून्य वन होने के कारण जो शब्दावसर-रहित) है और निश्चय से जो सर्वधर्मान (एरण्डवृक्ष-सहित) है ।

१. विलम्बमालोपमालंकारः ।

२. वक्तं च—‘शिवमल्ली पाशुपत एकाष्टीको ब्रुवी वसुः ।’ सं टी० पृ० ११५ से संकलित—सम्पादक

अदिग्गजकुलमपि सवामनम्, अराकाननमपि ससोमम्, अराक्षसक्षेत्रमपि सपूतनम्, अमहानवमीदिनमपि समातूनन्दनम्, असौधतलमपि सनिःश्रेणीकम्, अराजसदनमपि सलेखपत्रम्, अश्वम्बकमपि सत्रिनेत्रम्, असंभलीपाटकमपि सलम्बस्तनीकम्, असमनोकरसिकमपि सकवचम्, अक्षयकालविनमपि नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शनम् ।

जो अदिग्गजकुल (दिग्गजेन्द्रों के समूह से रहित) हो करके भी सवामन (यम-दिग्गज-सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो दिग्गजेन्द्रों के समूह से रहित होगा वह यमदिग्गज-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अ-दिग्गजकुल (जिसमें शब्द-समूह विद्यमान नहीं है, ऐसा है) और निश्चय से जो सवामन (खाये हुए को वसन करानेवाले मदनवृक्ष से सहित) है । जो अराकानन (पूर्णिमा का आनन न) होकर के भी ससोम (चन्द्र-सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो पूर्णिमा का आनन नहीं है, वह चन्द्र-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अ-राकानना (देखी हुई रजःस्वला कन्या से रहित) है और जो निश्चय से ससोम (हरीतकी वृक्ष-सहित) है । जो अराक्षस क्षेत्र (राक्षस-भूमि न) हो करके भी सपूतन (पूतना-नाम की राक्षसी-सहित) है । नहीं परन्तु विरोध है, क्योंकि जो राक्षसों की भूमि नहीं है वह पूतना राक्षसी-सहित कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि जो अर-अक्षस-क्षेत्र है । अर्थात्—जो पहिए की नाभि व नेमि के बीच की लकड़ी एवं धुरी का स्थान नहीं है और निश्चय से सपूतन (हरीतकी-वृक्ष-सहित) है । जो अमहानवमी दिन (महानवमी दिन न) हो करके भी समातूनन्दन (देवियों को आनन्ददायक) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो महानवमी का दिन नहीं है वह चामुण्डा-आदि माताओं को आनन्द-दायक कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अम-हानवमी दिन (रोग व हाहाकार शब्द से व्याप्त अष्टांगों का नवमी रोग) है और निश्चय से जो समातूनन्दन (फरञ्ज-वृक्ष-सहित) है । जो असौधतल (राजमहल का उपरि भाग न) हो करके भी सनिःश्रेणीक (सीढ़ियों से सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो राजसदन का उपरिभाग नहीं है, वह सीढ़ियों-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो असौध-तल (निर्जल-प्रदेश) है और निश्चय से जो सनिःश्रेणीक (खजूर-वृक्षों से सहित) है । जो अराजसदन (राजमहल न) हो करके भी सलेखपत्र (दूतों के लेखपत्र-सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो राजमहल नहीं है, वह दूतादिकों के लेख पत्र से सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अराजसदन (राजाओं के समीचीन जीवन से रहित) है और जो निश्चय से सलेखपत्र (ताड़वृक्षों से सहित) है । जो अश्वम्बक (रुद्र-रहित) हो करके भी सत्रिनेत्र (त्रिलोचन—रुद्र-सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो रुद्र-रहित होगा वह तीन नेत्रों वाला रुद्र कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो अश्वम्बक (अत्रि ऋषि वर्गरह का गमनशील स्थान) नहीं है और निश्चय से जो सत्रिनेत्र (नारियल के वृक्षों से व्याप्त) है । जो असंभलीपाटक (कुट्टिनियों का समूह न) होकर के भी सलम्बस्तनीक (वृद्ध स्त्रियों से सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो कुट्टिनियों का समूह नहीं है, वह वृद्ध स्त्रियों से सहित कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि जो असंभलीपाटक (समीचीन पटलों या तख्तों का चीरने वाला) नहीं है और निश्चय से सलम्बस्तनीक (चिञ्चा वृक्ष-सहित) है । जो असमनोकरसिक (संग्राम में अनुरक्त न) होकर के भी सकवच (बख्तर-सहित) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो संग्राम में अनुरक्त नहीं है, वह बख्तर-धारक कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो असमा-नीका-रसिक (वक्र (टेढ़ी) क्षुद्र नदियों के जल वाला) है और निश्चय से जो सकवच (पर्पटक वृक्ष-सहित) है । जो अक्षयकालदिन (प्रलय काल का दिन न) होकर के भी नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शन (जिसमें दिशा, सूर्य व चन्द्र का दर्शन नहीं देखा गया है) ऐसा है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो प्रलय काल का दिन नहीं है, वह दिशा, सूर्य व चन्द्रादि के न दिखाई

अपि च । क्वचिद्वत्तुण्डकुटुम्बिनीतपनवापलप्युतोच्चिसिङ्गावधपवञ्चनसंरधध्यावमुह मध्यागतसहचरीप्रणीत-
फूत्कारकोलाहलकुत्कीलकुञ्जकुहरम्, क्वचिन्नुपलम्बाप्रलग्नस्तम्बविलम्बमानजानकोत्त्रासितहरिणप्रयाणभरभोतमल्लूकनिक-
रम्, क्वचिदनेकनाकुनिर्गतनिर्मोकालोकनकुपितकलापिनोरोतखरनखरमुल्लादलित्यमानमेविनीयवनम्, क्वचिद्वनवरतमुगमार्ग-
मार्गणधमध्यान्तविलातवेल्लिकोष्पलुञ्चितधुरीवारिवीक्षणतुरतरधुचक्षुर्वलंक्ष्यनगनिम्नगापुलिनम्, क्वचिद्वामरिकनिकाय-
सायकविद्धवृद्धवराहविरसविरसितस्त्रवक्षुरङ्गाङ्गनागर्भनिर्भरम्, क्वचिदुन्मवमहिषमण्डसारस्थरणविषाणसंघट्टोच्छलत्कु-
ल्लिङ्गसङ्गशीर्यभाणामाप्रपल्लवभरम्, क्वचिद्विपसपतनपावपाटितेभकुम्भस्थलोत्प्रवाहवहल्लोहितविधोयमानविष्यच्छत्राण-
मणिदण्डध्वरम्, क्वचिद्विचिच्छिन्नविहारवानरनिकरविकीर्यमाणनीडक्रोडोड्डोनाण्डजच्छवच्छत्रास्वरम्, क्वचिदंभकवानोक-
हप्रकाण्डमण्डलीक्रोडोड्डमरडाकिनीकरालितोत्सर्गम्, क्वचिद्वघ्नघ्नकघोरघूत्कारधूप्यंभाणपुराणविटपिकोटप्रसूतवायसौवर्गम्,
क्वचिद्वलवद्वलालोन्मूलितद्रुमलाकुलकलभप्रचारम्, क्वचिच्छिलोच्छयनिकुञ्जकुञ्जरभज्यमामकुञ्जराजिकूजितजरत्नञ्ज-
नममस्कारम्, क्वचिच्चित्रककुलाघ्रातपृषतसूरस्रग्धमामकडलीप्रवालान्तरङ्गम्, क्वचिद्वनन्यसामान्योव्यानुवृत्तवद्वद्वकु-

देने वाले दर्शनवाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो अक्षयकालदिन (जिसमें जरा भी कहीं पर क्षय करनेवाले सिंह, व्याघ्रादिकों का अवसर नहीं है और निश्चय से नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शन) सबन होने के कारण जिसमें पूर्वादि दिशाएँ नहीं जानी जाती एवं चन्द्र-सूर्यादि भी दिखाई नहीं देते, ऐसा है ।^१

तथा च—किसी स्थान पर जिस पर्वत की लताओं से आच्छादित प्रदेश वाली गुफा का मध्यभाग ऐसी व्याध-कामिनियों से किये हुए फूत्कार से अव्यक्त वाचालित है, जो कि तोतों की प्राणवल्लभाओं (मैनाओं) के मुख की धपलता से नीचे गिरे हुए दाडिम फलों की रक्षा के ग्रहण में प्रारम्भ किये हुए व्याध-युद्ध के मध्य युद्धनिवारण के लिए प्रविष्ट हुई थीं । किसी स्थान पर जहाँ पर शृगाल-समूह विस्तृत लताओं की बाहियों में बिलम्ब करते हुए जंगली बिलों अथवा वानरों द्वारा भयभीत कराये गये मृगों के पलायन (भागने) के अतिशय से भयभीत किया गया है । जहाँ पर पृथिवी का अग्रभाग बहुत सी कामियों से निकली हुई सापों की काँचलियों के दर्शन से कुपित हुए मयूरी के वच्चों के व्रणयुक्त नखों व चोचों द्वारा विदीर्ण किया जा रहा है ।^२ किसी स्थान पर, जहाँपर निरन्तर मृगों के मार्ग की खोज करने से उत्पन्न हुए कष्ट से दुःखित हुए भोल-वालकों से चुण्टन की गई रेत की बावड़ियों के जल को देखने से व्याकुल हुए जंगली कुत्तों के द्वारा पर्वत की नदियों का बालुकाद्वीप प्रविष्ट करने के लिये अशक्य है । किसी स्थान पर जो चौर-समूह के बाणों द्वारा ताड़ित हुए वृद्ध शूकरो के कर्कश शब्दों से गिरते हुए हिरणियों के गर्भों से व्याप्त है ।

किसी स्थान पर, जहाँ पर मदोन्मत्त भैंसा-समूह से किये हुए युद्ध में सींगों के प्रहार द्वारा उछलते हुए अग्नि-कणों के संगम से वृक्षों का उपरितन प्रवाल-समूह विध्वंस किया जा रहा है । किसी स्थल पर सिंह के चरणों (पञ्जों) द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथी के गण्डस्थल से लव्ध प्रवाह रूप से उछलते हुए रुधिर से, जहाँ पर आकाशरूपी छत्र के लाल रत्नमयी दण्ड का विस्तार किया जा रहा है । किसी स्थान पर, निरन्तर पर्यटन करने वाली वानर-श्रेणी द्वारा निकाले जा रहे या उड़ाये जा रहे घोंसलों के मध्यभाग से उड़े हुए पक्षियों के पंखों से जहाँ पर आकाश व्याप्त हो रहा है । किसी स्थान पर विशेष ऊँचे वृक्ष-समूहों की श्रेणी पर क्रीडा से भयानक डाकिनियों से जहाँ पर सृष्टि भयङ्कर की गई है । किसी स्थान पर प्रचुर उल्लुओं के शब्द-विशेषों द्वारा घूप्यमान (हिलाये जानेवाले) जीर्ण वृक्षों की कोटरों में काकिनियों का समूह, जहाँ पर प्रसूति

जिह्वाबलिह्वमानमृगतृष्णिकतरङ्गम्, पञ्चविप्रचण्डगण्डकदम्बविवायमाणसहरविरहुरीक्षवृक्षानीकम्, बवचिभिःशाल्यशल्लक-
शलाकाजालकीरुपमानरत्नकलोकलोकम्, एवमपरैरपि सत्स्वरनायकावकाशदेशमिव बाध्यमानपरस्परजीवितम् ।

यत्र च बल्लवोऽपि भृगावनीप्रायाः, वीरवीर्याऽपि व्याघ्रीसमदर्शनाः, तरवोऽपि निस्त्रिशपत्त्रसमालोकाः, तृणान्यपि
विषाणीव धाणादेव मनोमोहनकराणि । किं च ।

यदग्निनोद्गमस्फूलस्तवकाभोगसंगमम् । सिंहशावकुलाकीर्णं महानीलनगोपमम् ॥२०॥

धत्ते पट्टिकिराकीर्णकुट्सलाविलसूचयम् । करिर्वरिप्रभिन्नेभकुम्भमुक्ताकसन्धियम् ॥२१॥

प्राप्त कर रहा है । किसी स्थान पर प्रचण्ड वायु से उखाड़े हुए वृक्ष समूह द्वारा व्याकुलित हुए हाथियों के
बच्चों का, जहाँ पर पर्यटन पाया जाता है । किसी स्थान पर, पर्वतों के लताओं से आच्छादित प्रदेशों पर
हाथियों द्वारा तोड़ी जानेवाली वृक्षश्रेणी पर वर्तमान पक्षियों की ध्वनि से जहाँ पर जरा-जीर्ण खजुरोटों के
चित्त का विस्तार हो रहा है ।

किसी स्थल पर व्याघ्रविशेषों के समूह द्वारा दाँतों से पकड़े हुए मृगों के खुरों से, जहाँ पर कदलियों
(मृगविशेषों) के प्रवालों (प्रकृष्ट बच्चों) का भन, अथवा लघु वृक्षों के पल्लवों का मध्य भाग खण्डित (चूर-
चूर) किया जा रहा है । किसी स्थान पर विशेष प्यास से पीड़ित होने के कारण दौड़ते हुए मृगों की जिह्वाओं
से जहाँ पर मृगतृष्णा की तरङ्गें चाटी जा रही हैं । किसी स्थान पर विशेष शक्तिशाली गेंडों के मुखों से
विदीर्ण किये जा रहे मृगों के रुधिरों से जहाँ पर वृक्ष-समूह दुःख से भी देखने के लिये अशक्य है । किसी स्थान
पर निर्भय सैहियों की शलाका-श्रेणियों द्वारा जहाँ पर मृगविशेषों के विश्वलोक (समूह) घायल किये जा रहे हैं ।

इसी प्रकार दूसरे हिंसक प्राणियों द्वारा जहाँ पर परस्पर का जीवन, वैसा घात किया जा रहा है जैसे
राजा से दून्य देश में प्राणियों द्वारा परस्पर का जीवन घात किया जाता है । जहाँ पर लताएँ भी मृगादनीप्रायाः
(लताविशेषों की प्रचुरता से युक्त) हैं । एवं दूसरा अर्थ—जहाँ पर मृगादनी (मृगों का भक्षण करने वाली
बहेलियों की स्त्रियाँ) बहुलता से पाई जाती हैं । जहाँ पर लताएँ भी व्याघ्री-समदर्शन (बृहती—भटकटैया
(कटेहली) सरोखी दर्शनवाली) हैं । अथवा व्याघ्रीसमदर्शन (चीते की माँदा-सरोखे दर्शनवाली) है । जहाँ
पर वृक्ष भी निस्त्रिशपत्त्रसमालोक (सेहण्ड वृक्षों के दर्शन वाले) हैं अथवा निस्त्रिशपत्त्रसमालोक
(निर्दयवाहन जीवों—सिंह व शूकर-आदि के दर्शन वाले) हैं । एवं जहाँ पर तृण (घास) भी विष-सरोखे
गन्ध-ग्रहण करने मात्र से चित्त में अचेतनता उत्पन्न करते हैं । अब उक्त वन का विशेष वर्णन करते हैं—

जो मुख्य और विवाल पुष्पों के गुच्छों को परिपूर्णता का संगम वाला है एवं जो सिंहों के बालक-
समूह से व्याप्त है तथा जो महानील पर्वत-सरोखा है ॥२०॥ जो (वन) पक्षियों से गिरी हुई पुष्प-कलियों से
व्याप्त हुए भूमिभाग को धारण करता है और सिंहों द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथियों के गण्डस्थलों की मोतियों
की श्रेणी की शोभा को धारण करता है ॥२१॥

विशेष वर्णन—जो समस्त अटवी ब्रह्माजिह्मितमण्डला (ब्रह्मा से अवक्र प्रदेश वाली) होकर के भी
सव्याधा (बहेलियों-सहित) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है । क्योंकि जो श्री ब्रह्मा द्वारा अवक्रप्रदेश
वाली होगी, वह बहेलियों से व्याप्त कैसे हो सकती है ? इसका परिहार यह है कि जो ब्रह्मा-आ-जिह्मितमण्डला

अपि च । ब्रह्माजिह्मिमतमण्डला हरिकुलव्यालोलशीलस्थली स्थाणुस्थानविसंस्थुलापि समभूच्चित्रं तथापीवृक्षो ।

सव्याधा समधूत्सवा समदनोत्सर्गा च सर्वाटवो को नामव्यविहासलः सह खल्लवंतो यदेवामपि ॥२२॥

तत्र चित्तचिकित्साणककलोचनायां बाह्यमवगाहमध्यमावस्थानायाभेगान्वेषणधियणनिवापटिपत्तंवायप्रभाव-
स्सखलमखरसेवखञ्जाखिलकुरायाभनेकमृगशृङ्गसंघट्टोन्मूलोमतया निस्त्रिंशतिशतशानाकारायाभिव पर्यतरतनुपुष्पतया
तथाविद्येनैव पृथगेन गर्भावासविषयतां भीतः, पुनरकाण्डचण्डतडिदण्डसंघट्टमयप्रभावापरिपूर्णविषय एव प्रसवसमये
सव्यात्मलाभमात्रः, सविभ्याः शून्यस्तग्यस्तनतयानुपधास्ताशनाशयः, शब्दाङ्कुरेषु च वृष्टिमलभमानः, पवनाशनाशनाश्वया-
शयतया शक्रशिरःप्रदेशान्विवाणमण्डलेनोच्चिन्ननिष्ठः,

(पलाश वृक्षों से चारों ओर विषम प्रदेश वाली) है एवं जो निश्चय से सव्याधा (बहेलियों से व्याप्त) है ।
जो हरिकुलव्यालोलशीलस्थली (यादववंश से मनोज रेवत पर्वतस्थली) होकर के भी समधूत्सवा (मधुदेव के
उत्सव-सहित) है । यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो यादववंश से मनोज रेवतपर्वत-स्थली होगी, वह मधुदेव के
उत्सव से व्याप्त कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि जो हरिकुलव्यालोलशीलस्थली (सिंह-ममूहों से
चञ्चल पर्वत स्थल-शालिनी) है और निश्चय से जो समधूत्सवा (मधु (सहद या वसन्त) के उत्सव वाली है ।
जो स्थाणुस्थानविसंस्थुला (श्री महादेव के निवास से शिथिल) हो करके भी समदनोत्सर्गा (कामदेव की सृष्टि-
सहित) है, यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो श्री महादेव की स्थिति से शिथिल होगी वह कन्दर्प की सृष्टि-सहित
कैसे हो सकती है ? क्योंकि कन्दर्प (कामदेव) तो श्रीमहादेव जो द्वारा पूर्व में भस्म कर दिया गया था,
इसका समाधान यह है कि जो स्थाणुस्थानविसंस्थुला (स्थाणुओं—टूठ वृक्षों की स्थिति से व्याप्त) है और
निश्चय से जो समदनोत्सर्गा (आठ वृक्षों की सृष्टि-सहित) है । अब उक्त बात को 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार से
पुष्ट करते हैं । इस संसार में इसप्रकार कौन पुरुष खल्लोका (दुष्टलोक) से रहित है ? क्योंकि जब इन ब्रह्मा,
विष्णु व महेश्वर का भी दुष्टों (बहेलियों-आदि) के साथ निवास वर्तमान है ॥२२॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज ! उस पूर्वोक्त वन में मैं (यशोधर का जीव) मयूरपर्याय के
बाद विशेष कठिन शरीरवाली सेही (सेही की स्त्री) के गर्भावास में वैसा ही कठिन शरीरवाला,
लँगड़ा व रगड़े हुए हुए शाला सेही रूप से आया । मैं, कैसी सेहिनी के गर्भावास में आया ? जो दुषित
व निन्द्य केवल एक ही नेत्रवाली (कानी) थी । जो विशेष संकीर्ण उदरस्थान प्राप्त करने वाली थी । मुँगों की
अन्वेषण बुद्धि से निकट दौड़नेवाले बहेलियों के समूह से गमन-भङ्ग के कारण उत्पन्न हुए विशेष कण्ट से
जिसके चारों ओर लँगड़े हो गए हैं । अनेक मृग-शृङ्गों की टक्कर से रगड़े गए तैयों के कारण जिसकी आकृति
खड्ग को तीक्ष्ण करनेवाले शान-सरीखी (कर्कश शरीर वाली) थी । हे राजन् ! फिर मयूर-मरण के बाद
उत्पन्न हुआ मैं (यशोधर का जीव—सेही) बिना अवसर के (वर्षाकाल के बिना भी) विशेष शक्तिशाली
बिजली दंड की टक्कर से उत्पन्न हुए भय के प्रभाव से थोड़े हो महीनों में उत्पन्न हुए प्रसवकाल में केवल
अपना शरीरलाभ ही कर सका । अर्थात्—एक दिन में ही मर गया क्योंकि मेरी माता सेहिनी का स्तन
दुग्ध-शून्य होने से मेरी भोजन की इच्छा शान्त नहीं होती थी (मैं भूखा ही रहता था) । छोटी-छोटी हरी
घास से तृप्त न होकर मैं सर्पों के भक्षण के चित्त का अभिप्राय वाला होने से दन्तश्रेणी से बाँसी के शिखर-

१. यथासंख्यापन्तिरन्यासालंकारः ।

नोट—उक्त काव्य में विरोधाभास अलंकार भी है ।

—सम्पादक

अन्यत्र कुशले जन्तुर्यत्सुखं दुःखमेव वा । तदुपलब्धीजवत्क्षेत्रे भूयः फलवतात्मनि ॥२३॥

इति न्यायाद्यथाहं पुरा जन्मनि शिलावलयपर्यायस्तेनाग्निजन्मना स्वकीयवृद्धाककवकवर्धमानतां नीतस्तथैनमपि कृष्णत्वं शनैरिव, कुटिलतां स्त्रीन्यः, क्रौर्यं कृतान्तात्, वृषविध्वंसबुद्धिमसुरेभ्यः, विषाश्रयत्वं जलघोः, विजितप्रियत्वं यातु-
धातेभ्यः, परोपद्रव्यं च दुर्जनेभ्यः समादायासादितसरीरुपाकारं वामरूरविषरप्रविष्टार्धशरीरं वलादाकृत्य पुरीतरप्रतानमिव
मेघिनीकुरङ्गिकायाः, लाङ्गूलमिव महीसंहिकामाः, मूलनिवानन्तालतायाः, मृणालमिव भूमिकमलिन्याः, वेणिवध्कमिव
समारासस्याः, पौनःपुन्यप्रवृत्तोत्कणप्रहारजर्जरितवदनमुत्कृत्यमानमिवासृग्धरायाम्, उच्छ्वसन्तमिव क्षतजेषु, स्फुरन्तमिव
तरसेषु, नृदघ्नन्तमिव सिरासु, स्फुटन्तमिवास्थिषु, विवर्तमानमिवाश्रेषु, समीपतरकवम्बस्तम्बशायिना प्रवसन्ताङ्गलकवला-
विलगलगुहाघोरघुरघुरारवप्रतिबोधितेन गतमेव श्लोकं तत्रैव जन्मनि सफल्यता तदधुना भक्ष्यमाणस्तेन पृथवाकुना सम-
काशमेवाहं परामुरभघम् ।

प्रदेशों को खोदने का इच्छुक था । 'यह जीव, दूसरे प्राणी में जो कुछ भी सुख अथवा दुःख उत्पन्न करता है, वह सुख व दुःख अपने जीव में वैसा प्रचुर फल देनेवाला (अधिक सुख-दुःख देनेवाला) होता है जैसे खेत में बोया हुआ बीज प्रचुर फल देनेवाला होता है' ॥२३॥

इस न्याय से जैसे पूर्वजन्म (मोर की पर्याय) में मयूर-पर्याय के धारक मुझे उस चन्द्रमति के जीव कुत्ते ने अपनी दाढ़रूपी आरा से मार डाला था वैसे ही मैंने (यशोधर के जीव सेही ने) इस चन्द्रमति के जीव सर्प को भी अपनी दाढ़रूपी आरा से मृत्यु में प्राप्त किया (मार डाला) । कैसे चन्द्रमति के जीव सर्प को मैंने मारा ? जिसने मानों—शनि नामक ग्रह से कृष्णता (कालापन), स्त्रियों से कुटिलता (वकता) व यम से क्रूरता प्राप्त करके सर्प की आकृति प्राप्त की थी । जिसने असुरों से वृष-विध्वंसबुद्धि (मूषिक-विनाश-बुद्धि पक्षान्तर में धर्म-नष्ट करने की बुद्धि) को ग्रहण करके सर्पाकार प्राप्त किया था । जिसने समुद्र से विषाश्रयत्व (सुख में जहर को सुरक्षित करना पक्षान्तर में विष का स्थान) प्राप्त करके सर्पाकार प्राप्त किया था । जिसने राक्षसों से मांसप्रियता और दुर्जनों से परोपद्रव (दूसरों को दुःख उत्पन्न करना) प्राप्त करके सर्प की आकृति प्राप्त की थी । जिसका अर्धशरीर बाँगी के मध्य में प्रविष्ट हुआ था । जो मानों—पृथिवीरूपी हिरणी को नसों की श्रेणी ही है । अथवा लोकभक्षक होने से मानों—पृथिवीरूपी सिंहनी की पूँछ ही है । अथवा—मानों—पृथिवीरूपी लता का मूल ही है । अथवा मानों—पृथिवीरूपी कमलिनी का मृणाल ही है । अथवा मानों—पृथिवीरूपी राक्षसी को गुँथी हुई केशयष्टि ही है । ऐसे साँप को मैंने (यशोधर के जीव सेही ने) बाँगी से जवर्दस्ती खींच कर मार डाला । जिसका मुख बार-बार उत्पन्न हुए उन्नत फणों के आघातों से जर्जरित (क्षीण) हो गया है । जो अपनी त्वचा के विषय में फाड़ा जा रहा सरोखा एवं खून के विषय में ऊपर उछलता हुआ-सा, मांस के विषय में चमत्कार करता हुआ-सा तथा सिराओं के विषय में टूटता हुआ-जैसा, तथा हड्डियों के बारे में कट-कट शब्द के समान आचरण करता हुआ-सा व आँतों के विषय में भीतरी शरीर को बाहिर प्रकट करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था । इसके बाद मुझे (यशोधर के जीव सेही को) प्रस्तुत साँप ने, जो कि पूर्व-कथित श्लोक को उसी जन्म में सत्यता में प्राप्त कर रहा था । जो बाँगी के विशेष समीप में वर्तमान कदम्ब वृक्ष के तने पर शयन कर रहा था एवं जो उत्तम सर्प-मांस के ग्रास से भरी हुई गलेरूपी गुफा के भयानक घुघुर (अव्यक्त) शब्द द्वारा जमाया गया था, भक्षण कर लिया । उसी साँप के साथ मैं (सेही) एक समय में ही काल-कवलित हुआ । अर्थात्—हम दोनों (यशोधर का जीव-सेही व चन्द्रमती का जीव साँप) काल-कवलित हुए । अर्थात्—मैंने साँप को खाया और साँप ने मुझे खाया ।

पुनरहो कविलोकपञ्चजविकासभास्कर, सौजन्यरत्नाकर, अस्ति कलु तेष्वेव त्रिविधनिवासोचितकिंवदन्तीषु अवन्तीषु इन्द्रभणिमेखलेव पद्मावतीविलासिन्याः, अलकेलिदीप्तिकेव मालवाधनीपालविलासिनोनाम्, निरयोत्सविपताकेव भुजङ्गलोकस्थ, वरणमालेव मार्गमहीधराणाम्, मुक्तावलीव मेदिनीदेवतायाः, कीर्तिर्वज्रमन्तीव प्रभवभूधरस्य, सेकसारिणरिव सिन्धुरत्नाङ्कुशणाम्, शरसृष्टिरिव च जगत्प्रसाधनमतोनां प्रजापतीनाम्, भोगवतीव पद्माधिष्ठिता भुजङ्गलोकोचिता च, राज्यलक्ष्मीरिव कुवलयोपगता द्विजभोगभूता च, कामनभोरिव संवरप्रचुरा मुनिजनगोचरा च, सीतेव लक्ष्मणानुगता रामान्विता च, भारतकथेव धृतराष्ट्रावसाना जातव्यासाधिष्ठाना च, आरूपजितमूर्तिरिव कान्तावलोकना प्रसाधितबलिसंताना च, सुधासृष्टिरिव कुमुदावहा विहितदेवमहा च, विपणिबीधिरिव सौगन्धिकावसथा ग्राहकमठपतिसनाथा च, सकल-कलोलकलशाभिषेकतोषितोपान्ताधमाधयविप्रा सिप्रा नाम मयी ।

इसके बाद (सेही व सर्प-भवं के वर्णन के बाद) कवि-समूह रूपी कमलों को विकसित करने के लिए श्री-सूर्य-सरीखे एवं परोपकाररूपी अमूल्य माणिक्य की खानि ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! देवों के योग्य वृत्तान्त वाले उन पूर्वोक्त अवन्ति देशों में ऐसी 'सिप्रा' नाम की नदी है । जो ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—उज्जयिनी नगरीरूपी कमनीय कामिनी की चन्द्रकान्त भणि की मेखला (करघोनी) ही है । मानों—मालवदेश संबंधी राजाओं की रानियों की जलक्रीड़ा करने की बावड़ी ही है । मानों—पाताललोक संबंधी नित्य महोत्सवों की पताका ही है । मानों—मार्गपर्वतों की बरमाला ही है । मानों—पृथिवीरूपी देवता की मोतियों की माला ही है । मानों—इसको (सिप्रा को) उत्पन्न करनेवाले पर्वत की कीर्तिपताका ही है । जो मानों—समुद्र संबंधी रत्नाङ्कुरों को सिञ्चन करने वाली कृत्रिम नदी ही है । मानों—पृथिवीमण्डल की व्यवस्था करने की बुद्धिवाले राजाओं की बाण-सृष्टि ही है । जो वैसी पद्माधिष्ठित (कमल-मण्डित) व भुजङ्गलोकोचित (कामी पुरुष-समूह के योग्य) है जैसे अहिपुरी (नागलोक) पद्माधिष्ठित (पद्म नाम की नागदेवता से युक्त) व भुजङ्गलोकोचित (सर्प-समूह के योग्य) होती है । जो वैसी कुवलयोपगता (चन्द्रविकासी कमलों से मण्डित) एवं द्विजभोगभूता (पक्षियों के भोगने योग्य) है जैसे राज्यलक्ष्मी कुवलयोपगता (पृथिवीमण्डल-मण्डित) एवं द्विजभोगभूता (ब्राह्मणों की भोगभूत) होती है । जो वैसी संवर-प्रचुर (जल-बहुल) व मुनिजनगोचर (तापमपक्षी-युक्त) है जैसे वनलक्ष्मी संवरप्रचुर (शृंगतरु-सहित मृग-आदि चतुष्पद जीवों से बहुल अथवा आश्रय-निरोध-सहित) तथा मुनिजनगोचर (दिगम्बर साधुओं के गोचर) होती है । जो वैसी लक्ष्मणानुगत (सारस पंक्ति-सहित) व रामानन्दित (स्त्रियों को आनन्दित करने वाली) है जैसे सीता (जनक राजा की पुत्री), लक्ष्मणानुगत (लक्ष्मण से अनुगत) व रामानन्दित (श्रीरामचन्द्र से आलहादित) होती है । जो वैसी धृतराष्ट्रावसाना (दोनों तटों पर हंसों वाली) एवं जातव्यासाधिष्ठाना (विस्तार के मूल को उत्पन्न करने वाली) है जैसी भारतकथा (महाभारत शास्त्र) धृतराष्ट्रावसाना (धृतराष्ट्र के मरण वाली) एवं जातव्यासाधिष्ठाना (व्यास से उत्पन्न हुए पीठबन्धवाली) होती है । जो वैसी कान्तावलोकना (मनोहर दर्शनवाली) व प्रसाधितबलिसंतान (पूर्ण किये हुए पूजासमूह वाली) है जैसी चन्द्र-मूर्ति कान्तावलोकन (सुन्दरियों के दर्शन-सहित) और प्रसाधितबलिसंतान (बलि नाम के दानवविशेष को त्रश में करनेवाली) होती है । जो वैसी कुमुदावहा (श्वेत कमलधारिणी) व विहिता देवमहा (वि-हिता-पक्षियों के लिए हित करनेवाली) और देवमहा, (राजाओं के उत्सववाली) है जैसी अमृतसृष्टि कुमुदावहा (पृथिवी में हर्ष उत्पन्न करनेवाली) व विहितदेवमहा (जिसमें देवों की पूजा उत्पन्न की गई है) होती है । जो वैसी सौगन्धिकावसथा (लालकमलों व कल्लारों (कमलों) के निवास-युक्त) है एवं ग्राहकमठ-पति-सनाथा (ग्राह (मकर-आदि), कमठ (कछुओं) . एवं पक्षियों से सहित) है जैसी दुकानों की श्रेणी सौगन्धिकावसथा (सुगन्धि वस्तु वैचनेवालों के स्थान-वाली) व ग्राहक-

यत्र मदीमुत्तमरत्नकुलकामिनीचरणधारधलद्विकचकञ्जकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरतरङ्गम्, अखर्वगर्ववार्धघाटपेट-
कपर्यटनलुण्ठधमालपुटकिनीपुटपटलाभतरङ्गम्, उत्तरलतरतरकारण्डील्लण्डतुण्डकाण्डलण्डधमानसरदण्डदलोत्तलसरल्लो-
लम्, अनेकमल्लिकाक्षकुटुम्बिनीकम्बचुम्ब्यमानजम्बालजालजटिलजलवेधताडोलम्, अनवरतरतिकलहमोदमेकुरभिधुनचर-
पतङ्गपक्षजपलोच्छलच्छीकरासारसिध्दमानतीरतश्निकरम्, अन्योन्यापघनघनाघट्टकुपितकुम्भोरभयभाभ्यत्ककुम्भकूटकार-
मुखरम्, अवाचाटवकोटचेष्टितचकितकमलमूलतिलोयमानपोताघानम्, अम्बुसहकुहरविहरबवहारविहितवैखानसकुसुमो-
च्छन्नविधानम्, ज्वीर्णदपंशीवितुमुलकलिकोलाह्लाबलोकमूकमूकलोकम्, उग्मसमकरकरास्फालनोत्तालनहरिकोताशि-
तारविग्धकन्वरद्वन्द्वनकरन्वेबिन्दुचन्द्रकायचयचटुलघञ्चरीकमेचकवीचिकानीकम्, उक्षामोदकद्विपवशनवश्यमानमृणालिनी-
सकलसारप्रसरम्, अतुच्छकच्छपावक्षीवमूर्च्छंताडोनपृष्ठपौडीलुठुदण्डविण्डीरविण्डशिखण्डिततटिनीनिकटकर्करम्, उपान्त-
संकतोल्लोलवालोधिहारवाचालवारलम्, अधूरजकुञ्जकुञ्जकुलायकोडत्कुररकूजितबहलम्, अमृतस्रोत इव सुखस्पर्शाधवातम्,

मठपति-सनाथा (मुगन्धिवस्तु खरीदनेवाले गृहस्थों से सहित) होती है और जिसके द्वारा पुष्प-सहित तरङ्ग-
रूपी कलशों के अभिषेक से नदी के समीपवर्ती गृहों में आश्रित हुए ब्राह्मण हविष्य किये गये हैं ।

प्रसङ्गानुवाद—जिस सिन्धु नदी में जलक्रीडा के अवसरों पर नगर की स्त्री-समूह से मोतियों के चूर्ण-
समूह सरीखा स्वच्छ जल वैसा उत्कलिकाओं (तरङ्गों) से अनच्छ (मलिन) किया जाता है जैसे अहिर्निमो-
श्री का हृदय उत्कलिकाओं (उत्कण्ठाओं) से अनच्छ (व्याकुलित) होता है । कैसा जल मलिन किया
जाता है ?

जिसकी तरङ्गें मदको प्राप्त हुई हंसिनियों के चरण-संचारों से हिलते हुए विकसित कमलों की केसर
श्रेणी से पीत-रक्त हुई हैं । जिसमें ऐसी कमलिनियों के पुटसमूहों का मध्य वर्तमान है, जो कि दीर्घतर गर्व करने-
वाली सारस-श्रेणी के पर्यटन (संचरण) से हिलाई डुलाई जा रहीं थीं । विशेष चञ्चल व तैरते हुए चकवा
पक्षियों की चोंचोंरूपी वाणों द्वारा खंड-खंड किये जानेवाले कमल-पत्तों के साथ जहाँपर तरङ्गें उछलती हुई
शोभायमान होरहीं हैं । जहाँपर जलदेवताओं के लूले बहुत से हंसविशेषों की कामिनियों के समूह द्वारा चोंचों
से छुए जा रहे शैवाल-समूहों से कर्बुरित (रंग-विरङ्गे) हो रहे हैं । निरन्तर रतियुद्ध से उत्पन्न हुए हर्ष से
स्नेह-सहित चकवा-चकवी पक्षियों के पक्षों की चपलता से ऊपर उछलते हुए जलबिन्दुओं की श्रेणी द्वारा जहाँ-
पर तटवर्ती वृक्ष-समूह सींचे जा रहे हैं । जो परस्पर शरीरों की टक्कर से कुपित हुए मकरों के भय से भयभीत
किये जानेवाले वालकुर्कुटों के अव्यक्त शब्दों (धाँध देने) से बाचालित हो रहा है । जहाँपर कमल-मूलों में प्रवेश
करनेवाली क्षुद्र मछलियों का समूह मीनी बगुलो के व्यापारों से भयभीत हुआ है । कमलों के मध्य पर पर्यटन
करनेवाले जलव्यालों (ग्राहों) से जहाँपर तपस्वियों की कमल-चूण्डन-विधि विघ्न-युक्त की गई है । उत्कट
मद करनेवाले जलसर्पों के रोद्रीयुद्ध संबंधी कोलाहल के देखने से जहाँपर मेंढकों का समूह मूक हो गया है ।
जिसमें तरङ्ग-श्रेणी ऐसे भीरों द्वारा ध्यामलित हुई है, जो कि विशेष मद को प्राप्त हुए जलहाथियों के क्षुण्ड-
दण्डों के संचालन से विशेष वेग वाली तरङ्गों से कम्पित हुए कमल-कोशों से झरते हुए मकरन्द- (पुष्परस)
बिन्दुओं के चन्द्राकार-मण्डल के संचय करने में चञ्चल हो रहे थे । जिसमें कमलिनियों के समस्त विस्तृत
कन्द शक्तिशाली जलहाथियों के दाँतों से चाबे जा रहे हैं । (चट्टान-सरीखे) महान् कल्लुओं के फड़फड़ाने से
कुपित होनेवाले महामच्छों की प्रशस्त पीठों पर लोट-पोट करती हुई प्रचण्ड फेनराशियों से जिसने नदियों के
दोनों तट के समीपवर्ती पर्वत-शिखर मुकुट वाले किये हैं । निकटवर्ती बालुकामय प्रदेशों पर वर्तमान चञ्चल
तरङ्गों पर पर्यटन करने से जहाँपर हंसिनियाँ बाचालित हो रही हैं । जो निकटवर्ती वृक्षों के लतापिहित प्रदेशों

आमलकशिलातलमिव स्वच्छकलम्, इन्दुमणिनिःस्यन्वनमिव सुभगावलोकनम्, शव्यमं ज्योतिरिव जनितजगरप्रणयम्, अलक-
बलरीतरङ्गभङ्गिभिर्बनारयिवाभोवद्विभेभुजलताबानीरसंततिभिः कुचकोकमिथुनमनोहरैर्बलिवङ्कुलघल्लोविकासिभि-
र्नाभिमण्डलावर्तीवास्तनितम्बपुलिनस्थलश्लाधिभिरुकरिमकरकराभोगहृदयंगमैः पावनलमयूषकेनस्फीतः प्रतिनदीप्रवाहै-
रिव नगराङ्गनानिबहेर्लसकोडावसरेषु विरहिणीहृदयमिवोत्कलिकाविलोदयं क्रियते मुक्ताफलवृत्तिजयः पयः । अपि च ।

करिमकरमुखोद्गोणे मस्यामणः पुनः पतद्भाति । सुरमिथुनकलहविगलितमुक्ताफलभूषणभ्रान्ति ॥२४॥
जलवेदीकरयन्त्रकपरिष्ठाद्यत्र धारि विक्षिप्तम् । कुवणंघण्टवीप्ति वधाति विवदातपत्रस्य ॥२५॥
घट्चरणवलितजलरुहमकरस्थस्यन्वविन्दुकन्दलितम् । यस्याः पायः प्रलययति धूसुणमति पौरलोकस्य ॥२६॥
धवलकलहंसवालकपरिप्लुतः घट्पदोद्भुजे भाति । यस्यां धर्मभयादिव पलायमानोऽधसंघातः ॥२७॥
मध्यमधूलुब्धमधुकरकुलमाण्डं पुण्डरीकमुदण्डम् । हरति हरिन्मणिकलदां सितातपत्रादियं यत्र ॥२८॥
उत्गतमकरम्बरजः सिताम्बुजं यत्र मोचमन्थरितम् । उपरिबलधूलिपूसरधवलण्डत्त्रच्छवि क्षुपति ॥२९॥

में स्थित हुए घोंसलों में क्रोडा करनेवाले उत्क्रोश पक्षियों से प्रचुर है । जो अमृतप्रवाह-सरीखा सुखोत्पादक स्पर्श से उज्ज्वल है । जो आमलक—स्फटिक-शिलातल-सा स्वच्छ शरीरवाला है । जिसका दर्शन चन्द्रकान्तमणि की तरलता-सा प्रीतिजनक है । जो केवलज्ञान-सरीखा समस्त लोक को प्रीति-जनक है ।

कैसे नागरिक स्त्री-समूह द्वारा प्रस्तुत सिप्रा नदी का जल मलिन किया जाता है ? जो (नागरिकस्त्री-समूह) दूसरी नदी के पुरों-सरीखे हैं । जिनमें केशलतारूपी तरङ्ग-रचना पाई जाती है । जो मुखरूपी कमलों की सुगन्धि से व्याप्त हैं । जिनमें बाहुल्यारूपी वंतवृक्षों की श्रेणियाँ हैं । जो कुच (स्तन) रूपी चकवा-चकवी के जोड़ों से मनोहर है । जो त्रिवली (उदररेखाएँ) रूपी लताविशेषों से उल्लसन्शील है । जो नाभि-मण्डलरूपी आवर्तों (कूपों) से मनोहर हैं । जिनमें नितम्ब (स्त्रियों की कमर के पृष्ठभाग) रूपी प्रशस्त पुलिन-स्थलों की प्रशंसा वर्तमान है । जो ऊरु (जंघा) रूपी जलहाथी व जलग्राहों के शुण्डादण्डों के विस्तारों से रमणीक हैं एवं जो चरणों के नख-किरणरूपी फेनपुञ्जों से प्रचुर हैं ।

जिस सिप्रा नदी में वर्तमान जल, जो कि जलहाथियों व मकरों के मुखों से उड़ला हुआ व फिर भी आकाश से नीचे गिरता हुआ ऐसा सुशोभित होता है, जिसमें देवों के स्त्री-पुरुषों के जोड़ों (देव-देवियों) की मैथुनकलह से नीचे गिरे हुए मोतियों के आभूषणों की सदृशता वर्तमान है^१ ॥ २४ ॥ जिस सिप्रा नदी में जल-देवी के हस्तरूपी यन्त्रों से आकाश में फँका हुआ जल आकाशरूपी छत्र के चाँदी के दण्ड की शोभा को धारण करता है^२ ॥ २५ ॥ भ्रमरों से कम्पित हुए कमलों की पुष्परस संबंधी धारण-विन्दुओं से व्याप्त हुआ जिस सिप्रा नदी का जल नागरिक लोगों की तरल कुङ्कुम के स्वीकार करने को अभिलाषा को शिथिल करता है^३ ॥ २६ ॥ जिस सिप्रा नदी में कमल में स्थित हुआ और चञ्चल कलहंस शिशु के मुख से उल्ला हुआ भ्रमर धर्म के भय से भागता हुआ पाप-समूह सरीखा शोभायमान होता है^४ ॥ २७ ॥ जिस सिप्रा नदी में पुष्परस में लम्पट हुए भ्रमर-समूह का आवार व जल से बाहिर निकला हुआ श्वेतकमल ऐसी उज्ज्वल छत्र की शोभा को, जिसमें श्याम रत्नमयी कलश वर्तमान है, तिरस्कृत करता है । अर्थात्—कृष्णरत्नों के कलशवाली उज्ज्वल छत्र की शोभा को तिरस्कृत कर रहा है^५ ॥ २८ ॥ जिस सिप्रा नदी में वर्तमान श्वेतकमल, जो कि ऊपर स्थित हुए

१. उपमालंकारः ।

२. रूपकोपमालंकारः ।

३. हेतुलंकारः ।

४. प्रतिबस्तूपमालंकारः ।

५. उपमालंकारः ।

संपन्नपुष्पध्यायं तल्लवेषे यत्र राजसे वारि । उन्मीलितभुजगजगत्सुरलोका लोकदर्पणवृत्ति च ॥३०॥

ईशानदीर्घोचितविभ्रमाणि वंक्षानसावासनिरन्तराणि । नीराणि यस्याः सुरशेखराणि सरिद्धरावारिमनोहराणि ॥३१॥

देवार्चनासङ्गविधौ जनानां यस्यां प्रसूनाञ्जलिगन्धलुब्धः । विनिर्गलत्पूर्वमवाघसङ्घः समन्ततो भाति मधुवतीधः ॥३२॥

यस्याः प्रवाहः सरितः प्रकाशं बलिप्रसूनप्रकराभिरामः । रत्नोत्करापूर्वितसत्प्रवृत्तेर्महाध्वजस्येव तनोति कान्तिम् ॥३३॥

चिलोचिमनिरोक्षणा सितसरोजहासोऽपगा कलङ्कपि ॥३४॥

उपान्तपुलिताननोच्छलितबोधिनादानुगा मनः पुरजनस्य या हरति कामिनीवापगा ॥३५॥

तस्याः प्रभावमालयोजनकेलिसरस्याः सरितो जलक्रीडोत्तालजलदेवताहस्तोवस्तसलिलासारधारासहस्रसंवाहितानेकगणतल-
शतह्रस्वे महाह्रस्वे व्यतिक्रम्य तं पृथतपर्यायोदन्तमसरालशयालुप्रमाणवेहः पुनरहमहो महाराज, रोहिताक्षनामा पृथुरोमा
समभूजम् । यस्मिञ्जलश्रीभारते

कलङ्कया मन्ततौ मयि स्यादुन्मग्नकाये प्रतनुप्रवाहा । स्थिते तिरश्चीनतया च सिन्धुः सा सेतुबन्धधियमावधात ॥३५॥

पुष्परस से व्याप्त पराग वाला है और जो सुगन्धि के भार से नम्रीभूत है, उपरितन भाग पर स्थित हुई चञ्चल
धूलि से धूसरित (ईषत्पाण्डुर) उज्ज्वल छत्र की शोभा को स्पर्श करता है^१ ॥ २९ ॥ जिस सिन्धु नदी में अधः
प्रदेश में स्थित हुआ जल उज्जयिनी नगरी के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होने से ऐसा शोभायमान होता है,
जो प्रकट हुए नागलोक-सा है और जो स्वर्ग नगर के दर्शन के लिए दर्पण-सरीखा है^२ ॥ ३० ॥ जिस सिन्धु नदी
के जल, जो कि गङ्गा नदी के जल-सरोखे मनोहर हैं । जो महादेव के मस्तक पर स्थित होने से जिनकी योग्य
शोभा है । जो तपस्विनों के निवास-स्थानों (गृहों) से अविच्छिन्न हैं और जो देवताओं के मुकुट हैं । अर्थात्—
देवों से मस्तकों पर धारण करने योग्य हैं^३ ॥ ३१ ॥

जिस सिन्धु नदी में देवपूजा के अवसर पर मनुष्यों की पुष्पाञ्जलि की मुगन्धि में लम्पट हुआ भ्रमर-समूह
दूसरे जन्मों का निकलता हुआ पाप-समूह-सा सर्वत्र शोभायमान होता है^४ ॥ ३२ ॥ पूजा-निमित्त [लाए हुए] पुष्प-
समूहों से मनोहर जिस सिन्धु नदी का प्रवाह, गृहवृत्ति (गृह के चारों ओर का स्थान) को रत्न श्रेणियों से
भरनेवाली इन्द्रध्वज पूजा की कान्ति को विशेषरूप से विस्तारित करता है^५ ॥ ३३ ॥ जो सिन्धु नदी कम्पनीय
कामिनी-सरीखी नगरवासी लोगों का चित्त चुराती है । जो मछलीरूपी नेत्रोंवाली है और कामिनी भी मनोज्ञ
नेत्रों से सुशोभित होती है । जो श्वेतकमलरूपी हास्य से उल्लवण (अधिक) है और कामिनी भी हास्य-युक्त
होती है । जो मधुर शब्द करनेवाली हंसनियों की सुशोभित श्रेणी रूपी कटिमेखला (करधोनी) वाली है एवं
कामिनी भी करधोनी से अलङ्कृत होती है । जो समोपवर्ती पुलिन (जल-मध्यवर्ती वालुका द्वीप) रूपी मुख
पर उछली हुई लहरियों के शब्द से अनुगमन करती है और कामिनी भी प्रियतम को प्रमुदित करने के लिए
मञ्जुल गीत गाती है^६ ॥ ३४ ॥

अहो मारिदत्त महाराज ! मैं (यशोधर का जीव सेही) उस पूर्वोक्त सेही की पर्याय व्यतीत करके
आलस्य से व्याप्त हुई मालव देश की कामिनियों की जलक्रीड़ा-के लिए सरसी- (महासरोवर) सी उस सिन्धु
नदी के अगाध जलाशय में, जिसमें जलक्रीड़ा में उत्कट जलदेवताओं के हस्तों से ऊपर फेंके हुए जल-समूह की

१. हेतूपमालंकारः ।

२. हेतूपमालंकारः ।

३. उपमालंकारः ।

४. उपमालंकारः ।

५. दृष्टान्तालंकारः ।

६. स्रग्विणीछन्दः उपमालंकारः ।

सापि मदीयाम्बा कृतकृष्णपन्तगसनुत्पागात्तत्रैव शिशुमारतया जन्मासादयामास । एकदा तु तस्यामेव सीकरासारसारकित-
सकलहुरिति सरिति निदाघवाहदाठणरसेषु शुचिभमाशाखादिवसेषु

भूयस्कण्ठसंस्तकाः सरलितप्रान्तप्रलम्बालकाः शोयत्कज्जललोचनाः परिगलद्गण्डस्थलीचन्दनाः ।

उत्कम्पस्तनमण्डलाः प्रयिलसल्लीलाञ्जकाहाकुलाः क्रीडन्ति स्म पुराङ्गनाः प्रियतर्जरासेव्यमाना इव ॥ ३६ ॥

तत्रैवावसरेऽप्यङ्गोणाशोभकामनिद्रोत्रेकेणानुषङ्गपुच्छाच्छोटनोच्छलदकिञ्चिद्वन्च्छटस्वच्छसलिलकल्लोलकल्पितजल-
वेवसानिकेतकेतुमालेन निजनिखविप्रधावप्रारम्भसंभ्यमानपयस्यां कलशीमिव केनाविलावतंमण्डला कूलवन्ती कुर्वता
प्रतिक्षणसंभ्रूयमाणक्षुब्धानुक्षुब्धनिक्षिप्तकुक्षिकक्षेण नीरेचरत्यक्षयक्षभक्षणाक्षितक्षणेनेव शूलाक्षपतिना तेन चुलुकीसूनुना

हजारों धाराओं से जहाँपर गगन तल में अनेक विजलियाँ उत्पन्न की गई हैं, महान् अजगर-सरीखी देहवाला 'रोहिताक्ष' नामका मच्छ हुआ । रोहिताक्ष नाम के मच्छ के जलक्रीड़ा में रत होनेपर जब मैं (रोहिताक्षमच्छ) सिप्रा नदी में अपना शरीर डुवोता था तब वह सिप्रा नदी अपना तट भेदन-करनेवाली होती थी और जब मेरा (रोहिताक्ष का) शरीर सिप्रा नदी से बाहिर उछलता था तब वह सिप्रा नदी अल्पपूरवाली हो जाती थी, एवं जब मैं उसमें तिरछे रूप से स्थित होता था तब वह पुल-बन्ध की शोभा को आचरण करने लगती है ॥ ३५ ॥

हे मारिदत्त महाराज ! उस मेरी माता चन्द्रमति ने भी धारण की हुई काले साँप की पर्याय छोड़कर उसी सिप्रा नदी के अगाध जलाशय में 'शिशुमार' नाम के भयानक जलजन्तु (मकर-विशेष) का जन्म धारण किया । पुनः एक समय लछले हुए जलकण समूहों से ममस्त दिशाओं को ताराओं से व्याप्त करनेवाली उसी सिप्रा नदी में ज्येष्ठ मास के दिनों में, जिनमें धूप के सन्ताप से भयानक रस पाया जाया है, ऐसी स्त्रियाँ क्रीड़ा करती थीं । जिनके कर्णपूर जलवेग से नीचे गिर रहे हैं । जिनके [मस्तक के] प्रान्तभागों पर वर्तमान लम्बे केश सरल हुए हैं । जो ऐसे नेत्रों वाली हैं, जिनका कज्जल जलवेग से गल रहा है । जिनके सुन्दर गालों को विलेपन रचना चारों ओर से गल रही है । जिनके स्तनमण्डल (कुच-भर) कान्तियुक्त या आनन्द-प्रद हैं । जो शोभायमान लीलावाली कमल-सरीखी भुजाओं से अस्थिर हैं और जो अपने पतियों से सुख क्रीड़ा में भोगी जा-
रहीं कामिनियों-सी शोभायमान हो रही हैं । अर्थात्—जिसप्रकार प्रियतमों द्वारा सुखक्रीड़ा में भोगी जा-
रहीं कामिनियों-सी शोभायमान हो रही हैं । अर्थात्—जिनके कानों के कर्णपूर, कामक्रीड़ा से नीचे गिर रहे हैं, जोर जो सरल केश युक्त, कामक्रीड़ा से निकलते हुए कज्जलों से युक्त नेत्रवाली, सुन्दर गालों पर की हुई चन्दनादि की चित्ररचना से होन, चञ्चल स्तनमण्डलों से सुशोभित एवं नृत्य करती हुई भुजाओं से व्याप्त होती हैं ॥ ३६ ॥

उस नागरिक स्त्रियों की जलक्रीड़ा के अवसर पर उस मकरी-पुत्र मकर ने, जिसकी निद्रा की अवि-
कता मच्छों के लोभ (विशेष चलने) से क्षीण हो गई है । प्रचुर पूँछ के ताड़न से ऊपर उछलते हुए अखण्ड धारा वाले निर्मल जल की तरङ्गों से जिसने जल की अधिष्ठात्री देवताओं के गृहों में उज्ज्वल ध्वजाओं की श्रेणी रची है । जो प्रस्तुत सिप्रा नदी को बेसी फेनों से व्याप्त हुए आवर्तमण्डल (भ्रमण-श्रेणी) वाली कर रहा है उसे अधिमन्थिनी कलशी (जिसमें दही मन्थन किया जाता है, ऐसा अल्प घट) जिसका दही अपने वेमर्षादीभूत वेग-युक्त गति के वेगों से विलोड़न किया जा रहा है, फेनों से व्याप्त हुए आवर्तमण्डलवाली

मां ग्रहीतुं प्रत्यावृत्तेन तामु जलकेलिसक्तस्वान्तामु मध्ये यशोमतिमहाराजमहादेव्याः कञ्जुलिका मदनमञ्जरिका नामाग्राहि ।

ततस्तद्वृत्तागताकर्णनकुपितमतिः स महोपतिराहयाविदेश सकलजलज्यालविलोपमाय वैवस्वतसैन्यसन्निभं-
सश्वरं संवरद्वीधरनिकरम् । ते च कवर्तस्तिदादेशादुत्तररत्नरोस्तानकराधरितक्ष्वेलिताः सत्वरं लघुवृक्षमालाव्यग्रपाणय-
स्तरीतर्णतुवरतरङ्गतरण्डवेडिकोदुपसंपन्नपरिकरास्तां तरङ्गिणीमवतैः ।

उड्डीनाण्डमडिम्भसाकुलभवन्नालोकिनीकामनं कूलोत्तालविलान्तरालवसनग्लानालगर्वाभंकम् ।

प्रायः पङ्क्तिगर्तगर्वरमिलहोलेयबालं मुहुस्तस्त्रोतः कलुषोवसूय विषशग्राहं विगाहत्ततः ॥३७॥

पुनरहमहमिकया तस्तरिस्त्रोतसि तेषु विहितसकलजलचरग्रहणोपायेषु तस्य चौलूकेयस्य यमदंष्ट्राकोटिकुटिलः पपात
गलनाले गजः । तत्संगमान्मम श्वोपरि भ्रमकालचक्रकरालं जालम् । पुनरहमवग्रहणानन्दितमनोभिस्तेभ्यस्त्यवेधिभिरा-

होती है । जिसका उदररूपी वन क्षण-क्षण में तर्तित होती हुई जुगुप्साएली जल से पीड़ित है एवं जिसने
वैसा मच्छों के समस्त पक्ष (पिता, माता व पुत्रादि कुटुम्ब) के भक्षण करने में अवसर प्रारम्भ किया है जैसे
यमराज जीवों के समस्त पक्ष के भक्षण करने में अवसर प्राप्त करता है और जो, मुझ रोहिताक्ष नामके मच्छ को
पकड़कर खाने के निमित्त लौटा हुआ था, ऐसी 'मदनमञ्जरिका' नाम की स्त्री को पकड़ लिया, जो कि जल-
क्रीड़ा में आसक्त चित्तवाली उन नगर की स्त्रियों के मध्य यशोमतिमहाराज की कुसुमावली नाम की महादेवी
की दासी थी ।

इसके बाद 'मदनमञ्जरिका' नामकी दासी के पकड़ने का समाचार सुनने से कुपित वृद्धिवाले यशो-
मति महाराज ने यमराज की सेना-सरोखे शीघ्र सम्मुख आते हुए मछुआरों के समूह को बुलाकर समस्त जल-
चर दुष्ट जन्तुओं के विनाश के लिए आदेश दिया । फिर वे सम्मुख आये हुए मल्लाह यशोमति महाराज
की आज्ञा से ऐसे हांकर उस प्रसिद्ध सिप्रा नदी में उतरे । जिन्होंने विशेष वेगशाली व ऊँचे किये हुए
हस्ततलों से आस्फोटित (क्रीड़ाएँ या विहार) किये हैं और जिनके हस्त लट्ठ, पल (मच्छों
को वेधन करनेवाला लोहे का काँटा) व जालों के ग्रहण करने में व्यापार-युक्त हैं तथा जिनका परिवार
नौका, तृणमयघोटक, तुवरतरङ्ग (तुम्बी), फलक, धुन्ननौका व परिहार नौका इनसे परिपूर्ण है । फिर
विलोडित हुआ सिप्रा नदी का पूर बारम्बार कलुषित हुआ, जिसमें पक्षियों के बच्चे उड़ गए हैं । जिसमें कम-
लिनी-वन कम्पित हो रहा है । जिसमें जलसर्पों के बच्चे दोनों तटों में उत्कण्ठित हैं एवं बिलों के मध्य में चलने
से रलान (नाष्ट उद्यमशील) हैं एवं जहाँपर कछुओं के बच्चे बहुलता से कीचड़-सहित गड्ढे के मध्य में
स्थित हुए भैंसाओं के साथ एकत्रित हो रहे हैं, एवं जिसमें मकरादि जलजन्तु पराधीन हुए हैं ॥ ३७ ॥ तद-
नन्तर (सिप्रा नदी के प्रवाह में अवगाहन करने के बाद) जब वे मल्लाह परस्पर के अहङ्कार-से उस सिप्रा-
नदी के प्रवाह में समस्त जलचर जन्तुओं (मकर-आदि) के पकड़ने का उपाय करनेवाले हुए तब उस शिशुमार
(चन्द्रमति का जीव-मकर-विशेष) की कण्ठरूपी नाल में यमराज की दाँद के अग्रभाग-सरीखा वक्र लोहे का
काँटा गिरा और उस शिशुमार के संगम से मेरे (यशोवर का जीव-रोहिताक्ष महामच्छ के) ऊपर भी ऐसा
जाल पड़ा, जो कि अमण करता हुआ व असमय में प्राप्त हुआ यमराज के चक्र के समान रौद्र (भयानक) था ।
तत्पश्चात् उस यशोमति महाराज ने हमारे पकड़ने से हर्षित चित्तवाले उन मछुआरों से लाये हुए मुझे (रोहि-

१. 'तरीतर्णतुम्बतरण्डवेडिकोदुपसम्पन्नपरिकराः' ह. लि. प्रति घ ।

२. अतिशयालंकारः ।

भीतं मां तं च स नहीपतिरवलोक्य पितृसंतर्पणार्थं त्रिजस्रराजसत्त्ररसवतीकाराय समर्पयामास । तत्र च तदुपयोगमात्र-
तया प्रत्यहमुत्कृत्यमामकार्यकवेशः

अहं पिता पूर्वभवेऽस्य राज्ञः पितामहो चाम्बुचरोऽयमासीत् ।

इयं व्यवस्था तनु नाविधानीमहमत्सुखार्थं च विधिः किलेषः ॥ ३८ ॥

इति विचिन्तयन्त चाहं च कयंकथमपि जीवितमत्यजाव ।

पुनरहो धर्मधनंजय, तामेव समस्तावभुतजननीमुज्जयिनीं निकषा तपताजिनजेषाजीवनोदजाकुले बम्बूलबवरीकरीरप्राय-
सुपाक्षिप्तपर्यन्तस्थले कङ्काहिनामके ग्रामग्रामके स जलव्याप्तो महत्पुत्रसंदर्भे छगलो बभूव । अहं च तत्रैव छगलः ।
पुनरावयोर्व्यतिक्रान्ते वकर्षभाषवृत्तान्ते जातस्मरस्मयस्तामेवाहमजामतिक्रामन्नल्लोरणक्षीभक्षुभितचिसेनाविकटाधिपतिना-

ताक्ष को) और उसे (शिशुमार को) देखकर पितरों के सन्तर्पण के लिए ब्राह्मण-समूह की सदावर्तशाला के
रसोइए के लिए समर्पण कर दिया । उन ब्राह्मणों को सदावर्तशाला में ब्राह्मणमात्र का भोजन होने से मेरे
शरीर का एक भाग प्रत्येक दिन काटा जा रहा था । और निम्नप्रकार विचार करके मैं (रोहिताक्ष मत्स्य) और
वह शिशुमार दोनों महान् कष्टपूर्वक कालकवलित हुए । पूर्वजन्म में मैं इस यशोमति महाराज का पिता (यशो-
धर) था और यह शिशुमार (मकर) पिता की माता थी । निश्चय से इस समय हम दोनों की ऐसी [कष्ट-
प्रद] व्यवस्था है । यह विधि (कर्तव्यता) ब्राह्मणों के भोजन से हमारे सन्तुष्ट कराने के निमित्त है^१
॥ ३८ ॥

तदनन्तर अहो धर्मधनंजय (अनुविद्या में अर्जुन शरीरसे अथवा धर्मरूपी धन से उत्कृष्ट अथवा धर्म-
रूपी धन का उपार्जन करनेवाले) हे राजन् ! वह पूर्वोक्त चन्द्रमति का जीव शिशुमार (मकर-विशेष), अनेक
आश्चर्यों की उत्पत्ति भूमि उस उज्जयिनी नगरी के समीपवर्ती 'कङ्काहि' नामवाले ग्रामस्थान में, जो कि ऊन
का बिछौना या चादर एवं धर्ममयी पलान इन दोनों का उदरपूरण व्यवसाय करनेवालों के गृहों से व्याप्त है
एवं जिसका समीपवर्ती स्थल, बबूल, बेरी, व करीर इन वृक्षों की बहुलतावाले छोटे वृक्षों के अग्रभागों से
वेष्टित है, मेढों के झुण्ड के मध्य बड़ी बकरी हुआ । मैं (यशोधर का जीव रोहिताक्षमच्छ) उसी कङ्काहि
नामके ग्राम में मेढों के समूह के मध्य बकरा हुआ । जब हम दोनों (बकरी व बकरा) का शैशवकाल का
वृत्तान्त व्यतीत हुआ । अर्थात्—शिशुमार के जीव बकरी के उदर से उत्पन्न होकर जब मेरा शैशवकाल
व्यतीत हुआ तब मैं, जिसको कामदेव का दर्प (मद) उत्पन्न हुआ है, अर्थात् जवान हुआ और जब उसी
चन्द्रमति के जीव बकरी के साथ काम सेवन कर रहा था तब ऐसे मेढों के समूह के स्वामी ने, जिसका चित्त,
समस्त मेढों के क्षोभ से कुपित हुआ है, विशेष तीक्ष्ण सींगों से जिसके गर्भ (जीव) स्थानों में निष्ठुर प्रहार किया
गया है, ऐसा हुआ मैं वीर्यधातु के क्षरणानन्तर ही वैसे अपने को अपने द्वारा उत्पन्न करता हुआ जैसे श्री ऋद्धा,
अपने को अपने द्वारा उत्पन्न करता है । अर्थात्—मैं (यशोधर का जीव बकरा) दूसरी बार भी उसी पूर्वोक्त
बकरी के गर्भ में बकरा रूप से स्थित हुआ । तदनन्तर कुछ महीनों के व्यतीत हो जाने पर मैंने जन्मावसर
प्राप्त किया ।

इसी अवसर पर (मेरी जन्म प्राप्ति के समय) वह यशोमति कुमार निम्नप्रकार पड़े हुए नीतिशास्त्र
का भी अनादर करके शिकार के लिए निकला । कैसा है वह यशोमति कुमार ? जिसके चित्त का विस्तार

तीव्रतीक्ष्णविषाणविनिर्मितमर्मप्रहारः सीम्यच्चानुपातामन्तरमेव प्रेतभावमनुसरन्स्वयंप्ररिखात्मनात्मानमुत्पादयामास । अभूवं चातिक्रान्तेषु कृतिचिद्विपक्षेषु प्राप्तप्रसवावसरः ।

अत्रान्तरे स यशोमतिकुमारः पापद्विप्रबुद्धमनस्कारस्तत्फलमिहैव जन्मनि दर्शयन्निव विदूरितनिखिलराजलक्ष्मीचिह्नः कूट-
शाल्मलितकलसम्बन्धवन्धनेरिव लताप्रतानैर्गाढोद्ग्रन्थितमीलितैरकाञ्चकारकालकावैमिकांशुकाधिकृतकायपरिकरः इवभ्राट्को-
प्रवेशदण्डकसकाण्डकोवण्डोत्तचण्डोदोदण्डमण्डलः कीनाशपाशाकारघातुरोत्तंसितांसः प्रादुर्भवद्दुर्दुरन्तपातकपातपिशुनैरिव
श्वगणिभिः समाधरितपुरःप्रचारः कृतान्तानीकभोकरैरनशुकोणोत्कूणितपाणिभिः किरातैः परिवृतः पदातिरिव राफलसत्त्व-
संघाघभाधितमतिः

‘स्तेनविषद्विषव्यालश्वापदप्रभवं भयम् । शर्मधर्मविरामश्च मृगयायां महीपतेः’ ॥३९॥

इति नीतिमधीतामप्यवमत्य मृगयायां निश्चयाम । प्रविशेश च वनदेवताविनिवेदिततथागमनमिव प्रशान्तसमस्तसत्त्व-
संचारं कान्तारम् ।

शिकार-क्रीड़ा में विशेष वृद्धिगत हुआ है । जिसने राज्य लक्ष्मी के चिह्न (छत्र, चमर व ध्वजा-आदि) छोड़ दिये हैं, इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जो इसी जन्म में लोगों को शिकार खेलने का फल प्रदर्शित कर रहा है । अर्थात्—शिकार खेलनेवाला मानव अगले जन्म में राज्य लक्ष्मी के चिह्नों (छत्र-आदि) से न्यून होता है । इस घटना को इसी भव में लोगों को दिखाता हुआ ही मानों—वह राज्यलक्ष्मी के चिह्नों का त्यागनेवाला हुआ । जिसने अपना मस्तक, लताश्रेणियों से विशेष रूप से ऊपर बाँधा है, जो (लताएँ) ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—कूटशाल्मलि तश् (नरक में दण्ड देने का वृक्ष विशेष) पर लटकने वाले बन्धन ही हैं । जिसका शारीरिक वेध नरक के अन्धकार सरीखे काले व कृष्ण वर्ण वाले वस्त्र से बाँधा हुआ है । जिसका विशेष प्रचण्ड (बलिष्ठ या भयानक) बाहुरूपीदण्ड मण्डल नरकरूपी अटवी में प्रवेश करने के लिए क्षुद्रमार्ग सरीखे बाण-सहित घनुष पर वर्तमान है । जिसके दोनों कन्धे यमराज के जाल सरीखी मृगबन्धनी से मुकुट-युक्त हैं । कुतों के स्वामियों ने जिसको अग्रेसरता प्राप्त की है । जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—प्रकट होते हुए दुष्टस्वभाव-वाले पाप के आगमन के सूचक ही हैं । जो यमराज के सैन्य-सरीखे भयङ्कर व महान् दण्ड से संकुचित हस्त-वाले किरातों (म्लेच्छों) से वेष्टित है । पैदल चलनेवाले सैनिक सरीखे जिसने समस्त प्राणियों को कष्ट देने में या भय उत्पन्न करने में अपनी बुद्धि स्वीकार की है । किसप्रकार के नीतिशास्त्र का अनादर करके वह शिकार-निमित्त निकला ? राजा को शिकार खेलने में चोरों, शत्रुओं, विष, सर्पों व सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं से उत्पन्न होनेवाला भय होता है एवं शिकार खेलने से उनके सुख व धर्मका नाश होता है और ‘च’ शब्द से शील-भङ्ग व प्रजा की क्षति आदि दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात्—वह ऐसे वन में प्रविष्ट हुआ, जहाँपर समस्त मृग-आदि जीवों का प्रवेश शान्त होगया है । अर्थात्—उसके आने पर समस्त मृग-आदि जीव भाग गए । अतः समस्त प्राणियों के प्रवेश से शून्य हुआ वह ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसमें वनदेवताओं ने उसका आगमन कह दिया है । वहाँ पर उसे शिकार नहीं मिली; क्योंकि यमराज के पेशकारों (जोबधारियों के पुण्य-भाप का लेखा-जोखा करने वालों) ने पृथिवीतल पर संचार करनेवाले (मृगादि), बिलों में विहार करनेवाले (सर्पादि) व जल में विहार करनेवाले (मछली-आदि) एवं अन्तराल- (आकाश) विहारी (कबूतर-आदि) जीवों को वर्तमान-काल में भी शस्त्रादि से नष्ट होनेवाली आयु से रहित कहा है । अतः वह क्रोध से रक्तमध्य भागवाले नेत्रों के प्रान्तभागों के विस्तारों से मानों—अपने क्रोधरूपी देवता की रधिर-भूजा को बखेरता हुआ-सा प्रतीत हो

स्थलविमज्जलागतरालविहारिणां प्राणिनामद्यापि चित्रगुप्तेनापरिमृष्टमानत्वावनासावितहिः। कोषाश्रयान्तरंरपाङ्गप्रसरः स्वामर्षदेवतायाः क्षोणितोपहारमिव विकिरंस्तस्य स्रगताविकैलकसनाथस्य यूथस्य मध्येन प्रस्थावतंमानस्तिर्यंगतिमार्गो-
 स्लेखेन कपोलस्थलीधुम्बनोन्मुलपुङ्खेनापोमुखेन शरद्व्योक्तवस्तुवृत्तारकस्तं मदीयां मातरं च निबिभेद । तावता चापर्याप्त-
 परितोषः स्वयमेव तदुत्तरमवदारयत् । ववर्श च मामनलावलयनशकलिनमिव विवर्तमानवपुषम् । आयुषः शेषत्वावबिहित-
 प्रमोतभाजमवाप्तसमस्तसुपशास्त्राधिगमपाटवाय पीरोगवाय पोषणार्थमर्पयत् । तद्वत्तु गेह एव पोष्यमाणतनूनां छागल-
 धेनूनां शून्यस्तनावलेहलालोपातिक्कीर्णतस्मिन्नेव रसवतो गृहे सख्यं रससाधनविधिधर्तिकाधिकवियेकेषु पाचकलोकेषु
 पिशितपाकोपदेशदानवुर्ललितहृदयामात्मवुष्कर्मोदयात्तत्रैव भवे संपन्नसितशिवत्रगात्रोभनवरतवरहेह्रवास्वावासीदम्भ-
 मक्षिकाक्षेपक्षोभपात्रोमतिपूतिपूयपिहितनासिकसविधसंचरत्परिवारां स्वकीयेन दारिकाजनेन 'इयं खलु हले, पापकर्मा
 सकलबुराचारगारा अभूतमतिमहादेवी तं निखिलभुवममानीयमनङ्गावतारं यशोधरमहाराजं गरलप्रयोगाद्वृष्टान्तकीर्तिं
 विधाय तत्कलेन संप्रति संजाता सकलकुष्ठाधिष्ठानम्' इति हन्तमितस्ततो मन्त्रयमाणेन राजपरिजनलज्जिहासमाजेन च
 कृतधिकारपरम्परां कथमपि विवित्वा, कथं नाम

रहा था । उसने बकरियों, भेडा-समूह व गारड़-समूह से सहित उक्त बकरा-समूह को मध्य में करके वापिस लौटते हुए ऐसे लोहे की नाँक के सीर से, जो तिरछी गति के मार्ग का उल्लेख करनेवाला है एवं जिसका पुच्छ (पन्नाग्र) प्रशस्त कपोलस्थली के चुम्बन (मुख-स्पर्श) से सन्मुखोन्मूत है, बकरों में से मुख्य बकरे को बाण का निशाना बनाया । जिससे उसने मेरी माता बकरी को विदीर्ण कर दिया । उतने मात्र से उसे पर्याप्त सन्तोष नहीं हुआ, अतः परिपूर्ण संतोष-प्राप्त करने के लिये उसने स्वयं बकरी का पेट फाड़ डाला, जिससे कम्पायमान शरीरवाले एवं अङ्गारपुञ्ज के ऊपर धारण किये हुए मांस-सरीखे मुझे (यशोधर के जीव गर्भस्थित बकरे को) देखा । फिर मेरी आयु शेष होने से उसने मुझे नहीं मारा और समस्त पाकशास्त्र की पटुता प्राप्त करनेवाले रसोइए के लिए प्रतिपालन-निमित्त दे दिया । तत्पश्चात् पुष्ट शरीरवाली बकरियों के दुग्ध-शून्य धनों के आस्वादन करने से लार से शरीर को लिप्त करनेवाले मैंने किसी प्रकार से भी ऐसी अनन्तमती महादेवी को जाना, जिसका हृदय उसी रसोइघर में समस्त रसों (मधुर व आम्ल-आदि) की प्रसाधन-विधि के गंधर्व में विशेष निपुण रसोइयों के समूहों के मध्य मांस पकाने की शिक्षा देने में आसक्त है । अपने पापकर्म के उदय से उसी भव में जिसके शरीर में द्रवित कुष्ठ उत्पन्न हुआ है । जो निरन्तर विदारण किये जानेवाले शरीर की पीप-बगैरह के आस्वादन के लिए बैठती हुई (आती हुई) प्रचुर मक्खियों के फँकने अथवा चूर्ण करने में उत्पन्न हुए शोभ (शरीर मोड़ना) की पात्री (भाजन) हैं एवं अत्यन्त दुर्गन्धि पीप के बहने से नाँक बन्द करनेवाला परिवार जिसके समीप प्रवेश कर रहा है तथा जिसकी निम्नप्रकार तिरस्कार-श्रेणी अमृतमति की दागी समूह से व ऐसी राजपरिवार की दासी समूह से, जो कि यही वही स्त्री पुरुषों के जोड़े को बुला रही है एवं दूसरे लोगों द्वारा की गई है । 'हे सखी ! यह अमृतमति महादेवी विशेष पापिनी व समस्त दुराचारों की गृहप्राय है, क्योंकि इसने उस समस्त जगत् के पूज्य व कामस्वरूप यशोधर महाराज को विष प्रयोग से मार डाला, व । पाप के फल से यह समस्त अठारह प्रकार के कुष्ठ-समूह का गृह हुई ।'

प्रसङ्गानुवाद—तदनन्तर मैंने (यशोधर के जीव बकरे ने) निम्नप्रकार चिन्तन करते हुए राज-महल की उसी भोजनशाला में कुछ महीने व्यतीत किये । अमृतमति महादेवी का यह केशकलाप मकड़ियों के तन्तुसमूह-सरीखा विरूपक—कुछ शुभ क्यों हुआ ? और यह भौहों का जोड़ा शतखण्ड किये हुए शरीर वाला पिजड़ा-सरीखा क्यों हो गया ? एवं इसके नेत्रयुगल दावानल अग्नि से दुग्ध हुई-सी कान्ति-हीनता धारण करता हुआ दिखाई दे रहा है तथा इसका यह शरीर घूर्णों (कीड़ों) द्वारा किये हुए छिद्र-समूह से नीचे गिरते

अलिकुलमिवं लूतातन्तुप्रतानविषूसरं मनसिजघनुर्जातं जीर्येतनुस्थितिपञ्जरम् ।
पुण्यलभजन धनं देयं ब्रह्मानन्दनाशार्थं घृणवरमरभ्रस्यस्तम्भप्रभाषमभूद्वपुः ॥४०॥

अथवा न चेतदाश्चर्यम् । यतः ।

स्वामिद्रोहाः, स्त्रीवधो, बालहिंसा, विश्वस्तानां धातनं, लिङ्गभेदः ।
प्रायेर्जलपञ्चकं पातकानां कुर्यात्सद्यः प्राणिनः प्राप्तदुःखान् ॥४१॥

इति विचिन्तयन् कतिचित्त्रिशद्वान्नानतिवाहयामास । इत्यथ कलिङ्गविषयेषु महति महिषीसमुदये अहो स्वकीययशः-
कुसुमसौरभोन्मादितबुधमधुपसभाज महाराज,

रक्तप्रान्तविलोललोचनयुगः प्रोथप्रतिष्ठाननः प्रोत्कृणाग्रविषाणभीषणवपुर्नीलाञ्जनाद्रिप्रभः ।

वत्कर्णः पृथुकन्धरो गुरुखुरः स्थूलत्रिकोरःस्थलः सा मृत्वा कसनीयवात्स्थिरभूकृष्णागी पुनः कातरः ॥४२॥

पुनरसावशेषमहिषपरिधवतिशायिशरीरसंनिवेशः सार्धपाधिवस्वीकारवशात्

सुखदुःखानुभवार्थं निजकर्मगलप्रहास्तुतूरोऽपि । जालावसन्नतिमिषज्जन्तुयंससमयमायाति ॥४३॥

यत्र सुखं वा दुःखं लिखितं नितिले यस्यास्य देवेन । तत्रायाति प्राणी पाशाकृष्टः पतन्नीव ॥४४॥

हुए स्तम्भ-(स्तम्भा) सरीखी शोभावाला क्यों हो गया ? ॥ ४० ॥ अथवा ऐसा होना उचित ही है, यह आश्चर्यजनक नहीं है । क्योंकि—ये पाँच महापाप प्रायः करके प्राणियों को तत्काल (उसी जन्म में) दुःखों को प्राप्त करनेवाले कर देते हैं । राजहत्या, स्त्रीहत्या, वृद्धों का वध, अभयदान दिये हुए का धात और जन्म-नेन्द्रिय का छेदन करना ॥ ४१ ॥ अथानन्तर अपने यशरूपी पुष्पों की सुगन्धि से चित्रज्जनरूपी भ्रमर-समूह को हर्षित करनेवाले हे महाराजाधिराज ! इस प्रस्ताव में कलिङ्ग देशों (दन्तपुर से व्याप्त कोटिशिला देशों) में महान् भैंसों की श्रेणी के मध्य में वह चन्द्रमति का जीव दकरीं बाण से बेदी जाने से मरकर फिर ऐसा भैंसा हुई । जिसके दोनों नेत्र रक्त प्रान्त वाले व चञ्चल हैं । जिसका मुख नासिका के समीपवर्ती है । जिसका शरीर तीक्ष्ण अग्रभाग वाले सींगों से भयानक है । जिसकी कान्ति नीलपर्वत व अस्ताचल पर्वत-सरीखी (कृष्ण) है । जो ऊँचे कानों वाला व विस्तीर्ण गर्दनशाली एवं महान् खुरों वाला है । जिसका त्रिक (पीठ का नीचा प्रदेश—पीठ के नीचे जहाँ तीन हाड़ मिले हैं उस जोड़ का नाम) और उरःस्थल (आगे का भाग—वक्षःस्थल) मांसल-विशेष पुष्ट है एवं जो मनोहर पूँछवाला है ॥ ४२ ॥

फिर भी यह प्रस्तुत भैंसा (चन्द्रमति का जीव), जिसकी शरीर-रचना समस्त भैंसाओं के सुण्ड से विशेषता लिये हुए है, सौदागरों के स्वामी द्वारा खरीदने के अधीन होने से, (किसी ने देखा और सौदागरों के स्वामी से खरीदा जाने के कारण) उसी उज्जयिनी नगरी में, जो कामिनियों के भोगरूपी हंसों के अवतरण के लिए महासरोवर-सरीखी है, मानों—निम्नप्रकार के सुभाषित श्लोकों को सत्यार्थता में प्राप्त कराता हुआ ही प्राप्त हुआ । यह जीव विशेष दूरवर्ती होकर के भी अपने पुण्य-पाप कर्मों को गले में स्वीकार करने से अथवा अपने-अपने कर्मरूपी लोहे के काँटे को ग्रहण करने से, सुख-दुःख भोगने के निमित्त मृत्यु की अधीनता में वैसा आता है जैसे जाल में फँसी हुई मछली, मृत्यु की अधीनता में आती है ॥ ४३ ॥ यह जीव जाल से खींचे हुए पक्षी-सरीखा उस स्थान पर आता है, जिस स्थान पर विधाता ने इस प्राणी के ललाट पर जिस प्रकार से

इति सत्यतां नयन्निव तां वितासिनीविलासहंसावतारसरसीभेकानसीननुप्राप्य तस्याभेवोभयतीरावतीर्णतमालतरुपतित-
प्रसूनपरागपरवशदेवायामापगायां प्रतिपन्नपयोवगाहविहरणः, अहिनकुलवज्रातिजनितामर्षोत्कर्षान्धान्तःकरणः, यशोमति-
महाराजयाजिसंजनितदीर्जन्यप्रकरणः, तन्नूपतिनिविष्टनेकटिकानोककरकीलितचतुश्चरणः, प्रस्फोटनस्फारमादतस्फुरस्त्रवि-
राङ्गारनिकरपूरितकरणः, समन्तावभीक्ष्णशुशुक्षणिक्षतक्षिप्यमाणक्षारवारिवर्षणः, कर्णकटुघोरावरसनशल्पितपुरवेवता-
धिषणः, श्रूषणकषायोत्क्षणास्त्वकोदकावानिर्गन्धनिस्सिलगोर्वरणः, नरकबुल्लवेवनावप्यसह्यव्यावेगमातङ्कुतङ्गमनु-
भवस्मिरंमदवाहद्विवितविटपः पावप इव कषाधोषतामवाप, तथाहमपि तथा जाङ्गलभक्षणाक्षिप्तक्षिप्तयामृतमतिमहादेव्या
प्रयहं यगद्धगितीवृधोवधानमध्यभट्टिप्रोक्तकचरणद्वरभाधिकरणां दशामक्षिप्यम् ।

पुनरहो धर्मधारेय, अस्ति सत्त्वित्वैव रत्नाकरमेखलिन्यमरलोकोत्पन्नस्तम्भेनेव मेरुशालंकृतनाभिमण्डले
जम्बूलक्षमणि द्वीपे विजयार्धो नाम पर्वतः । यः

गन्धर्वाल्लवपर्वानिकनिवनदत्तद्वराभोगरम्यः

स्वर्गस्त्रीगीतकान्ताटनिरमरतसदृशः ।

गङ्गातुङ्गोत्तरङ्गोक्तलवनशुकपासारहाराभिरामः प्रोत्तालानतंसीतिनन्द इव विजयार्धवनीध्रश्चकास्ति ॥४५॥

सुख-दुःख भोगना लिपि-बद्ध किया है ॥ ४४ ॥ तदनन्तर पूर्वोक्त चन्द्रमती के जीव भैंसा ने जब उसी
सिप्रा नदी में (जिसमें वह पूर्व में शिशुमार मकर हुआ था), जिसका बहाव दोनों तटों के नोचे की ओर
स्थित हुए तमाखू के वृक्षों से गिरी हुई पुष्प-पराग के पराधीन है, जल-लिकोटन के लिए प्रवेश किया
तब सर्प-नीले-सरीखे जातिस्वभाव से उत्पन्न हुई क्रोध की तीव्रता से विवेक-शून्य मनवाले उस भैंसे ने यशोमति
महाराज के घोड़े का मृत्यु-प्रस्ताव भली प्रकार उत्पन्न किया (प्रस्तुत घोड़े का वध कर दिया) । जिससे
यशोमति महाराज द्वारा आज्ञापित किये हुए किकर-समूह के हाथों से उस भैंसे के चारों पैर कीलित (कीले व
सांकलों द्वारा निश्चल) किये गये । जिसके शारीरिक अवयव सूपों की प्रचुर वायुओं से प्रदीप्त किये जानेवाले
खदिर वृक्षों के अङ्गार-समूहों से आच्छादित किये गए हैं । जिसके ऊपर सभी ओर से निरन्तर अग्नि के स्फुटित
प्रहारों (धारों) पर नमक के जल की वृष्टि की जा रही है एवं जिसने कर्ण-कटु भयानक शब्दों के आरटन से
पुर देवताओं की वृद्धि दुःखित की है तथा तृषा से सोंट, मिर्च व पीपल के चूर्ण के काढ़े से उत्कट हुए मृत्ति
का-कुण्ड में भरे हुए जल-ग्रहण से जिसके पश्चिम द्वार से समस्त गोवर-श्रेणो निकली है, ऐसा वह भैंसा ऐसी
दुःखसंगति को भोगता हुआ, जिसका दुःख-वेग नरक की दुःख वेदना से भी असह्य है । अतः वह ऐसे
वृक्ष-सरीखा होकर, जिसकी शाखाओं का विस्तार वज्राग्नि की दाह से भस्म किया गया है, मृत्यु को
प्राप्त हुआ ।

हे राजन् ! उसी प्रकार मैंने (यशोधर के जीव बकरे ने), जिसका खुर-सहित एक पैर मांस-भक्षण में
आसक्त चित्तवाली उस अमृत मति महादेवी द्वारा निरन्तर जाज्वल्यमान प्रदीप्त चूले के मध्य पकाया गया है
ऐसा हो कर मरणावस्था प्राप्त की । फिर भी—भैंसे व बकरे की पर्याय-कथन के बाद—हे धर्मप्रवर्तक मारिदत्त
महाराज ! जामुन के वृक्ष से उपलक्षित एवं लवण समुद्ररूपी मेखलावाले इसी जम्बूद्वीप में, जिसका नाभि-
मण्डल (मध्यवर्ती विस्तृत प्रदेश) स्वर्गलोक को धामिने के लिये स्तम्भ-सरीखे सुमेरुपर्वत से सुशोभित है,
ऐसा विजयार्ध नाम का पर्वत है ।

जो नट-सरीखा शोभायमान हो रहा है । जो ऐसे गुफाओं के परिपूर्ण विस्तारों से मनोश है, जो
कि देवगायकों के महान् उत्सव-नगाड़ों की ध्वनियों से प्रतिध्वनि कर रहे हैं । जैसे जहाँ पर नट नृत्य करता

किं च ।

पावान्तलक्ष्मीरपरः पयोधिः पूर्वोऽम्बुधिर्धस्य शिरस्यवम्भीः । शय्यावकाशा च वसुंधरेयं जातामरस्त्रीजनसेवितस्य ॥४६॥
उत्सोलकल्लोलकरप्रचारात्पूर्वापरौ स्वप्नुमिव स्थितस्य । सीमन्तसंवाहनयोरिषाब्धौ जातोद्यमौ यस्य गिरेश्चकास्तः ॥४७॥
यत्राम्बुधिः पुष्करवस्थिताङ्गे तरङ्गहस्ताहतकंवरास्यः । शत्रुप्रवेतःपुरकामिनीतां नृताय वृत्तः कुतपीय भाति ॥४८॥

तत्र विद्याधरमुन्वरीविलासमणिवर्णद्वयं चारणश्रमणचरणाङ्कितमेखले सततस्यन्दबुदितवरीसरत्नमोरसीकरासारिणि
सुरतभसखिन्नखरसहचरीसेव्यमानसंतानकचक्राये सुरानोकहकुहरविहरमाणमधुकरीकुसकलहगलत्प्रपूनभकरन्दारनोबिन्द्य-
भ्रंतिहृदयरोत्सङ्गसंगतगगनगङ्गिकोपवीणनमनोहरे मयुमिधुनसंगीतकानन्दिनि निर्वरकवेशमध्यास्य किल चरमदेहधारी
नगवत्सरस्वतीसरिज्जलकेलिकुञ्जरो मन्मथमथनाभिधानावसरश्चारणमहर्षिः

है, वहाँपर नगाड़ों की ध्वनि होती है । जिसका कटिनीतट स्वर्ग-कामिनियों (देवियों) के गीतों से मनोहर है । जहाँपर नट नृत्य करता है, वहाँ पर स्त्रियाँ गाने गाती हैं । जिसकी लतारूपी भुजाएँ कल्पवृक्ष से प्रशंसनीय हैं । जैसे नट भी भुजाओं से नृत्य करता है । जो गङ्गा की ऊँची उत्कृष्ट तरङ्गों से आकाश में उछलते हुए स्थूल जलबिन्दुओं के समूहरूपी हार (मोतियों की माला) से मनोरंज है । जैसे नट भी हार से अलङ्कृत होता है । एवं जिसकी आनत- (घुमाव) नीति प्रोत्ताल (उत्सुक) है । जैसे नट भी उत्ताल नृत्य-कारक होता है ॥ ४५ ॥ विशेषता यह है—पश्चिम समुद्र ही जिसकी चरणगंधित की शोभा है । एवं पूर्वसमुद्र ही जिसके मस्तक का उच्छीर्ष (तकिया) है तथा यह पृथिवी ही जिसकी शय्या (पलङ्क) है । यहाँ पर शङ्का होती है कि जब पलङ्क के ऊपर कामिनीजन देखा जाता है तो इसका स्त्रीजन कौन है ? उसका समाधान करते हैं; जो कि देवों की स्त्रीजनों (देवियों) से भोगा गया है ॥ ४६ ॥ जिस विजयार्ध पर्वत के पूर्व व पश्चिम समुद्र चञ्चल व विशाल तरङ्गरूपी हस्तों के संचालन से ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—निद्रा लेने के व्यापार-युक्त हुए-सरीखे उस विजयार्ध के मस्तक-संमार्जन (प्रक्षालन) व पादमर्दन करने में जिनको क्रमशः उद्यम उत्पन्न हुआ है, ऐसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४७ ॥ मृदङ्गमुख-सरीखे व्यापार-युक्त शरीरवाले जिस विजयार्ध पर्वत पर ऐसा समुद्र, जिसने तरङ्गोंरूपी हस्तों द्वारा गुफा-मुख ताडित किये हैं, मृदङ्ग-बजानेवाले सरोखा शोभायमान हो रहा है । यहाँ पर शङ्का होती है—कि मृदङ्ग-आदि वादियों का वादन (बजाना), नृत्य के लिए होता है, अतः यहाँ पर नृत्य क्या है ? इसलिए नृत्य-कारण से गर्भित हुए समुद्र-विशेषण का निरूपण करते हैं—कैसा है समुद्र ? जो इन्द्र (पूर्वदिग्पाल) व वरुण (पश्चिम दिग्पाल) के दोनों नगरों की कामिनियों (देवियों) के नृत्य के लिए प्रवृत्त हुआ है ॥ ४८ ॥

ऐसे उस विजयार्ध पर्वत पर, जिसमें विद्याधरों की कमनीय कामिनियों के नेत्र-विभ्रम के दर्शन-निमित्त माणमथ दर्पणसरीखे पाषाण-शिलातल वर्तमान हैं । जिसकी मेखला (पर्वत का मध्यभाग) आकाश-गामी मृणियों के चरणों से चिह्नित है । जहाँपर निरन्तर जल-स्वर्ण के कारण मेघों से आच्छादित हुई गुफाओं में संचार करनेवाली वायु से जल-कण-समूह वर्तमान हैं । जहाँ पर मेयुन-खेद से खिन्न हुई विद्याधरों की कामिनियों से कल्पवृक्षों की छाया का आश्रय किया जा रहा है । जहाँपर ऐसे पुष्पों के भकरन्द (पुष्परस) की सुगन्धि विद्यमान है, जो कि कल्पवृक्षों के कुहरों (छिद्रों) में विहार करती हुई मँवेरियों के समूह के कलह के कारण नीचे गिर रहे हैं । जो विशेष ऊँचे शिखरों के उपरितन भागों पर एकत्रित हुई विद्याधरों की वेश्याओं

मन्दस्पर्शवीभवति हृषये चाह्यचित्ताविहूरव्यापारेऽहिमन्करणनगरे योगमने च पुंति ।

यत्रावृत्ति न भजति कुलिशं वज्रिणापि प्रयुक्तं पुण्यास्त्राणां कुसुमधनुषस्तत्र का नाम वृत्तिः ॥४९॥

इति विचिन्त्य निष्पन्नयोगिलोकोदाहरणतपश्चर्यः सूर्यप्रतिमागतो बभूव । तस्यैवं स्थितस्य महर्षेरलोकाकाशस्वभावा-
देव सकलैरपि जन्तुभिरमुल्लङ्घनीयमाहात्म्यस्य हिमवन्मूर्तेरप्युत्कृष्टापीकानि कर्तव्यानि । जस्यैकमुपलब्धः कन्दल-
विलासो नाम विद्याधरः कन्दर्पदर्पणायाः प्रियतमायाः समक्षं मदनविनोदं नाम विमानं स्थलितगमनमवेक्ष्य जातवेदस्य-
स्तत्साधुसभाधिविषयसन्धिया बहुरूपिणीं विद्यामनुष्याय विधाय च तडिहण्डसंघट्टस्फुटद्वयह्याण्डखण्डैरिव घोरघोषप्रवर्णः,
प्रलयकालप्रसूतिदिवसैरिव जनितसमस्तसर्वसाध्वसैः, शयनपाण्ड्यकारैरिव भीषणाकारैः, उरिक्षिप्तकृतान्तवृष्टिपातैरिवोन्का-
जालकरालद्योतैः, यमायुषविद्धैरिव मुशलप्रमाणवारिषारावविभिः, स्फुटितामरलोकशैलशिखरैरिवापतत्पृथ्वीयःपाषाणैः,

के वीणा-वादन के कारण मनोज्ञ है और जहाँपर किन्नरों के जोड़ों (देव-देवियों) के संगीत से हर्ष पाया जाता है, 'मन्मथमथन' नामकी योग्यतावाले, आकाशगामी, चरमदेहधारी मुनि, इन्द्रादि द्वारा आराधना के योग्य व सरस्वती (वादनाङ्ग-वाणो) रूपी नदी के जल (शब्दलक्षण वाला जल) की अमुभवन-क्रोड़ा के गजेन्द्र हैं व जिसकी तपश्चर्या, वर्गध्यान व शुक्लध्यान का पूर्ण अभ्यास किये हुए ध्यानियों के समूहों को उदाहरण (दृष्टान्त-वचनरूप) है, निर्भय स्थान पर स्थित होकर निम्नप्रकार चिन्तवन करके कायात्सर्ग में स्थित हुए ।
[प्रस्तुत ऋषि का ध्यान—]

'जब मन किञ्चित् भी चलायमान नहीं होता (स्थिरीभूत-निश्चल हो जाता है) और जब इन्द्रिय लक्षणवाला नगर बाह्यस्पर्श से शून्य हो जाता है । अर्थात्—जब इन्द्रियरूपी नगर शब्द, वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श इन पाँचों इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा से दूरवर्ती व्यापार वाला हो जाता है एवं जब आत्मा धर्मध्यान व शुक्लध्यान में मग्न हो जाती है, अर्थात्—एकलोलोभाव प्राप्त कर लेती है तब जिस कायोत्सर्ग में इन्द्र-द्वारा प्रेरित किया हुआ वज्र भी प्रवृत्ति प्राप्त नहीं करता, उस कायोत्सर्ग में कामदेव के गुण्यरूपी अस्त्रों की क्या प्रवृत्ति हो सकती है ? अपि तु नहीं हो सकती' ॥ ४९ ॥

इस प्रकार कायोत्सर्ग में स्थित हुए और जिसकी महिमा अलोकाकाश-सरीखी स्वभाव से ही समस्त प्राणियों द्वारा उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है ऐसे मन्मथमथन नाम के महर्षि के ऊपर कन्दल-विलास नाम के विद्याधर ने, जो हिमवन् पर्वत के ऊपर स्थित हुए वनों को देखने निमित्त विमान से आकाश में ऊपर प्रस्थान कर रहा था । जिसने 'कन्दर्पदर्पणा' नाम की अपनी प्रिया के समक्ष अपने मदनविनोद नाम के विमान को रुका हुआ देखकर जिसे ऋषि के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ है, जिससे उसने प्रस्तुत 'मन्मथमथन' नामक मुनि के ध्यान में विघ्न करने की बुद्धि से बहुरूपिणी विद्या का चिन्तवन करके निम्न प्रकार उपसर्ग किये । प्रसङ्गानुवाद—बाद में प्रस्तुत (मन्मथमथन) ऋषि की सेवार्थ आये हुए 'रत्नशिखण्ड' नामके विद्याधर-चक्रवर्ती ने उग्र कर्म करनेवाले इस विद्याधर को देखा और ऐसा करने से उसके प्रति विशेष क्रोध प्रकट किया । [प्रस्तुत ऋषि के ऊपर उपसर्ग करने के लिए] उसने पूर्व में ऐसे मेघों से आकाश को आच्छादित किया । जो (मेघ) भयानक गरजने की ध्वनियों से विशेष शक्तिशाली हुए ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—जिनमें विजलीदण्डों के संघट्ट से त्रैलोक्य-खण्डों के सैकड़ों टुकड़े हो रहे हैं । समस्त प्राणियों को भयभीत करनेवाले जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—प्रलयकाल संबंधी उत्पत्ति-दिन ही है । जो भयानक मूर्तिवाले होने के कारण ऐसे मालूम पड़ते थे—

असितशिलाभिष्ठानवन्धैरिव ज्योतिर्वसतीनाम्, असम्यक्तमिलासमागमैरिव भुवनवल्लभम्, अकायकपादघटनैरिव दल-
कन्यानाम्, अनवसरसंहारबासरैरिव नेत्रवृत्तीनाम्, अकालकालायसङ्घर्षोपहारैरिव क्षितेः, घनाघनैरावृतं गगनमाभरणभुजङ्ग-
माशोर्लब्धैर्तालैराकम्पितालिलभूगोलैर्बलालेदम् बुद्ध्या विद्वाः प्रसाध्य स्वयं च समाचरितमातङ्गवेषदधकर्मचरन्नेन योगिन-
मपासितुमागतेन रत्नशिखण्डिनाम्ना विद्याधरचक्रवर्तिना ध्यलौकि सुकृपे च ।

पुनः 'अरे कवाचाराचार पराकपुशात्मन् कलपुरोभाणिन् विद्याधराधम जेवरखेठ विहायोममवाप्य विधचजर-
खेल हेठ मरकनिवास पापाचार बहुकुमतिभूतचित्स गुणसटह निहीन गन्धर्वलोकापसद मातरिपुण्ड सकलसत्त्वानम्बनीयतपसि
त्रिभुवनमान्ययशसि भगवति परं ब्रह्मासनमुपगतवति किमेवमाचरितुमुचितम् । न चेह महामुनिसंनिधाने शास्त्राणामिवा-
स्त्राणा व्यापारस्यावसरः । तदन्यथापि ते व्यपनयामि समुन्नतभावम्' इति वदन्कुर्जनाचिनयसमवर्ती स नभश्चरचक्र-
वर्ती तस्य समस्ता अपि विद्याधरलोकलक्ष्मीलाज्जनादिचखेद विद्याः । शशाप च 'भविष्यस्थनेन दुश्चेष्टितेनावन्तिषु
राजषान्या मातङ्गसमवृत्तिचण्डकर्मनामको वण्डपाशिकः' । स जेवरः स्वयंकृतानर्थवशास्तच्छायेन मृगोचरता प्रतिपद्य-

मानों—प्रलयकाल की रात्रि के अन्धकार ही हैं। उल्काजालों (तारों के टूटने की श्रेणियाँ) के मयानक प्रकाश वाले जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—ऊपर फैले हुए यमराज के दृष्टिपात ही हैं। मूसलप्रमाण (विशेष स्थूल) जलधारा की वृष्टि करने के स्वभाव वाले जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानों—जिनमें यमराज के दण्ड से छेद किया गया है। जिनसे विस्तीर्ण पाषाण गिर रहे हैं, अतः जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—विदीर्ण हुए स्वर्ग-पर्वतों के शिखर ही हैं। इसी प्रकार जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानों—चन्द्र, सूर्य, ग्रह व ताराग्रहों की कृष्ण-वर्ण वाली शिलाओं के अधिष्ठान-बन्ध (आवास स्थानसमूह) ही हैं। अथवा मानों—पृथिवीमण्डल के अकाल काल रात्रिसंबंधी समागम ही हैं। अथवा मानों—जिन्होंने दक्षकन्याओं (तारकों) को असमय में किवाड़ों की रचना की है। अथवा मानों—नेत्र व्यापारों के असमय संबंधी प्रलयकाल के दिन ही हैं और जो मानों—पृथिवी के असमय में होने वाले लोह के चूर्ण प्रकार हो हैं। इसी प्रकार उसने स्वयं चाण्डाल-वेष धारण करते हुए आभरण संबंधी सर्पों से भयानक वेतालों (भूत विशेषों) से और समस्त पृथिवी-मण्डल को कम्पित करने वाली प्रचण्ड वायुओं से दिशाओं को दृष्ट अवस्था वाली कीं।

अथानन्तर प्रसङ्गालुवाद—दुष्टों की उद्दण्डता को नष्ट करने के लिए यमराज-सरीखे उक्त 'रत्नशिखण्डी' नाम के विद्याधर-चक्रवर्ती ने प्रस्तुत 'कन्दलविलास' नाम के विद्याधर के प्रति निम्नप्रकार कोप-युक्त वचन कहते हुए उसकी समस्त विद्याएँ भी, जो कि विद्याधर-समूह की लक्ष्मी के चिह्न हैं, छेद दीं (नष्ट कर दीं) । उक्त विद्याधर चक्रवर्ती के कोप-पूर्ण वचन—'अरे ! निन्द्य आचार वाले ! अरे बध से दुष्ट आत्मा वाले ! अरे दुष्टों में अग्रेसर व विद्याधरों में निकृष्ट ! अरे विद्याधरों में कुत्सित अथवा विद्याधरों को विशेष भय उत्पन्न करने वाले व विद्याधरों द्वारा निन्दनीय एवं विद्याधरों के मध्य में निन्दनीय ! अरे वाघा उत्पन्न करने वाले व नरक में निवास करने वाले अथवा नरक (गूथ—मल) के निवास एवं पाप को ही आचार मानने वाले ! तथा प्रचुर मायाचार से परिपूर्ण चित्तवाले ! अरे गुणों से लघु, नीच और विद्याधर लोक में जाति से बहिष्कृत ! अरे मातृमैथुन ! तुझे ऐसे भगवान् (गुणों से इन्द्रादि द्वारा पूज्य) ऋषि के ऊपर, जिसकी तपश्चर्या समस्त प्राणियों को आनन्द देनेवाली है तथा जिसका पवित्र गुण कीर्तन त्रैलोक्य पूज्य है, एवं जो उत्कृष्ट धर्मध्यान में लीन है, क्या इस प्रकार का उपसर्ग करना उचित है ? इस महामुनि के समीप जैसे शास्त्रों की प्रवृत्ति का अवसर है वैसे शास्त्रों की प्रवृत्ति का अवसर नहीं है ! अतः मैं शास्त्रों के बिना भी तेरा मद चूर-चूर करता हूँ ।

अथानन्तर प्रस्तुत 'रत्नशिखण्ड' नाम के विद्याधर चक्रवर्ती ने उक्त कन्दल विलास नामक विद्याधरों की केवल विद्याएँ ही नहीं छेदी अपितु उसने उसे निम्नप्रकार शाप भी दिया—'इस कुकृत्य से तू अबन्ति देश

मानस्तं भगवद्विघ्नकस्तिनं चक्रवर्तिनमुपसृष्ट्यावनतमुन्नाजः सन्निधमभावीत्—‘नाय, भवतु नार्सवम् । कथमन्यथैतन्म-
कीयं वृष्कर्मं विफलोदयं स्यात् । स एव निसर्गजन्मभावः सरसामिव स्वामिनाम्, यः खलु युक्तायुक्तकारिषु सेवकेषु
स्वच्छकलुषभावो नाम । तत्सम्पत्तामिवमेकं स्खलितमपुण्यभाजोऽस्य जनस्य । अनुगृह्यतां च क्षापावसानमनौषया पुनर्विद्याधर-
लोकावाप्तिकरेण वरेण’ इत्यभिधाय तत्पादयोरपरि निपपान । स महामुनिगुणवर्णनोदीर्णकीर्तितो विद्याधरचक्रवर्ती ।

दण्ड एव हि नीचानां विनयाय न सत्क्रिया । ऋजुत्वे जिह्वाकाष्ठस्य नानैरस्ति परो विधिः ॥५०॥

यः शिवः साधराणेषु यः प्रसादाज्जुनतिषु । स्वाभिमतं न लोकोऽयं गुणकार्यपरायणः ॥५१॥

इति परामृश्य, उपमुञ्च्य च तस्य भगवतः पर्युपासनविशेषालम्बमवधिभुपजातानुक्रोशः ‘स्वधर, मा ताम्य । उत्तिष्ठ ।

की राजधानी उज्जयिनी नगरी में चाण्डाल-सरीखी जीविका वाला व ‘चण्डकर्मा’ ऐसे कुत्सित नामवाला कोट्ट-
पाल होगा ।’ अथानन्तर उस ‘कन्दलविलास’ नाम के विद्याधर ने स्वयं किये हुए अनर्थ से उक्त रत्नशिखण्ड के
शाप से भूमि-गोचरीपन स्वीकार किया और गुप्त के उपसर्ग को छेदन करने वाले उस ‘रत्नशिखण्ड’ नामक
विद्याधर चक्रवर्ती के समीप जाकर उसके चरणों में पड़कर नम्रीभूत मुख कमल वाला होकर उसने इस प्रकार
कहा—‘हे स्वामिन् ! ऐसा हो, अर्थात्—मैं कोट्टपाल होऊँगा । अन्यथा—यदि [मैं भूमिगोचरी नहीं होऊँगा
तो मेरा यह पापकर्म विफलोदय (विषम फल के उदय वाला) कैसे होगा ? हे स्वामिन् ! सरोवरसरीखे स्वा-
मियों का वह जगत्प्रसिद्ध एवं प्रत्यक्षीभूत स्वाभाविक परिणाम होता है, निश्चय से जो (स्वाभाविक परिणाम),
युक्त-अयुक्त करने वाले सेवकों के विषय में क्रमशः स्वच्छता व कलुषता उत्पन्न करता है । अर्थात्—जैसे तालाबों
में स्नान करने वाले जब योग्य जल का उपयोग करते हैं तब तालाबों में स्वच्छता (निर्मलता) होती है और
जब अयुक्त (बहुतर) स्नानादि करते हैं तब तालाबों में कलुषता (मलिनता) हो जाती है वैसे ही स्वामियों के
सेवक जब युक्त (उचित) कर्तव्य में प्रवृत्त होते हैं तब स्वामियों में स्वच्छता (प्रसन्नता) उत्पन्न होती है
और जब सेवक अधिकता से प्रवृत्ति करते हैं (अनुचित कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं) तब स्वामियों में उनके प्रति
कलुषता (सकोपता) उत्पन्न होती है । उस कारण से इस भूख पापी सेवक का एक अपराध क्षमा किया जाय
और केवल मेरा अपराध क्षमा ही न किया जाय अपितु आप शाप को अन्त करनेवाली वृद्धि से फिर ही विद्या-
धर-लोक की प्राप्ति करनेवाले वरदान से इस सेवक का अनुग्रह कीजिए ।

इस प्रकार कह कर उसके चरणों में गिर गया । तत्पश्चात् उस विद्याधर-चक्रवर्ती (रत्नशिखण्ड)
ने, जो कि दिगम्बर महामुनियों के गुण-वर्णन से उत्पन्न हुई कीर्ति से नृत्य करनेवाला है और जिसे प्रस्तुत
विद्याधर के ऊपर दयालुता उत्पन्न हुई है, चित्त में निम्नप्रकार विचार किया—‘जैसे टेढ़ी लकड़ी को सरल
करने में उसमें अग्नि लगाने को छोड़कर दूसरा कर्तव्य नहीं है वैसे ही निश्चय से नीच पुरुषों को शिक्षा देने के
लिए (नम्र बनाने के लिए) दण्डनीति ही उपाय है । न कि उनका सत्कार उनको नम्र बनाने में कारण
है’ ॥ ५० ॥ राजा का अपराधियों पर जो क्रोध होता है और उसका अनुकूल प्रवृत्ति करवाले शिष्ट पुरुषों में
प्रसाद (दानादि द्वारा सन्मान) होता है, उस कोप व प्रसाद से यह लोक गुण व कर्तव्य पालन में तत्पर
होता है ॥ ५१ ॥’

तत्पश्चात् उसने उस पूज्य मन्मथमथन नामक ऋषि की भक्ति विशेष से प्राप्त हुए अविद्याज्ञान से
जानकर कहा—‘हे विद्याधर ! खेद मत कर । उठो । देवताओं सरीखे राजाओं की आज्ञा सेवकों के प्रति

न खलु प्रभूणां देवानामिव तोषरोषयोः सेवकेषु शुभमशुभं वा फलमसंपाद्य तदेव प्रत्यावर्तते शासनम् । तदाकर्णयान्धदेव तव तल्लोकावाप्तेः कारणम् ।

तथाहि—अस्ति खलु सकलसांसारिकसुखोपकरणरत्नाकरावनिसङ्गेषु कलिङ्गेषु द्विरदमदामोवमन्दकन्दरोवर-परिसरत्पवनपानपरमधुकरावलीनीलमणिमेखलाङ्कितनितम्बवसुंधरस्य महेन्द्रमहीधरस्याधिपतिः संजातमेदिनोरतिचित्तोऽपि द्विजातिस्तूयमानवृत्तः अकारणरोषप्रमत्तोऽपि निःशेषशिष्टाचारप्रवृत्तः सुदत्तो नाम राजा ।

यस्य विभवाभिषाद्विस्तर्कलोकसंतर्पणाय, विद्यावैशारद्यं विद्वज्जनोपचरणाय, शौर्यैर्परायः शरणागतरक्षणाय, राज्यावर्जनपरिग्रहः प्रजापरिचाणाय, प्रभुत्वावलम्बनं समाश्रितभरणाय, क्षात्रचरित्रवृत्तिः परार्थकरणाय, देवताप्रसादनं सत्पुण्यपरवितरणाय, साहसोऽसाहानुष्ठानं महामुनिप्रत्यूहनिग्रहणाय, वीरविक्रमः साधकसाध्वसापहरणाय, सात्त्विकत्वभावि-अत्रियवृत्तधर्मनिर्बहणाय ।

संतुष्ट होने पर शुभफल व रुष्ट होने पर अशुभ फल उत्पन्न किये बिना, तत्काल में ही—शाप देने के अवसर में ही नहीं लोटती । अर्थात्—जैसे देवता भक्तों पर सन्तुष्ट हुए शुभ फल देते हैं व रुष्ट हुए अशुभ फल देते हैं वैसे ही राजा लोग भी सेवकों पर सन्तुष्ट हुए शुभ फल व रुष्ट हुए अशुभ फल देते हैं । अतः जो मैं रुष्ट हुआ तुझे शाप दे चुका हूँ उसके अनुसार तुझे अशुभ फल अवश्य भोगना पड़ेगा । अतः तू मुन, पुनः विद्याधर-लोक की प्राप्ति का आग्रह दूसरा ही तुझे नष्ट है, समी बात को निरूपण करता है—

समस्त सांसारिक सुखों की आधार-भूत रत्न-खानियों की भूमि के संगम वाले कलिङ्ग देशों में 'महेन्द्र' नाम के पर्वत का, स्वामी ऐसा सुदत्त नाम का राजा है । जिसकी नितम्बभूमि ऐसी भ्रमर श्रेणीरूपी नीलमणिमयी मेखला (कटिनी) से चिह्नित है, जो कि हस्तिगों के मद (दानजल) की सुगन्धि से आर्द्र हुई गुफाओं के मध्य भागों पर चारों ओर संचार करती हुई वायु के आस्वाद में लम्पट है । जो संजातमेदिनोरतिचित्त (म्लेच्छ स्त्रियों के साथ भोगविलास के मनवाला) हो करके भी द्विजातिस्तूयमान वृत्त (ब्राह्मणों से स्तुत्य आचार वाला) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो म्लेच्छ-भार्याओं में अनुरक्तचित्त होगा, वह ब्राह्मणों से स्तुत्य आचार वाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि 'जो मेदिनोरतिचित्त (आसमुद्रान्त पृथिवी के पालने के मनवाला) है और अपि (निश्चय से) जो द्विजातियों (तपस्वी ब्राह्मणों से प्रशंसनीय चरित्रवाला) है और जो अकारणरोषप्रमत्त (निष्कारण क्रोध करनेवाला) होकर के भी निःशेष-शिष्टाचार प्रवृत्त (समस्त शिष्टाचारों में प्रवृत्त) है यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो निष्कारण क्रोध करनेवाला होगा, वह समस्त शिष्टाचारों में प्रवृत्त हुआ कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अक-आ-रणरोष-प्रमत्त है । अर्थात्—जो अकुत्सित व चारों ओर से किये हुए संग्राम-क्रोध के कारण प्रकर्षरूप से हर्ष को प्राप्त हुआ है, जिससे जो समस्त शिष्टाचारों में प्रवृत्त है ।'

जिस सुदत्त राजा की धनवृद्धि याचकजनों की भली प्रकार संतुष्ट करने के लिए है । जिसकी शास्त्र-चतुरता विद्वज्जनों की पूजा-निमित्त है । जिसकी शूरता का अनुक्रम शरणागतों के प्रतिपालन-निमित्त है । जिसका राज्य का उपार्जन स्वीकार प्रजालोक की रक्षा के लिए है । जिसके सामर्थ्य (शक्ति) का आश्रयण सेवक लोगों के पोषण के लिए है । जिसका क्षत्राण लक्षण-वाला क्षात्र (द्वात्रिधर्म) एवं उसके आचार की प्रवृत्ति दूसरों के प्रयोजनों के पोषण के लिए है । जिसका देवों का प्रसन्न करना सत्पुरुषों के लिए वर (अभि-

यस्य च जनन्यः परकलत्राण्येव, बन्धुवर्गः सभाषितलोक एव, कुटुम्बकं सप्तसमुद्रावधि वसुधैव, जीवितं सत्य-
प्रतिपालनमेव, महाव्यसनं परोपकारनिष्ठतैव, यताचरणं क्षितिरक्षणमेव, योग्योद्योगः प्रजाकार्यानुशासनमेव, दक्षिणादक्षत्वं
जगत्प्रवहारव्यवस्थापनमेव, अवभृशस्नानं परब्रह्म च हितवृत्तिप्रवृत्तिषु स्वातन्त्र्यमेव, वीरत्वमरिषड्वर्गविजय एव, अस्ति-
धाराप्रतमन्यायखण्डनमेव, ऐश्वर्यमाशानुल्लङ्घनमेव ।

यस्य वासंतोषः श्रुतेषु, तर्पः सत्पुरुषसंग्रहेषु, सूकमाशः स्वकीयगुणस्तवनेषु, बधिरत्वं दुर्जनोपदेशेषु, वर्धनपरावृत्तिरनर्थसंग-
मेषु, कामः पुण्यार्जनेषु, अक्षमा परोपतापेषु, विद्वेषो व्यसनेषु, असंतुष्टिः सुभाषितश्रवणेषु, आसक्तिः पुनः सङ्गोष्ठीषु ।

यस्य च परिमितत्वं वाचि, कालहरणं कलामु, आशादर्शनं दिग्विजययात्रायाम्, अधणगतत्वं पूर्वपुरुषचरितेषु,
अवधीरणभात्मसुखानाम्, अनवसरः कलिकालविकृम्भितस्य, महासास्त्रिकं सकलजगदभ्युद्धरणेषु, ऐश्वर्यं विश्वम्भरतायाम्,
न पुनरमीषां हन्तानि तस्य यवान्यतायां प्रत्युपकृतिषु माग्यजनसंभावनायां स्वच्छन्दवृत्तिषु च विषयभाषभाजम्भुः ।

लषित वस्तु) देने के निमित्त है । जिसका अद्भुत कर्म संबंधी उद्यम विधान मुनियों के उपसर्ग-निवारणार्थ
है । जिसका जयकुमार-आदि वीरों सरीखा पराक्रम साधकों (विद्या देवता को वश करनेवाले महात्माओं) के
भय को नष्ट करने के लिए है और जिसका प्रसाद (प्रसन्नता) भगवान् ऋषभदेव से धारण किये हुए धर्म के
निर्वाहनिमित्त है । दूसरों की स्त्रियाँ ही जिसकी माताएँ हैं । सेवकनाथ ही जिसका भ्रातृवर्ग है । सातसमुद्र
पर्यन्त पृथिवी पर स्थित हुआ लोक ही जिसका परिवार वर्ग है । सत्यधर्म का प्रतिपालन ही जिसका जीवन
है । परोपकार करने की अधीनता ही जिसका महाव्यसन है । पृथिवी का परिपालन ही जिसका व्रताचरण
है । प्रजाजनों के कर्तव्य की शिक्षा देना ही जिसका उचित उद्यम है । पृथिवी मंडल पर स्थित हुए तीन लोक
की सदाचार प्रवृत्ति को निश्चल करना ही जिसका दानचातुर्य है । परलोक व इस लोक में सुख उत्पन्न करने-
वाले पुण्य कर्मों की प्रवृत्तियों में स्वाधीनता ही जिसका यशान्त स्नात है । अरिषड्वर्गों (काम, क्रोधादि छह
शत्रु-समूहों) पर विजयश्री प्राप्त करना ही जिसकी वीरता है । अन्याय का खण्डन करना ही जिसका अस्तिधारा-
व्रत (तलवार की धार सरीखा कठोर नियम) है एवं आदेश का प्रतिपालन ही जिसका ऐश्वर्य है ।

जिसे तृष्णा शास्त्रों के अभ्यास में है व लोभ महापुरुषों के स्वीकार में है । और जो अपने गुणों की
प्रशंसा करने में भीन रखता है । जो चुगलखोरों के वचनों के श्रवण करने में बहिरा है । अलाभ-संगतियों में जो
नेत्र बन्द करता है । जो पुण्य-संचयों में अभिलाषा करता है । जिसका क्रोध परोपतापों के अवसर पर होता है ।
अर्थात्—दूसरों से सन्ताप दिये जानेपर जो क्षमा नहीं करता है । जिसे अप्रीति जुआ खेलना-आदि मातव्यसनों
में है एवं असन्तोष सुभाषितों के श्रवण में है तथा आसक्ति विद्वानों की मोछी में है । जो वचन में परिमित
(अल्पभाषी) है किन्तु दान करने में परिमित (थोड़ा देनेवाला) नहीं है । जो समय-यापन लेखन व पठन-
आदि कलाओं में करता है परन्तु दान करने में समय-यापन (विलम्ब) नहीं करता, अर्थात्—तत्काल देता
है । जिसका आशादर्शन (दिशाओं का देखना) दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने में है परन्तु दान में जो
आशादर्शन (याचकों की आकाङ्क्षा का यापन) नहीं करता, (तत्काल देता है) । जो पुराणपुरुषों की कथाओं के
श्रवण में श्रुतिदान (ध्यान पूर्वक सुनना) करता है परन्तु प्रजाजनों की प्रार्थनाओं में श्रुतिदान—श्रवण-खण्डन
(नहीं सुनना) नहीं करता । अर्थात् उनकी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनता है । जो अपने सुखों का अनादर करता
है परन्तु याचकों का अवधीरण—अनादर नहीं करता । जिसको दुष्ट कलिकाल के प्रसार का अनवसर
(अप्रस्ताव) है, परन्तु जिसे याचकजनों के लिए अनवसर नहीं है । अर्थात्—जिसे दान करने का सदा अवसर
है । जो समस्त लोक की रक्षा करने में प्रसन्न है एवं जिसका ऐश्वर्य सकल लोक के भरण-पोषण में है । इनके

यस्य चात्मसंघानविनोतवृत्तयः परविग्रहप्रशमनकुशलाः स्वभावगुणप्रणयिनः परिप्राप्तश्रवणा वाणा एवासाध्य-
साधनोत्सवाः सन्निधाः, परे तु केवलं सभाशोभाभर्ममस्वाधारापमलंकरणानि । स्वपरप्रजानां संप्रत्यापत्तिकरमसहायं
साहसमेव पुरोहितः, परस्तु पर्वविवसेषु वसुधितरणस्थानम् । अशेषशत्रुबलसखलनहेतुरध्याजवर्यं क्षीयमेव सेनापतिः,
परस्तु भूयभरणौषसमयसूचनं चेतनमुपकरणम् । अखिलसमुद्रावधिवसुधातले दुर्वारप्रसरपर्यमैश्वर्यमेव द्विषदृष्टधरः प्रती-
हारः, परस्तु सेवकानामुपासनावसरनिवेदनस्तीर्षपुरुषः । समराङ्गणेषु परहृदयंगमप्रवणानि शस्त्रसंप्रेषणान्येव दूतप्रणिधयः,
परे तु राजनीतिप्रपञ्चाः । त्रिवर्षरप्यप्रतिहताटोपाः प्रतापा एव दुर्गभूमयः, परास्तु विभवविनियोगद्वाराणि । वेधसाध्य-

जोड़े अर्थात्-परिमितत्व (थोड़ा दान करना) व कालहरण (दान में विलम्ब करना) यह पहला जोड़ा ।
आशादर्शन (याचकों की आकांक्षा का भङ्ग करना) श्रवणगतत्व (प्रार्थनाओं का न सुनना) यह दूसरा जोड़ा ।
अवधीरण (याचकों का तिरस्कार) व अनवसर (मौका न होना) यह तीसरा जोड़ा और महासात्त्विकत्व (प्रसन्न
रहना) व ऐश्वर्य यह चौथा जोड़ा । उक्त चारों जोड़े क्रमशः जिसकी प्रेमपूर्वक त्यागशीलता में और प्रत्युपकारों के
करने में एवं पूज्य पुरुषों के सत्कार करने में तथा स्वेच्छाचारों (अनैतिक प्रवृत्तियों) में विषय भात्र को प्राप्त
नहीं हुए । अर्थात्—जिसकी प्रेमपूर्वक की हुई दानशीलता में थोड़ा दान करना व विलम्ब से दान करना नहीं
है । जो प्रत्युपकारों के करने में याचकों की आकांक्षाओं का भङ्ग न करता हुआ तत्काल दान देता है तथा उनकी
प्रार्थनाओं को सुनता है । एवं जो पूज्य पुरुषों के सत्कार करने के अवसर पर उनका तिरस्कार नहीं करता
एवं अवसर नहीं चूकता । अर्थात्—आज मेरा कुटुम्बीजन भर गया है अतः अभी दान देने का अवसर नहीं है
इत्यादि नहीं करता । जो अपनी प्रसन्नता व ऐश्वर्य का उपयोग स्वेच्छाचारों में नहीं करता । ”

जिसके ऐसे वाण ही मन्त्री हैं, जो कि अपने सन्धान (योजन) में नञ्प्रवृत्ति-युक्त हैं और मन्त्री भी
सन्धि कार्य करते हैं । जो, शत्रुओं के युद्ध को शान्त करने में दक्ष हैं और मन्त्री भी युद्ध को शान्त करते हैं ।
जो स्वभावगुणप्रणयी (प्रकृति से धनुष को डोरी पर स्थायी) हैं और मन्त्री भी स्वभावगुणप्रणयी (सन्धि
व विग्रह-आदि में स्नेह करनेवाले) होते हैं तथा जो परिप्राप्तश्रवण (आकर्षण-वेला में खींचनेवाले के श्रवण
(कान) प्राप्त करनेवाले) हैं और मन्त्री भी परिप्राप्त श्रवण (गुप्तमन्त्र के कथन के लिए कानों के समीप जानेवाले)
होते हैं एवं जो असाध्य साधनोत्सव (शत्रु को मृत्यु-प्रापण में लक्ष्य करने वाले) हैं और मन्त्री भी असाध्य कार्य
को सिद्ध करते हैं दूसरे मन्त्री तो केवल राजसभा की शोभा के लिए जङ्गम आभरण मात्र हैं । अपनी प्रजाओं
में लक्ष्मी उत्पन्न करने वाला और शत्रुओं की प्रजाओं में आपत्ति उत्पन्न करने वाला अद्वितीय साहस
(अद्भुत कर्म) ही जिसका पुरोहित (राजगुरु) है दूसरा पुरोहित तो अमावस्या-आदि पर्वदिनों में वन देने
का स्थानमात्र है । समस्त शत्रु समूह की शक्ति को नष्ट करने में कारणीभूत व स्वभाव से मुख्य जिसकी
वीरता ही सेनापति है, दूसरा सेनापति तो सेवकों के भरणपोषण संबंधी समय का कथन करने वाला सजीव
उपकरण है । चार समुद्रों की मर्यादावाले पृथिवीमण्डल पर दुःख से भी निवारण करने के लिए अशक्य
प्रवृत्ति वाला जिसका ऐश्वर्य (प्रभुत्व) ही शत्रुओं के ऊपर दण्ड-निपातन करने वाला प्रतीहार (द्वारपाल)
है, दूसरा द्वारपाल तो सेवकों को सेवा का अवसर निवेदन करनेवाला यात्राभूत पुरुषमात्र है । युद्धाङ्गणों पर
शत्रुओं के हृदय विदीर्ण करने में चतुर जिसके शस्त्र-योचन ही दूत (राजा का संदेश व शासन (लेख) को
ले जानेवाले) व प्रणिधि (गुप्तचर) हैं, दूसरे दूत व गुप्तचर तो अर्थशास्त्र के विस्तारमात्र हैं । देवों द्वारा भी
नष्ट करने के लिए अशक्य विस्तारवाले जिसके प्रताप ही दुर्गभूमियाँ (जलदुर्ग, वनदुर्ग व शत्रुदुर्ग-भूमियाँ)

सुतिसं वातुबलविजृम्भितमेव वप्रः, परस्तु धिनोद्वरनितामपाश्रयमृनिः । वनमृगंरप्यनुस्तङ्गुनोयप्रभावाजं व प्राकारः, परस्तु पुरस्य पांशुस्पर्शविनिवारणपरिच्छदः । सकलसपत्नव्याप्तिकदर्थनसमर्थभावतारः सव्येतरः कर एव परिषा, परं तु वीथारि-काणां विभ्रामविष्टराणि । कुर्वत्तारातिकुलनिमज्जनजलाधारा खड्गधारेव परिषा, परास्तु नगराङ्गनानां जलक्रीडाधिकर-णानि । समस्तक्षितिरक्षणक्रमः पराक्रम एव परिवारः परस्तु श्रोविलासाङ्गम्बरः । निजकीर्तिसुधावलितापयनं^१ त्रिभु-वनमेव विहारहर्म्याणि, पराणि तु राज्यलक्ष्मीचिह्नानि । चतुर्विधमेजला वनमनोहरा वसुंधरेव प्रियकलत्राणि, पराणि तु वंशाभिवृद्धिनिबन्धनानि धर्मक्षेत्राणि ।

यस्य चाहवाङ्गुणरङ्गोद्यनचरतमुक्तशरासारवर्षविकर्तृरितमुष्णमण्डलानामहितकवन्धानां नर्तनक्रियासु परमे-कान्तरसिकता, न पुनरितरास्वयंकूपणपरासु । असमसमरावसरेष्वाश्चर्यंशोयंपरितोषितानाममरबुन्दारकाणामानन्दातोष-वादनेषु प्रकर्षतृष्णालुता, न पुनरितरेषु शरीरायासकरेषु । त्रिविष्टपकुटीकोटरविहारिणा नरनिलिम्पाम्बरचरलोकैर्न निजविजयनामाङ्गमुभयस्य गीतस्य गायने नितरां स्पृह्यालुता, न पुनरितरस्य हृदयहरिणहरस्य । कदनमेदिनीषु पुष्पार-

हैं । दूसरी जलदुर्गादि भूमियां तो केवल लक्ष्मियों के विशेष रूप से अधिकार द्वार हैं । जिसकी भुजाओं का सामर्थ्य-प्रसार ही, जिसकी तुलना श्रीगङ्गा के साथ भी नहीं की जा सकती, वप्र (दुर्ग की आधारभूत भित्ति) है और दूसरा वप्र तो क्रीडागर्जों का आश्रयस्थान मात्र है । जंगली मृगों द्वारा भी उल्लंघन करने के अयोग्य माहात्म्य वाली जिसकी आज्ञा ही प्राकार (कोट) है, दूसरा दुर्ग तो नगर संबंधी धूलियों के स्पर्श-निवारण के लिये उपकरणमात्र है । जिसका दक्षिण हस्त ही जिसका मध्य मण्डल शत्रुओं के विस्तार को नष्ट करने के निश्चय वाला है, अर्गला (बेंड़ा) है और इसके सिवाय दूसरी अर्गलाएँ तो द्वारपालों के खेद को दूर करने के आसनमात्र हैं । दुराचारी शत्रु-वंशों के डूबने में जल की आधारभूत जिसकी खड्गधारा ही परिषा (खाई) है दूसरी परिषाएँ तो केवल नागरिक कामिनियों की जलक्रीडा के स्थानमात्र हैं । जिसका समस्त पृथिवी के परिपालन करने में समर्थ पराक्रम ही परिवार (कुटुम्ब) है और दूसरा परिवार तो लक्ष्मी के विलास का विस्तारमात्र है । अपनी कीर्तिस्त्री सुधा से उज्ज्वलीकृत शरीरवाला तीन लोक ही जिसका क्रीडागृह है । और दूसरे क्रीडागृह तो राज्यलक्ष्मी के चिह्नमात्र हैं । जिसकी चार समुद्ररूपी मेखला (करधोनी) वाली व वनोंसे मनोज्ञ ऐसी पृथिवी ही प्यारी स्त्रियाँ हैं और दूसरी प्यारी स्त्रियाँ तो वंश (कुल व पक्षान्तर में वांस) की चारों ओर से वृद्धि में कारणीभूत धर्मक्षेत्र (दान आदि पुण्य कर्मों का स्थान) हैं, अर्थात्—जैसे खेतों में वंशों—वांसों की वृद्धि होती है !

जो सुदत्त महाराज शत्रु-कवन्धों (शिर-रहित शरीर-घड़ों) की, जिनके मुखमण्डल संग्रामाङ्गणरूपी नाट्यशालाओं में निरन्तर फँके हुए बाणों की मूसलवार वेगशाली वृष्टि से विशेषरूप से खण्डित किये गये हैं, नृत्यचेष्टाओं में ही केवल विशेषरूप से रसिक (अनुरक्त हृदय) हैं और दूसरी कामिनियों की नृत्यक्रियाओं में, जो कि धन संबंधी दोष (विनाश) उत्पन्न करने में तत्पर हैं, रसिक—आसक्त नहीं हैं । जो विषम संग्रामकालों में आश्चर्यजनक वीरता से आनन्दित किये गए देवों के मध्य प्रधान देवों के आनन्दजनक वाजों की ध्वनि के सुनने में विशेषरूप से तृष्णालु है किन्तु शरीर को कष्ट करनेवाले दूसरे तत्त, वितरा, धन व सुषिररूप वाजों के वादन में तृष्णाशील नहीं है । जो सुदत्त महाराज तीन लोकरूपी भूह के मध्य विहार करनेवाले भूमिगोचरी मानव, देवता व विद्याधरों के समूह से अपनी विजयश्री के कारण जीते हुए राजाओं के नामाङ्कन से प्रीति-

वैरिगिशिरोविदारणेषु महतो मृगयाव्यसनपरवशता, न पुनरितरेषु निरपराधेषु वनमृगेषु । नृपयज्ञाजिराष्टापवभूमि-
कायां चरगमगतिबन्धररातिचतुरङ्गेषु प्रकाशं द्यूतदुर्लभितता, न पुनरितरेषु नरपालकुलकलङ्कधरेषु । सकलरत्नाकर-
मणिमेखलायां वधुमतीयोषायां रितालं सक्तता, न पुनरितरेषु स्तुल्लंघनविध्वंसनेषु विलासिनीजनेषु । अनन्यसामान्य-
अन्योपाजितअयानिलविजृम्भितेन सुभटकुटजाटसोचिलुष्ठनपटुनावलधानलेन दुर्धर्षाणां विद्विषामशेषयज्ञपानेष्वतीक्ष्णौष्ठता,
न पुनरितरेष्वेहिकामुत्रिकफलविलोपनोद्धवेष्वासवेषु । अकाण्डजगदुपद्रवदानवेषु मानवेषु कण्डपाक्षर्ये बाहं मनोमनीषितानि,
न पुनर्भूलतोल्लासवशवर्तनेषु परिजनेषु । रणकेलिकण्डूलानामरीणामाद्योधनवसुभायामभिमुखोभावकरणेषु वचःकर्कशव्यव-
हारे परमं नैपुण्यम्, न पुनरवलोकनमात्रविनयपरिष्वजासु प्रजामु । अक्षय्यवृष्ट्याण्डाडिन्वडमरकरालः प्रतिपक्षध्यालः
संचितस्य कीर्तिकुलधनस्यापहारे गच्छं गृह्णता, न पुनरात्मान्युवयप्रणमिभिरुपाजितस्य त्रविणोर्जितस्य, संपरायधरावारिषु
शत्रुशूलकीनगभङ्गप्रसोभनेन राजग्रहणेषु महान्ति कुतूहलानि, न पुनरितरेण चौरचारपाशादिनोपायव्यतिकरेण ।

आसंसारमवैमज्जयन्तुरभिषु यशस्वन्दनवन्दनेषु साभिलाषं मनाः, न पुनरितरेषु क्षणमात्रपरिस्मृतमनोहरानुधनवेषु गन्धेषु ।

जनक हुए गीत के गाने में विशेष उत्कण्ठित है, न कि मनरूप मृग के मोहक दूसरे शृङ्गार-आदि गीतों के गाने में उत्कण्ठित है । जो सुदत्त महाराज युद्ध भूमियों में दुःख से भी जीतने के लिए अशक्य शत्रु संबंधी हाथियों के गण्डस्थलों के छेदने में विशेषरूप से शिकार व्यसन के पराधीन है किन्तु दूसरे निरपराधी जंगली मृगों की शिकार करने रूपी व्यसन के पराधीन नहीं है । जो सुदत्त महाराज युद्धाङ्गणरूपी (शतरञ्ज खेलने की भूमि) पर चरगम (गुप्तचरों का भेजना), व गतिबन्धों (शत्रु-शिविर के चारों ओर घेरा डालना) से शत्रुओं की चतुरङ्ग सेनाओं (हाथी व घोड़े-आदि) के विषय में विशेषरूप से द्यूत-दुर्लभित (विजयभी प्राप्त करने की इच्छा के कारण विचार-हीन) है परन्तु राजवंश को कलङ्कित करनेवाले दूसरे घतुरङ्गों (शतरञ्ज व पासों की क्रीड़ाओं) में चर (दूसरे स्थानों में घोड़े आदि का प्रवेश) व गम (दूसरे स्थान में घुसना एवं गतिबन्ध (दूसरे शतरञ्ज संबंधी घोड़े आदि को चारों ओर से घेरना) से विशेषरूप से द्यूतदुर्लभित (जुआ खेलने का अनिवारक) नहीं है (जुआ खेलने का त्यागी) है । जो सुदत्त महाराज चार समुद्ररूपी मणिमेखला-शालिनी पृथिवी रूपी स्त्री में विशेषरूप से आसक्त हैं परन्तु दूसरी वेद्याओं में, जो कि शरीर धर्म व धन को नष्ट करने-वाली हैं, आसक्त नहीं हैं ।

जो सुदत्त महाराज ऐसी गर्वरूपी अग्नि से भयङ्कर शत्रुओं के, जो कि अनौखे संग्राम में स्वीकार की हुई विजयरूपी वायु से वृद्धिगत हुई है और जो वीर योद्धारूपी कुटजों (शक्रतट्टों) के वन को भस्म करने में दक्ष है, समस्त यशों के पान करने में ही मद्यपी (नशेवाज) हैं परन्तु इसलोक व परलोक संबंधी सुख को नष्ट करने में गविष्ठ दूसरे मद्यों—शराबों—से मद्यपी नहीं हैं । जिस सुदत्त महाराज के सहसा जगत के ऊपर उपद्रव करने में दैत्यप्राय मनुष्यों के लिए कठोर दण्ड देने के चित्त-मनोरथ विशेषरूप से है, परन्तु भ्रुकुटिलता के क्षेप-मात्र से अपने अधीन हुए सेवकों के लिए कठोर दण्ड देने के चित्त-मनोरथ नहीं है । जो संग्राम-क्रीड़ा में विशेष उत्कण्ठित हुए शत्रुओं के प्रति संग्राम के लिए युद्धभूमि पर आने के अवसरों पर अति कठोर मापण करने में विशेष निपुण है परन्तु सामने देखने मात्र से विनययुक्त हुई प्रजाओं के प्रति अति कठोर भाषण करने के व्यवहार में निपुण नहीं है । जिसे समस्त पृथ्वीमण्डल का विनाश करने से उत्पन्न हुए भय से भयङ्कर शत्रुरूपी कालसर्पों से रक्षा किये हुए कीर्तिरूपी कुलधन के अपहार की विशेष लुब्धता है, परन्तु अपनी उन्नति में स्नेह करनेवाले हिनैपियों से संचय किये हुए प्रशस्त धन का अपहरण करने में लुब्धता नहीं है । युद्धभूमि, हाथियों के पकड़ने की भूमि व हाथियों के पकड़ने की खाई, इनमें शत्रुरूप शल्लकी वृक्षों के भङ्ग का लोभ दिखाकर, जिस सुदत्त महाराज

अपरजनासाधारणेषु गुणमणिविभूषणेषु महानाग्रहः, न पुनरितरेषु देहसेवावहेषूपलशकलनिवहेषु । निखिलजगन्म-
ङ्गलविधानाऽमत्रेषु^१ सञ्चारित्रेण्वभीक्षणं रक्षणप्रयत्नः, न पुनः सर्वजनसाधारणाविशारदेषु^२ । अत्रेषु

यस्य च सप्तसमुद्रमेखलायनिविकीकनजातकौतुकस्याभूवभिमुखीभावः शत्रूणां प्राभूतेषु, न अस्त्राणाम् । विग्रहः^३
प्रणतिषु, नापकारमनोदायाम् । द्विधाभावः^४ सेवाकपदेषु^५, नोपचारकार्याणाम् । पतनं भृत्यभावेषु, न चामराणाम् । प्रसारणं
सर्वस्वार्पणेषु, नातपत्प्राणाम् । प्रबन्धः^६ कण्ठकुठारेषु, न भवविजृम्भितानाम् । 'प्रतापावलम्बनमसहायसाहसध्वेशविधिषु,
नैश्वर्यसंभावनायाम् । आरोपणं शिरसि प्रणामाञ्जलिषु, न धनुषि मौर्वीणाम् ।'

के हाथियों के पकड़ने के महान् कौतूहल हैं, परन्तु चौर, गुप्तचर, पाश-समूह हैं आदि में जिसके ऐसे दूसरे उपाय प्रघट्टक द्वारा जिसे हाथियों के पकड़ने से महान् कौतूहल नहीं है ।

जिस सुदत्त महाराज का चित्त संसार पर्यन्त स्थिरस्तरूपी सुगन्धिवाले यशरूपी चन्दन के विलेपनों में अभिलाषा-युक्त है किन्तु दिनद्वर सुगन्धि से मनोज्ञ संबंधवाले दूसरे सुगन्धि गदार्थों (चन्दनादि) में अभि-
लाषा-युक्त नहीं है । दूसरे मनुष्यों में न पाये जानेवाले ज्ञानादि गुणरूपी मणियों के आभूषणों में जिसे प्रगाढ़ अनुराग है किन्तु शरीर में खेद-जनक दूसरे पापाण-खण्डों (रत्नादि) के समूहों में प्रगाढ़ अनुराग नहीं है ।
समस्त लोक को आनन्दित करने के पात्र सदाचारों की निरन्तर रक्षा के लिए जिसकी चेष्टा है किन्तु समस्त प्राणियों में साधारण रूप से पाये जानेवाले प्राणों की रक्षार्थ जिसकी निरन्तर चेष्टा नहीं है । सातसमुद्र रूपी
करधोनी वाली पृथिवी को देखने के उत्पन्न हुए कुतूहलवाले जिस सुदत्त महाराज की शत्रुभूत राजाओं के उप-
हारों के ग्रहण करने में सन्मुखता थी, न कि शस्त्रों के ग्रहण करने में । जो नमस्कारों के करने में विग्रह (अभि-
मुखीभूत) था, परन्तु अपकार करने की बुद्धि का विग्रह (विस्तार) नहीं करता था । जो सेवा करने में
कुटिल शत्रुओं के साथ द्विधाभाव (शत्रुता) करता था, परन्तु उपचार (प्रजापालन-आदि व्यवहार) कार्यों में
द्विधाभाव (चित्तवृत्ति के दो खण्ड करना—अस्थिरता) नहीं करता था अथवा उपचार (सेवनीय) शरणागतों का
द्विधाभाव (विनाश) नहीं करता था । जिसके यहाँपर भृत्यभावों (भृत्यरूपी पदार्थों—सेवकों) में पतन
(नम्रता) था परन्तु चमरों का पतन (विनाश) नहीं होता था । अर्थात्—निरन्तर चँवर ढारे जाते थे ।
जिसका प्रसारण (विस्तार गुण) समस्त धनादि के अर्पण में था परन्तु जिसके छत्रों का प्रसारण (निर्गमन—
हटना) नहीं था अर्थात्—सदा छत्रधारी था । जो अभिमानी शत्रुओं के गलों पर [उनका मद चूर-खूर करने के
लिए] कुठार का प्रबन्ध (प्रकृष्ट बन्धन) करता था परन्तु अहङ्कार के विस्तारों का प्रबन्ध (संबंध) नहीं करता

१. 'निखिलजगन्मङ्गलविधाविधिषु' इति ह. लि. (क) प्रती पाठः ।

२. अमत्राणि भाजनानि इति पल्लिकाकारः ।

३. 'सर्वजनसाधारणेषु' इति ह. लि. (क) प्रती पाठः ।

४. विग्रहोऽभिमुखीभूतः 'विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयोः' ।

५. शत्रूणामिति भावः पक्षे त्रिस्त्रिंशद्वारणम् ।

६. सेवायां कुटिलेषु । उपचारस्तु लुब्धायां व्यवहारोपचर्ययोः ।

७. प्रकृष्टबन्धनं शत्रूणां मानस्यजने गले कुठारस्य शार्ङ्गकारस्य बन्धनम् ।

८. असमर्थानां साहाय्यकरणे ।

९. परिसंस्पर्शकारः । अस्य लक्षणं तु एकत्र निषिद्धान्यत्र वस्तुस्थापनं परिसंस्था ।

यस्य च निजप्रतापसंपादितोत्सवभरायां विश्वभरायामनन्यसामान्यमात्मैश्वर्यमवलोकमानस्य रथचमूचकचर्पा-
भूर्जितनिःशेषशूलमूलेषु हयानीकोद्रेकखरक्षुरोद्भूतशूलीपटलपूरितसकलपातालमूलेषु कण्टिघटाकण्टोपविलुण्ठितसमस्त-
महाद्वीगहनेषु सुभटसैन्यदोर्दण्डवलितनिखिलसालयलनेषु द्विषद्विषयेषु परं कात्यायनीप्रतिमास्वेव दुर्गस्थमवनस्थे ।

एवं तस्य कलिङ्गाधिपतेः सप्तधापथोरागिरत्नालंकारपात्रं कुलकलत्रमिवावनिबलयं निहासयतः^१ इत्यभावादेव
इयादं हृदयस्य धर्माभूतरसास्वादबोहवविभूरितसंसारसुखीवयस्य 'समलकलत्र इवायं कायो बहिष्कृतयत्ननिर्णोजनोऽपि न
जहाति निजां प्रकृतिम्, अत्याधानकाष्ठमिव देहिनां भवदुःखपरशुपाताय विषयोपसेवनमाधुर्यमिति विदन्तोऽपि कथमनया
बहिःप्रवर्शितापातसुन्दराडम्बरयावसानविरसया पांसुलयेव धिया प्रतार्यन्ते गुणबुद्धयः क्षीणोऽवरा.'
इति परामर्शश्लयसाम्राज्यग्रहामिनिवेशस्य पूतिपुष्पमिव केवलं त्वष्टि मनोहरं अग्निनीजनम् वितर्कयतः 'को नु खलु विश्वभरे

था । जो असमर्थों की साहसादेशविधि (सहायता करने) में प्रताप (सैनिक व कोशशक्ति) का अवलम्बन
(आश्रय-सहारा) करता था, परन्तु अपने ऐश्वर्य (राज्य विभूति) की संभावना (प्रसिद्धि) में प्रताप (प्रकृष्ट
सन्ताप का प्रकाशन) नहीं करता था । अर्थात्—किसी को सन्तुष्ट नहीं करता था । जो मस्तक पर नमस्कार
अञ्जलियों की आरोपण (वारण) करता था परन्तु धनुष पर डोरियों का आरोपण—स्थापन (चढ़ाना)
नहीं करता था । जिस सुदत्त महाराज के, जो कि अपने प्रताप से प्राप्त किये हुए उत्सवों की अधिकतावाली
पृथिवी पर अपनी अनोखी राज्यविभूति को देख रहा था, ऐसे शत्रुदेशों में, केवल कात्यायनी (पार्वती—दुर्गा)
की मूर्तियों में ही दुर्गात्व (दुर्गापन-पार्वतीपन) स्थित था, परन्तु शत्रुदेशों में दुर्गा (किले) नहीं थे ।

जिनमें (शत्रुदेशों में) रथ-सेना के पहियों के संचार से समस्त पर्वतों के मूल (नीचे के भाग) चूर-
चूर किये गए हैं । जिनमें घोड़ों की सेनाओं की अत्यन्त तीव्र टापों से उड़ी हुई धूली-समूह द्वारा समस्त
पातालमूल (अधोलोक के नीचे भाग) पूरित (व्याप्त) किये गए हैं । जिनमें हाथियों के समूह की सूँडों के
विस्तार से समस्त विशाल अटवियों के वृक्ष-समूह उखाड़े गए हैं और जिनमें वीर सैनिकों के भुजारूपी दण्डों
से समस्त प्राकारों (कोटों) के घुमाव तोड़े गए हैं । प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर 'रत्नशिखण्ड' ने कहा—हे
नवीन अपराधों के पात्र 'कन्दलविलास' विद्याधर ! एक समय राजदरबार में स्थित हुए उस ऐसे कलिङ्ग
देशाधिपति सुदत्त महाराज के समक्ष, जो सात समुद्ररूपी रत्नमयी करघोनी के पात्र पृथिवीमण्डल का बैसा
प्रतिपालन कर रहा था जैसे रत्नाभरण-विभूषित कुलवधू प्रतिपालन की जाती है । स्वाभाविक दया से सरस
हृदयवाले जिसने धर्मरूपी अमृत के रसास्वादन की उत्कट अभिलाषा के कारण सांसारिक सुखों का उदय दूर
कर दिया है । जिसका साम्राज्यरूपी ग्रहामिनिवेश (भूतपिशाच की लीनता) निम्नप्रकार के उत्कृष्ट विचार
से शिथिल हो गया है । 'यह शरीर मूथ (मल) से भरे हुए घटसरीखा है, जो कि बाह्य स्नानादि प्रयत्नों
द्वारा प्रक्षालन किया हुआ भी, अपना स्वभाव (अपवित्रता) नहीं छोड़ता । विषयों के भोग की मधुरता
प्राणियों के ऊपर बैसी सांसारिक दुःखरूपी परशु के पातन (गिराने) के निमित्त है जैसे अधस्तनकाष्ठ (लकड़ी
के ऊपर रखी हुई लकड़ी) परशु के पातन के निमित्त होता है । इस प्रकार जानते हुए भी मूढवृद्धिवाले राजा
लोग व्यभिचारिणी स्त्री-सरीखी इस राज्यलक्ष्मी द्वारा, जिसने अनुभव काल में बाह्य मनोज्ञ आडम्बर प्रकट
किये हैं और जो परिणाम (उत्तरकाल) में विरस (दुःख देनेवाली) है, किस प्रकार ठगाए जाते हैं ?

इसी प्रकार जो 'स्त्रीजन की सड़े हुए कूष्माण्डफल-सरीखा केवल त्वचा से मनोज्ञ प्रतीत होनेवाला'
विचार रहा है एवं निम्नप्रकार के निर्दोष उपदेश से जिसका मोहरूपी जाल छिन्न गिन्न किया जा रहा है—
'समस्त विश्व का भरण-पोषण करनेवाले राजाओं में निश्चय से कौन ऐसा राजा है ? जो सम्राज के नगर में

१. निहलन्ति लिख्यं इति ? मन्त्रादयः कर्षकाः खेदयन्ति तान् राजा प्रयुङ्क्ते—'प्रतिपालयतः' इत्यर्थः ।

द्वारेषु विद्यापतिभ्यो न विवेश कीनाशनगरम्, यं चेयं निसर्गचपला न तस्याज लक्ष्मीः, येन समं जगामेयं भूमिः, यस्मै न ब्रूते प्रयत्नपरिपालितोऽपि स्थूलोक्तः, यस्मादवच्छेदे न जन्मजरामरणवर्गेण, यस्य न वसूषुराधिराक्षस्यः, यस्मिन् लेभिरे गोचरतां संसारारणिसमुत्थानोल्लोलाः प्रायेण दुःखानलज्वालाः' इत्यनादीनबोधपदेशविशीर्यमाणमोहपातस्य चित्तमप्यात्मनो विभवं परलोकावलोकनप्रतिसरमिषाकलयतः 'हंहो सरसापराधगोचरलेखर, एकदा प्रणामोन्मुखलेखवैश्वानसीमुखमण्डन-धनधूसुरसलोहितकरे विकचनिखुलमञ्जरीजालशेखरितशैलशिरोक्षुषि सिन्दूरपराणपिञ्ज'रितसुरदारणकुम्भस्थले हरि-रोहिणीपणितगगनगमनाङ्गनाकपोलशालिनि प्रवालाङ्कुरोत्करनिकोर्षविक्षक्रवाले रक्षिकान्तशिलासंचारितवहनवर्ति^१ नि तमिन्नरजस्वलतया पुरस्तादपसरस्तोषु नक्षत्रपङ्क्तिषु रक्ताम्बरशोभाभिष्व विभागे अनवरतखरसहस्ररीकरविकीर्यमाण-रक्तचन्दनद्रवद्विगुणशोणिनि सति सन्नितृबिम्बे, मृपतिमनोवाहरणकथास्त्रिव विशालतां गतासु विक्षु, निर्मुक्तनोलनिचोलेष्विव

प्रविष्ट नहीं हुआ ? कौन ऐसा नरेश है ? जिसे इस स्वभाव-चञ्चला लक्ष्मी ने नहीं छोड़ा ? कौन ऐसा पृथिवीपति है ? जिसके साथ इस पृथिवी ने प्रस्थान किया ? कौन ऐसा राजा है ? जिससे प्रयत्नपूर्वक भरण पोषण किये हुए भी स्त्री-समूह ने द्रोह नहीं किया ? कौन ऐसा नरेश्वर है ? जिससे जन्म, वृद्धावस्था व मरण लक्षणवाला दुःख-समूह उत्तीर्ण हो गया (दूर हो गया) ? कौन ऐसा भूमिपति है ? जिसको मान-सिक व्यथाएँ रूपी राक्षसियाँ उत्पन्न नहीं हुई ? कौन ऐसा भूपति है ? जिसके ऊपर प्रायः करके दुःखरूपी अग्नि की ज्वालाओं ने, जो कि संसाररूपी अरणि (दामी काष्ठ) से उत्पत्ति के कारण विशेष लपटोंवाली हैं, अधिकार नहीं जमाया ? जो अपनी विस्तृत राज्य सम्पत्ति को भी परलोक (स्वर्गादि) दर्शन के लिए यव-निका (नाटक का परदा) सरीखी निबन्धन कर रहा है, कोट्टपाल ने प्रविष्ट होकर एक चोर को, जिसने नगर के नाई के प्राण लेकर उसका समस्त धन अपहरण किया था, लाकर दिखाया ।

किस बेला में कोट्टपाल ने चोर दिखाया ? एक समय जब प्रभात-बेला में सूर्यबिम्ब निम्नप्रकार का हो रहा था । जिसकी किरणें नमस्कार करने में उद्यत हुईं देव-तापसियों (अरुन्धती-आदि) के मुखों को (अलङ्कृत—सुशोभित) करनेवाले घने कुङ्कुमरस-सरीखी लालिमायुक्त है । जिसने पर्वत संबंधी शिखर के विस्तृत पाषाण विकसित कदम्बमञ्जरी के रक्त पुष्प-समूह-सरीखे मुकुट-युक्त किये हैं । जिसने ऐरावत हाथी के गण्डस्थल सिन्दूर के चूर्ण-सरीखे पिञ्जरित (पोतरक्त) किये हैं । जो हरिरोहिण^२ (लालचन्दन) से लाल किये हुए विद्याधरियों के गालोंसरीखा शोभायमान हो रहा है । जिसने दिशा-समूह, प्रवाल की अङ्कुर-श्रेणियों से व्याप्त किये हैं । जिसके द्वारा सूर्यकान्तमणियों को जिलाओं पर अग्नि-वर्ति^३ (वत्ती) संचारित की गई है । जब नक्षत्र-श्रेणियाँ (जिनमें अलङ्कार से स्त्रियों का आरोप किया गया है) अन्धकार से रजस्वला (अन्धकाररूपी धूलि-युक्त व पक्षान्तर में पुष्पवती) होने से सामने से भाग रही थी—अस्त हो रही थीं तब जो (सूर्यबिम्ब) उनकी रक्ताम्बर (लाल आकाश व पक्षान्तर में लाल साड़ी) सरीखी कान्ति धारण कर रहा है । जिसकी लालिमा निरन्तर विद्याधरियों के हस्तों द्वारा फेंके हुए तरल रक्तचन्दन से दुगुनी हो गई है । इसी प्रकार जब दिशाएँ वैसी विनालता (मृग, पक्षी, या वृक्ष विशेषों से युक्तता) को प्राप्त हो रही थीं जैसे राजाओं की यशोगान कथाएँ विशाल (विस्तृत या प्रसिद्ध) होती हैं । जब प्रकट आकारवाले महलों के शिखर ऐसे मालूम पड़ते थे, मानों—उनका अन्धकाररूपी अँगरखा हट गया है ।

१. 'पिञ्जरस्तु पोतरक्तेष्वभिष्यपि पिञ्जरं शातकुम्भे ।'

२. 'हरिरोहिण' इति ह. लि. (क) प्रती पाठः । 'हरिचन्दन' ।

३. वर्तिर्गोशानुलेपिन्यां दशायां दीपकस्य च । अपि शेषजनिर्माणनयनाङ्गनलेखयोः ॥ १ ॥

प्रकटाकृतिषु प्रासादशिखरेषु, क्षितोद्वरेष्विव राजहंसोपसेव्यमानकोशेषु पौष्करेयकान्तेषु, प्रफुल्लकमलकाननमधुपानमस्य इव मन्दमन्दसंचारिणि प्रचति वैभक्तिके मवति, प्रत्यावृत्तेषु च वस्तवक्षिणेषु द्विजेष्विव राजकुलानां सेवावसरेषु कृतास्थानस्थ प्रविश्य तलवरः परिभुषितनगरनापितप्राणद्रविणसर्वस्वनेकसंकागारिकमानोधावशंसत् । स राजा तमवलोक्य धर्मस्थीयानां मुञ्चानि व्यलोकित । धर्मस्थीयाः—वेव, अनेन मलिनात्मना मलिम्लुखेनाद्वितीयं साहसमनुष्ठितमेकं तावद्वात्रिभुषितान्यक्च मुमुक्षुमनुष्यहिंसा कृता । तवस्य पाटञ्चरस्य चकीवदारोहणोच्छिष्टशालाजिरराजिबन्धविह्वलपूर्वकश्चित्रो वज्रः कर्तव्यो यथायं च नक्षत्रवाणिज्यो वशाभिर्द्वादशभिर्द्वा दिवसैरसुखिभूजति ।

राजा स्वगतम् 'अहो कष्टं खलु प्राणिनां क्षत्रजोश्रेष्ठ्यमाविर्भावः, यतो यदि न्यायनिष्ठरतया क्षोणीदधराः क्षितिरक्षामु वक्षन्ते तदावश्यं पापोपनिपातः परलोकक्षतिसंपातश्च । तदुक्तम्—'नरकान्तं राज्यं बन्धनान्तो नियोगः' इति ।

अथ न वक्षन्ते वर्णाश्रमव्यवस्थाविलोपः कापुरुषतोत्तापश्च ।

तथाहि । क्षीयेतायं क्षणाल्लोकः क्षतरक्षः क्षितोद्वरः । लक्ष्मीक्षयः क्षये तस्य किं राजस्वं च जायते ॥५२॥

जब कमल-वन वैसे हंस पक्षियों द्वारा सेवन किये जा रहे कोश (मध्य भाग) वाले थे जैसे राजालोग राजहंसों (सामन्तराजाओं) द्वारा सेवन किये जा रहे कोश (धन-संपत्ति या राजखजाना) वाले होते हैं और जब प्रातः कालीन वायु मन्द मन्द संचार कर रही थी, इससे ऐसी प्रतीत होती थी—मानों—प्रफुल्लित कमलवनों का मधुपान (पुष्परस या मद्यपान) करने से मत्त—उन्मत्त हुई है । अब सामन्त राज-समूह की सेवाओं के अवसर वैसे प्रत्यावृत्त (व्यतीत) हो रहे थे जैसे जिन्हें दक्षिणा (दान) दी गई है, ऐसे ब्राह्मण [सन्तुष्ट हुए] प्रत्यावृत्त (वापिस जानेवाले) होते हैं । तदनन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने उस चोर को देखकर [समुचित न्याय करने के हेतु] धर्मस्थीयों^१ (अग्राधानुकूल दंडव्यवस्था करनेवाले धर्माधिकारियों) के मुखों की ओर दृष्टिपात किया । तब धर्माधिकारियों ने कहा—हे राजन् ! इस पापी चोर ने अनौखा या बेजोड़ साहस (लूटमार, हत्या व बलात्कार-आदि कुकृत्य) किया है । क्योंकि एक तो इसने रात्रि भर चोरी की और दूसरे सोये हुए मनुष्य की हत्या कर डाली । अतः इस पाटञ्चर^२ (चोर) का गधे पर चढ़ाना व जूँटे सकोरी की श्रेणी बाँधने की विडम्बना (दुःख) पूर्वक ऐसा चित्र बध करना चाहिए, जिससे यह, दश या बारह दिनों में प्राण-त्याग कर देवे ।

अथानन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार करते हुए निवचय किया । 'आश्चर्य है निस्सन्देह प्राणियों की क्षत्रियवंशों में यह उत्पत्ति कष्टप्रद है' क्योंकि यदि राजालोग न्याय की उग्रता से पृथिवी की रक्षार्थ हिंसा करते हैं तो निवचय से उन्हें पाप का आगमन व परलोक (स्वर्गादि) की हानि का प्रसङ्ग होता है । क्योंकि नीतिकारों ने कहा है—'राज्य अन्त में नरक का कष्ट देता है और राज्याधिकार अन्त में बन्धन का कष्ट देता है ।' और यदि राजा लोग न्याय की उग्रता से पृथिवी की रक्षार्थ हिंसा नहीं करते (अन्यायियों को दण्डित नहीं करते) तो वर्णों (ब्राह्मण-आदि) व आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) की मर्यादा (सदाचार) नष्ट होती है । एवं उनके ऊपर कायरता का आक्षेप होता है । उक्त बात की कहते हैं—यह लोक (पृथ्वीमण्डल) राजाओं द्वारा की हुई रक्षा से रहित होने से क्षण भर में नष्ट हो जाता है और लोक के नष्ट हो जाने पर सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर राजापन कैसे रह सकता है ? ॥ ५२ ॥

१. तदुक्तं—सर्ववर्णाश्रमाचारविचारोचितचेतसः ।

दण्डवाचो यथा क्षीये धर्मस्थीयाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

२. एकागरिक-मलिम्लुच-पाटञ्चर-नक्षत्रवाणिजकाः चौरपर्यायाः—

तदसाध्यव्याधिपरिगृहीतदेहवदस्य राज्यस्य परिस्थान एव स्वात्म्यं भान्यथा' इत्यवधार्य ।

एषोऽहं मम कर्म शर्म हर्ते तद्व्यवधानाध्वैस्ते क्रोधाविधनाः प्रमादजनिताः क्रोधावयस्त्ववसात् ।

मिथ्याशोपचितास्ततोऽस्मि सततं सन्धक्त्वान्संयमी दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्तेति मुक्तो यतिः ॥५३॥

इति च सुभाषितमास्वनिते निधाय, गतेषु कतिपयेषु गणरात्रेणुजस्य राज्यधियं समर्प्य, प्रतिपन्नजिनरूपोचिताचरण-
श्चतुर्थमाधममशिक्षयत् ।

अस्तीदानीं तस्यामेवैकानस्याममरमिथुनमान्यमानमणिमयकूटं सहस्रकूटं नाम निजमहिमावघोरितामरावती-
वसतिर्बसतिः, या नयनीतिरिव नवभूमिका, योगस्थितिरिव विहितवृषभेश्वरावतारा, सांख्यजनतेव कपिलतालयशालिनी,

अतः इस राज्य का त्याग ही वैसा श्रेयस्कर है जैसे असाध्य व्याधियों से चारों ओर से ग्रहण किये गये
शरीर का त्याग श्रेयस्कर होता है । अन्यथा (यदि राज्यश्री का त्याग नहीं किया जाता) तो यथार्थ सुख प्राप्त
नहीं हो सकता ।

तदनन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने अपने मन में निम्न प्रकार का सुभाषित श्लोक धारण किया ।
कर्म (ज्ञानावरण-आदि) मेरा आत्मिक सुख नष्ट करते हैं और कर्मबन्धन आस्रवों (कषायादि कर्मों के
आगमन द्वारों) के कारण होते हैं । एवं आस्रव, क्रोध, मान, माया व लोभरूप कषायों के अधीन हैं, और
क्रोधादि कषाय, प्रमादों से उत्पन्न होते हैं तथा प्रमादों द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादि, मिथ्यात्व से वृद्धिगत हुए
अव्रत (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह) से होते हैं । इसलिए प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मैं [उन कर्मबन्धनों के
नष्ट करने के लिये] सम्यग्दृष्टि, संयमी, प्रमादरहित, कषायों का क्षय करनेवाला, धर्मध्यान व तपश्चर्या
करनेवाला एवं मोक्षमार्गी ऐसा दिगम्बर तपस्वी होता हूँ ॥५३॥

तत्पश्चात् उसने कुछ रात्रि-समूह के व्यतीत हो जाने पर अपने छोटे भाई के लिए राज्यलक्ष्मी
समर्पण करके दिगम्बर मुद्रा के योग्य आचरण स्वीकार करते हुए मुनि-आश्रम में प्रवेश किया । [हे 'कन्दल-
विलास' नाम के विद्याधर !]

उसी उज्जयिनी नगरी में देव-देवियों द्वारा पूजने योग्य मणियों के शिखरों वाली और अपनी महिमा
से अमरावती (स्वर्गपुरी) के प्रासादों को तिरस्कृत करनेवाली सहस्रकूट नाम की वसति (प्रासाद या
जिनमन्दिर) है । जो वैसी नवभूमिका या पाठान्तर में नवभूका^१ (नवीन भूमि वाली) है जैसे नयीं की नीति
नवभूमिका^२ या नवभूका (नी भेद वाली) होती है । जो वैसी विहित वृषभेश्वरावतारा^३ (वृषभ जिन
के अवतरण वाली) है जैसे योगस्थिति^४ (नैयायिक व वैशेषिक के दर्शन) विहित वृषभेश्वरावतारा (वाम्बु
के अवतार वाली) होती है । जो वैसी कपि-कालय-शालिनी^५ (वन्दरों व लतागृहों से सुशोभित) है, जैसे

१. 'नवभूका' इति ह. लि. सटि. (ख) प्रती पाठः ।

२. नयनीतिर्बवविधा—नैगमस्त्रिविधो द्रव्यपर्यायोभयभेदेन, संग्रह्यवहारादयश्च षड्भेदाः ।

ह. लि. स. टि. प्रति (घ) से संकलित—

३. वृषभेश्वरः शंभुरादितीर्थकरश्च ।

४. नैयायिक वैशेषिकप्रयोगाः ।

५. कपिलदेवतालयेन शालते इत्येवं शीला, पक्षे मर्कटैः लतागृहैः शालिनी शोभमाना ।

अमरगुरुभारतीव निवारितपरलोकदर्शना, मीमांसेव निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा, पिटकत्रयपद्धतिरिव योगाचार-
गोचरा, महापुरुषमंत्रोव स्थिराधिष्ठाना, सत्सचिवप्रयुक्तिरिव सुघटितसन्धिः, अभिनवविलासिनीव सुकुतूहलविलोकना,
कुचुमारविष्टेव बहुविस्मयावहा, विजयसेनेव बाहुबलिविदिता, क्ष्मणुनिकेव सुपाश्वांगता, कुबेरपुरोव यक्षमिथुनसनाथा,
नन्दनवनलक्ष्मीरिवाशोकरोहिणीपेशला, शंभुसमाधिविध्वंसवेलेव प्रकटरतिजीवितेशा, सुकविभूतिरिव चित्रबहुला, मुनि-

सांख्यजनता कपिलता-लय-शालिनी (कपिल मुनि में लय से होने वाली स्वरूप प्राप्ति से मुशोभित) होती है ।
जो वैसी निवारित परलोकदर्शना^१ (मिथ्यादृष्टियों के मतों को निवारण करने वाली) है जैसे अमरगुरुभारती
(बृहस्पति का दर्शन) निवारितपरलोकदर्शना (परलोक (स्वर्गादि) की मान्यता को निराकरण करने
वाली) होती है । जो वैसी निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा (नियोग—चरणानुयोगादिप्रश्न व दर्शन-
विशुद्धि-आदि षोडश कारण भावनाओं के विस्तार को निरूपण करने वाली) है, जैसे मीमांसा^२ (मीमांसक-
दर्शन), निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा (नियोग व भावनारूप वाक्यार्थ के विस्तार को निरूपण करने
वाली) होती है । जो वैसी योग-आचार-गोचरा^३ (योग (आस्त, आगम व पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से व्याप्त
हलन्-चलन्रूप आत्मप्रदेश) व आचार (संचित कर्मों के क्षय का कारण व भविष्यत् कर्मों के आगमन को
रोकने में कारण संयमधर्म) की पद्धति है, अथवा योग (धर्मध्यान व शुक्लध्यान) तथा आचार (सम्यग्चारित्र्य
की गद्धति है । अर्थात्—जो धर्मध्याना, शुक्लध्यानों व चारित्रनिष्ठ महर्षियों से व्याप्त है, जैसे पिटकत्रय^४-
पद्धति (धर्म, संघ या संज्ञा तथा ज्ञान ये बौद्ध-दर्शन में पिटकत्रय हैं) योगाचार गोचरा (ज्ञानाद्वैतवादी
बौद्धों से माननीय) होती है । जो वैसी स्थिर-अधिष्ठाना (निश्चल आचार वाली या स्थान वाली) है, जैसे
महापुरुषों की मित्रता स्थिराधिष्ठाना (चिरस्थायिनी) होती है । जो वैसी सुघटितसन्धि^५ (अच्छी तरह
रची हुई मिलापवाली) है, जैसे प्रशस्त सचिव^६ (मन्त्री) की सन्धि-प्रयुक्ति (सामनीस का उपयोग) सुघटित
सन्धि (अच्छी तरह से तैयार किये हुए मेत्री के विधानवाली) होती है । जो वैसी सुकुतूहल विलोकना (कौतुक-
जनक दर्शनवाली) है जैसे नवीन वेश्या सुकुतूहलविलोकना (उत्तम नेत्रोंवाली या कामी पुरुषों के लिए
श्लाघनीय दर्शनवाली) होती है । जो वैसी बहुविस्मयावहा (विशेष आश्चर्य जनक पदार्थों (चित्रादि) को
धारण करनेवाली) है, जैसे कुचुमार^७ विद्या (इन्द्रजालिया की कला) बहुविस्मयावहा (दर्शकों के चित्त में
विशेष आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली) होती है ।

जो वैसी बाहुबलिविदिता^८ (जहाँ पर बाहुबलिस्वामी केवली चित्र-लिखित) हैं, जैसे विजयसेना

१. बृहस्पति मते परलोको नास्ति, पक्षे परेषां मिथ्यादृष्टीनां मतानि यत्र नावन्ति ।
२. मीमांसकमते नियोगभावनावक्यार्थः, स्वपक्षे चरणानुयोगादिप्रश्नः दर्शनविशुद्ध्यादिकाः भावनाः ।
३. योगः आसत्तागमपदार्थयाथात्म्यज्ञानानुविद्धसपरिस्पन्दआत्मप्रदेशः, उपात्तागामिककर्मक्षयप्रतिबन्धहेतुराचारः ।
अथवा—योगे ध्याने हे, आचारः तयोः पद्धतिः, पश्चान्तरे तु योगाचारः ज्ञानाद्वैतवादी ।
४. धर्मः संघः ज्ञानमिति पिटकत्रयं । अथवा धर्मं संज्ञाज्ञानानि इति पिटकत्रयं ।
५. सन्धिर्योनी गुरंगायानं नद्यां स्लेषमेदयोः । 'सन्धिर्योने' 'सन्धिर्योने' यानमित्यमरः ।
६. तद्वृत्तं—संपत्तिः स्वामिनः स्वस्य विपत्तीस्तदरातिषु यः साधयति बृद्धयैव तं विदुः सचिवं वृषाः ॥ १ ॥
७. कुचुमारः अथवा पाठान्तरं कुचुमारः कुहकविद्योपाध्यायः । ह० लि० सटिप्पण प्रतियों से संकलित—सम्पादक
८. बाहुबलीश्वरः केवली च ।
९. विजयो जये पार्थ विमाने विजयोमातस्खयोस्तिथावपि ।

भक्तगतिरिव चरणकरणानन्दिनी, भरतमुनिपदवीव विविधलयनाट्याडम्बरा, पुरंदरपुरीव सन्निहितरावता, हरपरिविवासीन-
सौरभेया, शिशिरगिरिवरीव निलीनोपकण्ठकण्ठीरवा, भणानाचलतटीव समोपशोभिता, वक्षस्पृश्यसंस्थेव प्रलम्बित-
कुसुमशरा, मुरसीलाटनिरिव सविश्वविधुधनमण्डला, पाण्ड्यमुद्रेव शकुलियुगलाङ्किता, सच्यकुमसंपत्तिरिव पूर्णकुम्भा-
भिरामा, फंदभाटातितनुरिव कमलाकरसेविता, समवसरणसभेव प्रसाधितसिंहासना, अजडाशयानुगतापि जडनिधिमती,

(गौरी-पावती की सेना) बाहुवलिबिंबिता (श्रीमद्भादेव ईश्वर से अभिप्रेरित) होती है । जो वैसी सुपाश्वरिणी^१ (पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर से मुशोभित) है, जैसी रूपागुणानका^२ (चित्रकर्म) सुपाश्वरिणी (समोप में वृत्तविशेष वाली या चित्रलिखित चन्द्रसूर्य विम्बवाली) होती है । जो वैसी यक्षमिथुनसनाथा (चित्र-लिखित कुवेरो के जोड़ों से सहित) है जैसी कुवेरपुरी यक्षमिथुनसनाथा (यक्षजाति के देवों के जोड़ों (यक्ष-यक्षिणियों) से सहित) होती है । जो वैसी अशोकरोहिणी^३ पेशला (चित्र-लिखित अशोक राजा व रोहिणी रानी से मनोज्ञ) है, जैसे नन्दनवन-लक्ष्मी अशोक रोहिणी पेशला (अशोक वृक्ष व रोहिणी वृक्षों से मनोज्ञ) होती है । जो वैसी प्रकटराति-जीवितेशा^४ (जहाँपर प्रद्युम्नस्वामी चित्र-लिखित हैं) है जैसे चंद्रमुसमाधिविध्वंसबेला (रुद्र के ध्यान को विध्वंस करने का समय) प्रकटरातिजीवितेशा (कामदेव को प्रकट करने वाली) होती है । जो वैसी चित्रबहुला^५ (चित्र-सृष्टिवाली) है, जैसे उत्तम कवि की काव्य-रचना चित्रबहुला (छत्र, मुरजवन्धादि की बहुलता-युक्त) होती है । जो वैसी चरणकरणानन्दिनी^६ (चरणानुयोग व करणानुयोग संबंधी शास्त्रों से आनन्द देनेवाली) है जैसे मुनिभक्तगति (नास्तिक-मत व कामसूत्र) चरण-करण-आनन्दिनी (चरण (भक्षण) व कर्ण (उत्फुल्ल विजृम्भादि) से आनन्ददायिनी) होती है । जो वैसी विविधलय-नाट्याडम्बरा (नाना भाँति के संगीत-लय के साथ नृत्य के विस्तार वाली) है, जैसे भरतमुनिपदवी (भरतमुनि का नाट्यशास्त्र) विविधलयनाट्याडम्बरा नानाप्रकार की लयों के साथ नृत्य का विस्तार वर्णन करनेवाली) होती है ।

अब शास्त्रकार पुरन्दर^७ इत्यादि विशेषणों से प्रस्तुत वसंतिका की चित्रलिखित स्वप्नावलि (१६ स्वप्नों) का वर्णन करते हैं—जो वैसी सन्निहितरावता (चित्र-लिखित ऐरावत हाथीवाली) है जैसे इन्द्र-नगरी सन्निहितरावता (निकटवर्ती ऐरावत हाथी-युक्त) होती है । जो वैसी आसीन सौरभेया (चित्र-लिखित शुभ्र वृषभ वाली) है जैसे हरपरिवद (श्री शिव की सभा) आसीन सौरभेया^८ (वृषभ-नदिया की) स्थिति वाली होती है । जो वैसी निलीनोपकण्ठकण्ठीरवा (समीप में चित्रलिखित सिंहवाली) है जैसे हिमालय की गुफा निलीनोपकण्ठ-

१. पार्श्वरिणी चित्रकर्मणि वृत्तविशेषाः, तीर्थङ्करविशेषागतं च ।

२. चित्रकर्मणि समोपे चन्द्रसूर्यविम्बादिचित्रलिखिताः ।

३. अशोकवृक्षः, रोहिणीवृक्षः पक्षे अशोकरोहिणी यत्र चित्ररूपं ।

४. अशोकवृक्षः, राजा च रोहिणीवृक्षः राज्ञी च ।

५. प्रकटः कामो यत्र, पक्षे प्रद्युम्नस्वामी चित्रलिखितो यत्र ।

६. रुद्रः ।

७. चित्ररगः, पक्षे छत्रमुरजवन्धादिः ।

८. चरणं नश्रणं कर्णं उत्फुल्लविजृम्भादिकं, चरणकरणे आगमविशेषः ।

९. चार्वाकमतं कामशास्त्रं वा ।

१०. पुरन्दर इत्यादिना चित्रलिखिता स्वप्नावलीं वर्णयति ।

११. वृषभः ।

उन्मीलिताहिलोकापि सकलजनोपभोग्या, अहोमशालापि प्रत्यक्षहुतहुताशना, निःस्पृहोपभोग्यापि समर्पिनिचया, विहित-मर्त्यावतारापि प्रवर्तितवेधालया ।

कण्ठीरवा (समीपवर्ती सिंहवाली) होती है । जो वैसी 'रमोपशोभिता (चित्रलिखित लक्ष्मी से सुशोभित) है जैसे सुमेरु पर्वत की तटी^१ रमोपशोभिता (स्त्रियों से मण्डित) होती है । जो वैसी प्रलम्बितकुसुमशरा (चित्र-लिखित लटकी हुई पुष्पमालाओं वाली) है जैसे सकृपण्यसंस्था (फूलमालाओं के बैचने का स्थान) प्रलम्बित कुसुमशरा (लटकी हुई फूल-मालाओं से युक्त) होती है । जो वैसी सविधविधुब्रध्नमण्डला (समीप में चित्र-लिखित चन्द्र व सूर्य मण्डलवाली) है जैसे सुमेरुपर्वत की तटी सविधविधुब्रध्नमण्डला (समीपवर्ती चन्द्र व सूर्य मण्डलवाली) होती है । जो वैसी शकुलियुगल-अङ्किता (चित्र-लिखित मछलियों के जोड़ा वाली) है जैसे पाण्डुराजा की मुद्रिका (अंगूठी) शकुलियुगल-अङ्किता^२ (मत्स्य चिह्नवाली) होती है । जैसे प्रशस्त शकुन-सम्पत्ति (लक्ष्मी) जल-पूर्ण घट के दर्शन से मनोज्ञ होती है वैसे ही जो चित्र-लिखित जल-पूर्ण घट के दर्शन से मनोज्ञ है । जैसे श्री विष्णु की शरीर-सम्पत्ति 'कमलाकर-सेविता (लक्ष्मी के करकमलों से सेवा की हुई) होती है वैसे जो कमलाकर-सेविता (चित्र-लिखित सरोवर वाली) है । जैसे समवसरणसभा प्रसाधित सिंहासना (सिंहासन से अलङ्कृत) होती है वैसे जो प्रसाधित सिंहासना (चित्र-लिखित सिंहासन से मण्डित) है^३ ।

अब विरोधाभास अलङ्कार से शेष स्वप्नावली का निरूपण करते हैं—जो अजलाशय-अनुगता^४ (चतुर अभिप्रायवाली) होकर के भी जड़ निधिमती (मूर्खता की निधि) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो चतुर अभिप्राय से युक्त होगी, वह मूर्खता की निधि कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि श्लेषालंकार में ड और ल एक समझे जाते हैं, अतः जो अजलाशय-अनुगता (तालावरूप नहीं) है और अपि (निश्चय से) जलनिधिमती (चित्र-लिखित समुद्र-युक्त) है । जो उन्मीलिताहिलोका^५ : प्रकट हुए सर्प-समूहवाली) होकर के भी सकलजनोपभोग्या (समस्तजनों द्वारा सेवन करने योग्य) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जहाँ गर साँपों का समूह प्रकट होगा वहाँ पर समस्त जन कैसे निवास कर सकते हैं ? इसका परिहार यह है कि जो उन्मीलित अहिलोका (प्रकट हुए चित्र-लिखित नागेन्द्र-भवन वाली) है एवं जो निश्चय से समस्त मानवों द्वारा सेवन करने योग्य है । जो अहोमशाला (होमशाला न) होकर के भी प्रत्यक्षहुत^६ हुताशना (जहाँ पर प्रत्यक्ष में अग्नि में हवन किया गया है, ऐसी) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो होमशाला नहीं है, वहाँ पर प्रत्यक्ष में अग्नि में हवन करना कैसे संभव हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो सहस्रकुट मन्दिर होने के कारण होमशाला नहीं है एवं निश्चय से जो प्रत्यक्ष हुतहुताशना (प्रत्यक्ष प्रतीत हुई चित्र-लिखित अग्नि-ज्वाला वाली) है । जो निःस्पृह-उपभोग्या (कामना-शून्य या सांसारिक बन्धन-मुक्त साधु-पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य) होकर के भी समर्पिनिचया^७ (रत्नराशियों से युक्त) है । यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो निःस्पृह साधुपुरुषों द्वारा सेवन योग्य होगी, वह रत्नराशि से युक्त कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि जो

१. रमा लक्ष्मीः स्त्री च । २. तटी—कटणी ।

३. पाण्डुराजः मुद्रिकायां मत्स्यचिह्नं भवति ।

४. लक्ष्मीहस्त, पक्षे सरोवरं चित्रे लिखितं ।

५. श्लेषोपमालंकारः ।

६. दक्षाशयप्राप्ता ।

समूह ।

७. प्रकटितनागालया ।

८. दत्ता लिखिता अग्निज्वाला ।

९. लिखितरत्नसमूहा—रत्नराशिः लिखिता ।

यत्र चाभिषेकसलिलेषु कलुषता, मलयजेषु जडघर्षणम्, अक्षतेषु मुशलाभिघातः, चक्रपुष्पेषु गुणविमुखता, चक्षुरस-
संकरः, प्रदीपेषु मलिनोद्गारः, धूपधूमेष्ववसानवैरस्यम्, फलस्तवकेषु पलाशोपरोधः, कुसुमाञ्जलिषु विनिपातः, स्तुतिषु पर-
लोकप्रार्थनम्, जपेषु गूढमन्त्रप्रयोगः, प्रसह्यानेषु वेहसन्नता, अगुरुबहनशालाजिरेषु मलीमसमुत्पन्नत्वम्, मुनिषु धर्मगुणविजृम्भणम्,

निःस्पृहों (कामना-शून्य महापुरुषों) द्वारा सेवनीय है और निश्चय से जो समणिनिचया (चित्र-लिखित रत्न-
राशि-युक्त) है और जो विहित-मर्त्य-अवतारा (मनुष्यों के आगमन वाली) होकर के भी प्रदर्शित देवालय
(देवों का स्थान प्रदर्शित करनेवाली) है । वह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो मनुष्यों का आगमन स्थान होगा
वह देवों का स्थान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो विहितमर्त्यावतारा (मनुष्यों के आगमन
वाली) है और निश्चय से जो प्रदर्शितदेवाल्या^१ (चित्र-लिखित स्वर्ग-विमान को प्रदर्शित करनेवाली) है^१ ।

जहाँ पर कलुषता^२ (कर्पूर-आदि की मिश्रता) अभिषेक संबंधी जलों में थी परन्तु मनुष्यों के हृदयों में
कलुषता (राग) नहीं थी । जहाँ पर मलयागिर चन्दनों में जडघर्षण (श्लेष में ड और ल का अभेद है; अतः
जल-घर्षण—जल में पीसना) था परन्तु मनुष्यों में जड-घर्षण (जड़ता—मूर्खता से कूटे जाने का कष्ट) नहीं था ।
जहाँपर मुशलाभिघात (मूसलों से कूटना) चाँवलों में था परन्तु मनुष्यों में मुशलाभिघात (अनैतिक
प्रवृत्ति से मूसलों द्वारा दण्डित किया जाना) नहीं था । जहाँ पर पुष्पमाला के पुष्पों में गुणविमुखता
(तन्तु-गुम्फिता) थी परन्तु मनुष्यों में गुण-विमुखता (ज्ञानादि गुणों से विमुखता—पराङ्मुखता) नहीं
थी । जहाँ पर रससंकरता^३ (माधुर्य-आदि रसों की मिश्रता) चरुद्रव्यों (मोदकादि नैवेद्य पदार्थों) में थी
परन्तु मनुष्यों के हृदयों में रससंकरता (राग) नहीं थी । जहाँ पर मलिनोद्गार^४ (कृष्ण कज्जल का वमन)
दीपकों में था, परन्तु मनुष्यों के हृदयों में मलिनोद्गार (दोषों का उदय) नहीं था । जहाँ पर अवसान वैरस्य
(अन्त में विरसता) धूप के धूमों में था परन्तु मानवों में अवसान वैरस्य (मृत्यु के अवसर पर पीड़ा) नहीं था
अथवा अकाल मृत्यु का कष्ट नहीं था । जहाँपर पलाशोपरोध (पलाशों—पल्लवों से राहित) फलों के गुच्छों में
था । अर्थात्—जहाँपर फलों के गुच्छे कोमल पत्रों से मण्डित थे एवं जहाँपर मानवों में भी पलाशोपरोध
(राक्षसों का निवारण) था । अर्थात्—जहाँ पर मनुष्यों में कोई भी मांसभक्षी नहीं था ।

जहाँ पर विनिपात^५ (अवपात—नीचे भूमि पर गिरना) पुष्पाञ्जलियों में था परन्तु मनुष्यों में
विनिपात (देवता-व्यसन—कुभाग्योदय से उत्पन्न होनेवाला आकस्मिक कष्ट) नहीं था । जहाँ पर परलोक-
प्रार्थन (स्वर्गलोक की इच्छा) स्तुतियों में था परन्तु मनुष्यों के हृदयों में परलोक-प्रार्थन (शत्रुता की
भावना) नहीं था । जहाँ पर गूढमन्त्र-प्रयोग (एकान्त में मन्त्रों का उच्चारण) जपों में था परन्तु मनुष्यों

१. स्वर्गविमाना ।

२. विरोधाभासालंकारः—ह० लि० छटि० (ख) प्रति से संकलित—सम्पादक

३. कर्पूरादिमिश्रितत्वात् मिश्रता, न तु हृदयेषु रागः ।

४. मिश्रता, न तु हृदयेषु रागः ।

५. 'मलिनं कृष्णदीपयोर्मलिनो रजःस्वलायाम्' ।

६. राक्षसनिवारणं, मांसभक्षी कश्चिन्नस्ति पक्षे पत्रसंहिताः फलगुच्छाः वर्तन्ते । ह० लि० (ख) प्रति से संकलित—

७. 'पलाशो राक्षसः पल्लवश्च' यश०-पञ्जिका से—संकलित

८. विनिपातस्तु वैषतं व्यसनमवपातश्च ।

९. गूढं रहः संवृतयोः देवादिसाधने वदांगे गुप्तवादे च ।

प्रसूनोपहारेषु शिलीमुखसंपातः, पटहेषु कराहतिः, नमसितेषु पदबन्धः, रङ्गवल्लिषु परभागकल्पनम्, यतिचरित्रेषु विग्रहदण्डश्रुतिः, सोपानेषु विषमता, वेहलीषु लङ्घनापराधः, सृपाटीषु करग्रहणम्, अररेषु द्विधाभावः, शास्त्रेषु परदूषणोपश्रवणम्, उपन्यासयोग्यासु विगृह्यवादः, पर्वक्रियासु वर्णसंकीर्णता, विनेयविनयनेषु भ्रुकुटिकरणम्, वातायनेषु अनुमार्गता, केतुकाण्डेषु स्वभावस्तद्वत्त्वम्, वंजयन्तीषु परप्रणयता, मणिवितानेषु गुणनिगूहनम्, रजनिमुखेषु गलप्रहोपवेशः, शकुनावासेषु विलयविलसितम्, लिपिकरेषु चाञ्जनोपार्जनम् ।

में गूढमन्त्र प्रयोग^१ (गुप्तमन्त्रों से प्रयोग—उच्चाटन-आदि कर्म करना) नहीं था । जहाँ पर धर्मध्यानों में देह-सन्तता (शारीरिक कष्ट) थी परन्तु मनुष्यों में देहसन्तता^२ (शारीरिक पीड़ा) नहीं थी । जहाँ पर मलीमसमुखता (कृष्णता—मलिनता) अगर, अग्नि व गूहाङ्गणों में थी परन्तु मानवों के हृदयों में मलीमसमुखता (दुष्टता) नहीं थी । जहाँ पर धर्मगुण-विजृम्भण^३ (धर्म—प्राणिरक्षा-आदि व गुण-विजृम्भण—ज्ञानादि प्रशस्त गुणों का विस्तार) मुनियों में था परन्तु योद्धाओं में धर्मगुणविजृम्भण (अनुष पर डोरी का आरोपण) नहीं था । जहाँ पर शिली-मुखसंपात^४ (भीरों का पतन) पुष्पोपहारों में था, परन्तु संग्राम में शिलीमुख-संपात (बाणों का प्रक्षेप) नहीं था । जहाँ पर कराहति (हस्तों से ताड़न) मृदङ्गों या नगाडों में थी, परन्तु मनुष्यों में कराहति (विशेष राज्य देवस से पीड़न) नहीं थी ।

जहाँ पर पदबन्ध (श्लोकों के चरणों का गुम्फन) नमसितों^५ (नमस्कारों) में था परन्तु मनुष्यों में पदबन्ध (अन्याय करने से पैरों का बन्धन) नहीं था । जहाँ पर परभाग^६कल्पन (शोभा करना) रङ्गवल्लियों (नाट्य-भूमियों या चित्र-रचनाओं) में था, परन्तु जहाँपर पर-भागकल्पन (शत्रुओं को घन की प्राप्ति या शत्रुओं का उदय) नहीं था । जहाँ पर विग्रहदण्डश्रुति (शारीरिक कष्ट-सहन की प्रतिज्ञा) मुनियों के चरित्र-पालन में थी परन्तु मानवों में विग्रहदण्डश्रुति (युद्ध और तीक्ष्ण दण्ड विधान का श्रवण) नहीं था । जहाँ पर विषमता (असमानता) सीढियों में थी, परन्तु मनुष्यों में विषमता नहीं थी । जहाँ पर लङ्घनापराध (लौंघने का दोष) देहलियों में था परन्तु मनुष्यों में लङ्घनापराध (कड़ाका करने या तिरस्कार करने का दोष) नहीं था । जहाँ पर कर-ग्रहण (हाथों से उठाना व धरना) पुस्तकों में था परन्तु मनुष्यों में कर-ग्रहण (दान-ग्रहण) नहीं था । जहाँ पर द्विधाभाव (खोलना) अररों^७ (किवाड़ों) में था, परन्तु जनता में द्विधाभाव (चेमनस्य) नहीं था । जहाँ पर दूषणोपश्रवण (श्रुतिकटु व अश्लील-आदि काव्य दोषों) का श्रवण काव्य-शास्त्रों में था परन्तु मनुष्यों में परदूषणोपश्रवण (दूसरों की अपकीर्ति या अपवाद की प्रतिज्ञा) नहीं था । जहाँ पर विगृह्यवाद (समासपूर्वक कथन) उपन्यास-योग्या में था । अर्थात्—नीतिशास्त्रों या वाक्यों का अभ्यास समास पूर्वक होता था परन्तु मनुष्यों में विगृह्यवाद—संग्रामवाद नहीं था । जहाँ पर वर्णसंकीर्णता^८ (स्तुतियों की मिश्रता) पर्वक्रियाओं (उत्सव-दिनों) में थी परन्तु मानवों में वर्णसंकरता नहीं थी । जहाँ पर भ्रुकुटिकरण (भोहों का चढ़ाना) शिष्यों की शिक्षाओं में था परन्तु मनुष्यों में युद्ध-निमित्त भ्रुकुटि चढ़ाना

१. 'प्रयोगः कार्मणे पुंसि प्रयुक्तो च निदर्शने' इति विश्वः । २. 'गूढं रहसि गुप्ते च' इति विश्वः ।

३. पीड़ा । ४. न तु सुभटेषु ।

५. धर्मः स्वावस्थित्यां पुण्ये धर्मा न्यायस्वभावयोः । उपमायां यमाचारवेदान्तेऽपि अनुष्वपि ॥१॥ इति विश्वः ।

गुणो रूपादिसत्त्वाविविधावहिरितादिषु । सूत्रेऽग्रधाने सम्प्रादौ रज्जो मौष्यां वृकोदरे इति विश्वः ।

६. भ्रमर न तु संग्रामे बाणाः । ७. नमस्कारेषु ।

८. शोभा, न तु परेषां शत्रूणां द्रव्यभागः । ९. परभागः शोभा, परोदयं च । १०. कपटेषु ।

११. योग्याकर्कशोपिचि, अभ्यासे अभ्यासविषये समासपूर्ववादः न तु संग्रामवादः ॥ योग्या अभ्यासः ।

१२. 'वर्णो द्विजादौ बुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे' इत्यमरः ।

धस्याश्च प्रतिविवसं दिविजसभाजनं पौरजनरुषहिताति भगवतः स्वकीयपादमुद्रितजगत्प्रयपतेजिनपतेर्मञ्जान-
मङ्गलानिविन्दमानायाः सकृत्प्रकान्ताभिषेकमहोत्सवलज्जित इव जातस्त्वर्ततरभावः पुरो निवसति मन्वरः । अपि च ।

आयभिवः—

यामेवं प्रावृण्यदनस्पसंकल्पनो विनयेजनः । [वृष्ट्वा] विधूरभावादुत्प्रेक्षापसतां नयति ॥५४॥

भीरेया स्वर्गसिन्धोः किमु पवनवलोलोलकल्लोलवारेः स्वर्णच्छायाप्रतानस्तवनु विसरति व्योम्नि कोऽप्य प्रकारः ।

ब्रुवन्धोताववाता विशि विशि च तताः कान्तयो भान्ति मध्ये स्थानेऽस्मिञ्जनसीधार्वालिष्परिलसत्केतुसीवर्णकुम्भाः ॥५५॥

नहीं था । जहाँ पर बहुमार्गता (वायु-प्रवेश व उसके निस्सरण-हेतु अनेक मार्ग) वातायनों (खड़कियों-आदि) में थी परन्तु वहाँ पर बहुमार्गता (अनेक मार्गों-अगहन भासों—की स्थिति) नहीं थी । जहाँ पर स्वभाव-स्तब्धत्व^१ (स्वाभाविक कठिनता) केतुकाण्डों (ध्वजादंडों) में था परन्तु मनुष्यों में स्वभावस्तब्धत्व (स्वाभाविक निर्दयता) नहीं था । जहाँ पर परप्रणेयता^२ (दूसरों के द्वारा ले जाना) वैजयन्तियों^३—ध्वजाओं—में थी परन्तु वैजयन्ती—सेना—में प्रेरणता नहीं थी । जहाँ पर गुणनिगूहन^४ (तन्तुओं का प्रेरण) मणि-वितानों—चैदेवों—में था परन्तु वहाँ की जनता में गुणनिगूहन (दूसरों के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन) नहीं था । जहाँ पर गलग्रहोपदेश^५ (गाय-वगैरह पशुओं का वन्धन) रजनीमुख (संध्या) में था परन्तु मनुष्यों में गलग्रहोपदेश—अप्रत्युपकार (कृतघ्नता अथवा आकस्मिक कष्ट) नहीं था ।

जहाँ पर वि-लय विलसित^६ (पक्षियों के निवास का विलास) शकुनावासों^७ (धोंसलों) में था, परन्तु मनुष्यों में विलय-विलसित (विनाश का विस्तार-अपमृत्यु) नहीं था । जहाँ पर 'अञ्जनोपार्जन' (अञ्जन—स्याही द्वारा धनोपार्जन) लिपिकरों^८ (लेखकों) में था । परन्तु मनुष्यों में अञ्जनोपार्जन (कलङ्क का उपार्जन) नहीं था^९ ।

जिस वसतिका के सामने, जो कि प्रत्येक दिन देवों-सरोखे नागरिक मनुष्यों से किये गए ऐसे भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक मङ्गल प्राप्त कर रही है, जो कि अपने चरण कमलों द्वारा तीनलोकके स्वामियों (इन्द्र-आदि) को अधकृत करने वाले हैं, शोभा के लिए कृत्रिम सुमेरु पर्वत स्थित है । जो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—अभिषेक मेरु [देवों से] केवल एक बार किये हुए मनोज्ञ अभिषेक महोत्सव से लज्जित हुआ ही लघु हो गया है ॥६॥

विशेषता यह है प्रचुर कल्पनाएँ प्रकट करने वाला शिष्यजन जिस वसतिका को दूर से देखकर उसे निम्न प्रकार की उत्प्रेक्षाओं के पक्ष में ले जाता है ॥ ५४ ॥

जो (वसतिका) ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—वायु की शक्ति से चञ्चल हुई तरङ्गों के जलवाली स्वर्गगंगा की यह लक्ष्मी ही है । अथवा—मानों—कलश-सहित सुवर्ण की कान्ति का समूह ही है । अथवा—मानों—कोई यह प्राकार (कोट) ही आकाश में विस्तृत हो रहा है । अथवा उसकी प्रत्येक दिशा में विस्तृत

१. दंडेषु कठिनत्वं । २. प्रेरणता । ३. पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः ।

४. गोपनं प्रेरणं आच्छादनं । ५. गवादीनां वन्धनं, न तु अप्रत्युपकारः ।

६. वीनां लयः तस्य विलसितं पक्षे न पुनर्विनाशः । विलयो विनाशः पक्षिसंशयश्च ।

७. लयस्तूर्यत्रयोसाम्ये संश्लेषणविनाशयोः । ८. शकुनः शकुनिश्च पक्षी ।

९. अञ्जनेमाषोपार्जनं, न तु कलङ्कः 'अञ्जनं मषौ रसान्जने वक्तो सीवीरे' ।

१०. परिसंख्यालंकारः । ११. उत्प्रेक्षालंकारः ।

चक्षुर्विधि, तमत्काण्डखण्डापसर्व'रिव कञ्चुच्छदंरुसराङ्गणे, कृष्णलेखापटलैरिव करटकुलैश्चकलूषितगेह। प्रभागभूमि, निरयनियासिभिरिव कुणपकलेवरेषु युद्धोद्वान्महुभिः सृगव्यद्भिर्वदंजनोपनिवेशे, जनंगमावासोवेशे, तस्मादभृतमति-महादेवीकृतपरापायप्रयोगाद्यशोमतिमहाराजवाजिजिनाशोद्योगाच्च व्यतीत्य तं वस्तुकातराजभावमहं सा च मयो-याम्बिका चरणायुधान्वये सहैव जन्म प्रत्यपद्यावहि । तदनन्तरमेव च वृषवंशवंष्टाककचगोथरतयावयोर्लोकान्तरगिरि-मातरि पुनः काकतालीयकन्यायेन कृतकोणिकोत्कलिका, मालबालिकातीव जरत्कुटीरनिकटोत्कुटकुलायकोटरे चिराव-वह्निता सती कर्णाभ्यर्णवर्णनिर्गन्धेनावा निगूह्य परिगूह्य च तनूहृन्निषिद्धं पोषयामास ।

व्यतीतस्वभावे च बालभावे कदाचिदसावासन्नविद्याधरीजनकेलिशर्मा चण्डकर्मा समाचरितस्वरविहारस्तत्र स्वपवाटकोपकण्ठभूमिकायाभावाभेकस्यांतावसापिमुत्स्य हस्तगतौ समालोक्यास्मन्नूपसंपदालोकविस्मितमनस्कारस्तुष्टि-प्रवानोत्पादितविवाकीर्तिनखनानन्दः समादायानोय च यशोमतिमहाराजायावीक्षत् । राजाभ्यावाभवेभ्य जातादचर्यः

गुप्त्र वर्णवाली है जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—भविष्य जन्म संबंधी पापों के अङ्कुर ही हैं । जिसकी गोपानसी (गृहाच्छादन पटलैकदेश) का पर्यन्त भाग ऐसे चमड़ों से चित्रवर्ण-युक्त है, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—मूर्तिमान कर्म ही हैं । जिसका तृणकुटी-पटल ऐसी शुष्क मांस श्रेणियों से पाटल (श्वेत-रक्त) है, जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—पूर्वजन्म संबंधी दुःखरूपी अग्नि की ज्वालाएँ ही हैं । जिसका अङ्गण ऐसे जलकाक-पंखों से शूसर (घुमेले रंग का) है, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—गाढ अन्धकार के निकृष्ट खण्ड ही हैं । जिसके गृह की अग्रभागभूमि, ऐसी काक-श्रेणियों से उत्कलुषित (विशेष मलिन) है, जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—कृष्णलेखाओं (रौद्रपरिणामों) की श्रेणियाँ ही हैं । जिसका निवेश (प्रवेश-द्वार) ऐसे कुत्तों से भयङ्कर है, जिनके चित्त दुर्गन्धित मुर्दा-शरीरों में युद्ध-गर्भ से अन्धे हो रहे हैं, (अथवा पाठान्तर में जो दुर्गन्धित मुर्दा शरीरों में युद्ध करने में उद्यमशील होते हुए ऊपर उछलने का प्रयत्न कर रहे हैं) जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—नरकों में निवास करनेवाले नारकी ही हैं, उस अमृतमति महादेवी द्वारा किये हुए द्वितीयवार मारण के प्रयोग से एवं यशोमति महाराज संबंधी थोड़े के विनाश के उद्योग से उस बकरे की व भैंसे की पर्याय व्यतीत करके [उपर्युक्त चाण्डाल के निवास स्थान में] मैंने (यशोधर के जीव ने) और मेरी माता (चन्द्रमति के जीव) ने मुर्गों के वंश में साथ-साथ ही जन्म धारण किया । पश्चात् हम दोनों की माता मुर्गों विलाव की दाढ़रूपी धारे का विषय होने से काल-कवलित हुई । पश्चात्—काकतालीय न्याय (अचानक संयोग) से क्रीड़ा करने में उत्कण्ठा करनेवाली चाण्डाली ने, जो कि अत्यन्त जर्जरित जंघड़ी के निकटवर्ती मुर्गा पक्षी के घोंसले के निकट चिरकाल तक एकाग्र स्थित हो रही थी, श्रोत्र समीपवर्ती शब्द के निश्चय से हम दोनों को निश्चय करके ग्रहण किया और पुत्र-सरोखा पालन किया ।

अथानन्तर जब हमारी वाल्यावस्था व्यतीत हुई तब किसी अवसर पर स्वच्छन्द पर्यटन करनेवाले इस चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने, जिसकी विद्याधरीजनों के साथ क्रीड़ा करने का गुप्त समीपवर्ती है, उस क्षुद्र चाण्डाल-की समीपवर्ती भूमि पर हम दोनों (मुर्गा-मुर्गी) को एक चाण्डाल-पुत्र के हस्तगत देखा । फिर हम दोनों की लावण्य सम्पत्ति के दर्शन से आश्चर्य-युक्त चित्त के विस्तार वाले उसने, सन्तोष (पारितोषिक) प्रदान से प्रस्तुत चाण्डाल-पुत्र को आनन्द उत्पन्न करके हम दोनों को ग्रहण किया और लाकर यशोमति महा-राज के लिए दिखाया । फिर राजा ने भी हम दोनों को देखकर आश्चर्यान्वित होसे हुए निम्नप्रकार विचार करके चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल से कहा—'अहो आश्चर्य है 'इन पक्षियों की शारीरिक रचना (लावण्य संपत्ति) समस्त मुर्गों की श्रेणी में श्रेष्ठतम व दूसरी (कहने के लिए अशक्य) व अनोखी ही है' हे चण्डकर्मा कोट्टपाल ।

‘अहो, अपर एव कोऽप्यनयोः शकुनयोः सकलताम्रचूडकुलातिशायी शरीरसन्निवेशः’ इति विमृश्य ‘चण्डकर्मन्, तिष्ठतु तावदेतत्तत्सर्वं हृत्ते पत्ररथमिधुमम् । अहमिदानीमेवेमं पुष्परथं सतापीकृत्यैतत्कर्णोरथ्याकृद्विलासिनीजनपरिवृतः सहान्तः-पुरेण पीठमर्द्विटविदूषकनायकसामाजिकलोकानुगतः सहस्रकूटचैत्यालयोपवने मकरध्वजपूजार्थं यजिष्यामि । तत्र पुनर्पुद्ब-विनोदास्तेषां प्रदर्शयितव्यम्’ । चण्डकर्म ‘यथाज्ञापयति देवः’ इत्यभिधाय निश्चकाम । आजगाम च गौरिकरसारणित-पटकुटीप्रभाजालविराजमानकुजराजीकमनेषोपकार्यपर्यायपरिगतपर्यन्तावनौकं तदुद्यानम् । तत्र च शकुनसर्वज्ञेन सूरिणा भागवतेन, नक्षत्रपाठकेन धूमध्वजेन द्विजातिना क्षत्र्यवाद्यपिदा हरप्रबोधेन जटिना सरपटोषधुधेन सुगतकीर्तिना वाश्येन सह मुधा संबन्धसार्धकस्कन्धावलम्बितपतंगपञ्जरः स चण्डकर्म

मदनशरधिभ्रकास्तेवंतदेवोपाणिपेशलप्रान्तः । अथरदलरागपटलश्लाघ्यैरिज काननधोणाम् ॥५८॥

‘यह पक्षियों (मुर्गों) का जोड़ा तब तक तुम्हारे ही हस्तगत रहे’ क्योंकि मैं इस पुष्परथ (अथ विशेष) में बैठ करके इस कर्णोरथ (दोनों पार्श्वस्कन्धों से ले जाने योग्य पालकी विशेष) पर आरुढ़ हुई विलासिनीजनों (कामिनियों) से वीर्यत हुआ अन्तःपुर की रानियों के साथ पीठमर्द^१ (कामशास्त्र के अध्ययन से मनोज्ञ वृद्धि-वाला पुद्ब), विट (विकृत वेषधारक), विदूषक (मसखरा), नायक (विट-आदि वेषों का अधिकारी प्रधान पुरुष) व सामाजिक (संगीत-प्रवीण पुरुष) लोक से अनुगत हुआ सहस्रकूट चैत्यालय के उपवन में कामदेव की पूजा-निमित्त जाऊँगा । पुनः तुम्हें वहाँ पर पुद्बकीड़ा के लिए इस पक्षी जोड़े को दिखाना चाहिए ।’ चण्डकर्म कोट्टपाल ने कहा—‘जैगी राजा सा० की आज्ञा है ।’ ऐसा कहकर वहाँ से निकला और उक्त उपवन में, जहाँ पर वृक्ष-श्रेणी गेरु के रस से रञ्जित हुई तम्बुओं की कान्ति-श्रेणी से शोभायमान हैं एवं जिसकी समीपवर्ती भूमि अनेक उपकार्या^२ (मठमन्दिर-आदि राजसदन) की रचना से व्याप्त है, आया । वहाँ पर उस चण्डकर्म नाम के कोट्टपाल ने, जो कि शकुनसर्वज्ञ (शकुन शास्त्रवेत्ता) नाम के विष्णुभक्त विद्वान् के साथ व ‘धूमध्वज’ नाम के ज्योतिषशास्त्र वेत्ता ब्राह्मण विद्वान् के साथ एवं पृथिवी के मध्य गड़े हुए धन को जाननेवाले हरप्रबोध नाम के जटाधारी तपस्वी के साथ तथा ठक्काशास्त्र वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगतकीर्ति नाम के विद्वान् के साथ वर्तमान है और जिसने व्यर्थ के संबन्धवाले सार्धक^३ (साडूभाई) के स्कन्ध पर पक्षियों का पिजरा स्थापन किया है, ऐसे अशोक वृक्ष के मूल में निवास करने वाले भगवान् (पूज्य) श्री सुदत्ताचार्य को देख कर मन में निम्न प्रकार विचार किया ।

मनोज्ञ अशोक वृक्ष को देखिये, जो कि ऐसे पल्लवों से मनोज्ञ है, जो काम-वाणों-सरोखे चित्र व मनोज्ञ

१. ‘कर्णोरथः प्रवहणं उग्रं च समं प्रगम्’ इत्यमरः ,, कर्णिषु स्कन्धेषु रथः कर्णोरथः दीर्घोभयपार्श्वस्कन्धेनोद्गमानो रथः विमानाख्यः ।

२. तथाहि—पीठमर्दः स विजेयो यः कामागमचाकधीः । स्त्रीप्रसादविनोदजो विटो विकृतवेषभाक् ॥ १ ॥

उपप्लवस्य यः पात्रं स विदूषक उच्यते । यो गोष्ठ्या विटवेषानामधिकर्ता स नायकः ॥ २ ॥

यो गीतवाद्यनृत्यजो नैपथ्यविधिकीविदः । सामाजिकः स द्योद्व्यो यद्वत् दशः कलागमे ॥ ३ ॥

ह० लि० सटि० (७) प्रति से संकलित—सम्पादक

३. उपकार्योपकारिका मठमन्दिरादि राजसद्वत् ।

*. ‘पथीयोज्ञसरक्ते निर्माणे द्रव्यधर्म च’ ।

४. सार्धकः—निजभार्याभगिनीपतिः ।

तदणीधरभास्फालनसंक्रान्तालसक्तकप्रबोधकम् । विकिरद्भिरिव पलाशैरशोकमालोकयत कान्तम् ॥५९॥
तन्मूलनिवासवन्तं सुवत्तभगवन्तं च । स्वगतम्—'अहो कथमनेन भगवता परलोकलाब्धनकरावकाशः कथनीयतां नीतः
शरीरसंभवाभिनिवेशः श्लेशः । यतः ।

कारणं क्षुद्रप्रभवं कवचमशनं शीतोष्णयोः पात्रता पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले ।
एतान्येव गृहे बहन्त्यधनति धान्ययुजति कानने । बोधा एव गुणोभवन्ति मुनिभिर्मध्ये पदे योजिताः ॥६०॥
तद्वत्तमत्र विकल्पपरम्परया । संभाषामहे तत्त्वदेनं संयमिनम् । न खलु रत्नाकरकल्लोला इव प्रायेण भवति मुनयः शून्य-
शीलाः ।' ततः समुपसद्य निषद्य च तत्र विवावाध्येषणोत्कर्षकलुषधिषणः किलंबमाह सूरिः—

'अहो धिवेकशून्यानामात्मानार्थाधयाः क्रियाः । न ह्यङ्गोदगेतो भुक्तिर्गुणां मरुकुरङ्गवत् ॥६१॥
यस्मादेव खलु

अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान्कविलशास्त्रे ॥६२॥

हैं एवं जिनके प्रान्तभाग वनदेवी के कर-कमलों-जैसे कोमल हैं । अतः जो ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—वन-
लक्ष्मियों की ओष्ठदलसंबंधी लाली की श्रेणी से ही प्रशंसनीय हुए हैं एवं जो ऐसे प्रतीत होते हैं—मानों—युवती
स्त्रियों के पादताडन से संक्रमण को प्राप्त हुए तरल लाक्षारस की प्रचुरता को ही फँक रहे हैं॥ ५८-५९॥

अहो आश्चर्य है कि कैसे इस पूज्य ने शरीरजनित अभिप्रायवाला व स्वर्गलोक के प्रतीक अवसर-
वाला शारीरिक कष्ट प्रशंसनीयता में घास किया है । क्योंकि—'यूँ ही उदास होने वाली शारीरिक दुर्बलता,
कुत्सित या स्थल्प अन्न वाला भोजन, शीत व उष्ण के सहन करने की योग्यता, केशों में कठोरता एवं केवल
पृथिवी तल पर शयन करना, ये ही वस्तुएँ गृह पर अवन्ति को धारण करती हैं, अर्थात्—मानव की दरिद्रता
की प्रतीक हैं परन्तु वन में उन्नति को धारण करती हैं, अर्थात्—वन में उक्त कष्टों को सहन करनेवाले साधु की
महत्ता सूचित करती हैं, क्योंकि साधु पुरुषों द्वारा योग्य स्थान (धर्म ध्यानादि) में योजना किये हुए दोष ही
गुण हो जाते हैं ॥६०॥ अतः इस विषय में सन्देह-समूह करने से पर्याप्त है । इसी चरित्रधारक साधु से हमलोग
वार्तालाप करें । निस्सन्देह मुनिलोग प्रायः करके समुद्रतरङ्गों-सरीखे शून्य स्वभाववाले (निरर्थक प्रयास
करनेवाले) नहीं होते ।' फिर श्री मुदस्ताचार्य के समीप जाकर व स्थित होकर उनमें से सूरि (शकुन सर्वज्ञ
नामक विष्णुभक्त विद्वान्) ने, जो कि विवाद संबंधी अध्येषण (सत्कारपूर्वक व्यापार) की वृद्धि
से कलुषित बुद्धिवाला है, इस प्रकार कहा—'अहो ! ज्ञान-हीन पुरुषों की क्रियाएँ (कर्तव्य) आत्मा को
विपत्तियों का सङ्गम करानेवाली होती हैं, क्योंकि निश्चय से जैसे मृगतृष्णा में वर्तमान मृगों को शारीरिक
कष्टों (निरर्थक दौड़ने) से सुख प्राप्त नहीं होता (उनकी प्यास शान्त नहीं होती) वैसे ही विवेक-शून्य पुरुषों को
भी शारीरिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती' ॥ ६१ ॥

क्योंकि निश्चय से यह आत्मा निम्नप्रकार है—सांख्यदर्शन में यह आत्मा अकर्ता (पुण्य-पाप कर्मों
का बन्धन करने वाला), निर्गुण (सत्त्व, रज व तम-आदि प्रकृति के गुणों से रहित), शुद्ध (कमल पत्र सरीखी
निरलेप), नित्य (सकलकालकलाव्यापी—शाश्वत रहने वाली अविनाशी), सर्वगत (व्यापक—समस्त मूर्तिमान्
पदार्थों के साथ संयोग करने वाला), निष्क्रिय (एक देश से दूसरे देश को गमन करना रूप क्रिया से शून्य),
अमूर्तिक (प्रकृति के रूप, रस, गन्ध व स्पर्श तथा शब्द गुणों से शून्य), चेतन (शान्त चैतन्य-युक्त) और
भोक्ता (पुण्य-पाप कर्मों के सुख दुःख रूप फलों का भोगने वाला) है ॥ ६२ ॥

स यदा बुद्धिब्रह्मोपतप्तचेतास्तद्विद्यातः कहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकलोताः स्फाटिकाश्मानमिमानन्वाश्मानमप्यात्मानं सुखदुःख-
मोहावहपरिवर्तनं हवहंकाराविवर्तनं । तदुपपत्त्याः ॥६३॥ सनातनव्यापिगुणाधिकृतोः
प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति, तवायोमयगोलकानलतुल्यवर्णस्य बोधवद्बहुधानकसंसर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसंबन्ध-
वर्णकल्पं कैवल्यमवलम्बते । 'तदा ऋणः स्वरूपेऽवस्थानमिति वचनात् । ततश्च—

अशुभवत् पिबत खादत विलसत मानयत कामितं लोकाः । आत्मव्यक्तिविवेकान्मुक्तिर्ननु किं वृथा तपत ॥६३॥'

धूमध्वजः—

'घृण्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित् । विशुद्धयति कुतश्चित्सं निसर्गमलिनं तथा ॥६४॥

न चापरमिषस्ताविषः समर्थोऽस्ति यद्यर्थोऽयं तपःप्रयासः सफलयासः स्यात् । यतः ।

हावशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थितिः पुष्यः । प्रीतिः परा परस्परमनयोः स्वर्गः स्मृतः सिद्धिः ॥६५॥

वह आत्मा, जिसका चित्त तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों) से सन्तप्त है, अथवा पाठान्तर में उपलुप्त है और जिसका विवेक (सम्यग्ज्ञान) रूपी जलप्रवाह समस्त दुःखों को ध्वंस करने के कारणों के जानने की इच्छा से वर्द्धित हो रहा है, अथवा पाठान्तर में जिसका विवेकरूपी जलप्रवाह उक्त दुःखों के ध्वंस करने के कारणों की जिज्ञासा व उत्कण्ठा से अङ्कित चिह्नित है, जब ऐसी प्रकृति का स्वरूप जानता है, जो कि स्फटिक मणि-सरोखी बुद्ध व आनन्द स्वरूप वाली आत्मा को महान् (बुद्धि), अहंकार व १६ गण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्शनादि व पाँच कर्मेन्द्रिय (पायू, उपस्थ, वचन, पाणि व पाद एवं मन तथा रूप, रस, गंध, स्वर व स्पर्शतन्मात्रा) आदि विकारों से, जिनमें सुख, दुःख व मोह (अज्ञान) को धारण करनेवाले परिवर्तन पाये जाते हैं, कलुषित (मलिन—पापिष्ठ) कर रही है एवं जो सत्त्व, रज व तम गुणों की समतारूप दूसरे नाम वाली है और जो, शाश्वत व्यापी गुणों पर अपना अधिकार किए हुए हैं तब यह आत्मा ज्ञान के संसर्ग-सरोखे प्रकृति के संसर्ग का त्याग करती है, जो कि लोहे के गोल और अग्नि के संयोग सरोखा है, (अर्थात्—जैसे गरम लोहे में लोहा और अग्नि का संयोग संबंध है वैसे ही प्रकृति व पुरुष का संयोग संबंध है) ऐसे कैवल्य (चैतन्य रूप) को धारण करता है, जो कि समस्त ज्ञान व ज्ञेय (पदार्थ) के संबंध से शून्य है, तब आत्मा का अपने चैतन्य स्वरूप में अवस्थान (स्थिति) हो जाता है उसे मुक्ति कहते हैं । अतः जब आत्मा और प्रकृति के भेद ज्ञान से ही मुक्ति होती है तब हे सज्जनो ! इच्छित वस्तु भोगो, पिओ, खाओ, मनचाही वस्तु के साथ विलास करो एवं इच्छित वस्तु का सम्मान करो, क्योंकि जब निश्चय से प्रकृति व आत्मा के भेद ज्ञान से मुक्ति होती है, तब क्यों निरर्थक तपश्चर्या करते हुए कष्ट उठाते हो ? ॥ ६३ ॥

अथानन्तर 'धूमध्वज' नाम के ज्योतिःशास्त्र वेत्ता ब्राह्मण विद्वान् ने कहा—'जैसे घर्षण किया जाने-
वाला अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता—शुभ्रता-को प्राप्त नहीं करता वैसे ही स्वभाव से मलिन चित्त भी
किन कारणों से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥ परलोक स्वरूप वाला ताविष (स्वर्ग)
प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है (अथवा पाठान्तर में दूसरा लोक विशेष स्वर्ग प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है, जिसके लिये यह
तपश्चर्या का खेद सफल खेदवाला हो सके । क्योंकि—बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयु वाला

१. महानित्युक्तं नाश्च्यमते बुद्धिर्लभ्यते, सस्मादेवाहंकारो जायते, अहंकाराच्च षोडश प्रकृतयस्तथाहि—स्पर्शनादि पंच
बुद्धीन्द्रियाणि, पायूपस्थवचः पाणिपादाः मनश्चेति षट् कर्मेन्द्रियाणि, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रं, स्वरतन्मात्रं,
स्पर्शतन्मात्रं चेति पंचतन्मात्राणि । ह० लि० सटि० (ख) प्रति के आधार से संकलित—सम्पादक

२. ताविषः स्वर्गः ।

ततश्च—

विहाय वेहस्य सुखानि येषां दुःखेन सौख्येषु भनीषितानि । ते कोरके ऋषेणकारक्षीलाः शालीन्पुनर्नृनमुपाहरन्ति ॥६६॥
हरप्रबोधः—

‘अन्यथा लोकपट्टिष्ठस्य वेदपाण्डित्यमन्यथा । अन्यथा तत्पदं शान्तं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ॥६७॥

भगवतो हि भर्गस्य सकलजगदनुग्रहतर्गो द्विषागमस्य मार्गो वक्षिणो वामश्च । तत्र लोकसंचारार्थं दक्षिणोभागः । तदाह—

प्रपञ्चरहितं शास्त्रं प्रपञ्चरहितो गुरुः । प्रपञ्चरहितं ज्ञानं प्रपञ्चरहितः शिवः ॥६८॥

दिवं शक्तिविनाशेन ये बाञ्छन्ति नरावमाः । ते भूमिरहिताहीवात्सन्तु नूनं फलोत्तमाः ॥६९॥

भुक्तिभुक्तिप्रवस्तु वाममार्गः परमार्थतः । तदाह—

अग्निवत्सर्वभक्षोऽपि भयभक्तिपरायणः । भुक्तिं जीवन्नवाप्नोति भुक्तिं तु लभते मृतः ॥७०॥

इममेव च मार्गमाश्रित्याभावि भासेम महाकविना—

येषां सुरा प्रियतमासुखमोक्षणीयं प्राह्यः स्वभावललितोऽविकृतद्वय वेधः ।

पुरुष इन दोनों की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति को सज्जनों ने स्वर्ग कहा है ॥ ६५ ॥ अतः जिनके मनोरथ, शारीरिक सुख त्याग कर कष्ट सहन द्वारा सुख-प्राप्ति करने के हैं, वे धान्यकाणों पर हल चलाने की प्रकृति वाले होते हुए निस्सन्देह खेत से धान्य उखाड़ते हैं । भावार्थ—जैसे हरी धान्य के पुष्पों पर हल चलाते हुए या उनको जोतते हुए, मानवों के लिए उपजाऊ भूमि के बिना खेत से धान्य उखाड़ना असम्भव है, वैसे ही शारीरिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर तपश्चर्या का कष्ट करते हुए मानवों को निस्सन्देह सुख प्राप्त होना असम्भव है ॥ ६६ ॥ फिर गड़े हुए धन को बताने वाले शास्त्र के वेत्ता ‘हरप्रबोध’ नामक तपस्वी ने कहा—

‘लोकपटुता (व्यवहार-चातुर्य) दूसरी वस्तु है और वेदों की विद्वत्ता दूसरी चीज है एवं शान्ति-युक्त मोक्षपद दूसरी असाधारण वस्तु है और मनुष्य समूह उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे प्रकार से कष्ट उठाते हैं । अभिप्राय यह है कि लोक में ऐसा देखा जाता है कि विद्वान् पुरुष व्यवहार-शून्य होता है और व्यवहारो विद्वत्ता-शून्य होता है, इसी प्रकार परम शान्ति-स्थान मुक्ति भिन्न है और उससे अशान्त उपाय भिन्न है ॥ ६७ ॥ भगवान् ब्रह्मा या श्री शिव के आगम (वेद) का मार्ग, जिसकी सृष्टि समस्त संसार के अनुग्रह निमित्त हुई है, निश्चय से दो प्रकार का है । दक्षिण मार्ग और वाममार्ग । उनमें से दक्षिण मार्ग लोक व्यवहार-संचालन के लिए है, उसके विषय में कहा है—शास्त्र (वेद व स्मृतिशास्त्र) प्रपञ्च-रहित (भ्रम-शून्य) है और गुरु प्रपञ्च-रहित (मायाजाल-शून्य) है एवं ज्ञान प्रपञ्च-रहित (संदेह, मिथ्या व विपर्यय-रहित) है तथा शिव प्रपञ्च-रहित (संसार के माया-आदि से मुक्त) है ॥ ६८ ॥ जो मनुष्यों में क्षुद्र मनुष्य शक्ति-विनाश से (माया के बिना—कामनीय कामिनी के बिना) शिव (सदाशिव) की प्राप्ति चाहते हैं वे, निश्चय से खेत के बिना ही केवल धान्यादि के बीज से धान्य-फलों के प्राप्त करने में उत्तम हों । अर्थात्—जैसे भूमि के बिना केवल धान्य-बीज से धान्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वैसे स्त्री के बिना भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥ निश्चय से वाममार्ग विषय-भोग और भुक्ति देनेवाला है । उसके विषय में कहा है—जो मानव अग्नि के समान समस्त (खाद्य-अखाद्य) वस्तुओं का भक्षण करता हुआ भी केवल श्री शिव की भक्ति में तत्पर है, वह जीवित अवस्था में विषय-भोग प्राप्त करता है और मरने पर भुक्ति प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ इसी वाम-मार्ग का आश्रय लेकर महाकवि भास ने कहा है—मद्य पीना चाहिए और प्रियतमा (विशेष प्यारी स्त्री) का

येनेवमोदशमवृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवाणस्त पिनाकपाणिः ॥७१॥'

सुगतकीर्तिः—'आत्मग्रह एव प्राणिनां तावन्महामोहावन्ध्यान्धम् ।

यतः—यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति शायतः स्नेहः । स्नेहाद्गुणेषु तृष्यति तृष्या दोषांस्तिरस्कृयते ॥७२॥

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहेषी । अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥७३॥

विगलिताग्रहे चात्मग्रहे निराश्रयचित्तोत्पत्तिलक्षणो निरोधापरनामपक्षो मोक्षः स्वलक्षणोऽक्षिणामक्षूणः स्वलक्षणः ।

तदाह— यथा स्नेहक्षयाद्दोषः प्रजायति निरन्वयः । तथा क्लेशक्षयाज्जन्तुः प्रशाम्यति निरन्वयः ॥७४॥

एवं च सति केशोल्लुञ्चनतत्प्राकारो हणकेशदर्शनाशनविनाशब्रह्मचर्यवियः केवलमात्मोपधातायेव । तदुक्तम्—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृत्वावः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।

संतापारम्भः क्लेशनाशाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जायन्ते ॥७५॥

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्यालापि नीलपटेन—

यद्योषरभरासमाः स्मरन्निर्गुणितार्थेभ्यः कान्तिमल्लयश्च नोन्नतिमीतमकुमारिणीः ।

मुख देखना चाहिए एवं स्वाभाविक सुन्दर विकार-शून्य वेष धारण करना चाहिए । वह भगवान् शिव चिरञ्जीवी हों, जिसने ऐसा मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया ॥ ७१ ॥' तदनन्तर ठक्कास्र वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगत-कीर्ति नाम के विद्वान् ने कहा—'सबसे प्रथम आत्म ग्रह (आत्म द्रव्य का आग्रह—हठ) ही प्राणियों की महान् मोह की सफल अन्धता है ।

क्योंकि—जो आत्मा को जानता है, उसका आत्मा में निरन्तर स्नेह (राग) होता है और स्नेह होने से पंचेन्द्रियों के सुखों को तृष्णा करता है एवं सुखों की तृष्णा दोषों को स्वीकार करती है । आत्मा के होने पर दूसरी जीव संज्ञा होती है और जिससे स्व और पर के विभाग से परिग्रह व दोष उत्पन्न होते हैं और इससे परिग्रह दोषों में अच्छी तरह बँधे हुए समस्त दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ७२-७३ ॥ जब आत्मद्रव्य का आग्रह (हठ) दूर (नष्ट) हो जाता है तब सन्तान- (द्रव्य) रहित चित्त की उत्पत्ति लक्षणवाला व निरोध नामक दूसरे नाम वाला ऐसा मोक्ष स्वलक्षण' (ऐसा क्षणिक निरंश परमाणुमात्र, जो कि स्वजातीय व विजातीय परमाणु से व्यावृत्त (निवृत्त) है) प्राणियों का परिपूर्ण होता है । उसके विषय में कहा है—जैसे तैल के नष्ट हो जाने से दीपक अन्वय- (संतान) रहित हुआ शान्त हो जाता है (बुझ जाता है) वैसे ही यह जीव समस्त क्लेशों के क्षय हो जाने से अन्वय (सन्तान) रहित हुआ शान्त (नष्ट) हो जाता है ॥७४॥ ऐसा निश्चय होने पर केशों का उखाड़ना, तपी हुई शिला (चट्टान) पर चढ़ना, केश के दिखाई देने पर भोजन का त्याग और ब्रह्मचर्य-आदि केवल आत्मा के उपघात के लिए है । कहा है—

ऋग्वेद-आदि वेदों को प्रमाण मानना, किसी का कर्तृवाद (ईश्वर को सृष्टि कर्ता को मान्यता) गङ्गा-आदि में स्नान करने में धर्म को अभिलाषा, ब्राह्मण-आदि जाति का गर्व करना और शरीर को कष्ट देना इस प्रकार नष्ट बुद्धिवालों की जड़ता के सूचक पाँच चिन्ह हैं ॥ ७५ ॥ नीलपट नामके कवि ने इसी विषय को लेकर निम्नप्रकार कहा है—इन ऐसी रमणियों (कमनीय कामिनियों) को छोड़कर, जो कि कुचकलशों के भार से मन्द हैं, जिन्होंने काम से आये नेत्र चारों ओर संचालित किये हैं, और जिनमें किसी स्थान पर लयमहित पञ्चम स्वर से गाये हुए गीतों की कानों का सुख देनेवाली शङ्कार (मनोज ध्वनि) वर्तमान है, दूसरे मोक्ष मुख

१. स्वजातीयविजातीयव्यावृत्तक्षणिकनिरंशपरमाणुमात्रं ।

विहाय रमणीरमुरपरमोक्षसौख्याथिनामहो जडिमडिण्डिमो विफलभण्डपात्रण्डिनाम् ॥७६॥

स्त्रीमुद्रां शयकेतनस्य महतीं सर्वार्थसंपत्करी ये मोहादयधीरयन्ति कुबियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।

ते तेनैन निहस्य निर्वद्यतरं मुण्डीकृता लुञ्जिताः केचित्पञ्चशिक्षीकृताश्च जडिनः कापालिकाश्चापरे ॥७७॥

चण्डकर्मा-...-...-...-...-...

पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तोः पश्यन्ति ये धर्ममदृष्टसाध्यम् ।

पश्यन्ति ये जन्मं पुण्यं शरीरात् पश्यन्ति ते नीलकपीतकानि ॥७८॥

ततश्च प्राणापानसमानोदानव्यानव्यतिकीर्णैः कायाकारपरिणतिसंकीर्णैः वनपवनावमिपवनसंसेम्यः पिष्टोदकगुडघातकी-
प्रमुखैः इव मधुशक्तिः पर्णचूर्णक्रमुकेभ्य इव रागसंपत्तिस्तदात्मकार्यगुणस्वभावात्तया चैतन्यमुपजायते । तच्च गर्भादिमरण-

की अभिलाषा करने वाले निरर्थक चित्तमात्ररञ्जक पात्रण्डियों की अहो ! यह (कायक्लेशादि) मूर्खता की धोषणा (चिह्न) है^१ ॥ ७६ ॥ जो मूढ़बुद्धि, झूठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञानवश काम-
देव की सर्वश्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन रूप संपत्ति सिद्ध करनेवाली स्त्री-मुद्रा का तिरस्कार करते हैं, वे मानों—
उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयता पूर्वक ताड़ित कर मुण्डन किये गए, अथवा केश उखाड़ने वाले कर दिये
गए एवं मानों—पञ्चशिखा-युक्त (चोटीधारी) किए गए एवं कोई तपस्वी कापालिक किये गए^२ ॥ ७७ ॥ फिर
चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने कहा—कि बुद्धधर्मानुयायी सुगत कीर्ति विद्वान् ने निस्सन्देह अच्छा कहा—
क्योंकि—

जो भरे हुए प्राणी का जन्म (पुनर्जन्म) देखते हैं और जो ऐसे धर्म को देखते हैं, जिसका फल
प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है एवं जो शरीर से पृथक् आत्मा को देखते हैं वे (मूढ़ बुद्धि) भ्रमवश नीलक (नीलवर्ण-
वाली वस्तु) को पीतक (पीतवर्णवाली) समझते हैं और पीतवर्णवाली वस्तु को नील वर्ण वाली समझते हैं ।
अर्थात्—जैसे, नील को पीत व पीत को नील समझना भ्रम है वैसे ही पुनर्जन्म, धर्म तथा शरीर से भिन्न आत्म-
द्रव्य की मान्यता भी भ्रम है ॥ ७८ ॥

अतः जल, वायु, पृथिवी व अग्नि इन ऐसे चार पदार्थों से, जो कि शरीराकार परिणति (दूसरी
पर्याय—अवस्था) से मिश्रित हैं और प्राण^३ (हृदय में स्थित हुई वायु), अपान (गुदा में स्थित हुई वायु),
समान (नाभि में वर्तमान वायु), उदान (कण्ठ देश में स्थित वायु) और व्यान वायु (समस्त शरीर में
वर्तमान वायु) द्वारा क्षिप्त (फैले गये) हैं, वैसा चैतन्य (आत्मद्रव्य) उत्पन्न होता है, जैसे चूर्ण किये हुए
जलमिश्रित गुड व धातकी पुष्प (घाय-फूल) आदि पदार्थों से मधुशक्ति (मधु) उत्पन्न होती है । अथवा
जैसे पान, चूना व सुगारी से रागसम्पत्ति (लालिमा रूपी लक्ष्मी) उत्पन्न होती है । क्योंकि यह चैतन्यशक्ति
(ज्ञानशक्ति) देहात्मिका^४ (शरीर रूप) देहकार्या, (शरीर से उत्पन्न हुई कार्यरूप) व देहगुण (शरीर का
गुण) है । वह चैतन्य (आत्मा), गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त रचना-युक्त है, इसलिए नष्ट हुआ वह (चैतन्य)
वैसा पुनः उत्पन्न नहीं होता जैसे वृक्ष से गिरा हुआ पत्र पुनः उत्पन्न नहीं होता । इसलिए परलोक (पुनर्जन्म)
का अभाव सिद्ध होने पर और जब जल के बबूलों सरोखे क्षणिक जीवों में मधुशक्ति-सरोखी चैतन्य शक्ति सिद्ध

१. काव्यलिङ्गालंकारः ।

२. व्यङ्ग्यशौचालंकारः ।

३. 'हृदि प्राणो गुदेषापानः समानो नाभिर्वास्थितः । उदानः कण्ठदेशे ह्यावधानः सर्वशरीरगडः' ॥ १ ॥ इत्यमरः ।

४. 'देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणतो मतिः । मतवयमिहाश्रित्य नास्त्यन्यासस्य संभवः' ॥ १ ॥ इति

पर्यन्तपर्यायधर्तुतं सत्, पावपातपतितं पत्रमिव न पुनः प्ररोहति । तथा च परलोकाभावे बलबुद्धुदस्वभावेषु जीवेषु मद-
शक्तिप्रतिज्ञाने किमर्थोऽयं ननु लोकस्थात्मसपत्नः प्रयत्नः । तदपह्नायामीषां जीवन्मृतमनीषिणां मनीषितमेतत् कुशलाध्ययरा-
धेयम् ।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य शान्तस्थ पुनरागमनं कुतः ॥७९॥

भगवान्— रितस्य अन्तोर्जातस्य गुणदोषावपश्यतः । विलम्बा बत केनामी सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥८०॥

किं च । असमाधिकरो वादस्तस्याख्यानं विरुद्धबोधनानाम् । भवति हि कोपाय परं शिक्षा व्यालेष्विव गजेषु ॥८१॥

अपि च व्याक्रोशी व्यापहासी वा विपर्यस्तः सहोचिते । स्वस्य मौल्यमुपेक्षायामहो कष्टर विशिष्टता ॥८२॥

स्तौतु निन्तु वा लोको विविधव्यभिचारः । तथापि वाक्त्रैर्यजिं यथातथोपदेशतः ॥८३॥

इत्यनुष्याय दशनोर्जिदशः कुर्यत्सपुण्याङ्कुरिता इव । सूरिः सुनृतवागेवं बभावे स्वरितस्वरः ॥८४॥

बन्धमोक्षौ सुखं दुःखं प्रवर्तननिवर्तने । यद्येव प्रकृतेर्धर्मः किं स्यात्पुंसः प्रकल्पनम् ॥८५॥

होगई तब लोक का यह आत्मा के साथ शत्रुता करने वाला तपश्चर्या रूप प्रयत्न किस प्रयोजन से है ? अर्थात्—
निरर्थक है । अतः जीते हुए भी मरते मरीखी बुद्धि रखने वाले इन मुनियों के सिद्धान्त (पुनर्जन्म आदि की
मान्यता) को छोड़कर कुशल अभिप्राय वालों को निम्नप्रकार की नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी
चाहिए । जब तक जिओ तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो, क्योंकि [संसार में] कोई भी मृत्यु का अविषय
नहीं है, अर्थात्—सभी कालकवलित होते हैं । भस्म रूप हुई शान्त देह का पुनरागमन कैसे हो सकता है ?
अर्पितु नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥ (इति पूर्वपक्षः समाप्तः) ।

तदनन्तर इन्द्रादि द्वारा पूज्य श्री मुदत्ताचार्य ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—‘खेद है कि
जन्म-काल में मिथ्याज्ञान से रहित और गुण व दोष न देखते हुए इस जीव में ये सिद्धान्तरूपी भौषण ग्रह किसने
अर्पण कर दिये ? ॥८०॥ विशेष यह है कि मिथ्यादृष्टियों के साथ वादविवाद करना, उनका समाधान करने-
वाला नहीं होता एवं उनके लिए दी हुई यथार्थ शिक्षा निस्सन्देह वैसी उनके केवल क्रोध-निमित्त होती है जैसे
दुष्ट हाथियों के लिए दी हुई शिक्षा केवल उनके क्रोध निमित्त होती है ॥८१॥ विशेष यह है कि जब मिथ्यादृष्टि
वादियों के साथ कुछ कहा जाता है तो वे वक्ता को शाली देनेवाला और उपहास करनेवाला—निन्दा करनेवाला
कहते हैं और जब वक्ता उनके प्रति माध्यस्थ्यभाव धारण करता है (कुछ भी नहीं कहता) तो उन्हें वक्ता की
मूर्खता प्रतीत होती है । अहो आश्चर्य है कि इसप्रकार विद्वत्ता भी कष्टप्रद है ॥८२॥ यह लोक अनेक प्रकार
की इच्छाओं का स्वामी है, अतः यह वक्ता की स्तुति करे या निन्दा करे, तथापि सज्जनों को यथार्थ तत्त्व का
उपदेश देनेवाले होना चाहिए ॥ ८३ ॥’

फिर सत्यवक्ता श्री मुदत्ताचार्य ने मध्यम ध्वनि वाले होते हुए व दन्तकिरणों से दिशाओं को पुण्यरूपी
अङ्कुरों से व्याप्त करते हुए—‘मे होंकर निम्नप्रकार कहा’ ॥ ८४ ॥ [‘अकुनसर्वज्ञ’ नाम के विष्णुभक्त विद्वान् द्वारा
कहे हुए सांख्यमत का खंडन] यदि बन्धु मोक्ष, सुख, दुःख, प्रवृत्ति, व निवृत्ति यह प्रकृति का धर्म है तो
आत्मतत्त्व की मान्यता का क्या प्रयोजन होगा ? अर्थात्—जब आपने पुरुषतत्त्व (आत्मा) को माना है तो जाना
जाता है कि प्रकृति अचेतन (जड़) है और आत्मा चेतन है, अतः बंध व मोक्ष-आदि आत्मा के ही धर्म मानने
चाहिए न कि जड़ प्रकृति के ॥ ८५ ॥ ‘जब आप ‘प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवशिल्लेपः किन्तु चेतनः’

अकर्तापि पुमान्भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता । नित्योऽपि जातसंसर्गः सर्वतोऽपि वियोगभाक् ॥८६॥

शुद्धोऽपि बंधसंबन्धो निर्गुणोऽपि शमुष्यते^१ । इत्यन्योन्यविषद्वोक्तं न युक्तं कापिलं वचः ॥८७॥

किं च । विषयव्यापी भवेदात्मा यदि व्योमवदञ्जला । मुखदुःखादिसङ्कावः प्रतीयेताङ्गवद्बहिः ॥८८॥

नित्येऽमूर्ते सदा पुंसि कर्मभिः स्वफलेरिभिः । कुतो घटेत् संबन्धो यथाकाशस्य रज्जुभिः ॥८९॥

बुध्यमानाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्धधर्मात् कथमिवमुदाहारि कुमारिलेन—

विशुद्धज्ञानवेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे । अयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥९०॥

कथं चेवं वचनमजस्रम्—

समस्तेषु वस्तुष्वनुत्प्लुतमेकं समस्तानि वस्तूनि यस्मि स्पृशन्ति ।

विषद्वत्सदा शुद्धिमध्याग्निरूपं न त्रिदोषस्पर्शिनः स नित्योऽहमात्मा ॥९१॥

कथं चेयं श्रुतिः समगंस्त—

अर्थात्—प्रकृति को करनेवाली मानते हो और आत्मा को कमल पत्र की तरह निलेंप व अकर्ता किन्तु चेतन मानते हो तब यदि आत्मा कर्ता नहीं है तो वह भोक्ता (भुजि किया का कर्ता—भोगनेवाला) कैसे हो सकता है ? जब आत्मा निष्क्रिय (क्रिया-रहित) है तो वह उदासिता (उदासीनता-युक्त) कैसे हो सकता है ? क्योंकि क्या उदासीनता क्रिया नहीं है ? इसीप्रकार जब आत्मा नित्य (अविकारी नित्य) है तब वह प्रकृति के साथ संबंध-वाला कैसे हो सकता है ? एवं जब आत्मा व्यापक (समस्त मूर्तिमान् पदार्थों के साथ सदा संयोग रखनेवाला) है तब शरीरादि प्रकृति के साथ वियोग रखनेवाला कैसे हो सकता है ? जब आत्मा शुद्ध है तब शरीर के साथ संबंधवाला कैसे हो सकता है ? और जब यह गुण-हीन है तब सुख रूप कैसे हो सकता है ? (अथवा पाठान्तर का अभिप्राय यह है कि जब आप आत्मा को शुद्ध व निर्गुण मानते हो तब वह शरीर के साथ संयोग संबंध रखनेवाला कैसे हो सकता है ? इसप्रकार परस्पर विषद्व सांख्य दर्शन के वचन युक्ति-संगत नहीं हैं ॥ ८६-८७ ॥ यदि आत्मा वस्तुतः आकाश की तरह सर्व व्यापी है तो सुख दुःखादि का सङ्काव शरीर की तरह बाह्यप्रदेश में प्रतीत होना चाहिए । अर्थात्—जैसे शरीर में सुखादि मालूम पड़ते हैं वैसे ही बाह्यप्रदेश में भी मालूम पड़ना चाहिए, परन्तु शरीर से बाह्यप्रदेश में जब सुख-दुःखादि प्रतीत नहीं होते तब आत्मा सर्वव्यापी कैसे हो सकती है ? ॥ ८८ ॥ जब आत्मा सदा नित्य व अमूर्तिक है तो उसका अपने सुख-दुःख रूप फलों को देनेवाले कर्मों के साथ संबंध कैसा कैसे घटित हो सकता है ? ऐसे नित्य व अमूर्तिक आकाश का रज्जुओं (रस्सियों) के साथ संबंध घटित नहीं हो सकता ॥ ८९ ॥

अब ज्योतिःशास्त्र वेत्ता धूमध्वज नामके ब्राह्मण विद्वान् की मान्यता का निराकरण करते हैं—जब आप चर्पण किये जानेवाले कोयले-सरीखे मन को विशुद्धि नहीं मानते तो कुमारिल विद्वान् ने निम्नप्रकार आत्म-विशुद्धि के विषय में कैसे कहा ? 'उन चन्द्रकला-युक्त चन्द्रशेखर श्री शिवजी के लिए शाश्वत कल्याण को प्राप्ति-निमित्त नमस्कार हो, जो विशुद्ध ज्ञानरूपी शरीर वाले हैं व तीन वेदों का समूहरूपी दिव्य चक्षु वाले हैं ॥ ९० ॥ एवं निम्नप्रकार का वचन कैसे संगत होगा ? 'जो समस्त पदार्थों में व्याप्त हुआ एक है, जिसे समस्त वस्तुएँ स्पर्श नहीं करतीं, जिसका स्वरूप आकाश सरीखा सदा शुद्ध है, वह सिद्ध उपलब्धि वाला नित्य आत्मा मैं हूँ ॥ ९१ ॥ एवं निम्नप्रकार के वैदिक वचन कैसे युक्ति-संगत होंगे ? यह स्पष्ट है कि शरीर-सहित आत्मा के पुण्य-पाप कर्मों का विनाश नहीं होता (पुण्य-पाप कर्मों का संबंध बना रहता है) और शरीर-शून्य (परम सिद्ध) रहनेवाले आत्मा को पुण्य-पाप कर्म स्पर्श नहीं करते, (नष्ट हो जाते हैं) ॥९२॥ अतः अब आत्मशुद्धि समर्थक युक्तियों

१. 'समुच्यते' इति ह. लि. (क) प्रती पाठः ।

न हि वै तशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्ति । अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ॥९२॥

इति । तत्तत्त्व ।

मलकलुषतामार्तं रत्नं विशुद्धयति यस्ततो भवति कनकं तस्यावाणो यथा च कृतक्रियः ।

कुशलमतिभिः कंश्चिद्व्यस्तथाप्तनयाभितरयमपि गलत्त्रलेवाभोगः क्रियेत परः पुमान् ॥९३॥

रागाद्युपहतः शंभुरशरीरः सदाशिवः । अप्रामाण्यावगुत्पत्तेः कथं तन्नागमोत्सवः ॥९४॥

तदुक्तम्—वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्द्विविधावपरं वृत्तयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।

शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वानसंबन्धतः संबन्धोऽपि न जायतीति भयतां शास्त्रं निरालम्बनम् ॥९५॥

एवं च सतीदं न संगच्छते—

अवृष्टविप्रहृन्क्षान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नावरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥९६॥

रागादिभिरुपहृतस्यापि ह्रस्वमाप्ततायां 'क्लेशकर्मविपाककार्यरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर' इति

प्रेष्यर्थमप्रतिहतं सृजो विरागस्तृप्तिनिसर्गजनिता वसितेन्द्रियेण ।

आत्यन्तिकं शुद्धमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तत्त्वम् ॥९७॥

का निरूपण करते हैं—जैसे मल (कीट) से कलुषित (मलिन) माणिक्य-आदि रत्न यत्नों (वाणोल्लेखन-आदि उपायों) से विशुद्ध हो जाता है और जैसे सुवर्ण-पाषाण, जिसकी क्रियाएँ (अग्नितापन व छेदन-आदि) की गई हैं, सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही कुशल-बुद्धि-शाली व आप्त (वीतराग सर्वज्ञ) तथा उसके स्याद्वाद का आश्रय प्राप्त किये हुए किन्हीं धन्यपुरुषों द्वारा आत्म-शुद्धि के उपायों (सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र्य-आदि) से यह मिथ्या-त्वाद से मलिन आत्मा भी क्लेशों के विस्तार को नष्ट करनेवाला ऐसा उत्कृष्ट—शुद्ध किया जाता है ॥ ९३ ॥

अब हरप्रबोध तपस्वी द्वारा निरूपण की हुई वैदिक मान्यता (वाममार्ग) का निरास करते हैं—शंभु (पार्वती-कान्त) राग व द्वेषादि विकारों में पीड़ित होने से अप्रमाण है और सदाशिव से आगम (वेद) की उत्पत्ति कदापि हो नहीं सकती; क्योंकि वह शरीररहित है, अतः उसके द्वारा आगम की उत्पत्ति रूप मातृकालिक कार्य कैसे हो सकता है? भावार्थ—शंभु जब रागादि दोष से दूषित है तब वह वैसा प्रमाण नहीं है जैसे रथ्यापुरुष (मार्ग में जानेवाला मानव) प्रमाण नहीं है, अतः अप्रमाणभूत उसका कहा हुआ आगम (वेद) प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता एवं सदाशिव अशरीरी होने से उसके द्वारा वेद की उत्पत्ति वैसे नहीं हो सकती जैसे शरीर-रहित आकाश से वेदोत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ ९४ ॥ कहा भी है—

सदाशिव वेदों का वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह शरीर या इन्द्रियों से रहित है । एवं उससे दूसरा पार्वती-कान्त (श्री शिव) वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह सरागी है । यदि आप कहेंगे कि उन दोनों से भिन्न तीसरा कोई वक्ता है, उस विषय में प्रश्न यह है कि (उसका उत्पादक कारण कौन है?) यदि आप कहेंगे कि कोई ऐसी शक्ति है, जिससे वह उत्पन्न हुआ है, तब बताइए कि जब वह शक्ति उससे भिन्न है तो भिन्न शक्ति से वह शक्तिमान् कैसे हो सकता है? क्योंकि दूसरी शक्ति के साथ उसका संगम नहीं है । यदि आप कहेंगे कि उस भिन्न शक्ति का उसके साथ समवाय संबंध है, तब युक्ति-युक्त विचार करने पर वह संबंध भी विशेष रूप से घटित नहीं होता अतः आपका नादरूप शास्त्र (वेद) वक्ता रूप आलम्बन से शून्य हो गया ॥९५॥ ऐसा होने पर निम्न प्रकार का वचन युक्ति-संगत घटित नहीं होता 'शरीर-रहित, शान्त व उत्कृष्ट कारण रूप शिव से नादरूप विशेष दुर्लभ शास्त्र (वेद) उत्पन्न हुआ ॥९६॥' यदि आप रागादि से पीड़ित रुद्र (श्रीशिव) को ईश्वर मानोगे तो 'क्लेशकर्मविपाकाशयेरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' अर्थात्—ऐसा पुरुष विशेष, जो कि समस्त दुःखों

इति च विरुद्धयते । अन्यथाभूतस्यान्ततापाम्

आस्तां तवाग्यवपि तावदतुल्यकथामैश्वर्यमोद्वरपदस्य निमित्तभूतम् ।

त्वच्छेषसोऽपि भगवन् गतोऽवसानं विष्णुः पितामहयुतः किमुतापरस्य ॥९८॥ इति,

रथः क्षोणी वन्ता शतभूतिरगेन्द्रो घनुरथो रथाङ्गे चन्द्राको रथचरणपाणिः शर इति ।

विघ्नास्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविबिधिविधेयैः व्रीहन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥९९॥

इति च ग्रहिलभाषितम् । तथेदमपि न प्राग्रहरम् ।

अज्ञो जन्तुरनोशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा इवन्नमेव वा ॥१००॥ इति,

भोग्यागाहुः प्रकृतिमृषयश्चेतनाशक्तिशून्या भोक्ता नानां परिणमयितुं बन्धवर्ती समर्थः ।

भोग्येऽप्यस्मिन्भवति मिथुने पुष्कलस्तत्र हेतुनीलसीवस्त्वमसि भुवस्स्थापनासूत्रधारः ॥१०१॥ इति च,

आकाशकल्पस्य सदाशिवस्य परं प्रति प्रेरकता न मुक्ता । स्वयं पराप्रेषित एव शंभुर्भवेत्परप्रेरयितेति चिन्त्यम् ॥

व पुण्य-पाप कर्मों तथा उनके सुख दुःखरूप फलों से रहित है, ईश्वर है।' यह कथन तथा निम्नप्रकार कथन विरुद्ध प्रतीत होता है—'तद्य न होमेवाला ऐश्वर्य, स्वाभाविक वीतरागता, स्वाभाविक तृप्ति (सन्तोष), जितेन्द्रियता, अत्यन्त—अनन्तसुख, आवरण-शून्य शक्ति और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान, ये समस्त गुण हे भगवन् ! तेरे में ही हैं ॥९८॥' यदि आप वीतरागी सदाशिव को आप्त (ईश्वर) मानोगे तो आपका निम्न प्रकार का कथन (शिव—रुद्र-स्तुति) विरुद्ध पड़ता है—'हे भगवन् ! तुम्हारा दूसरा अनाखा व ईश्वर पद का निमित्तभूत ऐश्वर्य भी एक जगह रहे परन्तु ब्रह्मा सहित विष्णु ने भी जब आपके शेष' (रोमवृन्द-परिवेष्टित जननेन्द्रिय या टि० से अभिप्राय के साधन) का भी अन्त नहीं पाया तब दूसरे की क्या कथा ?

भावार्थ—यहाँपर यह बात विचारणीय है कि जब वीतरागी सदाशिव के शरीर ही नहीं है तब उसमें शेष (जननेन्द्रिय) कैसे घटित हो सकता है ? अतः उक्त श्लोक में शेष का कथन भी विरुद्ध है ॥९८॥ इसी प्रकार निम्नप्रकार ग्रहिल के वचन भी विरुद्ध हैं—'जहाँपर पृथिवी ही रथ है, इन्द्र अथवा ब्रह्मा ही सारथि है, सुमेरुपर्वत ही धनुष है और चन्द्र व सूर्य ही पहिये हैं एवं चक्रपाणि (श्रीनारायण) ही बाण हैं । इस प्रकार से त्रिपुररूप तृण को दग्ध करने के इच्छुक हुए तुम्हारी यह आडम्बर-विधि क्या है ? क्योंकि प्रभु की बुद्धियाँ निश्चय से पराधीन नहीं होतीं परन्तु आज्ञाकारियों के साथ क्रीड़ा करती हुई होती हैं । अभिप्राय यह है—तब विष्णु-प्रभुति को उक्त कार्य करने निमित्त क्यों एकत्रित किये ?' ॥९९॥ इसी प्रकार निम्न प्रकार का कथन भी श्रेष्ठ नहीं है—'यह अज्ञानी प्राणो अपने सुख-दुःखों को उत्पत्ति में असमर्थ है, अतः ईश्वर के द्वारा प्रेरित हुआ स्वर्ग अथवा नरक जाता है ॥१००॥' इसी प्रकार निम्न प्रकार कथन भी विरुद्ध है—

'ऋषियों ने प्रकृति को चेतना (ज्ञान) शक्ति से शून्य व भोगने योग्य कहा है और बन्ध-सहित यह भोक्ता (जीव) प्रकृति को परिणमन कराने में समर्थ नहीं है और जब भागने-योग्य स्त्री पुरुष का जोड़ा वर्तमान है, तब उसकी उत्पत्ति में प्रचुर या समर्थ कारण होना चाहिए, अतः हे शिव ! तुम ही लोक को स्थापना करने के लिए सूत्रधार (संसार रूपी नाट्यशाला के व्यवस्थापक या प्रधान कारण) हो ॥१०१॥ आकाश सरीखे शरीर-रहित व व्यापक सदाशिव को दूसरे को प्रेरणा करनेवाला होना युक्तिसंगत नहीं है । यदि आप कहेंगे

१. मेहनस्य—रोमवृन्दपरिवेष्टितलिङ्गस्य 'ममे मेहनशेषसो' इत्यभरः ।

तथा च विरागस्य सदाशिवस्य शरीरमावे शेषः कथं घटते इति विरुद्धं ।

२. शेषसः सावनस्य ।

३. रूपकार्त्तकारः ।

ह. लि. सटि. प्रति (ख) से समुद्धृत—

जगत्कर्तृत्वावश्यं पूर्वमेव चिन्तितः । तथाहि—

कर्ता न तावद्विह कोऽपि कियेच्छया वा दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसङ्गः ।

कार्यं किमत्र सबनाविषु तत्तत्कारणैराहत्य चेत् त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥१०२॥

कर्मपर्यायत्वे चेश्वरस्य सिद्धसाध्यता । तथाह—

विधिविधाता नियतिः स्वभावः कालो ग्रहश्चेश्वरदेवकर्म ।

पुण्यानि भाग्यानि तथा कृतान्तः पर्यायनामानि पुराकृतस्य ॥१०३॥

कथमचेतनं कर्म परोपभोगार्थं प्रवर्तत इति चेत् तत्र ।

रत्नायस्कान्तवातादेरचितोऽपि परं प्रति । यथा क्रियानिमित्तत्वं कर्मणोऽपि तथा भवेत् ॥१०४॥

तदुक्तं रत्नपरीक्षायाम्—

न केवलं तत्तद्भक्त्युत्पत्त्यस्य मन्ये प्रजानामपि तद्विभूत्ये । यद्योजनानां परतः शतादि सर्वाननर्थान्विमुक्तो करोति ॥१०५॥

निर्विकर्मकरादीनां चेतनानां सचेतनात् । दृष्टा चेष्टा विधेयेषु जगत्प्रवृत्तिरि सास्तु वः ॥१०६॥

कि दूसरे के द्वारा अप्रेरित हुआ (अथवा पाठान्तर में प्रेरित हुआ) भी शिव स्वयं दूसरे को प्रेरणा करने वाला है यह बात भी विचारणीय है । ईश्वर को जगत्स्रष्टा की मान्यता विषय पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं ।

विशेष यह कि इस संसार में कोई भी (ईश्वर) ज्ञानशक्ति व इच्छा शक्ति द्वारा जगत् का कर्ता नहीं देखा गया । तथापि यदि कोई कर्ता माने तो उसे घटाई-आदि-कार्य का भी कर्ता मानना पड़ेगा । यदि ईश्वर परमाणुओं को एकत्रित करके हठ से तीन लोक की सृष्टि (रचना) करता है तो लोक में गृहादि कार्यों के निर्माण में बड़ई वगैरह से क्या प्रयोजन रहेगा ? क्योंकि ईश्वर ही सबको सृष्टि कर देगा ॥ १०२ ॥ यदि आप जगत्स्रष्टा ईश्वर को कर्म का पर्यायवाची मानकर उसे (कर्म को) जगत् का स्रष्टा मानते हैं तो सिद्ध साध्यता है । अर्थात्—हमारे द्वारा सिद्ध की हुई वस्तु को ही आप सिद्ध कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि इसमें हमें (स्याद्वादियों को) कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि कर्म के निम्न प्रकार नामान्तर हैं—

कर्म के निम्न प्रकार पर्यायवाची शब्द (नाम) हैं—विधि, विधाता, नियति, स्वभाव, काल, ग्रह, ईश्वर, देव, कर्म, पुण्य, भाग्य व कृतान्त ॥ १०३ ॥ शङ्का—जब कर्म अचेतन (जड़) हैं तब वे दूसरों के उपभोग के लिए कैसे प्रवृत्त होते हैं ? यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि इसका समाधान निम्न प्रकार है—जैसे रत्न (नर-भादा मोती-आदि), चुम्बक पत्थर व वायु वगैरह (अथवा पाठान्तर में नौका वगैरह) पदार्थ, जो कि अचेतन (जड़) होते हुए भी पर के प्रति क्रिया-निमित्त हैं वैसे ही अचेतन कर्म भी परोपभोगार्थ क्रिया-निमित्त (प्रवृत्ति में हेतु) हैं । भावार्थ—जैसे मोती के पास दूसरा मोती आजाता है और चुम्बक पत्थर लोहे को खींचता है एवं वायु पत्ता-आदि को उड़ाती है, यद्यपि ये जड़ हैं, वैसे ही कर्म भी अचेतन होकर दूसरों के उपभोग निमित्त प्रवृत्त होते हैं ॥ १०४ ॥ रत्नपरीक्षा ग्रंथ में कहा है—मेरी ऐसी मान्यता है कि वह पुण्य कर्म राजा का ही कल्याण कारक नहीं है अपितु प्रजाजनों की विभूति-निमित्त भी है, जो कि निश्चय से सैकड़ों योजनाओं से भी आगे (हजारों व लाखों योजना) दूरवर्ती प्राणी को समस्त आपत्तियों से छुड़ा देता है ॥ १०५ ॥ यदि आप ऐसा कहते हैं कि जैसे पालकी ले जानेवाले व नौकरी लेकर काम करने वाले (मजदूर-आदि) सचेतन (ज्ञानवान) होते हुए भी (सचेतन स्वामी द्वारा प्रेरित होकर) चेष्टा (प्रयत्न—उद्योग) करते हैं वैसे ही सचेतन ईश्वर भी सचेतन संसारो प्राणियों द्वारा प्रेरित हुआ चेष्टा करता है, ऐसा मानने से तो यह आपत्ति

तस्माद्विवं सुभाषितद्वयमवधारयत् ।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते । स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१०७॥

नमस्याभो देवान्ननु हतविषेस्तेऽपि अग्नाः विधिबन्धः सोऽपि प्रतिनियतकर्मान्तफलदः ।

फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किं च विधिना नमः सत्कर्मभ्यः प्रभवति न येभ्यो विधिरपि ॥१०८॥

सोऽहं तवेव पात्रं तान्येतानि च गृहाणि घालूणाभ् । इति नित्यं विदुषोऽपि च दुराग्रहः कोऽस्य नैरात्म्ये ॥१०९॥

संतानो न निरन्वये विसृज्यो सावृक्षमेतन्न हि प्रत्यासत्तिहते कुतः समुचयः का वासना वासिधरे ।

तस्यै वाचि समस्तमानरहिते ताभागते सांप्रतं धर्माधर्मनिबन्धनो विधिरयं कोतस्कृतो धर्मसाम् ॥११०॥

(दोष) आती है कि जैसे आज्ञाकारी सेवकों में जो चेष्टा देखी गई है, वह आपके जगत्त्रय ईश्वर में हो । अभिप्राय यह है कि फिर तो आपका माना हुआ स्रष्टा बूढ़ा हो है, क्योंकि वह तो सबका दास ही हुआ ॥१०६॥ अतः निम्न प्रकार ये दो सुभाषित अवसर वाले हैं—यह आत्मा (जीव) स्वयं पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध करती है और स्वयं ही उनके सुख-दुःख रूप फल भोगती है एवं स्वयं ही संसार में भ्रमण करती है तथा स्वयं ही संसार से छुटकारा पाकर मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्राप्त कर लेती है ॥ १०७ ॥ किन्हीं विद्वानों ने कहा है, कि हम देवों को नमस्कार करेंगे परन्तु निस्सन्देह वे भी तो दुष्ट विधि (भाग्य) के अधीन हैं [अतः देवों को छोड़कर] हमसे विधि (भाग्य) ही नमस्कार-योग्य है परन्तु वह भी प्रतिनियत (निश्चित) पुण्य-पाप कर्मों के अनुसार सुख दुःख रूप फल देने वाला है । (विधि भी कर्माधीन है) । और यदि फल कर्माधीन है तो देव-ताओं और विधि से क्या प्रयोजन है ? अतः उन पुण्य कर्मों को ही नमस्कार हो, जिनके लिए विधि भी समर्थ नहीं है । अर्थात्—जिन पुण्य-कर्मों का सुख रूप फल देने में विधि भी नहीं रोक सकता ॥ १०८ ॥ अब ठक-शास्त्र के वेत्ता बुद्धधर्मानुयायो सुगतकीर्ति विद्वान् द्वारा निरूपित बौद्ध दर्शन का निराकरण करते हैं—‘वही मैं हूँ’ ‘वही (पूर्वदृष्ट) पात्र है’ ‘वे ही दाताओं के गृह हैं’ इस प्रकार के गढ़ा जानवाले बौद्ध को आत्मा की शून्यता में कौन सा दुःग्रह है ? अपितु नहीं होना चाहिए ॥ १०९ ॥ [यदि बुद्ध की यह मान्यता है कि आत्मद्रव्य नष्ट हो जाती है परन्तु जैसे बहुत से वस्त्रों के मध्य में रखी हुई कस्तूरी-आदि (सुगंधि पदार्थ) यद्यपि नष्ट हो जाती है, परन्तु वस्त्रों में उसकी संतति या वासना बनी रहती है वैसे ही क्षणिक आत्मा की भी संतति या वासना आदि बनी रहेगी, जिससे उसे उक्त प्रकार का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है, उसका निराकरण करते हैं—] आत्मद्रव्य को अन्वय-शून्य मानने पर अर्थात्—पूर्व व पर पक्षों में व्यापक रूप से रहने वाले आत्मद्रव्य संबंधी अन्वय के बिना सर्वथा क्षणिक आत्मा को स्वीकार करने में, सन्तान (संतति) नहीं बन सकती । भावार्थ—जैसे सर्वथा नष्ट हुए मयूर से केकावाणों (मयूरध्वनि) नहीं निकल सकती वैसे ही अन्वय-शून्य (सर्वथा नष्ट हुई) आत्मा में सन्तान नहीं बन सकती और क्षण-क्षण में अनोखी क्षणिक आत्मा को स्वीकार करने से सादृश्य भी घटित नहीं होता । एवं आत्मद्रव्य को निरन्वय विनाश-वाली व क्षणविनश्वर मानने से सजातीय उत्पत्ति भी कैसे बन सकती है ? यदि कहोगे कि इन्द्रियादिक भी वासना बनी रहेगी तो आत्मा को क्षण-विनश्वर मानने से वासना भी घटित नहीं होती; अतः तुल्य बौद्ध के यहां, जिसके तात्त्विक वचन समस्त प्रमाणों (प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाणों) द्वारा वाचित हैं, धर्म (दान-पुण्यादि) व अधर्म (हिंसादि) निमित्तक विधान कैसे घटित होंगे ? अपितु नहीं घटित हो सकते । अर्थात्—आत्मद्रव्य को सर्वथा क्षणिक मानने से दान पुण्यादि कर्ता के सर्वथा नष्ट हो जाने से उसका फल (स्वर्ग) दूसरा भोगेगा । इसी प्रकार हिंसक के सर्वथा नष्ट हो जाने से राजदण्डादि लौकिक कष्ट व नरकगति संबंधी भीषणतम यातनाएँ दूसरे को भोगनी होंगी ॥ ११० ॥

१. सन्तानोऽपत्यगोत्रयोः संतती देववृक्षयोः ।

वृष्टात्ययात्तत्त्वमदृष्टमेव प्रसाधयेज्जैह्वनासरातः । तवा खरोक्ष्णोः श्रुतितो विधाने विघ्ननिर्घेर्धत्त जयी कुलालः ॥१११॥

किं च । नाहं नैव परो न कर्मभिरिह प्रायेण बन्धः क्वचिद्भूता प्रेत्य न तत्फलस्य च कवेदित्यं स बोद्धो यदि ।

कस्मादेव तपःसमुद्यतमनाश्चैत्यादिकं पश्यते किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमयं धूर्तजंढो बञ्चितः ॥११२॥

तवहर्नस्तनेहातो रक्षोवृष्टेर्भयस्मृतेः । भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥११३॥

पृथिव्यादिववाश्मायमनाद्यनिघ्ननात्मकः । मध्ये सत्त्वात्कुतस्तत्त्वमन्यथा तव सिद्धयति ॥११४॥

कायाकारेषु भूतेषु चित्तं व्यक्तमवाप्नुवत् । तदा तपमुपकार्यतेः प्रयत्नोऽयं गतिं जयति ॥११५॥

यदि यहू बकवादी बौद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के लोप वाले (प्रत्यक्ष से विरुद्ध) आत्मविनाश से अदृष्टतत्त्व (प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेवाला तत्त्व—सन्तानादि) सिद्ध करेगा तब तो केवल वचनमात्र से गधे में सींगों का विधान करनेवाला और बेल में सींगों का निषेध करने वाला कुँभार क्या जयशील हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता । भावार्थ—जैसे कुँभार किसी के समक्ष कहता है कि मेरे गधे में दो सींग हैं और उस बेल में दो सींग नहीं हैं, तो जयशील नहीं होता वैसे ही प्रस्तुत बौद्ध भी, जो कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध आत्मा का विनाश मानता है व प्रत्यक्ष से प्रतीत न होनेवाले सन्तान-आदि तत्त्व का समर्थन करता है, जयशील नहीं हो सकता ॥ १११ ॥ 'मैं नहीं हूँ, न कोई दूसरा (शिष्य-आदि) है, इस लोक में कहीं पर प्रायः करके आत्मा के साथ पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध नहीं होता एवं यह जीव मरकर दूसरे जन्म में पुण्य-पाप कर्मों के सुख-दुःख रूप फल का भोक्ता भी नहीं है' ऐसा यदि बोद्ध कहता है तो हम पूछते हैं, कि यह (बौद्ध) किस कारण से तपश्चर्या में उद्यत मन-वाला होकर चैत्य (भूति) आदि की नमस्कार करता है ? अथवा वहाँ पर क्या तपश्चर्या है ? केवल यह मूर्ख धूर्तों से छगाया गया मालूम पड़ता है ॥ ११२ ॥ अब चण्डकर्मा कोट्टपाल द्वारा निरूपण किये हुए चार्वाकदर्शन (नास्तिकमत) का निराकरण करते हैं—

प्रकृति (शरीर व इन्द्रिय-आदि) को जाननेवाला यह जीव (आत्मद्रव्य) सनातन (शाश्वत—सदा से चला आया) है, क्योंकि पूर्वजन्म संबंधी दुग्धपान के संस्कार से उसी दिन उत्पन्न हुए बच्चे की दुग्धपान में चेष्टा देखी जाती है, इस युक्ति से आत्मा का पूर्व जन्म सिद्ध होता है । इसी प्रकार कोई मरकर राक्षस होता हुआ देखा जाता है, इससे आत्मा का भविष्य जन्म भी है और किसी को पूर्व जन्म का स्मरण होता है, इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है, क्योंकि इस जीव में पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चारों जड़रूप भूत पदार्थों का अन्वय नहीं है । भावार्थ—क्योंकि मौजूद होनेपर भी इसे उत्पन्न करनेवाली कारण सामग्री नहीं है, अतः यह शरीर व इन्द्रियादि से भिन्न चैतन्यरूप होता हुआ आकाश की तरह अनादि अनन्त है ॥११३॥ जैसे पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चार भूत द्रव्य अनादि व अनन्त हैं वैसे ही आत्मा भी अनादि अनन्त है, क्योंकि सत्त्वे सति अनादित्वात्, क्योंकि यह पृथिवी आदि की तरह मौजूद होकर के अनादि है । यदि आप कहोगे कि (मध्ये सत्त्वात्) यह आत्मा मौजूद होनेपर भी पृथिवी-आदि के मध्य पश्चात् उत्पन्न हुआ है, तो बतलाइए कि जो वस्तु पूर्व में अविद्यमान (गैरमौजूद) थी, वह पीछे कहाँ से आ गई ? [क्योंकि असत् (गैरमौजूद) वस्तु पैदा नहीं होती, अन्यथा—गधे का सींग आदि असत् पदार्थ भी उत्पन्न होना चाहिए] अन्यथा, अर्थात्—यदि सदा मौजूद होनेपर भी आत्मा अनादि अनन्त नहीं है तो आपका भूतचतुष्टय (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चार पदार्थ) अनादि अनन्त कैसे सिद्ध होगा ? ॥११४॥ यदि आप 'वृद्धि देहात्मक है व देह का कार्य है एवं देह का गुण है, ऐसी

१. विघ्न-कुर्वन् विष् विघ्नाने इत्यस्य रूपं (क) से संकलित ।

२. खरपच उक्षा च (यलीवतः) खरोक्ष्णौ तयोः, कुम्भकारी यथा कस्यचिदग्रे कथयति 'मम गर्दभस्य विषाधे ते चर्तेते, ते तदुष्णः न स्तः' स किं जयी भवति ? तद्वत्सी बौद्धः इति भावः । सटि० (ख) प्रति से संकलित—

जलान्मुक्तानलः काष्ठाञ्चक्रकान्तात्पयःप्लवः । भवन्त्यजनतो वायुस्तत्त्वसंख्यां विहापयेत् ॥११५॥

जलादिषु तिरोभूताधुर्वरादेस्तदुद्भवे । घरादिषु तिरोभूताच्चिताच्छिसमपीष्यताम् ॥११७॥

पुंसि तिष्ठति तिष्ठति शरीरेन्द्रियधातवः^१ । यान्ति यातेऽप्यर्थात्तां सत्त्वे सत्त्वं प्रसज्यताम् ॥११८॥

विद्वद्गुणसंसर्गाद्वात्मा भूतात्मको न हि । भूजलानलवातानामन्यथा न व्यवस्थितिः ॥११९॥

तीन मान्यताओं का आश्रय लेकर शरीराकार परिणमन को प्राप्त हुए पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार भूतों से यह बुद्धि या जीव प्रकट हुआ है अथवा उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानोगे तो शरीराकार परिणत पृथिवी-आदि भूतों की तरह जीव भी प्रकट रूप से दृष्टिगोचर होना चाहिए परन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः वह पृथक् चैतन्य द्रव्य है ॥११५॥ यदि आप कहेंगे कि कार्यकारण विजातीय भी होता है जैसे जल से मोती (पृथिवीरूप) उत्पन्न होता है और काष्ठ से अग्नि पैदा होती है एवं चन्द्रकान्तमणि से जलप्रवाह प्रकट होता है तथा पंखे से वायु उत्पन्न होती है, ऐसा मानने से तो आपकी पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार तत्वों की संख्या विघटित हो जायगी। अर्थात्—जल से उत्पन्न हुआ पार्थिव मोती जलात्मक हो जायगा, जिसमें पृथिवी तत्व का अभाव हुआ और काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठरूप हो जायगी, इससे अग्नि तत्व का अभाव हुआ और चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न हुआ जलप्रवाह चन्द्रकान्तमणिरूप हो जायगा, अतः जल तत्व का अभाव हो गया। इसी प्रकार पंखे से उत्पन्न हुई वायु पंखेरूप हुई तब वायु तत्व का अभाव हुआ। अर्थात्—ऐसा मानने से (बुद्धि देहात्मक है व देह का कार्य है, आदि के कारण शरीरात्मक है) तो आपके उक्त प्रकार से पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चारों भूत पदार्थ विघटित हो जाते हैं ॥११६॥ यदि आप कहेंगे कि उक्त मोती-आदि के दृष्टान्त इस प्रकार संघटित होते हैं कि जल-आदि में तिरोहित (अप्रकट रूप से स्थित) पृथिवी-आदि से मोती-आदि उत्पन्न होते हैं। अर्थात्—जल में तिरोहित (अप्रकटरूप से स्थित) पृथिवी से मोती हुआ और काष्ठ में तिरोहित हुई अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुई एवं चन्द्रकान्तमणि में तिरोहित जल से जल पैदा हुआ तथा पंखे में तिरोहित वायु से वायु उत्पन्न हुई तब हमारे पृथिवी-आदि चारों तत्वों की संख्या कैसे विघटित होगी? तब हम कहते हैं कि पृथिवी-आदि में तिरोहित हुए (स्वतंत्र रूप से पृथक् चैतन्य की सत्ता लिए हुए) जीव से जीव को अभिव्यक्ति मान लो ॥११७॥ जीव के जोवित रहते शरीर, इन्द्रिय व बुद्धियाँ स्थिर रहती हैं और जीव के चले जाने पर नष्ट हो जाते हैं, अतः चैतन्य रूप जीव स्वतंत्र पदार्थ है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो मृत शरीर में इन शरीर व इन्द्रिय-आदि की सत्ता में जीव की सत्ता का प्रसङ्ग होगा। अर्थात्—आत्मा चेतन है और पृथिवी-आदि भूत अचेतन हैं। पृथिवी-आदि भूतों में चेतन की सत्ता नहीं है उस अपेक्षा से भूतों को अचेतन समझना चाहिए ॥११८॥

निश्चय से जीव भूतात्मक (पृथिवी-आदि रूप—जड़) नहीं है, क्योंकि इसमें अचेतन (जड़) पृथिवी-आदि भूतों की अपेक्षा विरुद्ध गुण (चैतन्य—बुद्धि) का संसर्ग पाया जाता है। अन्यथा—यदि भूतात्मक मानोगे तो पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार तत्वों की सिद्धि नहीं होगी, अर्थात्—आत्मा के नष्ट हो जाने पर भूत भी नष्ट हो जायेंगे परन्तु सत्ता का नाश नहीं होता। अथवा—अन्यथा—विरुद्ध गुण (चेतन गुण) के संसर्ग होने पर भी जीव को भूतात्मक (जड़) मानोगे तो आपके पृथिवी-आदि चारों तत्वों की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि ये (पृथिवी-आदि) भी भिन्न-भिन्न धारण, ईरण व दाहादि गुणों के कारण पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता-युक्त हैं ॥११९॥ क्योंकि यह जीव विज्ञान, सुख व दुःखादि गुणों से पहचाना जाता है, अर्थात्—इसकी स्वतंत्र सिद्धि में उक्त गुण प्रतीक हैं जब कि पृथिवी, वायु, अग्नि व जल क्रमशः धारण, ईरण, दाह

विज्ञानसुखदुःखादिगुणलिङ्गः पुमानयम् । धारणेनवाहादिधर्माधारा धरायः ॥१२०॥

अथ मतम्—पित्तप्रकृतिर्बोधान्मेघादी कोचनोऽल्पकामरव । प्रस्वेद्यकालपलितो भवति नरो नात्र सन्देहः ॥१२१॥

तत्र प्रवहंम् । वृद्धिहानी यथाग्नेः स्लामेधोत्कर्षापकर्षतः पित्ताधिकोनभावाभ्यां बुद्धेः संप्राप्नुतस्तथा ॥१२२॥

गुरुपासनमभ्यासो विशेषः शास्त्रनिश्चये । इति वृष्टस्य हानिः स्यात्तथा च तव दर्शने ॥१२३॥

कुतश्चित्पित्तनाशोऽपि बुद्धेरतिशयेनभात् । कृतः प्रभवभावोऽत्र स्याद्विजाङ्कुरयोरेव ॥१२४॥

बुद्धिं प्रति यदीष्येत पित्तस्य सहकारिता । का नो हानिर्भवत्येवं नातवृद्धौ यथाभसः ॥१२५॥

एवं च सतीर्षं न किञ्चित् ।

देहात्मिका देहकार्या देहस्थ च गुणो मतिः । मतत्रयमिहाभित्य नास्त्यभ्यासस्य संभवः ॥१२६॥

व शैत्य गुण के आधार हैं । अर्थात्—पृथिवी का गुण धारण, वायु का ईरण व अग्नि का दाह तथा जल का शैत्य गुण है । निष्कर्ष—इस प्रकार यह जीव इसीलिए भूतात्मक नहीं है, क्योंकि इसमें पृथिवी-आदि जड़ भूतों की अपेक्षा विरुद्ध गुणों (ज्ञान, सुख व दुःखादि) का संसर्ग है ॥१२०॥

यदि आपकी ऐसी निम्न प्रकार मान्यता है—‘निस्सन्देह पित्त प्रकृतिवाला मानव बुद्धिमान्, धारणाशक्ति-युक्त, क्रोधी, अल्प मैथुन करने वाला, पक्षीनायुक्त और असमय में सफेद वालोंवाला होता है’ ॥१२१॥ उक्त मत शोभन नहीं है, क्योंकि जैसे ईंधन की वृद्धि व हानि (न्यूनता—कमी) से अग्नि की वृद्धि व हानि होती है वैसे ही पित्त-वृद्धि से बुद्धि की वृद्धि व पित्त को न्यूनता से बुद्धि की हानि प्राप्त हो जायगी ॥१२२॥ यदि आपके मत में सर्वथा पित्त प्रकृतिवाला पुरुष बुद्धिमान्-आदि होता है तब तो [बुद्धि की प्राप्ति के लिए] गुरुजनों की उपासना, शास्त्रों का अभ्यास व शास्त्र-निश्चय संबंधी विशेषता-इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीत हुई कारण सामग्री का अभाव हो जायगा । अर्थात्—फिर तो बुद्धि की प्राप्ति के लिए गुरुजनों की उपासना-आदि निरर्थक सिद्ध होंगे ॥१२३॥ [आपकी उक्त मान्यता में विशेष आपत्ति (दोष) यह है] कि किसी मानव में पित्त का नाश (हीनता) होने पर भी बुद्धि की अधिकता का दर्शन होता है, अतः इनमें (पित्त प्रकृति व बुद्धि में) बीज व अङ्कुर सरोखा कार्यकारण भाव कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात्—पित्तप्रकृति बीज (उपादान कारण) है और बुद्धि अङ्कुर (कार्य) है, ऐसा कार्यकारणभाव नहीं घटित होता ॥१२४॥ यदि आप बुद्धि के प्रति पित्त को सहकारी कारण मानते हैं तो हमारी कोई हानि नहीं है । अर्थात्—हम भी बुद्धि के प्रति पित्त को वैसा सहकारी कारण मानते हैं जैसे कमल-नाल की वृद्धि में जल सहकारी कारण होता है । अर्थात्—कन्द-सरोखा जीव है और नाल-सरोखी बुद्धि है, उसमें पित्तरूपी जल सहकारी है ॥१२५॥ जब उक्त बात सिद्ध हो चुकी अर्थात्—जब चेतनाशक्ति-सम्पन्न आत्मद्रव्य पृथिवी-आदि चार भूतों से भिन्न व अनादि अनन्त विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया तब आपको निम्न प्रकार की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है—

‘बुद्धि देहात्मिका (शरीर रूप), देह का कार्य व देह का गुण है, ऐसी तीन मान्यताओं का आश्रय करने से बुद्धि की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अभ्यास-आदि संबन्धित नहीं होंगे ॥१२६॥ इति नास्तिक मतनिरासः ।

केवल तत्त्वज्ञान चारित्र्य के बिना वैसा सांसारिक तृष्णा (वाञ्छा) की शान्ति का कारण नहीं होता जैसे जलादि का ज्ञान कर्तव्य-पालन (जलपान) के बिना तृष्णा (पिपासा—प्यास) की शान्ति का कारण नहीं होता । अर्थात्—जैसे किसी प्यासे मनुष्य को सरोवर का ज्ञान हुआ परन्तु यदि वह वहाँ जाकर जलपान नहीं करता तो उसे प्यास की शान्ति रूप सुख कैसे हो सकता है ? वैसे ही मुमुक्षु मानव का केवल तत्त्वज्ञान भी सदाचाररूप कर्तव्य पालन के बिना उसकी सांसारिक तृष्णा की शान्तिरूप सुख प्राप्त नहीं कर सकता ।

तत्त्वज्ञानं च जलादिज्ञानमिवाविहितामुष्ठानं न भवति संसारतृष्णोपशान्तिकारणम् । असंज्ञातसव्ययक्रियारम्भः समधि-
गतितिकर्तव्योऽपि कृषीवल इव न संपुष्यते फलैः । अनायास्य कार्यं सेवक इवात्मवानपि न लभते परी पदवीम् । ततश्च—
तत्त्वं गुरोः समधिगम्य पथार्थक्यं तद्भाषभावनमनोरथनिर्धृतात्मा ।

आचार्यः शशिधरनयनस्यः उपोभिजन्तुः परं पदमुपैति यथा कितीशः ॥१२७॥

सविधविद्याधरविनोदकर्मा चण्डकर्मा—‘भगवन्, चित्तरङ्गरागमवासनामनसां को नु खलूपायः सुमेधसामम्पुदयनिः-
श्वेयसाधिगमाय ।’ ‘धर्मः ।’ ‘को नामायं धर्मः ।’ ‘अहिंसापूर्वकाद्यहस्तत्त्वपरिग्रह एव ।’ ‘ननु हिंसास्माकं कुलधर्मः । सा
कथं त्यजनीया ।’ ‘अहो महापुरुष, एवमेवेतत्कुक्कुटमिश्रुनं पुरा जग्मनि हिंसां कुलधर्ममनुभग्यमाने महती दुःखपरम्परा-
मनुब्रूय ।’ चण्डकर्मा (सविस्मयः)—‘भगवन्, किं पुनः पुरा जग्मनीयं किञ्चिद् बुद्धितमकार्षीत् । कथं वा
सव्यभूत् ।’ ‘भगवान्, समाकर्ण्य । अस्यामेवोज्जयिन्यामस्वं यशोमतिमहाराजस्य वंशे ।

आसीच्छन्द्रमतिर्यशोधरनृपस्तस्यास्तनूजोऽभवती चण्डघातः कृतपिष्टकुक्कुटबली ध्वेदप्रयोगान्मृती ।

इया केकी पवनाशनश्च पृथतो प्राहस्तिमिश्रधागिका भर्तास्यास्तनयश्च गर्वरपतिर्जातो पुनः कुक्कुटी ॥१२८॥

इसी तरह प्रशस्त कर्तव्य का जाता मानव, जिसने प्रशस्त प्रयोजन के लिए कर्तव्य का आरम्भ ही नहीं किया, अर्थात्—जो आलसी (श्रद्धाहीन) है, तो वह भी वैसा सुखरूप फलों से संयुक्त नहीं होता जैसे आलसी किसान खेती करने के तरीकों का ज्ञान रखता हुआ भी धान्यरूपी फलों से संयुक्त नहीं होता । इसी तरह तपश्चर्या के बिना आत्मा का वश करनेवाला (जितेन्द्रिय) मानव भी वैसी उत्तम पदवी (मुक्तिस्थान) को प्राप्त नहीं होता, जैसे सेवक जितेन्द्रिय होनेपर भी शारीरिक कष्ट उठाए बिना उत्तम पदवी (स्थान) प्राप्त नहीं करता । अतः यह प्राणी (मुनि) गुरु से सत्यार्थं मोक्षोपयोगो तत्त्वों का निश्चय करके आत्मस्वरूप की भावना के मनोरथ से व्याप्त हुई आत्मा से युक्त हुआ (सम्यग्दृष्टि हुआ) निर्दोष तपश्चर्याओं के द्वारा शरीर को कष्ट देकर वैसा उत्तम पद (मोक्ष स्थान) प्राप्त करता है जैसे राजा उक्त प्रकार कर्तव्य पालन करता हुआ उत्तम पद (राज्यश्री का सुख) प्राप्त करता है । अर्थात्—जैसे राजा पिता के वचन सुनता है और उन-
पर श्रद्धा करता है एवं पश्चात् प्रजापालन रूप कर्तव्य-पालन में उद्यम करता है तब उत्तम पद (राज्य) प्राप्त करता है वैसे ही मुनि भी गुरु से तत्त्वज्ञान प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि हुआ निर्दोष तपश्चर्या करता है, जिससे मुक्तिश्री को प्राप्त करता है ॥ १२७ ॥

[अध्यानन्तर प्रस्तुत श्री सुदत्ताचार्य के अमृततुल्य व युक्ति-पूर्ण वचन सुनकर] चण्डकर्मा नामके कोट्टपाल ने, जिसके समीप विद्याधरों का क्रीडाकर्म या आमोद-प्रमोद है, कहा—‘भगवन् ! मिथ्याशास्त्रों को वासना (संस्कार) से रहित चित्तवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषों के लिए निश्चय से स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का क्या उपाय है ?’

आचार्यश्री—‘धर्म ही उपाय है । चण्डकर्मा—‘इस धर्म का क्या स्वरूप है ?’

आचार्यश्री—‘अहिंसा (प्राणिरक्षा) के साथ प्रगाढ़ अनुराग वाले तत्त्वनिश्चय को धर्म कहते हैं ।’

चण्डकर्मा—‘निस्सन्देह प्राणियों को हिंसा करना हमारा कुल-धर्म है, उसे कैसे छोड़नी चाहिए ? आचार्यश्री—
‘अहो महापुरुष ! इस मुर्गा-मुर्गी के जोड़े ने, इस प्रकार ही पूर्व जन्म में हिंसा को कुलधर्म मानने से विशेष दुःख श्रेणी भोगी ।’ चण्डकर्मा ने आश्चर्यान्वित होते हुए पूछा—‘भगवन् ! इस मुर्गा-मुर्गी के जोड़े ने पूर्वजन्म में कौन-सा पाप किया ? और किस प्रकार से उसका फल (दुःख-समूह) भोगा ?’ प्रस्तुत आचार्य—‘सुनिए । इसी उज्जयिनी नगरी में इसी यशोमति महाराज के वंश में [यशोधराजा की] चन्द्रमति नामकी रानी थी, उसका पुत्र यशोधर नाम का राजा था । उन दोनों ने चण्डमारी देवी के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई । फिर दोनों विषप्रयोग से कालकवलित हुए । अर्थात्—यशोधर की रानी अमृतमति द्वारा किये गये विष-प्रयोग

ततः प्रशान्ताज्ञापाशेषमज्जालास्ते पञ्चापि लोकपासा इव तं सुवर्त्तभगवन्तं प्रणम्य जग्मुः पाण्डितनया इव सद्दर्शन-
पूर्वकाणि त्रिवर्त्तरपि दुरापाणि धावकव्रतानि । प्रमुक्तलोकायतनसमधर्मा अचिरसमासजन्मदशरपदावाप्तिशर्मा चण्डकर्मणि
धर्माविशेषात्परिपूर्णशापावधिः पूर्वविद्यासंदोहासादसंपादितावरविहारः समाचरितसहस्रराशचर्यव्यवहारः प्रयिचचार
लेखरनिर्देशं देशम् ।

तबनु चावामप्यहो मारदत्तमहाराज, सुदत्तभगवद्भूषितपुरावृत्तवृत्तान्तध्वनेनातीवजातनिर्बोद्धूतपरि-
ग्रहापेक्षानीं खल्लावधोरग्निसृष्ट्योजवस्त्राविर्भावः कर्मणामित्यानन्दनायोदोर्णनिगर्णावद्वृष्यवपुषावपि वृष्याभ्यन्तरस्थितः
स यशोमतिमहाराजः शय्योत्सङ्गमागतायाः कुसुमावलीमहादेव्याः शब्दवेधित्वकोशलं दर्शयितुं शयनासन्नशरकुरलीमध्या-
वलंकर्मोणकायमेकं सायकमाशय विव्याध । ततस्तत्र विधातुः कल्मषशेषमनुविभावयिषोर्दशात्परित्यक्तकुपकुटपय्योरशुचौ
लालाहारे कृमिजालसमाकुले बभूव तद्देव्या अपर इव निरयनिलये गर्भे पुनरावभोजंम् । आवाभ्यामवाप्ताधाना वा सा
किल यशोमतिमहोपालप्रणयपादप्रथमकन्दलो कुसुमावली महादेवी रहसि

नेत्रे विलासविरले शरपाकपाण्डु गण्डद्वये हरितरत्नरुचौ कृचाप्रे ।

से मरे । फिर कुत्ता व मोर हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव मरकर मोर हुआ और उसकी माता चन्द्रमति
का जीव मरकर कुत्ता हुई । इसके बाद सर्प व सेही हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव (मार) मरकर सेही
हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जीव (कुत्ता) मरकर सर्प हुआ । फिर वे दोनों मरकर मकर व मच्छ हुए ।
अर्थात्—यशोधर का जीव सेही रोहिताक्ष नामका मच्छ हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जीव (सर्प)
शिशुमार नाम का मकर हुआ । फिर वे दोनों बकरी व उसका पति बकरा हुए । अर्थात्—चन्द्रमति का जीव
(शिशुमार नाम का मकर) मरकर बड़ो बकरी हुआ और यशोधर का जीव (रोहिताक्ष नाम का मच्छ)
मरकर उसका पति बकरा हुआ । इसके बाद दोनों बकरा व भैंसा हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव (बकरा)
पुनः अपनी स्त्री (बकरी) से बकरा हुआ, और चन्द्रमति का जीव (बकरी) मरकर भैंसा हुई । फिर दोनों
मरकर मुर्गा-मुर्गी हुए ॥ १२८ ॥

अथानन्तर उक्त प्रवचन सुनने से उक्त पाँचों पुरुषों ने भी (चण्डकर्म-आदि ने), जिनके हृदय से
समस्त पापसमूह नष्ट हो गया है ऐसे हँसते हुए और जो दिक्पालों या राजाओं सरीखे हैं, पूज्य श्री मुदत्ताचार्य
को नमस्कार करके पाण्डवों-सरीखे देवताओं को भी दुर्लभ शायकों के व्रत धारण किये । फिर नास्तिक मत
के सिद्धान्त छोड़ने वाले चण्डकर्मा ने भी, जिसे शीघ्र हो विद्याधरों की पद-प्राप्ति का मुख प्राप्त हो रहा
है, जैनधर्म का ज्ञान होने से जिसकी शाप की अवधि पूर्ण हो चुकी है । जिसने पूर्व की विद्याधर-विद्याओं की
श्रेणी प्राप्त हो जाने से आकाश में विहार करना प्राप्त कर लिया है एवं जिसने साधियों के साथ आश्चर्यजनक
व्यवहार प्रकट किया है, ऐसा होकर विद्याधरों के निवास वाले स्थान में [आकाश मार्ग से] प्रस्थान किया ।
तदनन्तर अहो मारदत्त महाराज ! ऐसे हम दोनों (मुर्गा-मुर्गी) को भी, जो कि मानों—इसलिए आनन्द
जनक शब्दों से उत्कट गलेवाले हुए थे कि श्री मुदत्त भगवान् द्वारा कहे हुए पूर्वजन्म संबंधी वृत्तान्त के सुनने
से विशेष उत्पन्न हुए वैराग्य की उन्नत स्वीकारता से हम दोनों (मुर्गा-मुर्गी) में अब भी निश्चय से बेसी कर्मों
की उत्पत्ति नहीं होगी जैसे अग्नि से छुआ हुआ धौज अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता और जिनका
शरीर दूष्या (तम्बू) में भी नहीं था, (जो यशोमति महाराज के तम्बू से भी दूर थे), दूष्या (तम्बू अथवा
पापप्रवृत्ति) के मध्य में स्थित हुए यशोमति महाराज ने शय्या के मध्य में प्राप्त हुई कुसुमावली महादेवी को
शब्दवेधिता की कुशलता दिखाने के लिए शय्या के समीपवर्ती तूणीर (बाणों का भाता) के मध्य से भेदने में
समर्थ एक बाण लेकर उससे हम दोनों को भेद दिया (विदीर्ण कर दिया) । पश्चात् मुर्गा-मुर्गी की पर्याय
छोड़नेवाले हम दोनों का जन्म शेष पाप का भोग कराने के इच्छुक विधाता (भाग्य) के वश से कुसुमावली

मध्यो बलिप्रयत्निलस्तनुजावलीयमुत्तमिन्तेषु विकटा वनिता सुगर्भे ॥ १२९ ॥

जातस्वागताय तस्मै महीशाय निजब्रह्मान्येवसाधनसं—देव, विधीयतां विष्णुधृष्टेन सर्वेषामपि सत्त्वानामभयप्रदानम् । देव, निवार्यतां कल्पपालापणेषु मैरेयव्यवहारः । देव, प्रतिविध्यतां महानसेषु क्रव्यादगमः । देव, प्रस्तूयन्तामेवमपरा अपि तासताः क्रिया यत्र नोपयोगी मकारादित्रयस्य । देव, श्रवणकुसुमलानि महान्ति मे जीवदयागमेषु । देव, परमवलोकनाभिलाषः संयतोपास्तिषु । देव, परं मनोरथाः संयमपरायणोनां तापसीनां चरणाराधनेषु । राजा 'नूनमेवंविधप्रसादाद्देवी-ब्रह्मादस्मिन्गर्भवतीर्णस्य कश्चिदुत्पत्तिर्नो भविष्यति महती सत्त्वाहंती प्राप्तना । भवतु मामेवम् ! तद्याप्येतदभिलाषः पुरयितव्य एव । अन्यथा

गर्भिणीनां मनः सेवास्यावपत्येज्वकल्पता । लतानां फलसंपत्तिः कुतो भूतव्यथाममे ॥ १३० ॥

इति वितर्क्य, आहूय च यथाप्रसिद्धिप्रवृत्ताख्यात्रान्मुख्यान्तर्पणान्वतिष्ठिपत् । सापि देवी ध्यतिक्रम्य किल चिक्कसाकीर्णोदपयोधरव्यवस्थामध्वर्यामवाप्य चावीसमयममुताकाममृतमयनवेलेव लक्ष्मीधन्वन्मसी पुनरावयोः कृतं

महादेवी के ऐसे गर्भ में हुआ, जो कि अपवित्र है, जिसमें लार का ही भोजन है और जो कीड़ों के समूह से व्याप्त है तथा जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—दूसरा नरक स्थान ही है ।

हम दोनों को गर्भ में धारण करनेवाली उस कुसुमावली महादेवी ने, जो कि यशोमति राजा के प्रेमरूपी वृक्ष की कोमल शाखा है, उस राजा के लिए, जिसके प्रति विनय प्रकट की गई है, एकान्त में निम्न प्रकार अपने दोहद (दोहले) कहे । वह यशोमति महाराज को प्रिया—कुसुमावली महादेवी गर्भवती के अवसर पर ऐसी सुशोभित हो रही थी, जिसके दोनों नेत्र बिल्लास^१ (हावभाव व लीला) से मन्द हैं । उसके दोनों गाल पके हुए सरकंडा-सरीखे पाण्डु हुए । जिसके कुर्चों (स्तनों) के अग्रभाग हरितमणि की कान्ति-सरोखे (नीले) थे । उसका उदर भग्नरेखा वाला हुआ एवं जिसकी रोमराजि विकट^२ (मनोज्ञ) थी एवं रोकथाम करती हुई—सो-मालूम पड़ती थी ॥ १२९ ॥

[कुसुमावली महादेवी के दोहद—] 'हे राजन् ! सर्वत्र घोषणा द्वारा समस्त प्राणियों के लिए अभयदान कीजिए । हे स्वामिन् ! कल्पपालों^३ मद्य बेंचने वालों) की दुकानों पर मद्य बेंचने का व्यवहार रोकिए । हे देव ! पाकशालाओं में मांस का आगमन रोकिए । हे राजन् ! दूसरी भी उन-उन क्रियाओं का आरम्भ कीजिये, जिनमें मद्य, मांस व मधु का उपयोग न हो । हे स्वामिन् ! मुझे जीव दया का निरूपण करने वाले शास्त्रों के श्रवण सम्बन्धी विशेष कौतूहल हो रहे हैं । देव ! मुनिजनों की पूजाओं के दर्शन की मेरी उत्कट इच्छा है । राजन् ! चरित्र पालन में तत्पर रहने वाली तपस्विनियों (आश्रितियों) के चरण कमलों की सेवाओं के मेरे उत्कट मनोरथ हैं ।' [उक्त दोहलों को सुनकर] यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार विचार किया—'ऐसी प्रसन्नता वाले रानी के दोहले से, इस गर्भ में अवतीर्ण हुए किसी पुण्यवान् पुरुष की जैनधर्म सम्बन्धी महान् वासना (भावना—संस्कार) मालूम पड़ती है । अस्तु ऐसा हो, तथापि इसकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करनी चाहिए । अन्यथा—यदि गर्भवती प्रिया का दोहला पूर्ण नहीं किया जावे तो गर्भवती स्त्रियों के मानसिक खेद से उनके वच्चे रुग्ण होते हैं । क्योंकि जब लताओं की जड़ों में रोग प्राप्त होता है तब उनमें फल-सम्पत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १३० ॥ फिर यशोमति महाराज ने उन प्रमुख अधिकारी मनुष्यों को, जिनका नाम यथायोग्य प्रवृत्ति करने में प्रसिद्ध है (जो उक्त दोहलों की पूर्ति करने में समर्थ हैं), बुलाकर उन्हें वैसा ही स्थापित किया (उनसे उक्त कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा की) । इसके बाद—उस कुसुमावली रानी ने भी निस्सन्देह ऐसी

१. बिल्लासो हावलीलयोरिति विश्वः ।

२. 'विकट' : कराले पृथुरभ्ययोः 'ह० लि० सटि० प्रति (ख) से संकलित—सम्पादक ३. कल्पपालाः मद्यसंधायिनः ।

यशस्तिरुक्त इति मदनमतीरिति च वंशोचिते मातृवोहवाधिते चाभयरुचिरित्यभयमतिरिति च नामनी । व्यतिक्रान्त-
वति च शंशये, जातवति च सकलकलाकमलिनोकुलावतारसरति कुमारवयसि, तव सपत्नाननेष्टिव्य समधिकमधिकवति
कुन्तलेषु कृष्णत्वे, तव गुणेष्विव विशालतां प्रतिपन्नेषु लोचनेषु, तव यशसीव परिपूर्णवति वनमण्डले, तव वरिवर्गं इव
क्षामतामाश्रितवति मध्यभागे, तव पराक्रमेष्टिव्य प्रकटतां गतेषु समस्तेष्टव्य निम्नोन्नतवेष्टेषु प्रवेशेषु, अस्य सख्यभयरुचिकु-
मारस्य राजा करिष्यति भविष्यस्यां पल्लवी युवराजकण्टिकाग्रधमिमां चाभयमतिं राजपुत्री भर्तृहारिका वास्यत्यहिकृष्ण-
धिपत्ये क्षत्रियायेत्यमात्यपरिवारवनितास्वाविर्भवन्तोषु जनश्रुतिषु, स यशोमतिमहीपालः स्वयं करापितदंशेरभृङ्गकुलामातः
सह श्वगणिभिर्जोषविषणपुरुषालापोल्लास्यमतिरेकवा पापद्विबुद्धा विधीतविषयमनुसरंस्तत्सहस्रकूटोद्यानप्रसूनपरिमलाघ्राण-
चलितलोचनासिद्युगलस्तं सुदत्तभगवन्तमवल्लोके । नमस्तच्चिकुमारोऽजमारः 'क्षितिपते, कुष्करस्य मुनेरवलोकनावच्छ न
अविष्यति पापद्विः सफलद्विः । राजा मनागाविनमनाप्रचक्षुषः । अत्रावसरे सुदत्तभगवद्वन्दनार्थमागतेन प्रणयप्रथयाभयेण
कल्याणमित्रनाम्ना वैदेहकेशवरेण स विकापतिरेवमुचे—'राजन्, किमकार्षे मनुसलितमाननम् ।' अजमारः—'राज-

अवस्था को, जिसमें पीन कुचकलशों की व्यवस्था तैलाक होती है, अर्थात्—जिसमें तैलाभ्यङ्गन व मर्दनादि
सीमन्त स्नान होता है, व्यतीत करके एवं प्रसूति-व्यथा का अवसर प्राप्त करके हम दोनों को वैसा उत्पन्न किया
जैसे अमृत-मथन की बेला लक्ष्मी व चन्द्रमा की उत्पन्न करती है । फिर हम दोनों (पुत्र-पुत्री) का 'यशस्तिरुक्त'
और 'मदनमति' ऐसा वंश के योग्य एवं 'अभयरुचि' और 'अभयमति' ऐसा माता के दोहला-धीन नाम संस्कार
किया गया । अहो मारिदत्त महाराज ! जब हम दोनों का बाल्यकाल व्यतीत हो गया और जब समस्त कला-
रूपी कमलिनो श्रेणी के अवतरण के लिए सरोवर-सा कुमारकाल प्राप्त हुआ उस समय जब हम दोनों के केशों
में कृष्णता (श्यामता) वैसी विशेष रूप से अधिकृष्ट (प्राप्त) हुई जैसे आपके शत्रु-मुखों पर कृष्णता—
(म्लानता) विशेष रूप से अधिकृष्ट होती है । जब हम दोनों के नेत्र वैसे विशालता (दीर्घता) प्राप्त किये
हुए थे जैसे आपके गुण (प्रताप-आदि) विशालता (महत्ता) प्राप्त करते हैं । जब हमारा मुख-मण्डल
वैसा परिपूर्ण हो गया जैसे आपका यश परिपूर्ण (समस्त पृथिवी मण्डल में व्याप्त) होता है । जब हमारा
मध्यभाग (कमर) वैसी क्षामता (कृशता) प्राप्त कर चुका था जैसे आपका शत्रु-समूह क्षामता (विनाश)
प्राप्त करता है और जब हमारे नीचे-ऊँचे स्थानवर्ती शारीरिक प्रदेश (हस्त-पाद-आदि अवयव) वैसे प्रकट हो
चुके थे जैसे आपके पराक्रम प्रकट होते हैं एवं जब यशोमति महाराज अभयरुचि कुमार के [गले पर]
आगामी प्रतिपदा की बेला में युवराजपद की कण्ठी बाँधेंगे और राजकुमारी अभयमति को अहिच्छत्र देश के
स्वामी क्षत्रिय राजकुमार के लिए देंगे' मन्त्रियों के परिवार की स्त्रियों में ऐसी जन श्रुतिर्वा (किम्बदन्तियाँ—
अफवाहें) प्रकट हो रही थीं—पुनर्पड़ रही थीं तब एक समय शिकार खेलने की बुद्धि में यशोमति महाराज
ने, जिसने स्वयं हस्त से शिकारी कुत्तों की जंजोर श्रेणी धारण की है, जिसकी बुद्धि सेवकजनों के साथ वार्ता-
लाप करने से आनन्दित हो रही है एवं जो कुत्तों के रक्षक मनुष्यों के साथ जंगल के क्रीड़ावन की ओर प्रस्थान
कर रहा है तथा जिसकी नेत्रपंक्ति का जोड़ा सहस्रकूट मन्दिर के बगीचे के पुष्पों की सुगन्धि के सूँघने से
जञ्चल हुए हैं, श्री पूज्य सुदत्ताचार्य को देखा । उस समय 'अजमार' नाम के नमस्तच्चिक (विद्वपक) कुमार
ने कहा—'हे राजन् ! कष्टदायक इस मुनि के दर्शन हो जाने से आज शिकार सफल वृद्धि वाली नहीं होगी ।'
[उक्त बात को श्रवण कर] यशोमति महाराज कुछ उद्विग्न चित्त होते हुए मन में मुनि से दुःख-क्रुद्ध हुए ।
इसी अवसर पर श्रीसुदत्त भगवान् को वन्दना के लिए आये हुए और भक्ति व वित्त के आश्रय 'कल्याणमित्र'
नाम के वणिक् स्वामी ने यशोमति महाराज से ऐसा कहा—'हे राजन् ! बिना अवसर के आपका मुख शोक से
म्लान (कान्ति-हीन) क्यों हो रहा है ?

धेष्ठिन्, एतस्यामङ्गलीभूतस्य नग्नस्यावलोकनात् ।' कल्याणमित्रः—'रत्नम्, सैशमभिविशेषं कृपाः । एष तत्तु भगवान्पुरा कलिङ्गाधिपतिस्तत्र पितुरभ्यपसंबन्धारेण नितरां माननीयः सकलविवेकविभक्तमात्मान्तर्चिन्तसामन्तमुखमुकुटकीकृतचणक-मण्डलोऽभिसारिकानिव स्वयमागतां भिर्यं जपलाङ्गनामिषावमस्य निखिललोकमहनीये तपसि वर्तमानः परमेष्ठी कथं मामावेशिकलोकलोचनानन्देन त्वया मनसाप्ययमगच्छः । किं च ।

सुकानुभवने नग्नो नग्नो जन्मसमागमे । बाल्ये नग्नः शिखो नग्नो नग्नश्छिन्नशिखो यतिः ॥१३१॥
नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्रवेष्टनम् । नग्नो चेयं कथं बन्धा सौरभेयो विने चिते ॥१३२॥
पापिष्ठं पापहेतुर्वा यद्वानिष्टं विचेष्टनम् । अमङ्गलकरं वस्तु प्रार्थितार्थविधाति च ॥१३३॥
मानध्यानतपःपूताः सर्वसत्त्वहिते रताः । किमन्यमङ्गलं लोके मुनयो पश्यमङ्गलम् ॥१३४॥
भावः क्वापि भवेद्वातां सर्वातिथ्यक्रमः समः । किं व्योमापाध्यः पूषा पक्षपातात्प्रकाशते ॥१३५॥
लोलेन्ध्रिया दुराम्नायाः परेच्छावशवत्तपः । अशक्तास्तत्पुत्रं गन्तुं ततो निम्नां प्रचक्रिरे ॥१३६॥
धर्मकर्मोद्यतोऽप्येष मुनिलोकस्त्वया यदा । नीयेतावसति वेव तवा कास्य तपःक्रिया ॥१३७॥
वने वा नगरे वापि वपुःशेषा मुनीश्वराः । निविष्टं तपस्त्वस्ति तन्माहात्म्यं तव प्रभोः ॥१३८॥
अलं दुराग्रहेर्नाथ मान्यमेतन्मुनिं प्रति । प्रतिबध्नाति हि ध्येयः पूज्यगुणाब्धतिक्रमः ॥१३९॥

विदूषक-पुत्र अजमार—'हे वणिक्-स्वामी इस अमङ्गलीभूत (अशुभ) नग्न के देखने से ।'

कल्याण मित्र—'ऐसा अभिप्राय (विचार) मत करो । क्योंकि निश्चय से यह भगवान् पूर्व में कलिङ्ग देश के राजा थे, जो कि तुम्हारे पिता के वंश-संबंध से ही सदा माननीय (पूज्य) हैं, जिनके चरण-नखमण्डल समस्त दिशा समूह में रहने वाले व पराक्रम से पराजित होने से नष्टीभूत हुए सामन्तों (अधीनस्थ माण्डलिक राजाओं) के मुखों के लिए दर्पण किया गया है । जिसने वृत्तिवारिणी स्त्री-सरीखी स्वयं आई हुई राज्यलक्ष्मी को चञ्चल स्त्री सरीखी समझकर निरस्कृत किया और जो समस्तलोक से पूज्य तपश्चर्या में स्थित हो रहा है, ऐसा परमेष्ठी (मोक्षपद में स्थित) अतिथिजनों के नेत्रों का आनन्दित करने वाले आप से किस प्रकार मन से भी तिरस्कार करने योग्य है ? विशेषता यह है—

यह मानव काम-सुख भोगने के अवसर पर नग्न होता है, जन्म-प्राप्ति में नग्न होता है, बाल्यावस्था में नग्न रहता है और शिवजी भी नग्न हैं तथा चोल-रहित संन्यासी भी नग्न होता है ॥ १३१ ॥ लोक में नग्नता स्वाभाविक है । वस्त्र से आच्छादित होना यह तो विकार है । नग्न गौ प्रत्येक दिन किस प्रकार से पूजनीय होती है ॥ १३२ ॥ ऐसी वस्तु अमङ्गल (अशुभ) कही जाती है, जो पाप-पुक्त अथवा पाप का कारण है, जो अनिष्ट (अप्रिय) है और विचेष्टन (ग्लानि-जनक) है तथा जो प्रार्थना किये हुए पदार्थ का विधात (नाश) करने वाली है ॥ १३३ ॥ ज्ञान, ध्यान व तपश्चर्या से पवित्र तथा समस्त प्राणियों के कल्याण करने में अनुरक्त हुए साधु लोग यदि अमङ्गलीक (अशुभ) हैं तब लोक में दूसरी कौन वस्तु मङ्गलीक होगी ? ॥ १३४ ॥ राजाओं के परिणाम यद्यपि किसी भी मत में होते हैं तथापि उन्हें समस्त मुनियों की विनय समान रूप से करनी चाहिए । आकाश व समुद्र के आश्रय रहने वाला सूर्य क्या पक्षपात से पदार्थों को प्रकाशित करता है ? ॥ १३५ ॥ ऐसे मानवों ने, जो चञ्चल इन्द्रियों वाले हैं, जो दुष्ट आम्नाय वाले हैं, व जिनकी प्रवृत्ति दूसरों को इच्छा के अधीन है एवं जो मुनिपद प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उसकारण से मुनि-निन्दा की है ॥ १३६ ॥ देव ! धार्मिक क्रियाओं के पालन करने में तत्पर हुआ भी यह मुनि-समूह जब तुमसे अनादर में प्राप्त कराया जाता है, तब इसकी तपश्चर्या क्या है ? ॥ १३७ ॥ ऐसे मुनीश्वर जिनका शरीर ही शेष है (जो छत्र-आदि रक्षा के साधनों से रहित हैं), वन में अथवा नगर में भी जो निविष्ट तपश्चर्या करते हैं, वह आप स्वामी का ही माहात्म्य है ॥ १३८ ॥ हे स्वामिन् ! पूजनीय इस मुनि के प्रति दुराग्रह करने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि

तत्पर्याप्तमनया दुर्वासनयाऽगच्छ । वय्वाधहे तपःप्रभाषप्रणतमिस्त्रिदिवपालमीलमणिवेदिकाधिदेवतायमानचरणमेभं परमेष्ठिनम् । अतस्ती हावपि मेतमिन सूर्याश्चन्द्रमसौ तं भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामौ च पुरः प्रत्यक्षोदयो नयविम-
याविबोपविचिशतुः । भगवान्तरेक्षरमुदरोरुत्पोद्भूत्य च भविष्यलक्ष्मीलतोलासप्रथमपल्लवोहलेखमिव पञ्चवाक्त्रम्

कामधेनुरलिलोदसवसङ्गो श्रोतमागमनसूचनवृत्ती । देवमानवमनोरपसिद्धिर्धर्मवृद्धिरियमस्तु सदा वः ॥१४०॥

अपि च । त्वं वीर चरिष्यन्तानन्दमेन्नुकान्तनिधन्दसंपदि मतोऽसि नरेश राजा ।

आवित्य एव च भवान्निहिताङ्गनाङ्गनिस्तोकशोकतपनोपलदोपनेषु ॥१४१॥

राजा 'श्वाह्माफसेवविधानि मनोदुर्विलसितानि । क्व चेदं भगवतामस्तुङ्गारकल्याणपरम्पराशंसनपरायणता । तदत्रास्य दुश्चरितस्य निजज्ञिदःकमलेन भगवत्क्षरणाचनमेव प्रापश्चेतनं नाव्यत् ।' इति परमपराक्रमतया निःसीमसाहसतया च कृताभिनिवेशो मुनीश्वर महोशः किलेवमादिदिशो—'विशांपते, मयं संस्थाः । चित्तानि हि वेहितां त्वभावचञ्चलतया-

निश्चय से पूजनीयों की पूजा का उल्लङ्घन कल्याण को रोकता है ॥ १३९ ॥ अतः इस दुष्ट विचार से कोई लाभ नहीं । आइए, ऐसे इस परमेश्वरी को नमस्कार करें, जिसके चरण तपश्चर्या के प्रभाव से झुके हुए समस्त दिक्पालों के मुकुटों की मणिरूपी देवी पर अधिष्ठात्री देवता के समान आचरण कर रहे हैं । इस कारण उन दोनों (कल्याण मित्र नाम के वणिक् स्वामी व यशोमति महाराज) ने उस पूज्य श्री सुदत्ताचार्य की वैसी प्रदक्षिणा करके जैसे सूर्य व चन्द्रमा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं प्रणाम किया । पश्चात् वे दोनों प्रत्यक्ष उत्पन्न हुए—नय (राजनीति) व दिनय-सरीखे प्रस्तुत आचार्य श्री के समक्ष आसीन हुए । पूज्य सुदत्ताचार्य ने यशोमति महाराज को लक्ष्य करके ऐसा हाथ उठाकर कहा—जो कि ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—भविष्य में उत्पन्न होने वाली लक्ष्मीरूपी ज्वाला के उल्लास (विकास) के लिए उत्कृष्ट पल्लव की उत्पत्ति ही है ।

आपके लिए सदा यह धर्मवृद्धि हो, जो कि समस्त आनन्दों के सङ्गम करने में कामधेनु है । अर्थात्—जैसे कामधेनु समस्त इच्छित सुखों का सङ्गम करती है वैसे ही यह धर्मवृद्धि भी समस्त अभिलषित सुखों का सङ्गम कराती है । जो लक्ष्मी के भले प्रकार आगमन की सूचना देनेवाली दूती है, और जिससे देव व मनुष्यों के मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥ १४० ॥ विशेषता यह है कि हे वीर नरेश ! तुम शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्ररूपी चन्द्रकान्तमणि की जलप्रवाह-शोभा में चन्द्र माने गए हो । अर्थात्—जैसे चन्द्र के उदय से चन्द्रकान्तमणि से जलप्रवाह लक्ष्मी उत्पन्न होती है वैसे ही चन्द्र-सरीखे आपके उदय से शत्रु-स्त्रियों के नेत्र रूपी चन्द्रकान्तमणि से अश्रुप्रवाह-लक्ष्मी (अश्रुजलप्रवाह-शोभा) उत्पन्न होती है । आग शत्रु-स्त्रियों के शरीर संबंधी प्रचुर शोकरूपी सूर्यकान्तमणि के उद्दीपन में सूर्य ही हैं । अर्थात्—जैसे सूर्योदय से सूर्यकान्तमणि से अग्नि उद्दीपित होती है वैसे ही शत्रु-स्त्रियों के प्रचुर शोकरूपी सूर्यकान्तमणि को उद्दीपित करने में आप सूर्य हैं ॥ १४१ ॥ फिर यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार विचार किया—'कहाँ तो हमारे ऐसे मानसिक दुर्विलसित (खोटे अभिप्राय) और कहाँ यह पूज्य श्री सुदत्ताचार्य की मानी हुई कल्याण श्रेणी के निरूपण की तत्परता ? इसलिए यहाँ पर अपने शिर कमल से प्रस्तुत भगवान् के चरणों की पूजा करनी ही इस पाप का प्रायश्चित्त है, अन्य नहीं ।' यशोमति महाराज ने विशेष पराक्रम व वेमर्याद किये जानेवाले साहस से उक्त प्रकार का अभिप्राय किया उसे जानकर प्रस्तुत मुनीश्वर ने निम्नप्रकार आदेश दिया—'हे राजन् ! ऐसा मत करो । अर्थात्—इस प्रकार के विचार मन में मत लाओ । क्योंकि निश्चय से प्राणियों के चित्त स्वभाव से चञ्चलता के कारण समुद्र की तरङ्गों के जल सरीखे ऊँचे-नीचे विषयों में प्रवृत्ति करनेवाले (नाना प्रकार के) होते हैं, इसलिए दुरभिप्राय करने से कोई लाभ नहीं ।' तदनन्तर यशोमति महाराज ने नमस्कार पूर्वक क्षणमात्र निम्न-प्रकार आश्चर्य करके भगवान् सुदत्त से पूछा—'अहो भगवान् सुदत्त की बुद्धि, इन्द्रियों के अगोचर (अविषय)

कूपारकल्लोलजलातीवोष्णवधविषयवृत्तीति भवन्ति । तद्वत् दुरभितिवेशेन । यशोमतिमहाराजः सशिरःकम्पम्—‘अहो, भगवत्तमतीन्द्रियेष्वपि पदार्थद्वयेषु सातिशया श्रेयसी’ इति अणमात्रं बिस्मय भगवन्तमापवृच्छे—‘भगवन्, किं नाश मे मनो दुरभितिवेशमप्यहोत । भगवान्त्वत्प्रेमाद्याभयं तदाशयमुपाविशत् ।

कल्याणमित्रः—‘काश्यपीपते, नैतदाश्चर्यम् । अयं हि भगवान्महर्दिसंपन्नतयाष्टाङ्गमहानिमित्तनिलयः सर्वाविधिसमस्तसाक्षात्कृतसकलवस्तुविधयः कर्तृलामलकमिव कालत्रयत्रिलोकोदरविवरवतिसमर्धमपि पदार्थसारं कलमति । तदन्यवेयं किंचित्तत्समासभाजनकरं नष्टभुष्टचिन्तालाभालाभसुखदुःखजीवितमरणजन्मान्तरगोचरमापृष्टव्यं । क्षितिपतिः (सानुनयम्)—‘भगवन्, सम पितामहो यशोधर्ममहाराजस्तावुशं लोकोत्तरं चरित्रमाचर्यदानीं किं नु जलु लोकमध्यास्ते पितामहो चन्द्रमसिः पिता यशोधरमहाराजोऽमृतमतिश्च माता ।’ भगवान्—‘समाकर्णय ।

राजन्मशोधनपतिः पलितं त्रिलोक्यं निविद्य संसृतिभुक्तेषु मुनिर्बभूव ।

राज्ये यशोधरनृपं सनयं निवेद्य तस्याज निस्पृहतया तृणवह्निभूतिम् ॥१४२॥

जैनागमोचितमुपास्य तपश्चराय प्रायोपवेशनविधानविमुक्तकायः ।

ब्रह्मोत्तरं त्रिदशवैशमवाप्य जातस्तत्कल्पलेखपतिरद्भुतमासमेतः ॥१४३॥

ब्रह्मपुत्रविधिना सह मात्रा तं यशोधरनृपं विनिपास्य । जातकुञ्जरतिरङ्गविषामारपञ्चनं निरयमाय तदाम्बा ॥१४४॥

पदार्थों के रहस्यों के जानने में विलक्षणता रखनेवाली (विशेष प्रवृत्त होनेवाली) है ।’ हे भगवन् ! मेरी चित्तवृत्तिने कौन से दुरभिप्राय का आश्रय किया ?’

भगवान् ने उसका अभिप्राय, जिसमें ‘कहाँ तो हमारे इस प्रकार के मानसिक दुर्विलसित (खोटे अभिप्राय) और कहाँ यह पूज्य श्री की अभिलषित कल्याण श्रेणी के निरूपण की तत्परता ? उस कारण इस अवसर पर अपने शिरकमल द्वारा प्रस्तुत भगवच्चरणों की पूजा करना ही इस पाप का प्रायश्चित्त है, अन्य नहीं’ इन वाक्यों की अर्थ संगति वर्तमान है, निरूपण कर दिया । तदनन्तर ‘कल्याणमित्र’ नाम के वणिक-स्वामी ने कहा—‘हे राजन् ! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह भगवान् निश्चय से गुह्यदेशना से नहीं किन्तु महान् ऋद्धियों की संपन्नता (युक्तता) के कारण अष्ट अङ्गों वाले महानिमित्तों के जानने का गृह (स्थान) हैं और जो सर्वाविधि प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा समस्त वस्तु समूह का प्रत्यक्ष ज्ञाता है; अतः ये तीन काल व तीन लोक के मध्यवर्ती योग्य पदार्थसमूह को हस्ततल पर स्थित आँवले की भाँति जानते हैं, अतः इन पूज्य सुदत्ताचार्य से दूसरा ही विषय पूछना चाहिए, जो कि नष्ट, चोरी, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण व पूर्वजन्म इन विषयों से संबंध रखता हो एवं समाजनों को प्रीतिजनक हो ।

अथानन्तर यशोमति महाराज ने विनयपूर्वक पूँछा—‘भगवन् ! मेरे पितामह (पिता के पिता) यशोधर्ममहाराज वैसा अलौकिक चरित्र (मुनिधर्म) धारण करके इस समय निश्चय से किस लोक में निवास कर रहे हैं ? एवं हमारी पितामही (पिता की माता) चन्द्रमति और मेरे पिता यशोधर महाराज तथा अमृतमति माता ये सब किस लोक में निवास कर रहे हैं ?

भगवान् सुदत्तश्री ने कहा—‘सुनिए—हे राजन् ! यशोधर्म राजा शिर पर सफेद केश देखकर सांसारिक सुखों से विरक्त होकर मुनि हुए । उन्होंने अपने पुत्र यशोधर राजा को राज्य में स्थापित करके निःस्पृहता के कारण तृणसमान राज्यविभूति का त्याग किया ॥१४२॥ पश्चात्—उन्होंने चिरकाल तक जैनशास्त्र के योग्य तपश्चर्या करके सन्यास (समाधिमरण) संबंधी उपवास विधान द्वारा शरीर छोड़नेवाले होकर ब्रह्मोत्तर नाम के छठे स्वर्ग में प्राप्त होकर उस स्वर्ग के आश्चर्य जनक लक्ष्मी सहित इन्द्र हुए ॥१४३॥ कुवड़े के साथ रतिविलास करने वाली तुम्हारी माता (अमृतमति) विष-

या च चन्द्रमतीस्त्व पितामही यश्च यशोधरमहाराजस्तत्र पिता तो द्वात्रिंशति विजातिनिराधावित्तकलसरवोपहारफलस्य पिष्टताम्रचूलस्थालम्भनदलभनाभ्याममृतमतिप्रमुक्तसौत्तिकैयवशास्त्रेय निरवधीनि दुःखानि बहुषु भवान्तरेणनुभूय सांप्रतं तवेव यमलतयापत्यभावभाजामनुः ।' राजा (स्वगतम्)—पिष्टकुक्कुटापायोपयोगाभ्यामपि पिता पितामही चेतावतीमवस्थाभवापत् । नाकलेयसधुना ममाजन्म स्वयं निहतजलस्थलाकाशचरप्राणिपिशितरसपुष्टवपुःसरसः पुरवंशस इव सर्वेव हिलाध्यवस्तामसक्तचेतसः के भविष्यन्ति लोकाः । तत्पर्याप्तं मम सांसारिकसुखाभिलाषेण । (प्रकाशम्) भगवन्, अयं जन्तुरमोघमघसंघातघनतया पातालतलमुपनिपतन्नुद्ध्रियतां दीक्षाप्रधानहस्तावलम्बनेन' इत्यभिधाय पपात भगवत्पादयोवपरि । कृतपादपतनः पराममर्शं चेवम् ।

महबपि शपं धिबलति पुण्याप्तिमनोरथः सुतुच्छोऽपि । किं नालपो रजिरेष त्रिभुवनमात्रं तमो हन्ति ॥१४५॥

अथ ऊर्ध्वं वा प्राणी स्वयं कृतेरेष कर्मभिर्याति । कूपस्य यथा क्षनिता यथा च कर्ता निकेतस्य ॥१४६॥

ऊर्ध्वाधोगतिहेतुर्लघुगुरुकर्मप्रयोगतः स्वस्य । स्वयमेव भवति जन्तुस्तुलान्तवत् किं विधावेन ॥१४७॥

भट्टारकः—अहो धर्मधारेय, प्रधानगुणगन्धननिधान, उत्तिष्ठ । श्रूयतां तावद्विभूभयलोकव्यवहारसर्वस्वम् ।

प्रयोग से उस यशोमति महाराज की उधकी माता (चन्द्रमति) के साथ मारकर, अर्थात्—दोनों को मारकर, शरीर के अखीर होने पर गाँचवें नरक में प्राप्त हुई ॥ १४४ ॥ तुम्हारी पितामही (पिता की माता) चन्द्रमति और तुम्हारे पिता यशोधर महाराज वे दोनों भी ब्राह्मणों द्वारा मुताये गये समस्त जीवों को बलि के फलवाले ऐसे आटे के मुर्गे के मारण (बलि) व भक्षण से अमृतमति द्वारा प्रयोग किये हुए विष के कारण मरकर बहुत से दूसरे जन्मों में निस्सीम (वेमर्धादि) दुःखों को भोग कर इस समय तुम्हारे ही जोड़े रूप से सन्तानभाव (पुत्र-पुत्री) को प्राप्त हुए हैं ।' [उक्त बात को सुनकर] यशोमति महाराज ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—'जब मेरे पिता (यशोधर महाराज) व मेरी दादी (पिता की माता) चन्द्रमति ने आटे के मुर्गे के मारण व भक्षण से भी ऐसी भयानक अवस्था प्राप्त की तब इस समय जन्मपर्यन्त स्वयं मारे हुए जलचर (मछली-आदि), धलचर (मृगादि) व नभचर (कबूतर-आदि) जीवों के मांसरस से पुष्ट हुए शरीररूपी सडागवाले व बिलाव-सरीखे सदा हिंसा के अध्वप्रसाय (दृढ़ विचार) में आसक्त चित्तवाले मेरे परलोक (भविष्यजन्म) क्या होंगे ? अर्थात्—मेरे भविष्यजन्म महाभयङ्कर होंगे । अतः मेरी सांसारिक सुखों की अभिलाषा निरर्थक है ।'

तदनन्तर प्रस्तुत यशोमति महाराज ने सुदत्ताचार्य से स्पष्ट कहा—'भगवन् । इस मुझ सरीखे प्राणी का, जो कि सफल पाप-समूह की प्रचुरता से पातालतल में गिर रहा है, दीक्षा-प्रदान रूपी हस्तावलम्बन (सहारा) से उद्धार कीजिये' । ऐसा कहकर भगवान् सुदत्ताचार्य के चरणों पर गिर पड़ा । आचार्यश्री के चरण कमलों पर गिरनेवाले यशोमति महाराज ने निम्नप्रकार विचार किया—थोड़ी सी भी पुण्य-प्राप्ति की अभिलाषा महान् पाप को भी नष्ट कर देती है । उदाहरणार्थ—वया छोटा सा यह सूर्य तीन लोक में भरे हुए [विशाल—विस्तृत] अन्धकार को नष्ट नहीं करता ? ॥ १४५ ॥ यह जीव स्वयं किये हुए पुण्य-पाप कर्मों से क्रमशः वैसे ऊपर (स्वर्ग-आदि) व नीचे (नरक) जाता है, जैसे गृह की रबना करनेवाला मानव ऊपर जाता है और कुएँ का खोदनेवाला पुरुष नीचे जाता है ॥ १४६ ॥ यह प्राणी लघु (पुण्य व पक्षान्तर में कम बजनवाली वस्तु) व गुरु (पाप व पक्षान्तर में वजनदार वस्तु) कर्म के प्रयोग से स्वयं ही अपने को ऊर्ध्वगति (स्वर्ग-आदि व पक्षान्तर में ऊपर उठना) व अधोगति (नरकगति व पक्षान्तर में नीचे जाना) का कारण वैया होता है जैसे तराजूदण्ड लघु गुरुकर्म (हल्की व वजनदार वस्तु) के प्रयोग से ऊर्ध्व व अधोगति (ऊपर व नीचे उठने) में हेतु होता है, अतः शोक करने से क्या लाभ है ? ॥ १४७ ॥'

इयं हि बहिःप्रदर्शितमनोरमाभया रमाऽसृग्धारेव विपुल्यमाना भवति जीवितव्यसंवेहाप बेहिनाम् । चिरपरिचितालोकः काय इव परिस्पृश्यमानः करोति दूरे शरीरेणां प्राणान् । समन्यस्तर्भर्षणि कर्मणि विनिपुल्यमानः पुमान्वारीगतः करोवा- तीवान्तर्ननाधते । सतिप्रयासु तावास्विकाधापस्तनुभृतां स्वैरालाप इव सुलभः खल्वभिनिवेशो न निर्वहिषु । दिव्यवस्तुः- स्मलितावाकार्यकमिव सहसा कृते कर्मणि शपन्ति लोकाः । पुरुषचारकं प्रतिभुस्य त्रतावणाविवापदवस्तु महत्सु भवति च लोकद्वयविधातिनी कीलीनता । अपि च ।

चित्तं स्वभावमृदु कोमलमेतवङ्गमाजन्मभोगसुभगानि तवेन्द्रियाणि ।

एतत्तु चित्तवपुरिन्द्रियवृत्तिरोधाद्बुद्धं तपस्तदलमत्र नृपाग्रहेण ॥१४८॥

कल्याणमित्रः—क्षितिपते, साधवाह भगवान् ।

राजा—कल्याणमित्र, सत्यमेवैतत् । किं तु ।

मार्दवाधिकतरं फलपीतं तापताडनसहं च मिसर्गति । एवमेव वपुस्तपसुसां संपदां च विपदां च सहिष्णु ॥१४९॥
ततस्तपश्चरणकरणपरिणतान्तःकरणः पुनरहो मारिदत्त, समाहूय सपरिवारावावां पूर्वभववृत्तास्तमकथयत् । तवाकर्णनाच्च संजातजातिस्मरणो बन्धुवाक्याम्बुभिः सह मूर्धाविशाद्भुवि निपतितकरणावनवरतजलजडांशुकव्यजनशोकरासारशीतलानिलोप-

तदनन्तर भगवान् सुदत्तभट्टारक—‘अहो धर्मभार का वहन करनेवाले व प्रशस्त ज्ञानादि गुणों के प्रकाशन के भण्डार राजन् । उठिए । दोनों लोकों के त्यागहार संवेली इस सत्य सत्य को सुनिए । वास्तु में मनोज्ञ प्राप्ति को दिखानेवाली यह लक्ष्मी निश्चय से जब त्याग की जाती है तब वैसी प्राणियों के जीवन का विनाश करने में निमित्त होती है जैसे मस्तक से प्रवाहित होनेवाली रक्तधारा प्राणियों के जीवन का विनाश करनेवाली होती है । चिरकाल से परिचित आलोक (चितवन या कान्ति) वाला प्रेमीजन (स्त्री-आदि) जब त्याग किया जाता है तब वैसा प्राणियों के प्राण नष्ट करता है जैसे छोड़ा जा रहा शरीर प्राणियों के प्राण नष्ट करता है । अभ्यास किये हुए धर्मवाले कर्तव्य में किसी के द्वारा प्रेरणा किया जानेवाला पुरुष वैसा चित्त में दुःखित होता है जैसे हाथी के बन्धन-भरा (गड्ढा) में पड़ा हुआ हाथी मन में क्लेशित होता है । प्राणियों की प्रशस्त कर्तव्यों के पालन संबंधी तत्कालीन प्राप्तिवाली प्रतिज्ञा निश्चय से स्वच्छन्द वार्तालाप सरीखी सुलभ होती है परन्तु निर्वह्नी (पूर्णता) में सुलभ नहीं होती । उतावली में आकर अविचार पूर्वक कार्य करनेवाले को लोंग वैसा दोषी ठहराते हैं जैसे अन्धे के गिरने पर लोंग उसके खींचनेवाले को धिक्कारते हैं । जब महापुरुष प्रधान नेता को अङ्गीकार करके धारण किये हुए व्रत से मुक्त की तरह भागते हैं तब उनकी दोनों लोकों को नष्ट करनेवाली निन्दा होती है ।

विशेषता यह है कि—आपका मन स्वाभाविक कोमल है व यह शरीर भी मृदु (कोमल) है एवं आपको चक्षुरादि इन्द्रियां जन्म पर्यन्त [किये हुए] भोगों से मनोज्ञ हैं परन्तु यह तपश्चर्या तो इसलिए दुःखरूप है; क्योंकि यह मन, शरीर और इन्द्रिय संबंधी वृत्तियों के निरोध (रोकने) से उत्पन्न होती है, अतः हे राजन् ! आपको तपश्चर्या की हठ करना निरर्थक है ॥ १४८ ॥

फिर कल्याणमित्र नामके वणिक्-स्वामी ने उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा—‘हे राजन् ! पूज्य श्री ने उचित कहा’ ।

यशोमति महाराज—हे कल्याणमित्र ! यह बात सत्य है किन्तु जैसे सुवर्ण स्वभाव से विशेष कोमल होनेपर भी अग्नि-ताप व ताड़न को सहन करने वाला होता है वैसे ही उत्तम पुरुषों का शरीर भी संपत्तियों (सुख-सामग्री) व विपत्तियों को सहन करने वाला होता है ॥ १४९ ॥ तदनन्तर अहो मारिदत्त महाराज । यशो-मति महाराज ने अपनी चित्तवृत्ति तपश्चर्या करने में परिणत (झुकी हुई) की और सकुटुम्ब हम दोनों (यशस्तिलक या अभयर्षि व मदनमति या अभयमति) को बुलाकर पूर्वभव का वृत्तान्त कहा । उसके सुनने से हम दोनों

कालनशीलिभिः, मन्वन्धनस्यम्बोपवेहसधमहृदयैः, आर्वाहिकमलबलमृणालनिचयसंस्कारणपरपाणिभिः, अविरलजम्बाल-
मञ्जरीजालपरिचर्यापादनपेशलाशयैः, सरस्वतीभागभर्परिरम्भसंभ्रावनप्रणविभिः, अपरिमितोत्तीरपरिचरपरिमलनकारण-
परायणैः, धनधनसारपारोस्कारमानोपसेवनचतुरवेतोभिः एवमन्यासु च तामु तामु प्रत्युज्जीवनकरप्रक्रियासु क्रियासु
महादरोदारैः परिवारैः कृतादाव्यासनादानन्दमङ्गलैः सार्द्धमनतिचिरादेव कालावुत्थितावनवविधैः पुनश्चिरजीवनजनो-
चिताशीर्वादिविहितसंघोषनैः 'तान्, तावदत्र भवतामस्मत्कृतकर्मणो जन्मान्तरात्कर्मणश्च समाकर्णनाविवं सुहृत्कम्पीपरा-
ङ्मुखं मनोज्ञम् । आद्यां पुनरद्यापि तदातङ्गुपावकवृम्भितचित्ताविव भवन्ती कथं मामास्यामरसंजायः' इति विहिताग्रहा-
वपि सकलकुलवृद्धसमक्षतया संताने विनिवेश्योचितमाचरत् ।

मायारामसमा रमा सुखमिदं पुःखावलेखोन्मुखं स्वप्नालोकनयः सुहृत्परिचयः कान्ता कृतान्तेहिता ।

उत्साहोऽपि च देहोहविषयो यः सोऽप्यनित्योऽवस्तस्वालोकाविलुप्तचित्ततमसां पुंसां भवेऽनुरागः ॥ १५० ॥

इति चिन्तयतोर्गतेषु कतिपयेषु च दिवसेषु पुनर्नवयोर्मुनिजनमान्यप्रवृत्तैर्वृत्तेरन्यत्रासनाद्यभिनिवेश इति विहित-
सर्गाधिमिश्रित्य राज्ये यशोधनाभिधानरत्नं सापत्नमनुजमानमङ्गल्य चाण्डवर्षदेशीयतपार्ह्वपायोप्यत्वादिमा देशयतिश्लाघ-

को जातिस्मरण उत्पन्न हुआ और हमारा दरीर मूर्च्छा से बन्धु जनों के अधुओं के साथ पृथिवी पर गिर गया ।
पश्चात् ऐसे कुटुम्बीजनों द्वारा किये गए आदिवासन से आनन्द मङ्गलों के साथ शीघ्र ही अल्प काल में पृथिवी पर
से उठे । जो (कुटुम्बीजन) निरन्तर कमलों व वस्त्रों के पंखों की जलकणों से व्याप्त हुई शीतल वायु से उपला-
लन (उपचार) के स्वभाव वाले थे । जिनके हृदय प्रचुर चन्दन-द्रव के लेपन से दयालु हैं । जिनके हस्त विशेष
आर्द्र (गीले) कमलपत्रों व कमलनाल-श्रेणी के संचारण (प्रेरण या स्थापन) में तत्पर हैं । जिनके हृदय धनी शैवाल-
मञ्जरी (वल्लरी) श्रेणी की परिचर्या (सेवा) उपस्थित करने से कोमल हैं । जो, सरस (भीगे हुए) केलावृक्ष के
मध्यभाग का आलिङ्गन कराने के विचार से स्नेह करने वाले हैं । जो वेमर्याद वीरणमूल या खस-कंदम के मलने
की प्रेरणा में तत्पर हैं एवं जिनके चित्त प्रचुर कर्पूर-फड़स के विशेष जल के सिञ्चन में प्रवीण हैं और जो पुनरुज्जी-
वित करने के उपाय वाले उन उन उपचारों में विशेष आदर करने से महान हैं । फिर हम दोनों बहुत समय तक
हमारे सम्बोधन वाले कुलवृद्धों के आशीर्वादों से व्याप्त हुए । फिर हमारे पिता यशोमति महाराज ने निम्न
प्रकार आग्रह करने वाले हम दोनों को, 'हे पिता जी ! हमारे द्वारा किये हुए पाप कर्म के सुनने से एवं पूर्वजन्म
में उत्पन्न हुए दुःखदायक कर्मों के श्रवण करने से आप पूज्यों का यह मन बार-बार लक्ष्मी से विमुख होगया
पुनः [जब] हम दोनों अब भी पूर्वोक्त दुःखरूपी अग्नि से छुए होने से दग्ध मनवाला सरीखे हो रहे हैं तब
कैसे इस राज्य लक्ष्मी में आसक्ति करें ?' समस्त कुलवृद्धों के समक्ष राज्यवंश में स्थापित करके—राज्य लक्ष्मी
प्रदान करके उचित (जेनेद्वरी दीक्षा) धारण की । तदनन्तर जब हम दोनों निम्न प्रकार चिन्तन कर रहे थे—
'लक्ष्मी इन्द्रजाल सरीखी है । सांसारिक सुख दुःख के अक्षर लेख में तत्पर (दुःखरूप) हैं । यह मित्र-परिचय
स्वप्रदर्शन-सरीखी नीतिवाला है । स्त्री काल की अभिलाषा वाली (चिन्तन) है । जो शरीर व गृह संबंधी
उद्यम है, वह भी अनित्यता के आगमन वाला (चिन्तन) है । अतः तत्त्वज्ञान रूपी प्रकाश से चित्त के
अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले पुरुषों को सांसारिक विषयों में इच्छा का विस्तार नहीं होता
॥ १५० ॥' पश्चात् कुछ दिनों के व्यतीत होने पर हम दोनों ने ऐसा निश्चय करके कि 'हम दोनों का मुनिजनों
द्वारा मान्य प्रवृत्ति वाले चारित्र्य को छोड़कर दूसरे राजसिंहासन-आदि की प्राप्ति का अभिप्राय नहीं है' सोतेले
'यशोधन' इस श्रेष्ठ नाम वाले लघु भ्राता को राज्य में अभिरिक्त करके राज्य लक्ष्मी का त्याग किया परन्तु
आठ वर्ष की आयु (उम्र) होने से हमारा दरीर मुनिदीक्षा धारण के अयोग्य था, इसलिए कुल्लक-क्षुल्लिका
को प्रशस्त अभिलाषा वाली दीक्षा धारण करके उस भगवान् सुदन्ताचार्य के साथ विहार करते हुए हम दोनों

नीयतां ब्रह्माभिष्य तेन भगवतः सह विहरमाणाववागतौ समागतौ च भवद्वन्द्वानयनभरादेतत्समान्तरम् । धर्मावि-
धानयत्नरत्नबीपकीर्तिविभूरितमतिमिथ्यात्वमहाभकारवृत्तौ मारिदत्तः प्रतिक्षणं शुभाशयामृतप्रवाहप्रविगलक्षितिलाञ्जनः
सपीरपुरवेभतापरिजनः पुरा स्वयं दुर्वासनाया च कृतेषु निरवधिषु बुध्वरिष्येष्ठतोषवीभस्सयान्तःस्थित इव कृतशरीर-
विधुमनस्सन्मुनिकुमारमिधुमकथाकर्णनादिसं समस्तमपि संसारसुखसंगमं स्वप्नेन्द्रजालसमं समाकर्णयन्करकमलमुकुला-
वबूलभौलिः सबहुमानममःकेलिस्तं मुनिकुमारमेवमभाषत—‘अहो विदग्धनाथ, निःसामान्यसुकृतसुलभदर्शनसनाथ, वुरन्त-
पातासपतञ्जनुहस्तावलम्ब, निखिलभुवनमानसोत्पासन, शर्मधर्ममृतधर्मप्रतिविम्ब, हिताहितविवेकदिङ्मूढविधुर-
बाणधव, लोकप्रीणनाचाराश्रयश्रीभाषव, खलीकृतसकलजगज्जयोऽरमार, मुनिकुमार, निःशेषलोकाभ्युद्धरणजन्मना
परमाप्तसमवर्त्मना वैवाधाप्तालोकनेन तत्रभवतानुग्रहणीयः खल्वयं जनः स्वकीयाचारणसमानभाजनतया । मुनिकुमारः—
निसर्गमुज्झिमान्धमन्दर, कर्णारसस्यन्दकन्दर, समाकर्णय । स्वभावभग्यस्य विदितवेदितव्यस्य हि भवतः सर्वमुप-

इस राजपुर के उद्यान में आए । पश्चात् आपके कोट्टपालों को लाने की विशेषता से इस सभा के मध्य
(चण्डमारी देवी के मन्दिर में) प्राप्त हुए । तत्पश्चात् मारिदत्त महाराज ने धर्मतत्त्व के मनोयोग पूर्वक श्रवण
करने के प्रयत्न रूपी रत्न की दीप्ति से अपनी बुद्धि का मिथ्यात्व रूपी माढ़ व गूहीत अन्धकार नष्ट कर डाला ।
प्रत्येक क्षण में शुभ परिणाम रूपी अमृतप्रवाह से गल रहे समस्त पापरूपी अञ्जनवाले और नागरिक लोक,
नगर देवता (चण्डमारी देवी) व सेवकों से सहित हुए । मारिदत्त महाराज ने पूर्व में स्वयं दुर्वासना (दुष्ट
अभिप्राय) से किये हुए वेमर्याद पापों से विशेष धृणा होने से भीतर चुभी हुई शल्य (कोला) से ध्याप्त हुए-
सरीखे होकर अपना शरीर कम्पित किया । जो उस क्षुल्लक जोड़े की कथा-श्रवण से इस समस्त सांसारिक
सुख-सङ्गम को स्वप्न व इन्द्रजाल सरीखा निश्चय कर रहा है एवं जिसने हस्तरूपी कमल कलियों का अपने
मस्तक पर मुकुट धारण किया है और जिसकी मानसिक क्रीड़ा [प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े का] अतिशय सम्मान
करनेवाली है, ऐसे होते हुए प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े से निम्न प्रकार कहा—

अहो मुनिकुमार ! आप विद्वानों के स्वामी हैं, अमाधारण पुण्य से प्राप्त होने योग्य दर्शन से सम्पन्न
हैं, दुष्ट फलवाले पातालतल में पड़ते हुए प्राणियों को हस्तावलम्बन (सहारा) देने वाले हैं, समस्त लोकों
के चित्तों को उल्लासित (प्रमुदित) करने वाले हैं, मुख व धर्मरूपी अमृत वृष्टि की प्रतिच्छाया हैं एवं
हित व अहित के विवेक में दिङ्मूढ हुए सन्तप्त प्राणियों के वन्द्य हैं, विष्णु-सरीखे लोक को सन्तुष्ट करनेवाले
चारित्र के आधार हैं और समस्त जगत् को जीतनेवाले पुण्य या कामवाण (कामदेव) को जीतने वाले हैं । ऐसे
हे मुनिकुमार ! समस्त लोक के उद्धार-हेतु जन्मवाले, उत्कृष्ट माता-पिता सरीखे हितैषी मार्गवाले, भाग्य से प्राप्त
हुए दर्शनवाले पूज्य आपके द्वारा यह प्राणी (मैं) अपने चारित्र सरीखी पात्रता से (मुनि या क्षुल्लक दीक्षा द्वारा)
निश्चय से अनुग्रह करने योग्य है ।

मुनिकुमार—‘स्वाभाविक तुज्झिमा (महत्ता व पक्षान्तर में ऊँचाई) व आह्लाद के लिए सुमेरु
सरीखे व कर्णारस के झरने के लिए कन्दरा (गुफा) सरीखे हे राजन् ! सुनिए—

स्वाभाविक भग्य व जानने योग्य विषय के ज्ञाता आपको निश्चय से सब ज्ञात ही है किन्तु मैं
ऐसे कार्य में (आप के लिए दीक्षा देने में) गुरु के द्वारा आज्ञा दिये हुए आचार्यपद वाला नहीं हूँ । अर्थात्—हम
लोगों को तुम्हें दीक्षा देने में अभी तक गुरु का आदेश नहीं है । अतः आइए । हम दोनों शरणागत जनों के
मनोरथों की अनुकूलता वाले उसके पादमूल में गमन करें । उक्त बात को सुनकर मारिदत्त राजा ने मन में
निम्नप्रकार विचार किया—‘अहो आश्चर्य है, क्योंकि—

मैं (मारिदत्त) प्रजाजनों का गुरु हूँ और मेरी गुरु यह देवता (चण्डमारी देवी) है एवं इन तीनों
(प्रजा, मेरा व देवी का) गुरु यह क्षुल्लक है तथा इस क्षुल्लक के दूसरे (सुदत्ताचार्य) गुरु हैं । उस दूसरे

पत्रमेतत् । किञ्च हेमचन्द्रिणे कर्मण्यपि गुरुणाम्यनुज्ञातमभासते न भवामि । तदोहं । गच्छावः शरणागतजनमनोरथानुकूलं
तत्पावपूलम् । राजा—(स्वगतम् ।) अहो आश्चर्यम् । यतः ।

अहं प्रजानां मम वैषतेग्रमेतत् त्रयस्यैव तथास्य चान्यः ।

गुह्यस्तदर्थान्तरागं महता वैशेष्ये दूरं समुपागतेयम् ॥१५१॥

(प्रकाशम् ।) मुनिकुमार, अलं विलम्बितेन । एतद् प्रतिष्ठाप्यते तं भगवन्तं भवत्समुपासितुम् ।

यः स्याद्वाद्यपि सर्वयौक्तिकनयनोदक्षमेतिह्यधोनेष्टिकचन्यभराशयोऽपि जगतः सर्वार्थसिद्ध्याश्रयः ।

दृष्टादृष्टफलप्रभुतिचरितोऽप्याप्तद्वय मध्यस्थतामात्मस्थोऽपि समस्तयः स भवतः श्रेयस्कृते स्ताज्जिनः ॥१५२॥

अरालकालव्यालेन ये लोकाः सांप्रतं तु ते । शब्दाः धीसोमवेचेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥१५३॥

पदार्थ (पूज्य सुदत्तश्री) में यह दूरवर्ती महता (महज्जू) वैसी एक स्थान (सुदत्तश्री) में स्थित हुई है जैसे
वैश्या एक स्थान में स्थित होती है ॥ १५१ ॥ तदनन्तर मारिदत्त राजा ने स्पष्ट रीति से कहा—हे मुनि-
कुमार ! विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं है, अतः अब हम दोनों उस भगवान् तपस्वी सुदत्ताचार्य की उपा-
सना करने के लिए प्रस्थान करें । ऐसा वह जिनेन्द्र आपके कल्याण की प्राप्ति के लिए होंगे । जो
स्याद्वादी ('स्यात्' इस अक्षर मात्र को कहनेवाला) हो करके भी जिसका आगम ज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयों
की परीक्षा या अनुसन्धान करने में समर्थ है । यहाँ पर उक्त कथन विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जो केवल
'स्यात्' इस अक्षर मात्र का कहने वाला होगा, उसका आगम ज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयों के अनुसन्धान
करने में समर्थ कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो स्याद्वादी (अनेकान्त दर्शन का निरूपण
करनेवाला) है और निश्चय से जिसका आगमज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयों के अनुसन्धान करने में समर्थ है ।
नैष्टिकचन्यभराशय (विशेष दरिद्रता-युक्त चित्तवाला) हो करके भी संसार को सर्वार्थसिद्धि का आश्रय
(समस्त धन-प्राप्ति का सहारा) है । यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो विशेष दरिद्र है वह
लोगों की समस्त धनप्राप्ति का आश्रय कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो नैष्टिकचन्य भराशय
(जिसका अभिप्राय परिग्रह-त्याग की विशेषताशाली) है और जो निश्चय से संसार को सर्वार्थसिद्धि का आश्रय
(समस्त दृष्ट प्रयोजनों (स्वर्गादि) की सिद्धि का आश्रय) है । जो दृष्टादृष्टफलप्रभुतिचरित (जिसका अभि-
प्राय या चित्त ऐहिक व पारलौकिक फलों (सुखों) के उत्पन्न करने में समर्थ) है, ऐसा होकर के भी जो
मध्यस्थता (उदासीनता) को प्राप्त हुआ है । यह कथन भी विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जो लौकिक व
पारलौकिक सुखों को उत्पन्न करने में समर्थ चेष्टावाला होगा, वह उदासीन कैसे हो सकता है ? इसका
समाधान यह है कि जो लौकिक व पारलौकिक सुखों के उत्पन्न करने के अभिप्राय वाला है और निश्चय से
मध्यस्थता (वीतरागता) को प्राप्त हुआ है । जो आत्मस्थ (शरीर परिमाण आत्मप्रदेशों वाला) होकर
के भी समस्त पदार्थों में व्यापक है । यहाँ पर भी विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि जिसकी आत्मा के प्रदेश
शरीर बराबर होंगे, वह आकाश की तरह व्यापक (सर्वत्र विद्यमान) कैसे हो सकता है ? इसका समाधान
यह है कि जो आत्मस्थ (आत्मस्वरूप में लीन) है और निश्चय से सर्वग (केवल ज्ञान से समस्त पदार्थों को
प्रत्यक्ष जानने के कारण व्यापक) है ॥ १५२ ॥

जो शब्द कुटिल कलिकाल रूपी कृष्णसर्प से डँसे भाए थे, वे मूर्च्छित (अप्रयुक्त) शब्द श्री सोम
देव सूरि द्वारा अथवा पक्षान्तर में अमृत वृष्टि करने वाले चन्द्र द्वारा उठाए जाते हैं—प्रयोग में लाए जाते हैं—
पक्षान्तर में पुनरुज्जीवित किये जाते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ १५३ ॥ चिरकाल से शास्त्ररूपी समुद्र के

उद्धृत्य शास्त्रअलङ्घनेनितले निमग्नेः पर्यागर्तारिब चिरादभिधानरत्ने ।

या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता बहु संप्रति तामनर्घ्याम् ॥१५४॥

इयता प्रथमेन मया प्रोक्तं अरितं यशोधरनूपस्य । इत उत्तरं तु ऋषे भूतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥१५५॥

इति सकलतात्त्विकलोकचूडामणोः श्रीमन्नेमिदेवजनकतः शिष्येण सद्योमद्वद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिष्यमण्डनीभवच्छ-
रणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये भवभ्रमणवर्णनो नाम
पञ्चम आश्वासः ।

तल में डूबे हुए शब्द रूपी रत्नों से, जो कि शास्त्ररूपी समुद्र से श्रीसोमदेव सूरि से निकाले गए हैं, अर्थात्—
प्रकाश या प्रयोग में लाये गये हैं, इसलिए जो ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—प्रस्तुत आचार्य श्री द्वारा नए
निर्माण किये गए हैं, सोमदेव सूरि ने जो आभूषण (यशस्तिलक रूपी रत्नों की हार्यष्टि-माला) निमित्त किया
है, उस अमूल्य आभूषण को वाग्देवता—सुकवि-वाणी की अविष्ठात्री देवी—धारण करे ॥ १५४ ॥

मुझ सोमदेव सूरि ने इतने ग्रन्थ में (पाँच आश्वासों में) यशोधर महाराज का चरित्र कहा । इसके
आगे (६ आश्वास से ८ आश्वास तक) द्वादशाङ्ग में उल्लिखित उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) कहूँगा ॥१५५॥

इसप्रकार समस्त तात्त्विक-पङ्दर्शन-वेत्ता) चक्रवर्तियों के चूडामणि (विरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ)
श्रीमदाचार्य नेमिदेव के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरण कमल तत्काल सिद्धोद्योग-यत्न विद्या-
धरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलक
महाकाव्य है', 'भवभ्रमण वर्णन' नाम का पञ्चम आश्वास पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदस्वादास जी शास्त्री व श्रीमत्पूज्यबाब आध्यात्मिक

सन्त श्री १५५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य,

'नीतिवाक्यामृत' के भाषाटीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ,

प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद-विशारद एवं महोपदेशक—

आदि बनेक उपाधि-विभूषित, सागरनिवासी परवार जैन-

जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित 'यशस्तिलक चम्पू

महाकाव्य' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम

की भाषाटीका में यशोधर महाराज

का 'भवभ्रमण-वर्णन' नाम

का पञ्चम आश्वास

पूर्ण हुआ ।



षष्ठ आश्वासः

(उपासकाध्ययन)

श्रीमानजागरे सूरिः भुवसोऽवशिष्यतः । बुद्ध्या तद्यागमं^१ तत्र पर्या संयमधीः^२ स्वयम् ॥ १ ॥

तत्रागमान्मुनेर्मान्यात्सभा शुक्लोऽथ मृगुजः । रत्नाकरस्य वेल्लेव पार्श्वेऽनुसमागमात् ॥ २ ॥

विषाय विधिवत्सुरेः सपर्या तत्र भूपती । आसीने सत्पुष्पावेदमसौ मुनिकुमारकः ॥ ३ ॥

भगवन्, अस्ति खलु^३ 'कंदलान्तराल' * खल्लेल्लिहाने शान्तकपर्दं च नन्दुनालवालायमानमन्दाकिनीजलकेलिकलहंसेन सुरसुन्द-
रीलोचनचकोरकुलसंतर्प^४ णापितामृतासारसृष्टिना^५ सरस्वतीलवणतीर्थोपासनतापसेन^६ मनोजविजयार्जनावर्जितजन्मना
रजनिवल्लरोकुमुभस्तबकसुन्दरेण^७ त्रिविधदीर्घकार्जुनाम्बुजकुञ्जविजयिभूतिना^८ कौस्तुभैरावतपारिजातामृतेन्वि* रासोदरेण

इसी अवसर पर श्रुतज्ञान-आदि अन्तरङ्ग व धर्म-सभा-आदि बहिरङ्ग लक्ष्मी से सुशोभित श्री
'सुदत्त' नाम के आचार्य ने अधिज्ञान से उस चण्डमारी देवी के मन्दिर में उनका (अपने मुनि संघ
का क्षुल्लक-जोड़ा-आदि का) आगमन जानकर वे प्राणिरक्षारूप चारित्र्य-मालन में तत्पर बुद्धिवाले अर्थात्—
'इन मारिदत्त राजा-आदि के आने के कारण प्राणिवध न होने पावे' इस प्रकार की बुद्धि-युक्त होते हुए स्वयं
वहाँ प्राप्त हुए ॥ १ ॥ जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के उदय से समुद्रतट ज्वारभाटा के आने से क्षुब्ध (चंचल)
हो जाता है वैसे ही उस चण्डमारी देवी के मन्दिर में सुदत्त आचार्य के माननीय आगमन से मारिदत्त राजा की
सभा क्षुब्ध (सन्तुष्ट) हो गई ॥ २ ॥ जब वह मारिदत्त राजा उक्त आचार्य की यथाविधि पूजा करके स्थित हो
गया तब 'अभयरुचि' नामके क्षुल्लक ने उक्त आचार्य से निम्नप्रकार कहा ॥ ३ ॥

भगवन् ! शत्रुओं के कोटिरूपी स्तम्भ को विदीर्ण करने के लिए घृण के कीड़े-सरीखे या टि० के अभि-
प्राय से बज्र-सरीखे यादवों का ऐसा वंश (यदुवंश) है, जो कि ऐसे चन्द्र से मुद्रित (उपलक्षित) है, जो
यदुवंश पूर्व में सोम (चन्द्र) वंश था । अथवा मानों—जो यदुवंश विशेष उच्च होने से चन्द्रपर्यन्त उपलक्षित
(व्याप्त) है । मानों—वह वंश चन्द्र में लगा हुआ-सा दृष्टिगोचर हो रहा है ।^१ जो (चन्द्र) ऐसा शोभायमान
होता है—मानों—जिसकी मुण्डमाला में सर्प क्रीड़ा कर रहा है, ऐसे ईशानरुद्र को जटाजूटरूपी चन्दनवृक्ष
की बयारी के समान आचरण करने वाले गङ्गाजल में क्रीड़ा करने वाला राजहंस ही है ।^२

जिसने देव-सुन्दरियों के नेत्ररूपी चकोर पक्षियों के समूह को सन्तुष्ट करने के लिए अमृत की प्रचुर
वृष्टि-रचना समर्पित की है ।^३ जो मानों—सरस्वती नदी के क्षरणरूप तीर्थ में प्रतिबिम्बित होने से उसकी
उपासना करने वाला तपस्वी ही है ।^४ मानों—जिसने कामदेव की दिग्विजय-प्राप्ति के निमित्त अपना जन्म प्राप्त
किया है ।^५ जो रात्रिरूपी लता के फूलों के गुच्छों-सरीखा मनोज है ।^६ जिसकी आकृति गङ्गानदी के स्वेत
कमलों के वन को जोतने वाली है ।^७ जो कौस्तुभमणि, ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष, अमृत व लक्ष्मी का सहोदर

१. मुनिकुमारकवृणाल-पुरदेवता-पुरेश्वर-पौरजनाभगमन । २. तेषां मारिदत्तादीनामागमने प्राणिवधो मायुदिति बुद्धिः ।

३. मुण्डमालामध्ये क्रीडत्सर्पः ईदृश ईशानरुद्रः । * 'कंदलान्तराल' इति ख० । टिप्पणी शिरःशङ्कलानि पल्लवानि वा ।

४. जटाजूट एव चन्दनवृक्षस्तस्य आलवालायमानं यन्मन्दाकिनीजलं तत्र या क्रीडा तत्र राजहंसेन चन्द्रेण मुद्रितः उपलक्षितः
यदुवंशः ।

५. संतर्पणार्थम् । ६. तथाः मुख्यं क्षरणमेव तीर्थं तत्र प्रतिबिम्बितत्वाच्चन्द्र एव तापसस्तेन ।

७. दिग्विजयनिमित्तं सज्जितं जन्म येन स तेन । ८. गङ्गानदीस्वैताब्जवन । ९. कौस्तुभादीनां भ्राता । * लक्ष्मीः ।

१. उपमालंकारः । २. रूपकोषमाम्यां परिपुष्ट उत्प्रेक्षालंकारः ।

३. रूपकमूलकः काव्यलिङ्गालंकारः । ४. काव्यलिङ्गोत्थापित उत्प्रेक्षालंकारः । ५. हेतुत्प्रेक्षालंकारः । ६. रूपक मूलक
रूपमालंकारः । ७. उपमालंकारः ।

युगमर्कैर्मासिखितललामलिपिविलोपिना विवञ्जवृक्षदातुवृक्षतापिबद्धगुल्मवृक्षविचिद्वनच्छायाश्रया^१ लाञ्छनेनौलङ्कितमसा
शीरोत्तमगद्गेन चना^२ ५३७ 'युद्धेनः' इति पर्येषताफलपरम्परोऽप्युदितोदितविभूतिरहितकोतित्तम्भनिर्भवंभिदूनां^३ यदूनां
वंशः । 'तत्रार्भैर्बन्निखिललोकचिन्तामणीयमानचरणो रणोत्सवतारसिकसपत्नःकुनालोचनचन्द्रकान्तमणिप्रणालजलप्रवाहिनी
^४ 'हारकिरणोवयो' ^५ 'ययोधिताचरणा' ^६ 'नन्दितविनोताधवीपालवारको' ^७ 'वारकोप्रतरकरवालचिनिभिन्नारीभकुम्भस्थलो-
च्छलेनमुक्ताफलनिकरतारकितरगमतलो नतलोक्षपालचूडामणिमरोखिवलयालवालखिलसत्क्रमाशोकपल्लवधोः श्रीवि' ^८ 'रामसी-

है ।^१ जो तरल कस्तूरी से धारों ओर लिखी हुई मनोज्ञ लिपि (तिलकरूपी लिपि) को तिरस्कृत करने वाले एवं विकसित पत्तोंवाले महान तमाल पत्रों के गुच्छों की निरन्तर कान्ति का धारक पौधा-सरीखे लाञ्छन (श्याम चिह्न) से अलङ्कृत है तथा जो क्षीरसागर का पुत्र है ।^२ अनोखे वंशवृक्ष-सरीखा जो (यदुवंश) प्रतिपर्व-सम्पन्नफलपरम्परा वाला (वसिष्ठ के पक्ष में—जो प्रत्येक पर्व (गाँठ) पर परिपूर्ण फल-समूह से व्याप्त हो करके भी उदितोदितविभूतिवाला (अत्यधिक विभूति को उत्पन्न करने वाला) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जब वसिष्ठ वृक्ष फलता है तब लोगों की लक्ष्मी-आदि नष्ट होती है । अर्थात्—वंश वृक्ष के फलशाली होने पर उत्पात होता है । अतः जो प्रत्येक पर्व—गाँठ—पर फलश्रेणी से व्याप्त होगा, उससे जनता को अत्यधिक विभूति कैसे मिल सकती है ? उसका परिहार यह है कि यह यदुवंश फलवालो होकर के भी विभूति-युक्त है । अर्थात्—जो प्रतिपर्व-सम्पन्न फलपरम्परा वाला (जिसे प्रत्येक पर्व—महोत्सव में पुण्यकर्म की फल-परम्परा (सुख-श्रेणी) प्राप्त होती है और जो निश्चय से उदितोदित विभूति-युक्त (दिनोंदिन वृद्धिगत धनादि विभूति से व्याप्त) है ।^३

उस यदुवंश में ऐसा चण्डमहासेन नाम का राजा था । जिसके चरण समस्त याचक-लोक के लिए चिन्तामणि सरीखे आचरण करते हैं ।^४ जो युद्ध के आनन्द में रसिक (रुचि रखनेवाले) शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्ररूपी चन्द्रकान्त-मणियों के प्रणालों से जल प्रवाहित करने वाले चन्द्र का उदय ही है ।^५ जिसने जीवदया के योग्य आचरण से नम्रोभूत (सेवक) राजाओं की दारार्ण (पञ्जिकाकार के अभिप्राय से स्त्रियाँ व टिप्पणीकार के अभिप्राय से दारक—पुत्र) आनन्दित किये हैं ।^६ जिसने विदारणशील विशेष तीक्ष्ण खड्ग से विदीर्ण किये हुए शत्रु-राजाओं के हाथियों के गण्डस्थलों से उछलते हुए मोतियों के समूह से आकाश तल को नक्षत्र-समूह से व्याप्त किया है ।^७ जिसकी चरणरूपी अशोक वृक्ष की पल्लव-श्री (शोभा) नम्रोभूत राजाओं के चूडामणियों (शिरोरत्नों—मुकुटमणियों) की कान्ति समूहरूपी क्यारी में शोभायमान हो रही है^८ और जो ऐसे भुजारूपी

१. तिलकमेव लिपिः कस्तूरिकायास्तिलकं सरस्वतीललाटे घटते । २. विकसत्पत्रबहुलतमालपत्र टि० (ख) ।
३. ह्रस्ववाग्याशिकः क्षुपः इत्यमरः टि० (च) । ४. ईदृशेन लाञ्छनेन सहितेन । ५. मुद्रितः उपलक्षितः, यदूनां वंशश्चन्द्रमसा मुद्रित आचन्द्रमुपलक्षित उच्चैस्तरत्वात् वंशश्चन्द्रे लग्न इव दृश्यते पूर्वं यदूनां सोमवंश इत्यर्थः ।
६. महोत्सवं प्रति परिपूर्णफलपरम्परः लोकानां दातृगुणेन, पक्षे यदा वंशः वेणुस्तस्य पर्वणि यदा फलानि फलन्ति तदा उत्पात एव स्यात्, यदा वंशवृक्षः फलति तदा लोकानां द्रव्यादिकं विनश्यति, वंशे फलिते उत्पातः स्यादयं तु यदूनां वंशः फलितोऽपि विभूतिमानित्यर्थः । ७. निर्भेदने षष्ठाणां टि० ख० । 'भिदुः घुणकीटाः' इति पञ्जिकाकारः ।
८. यदुवंशे । ९. चण्डमहासेन राजाऽभवत् । १०. नीहारकिरणश्चन्द्रः । ११. जीवदया । १२. आनन्दिताः सेवकनृपपुत्राः येन सः । १३. विदारणशील । १४. विनाश ।

१. उपमालंकारः । २. उपमालंकारः । ३. विरोधाभास-अलंकारः ।

४. उपमालंकारः । ५. रूपकालंकारः । ६. काव्यलिङ्गालंकारः । ७. उत्प्रेक्षालंकारः । ८. रूपकालंकारः ।

‘माभित्तेश्वसुस्तानतस्त्यादतपद्वोर्वण्डमण्डलप्रपञ्चमण्डलमहासेनो नाम नरपतिः । १ तस्याय’ ४ समस्तसाम्राज्यपुरोद्धारकोरेयः प्रजोपद्रवोद्भूतशत्रुकाशवेय’ ५ नतेयः ६ साक्षात्कुसुमधनुः १ सुसुराजयोधन सविध्याः १० सकलजगद्व्यवहारप्रवृत्तिवस्तुस्कन्धा-त्संसारसंयन्धावनुजपर्यः ११ सोदयोः १२ । स एव १३ संप्रति स्वभावतो मृदुमानसरसप्रसरोऽपि १४ दुरूपदेशावसरस्तास्र १५ पर्णो-पधःप्रवाह इव १६ संजातशुक्तिसंपुटकीदरावगाहः कठिनतानीतमतिरस्म १७ त्समागतिशलाकासावितसूत्रप्रवेशमार्गो निकामं संपद्यमानधर्मसंसर्गो भवितुमिच्छतीति ।

तदनु राजा सबहुमानं धर्मद्रुमप्रथमोत्पत्तपल्लवायमानेन १८ सकलसंसारव्यसनवनवावानलप्रभापटलकान्तिता नखमधुसप्रसरोत्सपित १९ धवणसमीपसरस्वतीप्रवाहेण सीमन्तप्राप्त २० सरःसंजातजलेज २१ कुङ्कुमलविजम्बिता २२ करपुगलेनो

दण्डमण्डल से विशेष तेजस्वी—प्रतापी है, जो कि लक्ष्मी के विनाश की मर्यादा को आश्रित हुए (अस्त होने वाली लक्ष्मी वाले) शत्रु-समूह रूपी वृक्षों के उन्मूलन में समर्थ है ।^१

ये मारिदत्त महाराज उक्त राजा के समस्त साम्राज्य-भार के वहन करने में समर्थ पुत्र हैं और जो प्रजा पर उपद्रव करने में उत्सुक दुष्ट लोगरूपी सर्पों के विनाश करने में गच्छ ही हैं^४ एवं मानों—साक्षात् कामदेव ही हैं ।^५ तथा सकल जगत् की व्यवहार-प्रवृत्ति में स्कन्ध (सहायता) देनेवाले संसार-संबन्ध से (गृहस्थाश्रम की अवस्था) गृह-हमारी माता (कुसुमावली रानी) के लघुभ्राता (हमारे छोटे मामा) हैं । ये मारिदत्त महाराज इस समय स्वभाव से कोमल मानसिक रस के विस्तार वाले भी हैं परन्तु इन्हें दुष्ट लोगों के उपदेश का अवसर प्राप्त हुआ है, इससे ये वैसे कठिन बुद्धिवाले हो गये थे जैसे सीप-संपुट के मध्य में प्रवेश करनेवाला ताम्रपर्णी नाम की नदी का जल-प्रवाह कठिनता से ग्रहण करने के लिये अशक्य होता है । अर्थात्—जैसे सीप-संपुट का मध्यवर्ती जल मृदु होने पर भी संपुट के उद्घाटन बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता वैसे ये भी पूर्व में दुरूपदेश के प्राप्त होने से कठिन बुद्धि-वाले थे^६ । परन्तु अब मणि-सरीखे इन्होंने हमारी समागम वेला रूपी शलाका (सुई) से सूत्र (शास्त्र व पक्षान्तर में तन्तु) में प्रवेश-मार्ग प्राप्त कर लिया है इससे ये विशेषरूप से धर्म-संसर्ग प्राप्त करने के इच्छुक हैं ।^७ निष्कर्ष—अतः अब आपको पायता-प्राप्त किये हुए इनके लिए उपदेश शास्त्र कहना चाहिये । तदनन्तर ऐसे हस्त-पुगल से मुकुटीकृत मस्तकवाले मारिदत्त राजा ने प्रस्तुत आचार्य के लिए विशेष सन्मान पूर्वक नमस्कार किया, जो (हस्त) धर्मरूपी वृक्ष का प्रथम उत्पन्न हुआ नवीन पल्लव-सरीखा है^८ । जिसकी कान्ति सांसारिक समस्त व्यसन (मद्यपान-आदि दुःख) रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल के प्रभापटल-सी है^९ । मानों—जिसने विस्तृत नख-किरणों से कानों के समीप सरस्वती नदी का प्रवाह ही प्रसारित किया है^{१०} और जो केश-प्रान्त रूपी तड़ाग में उत्पन्न हुए कमलों की अध

१. समोदा । २. श्रिताः ये षत्रवः । ३. नृपस्य । ४. सुनुः पुत्रोऽयम् । ५. से ८. उत्सुका ये क्षुद्रास्त एव सर्पस्तिषां विनाशकरणे गच्छः । ९. कामदेवः । १०. मातुः । ११-१२. लघुभ्राता परचाजन्मपर्यायः, अर्थात्—गृहस्था-प्रेमयाज्योमन्त्रिर्लघुभ्रातेत्यर्थः । १३. अयं मारिदत्तः । १४. दुष्टलोकोपदेशानामवसरः यस्य सः । १५. काचित्पदीनाम् । १६. यथा शुक्लपुदरानं पानीयं मृदपि संपुटोद्घाटनं बिना गृहीतुं न शक्यते, तद्वदयं दुरूपदेशेन कठिनबुद्धिः पूर्व । १७. इदानीं तु अस्मदागतवन्नेव शलाका तथा आसादितसूत्रप्रवेशमार्गः । अर्थात्—अधुना श्रीमद्दुरूपदेशशास्त्रं कथनीय-मितिभावः । १८. ईदृशेन हस्तपुगलेन । १९. प्रसारितकिणसमीप । २०. प्रान्त एव तड़ाग । २१. कमल । २२. हस्तयुग्मेन ।

१. रूपकालंकारः । २. रूपकालंकारः । ३. रूपकालंकारः । ४. उपमालंकारः । ५. रूपक व उपमालंकारः । ६. उपमालंकारः । ७. रूपक व उपमालंकारः । ८. उत्प्रेक्षालंकारः ।

संसितशिल्पः^१ प्रणम्याभिरकुलमनाः^२ प्रत्याक्षिप्तध्यानेर्षनाः^३ परलोकोपायपरामर्शपवित्रप्रकृतिः^४ शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतस्याभिनिवेशपेशसमतिः^५ सुवस्तभगवन्तमभयश्चिबिरचितावसरोदन्तमेवं किलाभाषत—

‘भगवन्,

धर्मात्किलैव जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः । किरूपः किभेदः किमुपायः किफलश्च जायेत ॥४॥’
भगवानाह—‘राजन्, समाकर्णय ।

यस्मादभ्युदयः^६ पुंसां निःश्रेयसं^७ कलाश्रयः । वदन्ति^८ विदितास्नायास्तं धर्मं धर्मसुरयः ॥५॥

स^९ प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थे^{१०} तरगोचरः । प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात्^{११} ॥६॥

राजाह—‘किं पुनर्भगवन्भुक्तेः कारणम्, किं च संसारस्य, को वा गृहाधमिणां धर्मः, कश्च संयमिलोकस्य ।’

खिलो कलियौ-सरीखा था । फिर निराकुल मनोवृत्तिवाले व चित्त-व्याकुलता एवं पाप-प्रवृत्ति निराकुल (त्यक्त) करनेवाले तथा पारलौकिक उपाय की विचारधारा से पवित्र प्रकृति वाले मारिदत्त महाराज ने, जिसकी बुद्धि, शुश्रूषा (शास्त्र व शिष्ट पुरुषों के हितकारक उपदेश को श्रवण करने की इच्छा), श्रवण (हितोपदेश का सुनना), ग्रहण (शास्त्र के विषय का उपायान), धारण (शास्त्र-वादि के विषय को न भूलना), विज्ञान (अनिश्चय, सन्देह (संशय) व विपरोक्ष ज्ञान इन मिथ्याज्ञानों से रहित यथार्थज्ञान होना), ऊह (निश्चित धूम-आदि पदार्थों के आधार (ज्ञान) से दूसरे अग्नि-आदि पदार्थों का उसी प्रकार निश्चय करना), अपोह (महापुरुषों के उपदेश और प्रबल युक्तियों द्वारा प्रकृति, ऋतु व शिष्टाचार से विशुद्ध पदार्थों (अनिष्ट आहार, विहार एवं परस्त्री-सेवन-आदि विषयों) में अपनी हानि या नाश का निश्चय करके उनका त्याग करना) एवं तत्त्वाभिनिवेशः (उक्त विज्ञान, ऊह और अपोह-आदि के सम्बन्ध से विशुद्ध हुए ‘यह ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं है’ इस प्रकार का दृढ़ निश्चय) इन बुद्धि-गुणों से मनोज्ञ है, पूज्य सुदत्ताचार्य से, जिनके लिए अभयसूचि क्षुल्लक द्वारा अवसरानुकूल वृत्तान्त निरूपण कर दिया गया है, निश्चय से निम्न प्रकार प्रश्न किये (धर्मविषयक जिज्ञासा की)—

‘भगवन् ? निश्चय से यह प्राणी धर्म से संसार में सुखी होता है, उस धर्म का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने भेद हैं ? एवं उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? और उसका क्या फल है ? ॥ ४ ॥’

आचार्य—‘राजन् ! श्रवण कीजिए । जिन सत्कर्तव्यों के अनुष्ठान से मनुष्यों को स्वर्ग (इष्ट शरीर, इन्द्रिय व विषयों की प्राप्ति लक्षणवाला) और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे आगमवेत्ता धर्माचार्य ‘धर्म’ कहते हैं ॥ ५ ॥ उसका स्वरूप प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप है । अर्थात्—मोक्ष के कारणों (सम्यग्दर्शन-आदि) के पालन करने में प्रवृत्त होने को प्रवृत्ति और संसार के कारण (मिथ्यादर्शनादि) से बचने को निवृत्ति कहते हैं । वह धर्म गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के भेद से दो प्रकार का है ॥ ६ ॥

राजा—‘भगवन् ! मोक्ष का कारण (मार्ग) क्या है ? और संसार के कारण क्या हैं ? गृहस्थ धर्म क्या है व मुनि धर्म क्या है ?’

१. मुकुटीकृतमस्तकः । २. निराकृतचित्तव्याकुलत्वं पापं च । ३. विचारण । ४. अभिश्राय । ५. अभ्युदयः—
इष्टशरीरेन्द्रियविषयप्राप्तिलक्षणः स्वर्गः । ६. निःश्रेयसं निखिलमलविलयलक्षणं । ७. आम्नायः आगमः । ८. सः
धर्मः । ९. यति । १०. मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिः सम्यग्मत्त्वव्रतप्रवृत्तिरेव धर्मः ।

भगवान्—सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यं मोक्षस्य कारणम् । संसारस्य च *मोमास्यं मिथ्यात्वादि^१चतुष्टयम् ॥७॥

सम्यक्त्वं भावनामाहुर्मुक्तियुक्तेषु वस्तुषु । मोहसन्देह^२विभ्रान्ति^३वर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥८॥

कर्मादावनिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम् । चारित्र्योचितत्वा^४तुर्पाश्चात्चारित्र्यसूचिरे ॥९॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यविषयपरं मनः । मिथ्यात्वं त्रिषु^५ भावस्ते सूरयः सर्ववैशिकः ॥१०॥

अत्र बुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृत^६लोका^७मोहोन्मूलनसमयलोतसां सदाचाराचरण-
चातुर्योच्चरवर्तिनां परपादेनो मुक्तेश्वाये काच^८ ॥ ९ ॥ अतः प्रवृत्तयः^९ । तथाहि—‘सकलनि’^{१०} एकलाप्तप्राप्तमन्त्र
तन्त्रापेक्ष^{११} दीक्षालक्षणान्छद्माभात्रानुसरणान्मोक्षः^{१२} इति सैद्धान्त्यवैशेषिकाः,^{१३} *द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषा-

आचार्य—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों की प्राप्ति मोक्ष का मार्ग है एवं मिथ्यादर्शन, अविर्तित, कषाय व योग संसार के कारण समझने चाहिए ॥ ७ ॥ युक्ति-सिद्ध पदार्थों (जीव-अजीव-आदि नव पदार्थों) में दृढ़ श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं और अज्ञान, सन्देह व भ्रान्ति से रहित हुए ज्ञान की ‘सम्यग्ज्ञान’ कहा जाता है ॥ ८ ॥ महामुनियों ने ज्ञानावरणादि कर्मबंध की कारण मनोयोग, वचन-योग व काययोग तथा कषायरूप पाप क्रियाओं के त्याग करने को सम्यक्चारित्र्य कहा है ॥ ९ ॥ सर्ववैश्या आचार्य, ऐसी मानसिक प्रवृत्ति को, जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य को विपरीत करने में तत्पर हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य इन तीन विषयक मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्या-चारित्र्य) कहते हैं ॥ १० ॥

मुक्ति के विषय में अनेक मान्यताएँ—मिथ्याशास्त्रों की वासनारूपी कामिनी से वासित चित्तवाले अन्य मतानुयायी वादियों की, जिनके सिद्धान्तरूपी जल-प्रवाह अज्ञानी मनुष्य-समूहरूपी वृक्षों के उखाड़ने में गतिशील हैं एवं जो सदाचार के पालन की चतुराई से दूरवर्ती हैं, मुक्ति के मार्ग में व स्वरूप में अनेक प्रकार की मान्यताएँ हैं ।

१. जैसे—‘सैद्धान्त्य वैशेषिक’ (वेद को मुख्यता से प्रमाण मानने वाले कणाद ऋषि के अनुयायी) मानते हैं कि—ऐसी दीक्षालक्षण वाली श्रद्धामात्र के अनुसरण से मुक्ति होती है, जिसमें सगुण शिव (सक्षरीर—पार्वतीकान्त) व निर्गुण (परमशिव) परमगुरु या ईश्वर से प्राप्त हुए मन्त्रों (वैदिक-ऋचाओं या वैदिक मन्त्रों, जो कि निरुक्त के अनुसार तीन प्रकार के हैं, परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत व आध्यात्मिक अथवा वेदों का मन्त्र भाग जो ब्राह्मण से भिन्न है) व तन्त्रों (उपायों—यज्ञादि कर्मकाण्ड पद्धतियों) की अपेक्षा (वाञ्छा) वर्तमान है ।

२. तार्किक वैशेषिक मानते हैं कि ‘द्रव्य (पृथिवी, अग्नि, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये ९ द्रव्य), गुण (रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व,

*. विचार्ये । १. मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः । २. मोहः अज्ञानं । ३. इदं तत्त्वमिदं वाञ्छितमिति चञ्चलो प्रतिपत्तिः संशयः सन्देहः । ४. अतत्त्वे तत्वाध्यवसायो भ्रान्तिः । ५. महामुनयः । ६. सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्येषु मिथ्यादर्शनं, मिथ्या-ज्ञानं, मिथ्याचारित्र्यं चेत्यर्थः । ७. अज्ञानिजन । ८. लोका एव वृक्षाः । ९. स्वरूपे । १०. स्वभावाः । ११. पार्वतीपतिः परमशिवदर्चनं गुरुस्तस्मात्प्राप्तः । १२. वाञ्छामन्त्रतत्त्वादिरुचिरेव । १३. मोक्षं मन्यन्ते ।

*. ‘द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्’ ॥—वैशे० ६०१-४ ।

भावाभिधानानां परार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यविबोधतन्त्राज्ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिकौ, 'त्रिकालभस्मोद्धू'लनेत्या' गडुकप्रदानाप्रदक्षिणीकरणमभिधम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनु'ष्ठानात्' इति पाशुपताः, 'सर्वेषु पेधापेयभक्ष्या-भक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्तवृत्तात्' इति कौलचार्यकाः । तथा च 'क्षिप्रमतोक्तिः— 'मदिरामोदतेषु' ११ स्वदनस्तर' १२ सरस-प्रसन्नहृदयः १३ सांख्यपार्श्वनिर्घेहितशक्तिः १४ १५ शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुभयमहेश्वरायमाणः १६ कृष्णाय १७ शर्वाणीश्वर-साराधयेदिति । 'प्रकृतिपुरुषयोर्विभेदकमतेः स्याते' इति सांख्यः, 'नैरात्म्यादिनिबोधितसंभावनातो भावनातः' इति

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शब्द, गुस्त्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म ये २४ गुण), कर्म (उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण व गमन ये ५ कर्म), सामान्य (पर व अवर ये दो सामान्य), विशेष (निस्पृश्य-वृत्ति अनन्त विशेष पदार्थ), समवाय और अभाव (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव व अन्योन्याभाव ये ४ अभाव) इन सात पदार्थों के सदृशधर्म व वैधर्म्य मलक शास्त्र संबंधी तत्त्वज्ञानमात्र से मोक्ष होता है ।

३. पाशुपतों—शैवों—को मान्यता है कि 'प्रातः मध्याह्न व सायंकाल भस्म लगाना, शिबलिङ्ग की पूजा करना, गडुक-प्रदान (मुख के भीतर बकरी के शब्द का अनुकरण करना अथवा शिव लिङ्ग के सामने जल-पात्र को स्थापित करना), चारों ओर से शिव-लिङ्ग की प्रदक्षिणा करना एवं आत्म-वडम्बन (पंचाग्नि तपश्चर्या-आदि) आदि क्रियाकाण्ड मात्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है ।'

४. कौलचार्यकों (कौल मार्गानुयायियों) ने कहा है कि 'समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थों के खाने पीने में निशङ्क चित्तवृत्ति पूर्वक प्रवृत्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है' कौलमत (सांख्यमत) का कथन यह है कि 'ऐसा मानव मुक्ति प्राप्त करता है, जिसका मुख मद्य की सुगन्धि से सुगन्धित है, जिसका हृदय मांस-रस से प्रसन्न है, जिसने अपने वाम पाद्वर्धभाग में शक्ति (स्त्री-शक्ति) स्थापित की है, जो स्त्रीशक्ति, मुद्रा (योनि मुद्रा) व आसन का धारक है और जो स्वयं उमा (पार्वती परमेश्वरी) व महेश्वर- (श्री शिव) सरीखा आचरण कर रहा है, एवं जिसे मद्य-पान से उमा व श्रीशिव की आराधना करनी चाहिए ।

५. सांख्यदर्शनकार को मान्यता है कि प्रकृति (महान् (बुद्धि) व अहंकार एवं इन्द्रिय-आदि तत्त्वों का उत्पादक अचेतन (प्रधान पदार्थ) और पुरुष (चेतन्यरूप आत्मा) के भेदज्ञान से मुक्ति होती है । भावार्थ—प्रस्तुत भेदज्ञान की प्राप्ति के लिए महान्, अहंकार व इन्द्रियादि तत्त्वों का, जो कि प्रकृति के परिणामभूत हैं, संकलन किया गया है । अन्यथा पुरुष (आत्मा) की उपाधिरूप बुद्धि, मन, प्राण व शरीर-आदि से आत्मा में भेद ज्ञान भली भाँति नहीं जाना जा सकता । अतः प्रकृति व पुरुष का अभेद ज्ञान ही संसार है और इन दोनों के भेद ज्ञान से मुक्ति-लाभ होता है ।

६. बुद्ध के शिष्यों (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक भेद से चार प्रकार के बुद्धमता-नुयायियों) ने कहा है, आत्मशून्यता-आदि तत्त्वों की शास्त्रनिरूपित अग्न्यास वाली भावना से मुक्ति होती है । भावार्थ—बौद्ध सर्व क्षणिक क्षणिक, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति इस प्रकार भावना-

१. द्रव्य ९, गुण २४, कर्म ५, सामान्य २, समवाय १, असदृशः पदार्थः, पदार्थाभावश्च । २. भस्मगाधलक्षण ।

३. पूजा । ४. गाड़ीदान गाड़ टालनुवा ? ५. कर्तव्यात् । ६. कौलाः । ७. सांख्यः । ८. मद्येन । ९. सरस ।

१०. मांसं । ११. वाम । १२. स्त्रीशक्तिः । १३. योनिमुद्रा । १४. मदिरया । १५. ईश्वरं ।

वक्ष्यबल'शिष्याः, 'अङ्गाराञ्जनादिवस्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य *न कुतश्चिद्विशुद्धचित्तवृत्तिः' इति जैमिनीयाः, 'सति धर्मिणि' धर्माद्विचिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्षः' इति समवाप्त-समस्तनास्तिकाधिपत्याः बार्हस्पत्याः, 'परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसंवेदना 'विद्याधिनाशात्' इति वेदान्तवादिनः,

'नैवाभ्यस्तस्त्वमस्तीह न बहिस्तस्त्वमस्यसा । विद्या^१रगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी ततः ॥ ११ ॥'

चतुष्टय से मुक्ति मानते हैं । अर्थात्—समस्त जगत् श्रणिक, दुःखरूप, स्वलक्षणात्मक व शून्यरूप है, इस प्रकार चार प्रकार की भावना से मुक्ति होती है ।

७. जैमिनीय (भीमांसकविशेष) कहते हैं कि जैसे स्वभाव से विज्ञेय मलिन कोयला व अञ्जन-आदि पदार्थ किन्हीं उपायों से विद्युद्ध नहीं हो सकते वैसे ही स्वभाव से विशेष मलिन आत्मा को मनोवृत्ति भी किन्हीं उपायों (तपश्चर्या-आदि) से विद्युद्ध नहीं हो सकती ।

८. समस्त नास्तिकों का स्वामित्व प्राप्त किये हुए बृहस्पति के अनुयायियों (चार्वाक मतानुयायियों) ने कहा है कि 'जब धर्मो (आत्मा-आदि पदार्थ) स्वतन्त्ररूप से सिद्ध होता है तब उसके धर्मों (ज्ञानादिगुणों) का विचार किया जाता है परन्तु जब परलोक में गमन करने वाले आत्मद्रव्य का अभाव है तब परलोक का भी अभाव है तब मुक्ति किसे होगी ? भावार्थ—प्रस्तुत दर्शनकार 'देह एवात्मा तदतिरिक्तस्यात्मनोऽदर्शनात्' अर्थात्—शरीर को ही आत्मा मानता है, क्योंकि उससे भिन्न आत्मद्रव्य की प्रत्यक्ष से प्रतीति नहीं होती । उसकी 'मान्यता है कि यावज्जीवं मुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' ॥ १ ॥

अर्थात्—तपश्चर्या-आदि क्लेशपूर्वक जीने से भी मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतः उसका कष्ट उठाना व्यर्थ है, इसलिए जीवनपर्यन्त सुख भोगो । शङ्का—जन्मान्तर में विशेष स्थायी सुख की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या का कष्ट-सहन उचित है । उत्तर—जब शरीर ही आत्मा है और वह मरणकाल में भस्मीभूत हो चुका है, उसका पुनरागमन कैसे हो सकता है ? अर्थात्—न परलोक-गमन है और न जन्मान्तर-प्राप्ति सिद्ध है तब निरर्थक तपश्चर्या का क्लेश सहन क्यों किया जाय ? इत्यादि ।

९. वेदान्तवादियों ने कहा है कि परब्रह्म के दर्शन होने से समस्त भेदज्ञान करानेवाली अविद्या (माया—अज्ञान) के विनाश से मुक्ति होती है । अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से 'विप्रचाण्डालादिवर्णविर्ण-सारनिःसारपदार्थपरिज्ञानं सा अविद्या' अर्थात्—ब्राह्मण व चाण्डाल-आदि उच्चवर्ण व नीचवर्ण के समस्त मानव-आदि पदार्थों में क्रमशः-सार व निस्सार रूप भेदज्ञान प्रकट करना ही अविद्या है । उसके नाश से परब्रह्म का दर्शन होना ही मोक्ष है ।

भावार्थ—'मूलाज्ञाननिवृत्तौ स्वस्वरूपाधिगमो मोक्षः', अर्थात्—सत्त्वरंजलमोमय जगत् की मूलकमरण अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति होने पर ऐसे परब्रह्म के स्वरूप का बोध होने से मुक्ति होती है, जो कि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अर्थात्—जो सत्य, चिद्रूप व अनन्त है । शाङ्करभाष्य^७ में भी कहा है ।

१. वक्ष्यबलो बुद्धः । * न 'कुतश्चिद्विशुद्धिरिति जैमिनीयाः' (क) । २. आत्मनि । ३. आत्मनः । ४. चार्वाकाः ।

५. विप्रचाण्डालादिवर्णविर्णसारनिःसारपदार्थपरिज्ञानं सा अविद्या तस्या विनाशात् । ६. विचाररहितत्वात् ।

७. तथा च शाङ्करभाष्ये—अविद्यास्तमो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः ।

अर्थात्—अविद्या (अज्ञान-माया) की निवृत्ति मोक्ष है और अविद्या ही बन्ध है । सर्वदर्शन संग्रह पृ० ४०२ से संकलित—सम्पादक

इति पश्यतोहराः प्रकाशितशून्यतैकान्ततिरिराः शाक्यविशेषाः^१, तथा 'ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मधर्म-
संस्काराणां नवसंख्यावसराणाभात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिः' इति कणादाः । तबुक्तम्—

यहिः क्षरोराश^२ रूपमात्मनः संप्रतीयते । उक्तं तवेव मुक्तस्य^३ मुनिना कणभोजिना ॥ १२ ॥

'निराश्रय'चित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षणः' इति तात्पागताः^४ । तबुक्तम्—

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नेवावति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दीपो यथा निवृत्ति^५मन्युपेतः^६ स्नेहशयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १३ ॥

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नेवावति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दीपस्तथा निवृत्ति^५मन्युपेतः^६ स्नेहशयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १४ ॥

प्रत्यक्ष-प्रतीत वस्तु का अपहरण करने वाले व सर्वथा शून्यस्वरूपी एकान्त अन्धकार को प्रकाशित करने वाले माध्यमिक बौद्धों ने कहा है—'इस लोक में निश्चय से न तो कोई अन्तरङ्गतत्व (आत्मा-आदि पदार्थ) है और न बाह्यतत्त्व (घट-पटादि) है, क्योंकि प्रस्तुत दोनों तत्व विचार-रहित हैं । अतः शून्यता ही कल्याण करने वाली है । अर्थात्—शून्यतत्त्व की भावना से ही मुक्ति होती है ॥ ११ ॥'

भावार्थ—यद्यपि बुद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध एक ही थे परन्तु उनके शिष्यों की बुद्धि के भेद से उनके चार भेद हो गये हैं । माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक । और ये क्रमशः सर्वशून्यता, बाह्यार्थशून्यता, बाह्यार्थानुमेयत्व और बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद मानते हैं । जैसे 'गतोऽस्तमर्कः', (सूर्य अस्त हो चुका है) ऐसा कहने पर जैसे जार, चोर और अनुचान (वेदवेत्ता) क्रमशः अभिसरण, परब्रह्म्यापहरण एवं सदाचार-पालन का समय निर्णय करते हैं वैसे ही प्रस्तुत चारों (माध्यमिक-आदि) 'सर्व क्षणिक' क्षणिक, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं, ऐसी भावना-चतुष्टय से मुक्ति मानते हैं ।

उनमें माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि जब समस्त जगत् क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण व शून्यरूप है तब उसमें स्थिरशीलता, मुख, अनुगतत्व (द्रव्यता) व सर्वसत्थता का अभाव सुतरां सिद्ध हो गया, ऐसा होने से आखिर में सर्व शून्यता ही सिद्ध होती है, अतः इसकी भावना से मुक्ति होती है । कणाद ऋषि के अनुयायियों की मान्यता है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म व संस्कार इन नौ आत्मिक गुणों का अत्यन्त उच्छेद (नाश) होना ही मुक्ति है ।^७

वैशेषिकदर्शन में कहा है—'आत्मा का शरीर से बाह्यप्रदेश (आकाश) में जो स्वरूप (निर्गुण—जड़-रूप) प्रतीत होता है । अर्थात्—जैसे शरीर-स्थित आत्मा में उक्त सुख-आदि गुण पाये जाते हैं, परन्तु शरीर से बाह्यप्रदेश (आकाश) में वर्तमान आत्मा में उक्त सुखादि गुण नहीं होते । अतः बाह्यप्रदेश में उसका स्वरूप उक्त गुणों से रहित (निर्गुण—जड़रूप) है वही स्वरूप कणाद मुनि ने मुक्त आत्मा का बतलाया है ॥ १२ ॥'

बौद्धों की मान्यता है कि 'निरन्वय (सन्तान-रहित) चित्तक्षण की उत्पत्ति लक्षणवाला मोक्षक्षण (पदार्थ) है' । कहा भी है—जैसे बुझता हुआ दीपक न किसी दिशा (पूर्व-आदि) को जाता है न किसी विदिशा (ऐशान-आदि), को जाता है और न पृथिवी व आकाश की ओर जाता है, किन्तु तैल के नष्ट हो

१. बौद्धास्तेऽपि त्रिप्रकाराः सन्ति । २. आशानं जडस्वरूपं । ३. आत्मनः । ४. निराश्रयं निरन्वयं । ५. तात्पागताः बौद्धाः ।

६. विनार्वा । ७. प्राप्तः । ८. दीपवत् स्थानरहितः मोक्षावसरः । ९. अनित्यभावतया दुःखस्य विनाशो भवति ।

१. देखिए सर्वदर्शन संग्रह पृ० १९, व पृ० २९ । २. देखिए सर्वदर्शन संग्रह—उपोद्घात प्रकरण पृ० ५३ ।

‘बुद्धिमनोऽहंकारविरहावस्थिलेन्द्रियोपशमावहास’वा ब्रह्मः^१ स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः^२ इति कापिलः,^३ यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशोभवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परब्रह्मणि लीयते^४ इति ब्रह्माद्वैतवादिनः ।

अज्ञातपरमार्थानामेवमर्थेऽपि दुर्ज्ञेयाः । मिथ्यादृशां न गम्यन्ते आत्मगमनानामिव द्विपे ॥१५॥

(स्वगतम् ।)

प्रायः संप्रति कोषाय सन्मार्गसंशोधनम् । निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥१६॥

बुद्धान्ताः सन्त्यसंश्लेषाः सतिस्तद्वशवतिनी । किं न कुर्युर्महो घूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥१७॥

बुराप्रहृष्टप्रस्ते विद्वान्बुद्धिं करोतु किम् । कृष्णपाषाणखण्डेषु सार्वबाय न तोयवः ॥१८॥

इति^५ युक्तिः यदेवात्र तवेव परमार्थसत् । यद्वाभुवीप्सितवत्तथाः^६ पक्षपातोऽस्ति न स्वचित् ॥१९॥

जाने से केवल शान्ति प्राप्त करता है वैसे ही निर्वृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त हुआ आत्मा भी किसी दिशा, विदिशा, पृथिवी भण्डल और आकाश को ओर नहीं जाता किन्तु [पूर्वोक्त सर्व क्षणिक क्षणिक-आदि चतुर्विध भावना से] समस्त दुःखों का क्षय करके केवल शान्ति-लाभ करता है ॥ १३-१४ ॥

कपिल ऋषि के अनुयायियों ने कहा है—‘समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों को शान्त करने वाला बुद्धि, मन व अहंकार का विरह (संबन्ध-विच्छेद) हो जाने से पुरुष (आत्मा) की अपने चैतन्य स्वरूप में स्थिति होना ही मुक्ति है ।’ भावार्थ—सांख्यदर्शनकार पुरुषतत्त्व (आत्मा) को अकर्ता (पुण्य पाप-कर्मों का बन्ध न करने-वाला) व असङ्ग (कमलपत्र ,सरीखा निर्लेप) व कूटस्थनित्य मानते हैं ।* जब यह प्रकृति-पुरुष के भेद-विज्ञान से प्रकृति का संसर्ग-त्याग कर अपने ऐसे शान्त चैतन्य स्वरूप में अवस्थान करता है, जो कि ज्ञान-ज्ञेयभाव से शून्य है । अर्थात्—उस समय किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता तब मुक्ति होती है ।^१

ब्रह्माद्वैतवादी मानते हैं कि—जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश (घट से रोका हुआ आकाश) आकाश में मिल जाता है वैसे ही शरीर के नष्ट हो जाने पर समस्त प्राणी परब्रह्म में लीन हो जाते हैं यही मुक्ति है ।

[प्रस्तुत आचार्य ने मारिदत्त महाराज से कहा—हे राजन् !] जैसे जन्मान्ध मनुष्यों की हाथी के विषय में विचित्र कल्पनाएँ होती हैं वैसे ही परमार्थ को न जाननेवाले मिथ्यामतवादियों की मुक्ति के विषय में अन्य भी अनेक मान्यताएँ हैं, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥ १५ ॥ [अब मोक्ष के विषय में अन्य मतों की मान्यताएँ बतलाकर आचार्य मन में निम्न प्रकार विचार करते हैं—] आजकल मिथ्यादृष्टियों के लिए सन्मार्ग का उपदेश प्रायः उनके वैसे कुपित करने के लिए होता है जैसे नकटे को स्वच्छ दर्पण दिखाना उसके कुपित करने के लिए होता है ॥ १६ ॥ [लोक में] असंख्यात दृष्टान्त हैं, उन्हें सुनकर मानवों की बुद्धि उनके अनुकूल हो जाती है, अतः धूर्त लोग उनकी सामर्थ्य से क्या इस पृथिवी तल के मनुष्यों को विवेक-शून्य नहीं करते ? ॥ १७ ॥ जैसे मेघ जल-वृष्टि से काले पत्थर के टुकड़ों में कोमलता नहीं ला सकता वैसे ही विद्वान् पुरुष भी छोटी हठरूपी ग्रह से ग्रस्त हुए पुरुषों को सन्मार्ग पर लाने के लिए क्या कर सकता है ? अपितु कुछ नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ फिर भी लोक में युक्ति जिस वस्तु को सिद्ध करने के लिए प्राप्त होती है वही सत्य है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश की तरह युक्ति को किसी में पक्षपात नहीं होता ॥ १९ ॥

१. प्रवाहात् । २. आत्मनः । ३. सांख्याः । ४. गच्छति । ५. युक्तेः । ६. देखिए यश० च० आ० ५ का श्लोक नं० ६२ ।

१. सर्वदर्शन संग्रह उपोद्घात वृ० ५३ से संकलित ।

(प्रकाशम् ।)

यद्वा ध्येयोषितः ध्येयः संशयाय न केवला । कुमुदितवशात्पाको जायते किमुदम्बरे ॥२०॥
 पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः । वृष्येत यदि को नाम कृती निलयेत संयमः ॥२१॥
 दीक्षाक्षणास्तत्पूर्वं ये दोषा भवसंभवाः । ते पश्चादपि वृष्यन्ते तन्न सा मुक्तिकारणम् ॥२२॥
 ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागमः । तर्वापकर्षयोगि स्याद्दृष्टयेवायथा^१ पयः ॥२३॥
 ज्ञानहीने किया पुरिः परं जातभते कथम् : तदेष्टुनेव किं कथम् : कल्पनीयैकवृष्टिभिः ॥२४॥

अथानन्तर प्रस्तुत आचार्य मारिदत्त महाराज के समक्ष पूर्वोक्त सैद्धान्त वैशेषिक-आदि दार्शनिकों की मुक्ति विषयक मान्यताओं की समीक्षा करते हुए निम्न तीन दलीलों द्वारा सैद्धान्त वैशेषिकमत की मीमांसा करते हैं—मुमुक्षु प्राणियों को केवल तत्त्वार्थों की श्रद्धा मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ नहीं है । क्या भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर फल पक जाते हैं ? अपि तु नहीं पकते । अर्थात्—जैसे भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर नहीं पकते किन्तु प्रयत्न से पकते हैं वैसे ही तत्त्वार्थों की श्रद्धामात्र से मुक्ति नहीं होती किन्तु सम्यक्-चारित्र्यरूप प्रयत्न से साध्य है ॥ २० ॥ जैसे लोक में मारण व उच्चाटन-आदि मन्त्र पात्रावेश (मनुष्यादि पात्रों में प्रविष्ट होकर) कार्य-सिद्धि (मारण व उच्चाटन-आदि) करते हैं वैसे ही यदि केवल वैदिक मन्त्रों की आराधना मात्र से आत्मिक दोषों (मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम) के ध्वंस से मुक्ति होती हुई दृष्टिगोचर होवे तब तो लोक में कौन कुशल पुरुष दीक्षा धारण करके चारित्र्य-पालन द्वारा मुक्तिर्था की प्राप्ति के लिए कष्ट-सहन करेगा ? ॥ २१ ॥ जब दीक्षित पुरुषों में दीक्षा-धारण के अवसर से पूर्व में जो सांसारिक दोष (मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम-आदि) वर्तमान थे वे उनमें दीक्षा धारण के पश्चात् भी देखे जाते हैं, अतः केवल दीक्षा-ही मुक्ति का कारण नहीं है ॥ २२ ॥

भावार्थ—पूर्व में सैद्धान्त वैशेषिकों की मुक्ति-विषयक मान्यता का निरूपण करते हुए कहा है कि वे वैदिक मन्त्रों व तन्त्रों (यज्ञादि कर्मकान्ड-वृद्धतियों) की अपेक्षावाली दीक्षा धारण करने से और उन पर श्रद्धा-मात्र रखने से मोक्ष मानते हैं उनकी मीमांसा करते हुए आचार्य ने कहा है कि न केवल श्रद्धा से ही मोक्ष हो सकता है और न मन्त्र तन्त्र पूर्वक दीक्षाधारण करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है । क्योंकि जैसे प्रयत्न से ऊमर पकते हैं, न कि भूखे मनुष्य की इच्छामात्र से । वैसे ही तत्त्वार्थों की श्रद्धामात्र से मुक्ति नहीं होती किन्तु सम्यक्चारित्र्यरूप प्रयत्न से साध्य है । इसी तरह दीक्षाधारण कर लेने मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि दीक्षा धारण कर लेने पर भी यदि चारित्र्य धारण द्वारा सांसारिक दोषों के विनाश का प्रयत्न न किया गया तो वे दोष दीक्षा धारण के पूर्व की तरह बाद में भी बने रहेंगे तब मुक्ति कैसे होगी ? इसी कारण कुशल-पुरुष दीक्षा धारण करके संयम के पालन का कष्ट उठाते हैं । अतः केवल दीक्षा या श्रद्धा मोक्ष की कारण नहीं हो सकती ॥ २०-२२ ॥

२. अब आचार्य तार्किक वैशेषिकमत की समीक्षा करते हैं—

ज्ञान मात्र से पदार्थों का निश्चय हो जाता है परन्तु उससे अभिलषित वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती, अन्यथा—यदि ज्ञान से अर्थ-प्राप्ति होती है, ऐसा कहेंगे—तब तो 'यह जल है' ऐसा ज्ञान मात्र होने पर प्यास को शान्ति होनी चाहिए । अभिप्राय यह है कि यदि ज्ञानमात्र से पदार्थ-समागम होता है तो ज्ञानमात्र जल, पान किये बिना भी तृष्णाच्छेदक (प्यास बुझाने वाला) होता चाहिए ॥ २३ ॥

१. अर्थ । २. चेत् ज्ञानमात्रेण पदार्थस्य समागमो भवति तर्हि दृष्टं ज्ञानमात्रं जलं पानं विनापि तृष्णाच्छेदकं भवति ।

ज्ञानं पङ्क्तौ क्रिया धान्ये निःशब्दे नार्थकृद्ग्रन्थम् । ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥२५॥

उक्तं च—

हृतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता धाज्ञानिनः क्रिया । वासन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्क्तुः ॥२६॥

निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः^१ स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम् । ठकसूनाकृतो^२ पूर्वं पञ्चात्कौलेयसौ^३ भवेत् ॥२७॥

अव्यक्तं^४ मरयो^५ नित्यं* नित्यं व्यापित्वभावयोः । विवेकेन^६ कथं ह्याति^७ सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥२८॥

सर्वं जेतसि भासेत वस्तु भाषयया स्फुटम् । तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्याद्विप्रलम्बिनाम्^८ ॥२९॥

३. पाशुपत (शैव) मत-मीमांसा (३ श्लोकों द्वारा)—ज्ञान-हीन पुरुष की क्रिया फल देनेवाली नहीं होती । अर्थात्—ज्ञान के बिना केवल चारित्र्य से मुक्ति नहीं होती, जैसे जन्म में अन्धा पुरुष अनार-आदि वृक्षों के नीचे पहुँच भी जाये तो क्या उसे छाया को छोड़कर अनार-आदि फलों की शोभा प्राप्त हो सकती है अपि तु नहीं हो सकती उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान के बिना केवल आचरण मात्र से मुक्ति-श्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २४ ॥ लँगड़े पुरुष को ज्ञान होने पर भी चारित्र्य (गमन) के बिना वह अभिलषित स्थान पर नहीं पहुँच सकता एवं अन्धा पुरुष ज्ञान के बिना केवल गमनादि रूप क्रिया करके भी अभिलषित स्थान में प्राप्त नहीं हो सकता और श्रद्धा-हीन पुरुष की क्रिया और ज्ञान निष्फल होते हैं । अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मुक्ति के कारण हैं ॥ २५ ॥ शास्त्रकारों^{१*} ने भी कहा है—क्रिया (चारित्र्य—आचरण) से शून्य ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानी की क्रिया भी व्यर्थ है । जैसे देखिए एक जंगल में आग लगने पर अन्धा पुरुष दौड़ धूप करता हुआ भी नहीं बच सका क्योंकि वह देख नहीं सकता था । और लँगड़ा मनुष्य आग को देखते हुए भी न भाग सकने के कारण उसी में जल मरा ॥ २६ ॥

४. कौलमत समीक्षा—यदि भक्ष्य-अभक्ष्य-आदि में (मद्य-मांस आदि में) निडर होकर प्रवृत्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है तब तो ठगों (चोरों) व बधकों (कसाई-आदि हत्यारों) को पहिले मुक्ति होनी चाहिए और बाद में कौलमार्ग के अनुयायियों को मुक्ति होनी चाहिए । क्योंकि ठग व बधक लोग कुलाचार्यों की अपेक्षा पाप प्रवृत्ति में विशेष निडर होते हैं ॥ २७ ॥

५. सांख्य-मत-समीक्षा—जब सांख्यदर्शनकार प्रकृति व पुरुष (आत्मा) इन दोनों पदार्थों को सदा नित्य (सकलकालकलाव्यापि—शाश्वत रहने वाले) और व्यापक (समस्त सूतिमान पदार्थों के साथ संयोग रखनेवाले) मानते हैं तब उन दोनों की भेदबुद्धि वाली ख्याति (मुक्ति) कैसे कहते हैं ? क्योंकि उक्त बात मुक्ति संगत न होने से आश्चर्यजनक है ।

अभिप्राय यह है जब आपके मत में प्रकृति व पुरुष दोनों नित्य हैं, अतः वे किसी काल में पृथक् नहीं हो सकते एवं दोनों व्यापक होने से किसी देश में भी पृथक् नहीं हो सकते तब आपको भेद बुद्धिवाली मुक्ति कैसे मुक्ति संगत कही जा सकती है ? ॥ २८ ॥

६. नैरात्म्य भावना से मुक्ति मानने वाले बौद्धों की समीक्षा—भावना से सभी शुभ-अशुभ वस्तु

१. भक्ष्याभक्ष्येयापेयादिषु । २. बधक । ३. मोक्षः । ४. अव्यक्तं प्रधानं । ५. प्रकृतिजीवयोः । * 'अव्यक्तेतरयोर्नित्यं' इति (क) । ६. अग्रच्युतानुत्पत्तिलिखितैकस्वभावं कूटस्थनित्यमिति नित्यस्य लक्षणं । ७. भेदेन । ८. मुक्ति । ९. वियोगीनां वंचकानां । १०. नित्यार्थराजवार्तिक पृ० १४ ।

तदुक्तम्—

पिहिते कारागारे तमसि च सूक्ष्ममुक्ताप्रनिर्भेदे । अयि च निमीलितनयने तथापि काग्लाननं व्यक्तम् ॥३०॥
 स्वभावान्तरसंभूतिर्ब्रह्म तत्र भलस्यः । कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्यो भणिमुक्ताफलेष्विव ॥३१॥
 तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः । भूतानन्वयनाञ्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥३२॥

चित्त में स्पष्टरूप से झलकने लगती है । यदि भावनामात्र से या स्पष्ट अवलोकन मात्र से मुक्ति प्राप्त होती है तब तो वञ्चकों अथवा वियोगियों को भी मुक्ति होनी चाहिये । [क्योंकि वे भी भावना से कमनीय कामिनी-आदि इष्ट पदार्थों का स्पष्ट चिन्तन कर लेते हैं ॥ २९ ॥ कहा भी है—सब ओर से बन्द जेलखाने में सुई की नोक द्वारा भेदने के लिए अशक्य—अत्यन्त गाढ़—अन्धकार के होते हुए और मेरे नेत्र बन्द कर लेने पर भी मुझे (चोर या जार को) अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दिया ।

भावार्थ—भावना से वस्तु का चिन्तनमात्र होता है, किन्तु प्राप्ति नहीं होती । अतः नेरात्म्य भावना से मुक्तिश्री को प्राप्ति नहीं हो सकती । अन्यथा वियोगियों या वंचकों को भी मुक्ति का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ ३० ॥

७. अब जैमिनीय (मीमांसक) मत की मीमांसा करते हैं—जिस वस्तु (भव्यात्मा) में स्वभावान्तर (वैभाविक परिणति-मिथ्यात्व व अज्ञानादि) का सद्भाव है उसके मूल (दोष—अज्ञानादि व आवरण—ज्ञानावरणादि) का क्षय उसके विध्वंसक कारणों (सम्यग्दर्शन-आदि उपायों) से वैसा किया जाना शक्य है जैसे खानि से निकले हुए मणि व मोती-आदि पदार्थों की मलिनता का क्षय उसके विध्वंसक कारणों (शाणोल्लेखन आदि उपायों) द्वारा किया जाता है । अर्थात्—योग्यतावाले अशुद्ध पदार्थ भी मणि-आदि की तरह उसके शुद्धि-साधनों से शुद्ध किये जा सकते हैं । भावार्थ—जैमिनी दर्शनकार ने जो घृण्यमाण अङ्गार का दृष्टान्त दिया था, वह असम्बद्ध है, क्योंकि लोक में किसी का मन शुद्ध और किसी का अशुद्ध देखा जाता है । अतः युक्ति-संगत यही है, जो भव्यात्मा आदि पदार्थ मलिन हैं उनको शुद्धि मलिनता तष्ट करने वाले उपायों (सम्यग्दर्शन-आदि साधनों) से वैसी शक्य है जैसे खानि से निकले हुए सुवर्ण की किट्टीकालिमा छेदन, भेदन अग्निपुट-पाक-आदि उपायों से दूर की जाती है । अथवा जैसे मणि व मोती-आदि वस्तुओं की मलिनता उसके विध्वंसक उपायों से दूर की जाती है । इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है ॥३१॥

अब आचार्य बृहस्पति (चार्वाक) मत की मीमांसा करते हैं—प्रकृति (शरीर व इन्द्रियादि) का ज्ञाता यह जीव (आत्मद्रव्य) सनातन (शाश्वत—अनादि अनन्त) है; क्योंकि 'तदहर्जस्तनेहातः'—उसी दिन उत्पन्न हुआ बच्चा [पूर्वजन्मसंबंधी संस्कार से] माता के स्तनों के दूध को पीने में प्रवृत्ति करता है ।

भावार्थ—यह प्राणी पूर्व शरीर को छोड़ कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय (उत्पन्न हुए बच्चे की अवस्था में) क्षुधा से पीड़ित हुआ पूर्वजन्म में अनेक बार किये हुए अभ्यस्त आहार को ग्रहण करके ही दुग्ध पानादि में प्रवृत्ति करता है । क्योंकि इसकी दुग्ध-पान में प्रवृत्ति और इच्छा, बिना पूर्वजन्म-संबंधी अभ्यस्त आहार के स्मरण के कदापि नहीं हो सकती । क्योंकि वर्तमान समय में जब यह प्राणी क्षुधा से पीड़ित होकर भोजन में प्रवृत्ति करता है, उसमें पूर्व दिन में किये हुए आहारसंबंधी संस्कार से उत्पन्न हुआ स्मरण ही कारण है ।^१ निष्कर्ष—इस युक्ति से आत्मा का पूर्वजन्म सिद्ध होता है ।

१. तथा च गौतमः—श्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१॥ गौतमसूत्र अ. ३ आ० १ सूत्र २२वां ।

भेदोऽयं पद्यविद्या स्यादेवंचिन्मं जगतः कुतः । जन्ममृत्युसुखप्रायेक्षिवर्तमानवर्तितभिः ॥३३॥
सूत्रं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः । इत्यास्थायां विचक्ष्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥३४॥

इसी प्रकार 'रक्षोदृष्टेः'—कोई मरकर राक्षस होता हुआ देखा जाता है । अर्थात्—ऐसा सुना जाता है कि 'अमुक का पिता-वर्गैरह मरकर वमशान भूमि पर राक्षस हो गया' । फिर भला गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीवको माना जावे तो वह मरकर राक्षस—व्यन्तर कैसे हुआ ? निष्कर्ष—इस युक्ति से आत्मा का भविष्य जन्म सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार—'भवस्मृतेः'—किसी को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है । अर्थात्—यदि गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीव माना जावे तब जन्म से स्मृति-वाला मानव क्यों ऐसा कहता है ? कि मैं पूर्व-जन्म में अमुक नगर में अमृक कुटुम्ब में इस प्रकार था ? निष्कर्ष—प्रस्तुत युक्ति से भी जीव का पूर्वजन्म सिद्ध होता है ।

शङ्का—जब यह जीव शरीराकार परिणत पृथिवी-आदि चार तत्त्वों से उत्पन्न हुआ है तब उसे गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त शरीर रूप ही मानना उचित है । इसका समाधान—'भूतानन्वयनात्'—यह जीव उक्त अचेतन पृथिवी-आदि तत्त्वों से उत्पन्न हुआ नहीं है, क्योंकि इसमें पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन अचेतन (जड़) पदार्थों का अन्वय (सत्ता मौजूदगी) नहीं पाया जाता ।

भावार्थ—ऐसा नियम है कि उपादान कारण का अन्वय कार्य में पाया जाता है । जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट में मिट्टी का और तन्तुओं से उत्पन्न हुए वस्त्र में तन्तुओं का अन्वय (सत्ता) पाया जाता है । वैसे ही यदि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन अचेतन पदार्थों से जीव की उत्पत्ति हुई है तब तो पृथिवी-आदि की अचेतनता—जड़ता—का अन्वय जीवद्रव्य में भी पाया जाना चाहिए । परन्तु उसमें ऐसा नहीं है । अर्थात्—जीवद्रव्य में अचेतन पृथिवी-आदि भूतचतुष्टय का अन्वय नहीं पाया जाता । अतः जीवद्रव्य की पृथिवी आदि से उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इनके स्वरूप (अचेतनता) से जीवद्रव्य का स्वरूप (विज्ञान व सुख-आदि युक्तत्व) बिल्कुल पृथक् है । अतः स्वरूप भेद से जीवद्रव्य स्वतन्त्र चेतन पदार्थ है और इसी तरह जन्म पत्रिका में लिखा जाता है कि 'इस जीव ने पूर्वजन्म में जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, ज्योतिष शास्त्र' उसके उदय को वैसा प्रकट करता है जैसे अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि पदार्थों को दीपक प्रकाशित करता है ।

निष्कर्ष—ज्योतिषशास्त्र द्वारा भी जीव का पूर्वजन्म सिद्ध होता है एवं प्रस्तुत श्लोक की वह युक्ति जीवद्रव्य को पृथिवी-आदि से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करती है ॥३२॥

अब वेदान्तवादियों के मत की समीक्षा करते हैं—यदि आप ब्राह्मण व चाण्डालादि वर्णाश्रम भेद को अथवा जगत-भेद को अविद्याजन्य (अज्ञान-जनित) मानते हैं तब प्रमाणसिद्ध जन्म, मृत्यु व सुखप्राय पर्यायों से जगत् में त्रिविधता (भेद) कहाँ से हुई ? अर्थात्—अमुक का जन्म हुआ, अमुक की मृत्यु हुई, अमुक सुखी है और अमुक दुःखी है; इन प्रमाण-प्रसिद्ध पर्यायों से जब सांसारिक प्राणियों में भेद प्रमाण प्रसिद्ध है तब उसे अविद्या मानना भ्रम है ॥ ३३ ॥

१०. अब आचार्य शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत की समीक्षा करते हैं—जब आगने ऐसी प्रतिज्ञा

१. यदुपहितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् । व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥ १ ॥

भोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः^१ । सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्सतिरीक्ष्यते ॥३५॥

न्यक्षवीक्षाविनिमोक्षे^२ मोक्षे किं मोक्षलक्षणम्^३ । न ह्यग्नौ^४ वन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्मलक्ष्ये विचक्षणः ॥३६॥

किं च, सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता, मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाद्यैरपरमृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम् ।

ऐश्वर्यमप्रतिहृतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निरयोजनिता वञ्चितेन्द्रियेण ।

आत्मन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तर्ह्य ॥३७॥

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत् ।

अनेकजन्मसंततीर्थाववशाक्षयः^५

पुमान् । यद्यसौ मुक्तध्वस्यायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥३८॥

की कि 'मैं' वादी (माध्यमिक बौद्ध) प्रमाण से शून्य तत्त्व को सिद्ध करता हूँ' तब आपका सर्वशून्यत्ववाद विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि प्रमाण तत्त्व के सिद्ध हो जाने से शून्यतावाद कहाँ रहा ? ॥ ३४ ॥

११. [अब आचार्य मुक्ति में आत्मा के विशेष गुणों का विनाश मानने वाले वैशेषिक दर्शनकार कणाद ऋषि के मत की मोर्मासा करते हैं] यदि मुक्ति-अवस्था में सांसारिक चक्षुरादि इन्द्रिय-जनित क्षायोपशमिक ज्ञान व सुख नहीं है तो मुक्ति संबंधी आत्मिक बोध (धार्मिक केन्द्रज्ञान) व धार्मिक सुख है ही, ऐसी मुक्ति से तो हमें (आर्हतों-जीनों को) सिद्धसाध्यता हुई । अर्थात्—ऐसी मुक्ति हमें भी इष्ट है । तब हमारी कोई हानि नहीं देखी जाती ॥ ३५ ॥ समस्त पदार्थों के अवलोकन (ज्ञान) के विनाशलक्षणवाला भोक्ष मानने पर तो मुक्त आत्मा का लक्षण ही क्या होगा ? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तु के विशेष गुणों की ही वस्तु का लक्षण मानते हैं जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता है । यदि अग्नि की उष्णता नष्ट हो जाय तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? अर्थात्—उष्णता को छोड़ कर अग्नि का दूसरा लक्षण नहीं है, वैसे ही ज्ञान को छोड़कर जीव का दूसरा लक्षण नहीं है । अतः मुक्त जीव में ज्ञानादि का सद्भाव मानना युक्ति-संगत है । अन्यथा विशेष गुणों के बिना मुक्ति अवस्था में आत्मा का भी अभाव हो जायगा ॥ ३६ ॥

तथा आपके 'सदाशिव व ईश्वर-आदि संसारी हैं या मुक्त ? यदि संसारी हैं तो वे आपस नहीं हो सकते ? यदि मुक्त हैं तो पतञ्जलि का यह कथन घटित नहीं होता 'ऐसा पुरुष-विशेष ईश्वर है, जो कि समस्त दुःखों* (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेदा), कर्मों (विहित व प्रतिषिद्ध या पुण्य-पाप), व विपाकों (कर्मफलों—जन्म, आयु—जीवनकाल व भोग) व आशयों (धर्म, अधर्म व संस्कार) से संपृष्ट नहीं है, ऐसे परम विरुद्ध वीतराग होने में उसकी अनोखी सर्वज्ञता बीज (कारण) है' । इसी प्रकार अवधूत विद्वान् का निम्न कथन भी संघटित नहीं होता । 'नित्य ऐश्वर्य, स्वाभाविक वीतरागता, नैसर्गिक तृप्ति, जितेन्द्रियता, आत्मन्तिक (अनंतमुख) और आवरण-शून्य शक्ति और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान (सर्वज्ञता) ये प्रशस्त गुण हे भगवन् ! तेरे में ही हैं' ॥ ३७ ॥

१२. बौद्धमत-समीक्षा—जब कि इस जीव ने पूर्व में अनेक जन्म धारण किये तथापि अभी तक

१. चेत्—संसारसंबन्धी बोधः सुखं च नास्ति तर्हि मुक्तिसंबन्धी बोधः सुखं च भवत्येव तथा ईदृश्या मुक्त्याऽस्माकं सिद्धसाध्यं सजातं न काचिद्धानिः । २. न्यक्षाः समस्ताः । समस्तपदार्थावलोकनविनाशलक्षणे ।

३. मोक्षो मुक्तः । मोक्षणः आत्मनः । ४. ज्ञानं विना जीवस्य लक्षणं न भवतीत्यर्थः ।

*. तथा च पातञ्जल योगसूत्रम्—'क्लेशाः—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः' पात० सू० २।३ ।

५. चेत्—पूर्वं बहूनि जन्मानि जीवेन गृहीतानि अद्यापि विनाशो न संजातः तर्हि भोक्षगमने सति सः 'दिशं न काचिद्' इत्यादि, कस्मात् कारणात् क्षीयेत—'क्षयं याति ?' टि० (ख) (घ) (च) ।

वाहो वाहो 'मलापामासत्यस्वप्न इवात्मनः । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन् अवस्थानममानकं' ॥३९॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् ।

तथाहि— यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् । सुवर्णं वृषभं गो च कुटुम्बं तस्य वधसे ॥४०॥

यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि । तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥४१॥

त्रैमिथ्यावेनं रस्येऽपि प्रकृष्येत^१ मतिर्यदि । पराकाष्ठा^२ पतस्तस्याः^३ क्वचित्को परिमाणवत् ॥४२॥

तृण्योऽभासो न कस्या^४पि हानि^५र्दोषस्तमोऽन्वयो^६ । धराविषु^७, धियो हानी विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४३॥

इसका विनाश नहीं हुआ तब मुक्ति प्राप्त होने पर यह किस कारण से आपके 'दिशं न कांचित्' इत्यादि कहे अनुसार नष्ट हो जाता है ? ह. लि. (क) प्रति के पाठाङ्कुर का अर्थ यह है कि इस जीव ने पूर्व में अनन्त जन्मों में संक्रमण किया तथापि इसका अर्थ नहीं हुआ तब मुक्ति में किस कारण से इसका क्षय होता है ? ॥३८॥

१३. अब आचार्य सांख्यदर्शन की आलोचना करते हैं—जानावरण-आदि बातिया कर्मों के क्षय हो जाने से उत्पन्न हुए केवलज्ञान से आत्मा जब समस्त बाह्य पदार्थों को वैसा जान लेता है जैसे वात व पित्त-आदि के प्रकोप न होने पर सत्य स्वप्न को जानता है तब आत्मा की अपने स्वरूप में अनन्तज्ञानवाली स्थिति हो जाती है । यह भी अर्थ है कि उत्पन्न होने पर आत्मा केवल अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थों को नहीं जानता सांख्य का यह कथन अप्रमाण है ॥ ३९ ॥

हमारा सच्चा स्वप्न उदाहरण अप्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वप्नाध्याय में विशेषरूप से प्रसिद्ध है 'जो मानव पिछली रात्रि में राजा, हाथी, अश्व, सुवर्ण, बेल व गाय को देखता है उसका कुटुम्ब वृद्धिगत होता है ॥ ४० ॥ जिसमें नेत्रादि नहीं हैं उसमें स्वप्नवृद्धि नहीं होती, (वह स्वप्न नहीं देखता) अतः आपका सत्य स्वप्न-दर्शन उदाहरण असिद्ध है । ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है । क्योंकि अन्धा पुरुष भी स्वप्न देखता है । अतः हमारा उदाहरण निर्दोष है ॥ ४१ ॥ अब आचार्य सर्वज्ञ न मानने वाले मोमांसकों की समालोचना करते हैं—यदि आप जैमिनि-आदि आस पुत्र्यों में प्रकृष्ट बुद्धि मानते हैं तब किसी सर्वोत्तम महापुरुष (ईश्वर) में उस बुद्धि का परम प्रकर्ष (विकास की चरम सीमा) मानना भी वैसी युक्ति-संगत है जैसे आकाश में परिमाण की पराकाष्ठा (चरम सीमा—महापरिमाण) युक्ति-सिद्ध है । अर्थात्—किसी आत्मा में कर्म-क्षय होने पर बुद्धि के प्रकर्ष की चरम सीमा होती है ।

भावार्थ—जैसे अणुपरिमाण परमाणु में और न्यून परमाणु घटादि में पाया जाता है एवं उस परिमाण की चरमसीमा (व्यापक परिमाण) आकाश में पाई जाती है वैसे ही जब आप हम लोगों में साधारण बुद्धि और जैमिनि वगैरह विद्वानों में विशिष्ट बुद्धि मानते हैं तब उस बुद्धि के प्रकर्ष की परकाष्ठा भी किसी महापुरुष में माननी पड़ेगी—वही सर्वज्ञ है, इसमें किसी भी प्रमाण से वाधा नहीं आती ॥ ४२ ॥ यदि आप कहेंगे कि ऐसे तो किसी में बुद्धि का सर्वथा अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तु का तुच्छाभाव नहीं होता—वह वस्तु इकदम नष्ट (शून्यरूप) हो जाय—ऐसा नहीं होता । जैसे दीपक बुझता है तो प्रकाश अन्धकार रूप में बदल जाता है । इसी तरह पृथिवी-आदि में बुद्धि की अत्यन्त हानि देखी जाती

* 'अनेकजगदसकलैर्वाधद्' १. कर्मक्षयात्केवलज्ञानेन बाह्यपदार्थे वाह्ये अवलोकिते सति द्रष्टुः आत्मनः स्वरूपे अवस्थानं स्थितिर्भवति । २. गानरहितं अनन्तज्ञानं दृष्टादित्यर्थः । ३. प्रकृष्टा भवति । ४. परमप्रकर्षो भवति । ५. अतः ।

* दृश्यरूपो च । ६. वस्तुतः । ७. हानिः—अन्वयत्वं नाथो वा ८. 'हानिर्दोषे तमोमयो' इति ह० लि० (क०) प्रती पाठः । ९. पृथिव्यन्तर्जोवायुषु सत्सु युद्धेर्हन्ती यस्यां—बुद्धिविनाशे सति यदा धरादीनां विश्लेषो भवति तदा मोक्षो भवति तदत् कर्मसंश्लेषे सति केवलज्ञानं तोरपद्यते, कर्मविश्लेषे तु केवलज्ञानं भवत्येव ।

तथा^१ धृतिहती तस्य तपस्येष भीषतिः । कथं न शोभती सर्वं प्रकाशयति वस्तु सत् ॥४४॥
 ब्रह्म^२ कं यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कृतवत् न । घटस्यालोक्यभासा^३ तद्वत् तदात्मनो भवत् ॥४५॥

अथ मतम्—

एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः । एकधानेकधा सापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४६॥

तद्युक्तम् ।

एकः लेखनेकधान्यथ पठेत्तुर्वेद्यते जनैः । न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदनेकभाक् ॥४७॥

अलमतिविस्तरेण ।

आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं श्रीर्भो परमसूक्ष्मता । एतदात्मनिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४८॥
 ज्वालोन्मुखवीजादेः^४ स्वभावाद्भूर्ध्वगामिता । नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४९॥
 तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि । स्वर्गोऽवध्यागमो न स्यावलं लोकान्तरेण^५ ते ॥५०॥

है, क्योंकि जब तक पृथिवी कायिक-आदि जीव पृथिवी-आदि रूप पदुगलों को अपने चारोंरूप से ग्रहण करता है तब तक उनमें बुद्धि रहती है, परन्तु मरण होने पर उन्हें छोड़ देता है, अतः जीव के वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी-आदि रूप पदुगलों में बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥ ४३ ॥ बुद्धि के ऊपर से कर्मों का आवरण हट जाने पर आत्मा की उत्पन्न हुई केवलज्ञान-शक्ति क्या समस्त वस्तुओं को वैसी प्रकाशित नहीं कर सकती? जैसे सूर्य अपने ऊपर का आवरण (मेघपटल) हट जाने पर अपनी रोशनी से क्या समस्त पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर देता? ॥ ४४ ॥

१४. अब ब्रह्माद्वैतमत की मीमांसा करते हैं—यदि आप केवल एक ब्रह्म ही मानते हैं तो वह निस्तरङ्ग—निर्विकल्प (भेद-रहित) क्यों नहीं है? अर्थात्—यह लोक उससे भिन्न रूप क्यों प्रत्यक्ष प्रतीत होता है? और उसी ब्रह्म में यह जगत् क्यों वैसा लीन नहीं होता जैसे घट के फूट जाने पर घट के द्वारा छँका हुआ आकाश आकाश में लीन हो जाता है ॥ ४५ ॥ ब्रह्माद्वैतवादियों का पूर्वपक्ष—वास्तव में ब्रह्म एक ही है परन्तु भिन्न-भिन्न प्राणियों के शरीरों में पाया जाने से वैसा अनेक रूप मालूम पड़ता है जैसे चन्द्र एक होकर के भी जल में प्रतिबिम्बित होने पर पात्र-भेद से अनेक प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥ उक्त मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि आपका जलचन्द्र का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जैसे आकाश में वर्तमान चन्द्रमा मनुष्यों से एकरूप और जलादि में वर्तमान अनेक रूप भी प्रत्यक्ष देखा जाता है वैसे ही प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनेक पदार्थों से स्वतन्त्र एक रूप ब्रह्म प्रत्यक्ष-आदि प्रमाण द्वारा प्रतीत नहीं होता ॥ ४७ ॥ अस्तु अब इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त करते हैं ।

मोक्षस्वरूप—जहाँ पर अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, दीर्घ और परम सूक्ष्मत्व-आदि गुण पाये जाते हैं, उसे मोक्ष कहा गया है ॥ ४८ ॥ जैसे अग्नि की ज्वाला और एरण्ड-बीज-आदि पदार्थों का ऊर्ध्वगमन निश्चित देखा गया है वैसे ही समस्त कर्म-बन्धनों के क्षय हो जाने पर मुक्तात्मा का भी स्वभावतः ऊर्ध्वगमन निश्चित किया गया है ॥ ४९ ॥ यदि यही माना जावे कि मुक्त होने पर आत्मा वहीं रह जाता है, कहीं जाता

१. तद्वत् कर्मशैलेष सति केवलज्ञानं नोत्पद्यते कर्मविशेषे तु केवलज्ञानं भवत्येव । २. यदि एकं ब्रह्म वास्ति तर्हि अयं लोकः पृथक् किं दृश्यते ? ३. निर्विकल्पं । ४. तत्रैव ब्रह्मणि कथं न लीयते ? ५. 'लीयते' इति. ह. लि. क० प्रती पाठः । ६. 'ज्वालात्मुखवीजादेः' इति ह० लि० च० प्रती पाठः । ७. ते तव मते यदि पुण्यवतां स्वर्गो न पापवतां च नरको न भवति तर्हि मोक्षः कथं भवति ।

इत्युपासकाध्ययने समस्तसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

अहो धर्मापराधनकमते बहुमतीयते, सम्यक्त्वं हि नाम तराणां महती कलुः पुण्यदेवता^१ । (यत्सह^२देकमेव^३ यद्योक्त-
गुणत्रगुणरपा संजातगश्लोककर्मवकलुः^४ विप्रणतया तरकादिषु गतिषु, ^५पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां वदसु तलपातालेषु^६,
वाष्टविधेषु द्युस्तरेषु^७, दशविधेषु भवनवासिषु^८ पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु,^९ त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वीपयः-
पावकपवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संसृतिहेतुः^{१०} ।) ^{११}सर्ववि बिधघातपाजवंजयीभावं, तिर्यगेन संपादयति
^{१२}कंचित्कालम् उपलभ्यात्मनश्चावी^{१३} चारित्र्ये, ^{१४}साधुसंपादनसारः संस्कार इव बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्पातमनो-
ज्जुवृत्तिम्^{१५} सिद्ध^{१६} दिवन्तामणिरिव च फलवत्सीमं कामितानि, व्रतानि^{१७} पुनरीषधय इव फलपाकावसानानि पापेभ्यः^{१८} ।

नहीं है तो पुण्यदानों की स्वर्ग व पापियों की भी नरक-गमन नहीं होगा फिर आपके यहाँ मोक्ष कैसे संघटित होगा ? अतः मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन मानना चाहिए ॥ ५० ॥ इसका विशेष विस्तार करने के पर्याप्त है । इसप्रकार उपाराकाध्ययन में समस्त मतों के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने वाला प्रथम कल्प समाप्त हुआ ।

सम्यक्त्व का साहात्म्य

[श्री सुदत्ताचार्य मारिदत्त महाराज से कहते हैं] धर्म की आराधना में अद्वितीय बुद्धिशाली हे राजन् ! निश्चय से सम्यग्दर्शन मनुष्यों के संरक्षण के लिए गृहदेवता या कुलदेवता-सरीखा अधिष्ठाता है । क्योंकि तीनों सम्यग्दर्शनों में से एक भी सम्यग्दर्शन एकबार भी अपने गुणों को वृद्धिगत करता हुआ प्राप्त हो जाता है तो पूर्व में समस्त पाप-बुद्धि से नरक-आदि दुर्गंतियों में नहीं जाता । यदि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पूर्व में जिन पुरुषों ने नरक-आदि आयु बाँध ली है, उनकी नीचे के शर्कराप्रभा-आदि छह नरकों में, आठ प्रकार के व्यन्तरी (किन्नर व किमुसुष-आदि) में, दस प्रकार के भवनवासियों (असुर व नाग-आदि) में, पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवों (सूर्य व चन्द्र-आदि) में, तीन प्रकार की स्त्रियों में, विकलेन्द्रियों में, पृथ्वीकायिक, जल-कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक व वनस्पतिकायिक इन पाँच प्रकार के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों में उत्पत्ति नहीं होती ।) अर्थात्—उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व इन गतियों में उत्पत्ति का कारण नहीं होता । यह संसार को सान्त कर देता है । यह चरित्र-मालन में अपूर्व बुद्धि उत्पन्न करता है । अर्थात्—कुछ समय के बाद उस आत्मा के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य अवश्य प्रकट हो जाते हैं । जैसे बीजों में अच्छी तरह से किया गया संस्कार बीजों की वृक्षरूप पर्यायान्तर होने पर भी वर्तमान रहता है वैसे ही सम्यक्त्व जन्मान्तर में भी आत्मा का अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है । यह प्राप्त हुए चिन्तामणि-सरीखा असौम मनोरथ पूर्ण करता है । श्रुत (चारित्र्य) तो आत्मा को वैसा फल देकर समाप्त होने वाले (स्वर्ग में भोग-आदि देकर पश्चात् वहाँ से पतन करानेवाले) होते हैं जैसे औषधि वृक्ष फलों के पकने के बाद नष्ट होने वाले होते हैं और जैसे कलेबा

१. नरस्य रक्षणं अधिष्ठाता, गृहदेवता व कुलदेवतावचन । २. एकवारं । ३. एकमेव सम्यक्त्वमुत्पन्नं गत् एतासु गतिषु उत्पत्तिकारणं न स्यादित्यर्थः (ष०) । उपशमादिजयाणां मध्ये वेदकामप्युत्पन्नं परन्तु तदाचरणे गतिमज्ञातीनां समी-
चोनतया यः स्थितः स दुर्गतिषु न जायते (ष) । ४. पूर्व पापबुद्धितया । ५. वद्धागुणामपि नराणां । ६. शर्कराप्रभा-
दिषु उत्पत्तिर्न भवति । ७. किन्नरकिमुसुषादिषु । ८. असुरनागादिषु । ९. चन्द्रार्कादिषु । १०. सम्यक्त्वमुत्पन्नं सत्
एतासु गतिषु उत्पत्तिकारणं न स्यादित्यर्थः । ११. सर्वादासर्हितं करोति संसारं । १२. सम्यक्त्वमेतत्कालं प्राप्य ।
१३. अपूर्वा मतिं सम्पादयति सम्यक्त्वं कर्तुं । १४. बीजस्य प्रशालनं दुग्धगुडादिमिश्रितजलेन संस्करणं । १५. सह-
गमनं । १६. प्राप्तः । १७. व्रतानि । १८. पापेयवद्विषयवृत्तीनि संबलवत् समयदिवृत्तीनि-स्वर्गे भोगादिकं दत्त्वा-
पश्चात् सम्पूर्णं सति च्यवनं कारयन्ति तेन सम्यक्त्वस्याधिको महिमा मोक्षं च दत्ते ।

वह्नियतवृत्तीनि च । न च सिद्धरतवेदसंवेगा^१ बुद्धिचसन्निधानमाश्रयन्मनि^२ जाम्बूनव इवात्र^३ पदार्थमायात्म्य
सम्पन्नमाश्रयमनमात्रतन्त्रे निःशेषधृतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासमितव्यम्, न देशान्तर-
मनुसरणीयम्, नापि काल-श्लेष^४ कुक्षिरपेक्षितव्यः । तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसंपदः, प्राणित-
मिव^५ भोगा^६ यतसीपचारस्य, ^७मूलबलीमेव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते-
शक्तिलस्यापि ^८परलोकोवाहरणस्य सम्यक्त्वमेव^९ ननु प्रथमं कारणं ^{१०}गुणान्ति गरीयांसः ^{११} । तस्य चेदं लक्षणम्—

(आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणं)^{१२} दद्यात् । मूढाधपोढमण्डाङ्गं सम्यक्त्वं प्रामाद्विभाक् ॥५१॥
सर्वज्ञं सर्वलोकेजं^{१३} सर्वदोषविर्जितम् ॥ सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतीक्ष्णतः^{१४} ॥५२॥
ज्ञानधानमृग्यते कश्चित्तदुक्त^{१५} प्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणं ^{१६}विप्रलम्भनदक्षिभिः ॥५३॥

सोमित होता है वैसे ही व्रत भी सीमित होते हैं । किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है । इससे मुक्ति श्री की प्राप्ति
होती है । निःसर्गज सम्यग्दर्शन के लिए, जो कि मोक्षोपयोगी तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से और उनमें विशुद्ध चित्त
वृत्ति को लगाने मात्र से वैसा उत्पन्न होता है जैसे शुद्ध पारे व अग्नि के सन्निधान मात्र से सुवर्ण-उत्पन्न
होता है, न तो समस्त श्रुत के श्रवण संबन्धी परिश्रम का आश्रय लेना चाहिए एवं न [व्रतादि पालन
द्वारा] शरीर क्लेशित करना चाहिये, न देशान्तर में भटकना चाहिए और न काल के मध्य गिरना चाहिए ।
अभिप्राय यह है कि इसी काल में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, इसका विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि समस्त
काल में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । महामुनि सम्यग्दर्शन को ही निदव्य से मुक्ति का वैसा प्रधान कारण
कहते हैं जैसे नींव को महल का, सौभाग्य को रूपसम्पदा का, जीवन को शरीर-सुख का, राजा की सैनिक शक्ति को
उसकी विजय प्राप्ति का, विनयशीलता को कुलीनता का और राजनीति का अनुष्ठान राज्य-स्थिति का प्रधान
कारण कहते हैं । उसका लक्षण इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शन का लक्षण—आप्त (सर्वज्ञ बीतराग देव), आगम (आचाराङ्ग-आदि शास्त्र) और
मोक्षोपयोगी माल तत्त्वों का तीन मूढ़ता-रहित और निःशङ्कित-आदि अष्ट अङ्गों-सहित यथार्थ श्रद्धान करना
सम्यग्दर्शन है, जो कि प्रथम (क्रोध-आदि कारागों को मन्दता), संवेग (संसार से भयभीत होना), अनुकम्पा
(समस्त प्राणियों में दया करना) और आस्तिक्य (सत्यार्थ ईश्वर व पूर्वजन्म-अपरजन्म-आदि में श्रद्धा
रखना) इन विशुद्ध परिणाम रूप चिन्हों—कार्यों—से अनुमान किया जाता है एवं जो निसर्ग (स्वभाव) से
और अधिगम (परोपदेश) इन दो कारणों से उत्पन्न होता है, इसलिए जिसके निसर्गज और अधिगमज ये
दो भेद हैं ॥ ५१ ॥

आप्त का स्वरूप—जो सर्वज्ञ (त्रिकालदर्शी) है, सर्वलोक का स्वामी है और क्षुधा और तृषा-आदि
१८ दोषों से रहित (बीतरागी) है एवं समस्त प्राणियों का हित करने वाला है, उसे आप्तस्वरूप के ज्ञाता
महामुनि आप्त कहते हैं ॥ ५२ ॥ क्योंकि मूर्खों के वचनों को प्रमाण मानने पर ठगाए जाने की आशङ्का करने
वाले शिष्ट पुरुष सर्वज्ञ के वचनों को अङ्गीकार करने के लिए किसी ज्ञानी वक्ता की खोज करते हैं ॥ ५३ ॥

१. उपबुधः अग्निः । २. जाम्बूनदं सुवर्णं । ३. सम्यक्त्वे । ४-५. कालस्य मध्ये न पतितव्यं, अस्मिन्नेव काले
सम्यक्त्वमप्युज्जये एवं न चिन्तनीयं किन्तु सर्वस्मिन्नेव काले सम्यक्त्वमुत्पद्यते । ६. जीवितं । ७. शरीरं ।
८. राज्ञः शरीरशक्तिः, अत्र मूलशब्देन तुल्यो ज्ञेयः । ९. मोक्षस्य । १०. सम्यक्त्वमेव मोक्षकारणं । ११. कथयन्ति ।
१२. गरिष्ठाः महामुनयः । १३. तन्निर्गमश्रियगाढा । १४. आप्तश्रुतीक्षिताः (क०) १५. सर्वज्ञवचनाङ्गीकारनिमित्तं ।
१६. अन्यथा सर्ववचनाप्रमाणकरणे विप्रलम्भ उपायमो भवति ।

यस्तत्त्वदेशनाद्बुद्ध्यायैकद्वारे जगत् । कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥५४॥
 क्षुत्तिपाशानयं हृदयचिन्तनं मूढतागमः । रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥५५॥
 विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः । त्रिजगत्सर्वभूतानां बोधाः साधारणा इमे ॥५६॥
 अभिर्बोर्वविनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः । स एष हेतुः सूक्ष्मीनां केवलज्ञानलाञ्छन ॥५७॥
 रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा बाधममुच्यते ह्यनुत्तम । यस्य तु नन्ते बोधास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५८॥
 उच्छ्वाद्यच्च^१प्रसूतीनां सत्त्वानां सद्गुणाकृतिः । य आदर्श इवा^२भाति स एव जगतां पतिः ॥५९॥
 यस्यात्मनि भूते तत्त्वे चरित्रे भुक्तिकारणे । एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमत्तः सताम् ॥६०॥
 अत्यक्षे^३प्यानमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते । उद्यानमध्यवृत्तीनां ध्वने^४रिव नगोकसाम्^५ ॥६१॥
 स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषवृत्ततां जनः । रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसोरिव ॥६२॥
 दूहिणा^६बोधज्ज्ञानशावपसूरपुरःसरः । यदि रागाद्यविष्टानं कथं तत्रा^७स्तता भवेत् ॥६३॥
 रागादिदोषसंभूतिजेषामोषु तदा^८गमात् । असतः परबोधस्य गृहीतो^९पातकं महत् ॥६४॥

जो तीर्थङ्कर प्रभु मोक्षोपयोगी तत्त्वदेशना से संसार के प्राणियों का दुःख समुद्र से उद्धार करते हैं, इसलिए जिनके चरणकमलों में तीन लोक के प्राणी नम्रोभूत हो गये हैं, वे सर्वलोक के स्वामी क्यों नहीं हैं ? ॥ ५४ ॥
 मूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, दुःखापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष तीन लोक के समस्त प्राणियों में समान रीति से पाये जाते हैं, अतः जो इन अठारह दोषों से रहित है, वही निरञ्जन (पापकर्मों की कालिमा से रहित—विशुद्ध) और केवलज्ञानरूप नेत्र से युक्त (सर्वज्ञ) तीर्थङ्कर ही आप्त हो सकता है, एवं वही द्वादशांग शास्त्र की सूक्तियों (प्रामाणिक वचनों) का वक्ता हो सकता है ॥ ५५-५७ ॥

क्योंकि राग या द्वेष से अथवा मोह (अज्ञान) से मिथ्या भाषण किया जाता है । परन्तु जिस विशुद्ध आत्मा में उक्त तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ वचन बोलने का कोई कारण नहीं है ॥५८॥ अनेक प्रकार की उत्पत्ति वाले प्राणियों की शकल सूरत सरीखा होकर भी जो उनमें दर्पण-सरीखा मोक्षोपयोगी तत्त्वों को प्रकाशित करता है वही तीन लोक का स्वामी है ॥५९॥ जिसकी आत्मा में, आगम में, तत्त्वों में, सामायिक-आदि चारित्र में और मुक्ति के कारण सम्पददान, ज्ञान चारित्र में पूर्वापर के विरोध से रहित वचन-प्रवृत्ति है, उसे ही गणधरों ने आप्त माना है ॥६०॥ यहाँ पर प्रश्न यह है कि जब आप्त पुरुष मोक्ष चले गए तब उनकी विशिष्टता कैसे जाने ? उसका उत्तर देते हैं—परोक्ष मानव की भी विशेषता (सर्वज्ञता-आदि) उसके द्वारा उपदिष्ट आगम से यैसी जानी जाती है जैसे बगीचे में रहने वाले पक्षियों (कौकिला-आदि) के शब्द सुनने से उनकी विशिष्टता जानी जाती है ।

भाषार्थ—जैसे पक्षियों के बिना देखे भी उनकी आवाज से उनकी पहिचान हो जाती है वैसे ही आप्त पुरुषों को बिना देखे भी उनके वाक्यों से उनकी भी आसता का पता चल जाता है ॥६१॥ मानव अपने ही गुणों से लोक में प्रशंसा प्राप्त करता है और अपने दोषों से निन्दा प्राप्त करता है, अतः सुवर्ण व लोहे-सरीखे उन सज्जन व दुर्जन पुरुषों के विषय में तोष (राग) व रोष (द्वेष) करना व्यर्थ है ॥६२॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध व सूर्य-आदि देवता, यदि रागादि दोषों से युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं ? ॥६३॥ इस ब्रह्मा

१. चिन्ता । २. मोहः । ३. उच्छ्वाद्यच्च नैकमैदमित्यमरः । ४. प्रकाशयति । ५. परोक्षेऽपि नरे । ६-७. यथा पक्षिणां शब्दात् परोक्षेऽपि विशिष्टत्वं ज्ञायते । ८. सुवर्णलोहयोरिव । ९. गच्छ, हरि, हर, बुद्ध, सूर्यादयः । १०. तेषु ब्रह्मादियु । ११. तस्य वास्वात् । १२. गृहणे सति ।

यशस्तिलोत्तमाक्षितः श्रीरतः श्रीधरः स्मृतः । अर्धनारीश्वरः शंभुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥ ६५ ॥
 वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः । स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥ ६६ ॥
 शैलेयं कन्दे राघव पश्य तत्राह विप्रते । शिशुः कलिनिपती स्तः । 'वक्रविसर्पेति चित्तयताम्' ॥ ६७ ॥
 कपदी बोधवानेष निःशरीरः सदाशिवः । अप्रामा^१ ण्यावशक्तेश्च कथं तत्रागमागमः ॥ ६८ ॥
 परस्परविरुद्धार्थमोश्वरः पञ्च^२भिर्मुखः । शास्त्रं चास्ति भवेत्तत्र कतमार्थमिनिश्चयः ॥ ६९ ॥
 सदाशिवकला सखे यद्याथाति युगे युगे । कथं स्वरूपभेदः^३ स्यात्काञ्चनस्य कला^४स्त्विव ॥ ७० ॥
 भैरव^५नर्तननगमत्वं पुरत्रयविलोचनम् । ब्रह्महृष्याकपालिर्ष्वमेताः कीडाः किलेश्वरे ॥ ७१ ॥

व विष्णु-आदि देवताओं में रागादि दोषों का सम्भाव (मौजूदगी) उन्हीं के शास्त्रों से ही ज्ञान लेना चाहिए । क्योंकि दूसरों के गैरमौजूद दोष प्रकट करने में महान् पाप है ॥६४॥ देखिये—ब्रह्मा अपनी तिलोत्तमा नाम की अप्सरा में आसक्त हैं और विष्णु (श्रीकृष्ण) अपनी लक्ष्मी प्रिया में लम्पट हैं एवं महेश अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध हो हैं । आश्चर्य है फिर भी इन्हें आस माना जाता है ॥६५॥ विष्णु (श्रीकृष्ण) के पिता वसुदेव थे और माता देवकी थी एवं स्वयं राजधर्म का पालन करते थे, आश्चर्य है फिर भी तो वे देव माने जाते हैं ॥६६॥ यहाँ पर विचार करने की बात है, कि जिस विष्णु के उदर में तीन लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है उसका मयुरा में जन्म और वन में मृत्यु कैसे हो सकती है ? क्योंकि तीन लोक में व्यापक रहने वाले के जन्म-मरण घटित नहीं होते ॥६७॥ संसारी शिव रागादि दोष-युक्त होने से अप्रामाणिक है, अतः उसके द्वारा किया हुआ आगम (वेद) भी प्रमाण नहीं हो सकता । इसीप्रकार सदाशिव आगम-रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वह शरीर-रहित होने के कारण जिह्वा व कण्ठ-आदि उपकरणों से वून्य है । जैसे हस्तादि-शून्य कुम्भ-कार घट-रचना करने में समर्थ नहीं होता अतः उक्त दोनों से आगम की उत्पत्ति कैसे घटित हो सकती है ? ॥६८॥ जब श्रीशिव पांच मुखों से परस्पर विरुद्ध अभिप्राय वाले आगम का उपदेश देता है, तब उनमें से किसी एक अर्थ का निश्चय करना कैसे सम्भव है ? अर्थात्—उनमें से कौन-सा अर्थ सही जानना चाहिए ॥६९॥ यदि प्रत्येक युग (कृत-त्रेता व द्वापर-आदि) में श्रीशिव (रुद्र) में सदाशिव की कला (अंश) अवतरित होती है तो सदाशिव व रुद्र में स्वरूप-भेद क्यों है ? अर्थात्—सदाशिव वीतराग और शिव सारागी क्यों है ? क्योंकि समवायिकारण-सरीखा कार्य होता है, जैसे सुवर्ण-खण्ड सुवर्ण ही होता है ।

भावार्थ—जब कार्य उपादान-कारण के सदृश होता है, जैसे सुवर्ण-खण्ड सुवर्ण ही होता है तब श्री शिव भी सदाशिव की कला होने से सदाशिव का कार्य है, अतः सदाशिव-सरीखा वीतराग व अशरीरी क्यों नहीं है ? इसमें स्वरूप भेद क्यों है ? अर्थात्—यह सारागी व सशरीरी क्यों है ? ॥७०॥ भिक्षा मांगना, ताण्डव नृत्य करना, नग्न रहना, त्रिपुर को भस्म करना, ब्रह्मा का मुख काटना, तथा हाथ में खप्पर रखना ये शिव की क्रीड़ाएँ हैं । तथापि उसे आस मानना आश्चर्यजनक है ॥७१॥ वैददर्शन विचित्र है, क्योंकि उसमें तत्त्व और आस का स्वरूप सिद्धान्त रूप में कुछ अन्य कहा गया है और दर्शनशास्त्र में कुछ अन्य है एवं काव्य शास्त्र में अन्य प्रकार है तथा व्यवहार में भिन्न प्रकार है ।

१. कदाचिदपि । २. अत्र विचारः कर्तव्यः, तेन दशावताराः गृहीता इत्यसंबद्धम् । ३. यो रागादिदोषवान् संसारी शिवः स तावदप्रमाणं तत्कृतागमोऽपि प्रमाणं न भवति । यस्तु सदाशिवः स आगमं कर्तुमशक्तः जिह्वाकण्ठ-शुपकरणाभावात्, हस्तादिरहितः कुम्भकारो यथा घटं कर्तुमशक्तः । ४. रुद्रस्य पंचमुखानि वर्तन्ते । ५. असी रागी, स विरागः इति भेदः कथं स्यादिति पक्षः, कारणसमृद्धं कार्यं भवतीति हेतुः । ६. काञ्चनस्य खंडं कांचनमेव भवतीति दृष्टान्तः । ७. भिक्षा । ८. कपालेन भिक्षार्थं गच्छति ।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यद्व्यपत्काध्येऽन्यवीहिते । तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥ ७२ ॥
 एतान्तः^१ शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे । सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥ ७३ ॥
 बाह्यच्छेदकषाशुद्धे हेनि का शपथक्रिया । बाह्यच्छेदकषाशुद्धे हेनि का शपथक्रिया ॥ ७४ ॥
 पद्दुष्टमनुमानं च प्रतीति लौकिकी भजेत् । तच्चाहुः सुखिस्तत्त्वं यत्^२ कुहकजितम् ॥ ७५ ॥

विशेषार्थः—जैसे 'शैवदर्शन'^१ में तीन पदार्थ माने हैं—ईश्वर (श्री शिव), जीव और संसारबन्धन । उनमें से परमेश्वर, जो कि अनादि, सर्वज्ञ व अशरीरी तथा प्राणियों द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा सृष्टिकर्ता है, परन्तु जब ईश्वर को अशरीरी मानने पर सृष्टिकर्तृत्व में निम्नप्रकार बाधा उपस्थित हुई— शङ्काकार—'ईश्वर स्वतंत्र सृष्टिकर्ता है, परन्तु वह अशरीरी होने से सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि लोक में शरीरी कुम्भकार घटादि कार्य करता है और ईश्वर को शरीरी मानने पर वह हम लोगों की तरह बलेश-युक्त, असर्वज्ञ और परिमित शक्तिवाला हो जायगा ।' उक्त बाधा दूर करने के लिए दर्शनकार^२ ने उसमें शाक्त (मन्त्र-जन्य) शरीर स्वीकार किया । इस दर्शन की मान्यता है कि मलादि न होने के कारण श्रीशिव का शरीर हम लोगों के शरीर-सदृश नहीं है किन्तु शाक्त-मन्त्र-जन्य है । इसीप्रकार इसमें पाश पदार्थ (संसार-बन्धन) के पूर्व में चार भेद माने हैं^३ । पञ्चात् पाँच भेद गान लिए^४ । अर्थात्—पाशपदार्थ के चार भेद हैं । मल (आत्माश्रित दृष्टभाव—मिथ्याज्ञानादि), कर्म (धर्म व अधर्म), माया (समस्त का मूल कारण अविद्या-प्रकृति), और रोध शक्ति (मलगत द्रविक्रया शक्ति का आधारण सामर्थ्य) । पञ्चात् दर्शनकारों ने पञ्चम पाश (शिवतत्त्व-वाच्य मायात्मा-विन्दु) रूप स्वीकार किया । अभिप्राय यह है कि शैवदर्शन पूर्वापर विरुद्ध होने से विचित्र है; क्योंकि उसमें मोक्षोपयोगी तत्वों व शिवतत्त्व का स्वरूप सिद्धान्त में भिन्न और दर्शन में भिन्न है । इसीप्रकार काव्य में श्रीशिव का पार्वती परमेश्वरी के साथ विवाह का निरूपण है और प्रवृत्ति में भी भिन्न-भिन्न है ॥७२॥ तद्वत् को स्वीकार करने में एकाग्र (पक्ष) और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं; क्योंकि सज्जन पुरुष दूसरों पर विश्वास करने मात्र से तत्त्व स्वीकार करने के इच्छुक नहीं होते । तपाने, काटने और कसोटी पर घिसने से जो सोना खरा निकलता है, उसके लिए कसम खाने से क्या लाभ ? तथा तपाने, काटने और कसोटी पर घिसने से जो सोना अशुद्ध उभरता है उसके लिए कसम खाना बेकार है ॥ ७३-७४ ॥ विद्वान् पुरुष उसी को यथार्थ तत्त्व कहते हैं, जो कि प्रत्यक्ष, अनुमान व लौकिक अनुभव से ठीक प्रमाणित

१. पक्षेण शपथेत च सन्तः तत्त्वं नेच्छन्ति । २. प्रत्यक्षं । ३. एकान्तकुतिसत्त्वजितम् ।

४. तदुक्तं शैवदर्शने—पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति । पतिरीश्वरः । पशुजीवः । पाशः संसारबन्धनम् । तत्र पति-पदार्थः शिवोऽभिमतः । सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १७४ से संकलित—सम्पादक

प्राणिशक्तकर्मपिक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्तेः । सर्व० पृ० १७६

तथा चोक्तं—सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात् साधनाङ्गफलैः सह । यो यज्जानाति कुर्वत स तदेवेति सुस्थितम् ॥ १ ॥ सर्व. पृ. १७८

से संकलित—सम्पादक

५. तथा च शैवदर्शने—तथा चोक्तं परमेश्वरस्य हि मलकर्मविपाशजालासंभवेन प्राकृतं शरीरं न भवति किन्तु शाक्तम् । मलाद्यसंभवाच्छाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः । प्रभोर्वपुः शाक्तं न त्वेतादृशं मलाद्यसंभवात् । एतादृशमस्मदादिशरीरसदृशं । सर्वदर्शन संग्रह पृ० १७८-१७९ ।

६. पाशश्चतुर्विधः मलकर्ममायारोधनशक्तिभेदात्

७. अर्थपञ्चकं पाशाः । सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १८७ से संकलित—सम्पादक

निर्वोजते^१ तन्त्रेण यदि स्थानमुक्तताङ्गिनि^२ । बीज^३कल्याणक^४स्पर्शाः प्रणयो^५ मोक्षकाङ्क्षिणि^६ ॥ ७६ ॥

विधिसामर्थ्यमन्त्रात्क्षयश्चेद्विह कर्मणः । तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्पर्शोपा भवोद्भवाः ॥ ७७ ॥

प्रसूते च पततेऽप्येष दूषा पूज्यो न चाश्रमाः । सविचारं तत्तत्स्थस्य जन्तोर्वृत्तिनिरङ्कुशा ॥ ७८ ॥

‘वृत्तावृत्ता’भयः शाक्यः^७ शंकरानुक्रुताणमः । कथं मनोविभिर्मान्यस्तरसासवशस्तधीः ॥ ७९ ॥

अर्थवत् प्रत्यवतिष्ठा^८ सवो, ‘भवतां समये किल मनुजः सन्नाप्तो भवति तस्य चाप्ततातोत्र दुर्घटा संप्रति संज्ञात-
अभवद्भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्त्वावबोधः स्वतः परतो वा ? न स्वतः^९ स्तथावर्तनायायात्^{१०} । परतश्चेत्^{११}

होता है तथा जो सर्वथा एकान्त (सर्वथा नित्य-आदि एक धर्म का पक्ष) से रहित तथा कुत्सितपने से रहित है ॥ ७५ ॥

शून्याद्वैत व तन्त्र-मन्त्र से मुक्ति मानने वालों की आलोचना—जैसे अग्नि से जल जाने के कारण बीज निर्वोज हो जाता है, उसमें अंकुरों को उत्पादन करने की शक्ति नहीं रहती वैसे ही यदि तन्त्र के प्रयोग (वैदिक कर्मकाण्ड-यज्ञादि) से प्राणी की मुक्ति होनी है तो मुक्ति चाहने वाले मनुष्य को भी आग का स्पर्श करा देना चाहिए, जिससे बीज की तरह वह भी जन्म-मरण के चक्र से छूट जावे । टिप्पणीकार के अभिप्राय से यदि निर्वोजता—जीव के सर्वथा अभाव से जीव की मुक्ति होती है तो हम यह कहेंगे जब आग जीव को शून्य मानते हो तो जीव के बिना मोक्ष किसको होगा ? ॥ ७६ ॥

‘जैसे मन्त्र द्वारा विष को भारण शक्ति नष्ट कर दी जाती है वैसे ही मन्त्रों की आराधना मात्र से कर्मों का क्षय (मुक्ति) होता है’ यदि ऐसा मानते हैं तो जिसको मन्त्र मान्य हैं, उसमें सांसारिक दोष नहीं पाये जाने चाहिए । अर्थात्—मन्त्र से विष-क्षय हो सकता है न कि कर्म-क्षय ॥ ७७ ॥

सूर्य-पूजा की आलोचना—ग्रहों के कुल का होने पर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नहीं है । वास्तव में तत्त्वविचार न करने वाले प्राणी की वृत्ति निरङ्कुश (बेमर्याद) होती है ॥ ७८ ॥ बौद्ध मत की आलोचना—शङ्कराचार्य से अनुसरण किये हुए आगम वाला बौद्ध मत एक ओर तो द्वैतादी (सेवन करने योग्य पदार्थों में प्रवृत्ति और सेवन करने के अधोग्य पदार्थों से निवृत्ति का विचार करता है, तप, संयम व भक्ष्याभक्ष्य-आदि की बुद्धि वाला) है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, (सब कुछ सेवन करने की छूट देता है) ऐसा भांस और गद्य में आसक्त बुद्धि वाला मत बुद्धिमानों द्वारा मान्य कैसे हो सकता है ? ॥ ७९ ॥

दूसरे भक्तानुयायियों का पूर्वपक्ष—पूर्वपक्ष करने के इच्छुक आप लोग यदि ऐसा कहेंगे कि आप जेनों के आगम में मनुष्य को आप्त माना है तो उसका आसपना वैसे संघटित नहीं होता जैसे वर्तमान में उत्पन्न हुए मानवों में आसपना घटित नहीं होता । अस्तु—यदि आपके कहने से मनुष्य को आप्त मान भी लिया जाय तो उसे इष्ट तत्त्व का ज्ञान स्वयं तो हो नहीं सकता; क्योंकि वैसे देखा नहीं जाता । अर्थात्—गुण के उपदेश बिना शास्त्रज्ञता नहीं होती । दूसरे से ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है ? तीर्थङ्कर है ? या अन्य कोई गृहस्थ है ? यदि तीर्थङ्कर है ? तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है । यदि तीर्थङ्कर को इष्ट तत्त्व का ज्ञान

१. जीयो नास्ति चेत्तर्हि जीवं विना मोक्षः कस्य भवति ? २. जीवे । ३. बीजं इव बीजवत् । ४. आग्नेयग्रीववत् ।

५. असीदः । ६. ‘मोक्षा-काङ्क्षिणिः’ इति ह. लि. का० प्रती पाठः । ७. मन्त्रागमयोः प्रवृत्तिपरिहारबुद्धिद्वैतम् ।

८. सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्ववर्द्धितम् । ९. बौद्धः । १०. ययं पूर्वपक्षं चिकीर्षवः । ११. स्वयं न भवति । १२. गुरुपदेशं

विना शास्त्रज्ञस्याभावात् । १३. चेत्तीर्थंकरस्य परः कश्चिद्गुरुरस्ति तर्हि तीर्थंकरः गृहस्थो वा गुरुश्चेत्तीर्थंकरस्तर्हि

तत्रापि प्रश्ने तस्य को गुरुः ? एवं परस्परतयाऽनुबन्धे सति अनवस्थानिरोधो न, तेन तदभावं गुरोरभावं आसन्नद्वारं

च वाञ्छद्गुरोश्चरः आराधनीयः इति भावः ।

कोऽसौ परः ? तीर्थं करोऽन्यो वा ? तीर्थं कश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृतमनुबन्धे, तस्मादनवस्था, तवभावमाप्तसद्भाव
व वाञ्छन्निः सदाशिवः शिवः^१ पतिर्वा तस्य सत्त्वोपलक्षणः इति श्रोतव्यः^२ । एवम् पतञ्जलिः—‘^३ पूर्वेषामपि गुरुः
कालेनानवच्छेदात् ।’ तथाहि ।

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नावरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमबुद्धिभम् ॥८०॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । ह्याप्तानामितरप्राणिवद्गणः समस्ति, संभवे वा धनुर्विशतिरिति नियमः^४ कोतस्कुत
इति वक्ष्यास्तमंघयैर्यथावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलसनं च परेषाम्^५ । यतः^६ ।

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्द्विध्यावपरं तृतीयमिति चैतत्कस्य हेतोरभूत् ।

शक्त्या चैत्परकीयया कथमसौ तद्वान्^७ संबन्धतः संबन्धोऽपि न जायदीति भवतो शास्त्रं निरासम्बन्धम् ॥८१॥

‘संबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य संयोगः^८ शक्तेर^९ द्रव्यत्वाद्व्य^{१०} ‘योरेव संयोगः’ इति योग-
सिद्धान्तः । ‘समवायलक्षणोऽपि न संबन्धः शक्तेः पृथक्सिद्धत्वावमुतसिद्धानां^{११} ‘गुण’^{१२} गुण्यादीनां समवायसंबन्धः’ इति वैशेषिक
प्रतिपाद्यम् ।

किसी तीसरे के द्वारा होता है तो उस तीसरे को इष्ट तत्व का ज्ञान चौथे के द्वारा होगा और चौथे को इष्ट तत्व
का ज्ञान पांचवें के द्वारा होगा । तो इस तरह अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना रूप अनवस्था दोष का
निरोध (रुक्ता) नहीं होगा । अर्थात् उक्त दोष की आपत्ति होगी । अतः उक्त दोष से बचने के इच्छुक और आप्त-
सद्भाव के इच्छुक जैनों द्वारा तत्व के उपदेश सदाशिव या पार्वतीकान्त (शिव) ही अङ्गीकार करने योग्य है ।
जैसा कि पतञ्जलि ऋषि ने कहा है—‘वह सदाशिव पूर्वों का गुरु है; क्योंकि उसका काल से नाश नहीं होता ।’

जैसा कहा है—‘अशरीरी, शान्त व वेदोत्पत्ति का उत्कृष्टकारण रूप सदाशिव से नादरूप (शब्दात्मक)
विशेष दुर्लभ शास्त्र (वेद) उत्पन्न हुआ ॥ ८० ॥ तथा आप्त एक ही होना चाहिए । क्योंकि जैसे दूसरे
प्राणियों का समूह होता है वैसा आप्तों का समूह नहीं होता । और यदि हो भी तो चौबीस संख्या का नियम कहाँ
से आया ? इस प्रकार दूसरे मत वालों का उक्त कथन वक्ष्या-पुत्र के घैर्य-निरूपण सरोखा (असत्) है और
बुद्धिगत मोह (अज्ञान) रूपी समुद्र का विलास है । क्योंकि सदाशिव वक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि वह शरीर
व इन्द्रियों से रहित है । एवं उससे दूसरा पार्वती-कान्त (शिव) वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह सरागी है ।
यदि आप कहोगे कि उन दोनों से भिन्न तीसरा कोई वक्ता है, उस विषय में प्रश्न यह है कि वह तीसरा किस
कारण से उत्पन्न हुआ है ? यदि कहोगे कि शक्ति ने हुआ तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्ति से वह शक्तिमान
कैसे हो सकता है ? क्योंकि उन दोनों का कोई संबंध नहीं है । यदि संबंध मानोगे तो विचार करने पर उनका
कोई संबंध भी नहीं बनता । अतः आपका नादरूप शास्त्र (वेद) निराधार ठहरता है, क्योंकि उसका कोई
वक्ता सिद्ध नहीं होता ॥ ८१ ॥ शक्ति से सर्वथा भिन्न सदा शिव का शक्ति के साथ संयोग संबंध घटित नहीं
होता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है; ‘संयोग संबंध दो द्रव्यों का ही होता है’ ऐसा योगों (वैशेषिकों) का
सिद्धान्त है । तथा समवाय संबंध भी नहीं हो सकता; क्योंकि ‘जो पृथक् सिद्ध नहीं है, ऐसे गुण-गुणी,
आदि का समवाय संबंध होता है’ यह वैशेषिक सिद्धान्त है, जब कि शक्ति तो शिव से पृथक् सिद्ध भावरूप
वस्तु है । अथ मनुष्य को आप्त मानने में जो आपत्ति की गई है उसका निराकरण करते हैं—तीर्थंङ्कर के पूर्वजन्म

१. गौरी । २. अङ्गीकर्तव्यः । ३. सदाशिवः । ४. बहवः कथं न । ५. सदाशिवादित्येषां मां हो वर्तत एव । ६. जैनः
प्राह । ७. शक्तिमान् । ८. संबंधशब्दस्य पर्याय एव संयोग एक एवैत्यर्थः । ९. द्रव्यत्वाभावात् शक्तिर्भावरूपा तेन
हेतुना न संयोगः । १०. दधीरेव द्रव्ययोः । ११. अपृथक् सिद्धानां पदार्थानां । १२. गुणः ज्ञानादयः गुणो आत्मा ।

तत्त्वभावनयोर्बभूतं जन्मान्तरसमुत्पत्तयः । हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥८२॥

वृष्टावृष्टमर्षेयम् रूपवन्तमथावधेः । श्रुते श्रुतिसमाधेयं स्वासी^१ परमपेक्षताम् ॥८३॥

न चैतवसार्वभिकम् ।^२ कथमन्यथा स्वत एव संजातवद्वयार्थाव^३सायप्रसरे कणवरे^४ वाराणस्यां महेश्वरस्योलूकसायु-^५
अपेश्वर^६स्येवं वधः संगच्छेत—‘ग्रह’^७तुलापामिदं दिव्योक्तं^८सां दिव्यमद्भुतं ज्ञानं प्रादुर्भूतमिह स्वयि^९तद्वत्संवि-
धत्स्व^{१०} विप्रेभ्यः ।

उपाये सत्युपेय^{११}स्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता । पातालस्थं जलं यन्प्रातकरस्थं क्रियते यतः ॥८४॥

अश्मा^{१२} हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मेणिः । तत्सद्देतुतथा भावा^{१३} भवन्त्यद्भुतसंपदः ॥८५॥

स^{१४}गर्वस्थितिसंहारप्रोष्मवर्षातुषारवत् । अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्त^{१५}श्रुतसमाधयः ॥८६॥

नियतं न बहुत्वं चैकधमेते^{१६} १७तथाविधाः । तिथिताराग्रहाम्भोधिवृष्टप्रभृतयो मताः ॥८७॥

में उत्पन्न हुई तत्त्वभावना (दर्शनविशुद्धि-आदि) से हिताहित के विवेक के लिए जन्म से ही स्वतः उत्कृष्ट तीन प्रकार के सम्पत्तिज्ञान (मति, श्रुत व अवधि) उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा वे दृष्ट (प्रत्यक्ष) व अदृष्ट (परोक्ष) पदार्थ जानते हैं और अवधिज्ञान से रूपी पदार्थ प्रत्यक्ष जानते हैं एवं श्रुतज्ञान शास्त्र में उल्लिखित तत्व जानता है, तब ये इष्ट तत्व को जानने के लिये दूसरे तीर्थङ्कर को कहीं पर अपेक्षा करेंगे ॥ ८२-८३ ॥

यह बात कि तीर्थङ्कर स्वयं ही इष्ट तत्व को जान लेते हैं, ऐसा नहीं है जिसे सब न मानते हों । यदि ऐसा नहीं है तो जिसमें छह पदार्थों के निश्चय का विस्तार स्वयं उत्पन्न हुआ है, ऐसे कणाद ऋषि के प्रति वाराणसी में कणाद ऋषि का साम्प्रदायिक प्राप्त करने वाले उनके पुत्र महेश्वर नाम कवीश्वर का यह स्तुति-वचन कैसे संघटित होगा ?

[ऋषिराज !] ‘आप में यहाँ पर देवताओं का दिव्य, अनोखा व अद्भुत तत्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ है, जो कि जगत् के तोलने (परिज्ञान) में तराजू-सरीखा है, उसे ब्राह्मणों के लिए वितरण कीजिए ।’

अब मनुष्य को आस होने में कोई विरोध नहीं है इसे कहते हैं—क्योंकि जब कार्यसिद्धि करनेवाली कारण सामग्री विद्यमान है तब कार्योत्पत्ति में रुकावट कैसे हो सकती है ? क्योंकि पाताल में स्थित जल यन्त्र (मशीन) से हस्ततल पर स्थित कर दिया जाता है । अभिप्राय यह है कि संसारी मानव को भी जब ईश्वरत्व साधक कारणसामग्री प्राप्त होती है तब उसे भी आस हाने में रुकावट नहीं हो सकती ॥ ८४ ॥ सुवर्ण पाषाण से सुवर्ण पैदा होता है । जल से मोती बनता है । वृक्ष से अग्नि उत्पन्न होती है तथा पृथिवी से मणि प्रकट होता है । इस तरह पदार्थ अपने अपने कारणों से अद्भुत सम्पदा-शाली हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की परम्परा अनादि अनन्त है, या प्रोष्मऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतु की परम्परा अनादि अनन्त है उसी प्रकार आस और श्रुत की परम्परा भी प्रवाह रूप से चली आती है न उसका आदि है न अन्त है । आस (तीर्थङ्कर) से श्रुत (द्वादशाङ्ग-शास्त्र) उत्पन्न होता है और श्रुत से आस बनता है ॥ ८६ ॥ तीर्थङ्कर-संख्या का समाधान—यदि वस्तुओं की बहुत्व संख्या नियत नहीं है तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र और पहाड़ वगैरह नियत संख्या वाले क्यों माने गये हैं ? अर्थात् जैसे ये बहुत हैं तथापि

१. तीर्थङ्करः परं गुहं क्व अपेक्षताम् । २. किन्तु सर्वत्र वर्तते स्वयं तत्त्वपरिज्ञानं । ३. ज्ञान । ४. कणाद ऋषी अलपदे महेश्वरकविः स्तुति वचन । ५. सायुज्यं साम्प्रदायिक । ६. ऋषेः पुत्रस्य महेश्वरकवेः स्तुतिवचनं वाक्यं संगच्छेत । ७. जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्रारं तब कणवरस्य ज्ञानं । ८. देवानामपि दिव्यं । ९. स त्वं । १०. कुहं । ११. कार्यस्य । १२. पाषाणो हेम भवति जलं मुक्ता स्वादित्यादि । १३. पदार्थाः । १४. उत्पादव्ययभौव्य । १५. तथा आसात् श्रुतं, श्रुतादासः । १६. तीर्थङ्कराः चतुर्विंशतिः भवन्ति । १७. बहवः कथं तिथ्यादयः तथाऽर्हन्तोपि ।

अनर्थव विद्या^१ चिन्त्यं सांख्यशास्त्राविशासनम् । तत्त्वानामाप्तरूपाणां नानात्वस्यविशेषतः ॥८८॥
जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयी । भार्गो समाधिताः सर्वे सर्वान्मुषणमागमाः^२ ॥८९॥
वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रीतर^३समाश्रयः । कर्मज्ञानगतो ज्ञेयः शंभुशास्त्राद्विजागतः ॥९०॥

यन्वेतत्—

श्रुतिं चेवमिह प्राहृर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्भसा । ते^४ सर्वार्थेष्वमीमांसे^५ ताम्बां धर्मो हि निर्बभौ ॥९१॥
ते^६ तु यस्त्वधमन्येत^७ हेतुशास्त्राध्यायाद्विजः । स साविभिर्बोहः फायो नास्तिभो धर्मान्त्वकः ॥९२॥
तवपि न साधुः । यतः ।

इनकी संख्या नियत है, अर्थात्—जैसे तिथियां पन्द्रह हैं ग्रह नव हैं, समुद्र चार हैं और कुलाचल छह हैं वैसे ही तीर्थङ्कर चौबीस ही होते हैं ॥ ८७ ॥

इसी रीति से सांख्य व बौद्ध-आदि के दर्शन भी विचारणीय हैं; क्योंकि उनमें भी तत्त्व, आगम और आप्त के स्वरूपों में भेद (बहुत्व) प्रतिनियत रूप से पाया जाता है । जैसे सांख्यदर्शन में प्रकृति, महान् व अहङ्कार-आदि पञ्चोस तत्त्व माने हैं एवं बौद्ध (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक) दर्शनकार क्रमशः सर्वशून्यता, बाह्यार्थशून्यता, बाह्यार्थानुमेयत्व व बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद मानकर 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं, ऐसी भावना-चतुष्टय से मुक्ति मानते हैं, इत्यादि । अर्थात्—जैसे उक्त दर्शनकार तत्त्व-आदि में बहुत्व-संख्या को प्रतिनियत मानते हैं, वैसे ही स्याद्धारी (जैन दार्शनिक) भी तीर्थङ्करों की बहुत्व संख्या प्रतिनियत मानते हैं ॥ ८८ ॥

एक जैन-मत को छोड़कर शेष सभी (सांख्य-बौद्ध-आदि) मतवालों ने, जिनके सिद्धान्तों का पक्ष सभी ने स्वीकार किया है, या तो द्वैतमत का आश्रय किया है, अर्थात्—सेवन करने योग्य पदार्थों में प्रवृत्ति-बुद्धि और सेवन करने के अयोग्य पदार्थों से निवृत्तिबुद्धि रूप संयम का विचार किया है, या अद्वैत मत का आश्रय किया है, अर्थात्—सभी भक्ष्य, अभक्ष्य, पेय, अपेय एवं भोगने के योग्य व भोगने के अयोग्य पदार्थों में निरङ्कुश प्रवृत्ति रूप वाममार्ग का आश्रय किया है ॥ ८९ ॥

वाममार्ग बृहस्पति ने और दक्षिणमार्ग शुक्राचार्य ने चलाया है । शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मण-मत ये वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं तथा ये मन्त्र-तन्त्र का प्रधानता से मानने वाले हैं और मन्त्र-तन्त्र को न मानने वाले भी हैं । शैवमत वैदिक क्रियाकाण्डो (यज्ञादि का निरूपक) है तथा बौद्ध व ब्राह्मण मत ज्ञान-काण्डो है ।

भावार्थ—शैवमत, ब्राह्मणमत और बौद्धमत उत्तरकाल में वाममार्गी हो गए थे । उसमें मन्त्र, तन्त्र व वैदिक यज्ञादि क्रियाकाण्ड की प्रधानता थी । परन्तु दक्षिणमार्ग इसके विपरीत था, अर्थात्—न तो उसमें मन्त्र तन्त्र को प्रधानता थी और न क्रियाकाण्ड की । शैवमत का वाममार्ग प्रसिद्ध ही है । बौद्धमत की महायान शाखा तान्त्रिक वाममार्गी थी । इसी प्रकार वैदिक ब्राह्मणमत, जो कि पूर्ण मीमांसा व उत्तर मीमांसा के भेद से दो प्रकार है, उसमें पूर्वमीमांसा वैदिक यज्ञादि क्रियाकाण्डो और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) ज्ञानकाण्डो है ॥ ९० ॥

[अब शास्त्रकार मनुस्मृति के दो पद्य देकर उसकी आलोचना करते हैं]

(मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०-११ में) जो कहा गया है—'श्रुति को वेद कहते हैं और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं । इन दोनों से धर्मतत्त्व प्रकट हुआ है, इसलिए वे दोनों (श्रुति व स्मृति,

१. अवस्यया रीत्या । २. सर्वपञ्चसिद्धान्ताः । ३. बृहस्पति णुक्तः रावीन् मन्त्रेण वशीकरोति शैवः । ४. जीवहोमादि क्रिया, ज्ञानप्राप्तः विप्रः, मांसमाश्रयति बौद्धः । ५. ते द्वे । ६. न विचार्ये । ७. वेदस्मृती । ८. अवगणयेत् ।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्तः^१ केवलागमलोचनः ।^२ तस्य^३ मिच्छन् कस्येह भवद्वादी जयावहः ॥९३॥
 सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु । पावेन क्षिप्यते प्राक् रत्नं मौली निधीयते ॥९४॥
 श्रेष्ठो गुणगृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः । यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवाधिकं परम् ॥९५॥
 गेहिना समवृत्तस्य^४ यतेर^५ प्यधरस्थितेः । यवि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥९६॥

इदमुपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमांसनो नाम द्वितीयः कल्पः ।

देवमात्रो परोक्षेत् पञ्चाक्षरचक्रमम् । ततश्च तदनृष्टानं कुर्यात्तत्र^६ मतिं ततः ॥९७॥
 येऽविचार्य पुनर्वचं रक्षि सद्वाचि कुर्वते । तेऽथास्त^७स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥९८॥
 पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह वृष्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९९॥
 वाग्विशुद्धा^८पि बुद्ध्या स्याद्बुद्धिवत्पात्रदोषतः । वन्द्यं वक्षस्तदेवोर्ध्वस्तोय^९वत्तीर्यसंश्रयम् ॥१००॥
 दृष्टेऽर्थे वचसो^{१०}ऽप्यक्षा^{११}नुमेये तु मानतः । पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥१०१॥
 पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च जायते । नरात्मनस्तद्वचःप्रकृत्यः स भवति विद्यामयः ॥१०२॥

समस्त विषयों (कर्म व ज्ञानमार्ग) में प्रतिकूल तर्कों द्वारा विचारणीय (खंडनीय) नहीं हैं । जो ब्राह्मण तर्क व शास्त्र का आश्रय लेकर श्रुति व स्मृति का अनादर करता है, वह शिष्ट पुरुषों द्वारा बहिष्कार करने लायक है और वेदनिन्दक होने से नास्तिक है ॥ ९१-९२ ॥ उक्त मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि—जो मत्तावलम्बी समस्त युक्तियों को छोड़कर केवल आगम मात्र नेत्रवाला होकर तत्त्व सिद्धि का इच्छुक है, वह वादी लोक में किसी को नहीं जीत सकता ॥ ९३ ॥ सज्जन पुरुष गुणों से सन्तुष्ट होते हैं न कि निर्विचारित वस्तुओं से । उदाहरणार्थ—पत्थर पौर से ठुकराया जाता है और रत्न को मुकुट में स्थापित किया जाता है ॥ ९४ ॥ अतः जो गुणों से श्रेष्ठ है, वह गृहस्थ है और गृहस्थ से श्रेष्ठ यति है और यति से श्रेष्ठ देव है किन्तु देव से श्रेष्ठ कोई नहीं है ॥ ९५ ॥ यदि गृहस्थ-सरोखे आचरण वाला और साधु से भी हीन आचरण वाले देवता को देव माना जाता है तब तो देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥ ९६ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में आप्त के स्वरूप की मीमांसा करनेवाला दूसरा कल्प समाप्त हुआ ।

[अब आचार्य आगम और तत्त्व की मीमांसा करते हैं—] सबसे प्रथम देव (आप्त) की परीक्षा करनी चाहिए । पीछे उसके आगम की परीक्षा करनी चाहिए । फिर आगम में कहे हुए चारित्र्य की परीक्षा करके आप्त में श्रद्धा-बुद्धि करनी चाहिए ॥ ९७ ॥ जो मानव देव की परीक्षा किये बिना उसके वचनों में श्रद्धा करते हैं, वे अन्धे हैं, दूसरे अन्धे के कन्धों पर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ९८ ॥ जैसे लोक में माता-पिता की शुद्धि (पिंडशुद्धि) होने पर उनके पुत्र-पुत्री में शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्त के विशुद्ध (वीतराग व सर्वज्ञ) होने पर ही उसके आगम में विशुद्धता (प्रामाणिकता) हो सकती है ॥ ९९ ॥ क्योंकि विशुद्ध वचन भी पात्र के दोष (रागादि) से वैसा दुष्ट हो जाता है जैसे वर्षा का पानी दुष्ट पात्र (समुद्र व सर्प-आदि) से दुष्ट (खारा या विष) हो जाता है, परन्तु जब वह महान् तीर्थ (सर्वज्ञ तीर्थद्वार-आदि वक्ता) का आश्रय प्राप्त करता है (उनके द्वारा कदा जाता है) तब वैसा पूज्य होता है जैसे तीर्थ का आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है ॥ १०० ॥

१. वेदस्मृतिविचाररहितः । २-३. एकः आगमः एव लोचनं यस्य स पुमान् तत्त्वं वाञ्छति स सर्वेषां जयकारी स्यादित्यर्थः ।

४. पाषाणः । ५-६. गृहस्थसदृशस्य देवस्य यतेरपि हीनस्य चेदीदृशस्यापि देवत्वं घटते । ७. देवे । ८. तस्य अन्वस्य । ९. 'वाग्विशिष्टाऽपि' इति ह० लि० (क०) । १०. जलं यथा । ११. वचनस्य । १२. प्रत्यक्षात् ।

हृद्योपादेयरूपेण चतुर्थान्तमाश्रयान् । काव्यप्रयत्नानामर्थानामव्यभिचारः स्मृतः ॥१०३॥
आत्मानात्मस्थितिर्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुको । आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥१०४॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः सर्वे^३ स्वभावतः । तथैव्याख्यावेते^४ तरङ्गा इव लोयधेः ॥१०५॥
अथ^५ अर्थकपरक्षते बन्ध^६ मोक्षअयागमः । तात्त्विककरवसद्भाव^७ स्वभावास्तरहानितः^८ ॥१०६॥

प्रत्यक्ष से देखे हुए पदार्थ में प्रवृत्त हुए वचन की प्रमाणता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो जाती है । जो वचन ऐसे पदार्थ को कहता है, जिसे अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है, उस वचन की प्रमाणता अनुमान प्रमाण से निश्चित होती है और जो वचन बिल्कुल परोक्ष वस्तु को कहता है, जिसे न प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है और न अनुमान से; उस वचन की प्रमाणता पूर्वापर में कोई विरोध न होने से ही सिद्ध होती है । अभिप्राय यह है कि द्वादशाङ्ग में निरूपित पदार्थ प्रत्यक्ष व युक्ति द्वारा प्रमाणित होते हैं, परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष व युक्ति नहीं टिकती वहाँ पर पूर्वापर विरोधी बातें न होने से प्रमाण मानना चाहिए ॥ १०१ ॥ जो आगम परस्पर विरोधी बातों का कथन करने वाला है व युक्ति (तर्कप्रमाण) से बाधित है, शराबो या पागल की बकवाद-सरीखा वह आगम कैसे प्रमाण माना जा सकता है ? ॥ १०२ ॥

आगम का स्वरूप और विषय—जो धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के आश्रयवाले त्रिकाल-वर्ती पदार्थों का हेय (छोड़ने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) रूप से यथार्थ ज्ञान कराता है, वह आगम कहा गया है ॥ १०३ ॥ तत्त्ववेत्ता महामुनियों ने आगम में निरूपण किये जाने वाले निम्नप्रकार पदार्थ कहे हैं—जीव, अजीव (पुद्गल-आदि), लोक तथा अपने-अपने कारणों के साथ बन्ध और मोक्ष ।

भावार्थ—जिसमें उक्त चारों पुरुषार्थों का वर्णन करते हुए कहा है कि हेय, उपादेय क्या है, वही यथार्थ आगम है, उसमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्त्वों का निरूपण है ॥ १०४ ॥ पदार्थ-स्वरूप—ये सभी पदार्थ (उक्त जीवादि) द्रव्याधिक व पर्यायाधिक नय की अपेक्षा स्वभाव से वेसे उत्पाद, विनाश व स्थिरशील हैं जैसे समुद्र की तरङ्गें उक्त नयों की अपेक्षा स्वभावतः उत्पाद, विनाश व स्थिरशील हैं । भावार्थ—जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मात्मक माना गया है; अतः वह द्रव्यदृष्टि से सदा नित्य है; क्योंकि कभी वह अपनी द्रव्यता—नित्यता नहीं छोड़ता और इसीलिए उसकी सभी अवस्थाओं में यह वही है इस प्रकार की एकत्व प्रतीति होती है । इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ पर्यायदृष्टि से अनित्य—उत्पाद-विनाश-युक्त है । जैसे—समुद्र में अनेक प्रकार की तरङ्गें उत्पन्न व विलीन होती हुईं प्रत्यक्ष प्रतीत होती हैं ॥ १०५ ॥

यदि [बौद्धदर्शनकार] समस्त वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानते हैं और यदि [सांख्यदर्शन] समस्त वस्तु को सर्वथा नित्य मानते हैं तो बंध व मोक्ष का अभाव प्राप्त होगा । अर्थात्—न तो बन्ध घटित होगा और न मोक्ष घटित होगा । क्योंकि सर्वथा एक रूप मानने पर उसमें भिन्न स्वभाव घटित नहीं होगा [अतः प्रत्येक वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानना युक्तिसंगत है] ।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से वस्तु ध्रुव है और पर्याय दृष्टि से उत्पाद विनाशशील है । यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही माना जायगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षण में समूल नष्ट हो जायगी । ऐसी अवस्था में जो आत्मा ब्रंवा है, वह तो नष्ट हो जायगा तब मुक्ति किसको होगी ? इसी प्रकार यदि वस्तु को सर्वथा नित्य माना

१. आपमन् । २. पुद्गलः । ३. समस्ताः पदार्थाः । ४. निश्चय व्यवहार । ५. पदार्थाः । ६ से ९. यदि सय एव अनित्यं क्षणिकं सर्वं मन्यते, अथ अक्षयं अविनश्यत् मन्यते तर्हि स्याद्भवेत् कोऽसौ बन्धमोक्षअयागमः न बन्धो घटते न मोक्षो घटते कुतः स्वभावास्तरहानितः । क्व सति तात्त्विकैकत्वसद्भावे नित्यत्वे इत्यर्थः ।

१०. देखिए—वेद व स्मृति शास्त्रों में पूर्वापर विरोध, यथा ०. भा० ४ श्लोक नं० १२० से १२८ तक ।

ज्ञाता वृष्टा महान्सूक्ष्मः कृतिभू^१ कर्णोः स्वयं प्रभुः । भोगापतनमात्रो^२ ज्यं स्वभावाद्वर्धंगः पुमान्^३ ॥१०७॥
 ४ ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेदः स्यादचेतनात् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वेऽ मेकधीचित्रमित्रवत् ॥१०८॥
 प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्येत कर्मणा । एतयोः प्रेरको नाभ्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०९॥
 मन्त्रवन्नियतो^५ ऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावतः । अतः शरीरतोऽन्यत्र न भा^६ सोऽस्य प्रमाश्रितः ॥११०॥
 असत्त्वावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रयाः । जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमो गतिमाश्रिताः ॥१११॥
 धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चमः । अजीवशब्दवाच्याः स्युरेते विविधपर्ययाः ॥११२॥
 ७ गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् । चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गलः ॥११३॥
 अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धः तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत् । तन्निः शब्दप्रत्ययान्ताः कालिकान्तर्गतेरिव ॥११४॥
 प्रकृ^८ तिस्थित्यनुभागप्रवेशप्रविभागतः । चतुर्था मिद्यते बन्धः सर्वनामेव वेहिनाम् ॥११५॥

जायगा तो वस्तु में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा, और परिवर्तन न होने से जो जिस रूप में है, वह उसी रूप में बनी रहेगी, अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बंधेगा ही नहीं । अतः प्रत्येक वस्तु को द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मानना चाहिए ॥ १०६ ॥

आत्मा का स्वरूप—आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, महान् व सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है । अपने शरीर के बराबर है तथा स्वभाव से ऊपर को गमन करने वाला है । यदि आत्मा को ज्ञानदर्शन से रहित माना जायगा तो अचेतन—जड़पदार्थ से उसमें कोई भेद नहीं रहेगा, अर्थात्—जड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे । और यदि ज्ञानमात्र को जीव माना जायगा तो चित्रमित्र की तरह उसमें अनेक बुद्धि कैसे संघटित होगी ? अर्थात्—जैसे चित्रमित्र नामका कोई पुरुष, किसी का शत्रु है और किसी का मित्र है, अतः उसमें शत्रुता व मित्रता-आदि अनेक धर्म से अनेक बुद्धि संघटित होती है, परन्तु जब सिर्फ ज्ञान-मात्र को जीव माना जायगा तो उसमें केवल एक धर्म (ज्ञान-मात्र) होने से एक बुद्धि ही संघटित होगी । अनेक बुद्धि नहीं बनेगी ॥ १०७-१०८ ॥

जीव से कर्म प्रेरित (बन्ध) किये जाते हैं और कर्मों से जीव प्रेरित किया जाता है । अर्थात्—अपने इष्ट अनिष्ट फलोपभोग-के लिए गर्भवास में ले जाया जाता है । इन दोनों का संबंध नौका और नाविक—खेवटिया-सरीखा है । और कोई तीसरा इन दोनों का प्रेरक नहीं है । भावार्थ—जैसे खेवटिया से नौका खेई जाती है और नौका से खेवटिया नदी पर पहुँचाया जाता है वैसे ही जीव कर्म परस्पर प्रेरक है और कोई तीसरा इनका प्रेरक नहीं है ॥ १०९ ॥ जैसे मन्त्र नियत-अक्षरों वाला होने पर भी अचिन्त्य शक्ति वाला होता है वैसे ही जीव शरीर परिमाण होकर भा अचिन्त्य शक्तिशाली है । अतः शरीर से पृथक् इसका सद्भाव प्रमाण-सिद्ध नहीं है ॥ ११० ॥

१. कर्ता भोक्ता च । २. आत्मा शरीरप्रमाणः । ३. आत्मा । ४. पूर्णार्थः—ज्ञानदर्शनाभ्यां यत् शून्यं वस्तु तस्य वस्तुनः अचेतनात् को भेदो ? न कोऽपि । अथवा च ज्ञानमात्रं सत् कथमनेकधीः ? यथा कोऽपि 'चित्रमित्रो' नाम पुमान् स कस्यापि शत्रुः कस्यापि मित्रं । ५. मन्त्रो यथा अक्षरैः कृत्वा समयदिः एषोऽप्यात्मा कायमात्रः । ६. न सद्भावः अस्तित्वं, शरीरात् पृथक् न भवतीत्यर्थः । ७. गतिस्थित्यादि—सर्वत्र वस्तूनां गतिनिबन्धनं धर्मः । स्थितिनिबन्धनमश्रमः । अप्रतीघातनिबन्धनं नभः । परिणामनिबन्धनः कालः । ८. प्रकृत्यादिः—

प्रकृतिः स्यात् स्वभावोऽत्र स्वभावादच्युतिः स्थितिः । तद्रसोऽन्यनुभागः स्यात्प्रदेशः स्यादियत्तत्त्वं ॥ १ ॥

आत्मलाभं विवर्तोक्षं जीवस्थान्तर्मलक्षयात् । नाभावो नाप्यचेतन्यं न चेतन्यमनर्थकम् ॥११६॥
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्या^१ त्वासंयमादिकम् । रसनत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ॥११७॥
आप्तागमपदार्थात्मानश्रद्धानं विपर्ययः । संवायश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्या^२ मलिनात्मनाम् ॥११८॥

अथवा—

एकान्तसंशयान्नानं व्यत्यास^३ विनयाययम् । भव^४ एवाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ॥११९॥
अत्रतित्वं प्रमावित्वं निर्दयत्वमतृप्तता । इन्द्रियेच्छानुवृत्ति^५ त्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥१२०॥

जीव के चेत्य—जीवों के दो भेद हैं, संसारी और मुक्त । चारों गतियों (नरकगति-आदि) में वर्तमान संसारी जीव अस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं । एवं जिन्होंने कर्मक्षय करके सिद्ध गति प्राप्त की है, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं ॥ १११ ॥ अजीव द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य हैं । इनकी अनेक पर्यायें होती हैं ॥ ११२ ॥ धर्मद्रव्य जीव व पुद्गलों की गति में निमित्त कारण है । अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति में निमित्त कारण है । आकाश समस्त वस्तुओं को अवकाश देने में निमित्त कारण है एवं काल समस्त वस्तुओं के परिणामन में निमित्त है तथा जिसमें रूप, रस, गंध व स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं ॥ ११३ ॥

बंध का लक्षण—सुवर्णपाषाण की किट्टकालिमा और सुवर्ण सरीखे जीव कर्मों के अन्यान्यानुप्रवेश-रूप—आत्मा व कर्म के प्रदेशों का परस्पर बन्ध माना है, जो कि अनादि (जिसकी शुरुआत नहीं है) और सान्त (नष्ट होनेवाला) है । भावार्थ—जैसे सुवर्ण-पाषाण की किट्टकालिमा अनादि होने पर भी अग्निपुट-पाक-आदि कारण-सामग्री से नष्ट हो जाती है वैसे ही जीव और कर्मों का संबंध अनादि होने पर भी सान्त है—उसका अन्त हो जाता है ॥ ११४ ॥

बन्ध के भेद—वह बन्ध चार प्रकार का है । प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध । यह चारों प्रकार का बंध सभी शरीरधारी जीवों के होता है । भावार्थ—कर्मों में जानादि के घातने के स्वभाव को प्रकृति-बन्ध कहते हैं । अपने उक्त स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थितिवन्ध है । जीव व मन्द-आदि फल देने की शक्ति अनुभाग बन्ध है और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का जीव के साथ संबंध होने को प्रदेश बंध कहते हैं । इनमें से प्रकृति व प्रदेशबन्ध योग से होते हैं और स्थिति व अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं ॥ ११५ ॥ मोक्ष का स्वरूप—राग-द्वेषादिरूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के आत्म-स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं । अतः न तो आत्म-शून्यता मुक्ति है और न आत्मा की अचेतन अवस्था मुक्ति हो सकती है एवं न निरर्थक (ज्ञानरूप अर्थ क्रिया से शून्य) चैतन्य-प्राप्ति रूप मुक्ति हो सकती है । भावार्थ—बौद्ध दीपक के बुझनेसरीखी आत्मशून्यता को मुक्ति मानते हैं ।

वैशेषिक आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुणों के अभाव को मोक्ष मानते हैं । इसी तरह सांख्य ज्ञानादि से रहित केवल चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति को मुक्ति मानते हैं । इसलिए ग्रन्थकार ने मुक्ति का स्वरूप बतलाया है ॥११६॥

१. मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवो भवन्ति । ह० लि० सटि० (क०) (ख०) (ग०) (घ०) (ञ०) से संकलित—

२. व्यत्यासो विपर्ययः । ३. संसारस्याप्रतिकूलत्वात् संसारस्य हितकर्तृत्वादित्यर्थः । ४. 'इन्द्रियेच्छानुवृत्तित्वं' इति मु० व (क०) प्रती पाठः ।

कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः । संसारसिंघुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥१२१॥
 मनोवाक्यकर्माणि शुभाशुभविभेदतः । भवन्ति पुण्यपापानां बन्धकारणमात्मनि ॥१२२॥
 निराधारो निरालम्बः पदमानसमाश्रयः । नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥१२३॥

अथ सतम्—

नैव लग्नं जगत्स्वामि भूधूष्णैर्भोधिनिर्भरम् । धातारश्च न गृह्यन्ते यस्यकर्माहिपोत्रिनः ॥१२४॥

बन्ध व मोक्ष के कारण—मिथ्यात्व, असंयम (अविरति) प्रमाद, कषाय व योग ये बंध के कारण कहे गये हैं और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा है ॥११७॥

मिथ्यात्व के भेद—मिथ्यादृष्टियों के मिथ्यात्व के तीन भेद हैं—आप्त (तीर्थङ्कर अर्हन्त), द्वादशाङ्ग शास्त्र, व मोक्षोपयोगी जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान न करना, और विपर्यय तथा संशय । अथवा मिथ्यात्व के, जोकि संसार के प्रतिकूल नहीं है, अर्थात्—संसार का कारण है, पांच भेद हैं—एकान्त, संशय, अज्ञान, विपर्यय और विनय मिथ्यात्व ।

भावार्थ—मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन का घातक है, क्योंकि उसके रहते हुए आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हो सकता । उसके पांच भेद हैं । अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक धर्म रूप से मानना एकान्त मिथ्यात्व है, जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है या नहीं इस प्रकार के संदेह को संशय मिथ्यात्व कहते हैं । देव, शास्त्र-आदि के स्वरूप को न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थों को सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों और उनके प्रवर्तकों को समान मानना विनय मिथ्यात्व है ॥११८-११९॥ असंयम का स्वरूप—अहिंसा-आदि व्रतों का पालन न करना, कुशल क्रियाओं में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असंतुष्ट रहना और इन्द्रियों को इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने को सज्जन पुरुषों ने असंयम कहा है ॥१२०॥

कषाय के भेद—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की कही हैं । उनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं । अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन क्रोध मान, माया लोभ । ये सभी कषाय प्राणियों को संसार समुद्र में गिराने की कारण मानी गई हैं ।

भावार्थ—प्राणियों को संसार समुद्र में पतन कराने वाली कषायों के उक्त प्रकार १६ भेद हैं । अनन्तानुबन्धि जो मिथ्यात्व के साथ रहती हुई आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र्य का व सम्यक्त्व का घात करती है । अप्रत्याख्यानावरण—जिसके उदय से देशचारित्र्य न हो सके । प्रत्याख्यानावरण—जो सकलचारित्र्य का घात करती है और संज्वलन—जिसके उदय से यथाख्यात चारित्र्य न हो सके ॥१२१॥ योग—मनोयोग, वचनयोग व काययोग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के होते हैं । इनमें से शुभ मनोयोग-आदि आत्मा के पुण्यबंध का कारण हैं और अशुभ मनोयोग-आदि पापबंध के कारण हैं ।

भावार्थ—हिंसा, चोरी व मैथुन करना-आदि अशुभ काययोग है । मिथ्याभाषण, परनिन्दा व आत्मप्रशंसा-आदि अशुभ वचन योग है । किसी का अनिष्ट चिंतन करना व ईर्ष्या करना-आदि अशुभ मनोयोग है । ये अशुभ क्रियाएँ पापबन्ध को कारण हैं और इनसे बचकर अहिंसा सत्यभाषण करना एवं परोपकार-आदि शुभ क्रियाएँ पुण्यबंध की कारण हैं ॥ १२२ ॥

१. अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यातसंज्वलनभेदेन । २. योगास्त्रयः । ३. वायुः । ४. किल जनाः वदन्ति ।
 ५. भूधाः पर्वताः । ६. अहिः सर्पः । ७. पौत्री शूकरः ।

एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे । कल्पयते पवनो जनेरित्येतासाहसं महत् ॥१२५॥

यो हि वायुनं शक्तोऽत्र लोष्ठकाष्ठादिधारणे । त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणान्तरक्षयः ॥१२६॥

तवसत् ।

ये प्लावयन्ति पानीयैर्विषटपैः सञ्चराचरम् । मेवास्ते वातसामर्थ्यात्किं न व्योम्नि समासते ॥१२७॥

^१आप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः^२ ।

अमञ्जनं^३ मनाग्रामो^४ नरात्वं स्थितिभोजिता । मिथ्यादृष्टो पचन्त्येतन्मुनेर्वोधस्तुष्टयम् ॥१२८॥

तत्रैव समाधिः—

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माधारचेतसाम् । भूभोतां स्नानम^५ प्राप्तं बोधे त्वस्य विधिर्मतः ॥१२९॥

लोक का स्वरूप—आकाश के मध्य में स्थित हुआ यह लोकाकाश निराधार (शेषनाग व कच्छप-आदि आधार-रहित) है, व आलम्बन-रहित है अर्थात्—इसका कोई आश्रय नहीं है । केवल घनोदधिवात-वल्लय-आदि तीन प्रकार की वायु के आश्रय वाला है एवं उत्पत्ति व विनाश से रहित है ।

भावार्थ—समस्त द्रव्यों को स्थान देनेवाला आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है । उसके बीच में लोकाकाश है, जो कि चौदह राजू ऊँचा उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम में सात राजू मध्य में एक राजू पुनः पाँच राजू और अन्त में एक राजू विस्तार वाला है । यह आकाश का ही एक भाग है । परन्तु जितने आकाश में सभी द्रव्य पाये जाते हैं उतने को लोकाकाश कहते हैं, यह अगूर्तिक द्रव्य है, वह स्वयं अपना आधार है, इसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं । इसे घनोदधिवातवल्लय-आदि घेरे हुए हैं, जो कि पृथिवी बगीरह को धारण करने में सहायक हैं ॥ १२३ ॥

जैनों की इस मान्यता पर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते हैं—‘पृथिवी, पर्वत व समुद्रों से भरे हुए इस लोक का कोई आधार नहीं है और इसके धारक मत्स्य, कच्छप, शेषनाग और वराह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते । ऐसा विचार कर आलम्बन-शून्य जगत (लोक) का धारण करने के विषय में जैनों ने वायुविशेष (घनोदधि-वातवल्लय-आदि) की कल्पना की है यह उनका महान् साहस है; क्योंकि निस्सन्देह जो वायु पत्थर व लकड़ी-आदि के बोझ को सम्हालने में समर्थ नहीं है, वह इस [महान्] तीन लोक के धारण कार्य में कैसे समर्थ हो सकती है ?’ ॥ १२४-१२६ ॥

उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है; क्योंकि अपनी प्रचण्ड जल-वृष्टि से चराचर जगत को जल की बाढ़ में डुबोनेवाले महान् मेघ क्या वायु की शक्ति से आकाश में स्थित नहीं रहते ?

भावार्थ—जैसे वायु अपनी धारणशक्ति से चराचर विद्व को प्रचण्ड वृष्टि से जल की बाढ़ में डूबा हुआ करने वाले वृहत् मेघों का धाम रहती है वैसे ही तीन लोक को भी धारण कर सकता है । इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ १२७ ॥

जैन साधुओं पर दोषारोपण—जैनों के आप्त, आगम व मोक्षोपयोगी तत्त्वों में दूसरा कोई दोष न देखने से मिथ्यादृष्टि लोग जैन साधुओं में चार दोषों का आरोपण करते हैं—मिथ्यादृष्टि लोग कहते हैं कि जैन साधुओं में चार दोष हैं—स्नान न करना, आचमन (कुरला) न करना, नग्न रहना और खड़े होकर भोजन करना आदि । उक्त आरोपों का समाधान इस प्रकार है—[सदा] ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करने वाले और आत्मिक आचार में लीन चित्त वाले दिगम्बर साधुओं के लिए स्नान करने का निषेध है, परन्तु जब कोई दोष लग जावे तब उन्हें स्नान करने का विधान है ॥ १२९ ॥ जब मुनि हाथ में खोपड़ी लेकर माँगनेवाले वाममार्गी कापालिकों से,

१. भुषणं । २. ‘आगमपदार्थेषु परं दोषमपश्यतः’ इति ह० लि० (क०) । ३. अदर्शनान् अथवा अदर्शनात् ।

४. अस्नानं । ५. न आचमनं । ६. अयोग्यं ।

सङ्गे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः । आलुप^१ दण्डवत्सम्यग्जनेमन्त्रमुपोषितः ॥१३०॥
 एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके । दिने शुद्धचम्यसवेहमुत्ती घृतगताः स्त्रियः ॥१३१॥
 यवेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तवेव हि । अङ्गुली सर्ववष्टार्या न हि नासा निकृष्यते ॥१३२॥
 निष्पन्दाविविधी वक्त्रे यत्नपूर्वत्वमिष्यते । तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं नारम्यते कुतः ॥१३३॥
 विकारे चित्प्रां द्वेयो नाविकारानुवर्तने । तन्नमन्त्वे निसर्गोद्वे को नाम द्वेषकल्मषः ॥१३४॥
 नैष्ठिकचम्यमहिता च कुतः संयमिता भवेत् । ते सङ्गाय यदीहन्ते बत्कलाजितवाससाम् ॥१३५॥
 न स्वर्गाय स्थितेभृक्तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः । किं तु संयमितोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥१३६॥
 पाणिपात्रं मिलयेत्तच्छक्तिद्वयं स्थितिभोजने । यावत्तावबहं भुञ्जे रहा^२ म्याहारमन्यथा ॥१३७॥
 अर्वाग्यासङ्गधराग्यपरोषहकृते कुतः^३ । अत एव यतीशानां केवोत्पादनशद्विधिः ॥१३८॥

रजस्वलास्त्री से, चाण्डाल व म्लेच्छ वगैरह अस्पृश्य दूतों से लूजाय तो उसे दण्ड स्नान करके उपवासपूर्वक मन्त्र का जप करना चाहिए ॥ १३० ॥

ऋतुमती स्त्रियों की शुद्धि—अहिंसा-आदि व्रतों की धारक स्त्रियाँ (आर्यिका-आदि) ऋतुकाल में एक उपवास अथवा तीन दिन का उपवास करके चौथे दिन स्नान करके निस्सन्देह शुद्ध हो जाती हैं ॥ १३१ ॥
 आचमन न करने का समर्थन—[अब मुनियों के आचमन न करने का समर्थन करते हैं] क्योंकि शरीर का जो अङ्ग अशुद्ध हो, निस्सन्देह जल से उसकी शुद्धि करनी चाहिए । यदि वे डगो हुई अंगुलि हो काटी जाती है न कि नासिका ॥ १३२ ॥ अधोवायु के निस्सरण-आदि करने पर यदि मुख में अपवित्रता मानते हो तो मुख के अपवित्र होने पर अधोभाग में शौच क्यों नहीं करते हो ?

भावार्थ—जैसे मुख अशुद्ध हो जाने पर आचमन से केवल उसे ही शुद्ध किया जाता है, वैसे ही जैन साधु भी शौच (मलात्सर्ग) से अशुद्ध हुए गुदा-भाग को ही जल से शुद्ध करते हैं, न कि आचमन से मुख को ॥ १३३ ॥

[अब मुनियों की नग्नता का समर्थन करते हैं—] विद्वानों को विकार (काम-क्रोधादि) से द्वेष होता है न कि अविकारता (दोतरागता) के अनुसरण से । अतः स्वाभाविक नग्नता से किस बात की द्वेषरूपी मलिनता ? ॥ १३४ ॥ यदि चारित्र्यधारक दिगम्बर महामुनि [पहिरने के लिए] वृक्षों को छाल मृगचर्म व वस्त्रों के ग्रहण की इच्छा करते हैं तो उनमें नैष्ठिकञ्चल्य (निष्परिग्रहता) और अहिंसा कैसे संभव है ? ॥ १३५ ॥

[अब मुनियों के खड़े होकर आहार ग्रहण करने का समर्थन करते हैं—] दिगम्बर साधुओं का खड़े होकर आहार-ग्रहण उनके स्वर्ग के लिए नहीं है और न बैठकर आहार-ग्रहण नरक-निमित्त है । किन्तु [आगम में] खड़े होकर भोजन करना संयमी मुनिजनों में प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए चाहा गया है ॥ १३६ ॥ मुनि भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—‘जब तक मेरे दोनों हाथ मिले हैं और मेरे में खड़े होकर आहार-ग्रहण की सामर्थ्य है तब तक मैं यथाविधि आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा आहार-त्याग कर दूँगा’ इसी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं ॥ १३७ ॥ [अब केश-लोच का समर्थन करते हैं—] अदीनता, निष्परिग्रहता, वैराग्य और परोषह-जय के लिए मुनियों को केश लोच करने का विधान बतलाया है ॥ १३८ ॥

१. आवेयी रजस्वला ऋतुमती । २. स्नात्वा । ३. पदं कुत्सिते शब्दे च—पदने सति चेदाचमनं कियते तर्हि मुखोच्छिष्टे अधोभागे शौचं किं न कियते ? ४. द्वेष एव कल्मषः मलिनत्वम् । ५. त्यजामि । ६. विहितः ।

इत्युपासकाध्ययन आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः ।

सूर्यार्घ्यं ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ त्रिचण्डप्रयः । संध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥१३९॥
 नदीनद्यसमुद्रेषु मज्जनं धर्मवेतसा । तद्यैस्तूपाघमक्तानां^१ वन्दनं भृगु^२संख्यः ॥१४०॥
 गोपृष्ठान्तरमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् । रत्नवाहनपुष्पशस्त्रशलाखिसेवनम् ॥१४१॥
 समयान्तरपाखण्ड^३देवलीकसमाश्रयम् । एवमादिविभूदानां भोगं मूढभनेकधा ॥१४२॥
 वरार्घ्यं लोक^४वार्तायैमुपरोधार्थमेव वा । उपासनममीषां स्यात्सम्भगवर्शनहानये ॥१४३॥
 क्लेशार्थं च क्रियामीषु न कसावाप्तिकारणम् । यद्भुक्तेभ्यस्त्वधौघानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४४॥
 वस्तुभ्यो^५ भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भास्तिके । न ह्यरत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१४५॥
 अदेवे देवताबुद्धिभ्रमे व्रतभावनाम् । अतस्थे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४६॥
 तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा । मिथ्यात्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न मुन्दरः ॥१४७॥
^{१०}न स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहाः स्युजिनागमे । स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥१४८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में आगम व पदार्थों की परीक्षा करनेवाला तीसरा कल्प समाप्त हुआ । अब लोक में प्रचलित मूढ़ताओं का निषेध करते हैं—सूर्य की पूजा-निमित्त जल चढ़ाना, ग्रहण के समय स्नान करना, संक्रान्ति होने पर दान देना, संध्या वन्दन करना, अग्नि को पूजना, मक्तान व शरीर को पूजा करना, नदी, तालाब व समुद्र में धर्म समझ कर स्नान करना, वृक्ष, पथवारी व भात को नमस्कार करना, पर्वत से गिरने में धर्म मानना, गाय की पीठ को अनेक देवताओं का निवास स्थान समझकर नमस्कार करना और उसका मूत्र पीना, रत्न, सवारी, पृथ्वी, यज्ञ, शस्त्र (खड्ग आदि) और पर्वत-आदि की पूजा करना, दूसरों के शास्त्रों की पूजा करना व उनमें उल्लिखित पाखण्ड को धर्म समझना एवं वेद व लोक से संबंध रखने वाली इत्यादि मिथ्यादृष्टियों द्वारा मानी हुई अनेक प्रकार की मूढ़ताएँ समझ लेनी चाहिए ॥ १३९-१४२ ॥ जो लोग वर-प्रदान की आशा से या लोक-गिवाज के विचार से एवं किसी के आग्रह से इन मूढ़ताओं का सेवन करते हैं, उनका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ॥ १४३ ॥ जैसे ऊपर जमीन में खेतो करने से कष्ट उठाने के सिवाय कोई लाभ नहीं होता वैसे ही मूर्खों द्वारा मानी हुई उक्त मूढ़ताओं के मानने से भी कष्ट उठाने के सिवाय कोई फल प्राप्त नहीं होता ॥ १४४ ॥ यथार्थ वस्तु में की गई भक्ति ही भक्त पुरुष को पुण्य बंध कराती है, क्योंकि जैसे पत्थर को रत्न मानने से कल्याण नहीं होता ॥ १४५ ॥

कुदेव को देव मानना, अन्नत—दुराचार को व्रत मानना और अतत्त्व को तत्त्व मानना मिथ्यात्व है, विवेकी को इसका त्याग करना चाहिए ॥ १४६ ॥ तथापि जो मानव इस मूढ़ता को सर्वथा नहीं छोड़ता और सम्यक्त्व के साथ-साथ किसी मूढ़ता का भी पालन करता है तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवन के कारण उसके समस्त धर्माचरण का लोप कर देना, अर्थात्—उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥ १४७ ॥ जिन मनुष्यों की चेष्टाएँ अच्छी नहीं हैं, उन्हें जिनागम में स्वयं प्रेरित नहीं करना चाहिए, अर्थात्—ऐसे मनुष्यों को जैनधर्म में लाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये किन्तु जो स्वयं जैनधर्म में रुचि रखते हुए प्रवृत्ति करना चाहते हैं, तो उनके योग्य अनुग्रह कर देना चाहिये ॥ १४८ ॥

१. वृक्षः । २. पापाणः स्तूपाग्रः पथवारी । ३. ओवनं । ४. गिरिपातः । ५. 'देवलीक' ह० लि० क० । ६. वरप्रदानार्थं । ७. 'लोकयात्रार्थ' इति ह० लि० (क०) (घ०) (च०) प्रतिषु । ८. आग्रहः । ९. सत्यपदार्थं सर्वज्ञ वीतरागे । १०. ये नरा दुरीहाः दुरन्तेष्वस्ते न प्रेरणीयाः क्व जिनागमे । ये च स्वयं प्रवृत्तास्तेषां योग्यानुग्रहः कार्यः ।

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

शङ्काकाङ्क्षावित्तिन्दा^१स्य इलाघा च मनसा गिरा । एते दोषाः प्रजायन्ते सम्प्रत्यक्षतिकारणम् ॥१४९॥

तत्र—अतीचारी यः कश्चित् भवति आत्मा मयत्तुरो । इति व्याधिविशोक्तान्तिर्भोति शङ्कां प्रवर्तते ॥१५०॥

एतत्तत्त्वमिव तत्त्वमेतद्वस्तुमिदं वतम् । एष देवपत्न्य वैशेष्यमिति शङ्कां विवृणुः पराम् ॥१५१॥

इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता । न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यं वैशेष्यं यवेदने^२ ॥१५२॥

एष एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि । एतदेव वतं मुक्तयं तदेवं स्यादशङ्कधीः ॥१५३॥

तत्त्वे जाते रिपो दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते । यस्य बोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह^३ च ॥१५४॥

भूयतामत्रोपाख्यानम्—इहैवानेकाश्चर्यसमोपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानात्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमे-
श्वरस्य गुणमालाहादेवीरतिकुतुम्भारस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम । धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिल-
परिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम । अन्वयोः सूनृधनद-धनबन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुजः सकलकूटकपट-

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मूढता का निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ ।

निम्न प्रकार ये पाँच दोष (अतीचार) सम्यग्दर्शन की हानि करने में कारण हैं । शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, मन तथा वचन से मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना ॥ १४९ ॥ शङ्का अतीचार-निरूपण—‘मैं अकेला हूँ, तीन लोक में कोई (पिता व भाई-आदि) मेरा रक्षक नहीं है ।’ इस प्रकार बुखार व मलगण्ड-आदि रोग-ममूह के आक्रमण से होनेवाली मृत्यु से भयभीत होने को ‘शङ्का’ कहते हैं ॥ १५० ॥ ‘अथवा-आचार्य, यह जिनोक्त तत्त्व है ? अथवा वैशेषिका-आदि से माना हुआ यह तत्त्व है ‘यह व्रत है, या यह व्रत है ?’ यह जिनेन्द्रदेव हैं ? कि यह हरि-हर-आदि देव हैं ? इस प्रकार के संशय को शङ्का जानते हैं ॥ १५१ ॥ ऐसी शङ्कित चित्तवृत्तिवाले सम्यग्दृष्टि मानव का सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होता और न उसे वैसी अभिलषित वस्तु (स्वर्ग व मोक्ष) प्राप्त होती है जैसे तपुंसक मानव को अभिलषित वस्तु (स्त्री-संभोग) प्राप्त नहीं होती । अथवा पाठान्तर में (‘उभयवेत्तने’) जैसे भय-भीत पुरुष को अभिलषित वस्तु (विजय श्री-आदि) प्राप्त नहीं होती ॥ १५२ ॥ अतः निश्चय से यह बीतराग सर्वज्ञ ही देव है, एवं उसके द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्व ही प्रामाणिक हैं, तथा अहिंसा-आदि व्रत ही भुक्ति के कारण हैं, ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास है, वही मानव निःशङ्क बुद्धिवाला है ॥ १५३ ॥ तत्त्व के जान लेने पर व अश्रु के दृष्टिगोचर होने पर एवं पात्र के उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त झूला सरीखा डोलता है, (जो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता) वह इस लोक व परलोक में रिक्त (खाली-हाथ—मुख-शून्य) रहता है ॥ १५४ ॥

१. निःशङ्कित अङ्ग में प्रसिद्ध अञ्जन चोर की कथा—अब निःशङ्कित अङ्ग के संबंध में कथा सुनिए—
निकटवर्ती अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं वाले इसी जम्बूद्वीप के ‘जनपद’ नाम के देश में ‘भूमितिलकपुर’ नाम का नगर है । उसका स्वामी ‘नरपाल’ नाम का राजा था, जो कि ‘गुणमाला’ नाम की पट्टरानीरूपीरति के लिये कामदेव-सरीखा था । उसके राजश्रेष्ठी का नाम ‘सुनन्द’ था । सुनन्द के समस्त परिवार के हृदय को आनन्दित करनेवाली ‘सुनन्दा’ नामकी लैठानी थी । इन दोनों के ‘धनद’, ‘धनबन्धु’, ‘धनप्रिय’-‘धनपाल’

१. विचिकित्सा । २. भयं करोति, मम सहाय. पिता-भ्रातादिको नास्ति । ३. उत्क्रान्तिः मरणं । ४. तपुंसकस्य वेदने वाञ्छयां यथा वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न भवति । ५. ‘उभयवेत्तने’ इति ख०, ग०, च० प्रतिपु पाठः । तत्र टिप्पणी कान्दिशोंके मयमीले ।

वेष्टितहरिषन्वन्तरिनाम । तथा तन्मृपतिपुरोहितस्याग्निलावणितस्थोदितोदितधर्मकसंज्ञः सोमशर्मणः सुतो विश्वरूप-
विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्वावसु-विश्वावलोकानामवरजः^१ समस्तसद्वृत्तप्रतिलोमो^२ विश्वानु-
लोमो नाम । तो हावपि सहपांशुकीदितस्वात्समानगोलव्यसनत्वाच्च क्षीरनीरवत्समाचरितसख्यौ द्यूतमविरापरदारवौ-
र्याद्यनायंकार्यपर्याप्यप्रवर्तनमुक्षौ सन्तौ सेनावनीपतिनाम्नीयनगरात्स^३निकारं निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमति-
महादेवीकरेण वीरभरेश्वरेणाधिष्ठितं यमदण्डतरपालेनाधितमशेषसंसारसारसोमन्तिनीमनोहरं हस्तिनागपुरमवाप्य
संपा^४वितावस्थितौ कवाचिवस्तमस्तकोसंसतपनातपमिचये संध्यासमये मह^५मयोमलिनकपोल^६पालोनिलोनाविकुलालिख्य^७-
मानमुखपदाभोगभङ्गोप्रसरान्नीलगिरिकुङ्जरारस्वच्छन्दतोऽभिमुखमागच्छतो निवृत्य शोधमार्च्यार्थोच्चार्यमाणधर्मश्रवणोचितं
नित्यमण्डितं नाम चेत्यालयमासावयामासतुः ।

तत्र च 'धन्वन्तरे, यदि सीधपिशितोपदेशप्रमुखानि संसारमुखानि स्वेच्छयानुभवितुमिच्छसि, तदावश्यममीषा-
मस्वरस्वरवृत्तवपुर्वा धर्मो न श्योतस्यः' इत्यभिधाय पिधाय च श्रवणयुगलमतिनिर्भरं प्रसीला^८वलम्बिलोचनायामो विश्वा-
नुलोमः^९ सुष्वाप । धन्वन्तरि^{१०}स्तु प्राणिनां हि नियमेन किमप्यवलिततात्मतया व्रतभु^{११}पासं भवत्युदकं^{१२}श्वस्य स्वःश्वसः

'धन्वन्तरि'-'धनेश्वर' और 'धन्वन्तरि' नाम के पुत्र थे, उनमें छोटा पुत्र 'धन्वन्तरि' मर प्रकार की कृत कपट-पूर्ण
चेष्टाओं में विष्णु-सरीखा था । राजा का पुरोहित धर्म-कर्म में विशेष निपुण 'सोमशर्मा' था । उसकी पत्नी का
नाम अग्निला था । उनके 'विश्वरूप' 'विश्वेश्वर' 'विश्वमूर्ति', 'विश्वामित्र'-'विश्वावसु' 'विश्वावलोक'
और 'विश्वानुलोम' नाम के पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र 'विश्वानुलोम' समस्त सदाचार का जित्नेषी था ।

धन्वन्तरि व विश्वानुलोम साथ-साथ धूलि में खेले थे तथा दोनों का स्वभाव और बुरी आदतें भी समान
थीं, इसलिये दोनों में दूध पानी सरीखी धनिष्ठ मित्रता थी । जब इन दोनों ने राज्य में उपद्रव करना शुरू
किया—जुआ, धाराब, परस्त्री-गमन व चोरी-आदि म्लेच्छों के अनाचार में अग्रेसर हुए तब उक्त नगर के राजा
ने दोनों को तिरस्कार पूर्वक नगर से निकाल दिया । इससे वे 'कुरुजाङ्गल' देश के ऐसे हस्तिनागपुर नगर में
आकर ठहरे, जो कि 'वीरभरेश्वर' नाम के राजा और वीरमति महादेवी नाम की रानी तथा यमदण्ड नाम के
कोट्टपाल से अधिष्ठित था और समस्त संसार में सर्वोत्तम युवतियों से मनोहर था । किसी समय जब ऐसा
संध्या-समय हो रहा था, जिसमें अस्ताचल पर्वत के दिखर का कर्णभूषण सूर्यका उष्णता-समूह वर्तमान है, तब
वे दोनों स्वच्छन्दता के साथ सन्मुख आते हुये 'नीलगिरि-सरीखे मदीन्मत्त हाथी को देखकर लीट कर भागे,
जिसके मुखरूपी विस्तृत वस्त्र की रचना का विस्तार मदरूपी कज्जल से मलिन हुये प्रशस्त गण्डस्थलों पर
लीन होने वाले भ्रमर-समूह से आस्वाद्यमान हो रहा था । तत्पश्चात् वे दोनों ऐसे 'नित्यमण्डित' नाम के चेत्या-
लय में प्राप्त हुये, जो कि 'शोधमार्च्य' से निरूपण किये जानेवाले धर्म-श्रवण के योग्य था ।

वही पर 'विश्वानुलोम' ने धन्वन्तरि से कहा—'धन्वन्तरि ! यदि मद्य, मांस व मधु की प्रधानता
वाले सांसारिक सुख यथेच्छ भोगने के इच्छुक हो तो तुम्हें अवश्य दिगम्बरों का धर्म नहीं सुनना
चाहिये ।' ऐसा कहकर दोनों कानों को बन्द करके नींद लेनेवाले विस्तृत नेत्रोंवाला विश्वानुलोम आंखें मीचकर
सो गया । वहाँ आचार्य कह रहे थे 'निश्चय से यदि प्राणी दृढ़ता के साथ नियमपूर्वक किसी भी व्रत का पालन
करे तो उत्तरकाल (भविष्य) में वह व्रत अवश्य ही उसका स्वर्ग सुख पैदा करता है ।'

१. अग्रजः वर्षीयान् दशमी ज्यायान् । २. सदाचारशत्रुः । ३. सपरिमर्ष । ४. कृत । ५. मद्य एव मन्त्री तथा ।

६. प्रशस्तकपोल । ७. लेख्य स्वाद्यमान । ८. निद्रा । ९. विप्रः । १०. धन्वन्तरि इत्यवोचत् । ११. गृहीतं सत् ।

१२. उदकः फलमुत्तरं ।

निमित्तम्' इति प्रस्तावायातमाचार्योदितमुपभृत्, प्रणिपत्य च 'यद्येवं घृतेः तर्हि भगवन्, अयमपि जनोऽनुगृह्यतां कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन' इत्यबोचत् । तदनु 'ततः घृतिः' खलसिद्धिलोकनाख्यः सव्यम्^{१२} इति व्रतेन कुलासाल्लब्धनिधानः, पयःपुरावि^{१३} इति विष्टकटपरिपागाद्विगतोरगोद्गोर्गंगरसजनितमृत्युसंगतिरज्ञातनामानोकुहफलपरिहारेण व्यतिकान्त-किपाकफलापावितापतिः^{१४}, पुनरविचार्य किमपि कार्यं ना^{१५} चर्यमिति गृहीतकृतजाति^{१६} रेकदा निशि नगरनायक-निलये^{१७} नटनृत्यनिरीक्षणात्कृतकालक्षेपक्षणः स्वावासमनुसृत्य शर्नोविघटितकपाटपुटसंधिवन्धः स्वकीयया सविश्या विहित^{१८} गाढावश्यव्रतमारमकजत्रं जातनिद्रातन्ममलोभयोपपत्ति^{१९} शङ्कया मुहुःकृष्णातखण्डो भगवतोपवासितं व्रतमनु-सस्मार । ^{२०} शुभाव च वैवातदैव 'मनागत^{२१} मत्तः परतः सर, खरं^{२२} मे शरीरसंवाधः^{२३}, इति गृहिणीगिरम् । ततश्च 'यद्येवं व्रतमहमद्य नाग्रहीष्यम्, तदेवां मातरमिव च प्रियकलत्रमसंशयं विश^{२४} स्वेह दुरपवावरजसाग्रमुत्र च दुरस्ते-नसां भागी भवेयम्' इति जातनिर्वेदः सर्वमपि जातिलोकं यथायथं मनोरथोत्सेक^{२५} मवस्थाप्य 'यत्रैव देशे दुरपवावोपहतं चेतस्तत्रैव देशे समाधीयमाणमाचरय^{२६} इति निरुपवावरं' इति प्रजाशिलोपदेशात् सत्यं भावयतो^{२७} निदेशाद्वरणिमूषण-

आचार्य से कहे हुए उपदेश को सुनकर आचार्य श्री को नमस्कार कर धन्वन्तरि ने कहा—'भगवन् ! यदि यह व्रत सत्य है तो किसी व्रत-प्रदान से इस मानव का भी अनुग्रह कीजिए' ।

आचार्य ने कहा—तुम प्रतिदिन भोज्य (घुटे सिर) व्यक्ति का दर्शन करके भोजन किया करो ।'

इस व्रत के ग्रहण से धन्वन्तरिको कुम्हार से निधि का लाभ हुआ (धन से भरा हुआ घट मिला) [फिर उसने आचार्य से आटे के बने हुए पशुओं के न खाने का नियम लिया] अतः उसने दुग्ध पूर से भरी हुई आटे के पशुओं वाली गाड़ी का त्याग किया; क्योंकि उस आटे के पशुओंमें जहरीला साँप जहर छोड़कर गया था, इससे वह मरण-संगम से बच गया । [फिर उसने आचार्य से अज्ञात नाम वाले वृक्ष के फल न खाने का नियम लिया] इससे 'अज्ञात नामवाले वृक्ष के फल नहीं खाना चाहिए' इस व्रत के ग्रहण से वह विपैले फल-भक्षण से उत्पन्न हुए मृत्यु-संकट से बच गया । पुनः इसने 'बिना विचारे कोई कार्य नहीं करना चाहिए' यह व्रत धारण किया ।

एक समय रात्रि में राजमहल में नट-नृत्य-देखने में इसका काफी समय लग गया । जब यह अपने गृह जाकर वन्द किये हुए किवाड़ धीरे से खोलने को तत्पर हुआ तब इसने अपनी माता द्वारा किये हुए गाढा-लिङ्गन वाली सोती हुई अपनी स्त्री देखी तो इसे अचानक जार की शङ्का हुई । अतः इसने उसके घात के लिए खड्ग उठाया, उस समय इसे आचार्य द्वारा दिलाये हुए व्रत (बिना विचारे कोई कार्य नहीं करना चाहिये) का स्मरण हुआ । पश्चात् भाग्योदय से इसने निम्न प्रकार अपनी प्रियाके वाक्य श्रवण किये—'हे माता ! यहाँ से जरा दूर हटो मुझे शारीरिक कष्ट हो रहा है, तब बाद में इसने विचार किया—कि 'यदि आज मैं यह व्रत ग्रहण नहीं करता तो अपनी माता और अपनी प्यारी स्त्री को निःसन्देह मार डालता, जिससे मैं इस लोकमें अपकीर्ति रूप धूलियों का पात्र और परलोक में दुःख देनेवाले पापोंका भागी हो जाता ।' इस प्रकार उसकी आत्मा में वैराग्य उत्पन्न हो गया । बाद में उसने समस्त कुटुम्बीजनों के यथोचित मनोरथ पूर्ण किए । [पश्चान् उसने जिन दीक्षा लेनेका विचार किया तब आचार्यश्री ने कहा—'जिस देश में मानव-चित्त

१. खल्यददर्शनान् । २. भीक्तव्यं । ३. भात लापसी । ४. मरणं । ५. न कर्तव्यं । ६. सन् । ७. राजगृहे । ८. माता । ९. कुशगाढावलिङ्गनं । १०. जार । ११. श्रुतवान् कां गृहिणीगिरं वाणीं । १२. हे अत्त हे मातः । १३-१४. परतः सर यतो मे खरं कर्दिनं शरीरसंवाध इति । १५. मारयित्वा । १६. प्रकर्षः । १७. श्रीधर्मचार्यस्य ।

सूधरोषकण्ठे तपस्यतः कान्तारदेवताविहिततर्पणैरर्चयन्तर्पणैस्तु सुन्दरीकटाक्षविपक्षी दोक्षाभावाय विहितवेदितव्यसंप्र-
वायः सन्तम्बरे 'तपस्यम्बरमणौ' 'स्तम्बाश्चरितोपात्तपलाशिमालायामेतद्वलमेखतायामात्तापनयोगस्थितोऽनवरतप्रवर्ध-
मानाध्यात्मध्यानावध्यबोध्यतिरतः 'किमयं' 'कर्करोत्कीर्णः', किं वास्मादेव पर्वतान्निरुद्धः' इति वितर्काम्यणो बभूव ।

संजातसुहृत्समालोकनकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिज्ञाततत्प्रवचनव्यतिकरः 'मित्र' 'धेयस्य घन्वन्तरे-
र्षा गतिः सा ममापि' इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्रागत्य 'जनजनसमयस्थितिमनबुध्यमानः 'हंहो मनोरहस्य वयस्य चिरान्मि-
लितोऽसि । किमिति न मे गाढामङ्गुलीं ववासि, किमिति न काममा' 'लापयसि, किमिति न सावरं वार्तामापृच्छसे' ।
इत्यादि बहुशः सप्रश्नप्रश्नाभाष्य निजनिजमानुष्यार्ते' 'कृतानमनसि निरागसि घन्वन्तरियतीश्वरे प्रवृज्य सति' 'आशिवतातिः
प्राबुर्भववप्रीतिभूतरमणोऽधरणिधरसमीपसमुत्पादितोऽ' 'जस्य सहस्रजटिनो निकटे शतजटोऽजनिष्ट । घन्वन्तरिरप्या-
त्तापनयोगान्ते तस्य संबोधनाय समन्ते' 'समुपसद्य 'मत्प्रणयपान्धविधामाराम विप्रधानुलोम, जिजधसंस्थितिमनबुध्यमानः
किमित्यकाण्डे चण्डभावमादाय कुराचारप्रधानः समभूः । तवेहि' ' । विहा' 'धेयं दुःपणकथासनाथं' 'समथावसस-

नीति विरुद्ध आचरण करने से निन्द्य या अपकीर्ति से नष्ट प्राय हो जाता है (बदनाम हो जाता है) फिर उसी
देश में धारण किया हुआ आचरण निरुपवाद नहीं रहता (निन्दित ही बना रहता है)—

अतः उक्त उपदेश देनेवाले आचार्य श्रो को आज्ञा से उसने 'धरणिभूषण' नामके पर्वत-समीप में
तपश्चर्या करने वाले और वन देवता द्वारा की हुई पूजा वाले श्रेष्ठ धर्माचार्य से देवियों के कटाक्षों की प्रतिकूल
(मुक्तिश्रीदेनेवाली) जेनेवरी दोक्षा धारण कर ली । पश्चात् आम्नाय की जानने योग्य सब बातों को जानकर
घन्वन्तरि मुनि जब आकाश में मध्याह्न सूर्य सन्तप्त हो रहा था तब आकाश तट व्यापि वृक्ष श्रेणी वाली इस
पहाड़ की मैखला पर आत्पन योग (ध्यान) में स्थित हुए एवं निरन्तर वृद्धिगत अध्यात्म ध्यान (धर्म व
शुक्लध्यान) के प्रभाव से सरल जानने योग्य सूक्ष्म तत्त्वों में लवलीन हुए, ऐसे निवचल मालूम पड़ते थे—
मानों—क्या ये पर्वत-शिखर पर उकरो गये हैं ?

अथवा मानों—इस पर्वत से निकले हुए हैं ? [श्वर] अपने मित्र के दर्शन की इच्छावाले विश्वानु-
लोम ने भी, [उसके गृह जाकर] उसके कुटुम्बियों से अपने मित्र के दोक्षा लेने के समाचार जाने । पश्चात्
उसने ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा की 'मेरे मित्र घन्वन्तरि को जो दशा हुई है, वह मेरो भी हो' । फिर वह घन्वन्तरि के
पास आया और जैन साधुओं की आचार-मर्यादा को न जानता हुआ कहने लगा—हे मानसिक अभिप्राय के ज्ञाता
मित्र ! बहुत दिनों के बाद मिले हो । अतः मेरे लिए गाढालिगन क्यों नहीं देते ? और मुझसे विशेष बात-
चीत क्यों नहीं करते ? एवं क्यों मुझसे आदरपूर्वक कुशल-समाचार नहीं पूछते ?' इत्यादि अनेक बार वितय-
पूर्वक कहने पर भी [जब घन्वन्तरि मुनि ने कुछ जवाब नहीं दिया] तब वह अपने नियमानुष्ठान (आत्मध्यान)
में एकाग्रचित्त व निर्दोषो घन्वन्तरि मुनीश्वर से विशेष रुष्ट होकर समीपवर्ती अकल्याण परम्परावाला और
घन्वन्तरि यतीश्वरसे द्वेष करने वाला वह 'भूतरमणोय' पर्वत के समीप अपनी कुटी बनाने वाले 'सहस्रजट'
नामके जटाधारी सन्यासी के निकट 'शतजट' नामका जटाधारी सन्यासी हो गया ।

आत्पन योग के समाप्त होने पर 'घन्वन्तरि' मुनि भी उसके समीप समझाने गये । और उन्होंने कहा

१. पूजा । २. आम्नायः उपदेशपरम्परः । ३. 'सप्रश्नप्रश्नाभाष्य' क० च० । ४. आकाशतटव्यापिवृक्षश्रेणि ।
५. पर्वतदन्त चोटी । ६. निरुद्धः निर्गतः । ७. मित्रस्यैव । ८. घन्वन्तरि-समीपे । ९. अलिङ्गनं । १०. अतिवायेन ।
११. कुशलं । १२. एकाम् । १३. समीप-अकल्याणं । १४. उदजं तृणगृहं, तृणगृहस्य पर्णशालीटजोऽस्थिर्यः ।
१५. समीपे । १६. आगच्छ । १७. स्मरत्वा । १८. समथः आश्रमः ।

मनोरथं सदैव सपस्यावः' इति बहुधाः कृतप्रमाणप्रकाशोऽपि कुशिक्षावशात् 'भोतु' पोतकृतभोतपतङ्ग्याक'मिष मुष्णामोमभूकतो'त्तरङ्गितचिलोत्सेक' तितवपात्र' इव तन्म'नोऽभवेऽप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थानः प्रतिबोधयितुम- शक्नुवन्नुपपादमूलमनुशील्य कालेन प्रवचनोक्तिं चर'माचरणाधिकृतं विधि विधाय विबुधाङ्गनाजनोत्साहमाणमङ्गल- परम्परान्त्येऽच्युतकल्पे समस्तनुरसमाजस्तूपमानमहातपः परा'यणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत् ।

विश्वानुलोमोऽपि पुरोपाजितपुण्यवशाज्जोवितावसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानोकमध्ये विजयमाम- वेयस्य देवस्य विद्युत्प्रभाप्यया बाहनो बभूव । पुनरेकदा पुनरपुनरःसरेण विविजवन्नेन सह नन्दोऽवरहीपात्तस्थचर्या स्याध्वयामष्टाह्नीपर्वकिं निर्वर्त्यागच्छन्नसार्वभितप्रभो देवस्तं विद्युत्प्रभमितमवेद्याह्लादमानमानसः प्रगुष्मावधिमव- कुटपूर्ववृत्तान्तः 'विद्युत्प्रभ, किं स्मरसि जन्मान्तरोचन्तम्' इत्यभाषत । विद्युत्प्रभः 'अमितप्रभ, बाहं स्मरामि । किं तु सकलचचारित्राधिष्ठानावनुष्ठानान्ममैवविधः कर्मविपाका'नुरोधः । तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृशः । ये च मदीये समये' जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषाविहागत्प भवतोऽप्यभ्यधिका भविष्यन्ति । ततो न विस्मेतव्यम्' । अमितप्रभः—विद्युत्प्रभ, संप्रत्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम् । तदेहि । तव मम च लोकस्य परीक्षा-

मेरे प्रेमरूपी पथिक के विश्राम के लिये उद्यान-सरीखे हे विश्वानुलोम ! जैन धर्म की मर्यादा को न जानकर असमय में कुपित होकर क्यों कुमार्गगामी हो गये हो ? इससे आइये और कुमार्ग की कथा वाले इस ताप-साधन में निवास करने का मनोरथ छोड़कर साथ ही तपश्चर्या करेंगे ।' इस प्रकार धन्वन्तरि ने बार-बार विश्वानुलोम को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह ऐसे विश्वानुलोम का, कुशिक्षा के कारण जिसके चित्त का प्रकर्ष लूटे मोन से हुई मूकता से विशेष कल्लोलित हुआ है, जैसे विलाव के वच्चे के शब्द से डरा हुआ पक्षि-शावक झूठा मोन धारण करता है । सन्मार्ग पर लाने में असमर्थ हुए, क्योंकि ये चलनी जैसे उसके मनरूपी पात्र में अपना सदुपदेशरूपी दूध स्थापित न कर सके । तब धन्वन्तरि गुरु के पादमूल में प्राप्त हुये और समय आने पर आगमानुसार विधिपूर्वक सन्यास मरण करके देवियों द्वारा उच्चारण की जाने वाली मंगल परम्परा से श्रेष्ठ 'अच्युत' नामके सोलहवें स्वर्ग में, ऐसे 'अमितप्रभ' नामके देव हुये, जिनकी महान् तप में तत्तार प्रतिभा समस्त देव समूह द्वारा स्तुति की जानेवाली है ।

'विश्वानुलोम' भी आयुष्य के अन्त में मरकर पूर्वमें संचय किये हुए पूण्य से विजय नामक व्यन्तर की गजसेना में 'विद्युत्प्रभ' नामका वाहन जाति का देव हुआ । पुनः [एक बार] जब अष्टाह्निका पर्वमें 'अमित-प्रभ' देव, हृन्द्गी प्रधानता वाले देव-समूह के साथ 'नन्दोऽवर' द्वीप से वहाँ के चेत्यालयों को अष्टाह्निका पर्व संबंधी पूजा करके वापिस आ रहा था, तब अपने पूर्वजन्म के मित्र 'विद्युत्प्रभ' नामके वाहन को देखकर प्रसन्नचित्त हुआ और अवधिज्ञान से पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानकर कहा—'विद्युत्प्रभ ! क्या पूर्वभव का वृत्तान्त याद है ?'

'विद्युत्प्रभ' ने कहा—'अमितप्रभ ! हाँ, खूब याद है । किन्तु पूर्वजन्म में सपत्नीक चारित्र के पालन से मेरा कर्मोदय का आक्षेप ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्य के कारण कायक्लेश उठाने से तेरा कर्मोदय का आग्रह ऐसा हुआ । और जो मेरे शासन में 'जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल व कपिञ्जल-आदि महर्षि हुए हैं, वे विशेष तपश्चर्या के प्रभावसे यहाँ आकर आपसे भी बड़े देव होंगे; अतः आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।'

१. विश्वानुलोम । २. ओतुः पाजितः । ३. द्विभं । ४. कल्लोलित । ५. प्रकर्ष । ६. तितवः चालनि, चालनिः तितवः पुमान् । ७. अमयं पात्रं चित्तभाजने । ८. सन्यास । ९. तत्परः । १०. आग्रहः आक्षेपः । ११. मम शासने ।

वहे चित्तम्' इति विहितविवाहौ तौ ह्यापि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागानाश्रित्य काश्यपीतलमवतरेतुः ।

तत्र च वनेचरसैन्यसौजन्याद्गन्धे 'तन्निकटदण्डकारण्यवने' 'समित्कुश' कुशाशयप्रकामे' बदरिकाश्रमे' बहुलकालकृतकृच्छ्रतपसं चन्द्रचण्ड' मरीचिरचिपानपरायणमनसपूर्वबाहुमेकपादावस्थानाग्रहाराहुममलपोल्लसत्पल्लवाविरल-
बल्लीगुल्मवल्मीकावरुद्धपुष्पमसिप्रवृद्धतासुषाधवलितशिरःश्मश्रुजटाजालविषमृषेः कश्यपस्य शिष्यं जमदग्निम
बलोक्य पत्र' रथमियुनक्तचोचिताश्लेषं वेषं विरचय्य तत्कूर्चकुला' यकुटीरकोटरे निविष्टौ 'कान्ते, काञ्चनालमूल
मेखलायामशेषदाकुन्तकचक्रवर्तिनो वैनतेयस्य वात' 'राजमुत्तया मदनकन्दलीनामधेयया सह महान्विवाहोत्सवो
वर्तते । तत्र भयावश्यं गन्तव्यम् । त्वं तु सखि, समासन्नप्रसवसमया सती सह न शक्यसे नेतुम्' ११ । अहं पुनस्तद्विवाहो-
त्सवानन्तरमकालक्षोपनाभिज्याभिः । यथा अहं तत्र विरगायत्थास्ये तथा मानुः पितृदशोपरि महान्तः शपथाः । किं च
बहूनोक्तेन । यद्यहमन्यथा व्रजामि तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनी दुरितभागी स्याम्' १२' इत्यालापं चक्रतुः । तं च जमदग्निः

तब 'अमितप्रभ' ने कहा—'विद्युत्प्रभ ! अब भी तुम अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते हो तो आजो
हम दोनों अपने-अपने धर्मात्मा-लोक के चित्त की परीक्षा करें ।' ऐसा पारस्परिक विवाद करने वाले वे दोनों देव
'करहाट' देश की पश्चिम दिशा में प्राप्त होकर इस पृथिवी तल पर अवतीर्ण हुए ।

वहाँ पर उन्होंने भौलों की सेना के युद्ध से सहित और उक्त देश की पश्चिम दिशा के निकटवर्ती
'दण्डकारण्य' नामके वन में स्थित हुए एवं ईधन, दर्भ व जलाशय की प्रचुरता वाले 'बदरिकाश्रम' में बहुत
काल से कठोर तपश्चर्या करने वाले ऐसे 'जमदग्नि' नाम के तपस्वी को देखा, जो कि 'कश्यप' ऋषि के शिष्य
थे । जिसका मन चन्द्र व सूर्य की किरणों के पान करने में सत्पर था । जिसकी दोनों भुजाएँ ऊपर
उठी हुई थीं । जो एक पाद (पैर व पदान्तर में किरण) से खड़े होने के आग्रह में बैसे थे जैसे राहु चन्द्र-
सूर्य को एकपाद (किरण या चतुर्थांश)-युक्त करने के आग्रह वाला होता है । जिसका शरीर बहुत से
शोभायमान पल्लवों, घनी लताओं, बहुतलम्बी बेलों एवं वामियों से आच्छादित (ढका हुआ) था
और जिसके शिर व दाढ़ी के जटा-समूह की कान्ति विशेष बढ़ी हुई वृद्धावस्था रूपी सुषा (चूने) से शुभ्र
होगई थी ।

इसके पश्चात् उन दोनों देवों ने [विक्रिया से] पक्षियों के जोड़े के वृत्तान्त-योग्य संबंधवाला वेष
(रूप) धारण किया और उस तपस्वी की दाढ़ीरूपी घोंसले की झोपड़ी की कोटर में घुस गए ।

एक दिन पक्षी ने अपनी प्रिया से कहा—'प्रिये ! सुमेरु पर्वत की मूलमेखला में समस्त पक्षि-समूह
के चक्रवर्ती गरुड़राज का 'मदनकन्दली' नाम की वातराज (पक्षी-विशेष) की पुत्री के साथ महात् विवाहोत्सव
हो रहा है, उसमें मुझे अवश्य जाना है । प्रिये ! तुम्हारा प्रसवकाल नजदीक है, अतः तुम्हें ऐसे समय में साथ
ले जाना शक्य नहीं है । उक्त विवाहोत्सव के बाद मैं शीघ्र लौट आऊँगा । वहाँ पर मैं बहुत समय तक नहीं
ठहरूँगा, यदि ठहरूँ तो मैं अपने माँ-बाप की शपथ करता हूँ । अधिक बया कहूँ, यदि मैं झूठ बोलूँ तो इस
पापी तपस्वी के पाप का भागी होऊँगा ।' इस प्रकार उन दोनों पक्षियों ने परस्पर वार्तालाप किया ।

१. पश्चिमभाग । २. ईधन । ३. दर्भ । ४. कुशाशयः जलाशयः । ५. 'समित्कुशकुश' (क०) । ६. बोरपुल-
स्थाने । ७. सूर्य । ८. पत्ररथः पक्षी, पक्षिचक्रः । ९. मालक । १०. वातराजः पक्षिविशेषः महर्द्धिकः ।

११. मया । १२. अहं भवामि ।

कर्णकटुमालापमाकर्ण्य प्रवृद्धक्रोधः कराभ्यां तरकवर्धनार्थं कूर्चं सलिलवान् । अमरवरौ विकिरा^१वपुःश्रीय तदप्रविटपिनि संनिविश्य पुनरपि तं तापसमलो^२हलाजापो तिकाममुपजहसतुः । तापसः साध्वस^३विस्मयोपसृतमानसः 'नंतौ खलु पक्षिणौ मधतः । किं तु रूपान्तराद्युमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ । तनुपगम्य प्रणम्य च पृच्छामि तावदात्मनः पाप-कर्मत्वकारणम् । अहो मत्पूर्वगुण्यसंपादितावलोकन दिव्यद्विजो^४ तमान्वयसंभवसदनपतङ्गमिधुन, कथयतां भवन्तौ कथमहं शावकर्मा' इति । यतस्त्रिणौ 'तपस्विन्, आकर्ण्य ।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च । तस्मात्पुत्रमुखं वृद्धा पश्चाद्भुवति भिक्षुकः ॥ १५५ ॥

तथा—अथोत्थ विचित्रदेवान्पुत्राश्चोत्पाद्य भुक्तिः । इष्ट्वा यशैर्यथाकालं ततः प्रव्रजितो भवेत् ॥ १५६ ॥

इति स्मृतिकारकीर्तितप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति । 'कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः' । 'परिणयनकारणा-वीरलपुत्रोत्पादनेन' । 'किमत्र दुष्करम्' इत्यभिप्राय मातुलस्य विजयामहादेवीपतेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाजः काशिराजस्य भूमजो भवत्भारभूत्वा तद्वृत्तिरं रेणुकां परिणीयादिरत्नकलापो^५ 'लुपालं' कृतपुतिनासराले मन्दाकिनीकूले महाधमपवं संपाद्य परशुरामपिताभूत् ।

भवति चात्र श्लोकः—

उनके इस कर्ण-कटु वाला लाप को सुनकर जमदग्नि तपस्वी का क्रोध बड़क उठा, अतः उसने पक्षियों को पौडित करने के लिए दोनों हाथों से अपनी दाढ़ी मसली, तब दोनों भूतपूर्व देवता पक्षी भी उड़कर उसके आगे वर्तमान वृक्ष पर जा बैठे और पुनः स्पष्ट वचन बोलते हुए उस ऋषि की विशेष हँसी-मजाक उड़ाने लगे । [यह देखकर] तापसी का मन भयभीत व आश्चर्यान्वित हुआ, अतः उसने विचार किया—'निस्सन्देह ये दोनों पक्षी नहीं हैं किन्तु दूसरा वेप धारण किये हुए पार्वती व शिव-सरीखे कोई देवता हैं, अतः इनके पास जाकर व प्रणाम करके अपने पापी होने का कारण पूछूँ ।'

[यह सोचकर उसने उनके पास जाकर कहा—] 'मेरे पुण्योदय से प्राप्त हुए दर्शन वाले और दिव्य व उत्तम पक्षियों के वंशरूपी उत्पत्तिगृह वाले हे पक्षियुगल ! कहिए कि मैं कैसे पापी हूँ ?'

पक्षि-युगल—'तपस्वी ! सुनो—स्मृतिकारों ने कहा है—'कि पुत्र-रहित मनुष्य की सद्गति नहीं होती और न वह स्वर्ग प्राप्त करता है, इसलिए पुत्र का मुख देखकर पश्चात् भिक्षुक होना चाहिए । विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करके और युक्ति पूर्वक पुत्रों को उत्पन्न करके और यथाकाल यज्ञ संबंधी क्रिया-काण्ड द्वारा पूजा करके पश्चात् तपस्वी होना चाहिए ॥ १५५-१५६ ॥

किन्तु तुम स्मृतिकार के उक्त कथन को प्रमाण न मानकर तप करते हो ।'

'तो मेरे परलोक कैसे शुभ हो सकते हैं ?'

'विवाह करके औरस पुत्र के उत्पन्न करने से ?'

'यह क्या कठिन है'—ऐसा कहकर जमदग्नि तपस्वी ने विजया नाम की महादेवी के पति स्वर्ग-सरीखे ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले अपने मामा काशीराज नाम के राजा के महलों में जाकर उनकी रेणुका नाम की दुहिता के साथ विवाह संबंध कर लिया और घने पत्र व तृणविशेषों से अलंकृत और बालुकामय प्रवेश से व्याप्त गङ्गा नदी के तट पर वर्तमान महान् आश्रम-स्थान प्राप्त करके परशुराम के पिता हो गए ।

इस विषय में एक श्लोक है उसका अर्थ यह है—

अन्तस्तस्यविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः । पुंसः स्वभावभीरोः स्यान्न शौर्यायायुधप्रहः ॥ १५७ ॥

इत्थुपासकाध्ययने जमदग्नि तपस्वी नाम पञ्चमः कल्पः । पुनस्तौ त्रिदशो मगधदेशेषु कुशाग्रनगरो-
पान्तापासिनि पितृवने कृष्णचतुर्वंशीनिशि निशाप्रतिमाशयवशमेकाकिनं जिनवत्तनामानमुपासकमवलोक्य साधेयम्^२ 'अरे
दुराचाराचरणमते निराकृते^३ अविदितपरमसर्व मनुष्या^४ पसव, शीघ्रमिमाभूर्ध्वशो^५ वं शुष्क^६ स्थाणुसमां प्रतिमां^७ परित्यज्य
एवायस्व । न श्रेयस्करं खलु तवात्रावसरं पश्यावः । यस्मादावां ह्येतस्याः परेतपुरभूयस्या^८ भूमेः पिशाचपरमेष्ठरी ।
तबलमत्र कालध्यालावलोकनकरप्रस्थानेन^९ । मा^{१०} हि कार्षीरन्तरायोक्त^{११} र्धोभावमतुच्छस्वच्छन्दकेलिकुतूहलबहुलान्तः
करणप्रसवयोरावयोः' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणि^{१२} धानोद्युक्तमवेक्ष्य मधत्तः^{१३} कीना^{१४} शकास^{१५} रनिकायकायाकारधोरघन-

जैसे स्वभाव से भयभीत मानव का शस्त्र-धारण शूरता के लिए नहीं होता (व्यर्थ होता है)
वैसे ही आत्मज्ञान से शून्य (रहित) मानव का व्रत (अहिंसा-आदि)-पालन का परिश्रम भी व्यर्थ
होता है ॥ १५७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जमदग्नि तपस्वी को तपश्चर्या से पतन करनेवाला पञ्चम कल्प
पूर्ण हुआ ।

इसके पश्चात् उन दोनों देवों ने मगध देश के राजगृह नगर को निकटवर्ती इमशान भूमि पर कृष्ण-
पक्ष की चतुर्वंशी की रात्रि में रात्रि संबंधी प्रतिमायोग (धर्मध्यान)-धारण के अभिप्राय के अधीन हुए
व अकेले 'जिनदत्त' नाम के श्रावक को देखा और उससे निम्न प्रकार तिरस्कारपूर्वक कहा—'अरे दुराचार
करने की बुद्धिवाले ! विरूप, मोक्षपद को न जाननेवाले, निन्द्यपुरुष ! ऊपर लड़े होकर शरीर सुखाकर सुखे
ठूँठ सरीखे इस कायोत्सर्ग को छोड़कर शीघ्र भाग जा । हम लोग निश्चय से तेरा यहाँ ठहरना कल्याणकारक
नहीं देखते । क्योंकि पिशाचों के स्वामी हम दोनों इस विशाल इमशान भूमि के स्वामी हैं । इसलिए यहाँ
ठहरने से तुम्हें कालरूपी सर्प से डंसे जाने के सिवाय कोई लाभ नहीं हो सकता । क्योंकि हम दोनों के अन्तः-
करण में श्रेष्ठ व स्वच्छन्द क्रीड़ा करने का विशेष कुतूहल उत्पन्न हो रहा है, इसमें विशेष विघ्न बाधा
मत डालो ।

ऐसा कहने पर भी उसे आत्मध्यान में विशेष तल्लीन देखकर वे दोनों देव समस्त रात्रि तक ऐसे
विघ्नों की सृष्टि (रचना) से, उसे आत्मध्यान से विचलित (डिगाने) करने में तत्पर हुए, जो कि यम के
वाहन महिष-समूह के शरीर को आकृतिवाले (काले काले) भयानक मेघों की गर्जना-ध्वनि को शुरु में
प्रारम्भ करनेवाले थे । जो प्रचण्ड विजलीदण्ड के संघट्टन से बहुत ऊँची जाने वाली गड़गड़ाहट के शब्द-
समूह से सहन करने के लिए अशक्य थे । जो सीमातीत (वेमर्षादि) प्रचण्ड वायु के सूत्कार-सार (झकोरों
के शब्द) के विस्तार से महाशक्तिशाली थे । जो अत्यन्त भयानक वेताल-समूह के उत्पाती कोलाहल के अनुकूल
थे एवं जो अन्य साधारण मनुष्यों से करने के लिए अशक्य थे तथा जिनमें उसके मकानात जलाना और
बन्धुजनों के और धन के नाश का संबंध वर्तमान था । इसी प्रकार विशेष आदर-सहित मनचाही वस्तु के
होने से वे दोनों देव समस्त रात्रि पर्यन्त उसके आत्मध्यान को रोकने के अधीन हुए ।

१. राजगृह । २. तिरस्कृतं । ३. निरुष्टा आकृतिर्यस्य, वात्यः संस्कारहीनः स्यादस्वाध्यायो निराकृतिः । ४. निन्द्यः पङ्क्ति-
रहितः । ५. ऊर्ध्वशोषं 'ऊर्ध्वं शुषिपूरोः' ऊर्ध्वं कर्तुंवाचिन्युपपदे शुषेः पूरेश्च णम् ऊर्ध्वशोषं । ६. शुष्कः स चासी
स्थाणुः तत्समां ७. कायोत्सर्गं । ८. महत्याः । ९. स्थितिकरणेन । १०. आबयोर्मा कार्पोः । ११. ऊर्ध्वः सन् ।
१२. ध्यानस्थः । १३. सर्वतः । १४. यम । १५. महिषः ।

घस्वराङ्गप्रथमप्रा^१रम्भनिबर्हः* प्रचण्डतद्विहङ्गसंघट्टोच्छलच्छब्दसंदोहसहैः निःसीमसमीराक्षरालसूक्ष्मकारसारप्रसर
प्रचलैः करालवेतालकुसकाहलकोलाहलानुकूलैरनन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहबाह्वान्यवधनविध्वंसानुबन्धैः प्रैस्पृह
प्रबन्धैः सख्युभयान्तस्तद्वरप्रदानंश्च निःशेषामप्युत्तम^३ध्यात्मसमाधिभिरोषनि^४ध्नौ विहितबहुविघ्नावपि तमेकाग्रभावा-
भ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणबहिर्करणोहितं शर्महर्षनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्वर्मध्यानाच्चाक्षयितुं न शक्नुतः^५ । संजाते
ष्वक्षरकिरणविरो^६कविकिरनिराकृतान्यकारोदये प्रगतसमष्टे समुपहतोपसर्गावर्गौ^७ प्रकामप्रसन्नसर्गौ^८ तैस्तैर्महाभागैर्वितैः
प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय^९ विज्ञायोविहाराय पञ्चविंशद्वर्णनवद्यां विद्यां वितेरतुः^{१०} । इयं हि विद्या तदात्मबन्धु-
प्रहावम्बरविहारयासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति । जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतन-
लोकनकुपूहलिताशयः समाचरिताम^{११}रानुवर्तनसमपस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखि^{१२}लनिलिम्बाचल^{१३}
चैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे^{१४}प्रावात् ।

पुनरप्यमित 'विद्युत्प्रभ', जिनदत्तोऽयमतीवाक्लृप्तदन्तमत्तवस्तुपरिणतचित्तः स्वभावादेव च स्थिरमतिर-
शेषोपसर्गसहप्रकृतिश्च । तद्वच्च महदप्यपकृतं कुलिशे^{१५}घृणकोट्येष्टितमिव न भवति समर्थम् । अतोऽन्यमेव कञ्चनाभि-

उक्त प्रकार विशेष विघ्न करने वाले भी वे दोनों देव उस जिनदत्त को, जिसकी चित्तवृत्ति व बाह्य
इन्द्रियवृत्ति की चेष्टा एकाग्रभाव के अभ्यास से आत्माधीन हो चुकी थी, ऐसे धर्मध्यान से, जो कि स्थायी
मुखरूपी महल का निर्माण करने वाली पुण्य कर्म की परम्परा को वृद्धिमत करता है, विचलित करने के लिए
समर्थ नहीं हुए ।

इतने में जब सूर्य की किरण-समूह द्वारा अन्धकार-समूह को नष्ट करने वाला प्रातःकाल हो गया
तब उन्होंने अपने उपसर्ग-समूह रोक दिये और वे विशेष प्रसन्न अभिप्राय वाले हुए और भाग्यशालियों के
योग्य प्रेम-भरे वचनों से उसकी प्रशंसा करके उसके लिए आकाश में विहार करने के लिए पैंतीस अक्षरों से
निर्दोष आकाशगामिनी विद्या प्रदान की और कहा—'यह विद्या हमारे अनुग्रह से बिना सिद्ध की हुई भी तुम्हें
आकाश में विहार कराने में समर्थ होगी, परन्तु दूसरों को अमुक विधि से सिद्ध की जाने पर ।

जिनदत्त भी, जिसका मन सुमेरु पर्वत की शिखर को अलङ्कृत करने वाले अकृत्रिम चैत्यालयों के
दर्शन करने में कौतूहल-युक्त है, एवं जिसने प्रस्तुत विद्या के लिए देवों की तरह आकाश में ले जाने का संकेत
किया है, उक्त विद्या प्राप्त करके पंचमेरु के समस्त चैत्यालयों को हादिक दर्शनोत्सव में लाया । इसके बाद
उसने उक्त चैत्यालयों के दर्शनार्थ उत्कण्ठित व ईश्वर-भक्ति में निपुण पुरुष-श्रेष्ठ धरसेन श्रावक के लिए उक्त
विद्या दे दी ।

पुनः 'अमितप्रभ' ने 'विद्युत्प्रभ' से कहा—'विद्युत्प्रभ ! यह जिनदत्त सम्यग्दृष्टियों से माने हुए
जीवादि तत्त्वों के विषय में परिपक्व बुद्धिवाला (दृढ़ श्रद्धालु) है और स्वभाव से निश्चल बुद्धिशाली है तथा
समस्त उपसर्गों के सहन करने की प्रकृति वाला है, अतः इस पर किये जाने वाले महान् उपसर्ग भी वैसे व्यर्थ
होते हैं जैसे वज्र पर घुग-कोट की चेष्टा व्यर्थ होती है, अतः नवीन जिनेन्द्र भक्ति की स्थानीभूत बुद्धिवाले
किसी दूसरे श्रावक की परीक्षा करें ।

ऐसा विचार करके दोनों देव वही से प्रस्थान कर गए और उन्होंने मगधदेश को अलङ्कृत करने
वाली मिथिलापुरी के स्वामी ऐसे 'पद्मरथ' राजा को देखा, जिसने ऐसे सुधर्माचार्य से, सम्यग्दर्शन पूर्वक

१. 'प्रारम्भावर्हः' मु० एवं 'व' प्रती । * विघ्नसमूहः । २. विघ्नरचनैः । ३. रात्रि । ४. निघ्नः तत्परः । ५. न
समर्थो ती देवौ । ६. विरोकः किरणः रश्मिः । ७. सर्गः अभिप्रायः अभिप्रायी । ८. दत्तवन्तौ । ९. देववत् । १०.
समस्त । ११. पंचमेरुः । १२. तां विद्यां । १३. अर्हदेवोऽप्येत्यार्हतः सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । १४. वज्रं ।

नक्षत्रिनोपासनायतनचैत्रस्य निकषावः^१ इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेता^२भ्यां भगवन्मण्डलमण्डनमिथिलापुरीनाथः पद्मरथो नाम नरपतिर्निजभगवन्निकटतटीधरवृत्^३देहा^४यां कालगुहायां निवासरससनसो^५ वीर्यतपसो निःशेषानि-मिषपरिवर्षिषेभ्यमाणधरणचातुर्यत्सुधर्माचार्यासङ्ख्याभूतप्र^६भाप्रभावदर्शनोपशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमपुन्यताशय-माशय तद्विषय एव तदुपदेशाभिनिवृत्ताहंत्परमेस्वरशरीरनिरतिशयप्रकाशम^७हिमः कृतनियमः सकलभुवनपतिस्तुयमान-गुणगणो^८वर्तं धीवासुपूज्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रमद^९नावसुम्बरबुन्दुभिरवाकारितनिरवशोधपरिजनः^{१०}समास-जसकलविष्टपनिविष्टविशिष्टादृष्टचेष्टः स च दृष्टः कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवा^{११}विप्रलब्धः प्रार^{१२}श्चश्च^{१३}पुरप्लोवास्तः पुरविध्वंसवक्^{१४}धिनोमयनप्रसन्नप्रभ^{१५}ज्जनोजितपण्यपहृषवर्षोपलासाराविधसति^{१६}भिर्दुर्बेनशाकूलोत्तराकृतिमिविकृति-मिष्यद्भोतुं तथाप्यविधसितचेतसमवसाय^{१७}नरवरकुञ्जरं मायामयप्रतिधे^{१८}स्ता^{१९}धे व्याप्ताखिलविगारामसंगमे कदमे निमज्ज्यद्भुतां ताम्यां नमः सुरासुरोपलसङ्ग^{२०}सूदनमभिधानमात्रमाहात्म्यसाध्याय्याम धीवासुपूज्याय इति तत्र निमज्जतो ध्रुवतो वचनमाकर्ण्य तद्वैद्योत्कर्षोन्मिषतोवमनोवाप्रसराम्यां लघु परिमुषिताशेषविघ्नम्यतिकराम्यामाचरितसरकाराम्याम्

श्रावकों के अणुव्रत धारण किये थे, जिनका मन अपने नगर के निकटवर्ती पहाड़ से वेष्टित शरीर वाली कालगुहा में निवास करने के लिए सरस (प्रीति-युक्त) था। जो महातपस्वी थे और जिनके चरित्र-पालन का चातुर्य समस्त देवों की सभा से पूजा जा रहा था। उनके शारीरिक अद्भुत तेज व प्रभाव के दर्शन से जिसका राग शान्त हो गया था। उसी दिन जिसने आचार्यों के उपदेश से अहंन्त तीर्थङ्कर के शरीर के अतीव प्रकाश की पूजा का निश्चय किया था और जिसने नियम लिया था। जो समस्त भुवन के स्वामियों से जिनके गुण-समूह का वृत्तान्त स्तुति किया जा रहा है ऐसे वासुपूज्य भगवान् की उपासना के लिए प्रस्थान कर रहा था। आनन्द-मेरी की मधुर ध्वनि से मनोज्ञ दुन्दुभियों (आनकों-वाद्यविशेषों) की ध्वनि से उसने समस्त कुटुम्बी जनों को बुला लिया। जिसकी विशेष पुण्य-चेष्टा समस्त लोक में प्रविष्ट होने का संबंध प्राप्त करती थी। जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवों (विघ्नों) से पराभूत नहीं हुआ था।

पश्चात् उन दोनों देवों ने परीक्षा करने के लिए पद्मरथ राजा के ऊपर निम्न प्रकार की घटनाओं से विघ्न करना प्रारम्भ कर दिया, जिनमें उसके नगर का दाह, रतवास का विनाश, सेना का नाश और बलात् प्रचण्ड वायु के संचार से विशेष शक्तिशाली मेघों से उत्पन्न हुई कठोर ओलों की वृष्टि-आदि वाली भयानक जलवृष्टि पड़ी जाती है और जिनमें दुःख से भी दमन करने के लिए अशक्य सिंहों की उत्तम आकृतियाँ पड़ी जाती हैं।

उक्त उपद्रवों के करने पर भी उन्होंने मनुष्यों में श्रेष्ठ पद्मरथ राजा को विचलित न होनेवाले मन-वाला निश्चय किया। तब उन्होंने उसे मायामयी विघ्नवाली, अगाध और जिसने समस्त दिशाओं व बगीचों के संगम को व्याप्त किया है ऐसी कीचड़ में डुबो दिया।

इसके पश्चात् उन्होंने कीचड़ में डूबते हुए राजा के निम्न प्रकार वचन श्रवण किये—‘ऐसे वासु-पूज्य तीर्थङ्कर भगवान् के लिए नमस्कार हो, जिसके नाममात्र के माहात्म्य का साम्राज्य सुरासुर देवों के

१. परीक्षावहे। २. पद्मरथो राजा दृष्टः। ३. निर्विषेष्टित। ४. ‘तटीधरवृत्तदेहायां’ इति (क)। ५. सुधर्माचार्यात् सम्यक्त्वं वर्तं चादाय। ६. शरीरतेजः। ७. महिमा-महि पूज्यायामस्पर्षाणादिक‘हम’ प्रत्ययः। ८. वृत्तान्तं। ९. आनन्दमेरी। १०. समासजन्तो संबंधमायान्ती। ११. अपराभूतः। १२. उपद्रोतुं प्रारब्धः। १३. नगरदाहः। १४. संता। १५. वायुः। १६. स्थानैः। १७. जाला। १८. विघ्ने। १९. अगाधे। २०. सूदनं निराकरणं विनाशनं।

‘अहो नूतनस्य सन्ध्यास्वरत्नस्याब्धयः सन्धयः पद्मरथः, नैतच्चित्रमत्र यस्तं’ वासस्त्वान्यामखिलैरपि लोकेरसद्गोषु भवाद्-
गोषु न प्रभवन्ति प्रसन्नप्रभवाः क्षुद्रोपद्रवाः । यतः ।

एकापि सन्धयै जिनभक्तिर्गतिं निवारयितुम् । पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिर्भयं कृतिनः ॥ १५८ ॥

इति निर्गोपं, वितीर्य च जिनसमाराधनवशे भवद्देशे सर्वश्यापहारोऽयं हारः, सकलसपत्न्यसंतानोऽब्धे-
रभिषमातोऽयं च प्रेषणं करिष्यतीति कृतसंकेताभ्यां तद्वृत्त्यभिमतप्रस्थानं स्थानं प्रास्थापि । त्रिशोऽश्वरवदन-
जम्भमाणगुणसंकथः पद्मरथोऽपि तत्सीर्यकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चारत्मानमनूतरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षामृतपात्र-
संजायत । भवति चायं श्लोकः—

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् । उभौ कामकुघौ लोको कौतेश्चाल्पं जगत्त्रयम् ॥ १५९ ॥

इदमुपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम पण्डः कल्पः ।

उपसर्ग-संगम का विनाशक है । फिर राजा की धैर्य-वृद्धि के कारण उन दोनों देवों को विस्तृत आनन्द व बुद्धि उत्पन्न हुई और उन्होंने समस्त विघ्न-संबंध दूर करके राजा को सम्मानित करते हुए कहा—‘नये सम्यग्दर्शन-
रूपी रत्न के निष्कपट गृह-मार्ग पद्मरथ ! प्रतिज्ञा व धैर्य के कारण समस्त प्राणियों की अपेक्षा अनोखे आप-
सरीखे महापुरुषों पर हठ से उत्पन्न हुए क्षुद्रोपद्रव धर्मध्यान से डिगाने में समर्थ नहीं हो सकते । इसमें आश्चर्य नहीं ।

क्योंकि अकेली एक जिनभक्ति ही धार्मिक पुरुष को दुर्गति के निवारण करने में, पुण्य वृद्धि करने में एवं मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है ॥१५८॥’

इसके पश्चात् दिव्य वस्तुओं के प्रति संकेत करने वाले उन्होंने उसे दो दिव्य वस्तुएँ प्रदान कीं ।
१. दिव्य हार २. दिव्य वाद्य । ‘यह दिव्य हार जैन धर्म को आराधना के अधीन हुए आपके कुटुम्बी जनों के समस्त रोग नष्ट करेगा और यह दिव्य वाद्य समस्त शत्रु-कुल का उच्छेद (नाश) करने योग्य है और प्रेषण (भगा देना) करेगा ।’ ऐसा कहकर उन दोनों देवों ने अपने अभीष्ट स्थान में प्रस्थान किया ।

इन्द्र के मुख द्वारा निरूपण किये हुए गुण-कथनवाला पद्मरथ राजा भी उस तीर्थङ्कर के समवसरण में गणधर के पद पर अधिष्ठित होकर अपनी आत्मा को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य) से अलङ्कृत करता हुआ मोक्षरूपी अमृत का पात्र हुआ ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक पुण्य श्लोक का अर्थ यह है—

जिन महापुरुषों की मनोवृत्ति स्वीकार किये हुए व्रतों के निर्वाह संबंधी साहस के योग्य है, उनके दोनों लोक अभीष्ट वस्तु का दोहन करने वाले होते हैं एवं उनकी इतनी विस्तृत कीर्ति होती है कि उसे व्याप्त होने के लिए तीन लोक भी अल्प हैं ॥१५९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जिनदत्त व पद्मरथ राजा का प्रतिज्ञा-निर्वाह के साहस को बतलाने वाला यह छठा कल्प समाप्त हुआ ।

१. संघा प्रतिज्ञा मर्यादा द्रव्या सुव्यवसायेषु सत्त्वं । २. हठादुत्पन्नाः । ३. वितीर्य दत्त्वा । ४. ५. पद्मकुलं ।

६. वाचं । ७. हारः आसौख्यं द्वयं । ८. गर्भं ।

इतश्च संगमित^१ सकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यनुच्छिन्नोच्छ्रिता^२ बन्धे पर्वविषयमासते^३ श्रीमध्ये सर्वतो वासुधान^४ धावनप्रवर्धनीषु इमजानमेदिनीषु प्रवर्तिततद्वाराधनानुकूलमण्डलो त्पक्षासु^५ विक्षु निक्षिप्तरक्षाबलोऽवगण^६ कृतसकलो-
करणो भागवे^७ श्रीविधानसमये वटवटपात्रे पतिष^८ पराकरकतितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्तर्जल्प-
संकल्पितमन्त्रवाक्यः सिष्यं निबध्य प्रबन्धेनापस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्रं बहिर्निवेशिताष्टविधेष्टि^९-
सिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्बभूव ।

अत्रान्तरे निष्कारणकलिकार्याञ्जनसुन्दर्या निशीथ^{१०} पथवर्तिवीक्षणो लपाक्षणे मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुर
स्वामिनः सुन्दरीमहादेवीविलासिनः स्वकीयप्रतापहृतवा^{११} हुनाहुतीकृत्तारातिसमितेररिमन्महीपतेर्ललितो नाम धृतः
समस्तव्यसनाभिभूतत्वाद्या^{१२} ब्रह्मव्यावसंपादितसांभ्राज्यपदापायः^{१३} परमुपायमपश्यन्नदृश्यञ्जनचर्जनोर्जितप्रजः प्रती-
ताञ्जनचोरापरसंजः किल्बिन्मुक्तः—'कुशाग्रपुर'^{१४} परमेश्वरस्याग्रमहिष्याः ताविष्याः^{१५} सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठा-
लंकारमिवानीमेव यदानीय प्रयच्छसि, तदा त्वं मे कान्तः, अन्यथा प्रणयान्तः^{१६} इति । सोऽपि 'कियद्गहनमेतत्' इत्यु-
वारमुवा^{१७} हृदय प्रियतमामनोरथमन्वय^{१८} कं चिकीर्षु^{१९} निजच्छायावृक्ष्यताशीलकण्ठलबहसं लोचनयुगलं विधाय प्रपाय^{२०}

अब धरसेन को, जिसे जिनदत्त ने आकाशगामिनी विद्या साधने के लिए दी थी, और अञ्जनचोर की कथा श्रवण कीजिए ।

यहाँ पर समस्त साधनों की सामग्रों-समूह एकत्रित करके धरसेन भी गाढान्धकार से सफल पर्वदिन (चतुर्दशी या अमावस्या) की रात्रि के मध्य में सर्वत्र राक्षसों की दौड़-धूप बढ़ानेवाली दमशान भूमि पर आकाशगामिनी विद्या के आराधन में परिपूर्ण बुद्धिवाला हुआ । वहाँ उसने आकाशगामिनी विद्या के आराधना-योग्य मंडल की रचना की, समस्त दिशाओं में रक्षा-मण्डल स्थापित किये । पुनः अकेले इसने सकलोपकरण क्रिया सम्पन्न की, अर्थात्—भूमिबुद्धि व अङ्ग शुद्धि-आदि क्रियाकाण्ड पूर्ण किया । इसके बाद उसने पूजा-विधान के समय में वटवृक्ष की शाखा के अग्रभाग पर मन में पढ़ने से निश्चित मन्त्रवाक्यवाला होते हुए, (मन में ही मन्त्रोच्चारण करते हुए) ऐसा छौंका बाँधा, जो कि कन्याओं के करकमलों द्वारा काते हुए सूत के हजार तन्तुओं से बनाया गया था और जिसमें अपने बैठने-सरोखा योग्य मध्य स्थान था । इसके बाद उसने छौंके के नीचे पृथ्वी पर समस्त तीक्ष्ण शस्त्रों को उनका अग्रभाग ऊपर की ओर करके स्थापित किया । बाद में मण्डल से बाह्य भूमि पर शास्त्रानुकूल आठ प्रकार की पूजा-सिद्धि स्थापित करके उसने आकाशगामिनी विद्या के आराधन में अपनी बुद्धि सन्नद्ध (तैयार) की ।

इसी बीच में एक घटना घटी, अर्थात्—अब अञ्जनचोर की कथा श्रवण कीजिए—

इसी बीच में बिना कारण कलह करनेवाली 'अञ्जनसुन्दरी' नाम की वेश्या ने अर्धरात्रि के मार्ग-वर्ती वीक्षणवाले मध्य रात्रि के समय ऐसे अञ्जनचोर से कहा, जो कि मध्यदेश में प्रसिद्ध 'विजयपुर' नगर के स्वामी, सुन्दरी नाम की पट्टरानी से विलास करनेवाले और अपनी बहुल प्रतापरूपी अग्नि द्वारा शत्रु-समूह को भस्म करनेवाले 'अरिमन्थ' नाम के प्रतापी राजा का 'ललित' नाम का पुत्र था, जो समस्त प्रकार के व्यसनों में आसक्त था, अतः जिसकी राज्यपद की प्राप्ति में उसके बन्धुजनरूपी राक्षसों ने बाधाएँ डालीं तब उसने दूसरा उपाय न देखकर अदृश्य-अञ्जन सिद्ध करके अपनी बुद्धि को शक्ति-युक्त किया, अर्थात्—उस अञ्जन के लगाने से वह अदृश्य हो जाता था और तभी से उसका नाम अञ्जनचोर प्रसिद्ध हो गया ।

१. एकीकृत-मेलित । २. तिमिर । ३. रात्रि । ४. राक्षसाः । ५. सर्वांगु । ६. एकाकी । ७. बलिः । ८. कन्या । ९. पूजा । १०. मध्यरात्रि । ११. अग्निः । १२. गोत्रिण एव राक्षसाः । १३. विनाशः । १४. राजगृह । १५. 'ताविषी' नामकायाः देव्याः । १६. शत्रुः । १७. उक्त्वा । १८. सार्वकं । १९. गत्वा ।

च तन्महीश्वरगृहं गृहीततदलंकारस्तत्प्रभाप्रसरसमुल्लस्यमाणचरणसंचारः शब्द^१ शस्त्रोत्तालाननकरंस्तज^२ वरानुचर-
रभिपुक्तो निस्तरीतुमशक्तः परित्यज्य तवाभरणमितस्ततो नगरबाहिरिकायां विहरमाणस्तं धरसेनं प्रबोधत^३ दीपदीप्तिव-
शादधस्तादधश्च निवेशभयावेशान्मुहुर्मुहुर्गारोहावरोहाकहवेहधीनमवलोक्य समुपहीष्य च सं वेद्यमेवं निविदेश—‘अहो प्रलय-
कालान्धकाराविधायामस्यां खेलायां महासाहसिकवृ^४थन् दुष्करकर्मकारिन्, को नाम भगवान् धरसेनः—‘कल्याणबन्धो,
महाभागवत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पवटनियोगसंबन्धोऽहमेतदुपदेशावाकाशविहारव्यवहारनिषद्या विद्यां सिद्धाधिपु-
त्रायासिधम् । अञ्जनचोरः—‘कथमियं साध्यते ? धरसेनः—‘कथयामि, ‘पूजोपचारनिवेद्ये शिष्येऽस्मिन्निःशङ्कमुप-
विश्य विद्यामिमानकुण्डकण्ठं पठन्नेकैकं शरप्रवेकं स्वच्छधीशिङ्खल्यावसाने गगनगमनेन युज्यते ।’ ‘यद्येवमपसरापसर’ ।
‘यं हि तत्सोन्मुखनिष्ठातर्निशितशस्त्रसंपातभ्रीतमर्तिर्न खलु भवसि एतत्साधने । एतद्यज्ञोपवीतदर्शनेनार्थविर्जनकृतार्थः
समर्थः । तत्कथय मे यथार्थवाद्दृष्ट्या विद्याम् । एतां साधयामि । ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसमर्पितविद्यः

‘राजगृह नगर के राजा की ‘ताविषी’ नाम की पट्टरानी का ‘सौभाग्यरत्नाकर’ नाम का कण्ठ-आभू-
षण यदि इसी समय लाकर मुझे दोगे तब तो तुम मेरे पति हो अन्यथा शत्रु हो ।’

वैद्या की बात सुनकर अञ्जनचोर ने कहा—‘यह क्या कठिन है ?’

इसना उदारतापूर्वक कहकर वह अपनी प्रियतमा का मनोरथ सार्धक (पूर्ण) करने का इच्छुक
हुआ । अपने दोनों नेत्रों में ऐसा अञ्जन, जिसके आँजने से उसके शरीर की छाया तक किसी से देखी न जा-
सके, आँजकर राजमहल में घुसकर उसने उक्त राजमहिषी (पट्टरानी) का कण्ठाभरण चुरा लिया । यद्यपि
अदृश्य अञ्जन के कारण उसे कोई नहीं देख सका परन्तु उस हार की रत्नकान्ति के विस्तार से उसका पाद-
संचार [कोट्टपाल-आदि नगर रक्षकों द्वारा] मालूम पड़ा तब शब्द (गाली-गिलौज) बोलने से उग्र मुखवाले
और शस्त्र उठाने से ऊपर उठाये हुए हस्तवाले कोट्टपाल के सेवकों ने उसका पीछा किया । परन्तु उनको
घोखा देकर निकल भागने में अपने को असमर्थ देखकर उसने उस आभूषण को वहीं पर छोड़ दिया ।

इसके पश्चात् नगर की बाह्य भूमि पर इधर उधर भागते हुए उसने [आकाशगामिनी विद्या सिद्ध
करनेवाले] ऐसे ‘धरसेन’ को देखा, जिसका शरीर उजाले हुए दीपकों की कान्ति से नीचे गाढ़े हुए अस्त्र-
शस्त्रों पर गिर जाने के भय के प्रवेश से बार-बार छीके पर चढ़ने-उतरने से दीन था, और उस स्थान पर
आकर कहा—

‘अहो ! प्रलयकाल-सरीखे गाढान्धकार से मलिन इस रात्रि-वेला में महासाहसी पुरुषों में प्रमुख और
दुःख से भी करने के लिए अशक्य कर्म करनेवाले पूज्य आप कौन हैं ?’

धरसेन—‘मेरे हितैषी वन्धु ! भाग्यशाली चरित्रवाले जिनदत्त के साथ पूजा के अवसर पर पुष्प
लानेवाले पुत्र के सरीखी प्रसिद्ध आज्ञा पालन का संबंध रखनेवाला मैं उसके उपदेश से आकाश-विहार के व्यव-
हार में प्रवृत्तिवाली (आकाशगामिनी) विद्यासिद्ध करने का इच्छुक होकर यहाँ आया हूँ ।’

अञ्जनचोर—‘यह कैसे साधी जाती है ?’

धरसेन—‘कहता हूँ—‘पूजोपचार के क्षेपण-योग्य इस छीके में निःशङ्क (शङ्का-रहित) बैठकर
अविराम कण्ठ से इस विद्या को पढ़ते हुए निर्मल बुद्धि वाले होकर छीके की एक-एक डोर काटनी चाहिए,

१. शब्देन उत्तालं मुखं, शस्त्रेण उत्तालः करो येषां । २. तलारः । ३. ‘प्रदीपः ख० । ४. प्रधान । ५.
अर्धमुक्तासवटित ।

सम्पदिवदितवद्यः^१ संप्रत्यासन्नशिवागारोऽञ्जनचोरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः । स ह्यल्लु महतामपि महान्प्रतिपन्नवैशयतिवत्तन्त्रो जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय सभावरितोपचारस्य तन्त्रुवनिविशेष-
पोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्^२ इति निश्चित्य निविश्य च सौख्यं सिकपे निःशङ्कुशेमु^३षीकः स्वकीयसाहस-
व्यवसायसंतोषितपुरामुरानीकः सकृदेव^४ तच्छ्रवणप्रसरं चिच्छेद, *आसत्ताव च सेवरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमनं
भूयादिति विहिताशासनः^५ काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि सोभनसचनोदयिनि जिनसर्पनि जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतो
गुरुदेवभगवतः समीपे तपो गृहोत्पादगाहितसमस्तंतिहृतस्वो हिमवच्छैतचूलिकोन्मोलित^६ केवलज्ञानः कैलासके^७सरकान्तार-
गतो मुक्तिश्रीसमागमसङ्गिभोगा^८यतनो अभूव ।

भवति चात्र श्लोकः—

अत्रपुत्रोऽक्षविक्षिप्तः^९ शिक्षितादृश्यकञ्जलः । अन्तरिक्षगतिं प्राप निःशङ्कोऽञ्जनतत्त्वरः ॥१६०॥

ऐसा करने से अन्त में आकाश-गामिनी विद्या सिद्ध होगी ।

अञ्जनचोर—‘यदि ऐसा है तो हटो हटो, क्योंकि तुम छीके के नीचे पृथिवी तल पर ऊपर अग्रभाग करके गाड़े हुए तीक्ष्ण शस्त्रों पर गिर जाने की भयभीत बुद्धि वाले हो गये हो, इसलिए तुम इसे सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते । क्योंकि तुम तो अपना जनेल दिखाने मात्र से धनार्जन करने में कुतार्थ हो । अतः मुझे यथार्थ उपाय से मनोज्ञ विद्या को कहो । मैं इसे साधता हूँ ।’

यह सुनकर आत्मकल्याण को अप्रिय समझने वाले उसे धरसेन ने अञ्जनचोर के लिए अच्छी तरह विद्या समर्पित कर दी ।

इसके बाद जानने योग्य बातों के ज्ञाता व मोक्ष-स्थान के निकटवर्ती (उसी भव से मोक्ष जाने वाले) अञ्जनचोर ने निश्चय किया—‘जिनदत्त सेठ, जिसकी चित्तवृत्ति स्वप्न में भी दूसरों को धोखा देने के व्यवहार से दूर है, निश्चय से महापुरुषों में श्रेष्ठ है और जो स्वीकार किये हुए श्रावक-व्रतों के अधीन है जब प्राणीमात्र का भी अहित चिन्तन नहीं करता तब क्या उस धरसेन के विषय में, जिसने इसकी चिरकाल तक विशेष सेवा की है और जो इसके द्वारा पुत्र-सरीखा लालन-पालन किया गया है, अहित चिन्तन कर सकता है ?’

इसके पश्चात् बड़ी उत्कण्ठा के साथ उस छीके पर बैठ गया और निःशङ्क बुद्धि वाला होकर अपने साहस व उद्योग द्वारा सुर व असुरों के समूह को सन्तुष्ट करने वाले उस अञ्जनचोर ने एकवार में ही समस्त छीके के धागे काट दिये और विद्या धर-पद प्राप्त कर लिया । पुनः इसने इच्छा की ‘कि जहाँ जिनदत्त है, वहाँ पर मेरा गमन हो’ ऐसी इच्छा करने वाला वह सुमेरु पर्वत की मेखला पर स्थित व सौमनसवन में वर्तमान जिनालय में स्थित होकर आचार्य गुरुदेव से धर्म श्रवण करने वाले जिनदत्त के पास पहुँच गया और प्रस्तुत आचार्य के समीप जिन दीक्षा ग्रहण करके समस्त द्वादशाङ्ग शास्त्रों के तत्वों का ज्ञाता (श्रुतकेवली) हो गया । पुनः उसे हिमवन पर्वत की चूलिका पर केवलज्ञान प्रकट हो गया । जब वह कैलाश पर्वत के वकुल वृक्ष के वन में प्राप्त हुआ तब वह मुक्तिश्री के साथ समागम करने में आसक्त आत्मावाला हुआ ।

प्रस्तुत विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

अञ्जनचोर, जो कि क्षत्रिय राजकुमार था, और जो जुआ खेलना-आदि व्यसनो के कारण विक्षिप्त

१. अञ्जनः । २. शेषुषी मतिः । ३. एकवारं । * प्राप्तवान् । ४. ‘विहिताशंसनः’ क० । ५. प्रकटीकृत । ६. वकुलः ।

७. आत्मा । ८. धर्मेण ।

इत्युपासकाध्ययने निःशङ्कितत्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः ।

स्वा^१ देवः स्यामहं यक्षः स्वा^२ वा वसुधैवकुतूबतिः । यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छी परिहरेत् ॥ १६१ ॥

उदयिषतेष^३ माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजः सुखैः । विक्रीणानः पुमान्स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत् ॥ १६२ ॥

चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरधुमः । कामधेनुर्धनं यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥ १६३ ॥

उचिते^४ स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला । तं श्रियः स्वयमायान्ति श्रोतस्विन्य इवाम्बुविन् ॥ १६४ ॥

तत्कु^५ वृष्टघन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम् । सम्यग्दर्शनशुद्धयर्थमाकाङ्क्षी त्रिविधा^६ त्यजेत् ॥ १६५ ॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अङ्गनखलेषु समस्तसप्ततिसप्तमाराभनिष्प्रकम्पायां चम्पायां पुरि लक्ष्मीमति-
महादेवीवदितस्य वसुधैवकुतूबतिर्यस्य वसुधावतिर्यस्य^१ प्रोपदेहकव^२ श्रेष्ठः । कल प्रियदत्तश्रेष्ठी धर्मपत्न्या गृहलक्ष्मी-
सप्तम्या सकलस्त्रेणगुणधाम्नाङ्गवतीनाम्ना सहस्रा^३प्राप्तेऽष्टाह्नीक्रियाकाण्डकरणायाभंकयकूटकोटिच^४ दितपताकापट-

बुद्धिवाला हों गया था तब उसने अदृश्य होने का अञ्जन बनाना सीखा । जब वह विद्या-सिद्धि में निःशङ्क हुआ तब उसने आकाशगामिनी विद्या प्राप्त की और मुक्त हो गया ॥ १६० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःशङ्कित तत्त्वको प्रकट करनेवाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब निःकाङ्क्षित अङ्ग का स्वरूप कहते हैं—

यदि सम्यग्दर्शन में प्रभाव है तो 'मैं देव हो जाऊँ' 'अथवा यक्ष हो जाऊँ' अथवा 'राजा हों जाऊँ' ऐसी इच्छा का त्याग करना चाहिए । जैसे छोंछ लेकर माणिक्य को बेचनेवाला मानव केवल अपनी आत्मा को ठगनेवाला होता है वैसे ही क्षणिक सांसारिक सुखों के बदले में अपने सम्यक्त्व को बेचनेवाला मानव भी केवल अपनी आत्मा को ठगनेवाला है ॥ १६१-१६२ ॥ जिस धार्मिक सम्यग्दृष्टि के मन में चिन्तामणि है, हस्त में कल्पवृक्ष है और घन में कामधेनु है, उसे याचना से क्या प्रयोजन ? अर्थात्—सम्यक्त्व चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु-सरीखा है, अतः सम्यग्दृष्टि को बिना याचना किये सब मिलता है, ऐसा जानकर इच्छाएँ छोड़ देनी चाहिए ॥ १६३ ॥ जिसकी मनोवृत्ति धर्मलक्षणवाले योग्य स्थान को प्राप्त करके अनाकुल (सांसारिक सुखों से निःस्पृह) हो जाती है उसे सम्पत्तिर्था वैसे स्वयं प्राप्त होती है जैसे नदियाँ समुद्र में स्वयं प्राप्त होती हैं ॥ १६४ ॥ अतः सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए मिथ्यात्व कर्म के उदय से होनेवाली इस लोक व परलोक संबंधी तीन प्रकार की इच्छाएँ (देवता, यक्ष व राजा होने की अभिलाषाएँ) छोड़ देनी चाहिए ॥ १६५ ॥

२. निःकाङ्क्षित अङ्ग में प्रसिद्ध असन्तमति की कथा—

[अब इस विषय में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—]

अङ्गदेश में, समस्त शत्रुओं के साथ होनेवाले युद्ध के प्रारम्भ में कम्पन-रहित (निर्भीक) 'चम्पा' नाम की नगरी है । उसमें 'वसुधैवकुतू' नाम का राजा राज्य करता था । उसकी 'लक्ष्मीमति' नामकी पट्टरानी थी । उसके यहाँ समस्त वणिकों में श्रेष्ठ 'प्रियदत्त' नामका श्रेष्ठी था । उसकी गृहलक्ष्मी-सी व समस्त स्त्रियों के गुणों की स्थान 'अङ्गवती' नाम की पत्नी थी ।

एकवार प्रातः काल में प्रियदत्त सेठ अपनी धर्मपत्नी के साथ अष्टाह्निका पर्व का क्रियाकाण्ड करने

१. अहं भवामि । २. तत्केण । ३. धर्मलक्षणे । ४. मिथ्यादर्शनावरणोद्भूता । ५. देव-यक्ष-राजोद्भवा । ६. समग्रवणिजां मध्ये श्रेष्ठः । ७. क्षीघ्रं सपदि । ८. संयोजित ।

प्रतानाञ्चलजालस्फलितनिलिम्पविमानबलयं सहस्रकूटचैशालयं विद्यासुः स्वकीयसुतावयस्या 'मनङ्गमतीमेवमपृच्छत्—
'वस्ते, अभिवधविवाहपूषणसुभगहस्ते, कथास्ते स^१भुल्लिखितलाञ्छनेन्दुसुन्दरमुखो प्रियसखी तवातीव केलिशीलप्रकृति-
रनन्तमतिः ।' अनङ्गमतिः—'सात,^२ क्षणिवन्दारकदारि^३ कोदगीपमानमङ्गला कृतत्रि^४ मपुत्रकवरव्याजेनात्मपरिण-
यनावरणपरिणामपेशला पञ्जरास्थितशुकसारिकाचवनवाद्यमुन्दरे वा 'साधासपरिसरे समास्ते' । 'समाहूयतामितः' ।
'यथाविशति सातः' । प्रियदत्तश्रेष्ठी वृद्धभावापरिहासालापनपरमेष्ठी समागतं सुतामवलोक्य 'पुत्रि, निसर्गाविलास-
रसोत्तरङ्गा^५ पाङ्गापहसितामृतसर^६ निविषये सर्वेव पञ्चालि^७ काके^८ लिङ्गिलहूव^९ 'ये सं' प्रत्येव तव मन्मथपथाः
परिणयनमनोरथाः । तद्गृह्यतो तावत्समस्तव्रतैश्चर्यं सहाचर्यम् । अत्रैव ते साक्षी भगवानशेषश्रुतप्रकाशना^{१०} शापसूरि-
धर्मकीर्तिसूरिः । अनन्तमतिः—'सात, नितान्तं गृहीतवती । अस्मिन् केवलमत्र मे भगवानेष साक्षी किं तु भवानम्बा
व' । अन्यथा तु

उद्भिन्ने स्तनकुङ्कुमले स्फुटरसे हासे विलासालसे किञ्चित्कम्पित^{११} कृतवाधरभरप्राये वचःप्रक्रमे ।

कावर्षाभिनवास्त्रवृत्तिचतुरे मेवार्थिते विभ्रमे प्रायायेव च मध्य^{१२} गौरवगुणं वृद्धे नितम्बे सति ॥१६६॥

के लिए शोध ऐसे 'सहस्रकूट' चैशालय के प्रति गपगप करने की लज्जुक हुआ, जिसने गगनतल को स्पर्श करने-
वाले शिखरों के अग्रभाग पर संयोजित ध्वजाओं के विस्तृत वस्त्र के प्रान्तभागों के समूह से देवताओं की
विमानश्रेणी स्खलित (रोकी हुई) की है, अतः उसने अपनी पुत्री को सखी अनङ्गमति से पूछा—'नवीन
विवाह के आमूषणों से सुन्दर हाथोंवाली पुत्री ! लाञ्छन-रहित चन्द्रसरी से मुखवाली तुम्हारी विशेष प्यारी
सखी और कीड़ाशील स्वभाववाली पुत्री 'अनन्तमति' कहाँ है ?

अनङ्गमती—'पिताजी ! जिसका मङ्गल श्रेष्ठ वैश्यों की कन्याजनों द्वारा गान किया गया है और
जो गुह्येष्वर के विवाह के बहाने से अपने विवाह करने के अभिप्राय से मनोज है, ऐसी वह अनन्तमति
पिजरे में बैठी हुई तोता-मेना के मुखरूपी वाजे से मनोज निवासगृह के प्राङ्गण में बैठी हुई है ।'

'उसे यहाँ लाओ ।'

'पिताजी जैसी आज्ञा देते हैं ।'

प्रियदत्त सेठ ने, जो कि वृद्ध हो जाने से परिहास-युक्त वार्तालाप करने में विशेष निपुण था, समीप
में आई हुई कन्या को देखकर कहा—'पुत्री ! सदैव गुड्डी से खेलने के लिए पटुतावाले और स्वाभाविक विलास-
रस से उच्छलन करनेवाले नेत्रप्रान्तों से अमृत की छोटी नदी को तिरस्कृत करनेवाले तेरे हृदय में अभी से
कामदेव के मार्गण विवाह के मनोरथ उत्पन्न हो चुके हैं, अतः समस्त व्रतों में श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार
करो । पुत्री ! इस विषय में समस्त आगम के प्रकाशन के अभिप्रायरूपी सुवर्णवाले ये भगवान् धर्म कीर्ति
सूरि तुम्हारे साक्षी हैं ।'

अनन्तमति—'पिताजी ! मैंने सर्वथा ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया और इसमें केवल आचार्य ही
साक्षी नहीं हैं किन्तु आप और माता जी भी साक्षी हैं ।'

अनन्तमति की युवावस्था—उसकी कुचकलियाँ विकसित हो गईं । उसका हास्य, विलास से सुन्दर

१. सखी । २. निर्लाञ्छनचन्द्रवत् । ३. हे मुख्य । ४. कन्याजनः । ५. कीड़ायां । ६. निवासगृहप्राङ्गणे । ७. नेत्रप्रान्ते ।

८. कुलया । ९. पुत्तलिकाः । १०. कीड़ायां । ११. पटुहृदये, पुत्तलिकाकीड़ायां पटुहृदये । १२. ददानीमपि ।

१३. आचार्य एव सुवर्णं विद्यते यस्य सः । सूरि प्राज्ये सुवर्णं चेति विधवः । १४. कम्पितमिथेन । १५. गौरवगुणं

नितम्बेन गृहीतं तेन मध्यं कामं जातं ।

समायाते^१ मुहुःकल्पप्रथमानमन्यो^२न्माधमन्धरसमस्तसर्वस्थान्ते सद्यःप्र^३सूतसहकाराङ्कुरकवलकपायकण्ड-
कोकिलकामिनीकुहारावासरालितमनोजविजये मलयचलमेखलानितीनकिन्नरमिथुनभोह^४नामोदमेधुरपरिसरन्समीरसमुख्ये
विकसत्कोश^५कुरवक^६प्रसवपरिमलपातलुब्धमधुकरोनिकरसङ्कुशस्तारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मर-
स्खलभ्रमतिगतिरनन्तमतिः सह^७सहचरोसमूहेन मदनोत्सवविवसे बोलान्बोलमलालसमानता स्वकीयकपातिशयसंपत्तिर-
ःकृतस्वभावनाङ्गाङ्गविलासः पुकेरीप्रियतमाङ्गुली^८तकामचारप्रचारचेतसा पूर्वोपराकू^९पारपालि^{१०}खोसुन्दरी-
सनभोत्स^{११}क्षधरस्य विजयार्धविमोषरस्य विद्याधरीविनोदपादपोत्पावक्षोण्यः दक्षिणश्रेण्या किन्नरगीतनामनगरनरेन्द्रेण
कुण्डलमण्डितनाम्नाम्बरचरेण निभाषिता^{१२} ।

शृङ्गारसारममृतद्युतिभिन्वुकान्तिमिन्दीवरद्युतिमनङ्गशरांश्च सर्वान् ।

आवाय नूनमियमात्मभुवा^{१३} प्रयत्नात्सृष्टा जगत्प्रयवशीकरणाय बाला ॥१६७॥

और प्रीति-जनक था । जब वह वचन बोलने का आरम्भ करती थी तो उसके ओष्ठपल्लवों में कुछ कम्पन के बहाने से विशेष मनोज्ञता पाई जाती थी । उसके नेत्रों के कटाक्षों के संचार कामदेव के नवीन अस्थों के संचालन में चतुर थे । उसका नितम्बभाग, मध्यभाग (कमर) को गुरुता को लेकर ही मानों—वृद्धिगत हो गया था और इसीलिए मानों—उसका मध्यभाग (कमर) कृश हो गया था ॥ १६६ ॥

जब ऐसा वसन्त ऋतु का अवसर आया, जिसमें समस्त प्राणियों के मन बारम्बार उत्तमार्ग में बढ़ी हुई कामदेव की पीड़ा से चंचल हो रहे थे । जिसमें नवीन उत्पन्न हुई आस्र-मञ्जरियों के भक्षण से कपायले कण्ठ-वाली कोकिलाओं के मधुर कूजन से कामदेव की विजय प्रसारित की गई है । जिसमें ऐसी उन्नतिशील वायु का संचार हो रहा है, जो कि मलयाचल के तट में प्रविष्ट हुए किन्नर देव-देवियों के जोड़ों की सुरत-क्रीड़ा से उत्पन्न हुई सुगन्धि से परिपूर्ण है और जिसमें ऐसी भोरियों के समूह की झङ्कार ध्वनि का उत्तम प्रसरण हो रहा है, जो कि विकसित कलियोंवाले कुरवक-पुष्पों की सुगन्धि के रसपान में लुब्ध (लम्पट) हैं ।

तब ऐसी अनन्तमति एक बार मदनोत्सव के दिन सखियों के समूह के साथ झूला झूलने के लिए उत्कण्ठित मनवाली होकर उपवन (बगीचा) में गई, जिसमें कामदेव का विकार उत्पन्न हो रहा है और जिसकी वृद्धि की गति कामदेव से स्खलित हुई है एवं जिसने अपनी विशेष लावण्य सम्पत्ति से समस्त लोक की स्त्रियों के शारीरिक अङ्ग-विलास को तिरस्कृत किया है ।

उसी अवसर पर उसे ऐसे कुण्डल मण्डित नाम के विद्याधर ने देखा और उसे चाहने लगा, जिसने यथेष्ट संचार में चित्त लगाया था और जो सुकेशी नाम की पत्नी के साथ आया था एवं जो पूर्व-पश्चिम समुद्र-की बीच (तरङ्ग) रूपी कमनीय कामिनीवाली तटी के धारक विजयार्ध पर्वत की विद्याधरियों के विनोदरूपी वृक्ष की उत्पत्ति भूमिवाली दक्षिण श्रेणी में स्थित हुए 'किन्नरगीत' नाम के नगर का स्वामी था ।

इसके पश्चात् वह इसके रूप लावण्य से मोहित होकर निम्न प्रकार विचार करने लगा—

'ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने तीन लोक को यश में करने के लिए शृङ्गार का सार, अमृत की तरलता, चन्द्र की कान्ति, नील कमल की शोभा और कामदेव के समस्त बाण ग्रहण करके ही इस बाला की सृष्टि (रचना) स्वयं विशेष प्रयत्न से की है' ॥ १६७ ॥

१. वसन्ते । २. पीड़न । ३. उत्पन्न । ४. सुरत । ५. मध्य । ६. भोगरसवृक्ष-रक्तसुगन्धपुष्पविशेषः । ७. सखी ।

८. कृतस्वच्छाचारगमनचित्तेन । ९. समुद्रः । १०-११. बीच । बाला एव स्त्री-सहिततटी । १२. वृष्टा ।

१३. प्रहृष्टता ।

इति विविक्त्याभिलषिता च । ततस्तामपजिह्वीर्विषयन^१ मुहुनिवृत्त्य^२ निर्वर्तितनिजनिशप्रसुक्तेशोनिवेशेन प्रत्यागत्यापहृत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगनगार्वाङ्गे—प्रतिमिधुतकुपितसुकेशीदर्शनाशङ्किताशयेन तत्कामसंक्रमिता-
बलीकृतापणलघावच्छादयेन शङ्खपुराभ्यर्च्यभाणिन भोमवननामनि कामने मुक्ता । तत्र च मृगयाप्रशंस^३नमागतेन भीम-
नाम्ना किरातराजलक्ष्मीसीम्नावलीकिता, नीता क्षोपान्तप्रकोणेंद्रगुबी^४ फलच्छलित पल्लिम्^५ । एतद्रूपदर्शनदोषमदन-
मदेन च तेन स्वतः परतश्च तंस्तरुपायरात्मसंभोगसहायैः प्रार्थिताप्यसंजातकामिता हठात्कृतकठोरकामोपक्रमेण तत्परि-
गृहीतव्रतस्थैर्याश्चर्यितकान्तरदेवताप्रातिहार्यात्प^६र्णपमवणप्लोयेण सृष्टमुहेतुकातङ्कपावकपच्यमानशरीरेण च 'मातः,
क्षमस्वैकमिममपराधम्' इत्यभिधाय अनेचरोपचारोपचीयमानसहजरीचितोत्कण्ठे शङ्खपुरपर्यन्तपर्वतोपकण्ठे परिहृता
तत्समीपसमावासितसार्धानीकेन पुष्पकनामकेन अग्निधत्तिपाकेना^७वल्लोकिता सती स्वीकृता च तेन,^८ तेन चार्धेन स्वस्य
वशमानेतुमसमर्थेन कौशलदेशनप्यायामयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपल्लवकन्दल्याः शंकल्लयाः^९ समर्पिता ।
तयापि मदनमधसंपादनःवसथाभिः कथाभिः क्षोभयितुमशक्या तदा^{१०}जधानीवि^{११}निवेशस्य सिंहमहीशस्योपायनोक्ता^{१२} ।

इसके पश्चात् उसकी बुद्धि इसे अपहरण करने की इच्छुक हुई । पश्चात् वह अपने गृह को और लौटा
और अपनी पत्नी सुकेशी को अपने गृह में ठहराकर वापिस उसी उद्यान में आकर अनन्तमति को अपहरण करके
अपने विद्याधर नगर की ओर चल दिया । परन्तु जब इसने आधे आकाशमार्ग से वापिस लौटी हुई और कुपित
हुई अपनी पत्नी सुकेशी को देखा तो इसका हृदय भयभीत हुआ । अतः इसने अनन्तमति के शरीर में 'अव-
लोकिनी' और 'पर्णलघु' नामकी दो विद्याएँ संक्रमण कराईं । पश्चात् उन दोनों विद्याओं ने अनन्तमति को
शङ्खपुर के निकटवर्ती 'भीमवन' नामके वन में छोड़ दिया ।

वहाँ पर शिकार-क्रीड़ा के लिए आये हुए भीलों की राज्यलक्ष्मी के मर्यादाभूत भिल्लराज भीम ने
उसे देखा और वह उसे इन्द्रगुदी फलों की लताओंवाली भीलों की स्थानीभूत पर्णकुटी (झोंपड़ी) में ले गया ।
इसके रूप लावण्य को देखकर भिल्लराज का काममद प्रदीप्त हो गया, अतः उसने स्वयं व दूसरों की सहायता
की अपेक्षावाले व अपने भोग में सहायता देनेवाले अनेक उपायों से अनन्तमति से प्रार्थना की, किन्तु उसमें
कामवासना उत्पन्न नहीं हुई । अतः उसने इससे बलात्कारपूर्वक कठोर कामरूपी रोग का इलाज किया, परन्तु
इसके द्वारा धारण किये हुए ब्रह्मचर्य व्रत की निश्चलता से आश्चर्य-चकित हुई वनदेवता के माहात्म्य से
भिल्लराज की पूरी झोंपड़ी अग्नि से दग्ध कर दी गई, अतः जब भिल्लराज भीम का शरीर मृत्यु-जनक मय-
रूपी अग्नि से जलने लगा तो उसने कहा—'माता ! मेरे इस एक अपराध को क्षमा करो !' बाद में उसने
इसे शङ्खपुर के निकटवर्ती पर्वत के समीपवर्ती स्थान पर छोड़ दी, जो कि भीलों द्वारा की जानेवाली सेवा-
गुश्रूपा से उनकी भिल्लनियों के चित्त की उत्कण्ठा वृद्धिगत करनेवाला है ।

बाद में अनन्तमति को वणिक् पति के पुत्र 'पुष्पक' ने देखा, जिसके द्वारा उक्त पर्वत के निकट
व्यापारियों की समूहरूपी सेना बसाई गई है, परन्तु वह घनादि देकर उसे वश करने में असमर्थ रहा तब उसने
उसे कौशल देश की मध्यवर्ती अपोध्या नाम की नगरी में रहनेवाली कामरूपी पल्लव की कन्दली-सरीखी
'व्यालिका' नामकी वेश्या के लिए समर्पण कर दी । जब वह वेश्या भी काम के दर्प को उत्पन्न करने की स्थानी-
भूत कथाओं से उसे ब्रह्मचर्य से डिगाने में असमर्थ हुई तब उसने इसे उस देश की राजधानी में निवास करने-

१. अपहर्तुमिच्छुमतिना । २. व्यावृद्धय । ३. कोडां प्रति । ४. हिगोरक । ५. भिल्लालयपर्णकुटी । ६. परिपूर्णप-
ल्लिदाहेन । ७. पुत्रेण । ८. वणिक्पुत्रेण । ९. कुट्टिग्याः । १०-११, तदाजधान्यां विनिवेशो निवेशः स्थानं
यस्य सः तस्य । १२. प्राभूतीकृता ।

तेनाप्यलब्धतन्मनःप्रवेशेन विलक्षिताक्षितदुरभिसंविता^१ तत्कन्यापुष्पप्रभाप्रेरितपुरवेष्टतापावितागतःपुरपुरीतरिजनाप-
कारविधिना साधु संश्लेष्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा *विसृष्टा पितृधनुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुवर्चार्हदत्तस्य
पुण्यहोतनामवृत्तस्य^२ जिनेन्द्रदत्तस्योद्वसितसमीपवर्तिनं^३ चिरतिर्ध्वत्वालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकं-
विधिभिः अपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती^४ तस्मादङ्गदेशनगराज्जिनेन्द्रदत्तं चिरविरहोत्तालं श्यालं^५ विलोकितुमागतेन
प्रियवत्तश्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलाषमोषयक्षकषा सा विहितबहुगुणा पुनः प्रस्थाप्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुतायार्हदत्ताय
दातुमुपकान्ता—‘तात, तं भवन्तं भगवन्तं भवन्तं पितरं भातरं च तां प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थं^६ व्रतपरिग्रहा । ततः
कथमहमिदानीं विवाहविषये परिकल्पनीया’ इति निगीर्य कमलधरीसकाशे चिरतिविशेषव्यंशरत्नप्रयकोशमभजत् ।

हासापितुश्चतुर्थोऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता । कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं तावताभाविशत् ॥१६८॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षितस्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः ।

वाले ‘सिंह’ नाम के राजा के लिए भेंट कर दी । परन्तु जब राजा सिंह भी अनन्तमति के हृदय में स्थान न
पा सका तब उसने इसके साथ दुष्ट अभिप्राय का ग्रहण किया (बलात्कार करना चाहा) तब उस कन्या के
पुण्य के प्रभाव से प्रेरित हुए नगर देवता ने उस राजा के अन्तःपुर की रानियों व नगरवासियों तथा राज-
सेवकों को नाना प्रकार के कण्ठ देकर भजे प्रकार उसको रक्षा की तब राजा ने अनन्तमति को ब्रह्मचर्य-व्रत
में स्थिर चित्तवाली समझकर छोड़ दिया ।

इसके पश्चात् वहाँ से प्रस्थान करके वह अपने पिता की बहिन ‘सुदेवी’ नामवाली के पति और
‘अर्हदत्त’ के पिता सार्थक नामवाले जिनेन्द्रदत्त के गृह के समीप में स्थित आश्रिकाओं के निवासवाले चैत्या-
लय में प्राप्त हुई । वहाँ निवास करती हुई उसने यम, नियम व उपवासपूर्वक विद्वानों से अपनी इन्द्रियवृत्ति
व मनोवृत्ति की चंचलता क्षीण की । एक दिन अङ्गदेश की ‘चम्पा’ नगरी से चिरकालीन विरह से व्याकुलित
हुए अपने साले जिनेन्द्रदत्त सेठ को देखने के लिए आये हुए इसके पिता ‘प्रियवत्त’ सेठ ने विषयों की लालसा
के त्याग से रूक्ष केशोंवाली अपनी पुत्री अनन्तमति को देखकर विशेष शोक किया । इसके बाद आकर जब
उन्होंने अपनी पुत्री अनन्तमति का विवाह जिनेन्द्रदत्त सेठ के पुत्र अर्हदत्त कुमार के साथ करने का आरम्भ
किया तब पुत्री अनन्तमति ने कहा—‘पिताजी ! जब मैंने पूज्य आचार्य (धर्मकोटि) और माता-पिताकी साक्षी-
पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा आजन्म ग्रहण की है तब आप इस समय मेरा विवाह-संस्कार कैसे कर सकते हैं ?’

ऐसा कहकर उसने कमलधरी नाम की आश्रिका के समीप आकर विशेष आश्रिकाओं के वंश (कुल
व पञ्चान्तर में बाँप) की, रत्नवय (सन्मरदर्शन ज्ञानधारिणी का ज्ञान रत्न) रत्न निधि प्राप्त की अर्थात्—
आश्रिका की दीक्षा धारण की ।

इसके विषय में एक दलोक है, उसका अर्थ यह है—

अनन्तमति ने, अपने पिता के हास्यजनक वचनों से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया । पुनः
विषयों की इच्छा का त्याग करती हुई उसने तप करके आयु के अन्त में बारहवें स्वर्ग में प्रविष्ट हुई । अर्थात्—
स्त्रीलिङ्ग-छेदकर बारहवें स्वर्ग में देव हुई ॥ १६८ ॥

इस प्रकार सोमदेव सूरि के उपासकाध्ययन में निःकाङ्क्षित-तत्त्व को बतलानेवाला आठवाँ कल्प
समाप्त हुआ ।

१. गृहीतदुष्टाभिप्रायेण । * . समर्पिता । २. यथार्थनाम्नः । ३. आश्रिका । ४. संजायमाना । ५. मैथुनकः
६. व्रतचर्यम् ।

तपस्तीक्ष्णं जितेन्द्राणां नेदं^१ 'संचातमण्डिरम् । अयोपवादि^२ सेत्येवं चेतः स्याद्विचिकित्सता^३ ॥१६९॥
स्वस्थं हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः धृताश्रयम् । शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तव^४ वा निबोधितुम् ॥१७०॥
स्वतः शुद्धमपि व्योम बोध्यते मन्त्रादीन्मयम् । नान्ये लोकोऽस्त्य^५ किं न स्यात्तस्योद्यमस्य^६ राक्षसः ॥१७१॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते । स लोहे कालिकालोकान्नूनं मुञ्चति काष्ठघनम् ॥१७२॥
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिर्विद्यायामनोहरः । अन्तर्विधार्यमाणः स्याद्विषुम्बरफलोपमः ॥१७३॥
तदेतिहो^७ च वेहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम् । उद्देगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रवर्तताम् ॥१७४॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिभ्रूताधिबोधमार्गत्रयप्रवृत्तमतिमन्दाकिनीसान्द्रः सौधर्मेन्द्रः किल सकलसुरसेवा-
सभावसरसमये सम्पदस्वरत्नगुणान्गोर्वाणगणानुग्रहायोदाहरन्निबान्तीमिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य

[अथ निर्विचिकित्सा अङ्ग का निरूपण करते हैं—]

'जैन तीर्थङ्करों द्वारा कहा हुआ यह उग्र तप सत्यता का मन्दिर न होने से प्रशंसनीय नहीं है एवं यह तपस्वी वस्तु सदोष है' इस प्रकार के मानसिक अभिप्राय को विचिकित्सा-ग्लानि कहते हैं ॥ १६९ ॥ जो विवेकहीन मानव शास्त्र-निरूपित शील (सदाचार या व्रतों का परिरक्षणरूप आचार) के पालन में या उसका अभिप्राय समझने में असमर्थ है, इसमें निश्चय से उसी मानव का दोष समझना चाहिए न कि शास्त्र का ॥ १७० ॥ क्योंकि स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन देखा जाता है, इसमें आकाश का कोई दोष नहीं है किन्तु देखनेवाले के नेत्रों का ही दोष (काच-कामलादि) है ॥ १७१ ॥

जो मानव धार्मिक महापुरुषों की शारीरिक मलिनता देखकर उनको रत्नत्रय- (सम्यग्दर्शन-आदि) धारक आत्मा से घृणा करता है, वह निश्चय से लोहे का कालापन देखकर सुवर्ण को छोड़ देता है । भावार्थ—जैसे लोहे के कालापन का सुवर्ण से कोई संबंध नहीं वैसे ही शरीर की मलिनता का आत्मा से कोई संबंध नहीं है; अतः धार्मिक मुनियों के शरीर की मलिनता देखकर उनकी आत्मा से घृणा नहीं करनी चाहिए ॥ १७२ ॥ निरसन्देह अपना या दूसरों का शरीर बाहरी चमड़े की कान्ति से मनोज्ञ प्रतीत होता है परन्तु इसकी भीतरी हालत (रक्त-आदि) का विचार करने पर तो यह उदम्बर फलों-सरीखा है ॥ १७३ ॥ अतः आशुपदेश रूप आगम को प्रमाण मानते हुए और उसके आधार से शरीर का यथार्थ स्वरूप निश्चय करनेवाले सज्जन पुरुषों की मनोवृत्ति धार्मिक पुरुषों की शारीरिक मलिनता देखकर उनसे ग्लानि करनेवाली कैसे हो सकती है ? भावार्थ—आचार्यों ने कहा है कि यह शरीर रस-रक्त-आदि सात धातुमय होने से मलिन है, परन्तु उसमें सम्यग्दर्शन-आदि रत्नत्रय की धारक आत्मा रहती है, अतः मुनि-आदि महापुरुषों के शरीर से ग्लानि न करते हुए उनके आत्मिक गुणों में अनुराग करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है ॥ १७४ ॥

निर्विचिकित्सा अङ्ग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा—इस संबंध में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—

मति, श्रुत व अवधिज्ञानरूपी तीन भागों से प्रवृत्त हुई बुद्धिरूपी मन्दाकिनी—गङ्गा-से कोमल हुए सौधर्मेन्द्र ने समस्त देवों द्वारा सेवनीय सभा में प्रसङ्ग के समय देव-समूह का अनुग्रह करने के लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के गुणों का निरूपण करते हुए कहा—'इस समय 'इन्द्रकच्छ' नाम के देश में 'रोरुकपुर' नामका नगर है, जिसका दूसरा नाम मायापुरी भी है । उसमें 'प्रभावती पट्टरानी के विनोद का स्थान 'उदायन' नामका

१. इदं किञ्चित् श्लाघ्यं न २. सवोषं अदः एतद् वस्तु । ३. 'विचिकित्सना' मु० व ह० लि० 'ख' । ४. अन्वयः—यत् धृताश्रयं शीलमाश्रयितुं तवर्थं वा निबोधितुं-जन्तुः न शक्तः स स्वस्थं हि दोषः । ५. शीलार्थं आचरणप्रयोजनं ज्ञानुसमर्थो वा । ६. नभसः । ७. नेत्रस्य संबंधी । ८. शास्त्रेणादिसिद्धान्ते ।

रौद्रकपुरस्य प्रभोः प्रभावतीमहादेवीविनोदायतनादौद्गायनाभेविनोपतेः सहानशरीरगर्भचिकित्सायामपरः कोऽपि शान्ति-
मतिप्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षवैश्रणाक्षसुणपात्रे मत्पक्षेत्रे नास्तीत्येतच्च वासवसंज्ञेशस्त्रिदशः पुरं चरोवितासहमानप्रज्ञस्तत्र
महामुनिसमूहप्रचारप्रचुरे नगरेऽवतीर्थं सर्वाङ्गा^१धिनाप्रतिष्ठ^२कुष्ठकोष्ठकं^३निष्ठचूत^४इवोद्रेकोपवृत्तवेहमखिलवेहि-
संबोहोद्वेजनं श्वषेक्षणप्राण^५गरणविनिर्गलधर्मल^६कुण्ठपूयप्रवाहमूर्धस्फुटितस्फोट^७स्फुटचेष्टितानिष्ठमक्षिकाक्षिप्ता-
शेषशरीरमभ्यन्तरोच्छ्व^८ययुकोयो^९सरङ्गस्वगन्तरालप्रलीनातिलतन्म^{१०}सीरभविच्छिन्नो^{११}मू^{१२}ध्वस्तुच्छकच्छ^{१३}च्छ-
न्न^{१४}सृक्क^{१५}सारि^{१६}नीसर^{१७}स्ततलालाखावममवरतलीतः^{१८}सुतातीसारसंभूत^{१९}बीभत्सभावमनेक^{२०}शोविशि^{२१}संसिखो-
त्पात^{२२}निपाताधिता^{२३}शुचिराशिदुर्गशेषपुष्यमृषिवेषमावायावमामा^{२४}वनीपतिभवनमभजत् । स्रुपतिरपि सप्ततलारब्धसौष-
मध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिवशाधोनं विध्वाणा^{२५}ध्ये^{२६}धणाय निजनिलयमा^{२७}लीयमानमबलोक्य सौत्सुक्यमागत्य

राजा है । उसके-सरीखा सम्यग्दर्शन रूपी शरीर के रोग का इलाज करने में व ग्लानि न करने में क्षमा रूपी बुद्धि का प्रसार करने वाला दूसरा कोई व्यक्ति मुक्ति रूपी लक्ष्मी के कटाक्षों के देखने के लिए परिपूर्ण पात्र-स्वरूप इस मनुष्य लोक में नहीं है ।

जब 'वासव' नाम के देव ने उक्त बात श्रवण की तब उसकी बुद्धि इन्द्र की बात सहन करने में अशक्य हुई । इसलिए वह उसकी परीक्षा करने के लिए महामुनिसमूह के विहार भी बहुलतावाले रौद्रकपुर में आया और उसने अपनी विक्रिया से ऐसा कोढ़ी मुनि का रूप धारण किया, जिसमें उसके समस्त अङ्ग सर्वाङ्गीण व्याधि (रोग) से अशोभन कोढ़ के संग्रहागार थे । जिसका शरीर थूके हुए कफ की बहुलता से पीड़ित था जिसे देखकर समस्त प्राणी-समूह को ग्लानि उत्पन्न होती थी । जिसमें उसके श्रोत्र, नेत्र, नासिका व गले के छिद्रों से निरन्तर दुर्गन्धि पोष-प्रवाह प्रवाहित हो रहा था—बह रहा था । जिसके समस्त शरीर पर बड़े बड़े पके हुए फोड़े प्रकट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे थे एवं उनके पकने-फूटने-आदि के कारण समस्त शरीर पर अनिष्ट मखियाँ भिनभिना रही थीं । जिसके समस्त नख व नासिका [कुष्ठ रोग के कारण गल जाने से] से] भीतरी सूजनवाले व विशेष पीड़ा-जनक त्वचा के मध्यभाग में विशेष रूप से प्रविष्ट हो गए थे—घुस गये थे । जिसके निरन्तर उठने वाली तीक्ष्ण खुजली से व्याप्त हुए ओष्ठों के पर्यन्त भाग रूपी नदी से निरन्तर राल टपकती थी । जिसमें निरन्तर मल-द्वार से निकली हुई गाँव व मल से धूणा उत्पन्न होती थी और नगर की गलियों के अग्रभाग पर ऊपर नीचे गिरने से निकली हुई मूथ- (विष्ठा) श्रेणी के कारण जिसका शरीर दुःख से भी देखने के लिए अशक्य था ।

पुनः वह भोजन करने के लिए राज-भवन में गया । अपने सतमँजिले राजभवन में बैठे हुए राजा ने जैसे ही असाध्य रोग से पीड़ित बुद्धि के अधीन हुए और आहार ग्रहण करने के लिए राजभवन की ओर आते हुए उस साधु को देखा तो वह बड़ी उत्कण्ठा के साथ आया और उसे पढ़ गाहा । पश्चात्-निर्भोक मन व चरित्रवाला राजा कुत्रिम (वनावटी) रोग रूपी अग्नि से पराधीन चित्तवाले और बार-बार पृथिवीतल पर गिरते हुए एवं अत्यन्त असाध्य खुजली की उत्पत्ति से जर्जरित शरीरवाले उस मुनि केषधारी

१. अङ्गानां सु० व० च । परिपूर्ण । २. उद्गायननृपादन्यः । ३. गमनव्यापारवृत्ति । ४. व्याधिना-रोगेण । ५. अशोभित । ६. ईदृगुणिवेगं । ७. निष्ठीवन । ८. गरणो गलः । ९. अनवरतं । १०. फोड़ा । ११. सोजू शेषः । १२. कोथस्तु नेत्ररुग्भेदे भयने शक्तितेऽपि च । १३. नासिका । १४. उत्पद्यमान । १५. पामा । १६. आच्छादित । १७-१८. ओष्ठपर्यन्त एव सारिणी नदी । १९. स्रवत् । २०. मलद्वारवत् । २१. उत्पन्न । २२. बहुवारं । २३. वीथी । २४. उत्पातनिपाता उत्पत्तनिपतनक्रियाः । २५. मूथश्रेणि । २६. आहाराय । २७. विध्वाणं भोजनं । २८. अध्येषणमधिता, आहार-अधितायै-ग्रहणाय । २९. आगच्छन्तं ।

स्वोक्तस्य च कृत्रिमास^१ ऊपायकपरवशात्स्वनि^२ सं मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुष्ठितमन^३ इच्छरिजः प्रकामकुर्जयस्वर्जना^४ अंतजर्ज
रितगात्रं साधमोरपङ्कपिञ्जरेण भुजपञ्जरेणो^५ दानीयानीय चा^६ शनवेदमोदरं स्वयमेव समाचरितोचितोपकारस्तदभि-
साधोन्मेषसारंराहारंरपशास्ताशना योत्कण्ठमाकण्ठं भोजयामास ।

मायामुनिः पुनरपि तन्मनोजिज्ञा^७ समानमानसः प्रसभमतिगम्भीरगलगुहाकुह^८ रोज्जि^९ हानघोरघोषाति-
घातघन^{१०} धूणितापघन^{११} सप्रतिघ^{१२} चावमीत् । भूमिपतिरपि आः, कष्टमजनिष्ट, यन्मे मन्दभाग्यस्य गृहे गृहीताहारो-
पयोगस्यास्य मुनेर्मनःश्लेषपादपवि^{१३} तदिच्छद्भिः समभूत् इत्युप^{१४} कुष्टानिष्टघोष्टतघ्नमानमात्मन विनिन्दन्मायामयमक्षि-
कामण्डलितकपोलरेखादेतन्मुखावसराललाजामिलन्तमन्मभिन्वि^{१५} रारविश्वोदरसौन्दर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनावापावाय मेद्विर्या-
मुवसृजत्^{१६} । पुनश्चोद्गीर्णोकीर्णकुर्वर्क^{१७} रतिकरे भूमिम्^{१८} भनिर्भरारम्भपतितशरीरं सप्रयत्नकर^{१९} स्थामसीमं सपुत्याप्य
जलजनितकालनप्रसङ्गभुतरोयपुक्साञ्चलविलुप्तसलिलसङ्गमङ्गलसंवाहनेनानुकम्पजविभानोदितवचनरचनेन च साधु समा-
श्वासयत् । तदनु^{२०} प्रमोदाभूतामन्वहदयालबालप्रलओलसत्प्रीतिलताश्रिः सुरचरोमुनिर्यथैवायं सहर्शनध्वणोत्काण्ठितहृदि
त्रिबिधो^{२१} स्थावि परिधवि परगुणग्रहणाप्रभुनिधानेन विबुधप्रधानेन प्राग्यराज्यस^{२२} मज्ज्याज्ज्वलजितजगत्त्रयोनिजनान्धेयप्रसिद्धि-

को तरलकेसर-सरीखे सुनहले भुजा रूप पञ्जर से उठाकर भोजनशाला के मध्य लाया और स्वयं उसका उचित
उपचार करने लगा एवं उसकी इच्छा की उत्पत्ति से मनोज्ञ आहारों से कण्ठ तक ऐसा भोजन कराया, जिसमें
उसकी भोजन की इच्छा शान्त हो गई ।

पश्चात् राजा का मानसिक अभिप्राय जानने के इच्छुक मनवाले उस मायावी—बनावटी मूर्ति ने
ऐसा विशेष वमन (उल्टी) किया, जिसमें अत्यन्त गंभीर गलेरूपी गुफा के छिद्र से बाहिर आ रहे भयानक
शब्दों के परस्पर ताड़न की अधिकता से उसका शरीर कम्पित हो रहा था और जो निर्विघ्न (बाधा-रहित)
था । उक्त घटना को देखकर राजा ने कहा—‘आः । मुझे महान् कष्ट उत्पन्न हुआ, क्योंकि भाग्यहीन मेरे गृह
में आहार ग्रहण करने वाले इस मुनि को मेरे मानसिक खेदरूपी वृक्ष को बढ़ाने के लिए वेदिका-सरीखी उल्टी हुई ।’
इस प्रकार निन्दनीय व अनिष्ट चेष्टा के मार्गरूप अपनी आत्मा की निन्दा करता हुआ वह राजा
मायामयी भविष्यों के झुंझसे को हुई गालों की रेखा वाले इस मुनि के मुख से निकला हुआ व निरन्तर बहने वाली
लार से सना हुआ अन्न अपने हाथों की दोनों अंजुलियों से, जो कि लक्ष्मी वाले कमल के मध्य में रहने वाले
सौन्दर्य-सरीखी हैं, बार बार उठा उठाकर भूमि पर फेंकने लगा । पश्चात् वमन किये हुए व प्रकट हुए दुर्गन्धित
बोदन-समूह पर मायामयी—बनावटी मूर्च्छा के विशेष आरम्भ के कारण गिरे हुए शरीर वाले साधु को
प्रयत्न-सहित हाथों के बल की सीमापूर्वक उठाया । पुनः उसने उसे जल से धोने का प्रसङ्ग (संबंध) किया और
दुपट्टे के कोने से सूखा कर दिया । पुनः पगचम्पी द्वारा और दयालुता के विधान वाले योग्य वचन बोलकर उसने
उसे अच्छी तरह आश्वासन दिया ।

पुनः राजा को वैयावृत्य देखकर मुनिवेषधारी उस देव के प्रमोदरूपी अमृत से परिपूर्ण हृदयरूपी
क्यारी-समूह में प्रीतिरूपी लता स्थान पाकर लहलहाते लगी । फिर उसने विचार किया—‘सम्यग्दर्शन के श्रवण
में उत्कण्ठित हृदयवाली देवों की सभा में दूसरों के गुणों को ग्रहण करने के आग्रह की निधिरूप इन्द्र ने बहुत

१. रोग । २. आस्वनितं मनः । ३. चित्तं । ४. उत्पत्तिः । ५. उद्घृत्य । ६. रसवतीगृह-मध्यं । ७. उपशान्ता
अशनाय उत्कण्ठा यस्य । ८. ज्ञातुमिच्छन् । ९. विवरात् । १०. उद्गच्छन्तः ये घोराः शब्दाः तेषां परस्परताडनं ।
११. बहुलं । १२. शरीरं । १३. निर्विघ्नं शान्तः (उल्टी) । १४. वेदिका । १५. निन्दनीय चेष्टा ।
उपकुष्टं सुप्तं । १६. श्रीः । १७. परित्यक्तवान् । १८. बोदनसमूह । १९. भूमिः धूर्तत्वं, मायाभ्रमता । २०. स्थाम
धलं । २१. ततः पश्चात् । २२. देव । २३. कीर्तिः ।

यद्योक्तसम्यक्वाचि^१गमाध्वमे^२बुद्धिश्च^३ वर्णितस्त्वयंवायं मया महाभागो निर्वर्णित इति विचिन्त्य प्रकटितात्मरूप-
प्रसरस्समवनीश्वरममरतदप्रसूनवर्णान्वबुधुभीतादोपघातशुचिभिः^४ साधुकारपर^५व्याहारावसरशुचिभिरवारंरूपचारं^६-
निमित्तविषय^७संभूतशुभिसंनोभिलषितसंपादनजिष्णुभिस्तैस्तैः पठित^८मात्रविधे^९यविद्योपदेशगर्भैर्वत्प्रसवर्भेदच संभाव्य सुरसेव्यं
देशमाविवेश ।

अवति आत्र इलोकः—

बालवृद्धगवत्यानाम्मुनीनांदायनः स्वयम् । भजन्निविचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरंदरात् ॥१७५॥

इत्युपासकाध्ययने निविचिकित्सासमुत्साहो नाम नवमः कल्पः ।

अन्तर्बु^{१०}र^{११}स्तसंधारं बहिराकारमुन्वरम् । न भद्ध्यत् कुवृष्टीनां भर्तं कृपाक^{१२}संनिभम् ॥१७६॥

धु^{१३}तिशाक्य^{१४}शिवा^{१५}म्नायाः क्षौत्रमांसासवाध्याः । यवन्ते^{१६}सख^{१७}मोक्षाय विधिरश्रेतवन्धवः ॥१७७॥

भूमिभ^{१८}स्मजटाचोटयोगपट्टक^{१९}टासनम् । मेक्ष^{२०}लाप्रो^{२१}क्षणं भुवा^{२२}बृसीवण्डः करण्डकः ॥१७८॥

बड़े राज्य की कीर्ति की प्राप्ति से तीन लोक में अपने नाम की ख्याति प्राप्त करने वाले व यद्योक्त सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से धारणीय बुद्धिवाले इस राजा को जैसा इलाधित—प्रशंसा-युक्त किया था वैसा ही मैंने इस महा-भार्यशाली को प्रत्यक्ष देखा । ऐसा सोचकर उसने अपना असली रूप का प्रसार प्रकट कर दिया । एवं उसने ऐसी महान् सेवा-शुश्रूषाओं से राजा को विशेष सन्मानित किया, जो कि कल्पवृक्षों से होनेवाली पुष्प-वृष्टि व आनन्दभेदी की ध्वनि के आघात से पवित्र हैं, एवं जो इलाधित शब्दों की बेला से पवित्र हैं, और उसने उसे मन्त्र के पाठमात्र से स्वाधीन होनेवालों विद्याओं के उपदेश-सहित दिव्य वस्त्रों से सन्मानित किया । अर्थात्—उस देव ने उदायन राजा के लिए रोहिणी प्रज्ञप्ति-आदि विद्याएँ दीं और दिव्य वस्त्र-समूह भी प्रदान किये । जो कि (विद्याएँ व वस्त्र) देवों के स्वर्ग में उत्पन्न हुई हैं और उसकी मनोकामना पूर्ण करने वाली हैं । बाद में वह स्वर्ग-लोकको प्रस्थान कर गया ।

इस विषय में एक श्लोक है—उसका अभिप्राय यह है—‘बाल, वृद्ध और रोग-पीड़ित साधु पुरुषों को स्वयं सेवा-शुश्रूषा करनेवाला और सम्यक्त्व के निविचिकित्सा अङ्ग को पालन करनेवाला राजा उदायन इन्द्र से प्रशंसित हुआ ॥ १७५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में निविचिकित्सा अङ्ग में उत्साह-बुद्धि करनेवाला नौवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब अमूढदृष्टि अङ्ग का निरूपण करते हैं—]

ऐसे मिथ्यादृष्टियों (बौद्ध-आदि) के मत में श्रद्धा नहीं करनी चाहिए, जिसके मध्य में दुष्ट अभिप्राय व निन्द्य आचार भरा हुआ है, किन्तु जो बाह्य रूप में मंगोज्ञ प्रतीत होता है और जो विपक्व-सरीखा कष्टप्रद है ॥ १७६ ॥ वैदिकमत मधु-सेवन का विधान करनेवाला है और बौद्धमत मांस-भक्षण का विधान करता है एवं शैवमत मद्यपान को स्वीकार करता है । वैदिकमत और जीवमत में यज्ञ (अश्वमेध-आदि) द्वारा मोक्ष-निमित्त विधि की जाती है, उसमें मधु व मांस-आदि का प्रयोग है ॥ १७७ ॥ दूसरों को बोखा देनेवाला माया-

१. प्राप्तिः । २. धारणीयबुद्धिः । ३. इलाधितः । ४. दृष्टः । ५. पवित्रः । ६. शब्द । ७. देव । ८. उत्पादकः । ९-१०. मंत्रपाठमात्रेण स्वाधीनविद्योपदेशसहितः वस्त्रैः, अर्थात्-वस्त्राणि दत्तानि, रोहिणी प्रज्ञप्तिपशुतिकाः विद्याश्च इत्यादि । ११. अभिप्राय आचारः । १२. महाकाष्णकलसदृशः । १३. वेदे लोदस्वीकारः । १४. बौद्धमते मांशाम्नायः । १५. शैवमते मद्यं । १६. शैवमते । १७. मखेन यज्ञेन कुर्यात् मोक्षनिमित्तं विधिः क्रियते । १८. भूमि परवंचनकरः आढम्बरः । १९. गोमयलेपनं । २०. तुणकटे उपवेशनं । २१. कटीविषये पट्टवन्धनम् । २२. अम्मोज्जर्णं । २३. हस्ते मुद्रिका डीभा वा बाहौ । २४. पाटली आपादे जतिर्ना दण्डः, पट्टकः कुशासनम् ।

को^१ न^२ ज्ञातः तत्त्वज्ञः^३ विदुः^४ तत्त्वज्ञः^५ ! अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥१७९॥

को देवः किमिदं ज्ञातं किं तत्त्वं कस्तपःकमः^६ ? को बन्धः कस्य मोक्षो वा यस्तत्रेवं न विद्यते ॥१८०॥

आप्तानमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धाणि देहिषु^७ । नाभिजात^८ फलप्राप्त्यं वि^९ जातिष्विव जायते ॥१८१॥

तत्संस्तवं^{१०} प्रशंसां वा न कुर्यात् कुदृष्टिषु । 'ज्ञानविशा' नयोस्तेषां विपश्चिन्त च विधमेत् ॥१८२॥

अयत्तानत्रोपाख्यानम्—मुक्ताफलमञ्ज^१रीधिराजितविलासिनीकणकुण्डलेषु पाण्ड्यमण्डलेषु पौरमुष्याचार-
विद्वरितद्वरितविधुरायां^२ *दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारा^३वारपारगमवभिषोषाम्बुधिमश्यासाधितसकलभुवनभागम्,
१०अष्टाङ्गमहानिमित्तसंपत्तिसर्माधिकषिषणाधिकरणम्, अस्मिन्ममनसंघासिहोपाख्यानचरणम्, अस्याश्चर्यतपश्चरणगोचरा-

चार-पूर्ण आढम्बर, शरीर पर भस्म लपेटना, जटाजूट का धारण, वस्त्रविशेष का धारण, दर्भासन पर बैठना, दर्भ-सूत्र को कमर में धारण करना, प्रोक्षण (भूमि-शुद्धि के लिए जल व दुग्ध-आदि का मिञ्चन करना), हस्त में मुद्रिका-धारण या बाहु में डाभ-धारण, कुश-आसन, दण्ड (पलाश-आदि-काष्ठविशेष), करण्डक (पुष्प रखने का पात्र), शारीरिक अङ्गों का जलादि से पवित्र करना, स्नान, आचमन, पितृ-पूजा (श्राद्ध द्वारा पितृतर्पण), अग्नि पूजा, ये क्रियाएँ आत्मतत्त्व से विमुख मानवों के लिए शोभायमान होती हैं, न कि तत्त्वज्ञानियों को ॥ १७८-१७९ ॥ आस कौन हो सकता है ? आत्मा व परमात्मा का बोध करानेवाला ज्ञान कौन है ? मोक्षोपयोगी तत्त्व कौन है ? या वस्तु स्वरूप क्या है ? अर्थात्-सर्वथा एकधर्मात्मक वस्तु है ? या अनेक धर्मात्मक वस्तु है ? बन्ध किसे कहते हैं ? और मोक्ष का क्या स्वरूप है ? इत्यादि विचार वहाँ नहीं हैं । अर्थात्-ये सब मोक्षोपयोगी सिद्धान्त वहाँ नहीं हैं । अभिप्राय यह है कि मिथ्यादृष्टियों के मत सर्वथा नित्य व सर्वथा अनित्य-आदि एकान्त वस्तु के प्रतिपादक हैं, इसलिए उनके यहाँ बन्ध व मोक्ष का सही स्वरूप संघटित नहीं होता ॥ १८० ॥

जिस सम्प्रदाय में आस और आगम सदाय हैं, अर्थात्-यदि आस रागादि दोषों से दूषित है और आगम पूर्वापरविराज-आदि दोषों से सहित है, तो उनमें विशुद्धि—प्रामाणिकता-संघटित नहीं हो सकती । उसके अनुयायियों का वाह्य क्रियाकाण्ड शुद्ध होने पर भी वैसा अभिलषित फल (मोक्ष) नहीं दे सकता, जैसे नीच जातियों में कुलीन सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता नहीं होती ॥ १८१ ॥ इसलिए मिथ्यादृष्टियों (बौद्ध-आदि) की न वचन से स्तुति करनी चाहिए और न उनकी मन से प्रशंसा करनी चाहिए एवं उनका मन्त्रवाद-आदि संबंधी ज्ञान व विज्ञान जानकर विद्वान् को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए ॥ १८२ ॥

[अमूढदृष्टि अङ्ग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा]

इस विषय में एक कथा है, उसे सुनिए—

मौक्तियों की किरणों से सुशोभित हुए वेश्याओं के कर्णकुण्डलवाले पाण्ड्यदेश में नागरिक मनुष्यों के पवित्र आचरण से पावरूपी राक्षसों से रहित 'दक्षिणमथुरा' नामकी नगरी है । वहाँ ऐसे पूज्य 'मुनिगुप्त' नामवाले आचार्य विराजमान थे । समस्त द्वादशाङ्ग श्रुतरूपी समुद्र के पारगामी जिन्होंने अवधिज्ञानरूपी समुद्र के मध्य समस्त लोक का भाग प्रत्यक्ष करके दिखलाया था । जो अष्टाङ्ग महानिमित्तज्ञानरूपी लक्ष्मी से

१. मृत्तिकादिविधिना । २. आचमनं । ३. अभिलषित । ४. नीचजातिषु । ५. वचसा । * मनसा । ६. मन्त्र-
वादादिविषयं । ७. निर्बीजीकरणादिविषयं । * किरण । ८. विधुराः राक्षसाः । * 'विधुरायां' (सं०) ।

९. समुद्रः । १०. अष्टाङ्गमहानिमित्तानि भीमस्वरशरीरव्यञ्जनलक्षणछिन्नमिश्रस्वप्नाः ।

अन्तरिक्षं स्वरो भीममंगव्यञ्जनलक्षणं । छिन्नमिश्र इति प्राहुर्निमित्तान्यष्ट तद्विदः ॥ १ ॥

धारचातुरोचमस्तुतचित्तकचरेऽबरविरचितचरणार्चनोपचारं धौमुनिगुप्तामध्याहारं भवन्तं मगवन्तं गगनगमनाङ्ग-
नापाङ्गमृतसारणीसंबन्धवीर्यस्य^१ विजयार्धभेदिनीधस्य^२ रतिकेलिविलासविगलितनिलि^३मललनामेखलामणौ दक्षिण-
श्रेणी मेघकूटपतनाधिपयोपान्तः सुमत्तिसीमन्तिनीकागतः संसारसुखपराङ्मुक्तप्रतिमश्चन्द्रप्रभश्चन्द्रदोशराय पुताय
मिजैश्वर्यं वितीर्य पञ्चवसितवेशयतिरुपः सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहवमोपः सप्रथममभिवन्द्यानवद्यविद्यामहन् भगवन्,
षोडाङ्गनाभृङ्गारोत्तरङ्गापाङ्गपुनश्चकस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारुहद्वयवो^४हृदयतीं वतेऽहम् । अतस्त-
न्नगरीगमनाय तत्रभवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि । किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यम्^५ इत्यपृच्छन्, मुनिसत्तमः—
'प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमलपथः समस्तु । संश्लेष्यं पुनस्तत्रंतावदेव यदुत तत्पुरोपुरंवरस्य वरुणचरणोऽवरस्य
शबोसदृशः सुदृशः पति^६—जिनपतिवित्तचरणोपचारपदव्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनाभाया मदीयाशीर्वाच्या तथावश्यं कविशे-
वप्रथमवित्तस्य सुव्रतभगवतो वन्दना च । देशपतिवरः—'किमपरस्तत्र भगवन्, जेनो जनो नास्ति' । भगवान्—'वेशप्रतिन्,

विशिष्ट बुद्धि के आधार थे । समस्त श्रेष्ठ मुनिसंघ जिनके चरण कमलों की उपासना करता था और जिनके चरणकमलों की पूजा का उपचार, ऐसे विद्याधर राजाओं द्वारा रचा गया था, जो कि इनकी विशेष आश्चर्य-जनक तपस्वर्या संबंधी चरित्र-पालन की चतुरता से आश्चर्य-युक्त चित्तवाले थे । उनसे ऐसे 'चन्द्रप्रभ' नाम के क्षुल्लक ने सविनय नमस्कार कर पूछा, जो कि विद्याधरों की कमनीय कामिनियों के कटाक्षरूपी अमृत-नदी के संबंध से विशद—शुभ्र हुए 'विजयाङ्ग' पर्वत की रतिक्रीड़ा के विलास से देवियों की करवोनी के मणियों को शिथिलित करनेवाली दक्षिण श्रेणी में स्थित हुए 'मेघकूट' नामक नगर के स्वामित्व के समीप था, अर्थात्—राजा था । सुमत्ति नामकी उसकी रानी थी और जिज्ञासी बुद्धि वालागिक तलों से विनुरक्त था, वन्तः जिसने अपने 'चन्द्रशेखर' नाम के राजपुत्र के लिए अपना राज्य देकर उक्त आचार्य के समीप क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की थी और जिसके समीप विद्याधरों की आकाशगामिनी-आदि समस्त विद्याओं की स्वीकृति थी ।

'निर्दोष विद्या से श्रेष्ठ भगवन् ! मेरा मनोरथ नागरिक कमनीय कामिनियों के शृङ्गार से तरङ्गों-सरीखे बड़े हुए कटाक्षों द्वारा दुगुने हुए काम-वाणवाली उत्तरमथुरा के अनेक जिन-मन्दिरों की वन्दनाशील हृदय वाला है, अतः उस नगरी को जाने के लिए पूज्य भगवान् की अनुमति प्राप्त करना चाहता हूँ एवं उस नगरी में किसके प्रति क्या सन्देश कहना है ? उसे भी बतला दें ।'

आचार्य—'प्रियवर ! आपका मनोरथ (अभिलाषा) इष्ट मार्ग वाला हो और वहाँ के लिए मेरा इतना ही संदेश है, कि उस नगर के इन्द्र-सरीखे वरुण राजा की इन्द्राणी-सरीखी मनोज्ञ व सम्यग्दृष्टि तथा पति (राजा) के चित्त की व तीर्थङ्कर भगवान् के चरणकमलों की पूजा की मार्गभूत महादेवी रेवती नाम की रानी के लिए मेरा आशीर्वाद कहना तथा अपने आवश्यक (सामायिक-आदि) विशेषों की अधीन बुद्धिवाले भगवान् (पूज्य) 'सुव्रत' नाम के साधु के लिए मेरी वन्दना कहना' ।

क्षुल्लक ने पूछा—'भगवन् ! क्या वहाँ अन्य जैनसाधु नहीं हैं ?

आचार्य—'देशव्रती ! आपको इतने विचार करने से ही पर्याप्त है, अर्थात्—विशेष पूछने की आव-

१. विद्याधर-स्त्री । २. विशदः । ३. देवाः । ४. गृहीत । ५. मनोरथः । ६. पतिश्च राजा, जिनपतिः वीतराग परमस्थानी, तयोश्चित्तचरणौ, अर्थात्—पत्युश्चित्तं जिनपतिश्चरणौ उपचार (पूजा) मार्गायाः । पदवी स्थानं मार्गो वा ।
६. आवश्यकं नियमता । ७. बुद्धेरतत्त्वो वा ।

अलं विकल्पेन । तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्याहुतेतरशरीरस्य^१ का सम^२ का स्थितिः^३ । 'अथरविद्याबीजप्ररोहमल्लकः^४ क्षुल्लको यथादिशति विध्यज्ञानसङ्गबान्भगवान्' इति निर्गोयं गगनधर्मयावतोयं स्रोत्तरमथुरायां परीक्षेयं^५ तावदेकाद-
शाङ्गानिधानं भव्यसेनम् । तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्स्वरत्नवस्तीं रेवतीमिति कृतकोनुकः कलमकणिशकिता^६ वप्रकाशकेश-
वेशलासरत्नचूलमुत्पत्तकान्तनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनयनमतिस्पष्ट^७ वि^८ कटवर्णवर्णनोदीर्ण-
वधमेकाग्रशब्दवैशोपमतिविस्मयनीयं कपटवटुवेष्टमाश्लिष्य^९ तन्मुनिमतमुदबसितम्^{१०} यासोत् ।

वेषमु^{११} निस्तमीक्षणकमनीयं द्विजात्मजसजातीयं विलोक्य किलेवं स्नेहाधिक्यमालीलपत्—'हंहो, निखिलद्वि-
जर्वशब्दतिरिक्तमुक्तकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्धोत्पादनपटो, यटो, कुतः खलु समागतोऽसि' । 'अभिनव-
जन्मनोह्लादनवच^{१२} नागवप्रयोगचरकभट्टारक, सकलकलाविलासाद्यासविद्वज्जनपवित्रात्पाटलिपुत्रात्^{१३} । 'किमर्थम्' ।
'अध्ययनार्थम्' । 'कवाचि' जिगांसाधिकरणमन्तःकरणम्' । 'वाङ्मलजालनकरप्रकरणे^{१४} व्याकरणे' । 'यद्येवं सदनिके

शकता नहीं है', क्योंकि वहाँ पर पहुँचे हुए आगमों में न व नैनेतरलोक-सरीखी स्थिति प्रत्यक्ष हो
जायगी' ।

विद्याधरों की विद्यारूपी बीजाङ्गुओं के पात्ररूप (धारक) क्षुल्लक ने कहा—'अतीन्द्रिय ज्ञान के
सङ्गम वाले भगवान् जैसी आज्ञा देते हैं, उसे प्रमाण मानता हूँ ।' इतना कहकर वह आकाश-मार्ग की चर्या
(गमन) से उत्तर मथुरा में जा पहुँचा । वहाँ उसने कीतूहल किया कि 'मुझे सबसे पहिले ग्यारह अङ्ग के
निधि भव्यसेन मुनि की परीक्षा करनी चाहिए तत्पश्चात् सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से विभूषित रेवती रानी की
परीक्षा करूँगा' ।

ऐसा विचार करके उसने विद्या की सामर्थ्य से ऐसा बनावटी बालक-वेष धारण किया, जो (बालक-
वेष) ग्यारह वर्ष के कुमार-सरीखा था । जिसका घना मस्तक धान्य-मञ्जरी के अग्रभाग-सरीखे पीले प्रकाश-
मान केशों से मनोहर था । जिसका गौर वर्णवाला शरीर तपे हुए सुवर्ण की कान्ति-सरीखा सुन्दर था । जिसके
नेत्र, कमल के मकरन्द और पराग-जैसे पीले थे । जिसका मुख अत्यन्त स्पष्ट व महान् शब्दों के उच्चारण करने
से खुला हुआ था और जो अत्यन्त आश्चर्यजनक था । पुनः वह भव्यसेन मुनि के आश्रम में गया ।

मुनिवेषी (द्रव्यलिङ्गी) भव्यसेन ने नेत्र-प्रिय व ब्राह्मण-पुत्र-जैसे उसे देखकर निस्सन्देह विशेष
स्नेहपूर्वक कहा—'समस्त ब्राह्मण-वंश के विशेष पुण्य से रची हुई कल्याणकारिणी प्रकृति के कारण समस्त
लोक के नेत्रों को आनन्द उत्पन्न करने में चतुर हे कुमार ! तुम कहाँ से आये हो ?

बालक-वेषी क्षुल्लक—'तवीन मानव के मन को सुख देने वाली वचनरूपी औपचि के प्रयोग करने में
चरक वैद्य-सरीखे हे भगवन् ! मैं समस्त कलाओं के विलास के स्थानीभूत विद्वानों से पवित्र हुए पाटलिपुत्र
(पटना) नगर से आया हूँ ।'

'किस प्रयोजन से आये हो ?'

'पढ़ने के लिए'

१. समाना । २. प्रत्यक्षा । ३. मल्लकं भाजनं धारकः । ४. अहं परीक्षेयं । ५. किञ्चाहः सालकं अथविभागमित्यर्थः ।

६. असंकीर्णाः । ७. भहान्तः । ८. गृहीत्वा । ९. स्थानं । १०. भव्यसेनः । ११. वचनमेवौषधं तस्य प्रयोगे
चरकवैद्यः । १२. आगतोऽस्म्यहं । १३. अध्ययनं कर्तुमिच्छा । १४. अध्याये ।

स्वाध्यायध्यानसर्वस्व, समास्ये' । 'परवा' विमलविचारण' वाक्प्रकमाज्जे, भगवन्, साष्टु समासे' । तदन्वतीतवतीषु क्रियतीषु चित्कालकलासु 'वटो, ललाटंतपो धर्तते मार्तण्डः । तद्गुहाणमं कमण्डलुम् । पर्यट्या' गच्छद्वाघः' । बटुः— 'यथाज्ञापयति भगवान्' । पुनर्नगरबाहिरिकायां निर्गते च रूप' संयते स कपटवटुर्मयाभयशय्या' अङ्कुरमिकरनिकीर्णं विहारावतीर्णामवनिभकार्योत् । तद्दर्शनादाकृतियतिरपि मनाग्यलम्बिष्ट' । बटुः— 'भगवन्, किमित्यकाण्डे विलम्बयते' । 'वटो, प्रवचने' किल्लते शय्याङ्कुराः स्वावराः प्राणिनः प्रपठयन्ते' । 'भगवन्, श्वासादिषु' मध्ये क्रियतिशृणुः' । 'लत्वमीयां प्राणः । केवलं रत्नाङ्कुरा इव धराविकारा ह्येते शय्याङ्कुराः' । येषमुनिः— 'साध्यमभिदधाति' इति विचिन्तय विहृत्य च निःशङ्कं निष्पादितो' 'हारो विरहित' 'श्वाहारः करेण किमभिन' 'यन्नेदमनेनोक्तः— 'भगवन्, किमिदं मोनेनाभि' 'नीयते' ? अनिरूपानोदः—

‘आपका मन किस विषय के अध्ययन करने की इच्छा का स्थान है ?’

‘मेरा मन वाचनिक दोषों को प्रक्षालन करने वाले अध्याय-मुक्त व्याकरण के अध्ययन का इच्छुक है ।’

‘यदि यह बात है तो हे स्वाध्याय व ध्यान के सर्वस्व बालक ! तुम मेरे पास ही ठहरो ।’

‘परवादियों का मद चूर-चूर करने वाली वचन-पद्धतिरूपी खड्गयष्टि से सुशोभित हे भगवन् ! आपके पास ही अच्छी तरह ठहरता हूँ ।’

इसके बाद जय कितनी काल-कलाएँ (समय-विभाग) व्यतीत हो चुकीं तब एक दिन भव्यसेन मुनि ने उससे कहा—

‘बालक ! सूर्य मस्तक को सन्तप्त करने वाला हो गया है, अर्थात्—साध्याह्न की बेला है; अतः इस कमण्डलु को ग्रहण कर चलो पर्यटन करके वापिस आ जाय ।’

‘भगवान् जैसी आज्ञा देते हैं ।’

मुनिवेषी भव्यसेन के नगर के बाह्यप्रदेश में जाने पर उस कपटवेषी बालक ने विहार भूमि की बालतृणों के अङ्कुर-समूह से व्यास (आच्छादित) कर दिया । उसे देखकर मुनिवेषी भी कुछ समय तक विलम्ब करके ठहर गया ।

बालक—‘भगवन् ! असमय में विलम्ब क्यों करते हो ?’

भव्यसेन—‘बालक ! आगम में ये घास के अङ्कुर निश्चय से स्थावर जीव (एकेन्द्रिय) कहे जाते हैं ।’

बालक—‘भगवन् ! श्वास-आदि दश प्राणों में से इनमें निश्चय से कितने प्राण होते हैं ? घास के ये अङ्कुर तो केवल रत्नाङ्कुरों-सरीखे पार्थिव हैं ।’

मुनिवेषी—‘यह बालक सत्य कहता है’ ऐसा विचार कर उस मुनिवेषी ने निःशङ्क होकर उस बालतृणों से व्यास पृथिवी पर विहार करके शीघ्र (मलोत्सर्ग) से निवृत्त होकर मौन धारण करके हाथ से कुछ संकेत किया तो बालक ने कहा—

१. तिष्ठ । २. मिथ्यावाद । ३. वाक्प्रक्रम एव असिः खड्गो यस्यासौ सत्य संबंधनम् । ४. तिष्ठामि । ५. पर्यटनं कृत्वा । ६. वेषधारिणि । ७. बालतृण । ८. सिद्धान्ते । ९. दशप्राणेषु मध्ये । १०. कतितमः । ११. पुरोष । १२. मोती । १३. संज्ञा कुर्वन् । १४. संज्ञा क्रियते ।

‘अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च । ध्वनन्ति मुनयो मौनमचनादिषु कर्मसु ॥१८३॥’

इति मौनफलमविकल्प्य जातजलपः ‘द्विजार्भज, समन्वित्य^२ समानीयतामावा^३ यत्कायो गोमयो भसित^४-
पटलमिष्टकाशकलं वा’ । ‘भगवन्, अश्विलोकलोचोचितप्रवृत्तिकायां मृत्तिकायां को दोषः’ । ‘वदो, प्रवचनलोचननिष्ठा^५
यिकास्तत्कायिकाः किल तत्र सन्ति जीवाः’ । ‘भगवन्, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगुणः’ । न च तेषु तद्वत्^६मुपलभ्यते’ ।
‘यद्येवमाभीयतां मृत्सना कृत्स्नाऽभुमस्तेषां’ । बहुस्तथाप्यं कुण्डिकामर्पयति । मुधामुनिर्जलविकलं कमण्डलुं करेणाकस्य
‘वदो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः’ । ‘भगवन्, इदमुदकादनिर्गम्यते तत्ते^७स्त्वेव^८’ । ‘इदं, पलायतपापीणकामे महाबाहो^९-
नवं किमिति यतो जन्तवः सन्ति । ‘भगवन्, तदस्यमिह स्वच्छतया विहायसोऽप्यसि तदनवलोकनादिति’ वचनात्तत्र
बहिस्तन्त्रे^{१०} संयमिनि तत्त्वाभि^{११} निवेशव^{१२} शिक्षाशयवेदमिति तद्देशमुद्दिष्टाभितर्कांश्च ध्वरेण विनितम् । अतएव
भगवान्तोन्मिषपदार्थप्रकाशनशोभुषो प्राप्तः । श्रीमुनिगुप्तोऽस्य किमपि न वाचिकं^{१३} प्राहिणोत् । यस्मावस्मिन्प्रबोपवर्ति-

‘भगवन् ! आप मौन से संकेत क्यों करते हैं ?’

यह सुनकर नग्नदेष से उदरगोषण करने वाले मुनिवेषी ने कहा—‘स्वाभिमान (याचना न करना)
की रक्षा के लिए व शास्त्र की पूजा के लिए भोजनादि क्रियाओं (भोजन, स्नान, सामायिक-आदि छह कर्म,
शौच-आदि) में मुनिगण मौन धारण करने को कहते हैं ॥ १८३ ॥’

मौन के इस फल का विचार किये बिना ही मुनिवेषी भव्यसेन बोल उठा—‘ब्राह्मण-पुत्र ! कहीं से
खोजकर सूखा गोबर, राख-समूह, या ढूँट का टुकड़ा लाओ ।’

बालक—‘भगवन् ! समस्त लोक की बुद्धि के योग्य प्रवृत्तिवाली मिट्टी में क्या दोष है ?’

‘बालक ! मिट्टी में निश्चय से शास्त्ररूपी नेत्र द्वारा देखे गए पृथिवीकायिक जीव रहते हैं ।’

‘भगवन् ! जीव का लक्षण तो ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग है परन्तु मिट्टी में ये दोनों उपयोग नहीं
पाये जाते ।’

‘यदि ऐसा है तो समस्त प्राणियों द्वारा सेवन-योग्य मिट्टी लाओ ।’

बालक ने मिट्टी लाकर [जल-शून्य] कमण्डलु समर्पण कर दिया ।

हाथ से कमण्डलु को खाली जानकर मुनिवेषी ने कहा—‘बालक ! यह कमण्डलु तो खाली है ।’

‘भगवन् ! जल तो सामने कीचड़-रहित तालाब में है ।’

‘बालक ! वस्त्र से बिना छाने हुए जल को ग्रहण करने में महान् पाप है, क्योंकि उसमें जीव होते हैं ।’

‘यह बात बिलकुल झूठ है; क्योंकि स्वच्छ होने से आकाश-सरीखे इस जल में जीव दिखाई
नहीं देते ।’

यह सुनकर उस बाह्य सम्प्रदाय के मुनि ने, जिसका अभिप्रायरूपी भवन तत्त्वज्ञान के अभिप्राय से
शून्य है, उस तडाग पर जाकर बुद्धि क्रिया कर ली तब विद्याधर ने विचार किया कि इसीलिए अतीन्द्रिय

१. पूजार्थ । २. दृष्ट्वा । ३. आवायत्कामः पुण्यच्छरीरः (शुष्कः) वै वै गोपणे इत्यम्यर्थः । ४. मस्म-
पोटरा । ५. निष्ठायां दर्शनं स विज्ञाने वेदमिति । ६. न वन इति वः यस्यैकः तस्यैकादेशः । दृष्टाः इत्यर्थः । ७.
ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं । ८. अकर्ममे । ९. तद्भावे । १०. आदीनवं दोषः कर्मलिखदोषः । ११. सम्प्रदायं । १२.
अभिप्राय । १३. वाचिकं शून्यं । १४. सन्देशं ।

वचनमिवान्तस्तत्त्वसर्वे^१ निसर्गमलोमसं मानसं बहिःप्रकाशनसरसं च । भवति चात्र श्लोकः—

जले तलमिवेति ह्यं वृथा तत्र बहिर्दृष्टिः । रसैव तस्यान्तः पश्यान्तर्बोधो वे^२द्याय वायुषु ॥ १८४ ॥

इत्युपासकाध्ययने भवसेनवृद्धिलसभो नाम वंशमः कल्पः ।

परीक्षितस्तावत्^३ सभाविर्भविष्यद्भवसेनो भवसेनस्तद्विवानी भगवद्वाशीर्वादिपावपोत्यादवसुमती रेवती परीक्षा इत्यादि^४स्ताम्भः-
करणः पुरस्य^५ पुरं^६ वरविशि हंसा^७ शोत्तंसावासवेदिकान्तरालकमलकर्णिकास्तीर्ण^८ मृगाजिना^९ सीनपर्यङ्कपर्यायम्, अमर^{१०} सरः
संजातसरोजसूत्रवतितोपवीतपूतकायम्, अमृतकर^{११} कुरङ्ग^{१२} कुल^{१३} कृष्ण^{१४} सारकृत्ति^{१५} कृतोत्तरा^{१६} सङ्कासनिवेशम्, अम-
वरतहोमारभसंभूतभसितपाण्डुपुण्ड्र^{१७} कोटकटनिटल^{१८} वेशम्, अम्बरवरतरङ्गि^{१९} गीजकालितकल्प^{२०} कुजवत्कलवसि-

पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली मुद्रितवाले श्री मुनिगुप्ताचार्य ने इसे कुछ भी सन्देह नहीं भेजा; क्योंकि इसका मन दीपक की बत्ती के अग्रभाग-सरीखा आत्मतत्त्व के निश्चय में स्वभाव से ही कल्पित है परन्तु वाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने में प्रीति-युक्त है ।

इस विषय के समर्थक एक श्लोक का अर्थ यह है—

मानव का जल में तैल-सरीखा बाह्याचार में ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ है; क्योंकि उसमें (ऊपरी शास्त्रज्ञान में) भेदज्ञान के लिए अन्तर्बोध (आत्मज्ञान) नहीं होता । जैसे लोह-आदि धातुओं के भेद के लिए पारद में अन्तर्बोध—भीतरो प्रवेश होता है, जिससे लोहादि धातुएँ सुवर्ण हो जाती हैं ॥ १८४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में भव्यसेन मुनि की आगम-विरुद्ध प्रवृत्ति को बतलानेवाला यह दशवर्ष कल्प समाप्त हुआ ।

तदनन्तर 'चन्द्रप्रभ' क्षुल्लक ने मन में विचार किया—कि 'मैंने ऐसे भव्यसेन की परीक्षा कर ली, जो कि हठ से भविष्य में प्रकट होनेवाली संसाररूपी सेना से युक्त है, अब पूज्य मुनिगुप्ताचार्य के आशीर्वाद-रूपी वृक्ष की उत्पत्तिभूमि रेवती रानी की परीक्षा करता हूँ ।' इस प्रकार आकृष्ट मनवाले उसने नगर (उत्तर मयुरा) की पूर्वदिशा में ऐसा कमलोत्पन्न ग्रहों का रूप ग्रहण करके समस्त नगर को क्षुब्ध (क्षोभ-युक्त) किया, जो कि [बाह्यरूप] हंस की पीठ की मुकुटप्राय आवासवाली वेदिका के मध्य में कमल-कर्णिका पर बिछे हुए विस्तृत मृग-वर्म पर पर्यङ्कासन से बैठे हुए थे । जिनका शरीर मानसरोवर में उत्पन्न हुए कमल-तन्तुओं से बने हुए यज्ञोपवीत से पवित्र था ।

जिनके उत्तरासन (दुग्ढा) की रचना, चन्द्र के लाञ्छन में वर्तमान मृग के वंश में उत्पन्न हुए मृग के चर्म से की गई थी । जिनका ललाटदेश (मस्तक) निरन्तर होने वाले होम के आरम्भ से उत्पन्न हुई भस्म के शुभ्र वृत्ताकार (गोल) तिलक से उत्कट था । जिनका जटाजूट देव-गंगा के जल से प्रक्षालित किये हुए (धोये हुए) कल्पवृक्ष के वक्कलों से बने हुए उपरितन वस्त्र-समूह से वेष्टित था । जिनके चारों हस्त देवगंगा के तट पर उत्पन्न हुए दर्भाङ्कुर, रुद्राक्षमाला, कमण्डलु व योगमुद्रा से अङ्कित—चिह्नित थे ।

१. सर्वे निश्चये । २. शास्त्रं । ३. बाह्याचारे । ४. पारदवत् । ५. भेदाय । ६. हठत् प्रकटीभविष्यन्ती संसार-सेना यस्य सः । ७. व्याधिज्वलितः । ८. नगरस्य । ९. पूर्वदिशि । १०. अंशजब्देनाथ पृष्ठं तस्य पृष्ठस्य उत्तंसः मुकुटप्रायः योऽसौ आवासः । ११. विस्तृत । १२. मृगवर्म । १३. मानसरोवर । १४-१८. चन्द्रस्य लाञ्छने यो मृगो वर्तते तस्य वंशोत्पन्नस्य मृगस्य चर्मणा कृष्णसार-भृग, कृत्ति-चर्म उत्तरासनरचनम् । १९. वृत्ताकार-तिलकं । २०. ललाट । २१. देवगङ्गा । २२. कल्पवृक्ष ।

तोसरो^१ यप्रतानपरिसेष्टितजटावलयम्, अमृता^२ न्यःसिन्धुरोषःसंजातकु^३ तपाङ्कुराक्षमालाकमण्डलयोग^४ मुद्राङ्कितकर-
चसुष्ठयम्, उपासकसमायुत-मतङ्ग-भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरोचि-विरोचन-
^५ चक्रधरोकानीकास्वाद्यमानअवनारविन्धकन्दरविनिर्गलत्रिकिलवेदमकरन्दसंघोहम्, उभयपार्श्वविस्थितमूर्ति^६ मसिञ्जिल-
कलाविलासिनीसमाजसंचार्यमाणचामरप्रवाहम्, उदारनाभदारदधुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम्, अम्भोभवो^७ ऋषा-
कारमासाद्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमा^८ धवी चरणधरणी-
ध्वरमहावेवी नृपतिपुरोहितासमुद्भूतमाकर्ण्य त्रिविष्टितालाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा—

आत्मनि मोक्षं ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य । ब्रह्मेति गोः प्रगीता^९ न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१८५॥

इति धानुस्मृत्याऽविस्मयमतिरतिष्ठ^{१०} ॥ १८५ ॥

पुनः कीर्ताश^{११} विशि पवनाशनेश्व^{१२} रशरीरशयनाधितापघन^{१३} मितस्ततः प्रकामप्रसरत्तदङ्गो^{१४} तरङ्गकान्ति-
प्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसंनिधानम्, त^{१५} स्लेक्षीलसत्कृणाग्निमरीचिनिचयसिच^{१६} याचरितनिरालम्बाम्बरवितान-

जिनकी ऐसी मुखकमलरूपी गुफा से समस्त वेदरूपी पुष्प-रस-समूह शर रहा है, जो कि सेवा के लिए आये हुए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरोचि व विरोचन इन ऋषि रूपी अमर-समूह से आस्वादन किया जा रहा था और जिन्हें दोनों पार्श्वभागों पर खड़ी हुई मूर्तिमान समस्त कला-सरोखी देवियों के समूह द्वारा चमर-श्रेणी ढोरी जा रही थी। जिनके द्वारपाल का कार्य महान् शब्द करनेवाले नारद मुनि द्वारा स्वीकार किया जा रहा है।

परन्तु जब वरुण राजा की पट्टरानी रेवती रानी ने, जो कि तीर्थङ्कर भगवान् के चरणकमलों की भक्तिरूपी मण्डन को सुशोभित करने के लिए माधवीलता-सरोखी है, राजपुरोहित से उक्त वृत्तान्त सुना तो उसने विचार किया—कि 'तिरेसठ शलाका में उत्पन्न हुए पुरुषों में तो किसी का भी नाम ब्रह्मा नहीं है।'

शास्त्र में उल्लेख है—आत्मा, मोक्ष, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य एवं भरत चक्रवर्ती के पिता (श्री ऋषभ देव तीर्थङ्कर) ये पाँच तत्त्व आगम में 'ब्रह्मा' इस शब्द से कहे गए हैं, इनके सिवा दूसरा कोई व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है ॥ १८५ ॥

ऐसा निश्चय करके वह आश्चर्य न करने वालो बुद्धि-युक्त होकर अपने स्थान पर ही स्थित रही अर्थात्—वह उक्त बनावटी ब्रह्मा के दर्शन के लिए नहीं गई।

इसके पश्चात् उस विद्याधर ने नगर की दक्षिण दिशा में ऐसा विष्णु का रूप धारण करके समस्त नगर को ध्रुव किया। जिसका शरीर शेषनाग शय्या पर आश्रित था। यहाँ-वहाँ विशेष रूप से फैली हुई शेष-नाग के शरीर की लहर वाली कान्ति के प्रकाश से जिसके द्वारा दीरसागर की निकटता रची गई थी। जिनसे धर्षण से शोभायमान शेषनाग के फण के मणियों को किरण-श्रेणीरूपी वस्त्र द्वारा आलम्बन-शून्य आकाश में

१. उपरितनवस्त्र । २. अमृतभोजो देवास्तेषां गंगा । ३. दर्भाः । ४. हृदये न्यस्तं हस्तं ध्यातमुद्रा । ५. एते ऋषय एव भुङ्गाः । ६. मूर्तिगत्यः कला इव देवस्त्रीसमूहः । ७. कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्य । ८. वसन्तलता । ९. कथिता । १०. स्थिता । ११. दक्षिणदिक् यमस्य । १२. शेषनागशय्या । १३. शरीरं । १४. शेषनागशरीर । १५. धर्षण । १६. वस्त्रं ।

भावम्, अ^१मर्त्योद्यानप्रसूतमञ्जरीजालजटिलप्रतानवन^२भावात्मकरश्मिण्डितकौस्तु^३भप्रभाप्रभावम्, अतिसितरत्न-
कुण्डलोद्योतसंपादितोभयपक्ष^४पक्ष^५दृष्याक्षेपम्, अनेकमाणिक्यमाधिकघटितकिरीटकोटिबिन्मस्तास्तोकस्तद्वक्पारिजातप्रसव-
परिमलपात्रपरिचयचटुल^६चञ्च^७रीकचयश्चमभापरेन्दोव^८रशेखरकलापम्, अतिगम्भीरनाभिन^९दनिर्गतोद्गालमल^{१०}निलय-
निलीनहिरण्यगर्भसंभाव्यमाणतामसहस्रकलमा^{११}लज्जलजलविमुता^{१२}संवाह्यमानकमलमनवचरण^{१३}शङ्खसारङ्ग^{१४}नन्द^{१५}
कसंकीर्णकरम्, असुरदृष्टव^{१६}न्वीकृतसुन्दरीसंपाद्यमानचामरोपधारव्यतिकरम्, अरुणा^{१७}नुजविनीप^{१८}मानसेवागतसुरस-
माजम्, अधोक्ष^{१९}जवेधं विशिष्य^{२०}स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । सापि जिनसभयरहस्याव^{२१}सायसरस्वती
रेवती कर्णपरम्परया किञ्चन्तीमेतामुपश्रुत्य 'सन्ति खल्वध्वंशकवर्तिनो नय कौमोव^{२२}कीप्रमवः । ते तु संप्रति न विद्यन्ते ।
अयं पुनरपर एव कश्चिदिन्द्रजालिको लोकविप्रलम्भनायावतीर्णः' इति निर्णयाविचलितविज्ञा समासीत् ।

पुनः पाश^{२३}भृद्दिशि शिशिरगिरिशिखराकारकापशा^{२४}क्वराश्रितशरीराभोगमन्व^{२५}भूतनग^{२६}नन्दनानिधि^{२७}रोश-

चंदेवा विस्तारित किया था । जिसके हृदय पर स्थित हुए कौस्तुभ मणि की कान्ति का प्रभाव, नन्दनवन के
पुष्प व मञ्जरी-समूह से व्याप्त व फैला हुई वन श्रेणोरूपी [देवियों की श्रेणी] के मकरन्द (पुष्परस) से
अलङ्कृत था । जिसके द्वारा नील व शुभ्र रत्न-कुण्डलों के प्रकाश से सुशोभित दोनों पार्श्व भागों पर कृष्ण व
शुक्ल-पक्ष का आक्षेप (आकर्षण) रचा गया था । अनेक प्रकार के माणिक्य-समूह से बने हुए मुकुट के अग्र-
भाग पर स्थापित किये हुए प्रचुर गुच्छोंवाले कल्पवृक्ष के पुष्पों की सुगन्धि को पीने के परिचय से चञ्चल
भ्रमर-समूह द्वारा ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसका दूसरा तोलकमलों का शिरोभूषण-समूह बनाया जा
रहा है । जिसके बहुत गहरे नाभिरूपी तालाब से निकले हुए ऊँची तालवाले कमलरूपी मूह पर बैठे हुए ब्रह्मा
द्वारा जिसके सहस्रनाम का मधुर पाठ किया जा रहा था । जिसके चरणकमल क्षीरसागर को पुत्रो (लक्ष्मी)
द्वारा दाबे जा रहे हैं । जिसका करकमल चक्र, शङ्ख, धनुष व खड्ग से संकीर्ण (मिश्रित या अलङ्कृत) था ।
जिसके चार पर दैत्य-समूह की पूर्व में कारागार (जेलखाने) में रखे हुए सुन्दरियों द्वारा चमर डोरे जा रहे
हैं और जिसकी सेवा के लिए आया हुआ दैत्य-समूह गहड़ द्वारपाल से स्वागत किया जा रहा है,

परन्तु जब जैन सिद्धान्त के रहस्य को जानने के लिए सरस्वती-सरोस्त्री रेवती रानी ने कर्ण परम्परा
से यह किंवदन्ती सुनी तब उसने विचार किया—'आगम में गदास्वामी अर्धचक्री निश्चय से नो ही हैं, जो कि
इस समय विद्यमान नहीं हैं; अतः यह कोई दूसरा इन्द्रजालिया लोक का धोखा देने के लिए अवतीर्ण हुआ है—
उत्पन्न हुआ है ।' ऐसा निश्चय करके उसका चित्त नहीं डिगा और अपने यहीं बैठी रही, अर्थात्—वह उसके
दर्शन के लिए नहीं गई ।

इसके पश्चात् उसने पश्चिम दिशा में ऐसा रुद्र का रूप धारण करके समस्त नगर को क्षुब्ध किया,
जिसका विशाल शरीर हिमालय पर्वत की शिखर-सरीखे शरीरवाले वृषभ पर स्थित था । जिसकी पीठ का

१. देवाः । २. अन्तर्धेनिनुन्दारिका, जालधरदैत्यकलत्रं च । ३. मणि । ४. पार्श्व । ५. कृष्णशुक्लपक्षो ताभ्यामाक्षेपो
यस्य सः । ६. चपल । ७. भ्रमराः । ८. नीलोत्पल । ९. हृद । १०. कमल । ११. क्षीरसमुद्रः । १२. तत्सुता
श्रीः । १३. चक्रं । १४. धनुः । १५. खड्गः । १६. दैत्यानां स्त्रियः कारागारे घृताः, दैत्यमरणान्तरं ताभिः
चामराः क्षिप्यन्ते । १७-१८. गहड़ः द्वारपालो जातोऽस्ति तत्र आगतः स्वागतं क्रियमाणं । १९-२०. विष्णोः रूपं
प्राप्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । २१. परिजाने । २२. गदास्वामिनः । २३. वरुणदिशि
पश्चिमाया । २४. वृषभः । २५. पञ्चाङ्गन । २६. गौरी । २७. निविड ।

स्तनतुङ्गमस्ति^१ नितपृष्ठभागम्, अमिमिववनधिसपिकर्पूरोद्भू^२ दगर्भसंभवापरागपाण्डुरितवि^३ ण्डपरिकरम्, अवि^४ र-
गोरोचनाभङ्गरागपिङ्गला^५ म्बकपरिकल्पित^६ भालसरःस्वर्णसरोजाकरम्, अबालकपासवल^७ कलापासवालषलयविल-
सन्मौलि^८ मूलव्यतिकरम्, अतिविकटजटाजूटकोटरपर्यटद्ग^९ गनादनतटिनीतरङ्गकरकेलिकुतूहलितवालप्रासेय^{१०} करम्,
आभरण^{११} भङ्गिसंद^{१२} भित्तानभ^{१३} कभुजङ्गभो^{१४} गसंगतानेकमाणिक्यविरो^{१५} कनिकरातिशयसा^{१६} रदाहूला^{१७} जिनविराज-
मानम्, उड्डमरबभ्रका^{१८} जकावकृपाणपरशुत्रिशूलखट्वाङ्गादिसङ्गसंकट^{१९} शकोटकोटिविस्तारम्, स्तम्भे^{२०} रमासुरचर्म-
प्रवहधिरहुदिनीकृतनर्तवनीप्रतानम्, अनलोद्भू^{२१} निकुम्भ-कुम्भोदर-हेर^{२२} म्ब-भिङ्गिरिटि-प्रभृतिपारिव^{२३} षपरिव-
त्परिकल्प्यमानवलिबि^{२४} धानम्, अ^{२५} हिबुं प्लावतरमिधानमाकारमनुकृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास ।
सापि स्याद्वादसरस्वतीसुर^{२६} भिसंभावनवल्ल^{२७} वी वरुणमहोशमहादेवी इमां जन^{२८} श्रुति कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिसुतादि-
पश्चितो^{२९} निश्चय निशम्यन्ते तलु प्रवचने तपःप्रत्यवाय^{३०} वार्ताभवा रदास्ते पुनः संप्रति स्वकीयकर्मणा विपाकात्का^{३१}
लिन्वीक्षोवरोदरगतवसिनः संजाताः ।

भाग पीछे धारण की गई गौरी के निविड़ व उन्नत कुचकलशों से निश्चल था । जिसका शरीर-परि-
कर (अवयव-समूह) नन्दन वन में फैले हुए कपूर के वृक्षों के मध्य से उत्पन्न होनेवाली पराग (कपूर-धूलि)
से उज्ज्वल था । तत्काल किये हुए गोरोचना के मर्दन से उत्पन्न हुई कान्ति-सरीखे पीले नेत्र से, जो ऐसा मालूम
पड़ता था—मानों—जिसने मस्तकरूपी सरोवर में सुवर्ण के कमल-समूह की रचना की है । जिसका गला
विशाल (बड़े-बड़े) आधे, खण्णों की श्रेणीरूपी क्यारी-समूह में मुक्षोभित हो रहा था । जिसने अत्यन्त विस्तीर्ण
जटाजूट की कोटर में विहार करती हुई देवनदी की तरङ्गरूपी हाथों की क्रीड़ा में बालचन्द्र को कौतूहल-युक्त—
क्रोड़ा-युक्त किया है । जो ऐसे गज-चर्म से मुक्षोभित है, जो निःशङ्काओं की रचना से मिश्रित बृहत्काय सर्प
की फणा के अनेक माणिक्यों की किरण-श्रेणी के अतिशय से कर्तुरित (चितकवरा) हो रहा था । जिसके हाथों
का अग्रभाग थोष्ट डमरू, धनुष, खड्ग, परशु, त्रिशूल, खट्वाङ्ग (अस्त्र विशेष) आदि के सङ्गम से व्याप्त था ।
जिसने गजासुर के चर्म से प्रवाहित हुए रुधिर-प्रवाह से विस्तृत नृत्यभूमि को वृष्टि से व्याप्त की थी और जिसकी
पूजा कार्तिकेय, निकुम्भ, कुम्भोदर, विनायक व भिङ्गिरिटि-आदि गणों के समासदों द्वारा की जा
रही थी ।

परन्तु जब स्याद्वाद वाणी रूपी कामधेनु को दुहने के लिए गोपी-सरीखी वरुण राजा की महादेवी
रेवती रानी ने यह बात पश्चिम दिशा के मुख्य मार्ग से आने वाले किसी विद्वान् से मुनी तब उसने निश्चय
किया—कि निश्चय से शास्त्र में तपश्चर्या के भङ्ग करने की वार्ता से अभद्र रुद्र मुने जाते हैं, परन्तु वे इस
समय अपने कर्मोदय (भुज्यमान आयु कर्म का क्षय) से यमराज की जठररूपी गर्त में पड़े हुए हैं; अतः यह
कोई दूसरा ही इन्द्रजाल-विद्या के विनोद से अज्ञानियों का हृदय मर्दन करने वाला रुद्र है, ऐसा निश्चय करके
वह निस्सन्देह बुद्धिवाली होकर स्थित रही । अर्थात्—उक्त रुद्र के दर्शन के लिए नहीं गई ।

१. निश्चल स्थित । २. उद्भिदास्तरवः । ३. शरीरं । ४. सद्यः । ५. नेत्र । ६. ललाट । ७. अर्धं ।
८. गला । ९. देवनदी । १०. चन्द्रः । ११. रचना । १२. मिश्रित । १३. बृहत् । १४. शरीरं फणा ।
१५. किरण । १६. कर्तुर । १७. गजचर्म । १८. धनुः । १९. हस्त । २०. गजासुरः । २१. कार्तिकेय ।
२२. विनायकः । २३. गणाः । २४. पूजा । २५. रुद्रावतार । २६. कामधेनुः । २७. गोपी । २८. वार्ता ।
२९. पश्चितान् । ३०. भङ्ग । ३१. यमनाभाता (यमः) यमजठर ।

तव्यमवर एव कश्चिद्वरेन्द्रविद्याविनोदविश्ववृद्धदयमयी कप^३वीति च प्रपद्य निःसंदिग्धबोधा समासिष्ट ।

पुनः स्वापतेये^१ शशिश विश्वभरातलावृष्टम्, अयोमुखा^२ सनवशसहस्रार्घ^३वकृष्ट^४म्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानो-
स्कृष्टम्, अञ्जित^५ गतिगतीसरणमार्गेरिव सोपान^६सर्गद्विकतुविशमु^७पाहितावतारम्, अनर्घद्रुघ^८णमणिह्लाद्योन्नत^९नवप्राकारा-
भरालविरचितस्पष्टाष्टविधवसुधरम्, अनवधिनिर्माणभाणिकप्रसूत्रितत्रिमेलालंकारकण्ठीरव^{१०}पीठप्रतिष्ठारमेष्ठिप्रतिमम-
शेषतः समासीनद्वावशसभास्तरालविलसत्सिंहिल^{११}म्पानकाशोकाशोकहृप्रमुखप्रातिहार्यपशोभितम्, ईषदुग्धि^{१२}यदनिमिषोद्यान-
प्रसूनोपहारहरिचन्दनाभोदतनामगन्धकुटीसमेतम्, अनेकमानस्तम्भतटाग^{१३}तोरणस्तूपध्वजधूप^{१४}निपतिषाननिर्भरमुरगनरा-
भिभिषनायकानीकानोतमहामहोत्सवप्रसरम्, अभितो भवसेनप्रभृत्पाहताभासप्रभाधितयात्राधिकरणं समवशरणं विस्तार्य स
विद्याधरः समस्तमपि नगरं शोभयामास । सापि जिनसमोपवेशरसे^{१५}रावती रेवतीमं वृत्तान्तोपक्रमं
कुतोऽपि जैनाभासप्रतिमा^{१६}तोष्यबुध्य 'सिद्धान्ते जलं वतुविशतिरेव तीर्थङ्कराः, ते चाधुना सिद्धिबधू-
सौखमध्यविहाराः, तदेवोपर एव कोऽपि मायाचारी तद्रूपचारी' इति आध्यात्मविषयस्तमतिः^{१७}पर्यात्मधामन्येव
प्रवर्तितधर्मकर्मवक्त्रे सुखेनासाञ्चके । पुनर्बहुकूटकपटमतिवैशयतिस्ताभिर्विविधप्रकृतिभिराकृतिभिस्तदा^{१८}स्वनित-

इसके बाद उस विद्याधर क्षुल्लक ने उत्तर दिशा में ऐसा जिनेन्द्रदेव का समवशरण रचकर समस्त नगर को धुंध्य किया । जो कि पृथिवी तल से पाँच हजार धनुष-प्रमाण ऊँचा था । जो अखण्ड इन्द्रनीलमणि की शिला में निर्मित हुए गोलाकार आधार से उत्तम था । जो चतुर्गति रूपी गड्ढे से निकालने वाले मार्ग-सरीखी दोस हजार सौदियों की रचना से चारों दिशाओं में ग्रहण किये हुए अवतार वाला था । जिसमें बहु-मूल्य वज्रमणियों के प्रशस्त व उन्नत नौ प्राकारों (कोटों—धूलीसाल, सुवर्णसाल, रूप्यसाल, स्फटिकसाल, गंधकुटीमाल, वृक्ष-वन व वल्पवृक्षवन की चार-भूमियों के चार साल इस प्रकार नौ साल—प्राकार) के मध्य में बनी हुई स्पष्ट आठ भूमियाँ वर्तमान थीं । जिसमें वेमर्याद रचनावाले माणिक्यों से बनी हुई तीन कटिनियों से सुशोभित सिंहासन पर परमेष्ठी की प्रतिमा विराजमान थी । जो चारों ओर बैठी हुई वारह सभाओं के मध्य शोभायमान होनेवाले देव-दुन्दुभि व अशोक वृक्ष-आदि आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित था । जो अधखिली नन्दनवन संबंधी पुष्प श्रेणियों के उपहार (भेंट) और हरिचन्दन नाम के कल्प-वृक्ष की सुगन्धवाली गन्धकुटी से अलङ्कृत था । जो अनेक मानस्तम्भ, तालाव, तोरण, स्तूप, ध्वजाएँ व धूप घट और निधियों से व्याप्त था । जिसमें वरुणेन्द्र, चक्रवर्ती व इन्द्र की सेनाओं द्वारा विस्तृत व महान् महोत्सव किया गया था और जो चारों ओर भवसेन-आदि जैनाभासों की प्रभावनावाली यात्रा का आधार था ।

परन्तु जब जैन सिद्धान्त के उपदेशरूपी जल की इरावती नदी-सरीखी रेवती रानी ने इस वृत्तान्त-घटना को किसी जैनाभास की बुद्धि से घटित हुई जानो तब कहा—'निश्चय से जैन सिद्धान्त में तीर्थङ्कर चौबीस ही माने गये हैं; जो कि इस समय मूर्तिरूपी बधू के महल के मध्य में विहार करने वाले हैं, अतः यह कोई दूसरा ही मायाचारी, तीर्थङ्कर का रूप धारण करके प्रकट हुआ है ।' उक्त प्रकार निश्चय करके भ्रान्ति-

१. इन्द्रजालविद्या । २. रुद्रः । ३. वशद, उत्तरदिशि । ४. धनुः । ५. ५००० । ६. प्रमाण । ७. चतुर्गति । ८. २०००० ।

९. कृतावतारः । १०. वज्र । ११. धूलीसाल, सुवर्णसाल, रूप्यसाल, स्फटिकसाल, गंधकुटीति पंचसालाः । वृक्षवनकल्प-वृक्षवनयोश्चतस्रो भूमयः सालाश्चत्वारः इति नवप्राकाराः । १२. सिंहासनम् । १३. देवदुन्दुभिः । १४. विकसत् ।

१५. गाथा—उदवणवाविजलेण सिमा पिच्छंति एकभवजादि । तस्स निरीक्षणमेत्ता, सत्तमवातीद भाविजादि ॥१॥

दलोक—अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति वधिराः श्रुति । भूकाः स्पष्टं विभाषन्ते चक्रम्यन्ते च पंगवाः ।

दर्पणदर्शनाद्भवस्मृतिः वन्ध्यासुतप्राप्तिः दुर्भिक्षादीनां विनाशः ।

१६. धूपघट । १७. इरावती नदी । १८. बुद्धेः । १९. परि—सामस्त्येन आत्मधामनि । २०. रेवतीमनः ।

मधुभित्तमवगच्छोपात्तमासोपवासिन्धेयः क्रियामात्रानु^१मेयनिश्चितकरणोन्मेषो गो^२धराय तबालमं प्रविष्टस्तथा स्वयमेव
पथाविधिप्रतिपन्नचेष्टस्तथापि विद्यावल्लभनलनाशधमनादिविकारप्रबलात्कृतानेकमानसोद्वेजनर्थात्^३ रेवत्याः
गृह्णन्ति मनोमूलतश्चकार, 'कर्म', लब्धिमिच्छादिविनालंकारसम्यक्त्वत्वात्कारणोपि दक्षिणमथुरायां प्रसिद्धावसथः
सकलगुणमणिनिर्माणविद्व^४रावतिः श्रीमुनिगुप्तमुनिमंथपितरचनै^५र्बधनेः परिमुविताशेषकलमधस^६वनैरखिलकल्याणपरम्प-
राविरोच^७नैर्भक्तै रेवतीममिनन्दयति । रेवती भक्तिरसशोभलसंस्लपनरागाभिरामं ससंभ्रमं च सप्तप्रचारोपसर्दः^८
पदेस्तां विशमाधित्य श्रुत^९विधानेन विहितप्रणामा प्रसोदमानमनःपरिणामा तदपितान्याकीर्तनान्यापादिता ।
अथति धात्र इलोकः—

काव^{१०}स्मृता^{११}ध्वंगोसिहपीठाधिपतिषु स्वयम् । आगतेष्वप्यभूनेषा^{१२} रेवती मूढतावती ॥१८६॥

रहित बुद्धिवाली वह धर्मकर्म-समूह की प्रवृत्तिवाले अपने स्थान में ही मुखपूर्वक बैठो रही । अर्थात्—समव-
धारण में नहीं गई ।

इसके बाद अनेक कूटकपट करने की बुद्धिवाले उस क्षुल्लक ने जब अनेक स्वभाव वाले ब्रह्मा-आदि
के अनेक वेषों से रेवती रानी के मन को निश्चल जान लिया तब वह एक मास का उपवास करने वाले ऐसे
साधु का वेष बनाकर, जिसकी शिथिल इन्द्रियों का व्यापार क्रिया मात्र द्वारा अनुमान किया गया है, अर्थात्—
'यदि यह ऐसा क्रियावान् है ? तो इसका इन्द्रिय-व्यापार कैसे घटित होता है ?' इस प्रकार जो सबके द्वारा
जाना गया है, आहार के लिए रेवती रानी के गृह पर आया । रेवती रानी ने स्वयं ही प्रतिग्रह-आदि नव
विधि के अनुसार उसका सन्मान किया किन्तु उस क्षुल्लक ने अपने ऐसे विद्यावल से, जो कि जठराग्नि के नाश
से उत्पन्न हुए वमन-आदि विकारों से प्रबल हैं, जब रेवती रानी के मन को उद्विग्न करनेवालीं अनेक धूर्तताएँ
कीं फिर भी जब उसने प्रस्तुत रानी की मानसिक मूढ़ता नहीं देखी तब उसने कहा—

हे माता ! तुम समस्त विद्याधरों के चित्त का आभूषण सम्यग्दर्शनरूपी रत्न की खानि हो । दक्षिण
मथुरा नाम की नगरी में प्रसिद्ध निवास करनेवाले और समस्त गुणरूपी मणिमों की रचना के लिए निकटवर्ती
पृथिवी-सरीखे श्री मुनिगुप्त नाम के मुनिराज समस्त पाप-संबंध नष्ट करनेवाले व समस्त कल्याण-परम्परा से
सुशोभित एवं मेरे लिए समर्पण किये हुए संबंधवाले अपने आशीर्वादरूपी वचनों से आपका अभिनन्दन
करते हैं ।'

उक्त सन्देश सुनकर रेवती रानी ने भक्तिरस के वश से विकसित हुई मुख की कान्ति से मनोज्ञता-
पूर्वक व सादर गमन करनेवाले पैरों से सात पैर भूमि चल्कर दक्षिण दिशा में आश्रित होकर शास्त्र विधि-
पूर्वक श्री मुनिगुप्त मुनिराज के लिए नमस्कार किया और प्रभुदित हुए चित्तवाली उसने उक्त मुनिराज द्वारा
भेजे हुए आशीर्वाद के वचन ग्रहण किए या स्वीकार किए ।

इस विषय के समर्थक इलोक का अर्थ इस प्रकार है—

जब हंसवाहन (ब्रह्मा), गरुडवाहन (विष्णु), गोवाहन (शिव) व सिंहासन के अधिपति (तीर्थङ्कर)
स्वयं प्राप्त हुए, अर्थात्—जब उक्त विद्याधर क्षुल्लक ने विद्या-वल से उक्त ब्रह्मा-आदि का रूप धारण किया तो
भी रेवती रानी मूढ़तावाली (मिथ्यामार्ग की प्रशंसा करनेवाली) नहीं हुई ॥ १८६ ॥

१. अनुज्ञातः चेदीदृशोऽयं क्रियावान् वर्तते तर्हि अस्म्येन्द्रियव्यापारः कथं घटते इति सर्वस्तुज्ञातः । २. आहाराद्य ।
३. धूर्तत्वं । ४. स देवविद्याधरः—हे माता । ५. निकट । ६. संबंधः । ७. संबंधी । ८. शोभमानः । ९. गमनप्राप्तिः
पदैः सप्तभिः प्रचारैरुपसर्ध । १०. 'श्रुतविश्रुतेन विधानेन' इति घ० । ११. हंसः । १२. गरुडः । १३. नाभूत् ।

इत्युपासकाध्ययनेऽमूढताप्रोढिपरिवृद्धो नामैकादशः कल्पः ।

उपगू^१हस्थितीकारो यथाशक्तिप्रभावनम् । वात्सल्यं च भवत्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१८७॥

तत्र— सात्वता सत्येन शौचेन मार्दवंभार्जवेन च । तपोभिः संयमं^२दर्निः कुर्यात्समयवृ^३हणम् ॥१८८॥

स^४विश्वोव तनूजानामपराधं सधर्मसु । वंशप्रमादसंपन्नं भिगूहेव गुणसंपदा ॥१८९॥

अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् । न हि भेके मृते याति यथोषिः पूतिगन्धिताम् ॥१९०॥

दोषं गृह्णति नो जातं यस्तु धर्मं न वृ^५हयेत् । दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिःस्थिते ॥१९१॥

भूयतामत्रोपाख्यानम्—सुराष्ट्रदेशेषु मृगशणापक्ष्मलसूलावलोकितापहसितानङ्गारव्यतन्त्रे पाटलिपुत्रे सुसीमा-
कामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुजः परा^६क्रमाक्रान्तसकलप्रवीरः सुवीरो नाम धनुरनासादितविद्यावृद्धसंयोगसम-
पत्वाद्रिद्विदूषक^७ दूषितहृदयत्वाच्च प्रायेण परत्रविणवारादानोदारक्रियः क्रीडार्थमेकवा क्रीडावने गतः कितवकिरातपश्यतो^८-
हरवीरपरिषदमिवमवादीत्—'अहो, विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवस्तु मध्ये किं कोऽपि मे प्रायेणातिथिसनोरथसार^९—

इस प्रकार उपसकाध्ययन में अमूढता बढ़ाने में समर्थ यह ग्यारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब उपगूहन अङ्ग का निरूपण करते हैं—

उपगूहन (साधर्मियों के दोष आच्छादित करना), स्थितिकरण (सम्यक्त्व व चारित्र्य से विचलित हुए प्राणियों को पुनः धर्म में स्थिर करना), शक्ति के अनुसार प्रभावना (जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना) और वात्सल्य (धार्मिक पुरुषों से अनुराग प्रकट करना) ये गुण सम्यक्त्वरूपी लक्ष्मी को वृद्धि के लिए हैं ॥१८७॥ क्षमा, सत्य, शौच (लोभ का त्याग), मार्दव (क्रोध), आर्जव (निष्कपटता), तप, संयम और दान इन प्रशस्त गुणों से शासन की वृद्धि करनी चाहिए ॥१८८॥ जैसे माता अपने पुत्रों के दोष आच्छादित करती है वैसे ही साधर्मियों में से किसी से दैव व प्रमाद से कोई दोष बन गया हो तो उसे गुणरूपी सम्पत्ति से आच्छादित करना चाहिए ॥१८९॥ जैसे समुद्र में मेढक के मर जाने से समुद्र दुर्गन्धित नहीं होता वैसे ही क्या असमर्थ मनुष्य के द्वारा किये हुए अपराध से धर्म मलिन हो सकता है ? ॥१९०॥ जो मानव साधर्मों जनों के दोष नहीं ढकता और न धर्म की वृद्धि करता है, वह जैनामम से बाह्य है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥१९१॥

उपगूहन अङ्ग में प्रसिद्ध जितेन्द्र भक्त की कथा—

इस अङ्ग के विषय में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—सुराष्ट्र देश की मृगनयनी कामिनियों के नेत्रों के पलकों के अग्रभागवाले कटाक्षों से कामदेव के बाणों के कार्य को तिरस्कृत करनेवाले पाटलीपुत्र नगर में सुसीमा नामकी रानी के लिए कामदेव-भरीखा 'यशोध्वज' नामका राजा था । उसके अपने पराक्रम से समस्त वीर पुरुषों पर आक्रमण करनेवाला 'सुवीर' नामका पुत्र था । कभी विद्या-वृद्ध राज्ञों के समागम से वास्त्राध्ययन प्राप्त न होने से जिसका हृदय धूसर व विदूषकों के कुसङ्ग से दूषित (पापी) हो गया था, जिससे वह प्रायः दूसरों के घन को ग्रहण करने में और दूसरों की स्त्रियों के उपभोग में लम्पट हो गया था ।

एक बार क्रीड़ा करने के लिए वह क्रीडा-वन में गया । वहाँ उसने जुवारी, म्लेच्छ व चौरों की

१. 'उपगूहः स्थितीकारो यथाशक्तिप्रभावनम्' (क०) । २. मातृवत् । ३. 'पराक्रमक्रमाक्रान्त' (क०) । ४. विदूषको वैदिकः ग्रहसो प्रीतिदः इत्यन्यन्तरं । तथानेकार्थ—विदूषकोऽप्यतिदके क्रीडनीयकपात्रे च, कामाचार्यो वेश्याचार्यः । ५. चौरः । ६. सहायः ।

धिरस्ति, यः खलु पूर्वदेशनिवेशावाप्तकीर्तने तादृशलिप्तपत्तने पुण्य^१पु^२रूपकाराम्यामात्मसात्कृतस्त्वाकरसारस्य जिनेन्द्रभक्त
नामावतारस्य वाणिज्यपतेः सप्ततलापाराधिमभूमिभागिनि जिनसम्पत्तिं छत्रत्रयशिक्षणमण्डनीमृतमद्भुतद्योतस नीलं वैभूर्य-
मणिमानपति, तद्वानेसुः पुनरभिलाषविधयनिषेकमेव पारितोषिक^३म् । तत्र च सवर्षः सूर्पो नाम समस्तमलि^४म्लुखाग्रेसरो
धीरः किल्वमलापीत्—‘देव, कियद्गहनमेतद्यतो मोहं देवप्रसादाद्विषय^५यसानविरचितामरावतीपुरस्य पुरंदरस्यापि
बुडालंकारनूतनं रत्नं पातालमूल^६निलीनभोगवतीनगरस्थोरगेश्वरस्यापि कणगुम्फनाधिक्यं माणिक्यमपहरामि, तस्य मे
मनुष्यमात्रपरित्राणधरणि मणि लोचनगोचरागारविहारमपहरतः कियन्मात्रं महासाहसम्’ इति वीर्यं गजित्वा निर्गत्यागत्य
च गौडमण्डलमपरमुपायमपश्यन्मणिमो^७दायाक्षि^८स्तक्षुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः यक्षपारणाकरणमसिपवासप्रारम्भैर-
परंरपि तपःसरम्भैः क्षोभितनगनारग्रामग्राम^९नीयजः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तमावाधिकरणताममजत् । एकान्तभक्तिशक्तः स
जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रिमत्तमाकारम्^{१०}परमार्थाचारमज्ञानद्वार्यवर्षावधयमनेकानर्घ्यरत्नरचितजि^{११}नदेवसंबोहे^{१२}स्म-
द्वेवगृहे स्वया तावदास्तित्वं यावद्बहुं बहित्र^{१३}यात्रां विधाय समायामि^{१४} इत्य^{१५}याचत । अप्रकटकूटकपटक्रमः प्रियतमः—

परिषत् से कहा—‘वीरो ! पराक्रम करने में असाधारण रसिकता दिखानेवाले व महान् साहसी आप लोगों के
मध्य में क्या कोई ऐसा वीर पुण्य है ? जो कि मेरे प्रार्थनारूपी अतिथि के मनोरथ का सहायक है, अर्थात्—
मेरी अभिलाषा की पूर्ति में सहायक है ? आपमें से जो कोई निश्चय से पूर्वदेश की सेना का स्थान होने से
ख्याति प्राप्त करनेवाले तादृशलिप्त नामके नगर में आने पुण्य व पौरुष से समुद्र की सारभूत लक्ष्मी प्राप्त करने-
वाले व वैश्य-स्वामी जिनेन्द्र भक्त सेठ के सत्संजिते महल की अग्रभूमि पर वर्तमान जिनमन्दिर से तीन छत्र
की शिखा के अग्रभाग का अलङ्काररूप व आश्चर्यजनक कान्ति के समीपवर्ती वैभूर्यमणि को चुराकर ले आवे,
उसे लानेवाले वीर पुरुष के लिए इच्छित वस्तु के दानवाला पारितोषिक दिया जायगा ।’

यह सुनकर समस्त वीरों में अग्रेसर, अभिमानी व वीर ‘सूर्प’ नाम के चौर ने निस्सन्देह कहा—
‘हे देव ! यह क्या कठिन है ? क्योंकि जो मैं आपके अनुग्रह से गगन-प्रान्त में घनी हुई अमरावती नगरी के
स्वामी इन्द्र के मुकुट के अलङ्काररूप त्रयोम रत्न को एवं पाताल-मूल में स्थित हुई भोगवती नगरी के स्वामी
धरणेन्द्र की कणा में विशेषरूप से गुंथे हुए माणिक्य को भी अपहरण कर सकता हूँ, उसके लिए मनुष्यमात्र
द्वारा रक्षा के योग्य पृथिवीवाले और नेशी के विषयोभूत स्थान में वर्तमान मणि का चुराना कोई विशेष साहस
नहीं है ।’ इस प्रकार अपनी शूरता की गर्जना करके सूर्प नाम का चौर वहाँ से निकलकर गौड़ देश में आया और
दूसरा उपाय न देखकर उसने मणि-चुराने के लिए क्षुल्लक का वेष धारण किया । पुनः उसने पन्द्रह दिनों के बाद
पारणावाले और एक महिना के उपवासों से शुरु होनेवाले चान्द्रायणव्रत के आचरणों से और दूसरे तपश्चर्या
के अनुष्ठानों से पर्वत, नगर व ग्रामवासी श्रेष्ठ जन-समूह को क्षोभ में प्राप्त करा दिया और क्रम से जिनेन्द्र-
भक्त सेठ के भाव का आधार-स्थान हो गया । पश्चात् उसकी विशेष भक्ति में समर्थ जिनेन्द्रभक्त सेठ ने माया से
क्षुल्लक-वेष को अपने अधीन करने वाले व सत्याचार से रहित—झूठे आचार वाले उसे न जानकर उससे
निम्न प्रकार प्रार्थना की—‘आर्यश्रेष्ठ ! अनेक बहुमूल्य रत्नमयी जिनप्रतिमा-समूहवाले हमारे जित मन्दिर में
आप अवश्य तब तक ठहरिए जब तक कि मैं जहाज द्वारा यात्रा करके आपिस न लौटूँ ।’

१. पूर्वजन्मपुण्यं । २. उद्यमश्च, पुरुषकारशब्देनात्र उद्यमो व्यवसायः धनार्जनं च । ३. समीपं । ४. उचितं दानं
दास्यामि । ५. वीरः । ६. गगनप्रान्तः । ७. मूले निलीनं भोगवतीनगरं यस्य सः उरगेश्वरः तस्य ।
८. चौरणार्थः । ९. रचितः । १०. श्रेष्ठः । ११. सत्याचाररहितः । १२. जिनदेवसंबोहे (ज०) । १३. यानपात्रगमनः ।
१४. प्राथितः ।

‘श्रेष्ठिन्, मैवं भाविष्ठाः, यद्यङ्गनाजनसंकीर्णेषु त्रविणोदीर्णेषु देशेषु बिहितो^१ कसां श्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोवाहाराः
 कलुः कलजनतिरस्काराः ।’ श्रेष्ठी—‘देशयतीश, न सत्यमेतत् । अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावर्जोन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य
 बहिःसङ्गे स्वान्तं विक्रुतो नाम न धर्म्यथार्थदृशाग्रनन्त्य^२ मानान्तरसंयमस्पृशां भक्तान्तां यतोशाम्’ इति ब्रह्माग्रहं वेवगृह-
 परिग्रहस्य तमयथार्थमुन्मिष्यथ्य कलधुत्रमित्रवान्धवेऽवकृतविश्र्वासो मनःपरिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरवाहिरि-
 कायां प्रस्थानमकार्षीत् । साधामुनिस्तस्मिन्समाधसरे तदगारभाकुलपरिवारमबन्धुधार्थावशेषायामां निशि कृतस्नापहारस्तन्य-
 रोचिप्रचारावारक्षिकैरनुव्रतशरीरः पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्षनिर्माणपरमेष्ठिनः^३ श्रेष्ठिनः प्रस्थानायासनिवेशमाविवेश ।
 श्रेष्ठपि पुरालापबहलान्तःकोलाहलाद्वा^४ श्वित्राणमिद्वस्तदेनं सुषामुनिमुद्रमव^५साय स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थसमाचार-
 नयस्य निःशेषान्धर्व^६शेनव्यतिरिक्तान्वयस्य समयस्थावचितपरमार्थजनापेक्षया पुरुषवाचो वा भूदिति च विचिन्त्य समस्त-
 सप्यारक्षिकलोकमेयमभणीत्—‘अहो, पुर्वाणिकाः, किमित्येनं संयमिनम^७भल्लेन भावेन संभावयन्ति भवन्तः, यदेव कलुः
 महातपस्विनामपि महातपस्वी परमनिःस्पृहाणामपि परमनिःस्पृहः प्रकृत्यैव महापुरुषो मायामोवरहितचित्तवृत्तिरस्मदभि-

अपने कूट कपट-क्रम को छिपाते हुए उसने कहा—‘सेठ जी ! ऐसा मत कहिए, क्योंकि कमनीय कामिनियों से व्याप्त और धन से परिपूर्ण स्थानों में निवास करनेवाले निर्मलचित्तवालो महापुरुषों को भी प्रायः निश्चय से दुष्ट जनों के तिरस्कार सुलभता से कथन वाले होते हैं ।’

सेठ—‘क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि परलोक (स्वर्ग व नरकादि) के व्यवहार को न जानने वाले व इन्द्रिय-व्यापार की कावू में न करने वाले पुरुष की चित्तवृत्ति निश्चय से बाह्य पदार्थों (कनक व कामिनो-आदि) में विकृत हो जाय परन्तु यथार्थदर्शी व असाधारण संयम पालने वाले आप-सरीखे योगीश्वरों की चित्तवृत्ति बाह्य पदार्थों में कैसे विकृत हो सकती है ?’ इस प्रकार जिनेन्द्र भक्त सेठ ने स्त्री, पुत्र, मित्र व बन्धुजनों में विश्वास न करके अपने जिन मन्दिर में निवास करने के लिए उस झूठे मुनि से विशेष आग्रह पूर्वक प्रार्थना की और मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन व वायु को अनुकूल देखकर नगर के बाह्य देश में प्रस्थान किया ।

उसी अवसर पर वह कपटी मुनि उस सेठ के गृह को नौद में सोते हुए कुटुम्बीजनों वाला जानकर अर्ध रात्रि में रत्न अपहरण करके ज्यों ही चला वैसे ही उस रत्न की किरणों के फैलने से नगर-रक्षकों ने उसका पीछा किया । जब वह भागने में असमर्थ हुआ तो वह चौर उस धार्मिक जिन मन्दिर के बमाने में ब्रह्मा-सरीखे जिनेन्द्र भक्त सेठ के प्रस्थान के निवास स्थान में प्रविष्ट हो गया—घुस गया । गाली देना-आदि छोटे भाषण से प्रचुर उन नगर-रक्षकों के कोलाहल से सेठ की नौद शीघ्र खुल गई और उसने इसे कपटी क्षुल्लक के रूप को धारण करने वाला जातकर निम्नप्रकार विचार किया—‘जैन शासन की, स्वभाव से जिसके आस, आगम, पदार्थ, आचार व नय निर्दोष हैं और जो समस्त अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक आम्नाय वाला है, परमार्थ को न जानने वाले अज्ञानो पुरुषों की अपेक्षा से निन्दा या अपकीर्ति नहीं होनी चाहिए ।’ इस विचार से उसने समस्त नगर रक्षकों से कहा—‘अरे दुष्ट वचन बोलने वालो ! आप लोग क्यों इस संयमी चरित्रवान् सज्जन पुरुष का छोटे परिणाम से तिरस्कार करते हैं ? क्योंकि यह महान् तपस्वियों में भी महातपस्वी है और अत्यन्त निःस्पृही महापुरुषों में विशेष निःस्पृही है । यह स्वभाव से ही महापुरुष है । इसकी चित्तवृत्ति मायाचार व

१. भौकः आवासः । २. ‘अनन्यसंयमस्पृशाम्’ (ख०) । ३. ग्रहणः । ४. शीघ्र । ५. जात्वा । ६. अधि-
 काम्नायस्य ७. असमीचीनेन परिणामेन ।

स्तेन मणिमेतमानयत् कथं नाम स्तेनभावेन^१ भवद्भिः संभावनीयः । तत्प्रतूर्णमभ्यर्षीभूय प्रसन्नवपुषः^२ सदाचारकैरवारुण^३-
ज्योतिषमेनं क्षमयत् स्तुत नमस्यत् करिव^४स्पत य ।

भवति धात्र इलोकः—

मायासंयमिगुत्सवै^५ सूर्ये रत्नापहारिणि । वोषं निपूवयामास^६ जिनेन्द्रो भक्तवाक्पराः^७ ॥१९२॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः ।

परीषद्वृत्तोद्भिः^८सदाचारसंसं^९ ३७ । स्थापयेत् धर्मप्रवर्तमानं नगरीं रत्नास्थितम्^{१०} ॥१९३॥

तपसा प्रत्यवस्यत्^{११} यो न रक्षति संयतम् । नूनं स धर्मानाद्याह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥१९४॥

नवः संविघ्ननिर्वहैर्विदध्यावगणवर्धनम् । एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥१९५॥

यतः समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रयः^{१२} । अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥१९६॥

उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्भूतरो नरः । ततस्तस्य भवो^{१३} दीर्घः^{१४} समयोऽपि च हीयते ॥१९७॥

चोरी से रहित है । हमारे कहने से ही यह मणि लाया है । आपने किस प्रकार इसे चोर समझकर अनादर-
युक्त—अपमानित किया ? अतः शीघ्र ही इसके पास आकर विशुद्ध चित्तवृत्ति व निर्मल बाह्येन्द्रिय वृत्ति वाले
होते हुए सदाचाररूपी कुमुद को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखे इससे क्षमा मांगो, इसकी स्तुति करो,
नमस्कार करो और इसकी पूजा करो ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—कण्टपूर्ण क्षुल्लक-वेषधारी और वैडूर्य मणि को
चुराकर शीघ्र भागनेवाले सूर्य के दाँव (निन्दा) को जिनेन्द्र भक्त सेठ ने आच्छादित किया—छिपाया ॥१९२॥
इस प्रकार उपासकाध्ययन में धर्म के उपबृंहण गुण के निरूपण करने में समर्थ बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब स्थितिकरण अङ्ग का निरूपण करते हैं—

सम्यग्दृष्टि धार्मिक सज्जन को क्षुधा व तृषा-आदि परीषदों के सहन से व अहिंसा-आदि व्रतों के
पालन से भयभीत हुए एवं आयस के अध्ययन से रहित होने से धर्म से डिगते हुए साधमी भाई को धर्म में
स्थापित करना चाहिए ॥१९३॥ जो धार्मिक पुरुष तप से भ्रष्ट होते हुए साधु की रक्षा नहीं करता (उसे पुनः
तप में स्थित नहीं करता) वह आगम की मर्यादा का उल्लङ्घन करने के कारण निश्चय से सम्यग्दर्शन से
वहिर्भूत (मिथ्यादृष्टि) है ॥१९४॥ जिनके निर्वाह (जैनधर्म के पालन) में संदेह है, ऐसे नये मनुष्यों से
संघ को वृद्धिगत करना चाहिए । केवल एक दोष के करने से तत्त्वज्ञानी पुरुष कैसे छोड़ा जा सकता है ?
अर्थात्—यदि उससे दोष हो जाय तो उसे ठेकना चाहिए ॥१९५॥ क्योंकि धार्मिक कार्यों की सिद्धि अनेक
मानवों के आश्रय की अपेक्षा करती है, इसलिए समझा-बुझाकर जो व्यक्ति जिस कार्य (धर्म-प्रभावना आदि)
में कुशल है, उसे उसमें नियुक्त करना चाहिए ॥१९६॥ साधमी मनुष्य की उपेक्षा करने से वह धर्म से दूर हो
जाता है (धर्म छोड़ देता है) और इससे उसका संसार, विशेष दीर्घ होता है और धर्म को भी क्षति
होती है ॥१९७॥

१. चोरभावेन । २. निर्मलान्तःकरणवह्निकरणाः सन्तः । ३. कुमुदं तस्य विकासने चन्द्रः । ४. पूजयत सूर्य । ५. शीघ्र
गमिनि । ६. स्केटयति स्म । ७. जिनेन्द्रभक्त इत्यर्थः । ८. 'समयी समयस्थितः' (क०) । ९. चलन्तः । १०. मनुष्यः ।
११. संसारः । १२. दीर्घः स्यात् ।

धूम्रतामत्रोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामावसरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवोपगयर्कणिकस्य^१ श्रेणिकस्य शोशकलत्रस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणो^२ वारिषेणो^३ नाम । स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुख-
मानसः परमवैराग्योवृणो^४ पूर्णनिर्णयरसः श्रावकधर्माश्रयमध्वविषयतया गुरुपासमसंवीणतया^५ च सम्यगवसि^६ तोषा-
सकाध्ययनविधिराश्चर्यशीर्थनिधिरेकदा प्रेतभूमिषु भूतवासदधिनाययो^७ रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव । अत्रावसरे क्षयायः^८
परिणताभोगे खलु मध्यभागे^९ मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गन^{१०} यात्मन्यतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो मृगवेग नामा वीरः
शयनतलमापन्नः^{११} तस्यैवमुक्तः—‘राजश्रेणिको^{१२} धनदत्तनामजित्^{१३} कीर्तिमतीनायायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डल^{१४}
मण्डनोदारमलंकारसारं^{१५} हारमिवानीमेवानीय यदि विश्राणयसि^{१६}, तवा एवं मे रतिरामः, अन्यथा प्रणयविरामः’ इति ।
तोऽप्यवशानङ्गवेगो^{१७} मृगवेगस्तद्वचनादेव तशयतनाग्निःसृत्वाभिवृत्त्य^{१८} च निजकलाबलात्तस्य धनदत्तस्यागारमाचरित-
हारापहारस्तरिकरणनिकरनिश्चितवरणवारस्तलारावुधरं^{१९} रनुवृत्तो^{२०} मृगावितुम^{२१} समर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेषमुपेयुषो

इस विषय में एक कथा है, उसे सुनिए ।

मगध देश में ‘पंचशैलपुर’ नाम का नगर है, जिसे ‘राजगृह’ इस दूसरे नाम का अवसर प्राप्त है, उसमें चेलिनी-महारानी के प्रेम का ग्राहक व पृथिवीरूपी स्त्रीवाले ‘श्रेणिक’ राजा के शत्रुओं के नगरों पर सेना से आक्रमण करनेवाला (वीर) ‘वारिषेण’ नाम का पुत्र था । उसकी मनोवृत्ति निश्चय से कुमार-काल से ही सांसारिक सुखों के समागम से विमुख थी । परम वैराग्य में उद्यत हुआ वह तत्त्वों के पूर्ण निश्चय में रुचि रखने वाला था । श्रावकधर्म की आराधना से प्रशस्त बुद्धि के कारण और गुरुजनों की उपासना में प्रवीण होने से उसने श्रावकाचार की विधि अच्छी तरह निश्चित की थी और वह आश्चर्यजनक व रत्ता की निधि था । एक समय वह कृष्णगन्ध को चतुर्दशी की रात्रि में श्मशानभूमि में रात्रि प्रतिमा योग से स्थित हुआ । अर्थात्—नग्न मुद्राधारक होकर धर्मध्यान में मग्न हुआ ।

इसी अवसर पर परिणत विस्तार वाली मध्यरात्रि में ‘मगध-सुन्दरी’ नाम की वेश्या ने अपने में अत्यन्त आसक्त विस्तृत चित्तवृत्ति वाले और उसकी शय्यातल में प्राप्त हुए मृगवेग नाम के वीर चार से कहा—
‘[प्रियतम !] राजश्रेणिको धनदत्त की पत्नी कीर्तिमती के कुच-मण्डल को अलङ्कृत करने से उत्कृष्ट और आभूषणों में श्रेष्ठ हार इसी समय लाकर यदि मेरे लिए देते हो तो तुम मेरे रति-पुत्र में लीन होनेवाले प्रेमी हो अन्यथा प्रेम का अन्त करने वाले (शत्रु) हो ।’

वेश्या के वचन सुनकर काम-वेग को वश में न करनेवाले मृगवेग ने वेश्या के गृह से निकलकर अपनी कला के बल से धनदत्त सेठ के गृह का आश्रय किया और हार को चुराकर जैसे ही वह भागा वैसे ही उस हार की किरण-समूह के प्रकाश से नगर रक्षकों ने उसका भागना जान लिया, इसलिए ने उसके पीछे दौड़े । अपने को दौड़ने में असमर्थ जानकर मृगवेग उस हार को नग्न देश में कायोत्सर्ग में स्थित हुए वारिषेण के आगे छोड़कर स्वयं छिप गया ।

जब नगर रक्षकों ने उस हार को विशेष कान्ति से ऐसा विचार किया—‘कि निस्तन्देह यह राज-कुमार वारिषेण है, इसके माता-पिता श्रावक हैं, अतः अपने को भागने में असमर्थ जानकर राजकुमार ने अपने

१. ग्राहकस्य । २. भूरेव कलत्रं यस्य सः । ३. सेनयाग्निपातोति । ४. उद्यतः । ५. प्रवीणः । ६. निश्चित । ७. कृष्ण चतुर्दशीरात्रौ । ८. रात्रेः । ९. मध्यरात्रौ । १०. द्रव्यस्त्रिया । ११. आसन्नः प्राप्तः । १२. ‘स्तनमण्डनोदारं’ ख० । १३. ददासि । १४. कामवेगः । १५. आश्रित्य । १६. सेवकैः । १७. पुष्कलः प्राप्तः । १८. पलायितुं ।

वारिषेणस्य पुरतो हारमणाय^१ तिरोवध । तदनुचरास्तत्प्रकाशविधिवशात् 'वारिषेणोऽयं मनु राजकुमारः पलायिसुम-
शक्तः पित्रोः श्वावकत्वादिमाभर्तुप्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः समास्त'^२ इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वंभरा-
धीशवेधनिवेश^३मेतत्पितुः^४ प्रतिपादितवृत्तान्ताः ।

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेसं च रक्षति । राजा शत्रो च मित्रे च यथावेषं समं धृतः ॥१९८॥

इति वचनात् 'न हि महीभूजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्थ
पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणावपरदण्डो दण्डः समस्ति'^५ इति न्यायनिष्ठुरताभिनिवेशोत्पन्नकदेशावागत्य तं सदाचारमहात्म्यं
प्रहरन्तः^६ शरविश^७राभ्यसूतशेखरता^८ 'अमिलमण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरन्मुक्ताहारतामेवमपराध्वज्य-
स्त्राणि सतत्भूषणतामनुसरन्ति । निबुध्य^९तद्विधानार्थमप्रदृष्टप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवोप-
हारमम्बरवरकुमारास्फास्यमानानकनिकरमनिमिषनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमितस्ततो महामहोत्सवावतारं च

आगे हार स्थापित करके जिनेन्द्र की प्रतिमा-सी अपनी आकृति बना ली है और यहाँ स्थित है । इसके बाद वे
राजा श्रेणिक के आवास-स्थान पर पहुँचे और उससे सब समाचार कथन कर दिया ।

नीतिकारों ने कहा है—'कि निस्सन्देह केवल दण्ड ही, जो कि राजा द्वारा शत्रु व मित्र को अपराध
के अनुकूल समानरूप से दिया गया है, इस लोक व परलोक को रक्षा करता है ॥ १९८ ॥'

'निश्चय से राजाओं के लिए गुण-दोष छोड़कर मित्र व शत्रु-व्यवस्था नहीं है । अर्थात्—राजाओं के
लिए जो गुणी है, वह मित्र है और जो दोषी—अपराधी है, वह शत्रु है, इसलिए रत्नमयी हार को चुराने से नष्ट
चरित्रवाले इस पुत्ररूप शत्रु के लिए प्राणदण्ड (फाँसी की सजा) को छोड़कर कोई दूसरा तीक्ष्ण दण्ड नहीं हैं ।'
[ऐसा विचार कर राजा श्रेणिक ने अपने पुत्र के प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी ।]

इस प्रकार न्याय की निष्ठुरता के अभिप्राय वाली वारिषेण के पिता (राजा) की आज्ञा से वे नगर-
रक्षक इमशान भूमि में आए और उस महान् सदाचारी वारिषेण के ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे । परन्तु
उन्होंने बाणसमूहों को फूलों के मुकुटों का अनुसरण करते हुए, और चक्रसमूहों को कर्ण-कुण्डलों का अनुसरण
करते हुए एवं खड्गसमूहों को मोतियों के हारों का अनुसरण करते हुए देखा । अर्थात्—बाण-समूह फूलों के
मुकुट बन गए और चक्रसमूह कर्ण-कुण्डल हो गए—इत्यादि । इसी प्रकार दूसरे अस्त्र भी उसके भूषणपने का
अनुसरण करते हुए ।

उक्त घटना जानकर उसको ध्यान की धीरता से विशेष प्रमुदित होने से नगर देवता-आदि ने चारों
ओर ऐसे महामहोत्सव का अवतरण किया, जिसमें नगर-देवता के करकमलों द्वारा क्षेपण किये जा रहे कल्पवृक्षों
के पुष्पों के उपहार (भेंटें) वर्तमान थे । जिसमें विद्याधर-कुमारों द्वारा अनेक दुन्दुभि वाजे-समूह बजाए जा
रहे थे एवं जिसमें देव-समूह द्वारा प्रशंसा की जा रही अनेक स्तुतियों का मिश्रण था ।

जब प्रहार करने वाले नगर रक्षकों ने यह सब घटना देखी तो उनका मन विशेष भयभीत व
आश्चर्यान्वित हुआ और शीघ्र जाकर उन्होंने श्रेणिक राजा से सब समाचार निवेदन किया । राजा शीघ्र ही

१. त्यक्त्वा । २. आवासस्थानं । ३. वारिषेणतातस्य । ४. भृत्याः श्रेणिकाय निवेदयामासुः । ५. प्रसरान् । ६. अनुसर-
तान् । ७. चक्रं । ८. शास्त्रा ।

निचा^१य सत्वरमतिभीतविस्मितान्तःकरणाः श्रेणिकाधरणीश्वरस्येवं निवेद्यामासुः^२ । नरवरः सपरिवारः सोत्तासं^३
तत्रागतः सन्कुमाराचारानुरागरसोत्सारितमृतिभोतिसङ्गाम्भुगवेगाद^४ अगतामूलवृत्तास्तः साधु तं कुमारं क्षमयामास ।
नृपनन्दनोऽपि प्रतिज्ञात^५ समयावसाने प्राणिनां सुखभसंघाताः खलु संसारे व्यसनविनिपाताः । तवसमत्र कालकवलनावलम्बेन
विलम्बेन । एधोऽहमिवानीममाप्तयथार्थमनीषोन्मेजस्तावतात्महितस्यो^६पकरित्ये^७ इति निश्चयमुपश्लिष्याभास्य^८ पित-
रमापिष्य^९ च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहभाचार्यस्य सुरदेवस्यास्तिके तथौ जग्राह ।

भवति चान्न श्लोकः—

विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छे^{१०}दयरात्मनाम् । किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचार^{११}क्षितः सलः ॥१९॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रदुःखाद्वर्जनी नाम वयोवृत्तः कल्पः ।

पुनः 'इष्टं धर्मं नियोजयेत्, तथा आतुरस्यागवका^{१२}रोपयोग^{१३} इवामिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मयोगः कुशलः क्रियमाणो
भवत्याय^{१४}त्यामवश्यं निःश्रेयसाय' इति आतमतिस्तपःपरिग्रहेऽपि सह पांशुकीदित्वाविचरपरिचयप्रकटप्रणयत्वाच्चात्मनः
प्रियमुद्भवं पुष्पवतीभट्टिनीभर्तुरमात्यस्य शाण्डिल्यायनस्य नन्दनमभिनयविवाहविहितकङ्कणवर्धनं पुष्पवन्ताभिधान-

सपरिवार वहाँ आया और जब उसने ऐसे मृगवेग नाम के चोर से, जिसने वारिषेण राजकुमार के सदाचार के पालन से उत्पन्न हुई स्नेह की उत्कटता के कारण अपनी मृत्यु के भय का सम्पर्क नष्ट कर दिया है, शुरु से अन्त तक हार की चोरी का सब समाचार जाना तब उसने राजकुमार से अच्छी तरह क्षमा माँगी ।

राजकुमार वारिषेण ने ध्यान की प्रतिज्ञा के बाद यह निश्चय किया—'निश्चय से संसार में प्राणियों को दुःखों के आक्रमण सुलभ आगमन वाले होते हैं, अतः मृत्यु के आश्रय वाले विलम्ब से क्या लाभ है ? इसलिए अब यथार्थ बुद्धि के प्रकाश को प्राप्त हुआ मैं आत्मकल्याण के लिए प्रयत्नशील होऊँगा ।' बाद में उसने अपने पिता से कहकर बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह के आग्रह को चर्ण करके सुरदेव नाम के आचार्य के समीप में जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका भाव यह है—विशुद्ध चित्तवृत्तिवाले आत्मजानी महापुरुषों के लिए सदाचार से ऊँच (शून्य) दुष्टों के द्वारा की हुई विघ्न-बाधाएँ क्या कर सकती हैं ? अर्थात्—कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती ॥ १९९ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वारिषेण राजकुमार का दीक्षा के लिए

प्रस्थान वाला यह तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इसके बाद वारिषेण मुनिराज के हृदय में यह परोपकार बुद्धि उत्पन्न हुई । 'अपने प्रिय जन को धर्म में स्थापित करना चाहिए तथा जैसे औषधि का उपयोग रोगी को उत्तरकाल में कल्याणकारक होता है वैसे ही धर्म-पालन की इच्छा न रखते हुए प्राणी के लिए निपुण पुरुषों से किया जा रहा धर्म-संबंध भी उत्तरकाल में मोक्ष के लिए होता है ।' इसलिए जब उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की तब पुष्पवती नाम की मनोज पत्नीवाले 'शाण्डिल्यायन' राजमन्त्री के पुत्र ऐसे पुष्पदन्त के घर जाकर उसे अपने साथ लिया, जो कि वारिषेण राजकुमार

१. अवलोक्य । २. प्रहरन्तः पुरुषाः । ३. त्वरितं । ४. चीरात् । ५. प्रतिज्ञानन्तरं । ६-७. प्रतियत्ने दृष्टी ।
पञ्जिकायां तु आत्महितस्य प्रतियत्ने कृत् इति । ८. कथयित्वा । ९. चूर्णीकृत्य । १०. ज्ञात्वात्मनाम् । ११. उद्वसः ।
१२. अगदंकरमीधम् । १३. वैद्यप्रयोगः । १४. आयतिः फलमुत्तरं ।

मेतवायतनानुगमनेन स्वामिपुत्रत्वात्प्रतिपन्नमहामुनिकपत्वाच्चवाचरितान्मुत्थानं हस्तेनावलम्ब्य पुनः 'अतोऽतद्वयं प्रदेक्षान्मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान्' इति सहामुसरन्तमवाप्तवन्तं च गुरुपान्तं, 'भवन्त, एष सत्त्व महानुभावताललातलम्बनतदः स्वभावेनैव भवभीदभोगानुभवने विरक्तचित्तः 'सर्वसंयतवृत्तार्थी भगवत्पादमूलमापातः' इति सूचयित्वा भगवतोऽप्यर्थो कामकरिकवलिकावर्हभारमिव मूर्धजनिकरमपनाय्य बीक्षां प्राह्यामास । सोऽपि तदुपरोषाक्षेपाद्दीक्षाभावाच्च हृदयस्या- विदितवेदितव्यतन्वावनङ्गग्रहप्रसितहृत्पञ्च पञ्जरपात्रः^१ पतत्प्रीव^२ मन्त्रशक्तिकोलितप्रभावः पूवाकुरिष^३ गाढबन्धना- ज्ञानितो व्यालशुण्डाल^४ इव चाहर्निशं वारिषेण^५ ऋषिणा रक्ष्यमाणोऽपि

अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्तं नवनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च ।

मधुरवचनगर्भं स्मेरं बिम्बाधरायाः पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥२०॥

कणवित्तसमुत्तमपञ्चनकण्टमूषा वक्षोजपत्त्रजवननीभरणाग्ने रभात् ।

पादेऽवलक्तकरसेन च सध्वनानि कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥२०१॥

के मुनि हो जाने पर भी बाल्यकाल में उनके साथ बूढ़ों में क्रीड़ा किया हुआ होने से एवं चिरकालीन परिचय होने से उत्पन्न हुए प्रेम से वारिषेण का प्रिय मित्र था, जिसका नवीन विवाह होने से कङ्कण-बन्धन किया गया था । जो उन्हें देखकर इसलिए खड़ा हो गया था, कि ये स्वामी के पुत्र हैं तथा महामुनि का रूप धारण किये हुए हैं, एवं जो यह सोचता हुआ उनके साथ जा रहा था, कि 'यह पूज्य मुझे अमुक स्थान से लौटा देंगे।' और जो गुरु के पास पहुँच गया था ।

इसके बाद वारिषेण मुनिराज ने गुरु का निम्न प्रकार सूचना दी—'भगवन् ! सज्जनतारूपी लता के आश्रय के लिए वृक्ष-सरीखा यह पुण्ड्रन्त स्वभाव से ही संसार से भयभीत हुआ है और इसका चित्त भोगों के भोग से विरक्त हो गया है, अतः महाव्रत धारण करने की इच्छा से आपके पादमूल में आया है ।'

इसके बाद वारिषेण मुनि ने बीक्षा गुरु के पास में कामदेवरूपी हाथी के लिए केला के पत्तों के समूह-सरीखे केश-समूह का लुञ्चन कराकर उसे दीक्षा ग्रहण करा दी ।

पुण्ड्रन्त ने भी वारिषेण मुनि के आग्रह के वश से दीक्षा ग्रहण कर ली परन्तु उसका मन तत्त्वज्ञानी न होने से और कामदेवरूपी पिशाच से ग्रसित होने के कारण पोंजरे में स्थित हुए पक्षी की तरह और मन्त्रशक्ति से कीलित प्रभाव वाले सर्प की तरह एवं मजबूत बन्धन की खूँटी से बँधे हुए दुष्ट हाथी-सरीखा पराधीन हुआ दिन-रात वारिषेण ऋषि द्वारा रक्षा किया जा रहा था तथापि उसने निम्न प्रकार अपनी प्रियतमा का आग्रह-पूर्वक ध्यान करते हुए बारह वर्ष व्यतीत कर दिए ।

मन्द मुस्कान व बिम्बफल-सरीखे ओठों वाली मेरी प्रिया का वह मुख मेरे सामने मौजूद हुआ-सा मालूम पड़ रहा है, जो कि केश-पाशों से सुन्दर है । जो भ्रुकुटियाँ रूपी लताओं के नृत्य से रमणीक है । जो नये नेत्रों के विलासवाला है । जो सुन्दर गालों की स्थली वाला है और जिसके मध्य मीठे वचन वर्तमान हैं ॥ २०० ॥ जो मानव प्रेम से अपनी प्रियाओं को निम्न प्रकार आभूषणों से अलङ्कृत करते हैं वे ही भाग्यशाली हैं—कानों के आभूषण (एरन व कर्णफूल-आदि), मुख का आभूषण, कण्ठ का आभूषण, (कण्ठमाल व हार-आदि), कुचकलशों पर पत्त-रचना, जङ्घाओं का आभूषण (करधोनी-आदि) और चरणों में लाक्षारस का लेप

१. 'सर्वसंयतवृत्तार्थी' क० । २. पञ्जरस्थः । ३. पक्षिवत् । ४. सर्पवत् । ५. दुष्टजवत् । ६. 'वारिषेण ऋषिणा' इत्यत्र 'ऋत्यकः' इत्यनेन प्रकृतिभावात् सन्धिः । ७. ईषदास ।

लीलाविलासविलासप्रयनोत्पलायाः स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवायाः ।

उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलायास्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥२०२॥

किं च । चित्रालेखनकर्मभिर्मेनसिज^१ व्यापारसाराभृ^२ तर्गादाभ्यासपुरःस्थितप्रियतमापावप्रणामक्रमैः ।

स्वप्ने^३ संगमविप्रयोगविषयप्रोत्थप्रमोदागमैरित्यं वेधमुनिर्विनानि गमयत्युत्कर्षितः कानने ॥२०३॥

इति निर्बन्धन^४ व्यायङ्गावशसभाः^५ समानेषीत् ।

शूरदेवमहद्वारकोऽप्याभ्यां सह तेषु तेषु विषयेषु तीर्थं कृतां पञ्च कल्याणमङ्गलानि स्थानानि चन्दिका पुनर्विहारवशात्तत्रैव
जिनायतनोत्संसितोपास्तशैलचूले पञ्चशैलपु^६ रे समागत्यात्मनो वारिषेण ऋषेश्च तद्विषये पर्युपासितो^७ पवासत्वात्
पुष्पदन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसानाया^८ विदेश । तत्त्वमादिष्टेन च तेन^९ चिन्तितं चिरात्कालात्स्वस्वैकस्मादपमृत्योर्जोवन्मुव
धृतोऽस्मि । संप्रति हि मे नूनमनूनानि पुण्यान्ववेष्य दीक्षां मुमुक्षुणा^{१०} मङ्क्षु^{११} पाशपरिलोपक्षरितेनेव पक्षिणा पलायितुमारब्धम् ।

॥ २०१ ॥ ऐसो उस प्रिया का मेरे साथ निश्चय से कब समागम होगा ? जिसके नेत्ररूपी नीलकमल लीला
(हाव-भेद) व विलास (सौन्दर्य) से सुशोभित हैं । जिसके ओष्ठ पल्लव बड़े हुए काम के वेश से चञ्चल
हैं और जी उन्नत व कड़े कुचमण्डल वाली है ॥ २०२ ॥

मुनिवेशी पुष्पदन्त अपनी प्रिया में उत्कर्षित हुआ जंगल में इस प्रकार दिन व्यतीत करता था ।

उदाहरणार्थ—वस्त्र में प्रिया के चित्र-लेखन कार्यों से, कामदेव के व्यापारों के उत्तम पदार्थों के
स्मरणों से, दृढ़ भावना से सामने खड़ी हुई प्रियतमा के चरणों में नमस्कार के क्रमों से और स्वप्न में प्रिया का
संगम होने से सुख की प्राप्ति व स्वप्न में प्रिया का वियोग होने से दुःख की प्राप्ति से ॥ २०३ ॥

एक बार शूरदेव नाम के आचार्य भी अपने शिष्य वारिषेण व पुष्पदन्त के साथ विविध देशवर्ती
तीर्थंङ्करों के पञ्च कल्याणकों के माङ्गलिक तीर्थ स्थानों की वन्दना करके घूमते घूमते उसी राजगृह नगर में
आए, जिसके निकटवर्ती पर्वत-शिखर जिन-मन्दिरों से सुशोभित हैं । उस दिन आचार्य ने व वारिषेण मुनिराज
ने उपवास धारण किया था, अतः उन्होंने पुष्पदन्त को अकेले ही जाकर आहार करने की आज्ञा दे दी ।

आहार के लिए आज्ञा प्राप्त करनेवाले पुष्पदन्त ने विचार किया—‘निस्सन्देह चिरकाल के बाद में
एक अपमृत्यु से जीवित रहकर उद्धार वाला हुआ हूँ । आज मेरे प्रचुर पुण्य का उदय है । फिर दीक्षा को
छोड़ने के इच्छुक हुए उसने वैसा शोघ्न भागना आरंभ किया जैसे जाल के आदरण से निकला हुआ पक्षी शीघ्र
भागना आरंभ करता है ।

इसके बाद वारिषेण ने उसे इस तरह प्रस्थान करते हुए देखकर उसका भविष्य कालीन अभिप्राय
जानकर विचार किया । ‘यह अवश्य ही जिन दीक्षा छोड़ने का इच्छुक-सा जान पड़ता है, इसीलिए यह उत्कण्ठा
के साथ भाग रहा है ।’ इसकी बुद्धि स्वलोभ से अपहरण की जा रही है; अतः जिन शासन की रक्षा का भार
बहन करने वालों को इसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए ।

१. काम । २. ‘सारास्मृतेः’ मृ० एवं ‘ज’ प्रती पाठः । ३. यदा स्वप्ने संगमो भवति, तद्विषये प्रोत्थागमो
भवति, यदा तु स्वप्ने विप्रयोगो भवति, तद्विषये अप्रमोदागमो भवति । ४. आग्रहेण । ५. दर्पणि ।
६. राजगृहे । ७. सेवित । ८. प्रत्यवसानं भोजनमिति यश. पं. । ९. पुष्पदन्तेन । १०. दीक्षां मोक्षमुच्छ्रिता
११. शीघ्र ।

वारिषेणस्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोदकं वितर्पय अवश्यमयं जिनकथं जिहासुरिव सौत्सुक्यं विधमते, तदेव कथायमुप्य-
मण्यधिषणः समयप्रतिपालनाधिकरणेन भवत्पुष्येक्षणीपः इत्यनुध्याया^१ऽऽ तमनुव^२र्धेत^३स्थापनाय जनकमिक्षेत^४नं अगाम ।
चेलिनीमहादेवी पुत्रं मित्रेण सत्त्र मुपलोकमा^५नमवेक्ष्य तवभिप्रायपरीक्षा^६र्थं सर^७णं विरागं आसनमयच्छत् । वारिषेण-
स्तेन समं चरन्मोपत्रा^८०रं विष्टरमलंकृत्य 'अम्ब'^१, समाहूयन्तां समस्ता अप्यात्मोधाः *स्मुधाः' । तदनु वनदेवता इव
प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामाः, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः, प्रावृष इव 'समुद्रपयोधराविद्ध'^{११}मध्य-
भागाः, सकलजगत्तावप्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभो^{१२}गायतनाभोगाः, कङ्केलि^{१३}काननक्षितय^{१४} इव 'पादपल्ल-
वोल्लासिनविहारविषयाः, कमलिन्य इव मणिमयमञ्जोरमणितो^{१५}न्मव मरा^{१६}रुमण्डलस्खलितचलन^{१७}जलेशयाः,
स्वकीयरूपसंपत्तिरत्नकृतविभूषण^{१८}रामारामणीयताः सलोलमहमहमिकोटसुकाः समागत्य समस्तैरपरिवृष्टः पुण्यदेवता इव
ताः स्ववासिन्यः^{१९} । 'अम्ब, मद्भ्रातृजा^{२०}या सुवत्पत्याकार्यताम्' । ततः संध्येव^{२१}यातुरक्ताम्बरधराटोपा, तपःशीरिव

ऐसा विचार करके वारिषेण मुनि क्षीघ्र मार्ग रोककर इसे मुनिधर्म में स्थापित करने के लिए अपने
पिता श्रेणिक राजा के निवास-स्थान पर गए । चेलिनी रानी ने अपने पुत्र वारिषेण को मित्र के साथ आते हुए
देखकर उसके मन के अभिप्राय की परीक्षा करने के लिये रागियों के योग्य आसन (पलङ्ग-आदि) और वैरा-
गियों के योग्य आसन (तुषासन) प्रदान किये । वारिषेण मुनि अपने मित्र के साथ वैरागियों के योग्य आसन
(चटाई) पर बैठ गए और कहा—'माता ! अपनी समस्त पुत्र-वधुओं को बुलाओ ।'

बाद में ऐसी सभी पूर्णयुवती वारिषेण की पत्नियों ने परस्पर के अहंकार से उत्कण्ठित होकर विलास
के साथ आकर उन्हें चारों ओर से वेष्टित कर लिया, जिनका केशपाश रूपी बगीचा वैसा पुष्परूपी शिरोभूषणों
से वृद्धिगत था जैसे वनदेवता पुष्परूपी शिरोभूषण से वृद्धिगत बगीचे वाली होती है । जिनके अङ्गों के निकास
मणिमय आभूषणों से वैसे मनोज्ञ हैं जैसे कल्पलताएँ मणि-सरीखे (शुभ्र) पुष्परूपी आभूषणों से मनोज्ञ होती
हैं । जिनका मध्यभाग (कमर) वैसा उन्नत पयोधरों (कुच कलशों) से आविद्ध (सुका हुआ) है जैसे वर्षा
च्छतु विशाल पयोधरों (मेघों) से आच्छादित आकाश के मध्यभाग वाली होती है । जिनका विस्तृत शरीर ऐसा
सुन्दर है—मातों—समस्त लोक के सौन्दर्य को अंशरूप लिपि से लिखी गई है । जिन्होंने विहार विषयों (लीला-
प्रदेशों) को पादपल्लवों (चरणरूपी किसलयों) से वैसा सुशोभित किया है जैसे अशोक वृक्षों की वन भूमियाँ
विहार विषयों (उद्यान-प्रान्तों) को पाद (मूल से लेकर) किसलयों से सुशोभित करती हैं । जैसे कमल-
लताएँ रत्नमयी तूपुरों के शब्द-सरीखा शब्द करने वाले मतवाले हंस-समूह से चलित कमलों वाली होती हैं
वैसे ही जिनके चरणकमल रत्नमयी तूपुरों की मधुर झङ्कार ध्वनिरूपी मतवाले हंस-समूह से चलित हो
रहे हैं । जिन्होंने अपनी रूपसम्पदा से तीन लोक की नारी जनों की सुन्दरता तिरस्कृत की है और जो पुण्य-
देवता-सरीखी हैं ।

इसके बाद वारिषेण ने कहा—'माता ! मेरी भ्रातृ-वधू सुदती को भी बुलाइए ।' अतः ऐसी सुदती
भी वहाँ प्रविष्ट हुई । जो वैसी गेरुआ रक्त अम्बर (वस्त्र) से चञ्चल विस्तारवाली है जैसी संध्या लोहित

१. अभिप्रायायति । २. त्यक्तुमिच्छुः । ३. स्त्रीलोभ । ४. क्षीघ्र । ५. मार्ग रुद्ध्वा । ६. एतस्य स्थापनं । ७.
श्रेणिकावासं । ८. आगच्छन्तं । ९. मञ्चकादिकं । १०. वीतरागासनं । ११. हे मातः । १२. वध्वः । १३. उन्नत ।
१४. आभूषणो निर्भरं वा । १५. शरीरं । १६. अशोकवृक्ष । १७. भूमयः । १८. पादाः चरणाः पद्मे मूलं । १९.
शान्दित । २०. हंसः । २१. चलना एव जलेशयानि यासां ताः । २२. नारीजन । २३. किञ्चित् प्रौढाः ।
२४. भ्रातृपत्नी । २५. गेरुकरक्तवस्त्रेण चरः चपलः आटोपो धरयाः सा ।

विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्रंशिवर्शभा, हिमोष्मथिता कमलिनोद शामच्छायापघ^१ता, शरदिव
बीजपयोधरभरा, खट्वाङ्गकरकुक्कुतिरिव प्रकटकीकस^२निकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिभीतिमूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव
विवेश । पुष्पदन्तहृदयकन्वलो^३स्त्वासवसुमती सुदती । चारिषेणोऽवधार्य^४ मित्र, सेव्यं तव प्रणयिनो यन्निमित्तमद्यापि
न संपद्यते मतो मुनिरिति । एताश्चैवंविधकायास्तथ भ्रातृजायाः, तथैते च वयं तव समक्षोऽयं समाचरिताभिजातजनी-
चितचरिताः^५ । पुष्पदन्तः—

स्नानानुलेपवसनानरणप्रसूनताम्बूलवासविधिना^६ क्षणमात्रमेतत् ।

आये^७पभाषसुभगं वपुरङ्गनानां नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य^८ वाच्यं ॥२०४॥

इत्यसंशयमाशय^९ स्त्रेणेषु सुखकरणेषु विचिक्रितासज्जां लज्जामभिनीय^{१०} 'हंहो' निकामतिरुद्धमकरज्व-

वर्ण वाले अम्बर (आकाश) में संचार करनेवाले विस्तार वाली होती है । जो वैसी विलुप्त (अस्त-व्यस्त)
केश-समूह वाली है जैसी तपोलक्ष्मी विलुप्त (उताड़ित—उखाड़े हुए) केश-समूह वाली होती है । जो वैसी
विभ्रम (विलास—सीन्दर्य) से शून्य दशन वाली है जैसे भव्यप्राणी की बुद्धि विभ्रम (मिथ्याज्ञान) को नष्ट
करनेवाले सम्प्रदर्शन से अलङ्कृत होती है । जो वैसी शामच्छायापघना (म्लानकान्ति-युक्त शरीरवाली) है जैसी
पाले से पीड़ित हुई कमललता म्लान कान्तियुक्त पत्र-पुष्पादि अवयवों वाली होती है । जैसे शरद ऋतु दीन (दरिद्र—
निर्जल) पयोधर-समूह (मेघ-समूह) वाली होती है वैसे ही जो दीन (शिथिल) पयोधर-समूह (कुच-समूह)
वाली है । जैसे अनबुझी खाट की आकृति प्रकट दिखाई देनेवाले कीकसों (कीड़ों) के समूह वाली होती है
वैसे ही जिसके कीकस-समूह (हड्डियों की श्रेणी) प्रकट दिखाई देते थे । जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—
समस्त सांसारिक भुवों से पराङ्मुखता (उदासीनता) की नीति वाली मूर्तिमती (स्त्री-रूपधारिणी) वैराग्य-
स्थिति ही है और जो पुष्पदन्त के हृदयरूपी पल्लव के उत्थास (प्रमोद) के लिए पृथिवी-सरोखी है ।

सुदती को जानकर चारिषेण ने कहा—'मित्र ! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है, जिसके निमित्त से
अब तक भी—बारह वर्ष बीत जाने पर भी—तुम भाव साधु नहीं हुए और ये सब सामने दिखाई देने वाली
मनोज्ञ शरीर वाली तुम्हारी भोजादर्या हैं एवं ये हम हैं, जिन्होंने तुम्हारे समक्ष चारित्र की उत्पत्तिपूर्वक कुलीन
पुरुषों के योग्य निर्दोष चारित्र पालन किया है, अर्थात्—मेरी स्त्रियाँ विशेष सुन्दर हैं तो भी उन्हें छोड़कर मैंने
निर्दोष चारित्र पालन किया और तुम कुरूप स्त्री को देवी-सरोखी समझकर हीन चारित्र वाले हुए हो । इस
प्रकार चारिषेण ने पुष्पदन्त की तिरस्कृत किया ।

तत्पश्चात् पुष्पदन्त ने निम्न प्रकार निस्सन्देह विचार किया—

यह स्त्रियों का शरीर, स्नान, सुगन्धित वस्तु का लेप, मनोज्ञ वस्त्र, आभूषण, पुष्प, ताम्बूल व
वासन-धूपनादि विधि से अन्य दूसरी सुगन्धित वस्तुओं के आरोपण से क्षणमात्र के लिए सुन्दर प्रतीत होता है
परन्तु इस शरीर की स्वाभाविक स्थिति (रस व रक्त-आदि सप्तधातु-युक्तता) कहने योग्य नहीं है, अर्थात्—यह
अत्यन्त असमीचीन है ॥ २०४ ॥

इसके बाद उसने स्त्री सम्बन्धी क्षणिक सुख के कारणों में रत्नानि-युक्त लज्जा को प्राप्त करके कहा—

१. देहा । २. खट्वाङ्गमेव करकूः वाणदोरहीरहिता खाटलु । ३. अस्थि । ४. पल्लव । ५. वासनधूपनादि ।
६. सुगन्धवस्तुनाऽरोपणेन क्षणमात्रसुभगमगं । ७. अस्य अङ्गस्य नैसर्गिकी स्वाभाविकी स्थितिर्नवाच्या-निवरा
असमीचीनेत्यर्थः । ८. विविन्त्य । ९. प्राप्य । १०. अतिशयेन ।

“कोद्धव, “विद्युरबाध्वव संसारमुक्तसरोओत्सा^१ रनीहारायमाणचरण^२ वारिषेण, पपांस्तमश्रावस्थानं । प्रकाशक^३-
लितकुसुमास्त्ररसरहस्य वयस्य^४, इदानीं यथार्थनिर्बोधावतिर्नोमुनिरस्मीति चावधार्य विद्युद्वह्वयो द्वावपि तौ चेलिनी-
महादेवीमभिनन्दोपसद्य^५ च गुरुधादोपशल्यं^६ निःशल्याशयो साधु तपश्चक्रतुः ।

भवति चात्र श्लोकः—

मुदतीसङ्गमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम् । वारिषेणः कृतश्राणः स्थापयामास संयमे ॥२०५॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्विंशः कल्पः ।

“खेत्येवर्चत्वालयंजनिस्तपोभिविधिघात्मकः । पूजामहाध्वजाद्यंश्च कुर्यान्मागं प्रभावमम् ॥२०६॥

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्तत्त्वयुते । ^{१०}स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मीनूनं तस्याप्यसूयते^{११} ॥२०७॥

समर्थविजितवित्ताभ्यामिहापासनभासकः^{१२} । समर्थद्विचरितवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र^{१३} न भासकः ॥२०८॥

‘कामदेव के दर्प को विशेष रूप से रोकने वाले और कष्ट अवस्था में बन्धु-सरीखे एवं सांसारिक सुखरूपी कमल को तट्ट करने में हिम-(बर्फ) सरीखे चरित्रशाली ऐसे हे वारिषेण ! यहाँ ठहरने से कोई लाभ नहीं’ । ‘कामदेव के रस के गूढस्वरूप को विशेष रूप से खण्डित करने वाले मित्र ! इस समय मैं वास्तविक वैराग्य का स्थान होकर भावमुनि हुआ हूँ । ऐसा निश्चय करके दोनों विशुद्ध हृदय वाले मित्रों ने चेलिनी महादेवी का अभिनन्दन करके गुरु के चरणकमलों के समीप प्राप्त होकर निःशल्या अभिप्राय वाले होकर अच्छी तरह उग्र तपश्चर्या की ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अभिप्राय यह है—

वारिषेण ऋषि ने पुष्पदन्त नामक तपस्वी को, जो कि मुदती नाम की प्रिया के साथ संगम के लिए लालायित हो रहा था, रक्षा की ओर उसे चरित्र में स्थापित किया ॥ २०५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में स्थितिकरण का कथन करने वाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब सम्यक्त्व के प्रभावना अङ्ग का निरूपण करते हैं—]

अनेक प्रकार के जिनविम्ब व जिनमन्दिरों की, स्थापना के द्वारा, अनेक प्रकार के व्याकरण, काव्य, कोष, न्याय व धर्मशास्त्रों के ज्ञान के द्वारा, नाना प्रकार की तपश्चर्याओं (अनशन-आदि बारह प्रकार के तपों) द्वारा एवं नाना प्रकार की महाध्वज-आदि पूजाओं (नित्यपूजा, अष्टाह्निकपूजा, इन्द्रमहपूजा व महामहपूजा-आदि) द्वारा जैनशासन की प्रभावना करनी चाहिए ॥ २०६ ॥ जो विवेक-शून्य मानव साधु महापुरुषों के सम्यग्ज्ञान, तप व पूजा से ईर्ष्या—द्वेष करता है, अर्थात्—जो मुख्य, साधुओं के ज्ञान, तप व उपासना को देखकर उनके गुणों से द्रोह करता है, निस्सन्देह उससे स्वर्गलक्ष्मी व मोक्षलक्ष्मी भी ईर्ष्या करती है । अर्थात्—उसे स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २०७ ॥ जो विवेकी मानव विशुद्ध चित्तवृत्ति (अभिमान, ईर्ष्या व अनिष्ट चिन्तन-आदि दोषों से रहित मनोवृत्ति) या शास्त्रज्ञान और धन (धन-धान्य-आदि के दान) से समर्थ होने पर भी शासन-दीपक (जैनधर्म की प्रभावना करने वाला) नहीं है, वह विशुद्ध मनोवृत्ति या

१. दर्प । २. कट्टे सति । ३-४. विनाशो हिममिव चारित्र्य यस्य । ५. खण्डित । ६. मित्र । ७. प्राप्य । ८. समीप ।

९. प्रतियोगिभिः । १०. स्वर्गापवर्गविषये भवतीति नूः । ११. अक्षमां करोति । १२. न शासनदीपको यः भवति ।

१३. आत्मनः परलोके स उद्योतको न भवति ।

तद्दानज्ञानविज्ञानमहामह^१महोत्सवः । वर्धनद्योतनं कुर्याद्वैदिकपेक्षयोऽक्षितः^२ ॥२०९॥

धूपतामत्रोपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पाश्र्वनाथपरमेश्वरविराजःप्रकाशनामत्रे^३ अहिच्छत्रं चन्द्राननाङ्ग-
नारतिकुसुमवापस्य द्विषंतपस्य^४ भूपतेरुदितोदितकुलशीलः षडङ्ग^५वेदे वेदे निमित्तं दण्डनीत्यां आभिविनीतमति-
रापवां देवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता^६ यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल
यज्ञदत्तान्त^७वत्सी सती माफन्व^८मञ्जरी^९कर्णपुरेषु^{१०} तत्परिणतफलाहारेषु^{११} च समासादितबोहला^{१२} व्यतिक्रान्तर-
^{१३}सालधल्लरोफलकालतया *कामितमनवानुवती^{१४} शिफासु^{१५} व्यथमानं प्रतानिनीव^{१६} १७ तनुतानचमुपेयुषो तेन पुरोहितेन

बुद्धि तथा धनादि वैभव से समर्थ होने पर भी परलोक में अपनी आत्मा का उद्योत करने वाला नहीं हो सकता ।
अर्थात्—उस स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २०८ ॥ इसलिए धर्म-बुद्धि वाले मानव को
ऐहिक सुख की अपेक्षा से रहित होते हुए आहारादि चार प्रकार के पात्रदान से, आगम के ज्ञान से, चौसठ
कलाओं के विज्ञान से एवं प्रतिष्ठा-आदि महोत्सवों से, सम्यग्दर्शन का प्रकाश करना चाहिए ॥ २०९ ॥

भावार्थ—स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी प्रभावना अङ्ग का निरूपण करते हुए कहा है—कि 'अज्ञान-
रूपी अन्धकार के विस्तार को हटाकर जैनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है ।' इसमें बहुश्रुत,
स्वार्थत्यागी, वक्ता व मुलेखक विद्वानों की एवं दानवीर धनाढ्यों की अपेक्षा होती है । इतिहास भी साक्षी है
कि ई० से ३२५ वर्ष पूर्व भद्रबाहु श्रुतकेवली ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के सहयोग से न केवल, ज्ञान का भण्डार
भरकर शासन को उद्योपित किया, किन्तु साथ में अनेक बहुश्रुत विद्वान् चरित्रनिष्ठ मुनिसंघ को पैदा करके
जैनशासन की वृद्धि प्रभावना की । अतः वर्तमान में जैन शासन को उद्योपित करने के लिए अनेक बहुश्रुत
स्वार्थत्यागी धुरन्धर विद्वानों को उत्पन्न करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए और यह बात सभी संभव है
जब प्रत्येक स्थान में विद्यालय व गुरुकुल हों । बहुश्रुत विद्वानों का कर्तव्य है, कि वे द्वादशाङ्ग श्रुत के उद्धार
के लिए संस्कृत या प्राकृतिक शास्त्रों का खोजपूर्ण हिन्दी अनुवाद करें—ताकि शास्त्र, स्वाध्याय सुलभ हो जाय ।
इसी प्रकार दानवीर धनाढ्यों का कर्तव्य है कि वे विद्वानों की सेवा शुश्रूषा करते हुए उन्हें जैन शासन की
प्रभावना के श्रेयस्कर मार्ग में पूर्ण (तन, मन व धन से) सहयोग दें । ऐसा करने से वे स्वर्ग श्री व मुक्तिश्री के
पात्र होकर ऐहिक कीर्तिभाजन भी होंगे ।

अब प्रभावना अङ्ग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा सुनिए—

पञ्चाल देश में श्रीमत्पाश्र्वनाथ तीर्थङ्कर की कीर्ति के प्रकाशन का पात्र 'अहिच्छत्र' नाम का नगर
है । उसमें 'चन्द्रानना' नाम की रानीरूपी रति के लिए कामदेव-सा मनोज्ञ 'द्विषंतप' नाम का राजा राज्य
करता था । उसके ऐसा 'सोमदत्त' नाम का राजपुरोहित था, जो कि कुलीन, सदाचारी और छह वेदाङ्ग
(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द व ज्योतिष), चार वेद, ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दण्डनीति विद्या में
प्रवीण बुद्धिशाली था एवं देवी (उल्कापात, अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों को दूर
करने में समर्थ था । उसकी 'यज्ञदत्ता' नामकी स्त्री थी ।

एक बार यज्ञदत्ता गर्भवती हुई और उसे आम्रमञ्जरी के कर्णपूर के धारण का और पके हुए आम्र-
फल के भक्षण का दोहला हुआ । परन्तु आम्र-मञ्जरी व पके हुए आम्र-फल का मौसम बीत चुका था, अतः

१. प्रतिष्ठादि । २. इहलोकसुखापेक्षारहितः । ३. अमत्रे—पात्रे भाजने । ४. नाम्नः । ५. शिक्षा, कल्पो व्याकरण
छन्दो ज्योतिर्निरुक्तं चेति । ६. प्रसीकारकर्ता । ७. गर्भिणी । ८. माकन्दरसालपिकप्रियकालिदासाः चूतपर्यायाः ।
९. वल्लरीवल्ली मञ्जरीमपि । १०. पक्षं । ११. आम्रवल्ली । * 'कामितमनवानुवती' इति क० । १२. मूलेयु,
शिफाः जटाः इति पं० । १३. प्रतानिनी लता वल्ली । १४. कायकुशत्वं प्राप्ता ।

जातिजननेन च प्रवर्धनेन^१ गृष्टा हृदयेष्टमभाविष्ट । भट्टस्तन्निशब्ध 'कथमेतन्मनोरथमपथाप्यपथमस्मन्मनोमथ'^२ मव्यर्थ-
प्रार्थन^३ करिष्यामि' इत्याकुलमनःपरिचयदद्यात्तन्मात्रानुभवः^४ सातपत्त्रपदत्राण^५ स्तवगवेषण^६ विषयापराधः सन्नितस्ततो-
सजन् जलवाहिनी नाम नदीतटनिकटतिविष्टप्रतनने^७ महति कालिदासफानने^८ परमत्पञ्चरणाचरणद्युच्चिशरीरेण
निःशेषश्रुतश्रवणप्रसृतमनस्कारेण^९ समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धौषधिसिद्धि^{१०} ससाधितवनदेवतानिकरेण
मूर्तिमत्तेव धर्मेण विनेयदैविकेयमित्रेण^{११} सुमित्रेण मुनिनालङ्कृतालयालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चस^{१२} माहात्म्यावामूलमाचूतं
र्चकं चूतं समुल्लसत्लवली^{१३} फलगुटुच्छस्फीतमवलोक्य^{१४} श्लोकचट्टावहस्ते कलत्रस्य पिकप्रियप्रसवफलप्रसोती^{१५}
प्रहृष्ट्य ततो भगवतोऽवशिषोषयोधिषमध्यसंनिभायमानसकलकलाकलापरानाहु मध्वणावसरप्रयत्नासमायातं सहस्रारकल्पे
सूर्यविमानसंभूतं सूर्यचरामिधानानुगतमत्यल्पविभवपरिष्कृतमा^{१६} तसगोचरं भवान्तरमाकर्ण्योषीर्षजातिस्मरभावः स्वप्न-

उसका दोहला पूर्ण न होने से उसने वैसी शारीरिक कुशला (क्षीणता) प्राप्त की जैसी मूल (जड़) में व्यथित
बेलड़ी क्षीणता प्राप्त करती है । अतः राजपुरोहित और कुटुम्बी जनों द्वारा विस्तार से पूँछी जाने पर उसने अपना
दोहला कह दिया । उक्त बात सुनकर पुरोहित का मन और कुटुम्बीजन व्याकुलित हुए । उसने मन में
विचार किया—कि 'मैं जूटे मार्ग का अनुसरण करने वाली व मेरा मन व्यथित (विशेष दुःखित) करने वाली
इसकी मनोकामना कैसे सफल (पूर्ण) करूँ ?'

पश्चात् उसने छात्र सम्प्रदाय के संघ-सहित होकर छत्ता धारण किया व जूते पहिने और आस्रफल
के देखने वा खोजने की बुद्धि में तत्पर हुआ । यहाँ वहाँ पर्यटन करते हुए उसने 'जलवाहिनी' नाम की नदी
के तट के निकटवर्ती, विस्तृत व महान् आस्रवन में ऐसा आस्र-वृक्ष देखा, जिसकी कयारो-समूह ऐसे 'सुमित्र'
नाम के ऋषि से अलङ्कृत थी, जो कि (आस्रवृक्ष) प्रस्तुत ऋषि के चारित्र्य व विद्या के प्रभाव से जड़ से
शिखर तक बोधायमान हो रही मञ्जरियों व आस्र फलों के गुच्छों से वृद्धिगत था । जो कि (सुमित्र ऋषि)
उत्कृष्ट तपश्चर्या के अनुष्ठान से पवित्र शरीर वाले थे । समस्त द्वादशाङ्ग श्रुत के श्रवण से जिसका चित्त
विस्तृत हो गया था । जिसने समस्त प्राणियों के स्वरूप को निरूपण करने वाले स्वाध्याय की ध्वनिरूपी
सिद्धौषधि की समीपता से वनदेवता-समूह को अपने वश में कर लिया था । जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों
—मूर्तिमान् धर्म ही है—और जो शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य-नरीखे थे । इसके बाद
उसने उस आस्र वृक्ष से उत्पन्न हुए फलों के गुच्छों को तोड़कर चतुर शिष्य के हाथ अपनी प्रिया के पास
भेज दिए ।

इसके बाद उसने जब उक्त ऋषि से, जिसकी आत्मा में अवधिज्ञानरूपी समुद्र के मध्य गन्तिधि प्राप्त
करने वाले समस्त कला-समूह रूपी रत्न प्रकट हुए हैं, अपना इस प्रकार पूर्वभव श्रवण किया, कि 'तू बारहवें
स्वर्ग में सूर्य नामक विमान में उत्पन्न हुआ, बहुत थोड़े ऐश्वर्य से सहित भूतपूर्व सूर्य नामका देव था और मेरे
निकट धर्मश्रवण के अवसर पर प्रयत्न पूर्वक आया हुआ था' सब उसे पूर्वभव का स्मरण हुआ, अतः उसने

१. प्रवर्धन । २. अस्मन्मनो मथ्नातीति अस्मन्मनोमथं दुःखार्द । ३. सफलकथं । ४. संप्रदायमेलापकसहितः । ५. छत्रो-
पातसहितः, सहातपत्रेण छत्रेण पदत्राणाभ्यामुपातद्भ्यां वर्तते इति । ६. आस्रावलोकन । ७. विस्तरण । ८. आस्रवने ।
९. चित्ताभोगेन । १०. समीप । ११. कमलसूर्येण (सुमित्रेण), दैविकेयं कमलं, मित्रेण रविणा । १२. स्याद्ब्रह्म-
वर्चसं कृताध्ययनार्द्धिः श्रवविद्याप्रभावात् । ब्रह्मवर्चसं यतिप्रसविद्याप्रभावाः । १३. मञ्जरी । * 'गुच्छोऽस्ति' (क०) ।
१४. चतुर । १५. आस्रवरडिका । १६. परिणतं सहितमित्यर्थः ।

समासादितसांभ्राज्यसमानसारात्संसारविद्वज् धनोज्ज्वलप्रकाशं प्रवृत्त्यासाध्य^१ प्रबुद्धसिद्धान्तहृदयो भगवद्विषये
सोपारपुरपर्यन्तवाग्नि^२ नाभिगिरिनाम्नि महीधरे सम्पद्योगातपनयोगधरो^३ बभूव ।

तदनु सा तद्वियोगातकुर्वन्सचित्ता यज्ञवत्ता तदन्तेवासिभ्यः सोमवत्तद्व्यतिफरमात्मखेदकरमनुभूय प्रभूय
च समये^४ स्तनंधमं पुनस्तमावाय प्रयाय च तं भूमिभूतम्^५ 'अहो कूटकपटपिष्टक'^६ मग्धमोवनदाहृदावपावक,
निःस्निग्ध, बुविद्विग्ध, यधीमं विगम्बर^७ प्रतिच्छन्वमवच्छिद्य^८ स्वच्छमागच्छसि तदागच्छ, नो चेद् गृह्णानमात्मनो नन्दनम्^९
इति व्याहृत्यास्योर्ध्वभोभंगवतः पुरतः शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार तिजं निवासम् । भगवानपि तेन सुतेन वृषवः
^{१०} प्लोषोरकर्वकक्ष्णत्वाद्दिष्टरीकृतचरणवर्गः^{११} सोपसर्गस्तथैवावतस्ये ।

अत्रान्तरे सहस्ररानुचरसंचरत्स्वेचरोचरणासक्तकरस्तरः प्रस्य विजयार्धतटीप्रस्य^{१२} दयिताविद्वरविद्याधरी-
विनोदविहारपरिमलितकान्तारधरण्यामुत्तरध्वेभ्याममरावतीपुरीपरमेश्वरः सुभङ्गलाबलावरः प्रकामं^{१३} निष्ठाताराति-
काशशयशोकशङ्कुस्त्रिदाङ्कुनाम नृपतिः समरावसराभिसरसपरनसंतानावसान^{१४} सारशिलीमुखविचाराय राज्यसुखमनुभूय
जिनागमावगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितियंतिभूषुर्भूगोचरसंचाराय हैमपुरेश्वराय समस्तमहोदमाभ्यशासनाय

स्वप्न-राज्य-सरीखे सारवाले (निस्सार) संसार से विरक्त होकर ऐसी जिनदीक्षा ग्रहण की, जिसमें कामदेव के विजय को प्रचुरता वर्तमान है,

बाद में वह समस्त सिद्धान्तों के रहस्य का ज्ञाता होकर मग्ध देशवर्ती 'सोपारपुर' नामक नगर के समीपवर्ती तेजवाले 'नाभिगिरि' नाम के पर्वत पर भले प्रकार धर्मध्यान संबंधी आतपन योग का धारक हुआ ।

इसके बाद अपने पति के विधोग की दारुण व्यथा से नष्ट चित्तवाली यज्ञवत्ता ब्राह्मणी ने शिष्यों से अपने लिए खेदजनक सोमदत्ता के दोक्षा-ग्रहण का समाचार जाना और नौ महीने के अन्त में बच्चे का प्रसव किया और उसे लेकर उसी पर्वत पर पहुँच कर अपने दीक्षित पति से बोली—'अरे कूट-कपट के समूह और मेरे मनरूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि-सरीखे एवं निःस्नेही मूर्ख ! यदि इस विगम्बर (नग्न) वेष को छोड़कर अपनी इच्छानुसार आते हो तो आओ, नहीं तो अपने इस पुत्र को ग्रहण कर ।' ऐसा कहकर वह ऊँचे घुटनों वाले (खड़े होकर ध्यान करनेवाले) मुनि के सामने शिलातल पर बच्चे को छोड़कर अपने निवास-स्थान पर चली गई । शिला के विशेष दाह से कलुषित होने से मुनि के दोनों पैर बच्चे के आधारीभूत थे और मुनि भी उस बच्चे से उपसर्ग-सहित हुए पूर्व की तरह ध्यानाखूँट होकर खड़े हुए थे ।

इसी बीच में ऐसे विजयार्ध पर्वत की, जिसका मध्य-भाग साथ-साथ गमन करने वाले सेवकों के साथ संचार करने वाली विद्याधरियों के चरणों में लगे हुए लाजारस से लाल है, उत्तर श्रेणी में, जिसकी वन-भूमि समीपवर्ती पतिवाली विद्याधरियों के आनन्दजनक विहार से सुगन्धित है, अमरावती नामकी नगरी का स्वामी, सुभङ्गला रानी का पति और शत्रु स्त्रियों के हृदय में विशेष रूप से शोकरूपी कीला गाड़ने वाला त्रिशङ्कु नामका राजा राज्य करता था, जिसके बाण युद्ध के अवसर पर सामने आ रहे शत्रु-समूह का ध्वंस करने में अव्यर्थ थे, उसने चिरकाल पर्यन्त राज्य-सुख का उपभोग करके जैन सिद्धान्त से संसार, धारीर व पंचेन्द्रियों के भोगों से वैराग्य-स्थिति का अनुभव किया । अतः मुनि होने के इच्छुक हुए उसने ऐसे बल-

१. गृहीत्वा । २. लेजसि । ३. ध्यान । ४. नवमासावसाने । ५. पर्वतम् । ६. मंडल । ७. रूपं । ८. मुक्त्वा ।

९. ऊर्ध्वजातोः । १०. दाह । ११. शिरवीरधारीभूतपादः । १२. समापकान्त । १३. दाटिपशोककीलकः । १४. मरण ।

बलवाहनस्य पुता सुदेवी राज्यं च ज्येष्ठस्य पुत्रस्य भास्करदेवस्य त्रया सुप्रभसूरिसमीपे संयमी समजनि । ततो गतेषु कतिपयेषु चिद्विषयेषु समुत्साहितारमीयसहायसमूहेन स्वर्गोर्वर्षविद्यावलम्बूहेन बुधिनोतवरिष्ठेन कनिष्ठेनामुजेन पुरन्दरदेवेन विहितराज्यापहारः^१ परिजनेन समं स भास्करदेवस्तत्र बलवाहनपुरे^२ शिविरमभिनिवेश्य मणिमालया महिष्यानु-
गतस्तं सोमवस्तभगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादपुले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महाश्चर्यम् । अतः कथ-
मिवमरत्नाकरमपि^३ रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अनिन्धनमपि^४ तेजःपुञ्जम्, अचण्डकरमग्नित्विषम्, अनिला-
मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शनापि म्लानम्लावण्यः, कठोरोष्मणि ग्रावणि वज्रघटित
इव रिरंसमानमानसः, मातुरसङ्गत इव मुखेन समास्ते^५ इति कृतमतिः—'प्रियतमे, कामं स्तनंधयधृतमनोरथाशस्तथायं

वाहन नाम के राजा के साथ, जो कि भूमिगोचरी व हेमपुर नगर का स्वामी एवं समस्त राजाओं द्वारा मानने योग्य आज्ञा वाला था, अपनी सुदेवी नामकी पुत्री का विवाह संस्कार किया और समस्त राज्य भार 'भास्कर देव' नाम के ज्येष्ठ पुत्र को देकर सुप्रभ नाम के आचार्य के समीप दीक्षा धारण करके मुनि हो गया ।

कुछ दिनों के पश्चात् वह भास्करदेव, जिसका राज्य ऐसे पुरन्दरदेव नाम के छोटे भाई द्वारा छीन लिया गया था, जिसने अपना सहायक-समूह उत्साहित किया था, और जो अपनी भुजाओं का दर्प (गर्व), राजनैतिक ज्ञान व सैन्य-समूह से युक्त था एवं जो उद्दण्डों में थोष्ट था, अपने कुटुम्बीजनों के साथ उक्त बलवाहन-नामके नगर में (भगिनीपतिनगर—हेमपुर में) अपना लश्कर डाला और सोमवस्त मुनि की पूजा के लिए अपनी मणिमाला नाम की रानी के साथ आया । वहाँ पर उसने मुनि के पादमूल में स्थलकमल-सरीखे उस नवजात शिशु को देखकर विचार किया—'अहो महान् आश्चर्यं है, क्योंकि कैसे यह (नवजात शिशु) अरत्नाकरमपि (रत्न-समूह न) होकर के भी रत्न है, यहाँ पर विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि जो रत्न-समूह नहीं है वह रत्न कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो (शिशु) अ-रत्नाकर है (समुद्र नहीं है) और अपि (निश्चय से) रत्न (रत्न-सरीखा श्रेष्ठ) है । जो अ-जलाशयमपि (तड़ाग के बिना भी) कुशेशय (कमल) है । यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि तड़ाग के बिना कमल होना संघटित नहीं होता । अतः इसका समाधान यह है कि जो अ-जलाशय (मूल न होकर) अपि (निश्चय से) कुशेशय (कमल-सा मनोज्ञ) है । जो अनिन्धनमपि (ईंधन के बिना भी) तेजःपुञ्ज (अग्नि) है । यह भी विरुद्ध है; क्योंकि ईंधन के बिना अग्नि होना नितान्त असंभव है । अतः इसका परिहार यह है कि जो अनिन्धन (ईंधनरूप नहीं है) और अपि (निश्चय से) तेजःपुञ्जम् (सौन्दर्य-राशि) है । इसी प्रकार जो अ-चण्डकरमपि (सूर्य के बिना भी) उग्रत्विषं (तीक्ष्ण कान्ति-युक्त) है । यह भी विरुद्ध है; क्योंकि सूर्य के बिना तीक्ष्णकान्ति-युक्त कैसे हो सकता है ? अतः इसका परिहार यह है कि जो अ-चण्ड-कर (उष्ण हस्तशाली न होता हुआ) अपि (निश्चय से) उग्रत्विषम् (विशेष मनोज्ञ कान्ति वाला) है और जो अनिलामातुलमपि (चन्द्र न होकर के भी) कमनीय (मनोज्ञ) है । यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि चन्द्र के बिना कमनीयता (मनोज्ञता) संघटित नहीं होती । अतः इसका समाधान यह है कि जो अनिलामातुल (चन्द्र रूप न होता हुआ) अपि (निश्चय से) कमनीय (विशेष मनोज्ञ) है । यह नवजात शिशु वैसा हस्त के स्पर्श से भी म्लान कान्तिवाला है जैसे नवीन पल्लव हस्त-स्पर्श से भी म्लानकान्ति-युक्त होता है । यह तीक्ष्ण ऊष्मावाले पापाण पर वज्र-घटित-

१. भास्करदेवः । २. भगिनीपतिनगरे हेमपुरे । ३. समुद्रं विना । ४. इन्धनं विनाऽपि अग्निः । ५. न इलामातुलं अनिलामातुलं, न चन्द्रं ।

भगवत्प्रसादसंपन्नः सर्वलक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामास्यगौरवसंनिश्चितः विद्याविदःपरायणः पुत्रः ॥ यथाविश्रांतिं य
 च यथावत्तस्य भगवतः पर्युपासनं पुनरतः एव महतोऽधिगतैतवपत्यवृत्तागतो भावपुरमनुससार ।

भवति चात्र श्लोकः—

अन्तःसारसारीरेषु हितार्थवाहितेहितम् : किं न स्यादग्निसंयोगः स्वर्णस्वाय तद्वयमग्निः ॥ २१० ॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ।

पुनर्बालभावाच्छोणच्छायकायः 'कङ्कलेस्तिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तबक इव धारणमणिकान्तुक इव च बन्धूनाम-
 नन्दनिरीक्षितामृतपीथमन्धरितमुखः सखेलं करपरस्परया संचार्यमाणः कमणोत्तानजयवरहसितजानुचङ्क्रमणभङ्गवाला-
 पस्पष्टक्रियावस्त्रकस्थामवस्थामनुभूय 'मरुमानं इव छायापादयेन, छायापादय इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण,

जैसा निश्चल हुआ प्रीति-युक्त मन वाला है । यह ऐसा सुखपूर्वक स्थित है मानों—माता की गोदी में ही
 वर्तमान है ।'

इसके बाद उसने अपनी प्रिया से कहा—'प्रियतमे ! पुत्र का विशेष मनोरथ धारण करनेवाली
 आपका यह वज्रकुमार नामका पुत्र पूज्य आचार्य की कृपा से प्राप्त हुआ है, यह समस्त सामुद्रिक शुभ लक्षणों
 वाला और हमारे वंश को विस्तृत (प्रसिद्ध) करनेवाला पात्र है' ।

पश्चात् उस आचार्य की पूर्व की तरह पूजा करके उसने इसी सोमदत्त गुरु से बच्चे का वृत्तान्त जानकर
 बलवाहनपुर को प्रस्थान किया ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

आत्मिक शक्ति (उपसर्ग-सहन की सामर्थ्य) से युक्त शरीरवाले महापुरुषों पर शत्रुओं द्वारा की हुई
 चेष्टा (उपसर्ग-आदि दुष्कृत्य) उनके हित के लिए होती है, अर्थात्—महापुरुषों के गुणों की उत्पत्ति का कारण
 होती है । क्या अग्नि में तपाना सुवर्णपापाण में सुवर्ण की उत्पत्ति के लिए नहीं होता ? अपितु अवश्य होता
 है* ॥ २१० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वज्रकुमार का विद्याधर से समागम करने वाला यह पन्द्रहवाँ कल्प
 समाप्त हुआ ।

वीर्य के कारण वज्रकुमार के शरीर की कान्ति वैसी लालिमा-युक्त थी जैसे अशोक वृक्ष का किसलय,
 धातकी वृक्ष के पुष्पों का गुच्छा एवं पद्मराग मणि की गँद लालिमा-युक्त होती है । उसका मुख बन्धुजनों से
 आनन्द पूर्वक देखा जाता था और बच्चे के पीनेलायक अमृत (जल), दूध व मक्खन-आदि का खजाना था ।
 इसी तरह बन्धुजनों की हस्त परम्परा से क्रीड़ापूर्वक संचार किये जा रहे उसने क्रमशः ऊपर की मुख किये
 खेता रहता, मन्द-मन्द मुस्काना, घुटनों के बल चलना, गदगद वाणी बोलना और स्पष्ट वचन बोलना इस
 प्रकार क्रम से पाँच अवस्थाएँ अनुभव कीं ।

इसके पश्चात् वह युवती रमणियों के मनरूपी मृग के लिए आनन्द-त्राण-सरीखे यौवन से वैसा
 अलङ्कृत (सुशोभित) हुआ जैसे मरुभूमि छायावृक्ष से अलङ्कृत होती है, छायावृक्ष सरोवर से सुशोभित होता

१. योगवसाने । २. एतस्मात् सोमदत्तगुरोः । ३. ज्ञातवालोकवृत्तान्तः । ४. बलवाहनपुरं । ५. स्वर्णपापाणे ।

६. रक्त । ७. अशोकपल्लवः । ८. बालस्य पेयं दुग्धादि, मन्धरितवदनः । ९. गारवाड देशः, यथा मरुत्पलं
 छायावृक्षेण शोभते तथाऽयं यौवनेनालङ्करोति इति सर्वत्र संबंधः । *। दृष्टान्तालंकारः ।

कमलाकर इव कलहंसनिवहेन, कलहंसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन, सङ्गीजनमनो-
मृगप्रमदवनेन योषनेनालम्बके ।

तदपु वाहं प्रकृष्टप्रीत्ययौवनावतारसारो वज्रकुमारः पितुर्मनुष्य 'वंशनिवेशानवस्थाभिविद्याभिः प्रवर्तित-
प्रतापगुप्तः शापलक्ष्मरलोकाधिप्यः सुवाक्यमूर्तिनामधाभस्य^१ मामस्य^२ भदनसदपण्यतावप्यलाघप्यारण्यवनदेवतावतारव-
सुमतीमिन्दुमतीं बुधितरं परिषीप मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट-कीर्तन-कोस्तुभ-कर्णपूरपूर-
सरनैभद्वरकुमारैरनुसृतं पूर्वापरावारपारतरङ्गन्तुरकन्दरावरं क्रीडारसवर्धनोद्धैरं विजयार्धमहोषराध्यास्य विरहि^३-
विहायश्चरोपरिमलमम्लानमृणालजलेजम^४ शोकदलशय्यादयितासाद्यविद्याधरीसुरतपरिमलबहलमिदमुपवनलतास्थानं कन्व-
कविभोदपरिणताम्बरचरीचरणालसकाङ्क्षि^५ तमदस्तमालमूलास्त्रालालयमेवमिदं रमणीयमेतन्मनोहरमदश्च सुन्दरमट-
नोपतदमितं^६ विनिधायन् समाचरितस्त्वेरविहारः पुनः प्राप्तहिमवद्गिरिप्रा^७भारः खेचरीलोचनचन्द्रस्य चन्द्रपुरेन्द्रस्याङ्ग-
वती युवतिप्रीतिधाम्नो गरुडवेगनाम्नो विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणपात्रो प्रियपुत्रो पवनवेगानामसङ्गं प्रालेपाचल-
मेखलाक्षल^८ तिकलताल्यनिलोभाङ्गं बहुरूपिणो^९ नाम निरवद्यां *विद्याधाराध्यातोभनयं^{१०} विघ्ननिघ्नया जाता-

है, सरोवर कमल-समूह से सुशोभित होता है, कमल-समूह कलहंस-श्रेणी से सुशोभित होता है, कलहंस-श्रेणी
स्त्री-समागम में सुशोभित होती है और स्त्री-समागम काम क्रीड़ा से सुशोभित होता है ।

इसके बाद अत्यन्त प्रीति युवावस्था को उत्कृष्ट उत्पत्ति को प्राप्त करनेवाला वज्रकुमार माता-पिता
के कुलक्रम में आई हुई निर्दोष विद्याधरों को विद्याओं की प्राप्ति से प्रकृष्ट सामर्थ्यशाली व प्रताप से सुरक्षित
हुआ, इससे उसने समस्त विद्याधर-लोक में महत्ता प्राप्त की और 'सुवाक्यमूर्ति' नाम के गृहभूत अपने मामा
या टि० के श्रमिप्राय से बड़े बहनोई की ऐसी 'इन्दुमती' नाम की पुत्री के साथ विवाह किया, जो कि कामोद्रेक
से बँचनेयोग्य जवानी के सौन्दर्यरङ्गी वन की वनदेवता के अवतरण के लिए भूमि-सरोखी थी ।

इसके अनन्तर वह, मणिकुण्डल, रत्नशेखर, माणिक्य, शिखण्ड, किरीट, कीर्तन, कोस्तुभ और कर्णपूर
नाम के विद्याधर जिनमें अप्सर हैं, ऐसे विद्याधर-कुमारों से युक्त होकर ऐसे विजयार्ध पर्वत पर अधिष्ठित
हुआ (बैठा), जो कि पूर्व-पश्चिम समुद्र की तरङ्गों से लैवी तोचो गुफा-भूमियों का धारक है और जो क्रीड़ा
रस की वृद्धि से उत्कट है । फिर उक्त पर्वत-तट के विषय में निम्न प्रकार विचार करते हुए उसने वहाँ पर
स्वच्छन्द पर्यटन (विहार—घूमना) किया — 'यह विजयार्ध पर्वत, जिसमें विरहिणी विद्याधरियों के मर्दन से
कान्तिहीन मृणाल व कमल वर्तमान हैं, जो अशोक वृक्ष के पत्तों की शय्या में [रति विलास के लिए]
पतियों द्वारा प्राप्त की हुई विद्याधरियों के सुरत (मैथुन) की गंध से प्रचुर है, जो उपवन व लताओं का स्थान
है, जो गेंद-क्रीड़ा में तत्पर हुई विद्याधरियों के चरणों में लगे हुए लाक्षारस से चिह्नित है, जो तमाल-मूलों की
कधारियों का आवास-स्थान है एवं जो रमणीय, मनोज्ञ व सुन्दर है ।'

इसके बाद हिमवन पर्वत पर प्राप्त हुए उसने ऐसी 'पवनवेग' नामवाली विद्याधर-राजकुमारी देखी,
जो कि ऐसे 'गरुडवेग' नाम के विद्याधर राजा की प्रिय पुत्री थी, जो कि विद्याधरियों के नेत्ररूपी कुमुदों को
विकसित करने के लिए चन्द्र-सरोवरा था, जो चन्द्रपुर नामक नगर का स्वामी और 'अङ्गवती' नामकी युवती
रानी की प्राप्ति का आश्रय-स्थान था । जो (राजकुमारी पवनवेगा) विशेष सौन्दर्य के निरूपण की पात्र थी,

१. स्थान, कुलक्रमागत । २. मामाभिधानस्य (क०) । ३. मामः ज्येष्ठमगिनोपतिः । ४. उत्कट । ५. विरहिणी ।

६. अशोकदलशय्यायां दयितेन भर्वा आसाद्या प्राप्या या विद्याधरी । ७. चिह्नितं । ८. पर्वत । ९. विस्तारः ।

१०. वनम् । * 'निषद्यां' (क्ष), टिप्पण्यां तु स्थितिः । ११. बहुरूपिण्या ।

अगरूपया^१ विद्याया निभीर्णवदनामुपलक्ष्य परोपकारविषयकस्तत्त्वविद्याया तमेतल्लपनाविलतालुं^२ मायाशयालुं^३ विजालयामास । पवनवेशा तत्प्रत्युहाभोगावगमानन्तरमेव विद्यायाः सिद्धिं प्रपद्य 'अवश्यमिह जन्मन्ययमेव मे कृत-
प्राणप्राणावेशः प्राणेशः' इति चेतस्यभिनिविश्य पुनरस्यैव नीह्वारमहीधरस्य नितम्बतीरि^४ शीपयन्ते सूर्यप्रतिमां समाभित-
वतो भगवतस्तपःप्रभावसंपादितसमस्तसत्त्वव्यापदंतस्य संमतस्य पार्वतीोपकण्ठ पठतस्तवेयं सेतस्यतीत्युपदेशावेशाभिनव-
माराय वज्रकुमाराय गगनगमनाङ्गना^५ जोषितभूतामभिमतार्थसाधनपर्याप्तिं प्रजप्तिं विद्यां वित्तीयं^६ निजतगयां
पर्याटत् । वज्रकुमारस्तथैव तत्सूरिसमक्षं फेनं मालिनीकूले विद्यां प्रसाध्यासाध्यसाधनप्रवृद्धपराक्रमस्तमक्रमविकसा-
ल्योभूतदेवं पुरंदरदेवं गिरुष्यमश्याजमुनिद्वयं सद्यस्तां विजयोत्सवपरम्परावतीममरावतीं पुरमात्मपितरमक्षितक्षत्राचरित-
चरणसेवं भास्करदेवं निवेद्य वक्ष्येन्द्रियः स्वयंवरव्याजेन विहिताभिलषितकान्तसङ्गामनङ्गसङ्गसंगतशृङ्गारसुभगां पवन-
वेगात्मपराश्रवाम्बरचरपतिवराः विवाह्य महाभागगृह्यो विहायश्चरचितचिन्तामात्रायास्तैस्तैर्विलासैः कालमतिवाहयामास ।

जिसका शरीर विद्या सिद्ध करने के लिए हिमवन पर्वत की शिखर पर वर्तमान वन की लताओं से वेष्टित हुए प्रदेश पर स्थित था । जो बहुरूपिणी नाम की निर्दोष विद्या सिद्ध कर रही थी और उस समय विघ्न उपस्थित करने के अधीन होने से अजगर सर्प का वेप धारण करनेवाली इसी बहुरूपिणी विद्या ने जिसे अपने मुख में लील लिया था ।

इसके पश्चात् परोपकार करने में चतुर वज्रकुमार ने गरुड़ विद्या द्वारा पवनवेगा राजकुमारों को मुख में लीलने से गीली तालु वाले उस मायामयी अजगर सर्प को पीड़ित कर दिया । उस विद्या-सिद्धि में होने वाले विस्तृत विघ्नों के नष्ट हो जाने के अनन्तर ही जब पवनवेगा राजकुमारी ने विद्या सिद्ध कर ली तब उसने मन में यह दृढ़ संकल्प किया—'अवश्य इस जन्म में मेरी प्राणरक्षा करनेवाला यही मेरा प्राणेश्वर (प्राणनाथ) होगा ।

वाद में उस विद्याधरो ने वज्रकुमार को निम्न प्रकार उपदेश दिया—'इसी हिमवन पर्वत के पार्श्व-भाग पर बहने वाली नदी के तट पर सूर्य प्रतिमा (धर्मध्यान विशेष) का आश्रय किये हुए और तप के प्रभाव से समस्त प्राणियों की आपत्तियां नष्ट करने वाले संयमी आचार्यश्री के चरणकमलों के आसन के समीप धृताभ्यास करते हुए आपको यह विद्या सिद्ध होगी ।' इसके बाद उस विद्याधरो ने वज्रकुमार के लिए, जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—नवीन कामदेव ही है, प्राणियों को जीवन-दान देने वाली व मनबोझी प्रयोजन-सिद्धि की योग्यतावाली 'प्रजप्ति' नाम की विद्या देकर अपनी नगरी के प्रति प्रस्थान किया ।

पुनः वज्रकुमार ने उक्त आचार्यश्री के समक्ष नदी के तट पर प्रस्तुत बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की । ऐसा होने से वज्रकुमार का पराक्रम दूसरों के द्वारा प्राप्त होने के अयोग्य दिव्यास्त्ररूपी साधनों से वृद्धिगत हुआ । अतः उसने अपने चाचा 'पुरन्दरदेव' को, जिसका भाग्य क्रम (राजनैतिक ज्ञान सम्पत्ति-आदि) व पराक्रम (सैन्य व कोपशक्ति) के अभाव से क्षीण हो गया था, निष्कपट रीति से नष्ट करके शीघ्र ही विजय श्री संबन्धी उत्सव-परम्परा वाली अमरावती नाम की नगरी में अपने पिता भास्कर देव को, जिसके चरणकमलों की सेवा समस्त विद्याधरों द्वारा की गई थी, राज्यासन पर बैठाया ।

फिर जितेन्द्रिय वज्रकुमार ने ऐसी पवनवेगा नाम की विद्याधर-राजकुमारी के साथ विवाह किया, जिसने स्वयंवर के मिष से इच्छित पति प्राप्त किया है एवं जो कामदेव के सङ्गम से व्याप्त हुए शृङ्गार से मनोश थी और दूसरी विद्याधर-कन्याओं के साथ विवाह किया । तदनन्तर भाग्यशाली विद्याधर राजा द्वारा

१. गृहीताजगरसर्पवेपया । २. अजगरं । ३. मायाजगरसर्प । ४. विघ्नः । ५. नदी । ६. विद्याधरी । ७. दत्ता । ८. नदी ।

अन्यथा पुनरिष्टबुद्धिजातिप्रज्ञावत्ताभ्यामात्मनः 'परैषितत्वमवबुध्य' निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषूपचारेषु^१ प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरित्याधरितसंगर^२ स्ताभ्या^३ महामुनिमाहात्म्यमन्त्रविश्रुतितुष्टिनिवाचरायां^४ मथुरायां तपस्यतः सोमवत्तस्य भगवतः सनीडे^५ नीतस्त^६ वज्रमुद्रायाध्यात्मकाममवसाय^७ संजाता^८ ध्वनिका^९ स्तावुभावपुपमंतारी^{१०} माता-पितरौ सावरपु^{११} 'क्तिपुक्तिभ्यां प्रतिबोध्यवधीरितोभयग्रन्थो निग्रन्थश्चारणद्विबुद्धिः ससपादि ।

भवति भावार्थः—

तृणकल्पः भोक्तृत्वं काष्ठाश्लोकविधत्तौ^{१२} चित्तालोकः ।^{१३} पुण्यजनश्च स्वजनः कामविदूरे नरे भवति ॥२११॥

इष्टुपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः ।

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवाद्यनावनेदुर^{१४} प्रासादकन्धरायामेतस्यामेव मथुरायां किल^{१५} गोचराय चारणद्वि-
धुगलं नगरमार्गे संगतगतिसर्गं सत्तत्र द्वित्रि^{१६} परिवत्सर एवावस्थाभसरे बालिकामेकां^{१७} चित्तचिक्किन^{१८} लोचनसनापा-

पालने-योग्य वह वज्रकुमार ऐसे उन अनेक प्रकार के विलासों से, जो कि विद्याधरों के चित्त में संकल्पमात्र से प्राप्त होने वाले थे, समय यापन करने लगा ।

एक बार जब इसने इष्ट गोत्रीजनों की बुद्धि से और दुष्ट गोत्रीजनों के अनादर से अपने को दूसरे के द्वारा पाला-पोषा हुआ समझा तब इसने प्रतिज्ञा की—'जब मुझे अपने वंश का निश्चय हो जायगा तभी मैं शारीरिक उपचार (स्नान व भोजन-आदि) में प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा उसका त्याग करूँगा ।' तब उसके पालक माता-पिता उसे महामुनि के माहात्म्यरूपी मन्त्र से पापरूपी राक्षसों को भयभीत करने वाली मथुरा नगरी में तप करने वाले सोमवत्त नामके आचार्य श्री के समीप ले गए । तब वज्रकुमार ने अपनी शरीराकृति प्रस्तुत पूज्य आचार्य के शरीर-सरीखी निश्चय की, जिससे उसकी आत्मा में आनन्द-समूह की प्राप्ति हुई । पश्चात् इसने उन दोनों माता-पिता को सम्मानपूर्वक वचनों से और युक्ति से समझाकर बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करके निर्ग्रन्थ साधु होकर चारण श्रद्धा की वृद्धि प्राप्त की ।

इस विषय में एक आर्याचिच्छन्द है, उसका अर्थ यह है—जब मुमुक्षु मानव कामवासना का त्याग कर देता है अथवा समस्त परिग्रहों की अभिलाषाओं को छोड़ देता है तब उसे मनोज लक्ष्मी तृण-सरीखी प्रतीत होती है । और लोक में एकत्रित हुआ स्त्री-समूह मुर्दे की चिता-सरीखा मालूम पड़ता है एवं कुटुम्बीजन राक्षस-सरीखा प्रतीत होता है ॥ २११ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वज्रकुमार के तपोग्रहण करने का निरूपण करने वाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अथानन्तर महामहोत्सवों के अवसर पर बजाए जाने वाले वाद्यों की ध्वनि से स्थूल हुए भयनरूपी गुफाओं वाली इसी मथुरा नगरी में चारण श्रद्धाधारी दो मुनियों ने, जो कि आहार के लिए नगर-मार्ग में साथ-साथ गमन करने के निश्चय वाले थे, वहाँ पर दो तीन वर्ष की अवस्थावाली एक अनाथ बालिका देखी, जो कि दूषित (धूँधले) व छोटे नेत्रोंवाली थी व दूकानों के अङ्गणों पर वर्तमान धान्य-बाण खानेवाली एवं

१. परपोषितत्वम् । २. ज्ञात्वा । ३. स्नानभोजनादी । ४. कृतप्रतिज्ञः । ५. पितृभ्यां । ६. पापान्येव राक्षसाः यत्र सा तस्यां । ७. समीपे । ८. भगवत्शरीरसदृशं । ९. ज्ञात्वा । १०. 'जातिकरणे विक्रियाकर्तारौ' इति टि० (ख०) प्रती । 'जातिकरणादि क्रियाकर्तारौ' इति टि० (च०) प्रती । ११. वचन । १२. मृतकचित्तासदृशः । १३. राक्षससमानः । १४. स्थूल । १५. आहारार्थ । १६. वर्षद्वित्रिसमये । १७. दूषित । १८. अल्प ।

मनायामापणाङ्गणकणचारिणी स्खलद्गमनविहारिणी निरीक्ष्य 'प्रतीक्ष्यः पश्चाच्चरः सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवम-
वासीत्—'गहो, बुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव वशायां क्लेशाय 'प्रभवति' इति ।

पुरइचारी* भगवानभिनन्दननामधारी—'तपःकृपद्रुमोत्पादनन्दन' सुनन्दनमुने, मयं वावोः यद्यपीयं गर्भसंभूता
सती राजश्रेष्ठिपवप्रयुक्तं समुद्रवत्तं पितरं जातमात्रा तद्वियोगदुःखोपसर्वा धनदां मातरं प्रवर्धमाना च बन्धुजनमकाण्ड
एव 'दशमौ वशमानोय इदमवस्थान्तरमनुभवन्ती तिष्ठति, तथाप्यनया प्रौढयौवनपास्य मथुरानाथस्यौर्विलादेवीवि-
नोदायसप्तस्य पूतिकवाहनस्य महोनस्याग्रमहिष्या भवितव्यम्' इत्यवोचत् । एतच्च तत्रैव प्रस्तावे 'पिण्डपाताय
हिण्डमानः शाययिभिरुपभृत्' 'नान्यथा मुनिभाषितम्' इति निषिकल्पं संकल्प्य, स्वीकृत्य 'चैनामभिकामाहितविह-
रधसतिकामभिलषितानु' 'हारैराहारैरवीवृषत् । 'जुहाव च बुद्धदासीति परिजनपरिहासतन्त्रेण 'गोत्रेण । ततो गतेषु
केषुविद्वेषेषु 'अमरकभङ्गा' 'भिनयनभरते भूविभ्रमारम्भोपाध्यायस्थानिनि लोचनविचा' 'रचातुर्धाचार्यं चतुरोक्तिचातुरी-
प्रचार' 'शुचिणि विम्बावरविकारसीन्दर्यकादम्बरीयोगे' 'विम्बोन्नतप्रवेशप्रकाशनशिल्पिनि' 'मनसिजगजमवोद्दीपनपिण्ड-

भूमि पर स्थलित गतिपूर्वक संचार करने वाली थी, पश्चात् पूज्य छोटे 'सुनन्दन' नाम के ऋषि ने कहा—
,अहो-आश्चर्य है कि प्राणियों का कर्मोदय निश्चय से दुःख से भी जानने के लिए अशक्य है, क्योंकि वह
(कर्मोदय) इतनी छोटी उम्र में भी कष्ट देने के लिए समर्थ होता है ।'

इसे सुनकर 'अभिनन्दन' नामधारी, पूज्य ज्येष्ठ ऋषि ने कहा—'तपस्वी कल्पवृक्ष को उत्पत्ति के
लिए नन्दनवन-सरीखे हे सुनन्दन मुनि ! ऐसा मत कहो । क्योंकि यद्यपि जब यह गर्भ में स्थित हुई तो राज-
सेठ के पद पर प्रतिष्ठित हुए इसके पिता समुद्रवत्त को असमय में मरणावस्था में लाई और जन्मी हुई इसने
पति के वियोग के दुःख को प्राप्त हुई 'धनदा' नामकी माता को असमय में काल-कवलित अवस्था में प्राप्त
किया एवं बढ़ी हुई इसने अपने बन्धुजनों को असमय में मरणावस्था में प्राप्त किया । अब यह कष्टप्रद दूसरी
अवस्था (दरिद्र व वरणावस्था) भोग रही है । तथापि जब यह प्रौढ़ युवती हो जायगी तब इसे 'उर्विला'
नाम की पट्टरानी के विनोद के स्थान 'पूतिकवाहन' नाम के मथुरा नगरी के राजा की पट्टरानी होनी चाहिए ।'

उसी मथुरा नगरी में इसी अवसर पर भिक्षा के लिए प्रस्थान कर रहे बौद्ध भिक्षु ने उक्त बात
सुनकर निस्सन्देह विचार किया—'नान्यथा 'मुनिभाषितम्' अर्थात्—'ऋषि-वाणी मिथ्या नहीं होती', अतः
उसने इस बालिका को ग्रहण करके बुद्ध मठ में स्थापित किया और वह इच्छानुकूल आहारों से इसका पालन-
पोषण करने लगा और सेवकों की हास्य-परम्परा के पात्रभूत 'बुद्धदासी' इस नाम से बुलाने लगा ।

जब कुछ वर्ष व्यतीत हुए तब ऐसे यौवन में, लावण्य सम्पत्ति से महान् हुई उस बुद्धिदासी ने, जो
कि बुद्धमठ-संबंधी ऊँचे महल की शिखर के मध्य में बैठी हुई थी, भ्रमण से बुद्ध-मठ के समीप आने वाले 'पूतिक
वाहन' नामके राजा को उत्कण्ठा के साथ देखा, जो (यौवन) केशों को कुटिल करने के अभिनय में नाट्य-
शास्त्र-प्रणेता भरतऋषि-सरीखा है । जो भ्रुकुटी संबंधी विलारा के आरम्भ करने में शिक्षक-जैसा है । जो
नेत्रों के विचलन (भ्रमण) की निपुणता में आचार्य-सा है । जो चतुर वाणी के कथन की निपुणता में प्रवृत्ति
करने से महान् है । जो विम्बफल-सरीखे ओष्ठों के विकार के सौन्दर्य में सुरा के संबंध जैसा है । जो नीचे-

१. पूज्यः । २. समर्थो भवति कर्मविपाकः । ३. ज्येष्ठः । ४. हे इन्दवन । ५. प्राप्ता । ६. मरणावस्था । ७. भिक्षार्थ ।

८. श्रुत्या । ९. वाला । १०. बुद्धस्थान । ११. सद्भावः । १२. आकारितवान् । १३. नाम्ना । १४. केश ।
१५. वक्रित । १६. विचलनं । १७. प्रवर्तनं । १८. मुरा । १९. शूत्रधारः ।

पण्डिते शृङ्गारगर्भगतिरहोऽप्योपवेशिति तसस्तभूवनममोभोहनसिद्धौषधे प्रतिदिनं प्रादुर्भाषसविधे^१ सति योवने सा रूप-
संपन्महीयसी बुद्धवासी सोसासमुत्तुङ्गत^२ भङ्गभृङ्गोत्सङ्गसंगता तं^३ भ्रमणिकया कृतविहारोपान्तागमनं पूतिकवाहनं
राजानमदर्शत् । राजा च ताम्—

‘असकदलयावर्तभ्रान्ता^४ विलोचनवीधिका^५ प्रसरविधुर मन्धोद्योगा स्तनद्वयसंकेते ।

त्रिवलिवसनभ्रान्ता नाभो पुनश्च निमञ्जनादिह हि सरिति^६ प्रायेर्णवं मतिर्नम वर्तते ॥ २१२ ॥’

इति विविक्ष्य, ‘चेतोभूविजृम्भप्रारम्भं^७ निवार्यवधायं च, ‘किमियं^८ विहितविद्याहोपचारा, किं वाद्यापि
‘पतिवरा’ इति^९ भिक्षुतापृच्छथ तत्र^{१०} द्वितोयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या’ इति समर्पिताभिलाषमाप्तपुरुषं^{११} ग्रैध्य
‘रणरणकजडान्तःकरणः^{१२} शरणमगात् । आप्तपुरुषोऽप्यग्रमहिषीपदपणवन्नेन^{१३} साध्यसिद्धिं विधाय स्वामिनं तस्मिन्
मागमिनमकरोत् ।

भवति यात्रार्था—

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराश्चरितम् । तस्मिन्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥ २१३ ॥

लैवे शारीरिक प्रदेशों (अङ्गोपाङ्गों) के प्रकाशन करने में सूत्रधार-सा है । जो कामदेवरूपी हाथी के मद को उद्दीपित करने में विशेष निपुण है । जो शृङ्गार रस के भीतरी ज्ञान के गोप्यतत्त्व का उपदेष्टा है और जो समस्त लोक के मन को मोहित करने वाली सिद्ध-औषधि-सा है एवं जो प्रतिदिन वृद्धि के निकट है ।

पश्चात् राजा ने उसे देखकर निम्नप्रकार विचार किया—

‘इस स्त्रीरूपी नदी में मेरी वृद्धि प्रायः इस प्रकार हो रही है—वह उसके केशपाशरूपी भँवर में पड़ने से भ्रान्त (एक जगह न ठहरने वाली) है । जो तेत्ररूपी तरङ्गों के प्रसार से पीड़ित है । जो दोनों स्तनरूपी बालकामय प्रदेश पर पहुँचने से मन्द उद्योग वाली है । फिर जो त्रिवलियों में भ्रमण करने से थकित है और पुनः जो नाभि में डुबकी लगाने से भी थकान्त है* ॥ २१२ ॥’

फिर उसने काम के विस्तार को रोककर और निश्चय करके मन्त्री को अपनी अभिलाषा प्रकट करके बुद्धिभिक्षुओं से पूछने को कहा—क्या, इसका विवाह हो चुका है ? अथवा अभी तक कन्या है ? यदि कन्या है ? तो इसे मेरे-अधोन करनी चाहिए ।’

फिर उसका मन अरतिजनक घटना से जड़ हो गया और उसने अपने महल को ओर प्रस्थान किया । यहाँ पर मन्त्री ने पट्टरानी पद देने की प्रतिज्ञा द्वारा प्रस्तुत कार्य सिद्ध करके राजा का उसके साथ विवाह कर दिया ।

इस विषय से एक आर्माच्छन्द है उसका अर्थ यह है—

इस प्राणी ने पूर्व काल में जिस समय पुण्य अथवा पाप कर्म किया है वह (पुण्य व पाप) उसे समय आने पर निश्चय से क्रमशः सुखी व दुःखी बना देता है ॥ २१३ ॥

१. गोप्यतत्त्व । २. समीपे । ३. उपरितनभूमि । ४. भ्रमण । ५. कल्लोल । ६. कल्लोल । ७. क्व योपिन्नदां मम मतिरीदृशी वर्तते । ८. मनोभूप्रसरणं । ९. एकवीकृत्य । १०. कृत । ११. कन्या वा । १२. बौद्धान् । १३. चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधोना कर्तव्येति । १४. मन्त्रिणं । १५. कलमल (अरतिजनक) । १६. गृहं । १७. प्रतिज्ञया । * रूपकालंकारः ।

हस्तुपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तवशः कल्पः ।

अथ सनाथाते भव्यजनानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तथा पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिष्ठातुमस्य-
सौखिलादेव्याः स्वन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभूयनोद्धरणकारणस्थितेजिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुच्छेत्तुमिच्छन्त्याः^१
‘बुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाहा’^२ सकलपरिवारानुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिर्पतिर्पाचितस्त्वयं प्रत्यपश्यत । ऊर्विला-
देव्यापि सुभगभावात्सपत्नीप्रभवं शोर्जन्मनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य^३ ‘भवन्त, यद्येतस्मिन्निष्ठ-
विनभावित्यष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायामदोयो रथो भविष्यति, तत्र मे वेहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाषं
मनः, अन्यथा निरभिलाषम्’ इति ‘प्रतिज्ञासमाना तेन सोमदत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवक्रेण
वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता मातः, ‘सम्यग्दृष्टिर्भविष्यतीति मया प्रथमकथे, अलमलमाधेयेन । यतो न सलु मयि
तव ‘समयसविद्यादिवस्तके पुत्रके सति भवितारुतामर्हणायाः’ प्रत्यवायः’^४ । तत्स्वस्थं पूर्वस्थित्यात्मस्थाने स्थातव्यम्’
इति हृद्यमनवक्ष्यममुषोषं च निगद्य, आसाद्य^५ च ‘द्युगतिविद्याधरपुरं महामुनितया आश्रयविषयतया च निश्चितेन

इस प्रकार उपासकाध्ययन में बुद्धदासी का पूतिक-वाहन राजा के साथ विवाह का निरूपण करने
वाला यह सत्तरहवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

इसके पश्चात् जिसमें भव्यजनों के आनन्द-जनक धार्मिक कार्य पाये जाते हैं ऐसा ‘नन्दीश्वर पर्व’
जब आया तब ‘पूतिकवाहन’ राजा की प्रेमपत्नी पट्टरानी ‘बुद्धदासी’, जो कि समस्त लोक का उद्धार करने
वाले भगवज्जिनेन्द्र तीर्थङ्कर के महामहोत्सव विधान को, जो कि प्रतिवर्ष चातुर्मास संबंधी नन्दीश्वर पर्व में
ऊर्विला रानी द्वारा जिनेन्द्रदेव का रथ निकाल कर किया जाता था, नष्ट भ्रष्ट करने की इच्छा कर रही थी,
उसने आठ दिन तक बुद्धदेव की पूजा की आयोजना की । अतः उसने राजा पूतिकवाहन से भगवान् गौतम
बुद्ध की पूजा के लिए आठ दिन तक समस्त अनुचर-वर्ग-सहित रथयात्रा के योग्य उपकरण-समूह के देने की
याचना की तो राजा ने समस्त उपकरण-समूह-आदि के देने की स्वीकृति दे दी ।

जब ऊर्विला रानी ने पति की प्रेमपात्र होने से अपनी सौत से उत्पन्न हुई, असाधारण व प्रतीकार
करने के लिए अशक्य दुर्जनता का निश्चय किया तब उसने सोमदत्त आचार्य के पास प्राप्ति होकर ऐसी प्रतिज्ञा
करने की इच्छुक होकर कहा—‘भगवन् ! यदि इस दो तीन दिन में होने वाले अष्टाहिका पर्व के महोत्सव में
पूर्व क्रम के अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के निमित्त से मेरा रथ मथुरा में निकलेगा तो मेरा मन शारी-
रिक स्थिति की कारणीभूत वस्तुओं (अन्न व जलादि) के ग्रहण करने का इच्छुक होगा, अन्यथा नहीं ।’

उक्त बात को सुनकर पूज्य सोमदत्त आचार्य ने उसकी अभिलाषा सफल (पूर्ण) करने के लिए मुनि
वज्रकुमार के मुख की ओर देखा ।

पश्चात् वज्रकुमार साधु ने उसे अच्छी तरह आश्वासन दिया और उससे निम्न प्रकार मनोहर,
निर्दोष व यथार्थ वचन कहे—

‘सम्यग्दृष्टि मृगयनी महिलाओं में आगे वर्णन-योग्य माता ! इस विषय में खेद मत करो । क्योंकि

१. उच्छेदनं कर्तुमिच्छन्त्या । २. ‘उत्सेत्तुमिच्छन्त्या’ इति मु० व ख० । ३. बौद्धस्य । ४. अष्टाहो टि० ख० । ‘अहानि
दिनानि, अहोऽश्वी नपुंसकलिङ्गत्वात् । स्त्रीलिङ्गे णपि डी विधी च सति अहा, अहो इति च भवति, अष्टाहा
इत्यभूत् । अस्याह्म; स्त्रियां त्रैरूप्यं—अष्टाहा, अष्टाहो, अष्टाहोति’ । इति पञ्जिकाकारः । ५. प्राप्य । ६. प्रतिज्ञा
कर्तुमिच्छन्ती । ७. सम्यक्त्वसहितानां स्त्रीणां मध्ये घुरि वर्णनीये । ८. ९. न भविष्यति कोऽपि
विघ्नः पूजायाः विघ्नो न भविष्यति । १०. प्राप्य । ११. द्युगत्या आकाशगमनेन ।

भास्करदेवमुख्येनाम्बरधरवक्त्रेण क्रमशः कृतान्धुस्थानकिंयः सप्रभ्रममागमनाय^१ तनमापृष्टः स्पष्टमाचष्ट ।

तदनन्तरमानन्ददुःखिनाबोसासङ्घे^२ लितमुखरमुखमण्डले, ^३ 'सामयिकालंकारसारसञ्चितगजवाजिचिमानगमन-
प्रचसत्कर्णकुण्डलैः, अनेकानणुपणिकिष्कुणीजालजटिस^४ कुकूलकल्पितपालिष्व^५ जराजिविराजितभुजपञ्जरैः,^६ करि-
मकरसिंहशार्दूलशरभकुम्भी^७ रशकु^८ रशकु^९ स्तोत्रपुरःसराकारपताकासंतापस्तिमितकरैः,^{१०} मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिवि-
तानदर्पणसितातपत्रचामरधिरौ^{११} चमचन्द्रभङ्गकु^{१२} म्भसंभृतशयैः,^{१३} अनुज्ज्वदेव^{१४} चन्द्रशक्ति^{१५} चिह्नप्रकर्णौ^{१६} रथस्यावनविप-
तुरगनरनिकीर्णसैन्यनिचयैः, सञ्जयघण्टापटुपटुहकर^{१७} टामृवज्रशङ्खकाहलत्रिविलतालसल्लरीभेरिभ^{१८} म्भादिवाद्यानुगतगीत-
संगताङ्गना^{१९} भोगसुमगसंचारैः, कुण्डवामनकिरा^{२०} तकिन्नवनटनर्तकवन्दिवाग्जीवनविनोबानवितदिविजमनस्कारैः, सत्ते^{२१}-
सत्ते^{२२} चरसहचरोहस्तविन्दस्वस्तिकप्रदोषधूपनि^{२३} प्रभूतिविधिप्राङ्मोपकरणरमणीयप्रसरैः, पिष्टा^{२४} तकपटघासप्रसूनोपहा-

जय तुझ घर्मे-माता की चिन्ता करने वाला मेरे-सरीखा पुत्र वर्तमान है तब निश्चय से अर्हन्त-पूजा में कोई विघ्न नहीं होगा । अतः आप पूर्व की तरह निश्चिन्त होकर अपने महलों में जाकर बैठिए ।

इसके बाद वज्रकुमार मुनि आकाशगामिनी विद्या से विद्याधर भास्करदेव के नगर में पहुँचे । महा-
मुनि होने से समस्त बान्धवों में बृहस्पति-सरीखे महाविद्वान् होने से भास्करदेव की प्रधानता वाले समस्त
विद्याधर-समूह ने इनका अच्छा सत्कारादि किया और विनयपूर्वक उनके आने का कारण पूछा ।

वज्रकुमार ने सब समाचार स्पष्ट रूप से कहा, अर्थात्—उर्विला महादेवी का रथ निकालने के लिए
सैनिक सहायता माँगी ।

इसके बाद मथुरापुरी के नागरिकों ने वज्रकुमार मुनि को महान् इक्यासी लड़ों वाले हारों से सघन पालकी,
रथ, हाथी, घोड़े व पैदल सैनिकों से भरे हुए सैन्य-समूहों के साथ एवं पूजा के योग्य उपकरण-समूह को धारण
करने वाले दूसरे विद्याधरों के साथ आकाश से उतरे हुए देखा । जिनके (सैन्य-समूहों के) मुखमण्डल आनन्द-
दायक दुन्दुभि बाजों की ध्वनि से उत्कट हुए सिंघनाद की ध्वनि से मुखरित थे । जिनके कानों के कुण्डल
यात्रोचित श्रेष्ठ आभूषणों से सजाए हुए हाथी, घोड़ों व विमानों द्वारा गमन करने से कम्पित हो रहे थे ।
जिनके हाथ अनेक महामणियों की क्षुद्र घण्टियों के समूह से ग्रथित हुए रेशमी वस्त्रों से रची हुई लघु ध्वजाओं
की श्रेणी से सुशोभित थे । जिनके हाथ, हाथी, मकर, शेर, शार्दूल, अष्टापद, नाका, मछली व गरुड़-आदि की
मुख्य चिह्नों वाली पताकाओं की श्रेणी से निश्चल हो रहे थे । जिनके हाथ मानस्तम्भ, स्तूप, तोरण, मणि-
समूह, दर्पण, श्वेतच्छत्र, चमर, सूर्य, चन्द्रमा, और पूर्ण कुम्भ को धारण किए हुए थे । जिनका (विद्याधरों का)
गमन जयघण्टा से सहित महाभेरी, करटा (वाद्यविशेष), मृदङ्ग, शङ्ख, काहल (बड़ा ढोल), त्रिविल
(वाद्यविशेष), ताल, झल्लरी, हुडुक्का (वाद्यविशेष), मम्भा-आदि वादियों के अनुकूल गान करने वाली
कमनीय विद्याधरियों के शरीर से मनोज्ञ है । जिन्होंने देवताओं के मन, कुब्ज, बोना, किरात, जुआरी,
नट, नर्तक, स्तुति पाठक—वन्दियों व भाटों के विनोदों से आनन्दित किये हैं । जिनके गमन, ऋद्धा करने
वाली विद्याधरियों के हाथों पर रखे हुए स्वस्तिक (साँधिया), दोपक, धूप-घट-आदि विचित्र पूजाओं के

१. कारण । २. हस्तमुखसंयोगजो ध्वनिः । ३. यात्रोचित । ४. मिश्र । ५. रचित । ६. लघुध्वज । ७. हस्तेः ।
८. जलचर । ९. मत्स्य । १०. गरुड़ । ११. 'कम्पितहस्तेः' टि० ख० ? 'अपितहस्तेः' टि० ख० । १२. सूर्य ।
१३. पूर्णकुम्भ । १४. हस्तेः । १५. एकाकीति वष्टिको हारः । १६. निरन्तर । १७. त्रिविका । १८. करड ।
१९. हुडुक्काः । २०. शरीर । २१. किरातः स्यादल्पतनी । २२. सक्तीड । २३. घट । २४. नामचूर्ण ।

राभिरामरमणीनिकरैः, अपरेण संस्तविष्यतपूजापर्यायपरिवारविहायोविहारैः^१; सह तं वज्रकुमारभगवन्तमम्बरावतदस्त-
मुप्रेक्ष्य^२ 'भिक्षुबीक्षापटीयसी पुष्पपूयसी जल बुद्धदासी, यस्याः 'सुगन्धसपर्यासमये समायान्तं सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति
धृतधियणे पौरजनान्तःकरणे सति स भगवान्गगनगमनातीकः सकमोविलानिलये मिलीय^३ सावष्टम्भमष्टा^४ह्वी मथुरायां
'भक्तचरणे परिभ्रमय्याहं प्रतिबिम्बाङ्गु^५ तमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिषत् । अतएवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यम् प्रथते^६ ।
बुद्धदासी दासीवासीद्वग्मननोरथा ।

भवति चायं श्लोकः—

औविलाया महादेव्याः पूतिकस्य महोभुजः । स्थन्धनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥ २१४ ॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनाविभावना नामाष्टावशाः कल्पः ।

अधित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः* सत्क्रियाविधिः । मधमंसं च^७ सोचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥ २१५ ॥

स्वाध्याये संयमे सङ्गं गुरो सहाचारिणि^८ । यथोचित्यं कृतात्मनो^९ विनयं प्राहुरावरम् ॥ २१६ ॥

आधिर्याधिनिरुद्धस्य निरवधेन कर्मणा । सोचित्यकरणं प्रोक्तं वैयाख्यं विमुक्तये ॥ २१७ ॥

उपकरणों से मनोहर थे । जिनका कमनीय कामिनी-समूह, पिष्टातक नाम का सुगन्धित चूर्ण, पटवास (वस्त्र सुगन्धित करने वाली द्रव्य-विशेष-सेट-आदि) व पुष्पोपहार से मनोज्ञ है ।

इसके बाद जब नागरिकों के हृदय में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई—'यह बुद्धदासी निस्सन्देह बौद्ध बीक्षा में विशेष निपुण व पुण्यात्मा है, उसी की बुद्ध-पूजा के अवसर पर यह समस्त देव-सेना आई हुई है ।'

किन्तु उस वज्र कुमार मुनि ने विद्याधर-सैनिकों के साथ औविला महादेवी के महल में अवतरण करके अष्टाङ्गिका पर्ववाली मथुरा नगरी में गर्व-सहित रथ निकलवाया एवं उस नगरी में तीर्थङ्कर भगवान् की प्रतिमा-सहित एक स्तूप स्थापित किया । इसी से आज भी वह तीर्थ देव-निर्मित नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । इसे देखकर दासी-सरीखी बुद्धदासी का मनोरथ भ्रम हो गया ।

इस विषय में एक श्लोक है, जिसका अर्थ यह है—

वज्रकुमार मुनि ने राजा 'पूतिक वाहन' की रानी महादेवी औविला के रथ का विहार कराया ॥ २१४ ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में प्रभावना अङ्ग का वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब वात्सल्य अङ्ग का निरूपण करते हैं—

धार्मिक पुरुषों का प्रयोजन दान-मानादि द्वारा सिद्ध करना, उनके गुणों में प्रीतिरूपी सम्पत्ति, हित, भित व प्रिय वचन बोलना, उनका आदर-सत्कार करना और साधर्म्य जनों को दान व प्रिय वचनों द्वारा सन्तोष उत्पन्न करना यह वात्सल्य अङ्ग माना गया है ॥ २१५ ॥ स्वाध्याय, संयम (प्राणिसंयम व इन्द्रिय-संयम), मुनि संघ, गुरु (आरम्भ-परिग्रह से रहित, विषयों को आशा से रहित एवं ज्ञान, ध्यान व तप में लवलीन रहने वाले साधु) और सहाध्यायी को दान-मानादि से सन्तुष्ट करना व उनके आदर-सत्कार करने को आत्मतत्त्व के वेत्ता आचार्य विनय कहते हैं ॥ २१६ ॥ मानसिक व्यथा व शारीरिक रोगों से पीड़ित धर्मात्मा पुरुषों की निर्दोष (निष्कण्ट) विधि से ओषधि-आदि देकर सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा गया

१. विद्याधरः । २. बौद्ध । ३. बुद्धपूजा । ४. अवतीर्थ । ५. अष्टाङ्गी उपलक्षितायां । ६. रथं । ७. सहितं । ८. प्रकाशतां । * 'प्रियोक्तिः' क० । ९. शौमनस्यं । १०. समानशीले । ११. कृतो निश्चितः आत्मा स्वरूपं यैः ।

जिने जिनागमे सूरौ तपःभूतपरायणे । सद्भावशुद्धि संपन्नोऽनुरागो भक्तिकथ्यते ॥ २१८ ॥

वातुवर्ण्यस्य सङ्गस्य यथायोग्यं प्रमोदयाम् । वात्सल्यं भक्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥ २१९ ॥

१ तद्वर्तविद्यया वित्तः शारोरः शोभनाध्वयः २ । त्रिविधात् ३ सुसंप्राप्तानुपकुर्वन्तु संयतान् ॥ २२० ॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्— अवन्तिविषयेषु १ सुधान्वःसौमस्पर्द्धिशालायां विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवीभित-
शर्मसोमा जयवर्मनामा २ काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यदारिधिविक्रान्तिनक्रेण ३ शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना ४ बृह-
स्पतिना ५ ब्रह्मरात्रि ६ द्वित्विवेकेन प्रह्लादकेन ७ चानुजेनानुगतेन वेदविद्याबलिना बलिना सखिधेन चित्त्यमानराज्यस्थिति-
रेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावमपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुसम्बस्य ८ परमतपश्च-
रणगुणग्रहणाजि ९ ह्यक्रहास्तम्बस्य १० महामुनिपञ्चशतीवर्षस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य भर्हिद्विषः सर्वजनानन्दनं नाम
नगरोपवनमभि ११ तस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय राजसार्गेषु महामहोत्सवोत्साहो १२ त्सेकियरिजनं पौरजनमर्जलिहोहाप्रभागा १३-

है, जो कि मुक्ति श्री की प्राप्ति का कारण है ॥ २१७ ॥ वोतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् में, उनके द्वारा कहे हुए द्वादशाङ्ग रूप शास्त्र में, आचार्य में, तप में तत्पर हुए, साधु में और श्रुत के पारदर्शी उपाध्याय परमेश्वरी में विशुद्ध भाव पूर्वक प्रकट हुए अनुराग को आचार्यों ने भक्ति कहा है ॥ २१८ ॥ जो प्रमुदित होकर मुनि, ऋषि, यति व अनगर इन चार प्रकार के संघ के प्रति यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? ॥ २१९ ॥ अतः व्रतों के देने द्वारा, शास्त्रों के अध्यापन द्वारा, धन के दान द्वारा, उनके शरीर की सेवा द्वारा एवं उत्तम (तप व स्वाध्याय के योग्य) स्थान के दान द्वारा शारीरिक (कुत्वार व गल-गण्ड-आदि), मानसिक (काम-क्रोधादि) व आगन्तुक (अतिवृष्टि-आदि) दुःखों से पीड़ित हुए संयमी जनों का उपकार करना चाहिए ॥ २२० ॥

अब वात्सल्य अङ्ग में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा कहते हैं—

अवन्तिदेश की उज्जयिनी नामकी नगरी में, जिसके भवन देवों के भवनों से स्वर्धा करने वाले हैं, प्रभावती महादेवी के अधीन हुई सुख-सीमावाला 'जयवर्मा' नाम का राजा राज्य करता था, जिसका राज्य-संरक्षण चार मन्त्रियों द्वारा सम्पन्न होता था । १. बौद्ध-सिद्धान्तरूपी समुद्र में प्रविष्ट होने के लिए मकर-सरीखा (बुद्ध मतानुयायी) 'शुक्र' । २. नास्तिक-मत में इन्द्र-सा बृहस्पति । ३. छद्म-मुद्रा से उत्कट बुद्धिवाला (शैव-सम्प्रदाय का अनुयायी) प्रह्लादक और ४. बलि नामका मंत्री, जो कि प्रह्लादक का छोटा भाई व उसका अनुयायी एवं वेदविद्या में पारंगत (वैदिक मतानुयायी) था ।

एक बार राजा भगनचुम्बी महल के अग्रभाग पर आरोहण के अवसर पर 'दिविलोकानन्द' नाम के राजमहल पर स्थित था । उन्होंने ऐसे अकम्पनाचार्य के चरण कमलों की पूजा के लिए राजमार्ग से जाते हुए नागरिक मनुष्य-समूह को देखा, जिसका कुटुम्बोजन महापूजा का उत्सव देखने के उत्साह से गर्वित था । जो कि (अकम्पनाचार्य) एक समय उक्त नगरी के 'सर्वजनानन्द' नाम के वगीचे में आकर ठहरे हुए थे, जो पाँच-सौ महामुनियों के संघ में प्रधान थे, जिन्होंने शिष्यजनों का मनरूपी कमल-समूह समस्त शास्त्रों की अभ्यासरूपी वृष्टि से बड़ी हुई सरस्वती (द्वादशाङ्ग वाणी) रूपी नदी की तरङ्ग परम्परा में स्नान कराने से पवित्र

१. श्रतदानेन उपकारं कुर्वन्तु । २. उत्तमस्थानः कृत्वा । ३. शारीरमानसागन्तुक । ४. सुधान्वसोऽमृतभोजनाः देवाः ।
५. उज्जयिण्याः । ६. सूपतिः । ७. मकरेण । ८. इन्द्रेण । ९. उत्कट । १०. सरल, पटु । ११. स्तम्बः आलान-गुल्मयोः, गृहादीनां प्रकाण्डे च, भुवनत्रयं, पटुभुवनत्रयस्य । १२. स्थितवतः । १३. गर्वित । १४. आरोहणावसरे ।

वसरं विविधलोकानन्दमग्निरं स्थितः समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्या' बोद्योने नियोगः^१ इति वितर्क-
यन्. सकलसम^२ यसंभविप्रसूनस्तिमि^३ तहस्तपल्लवान्तरालावनपासात् 'देव, भवदर्शनोत्सुकवनदेवतालीषने भगवत्सपः-
प्रभावप्रवृत्तसमस्तर्तुभाषितमेदिनीनन्दने^४ निजलक्ष्मीविलक्ष्मीकृतगन्धमावने पुरोषवने सवृणश्रीसंवा^५ दितसमूहेन
महता मुनिसमूहेन सह सर्वसत्त्वानन्वप्रवानोवाराभिषासुभाप्रबन्धावधोरितामृतमरीचिमण्डलो^६ निखिलविष्णुपालमौलि-
मणिनामकमुकु^७ रन्दोभवत्पावनसमण्डलः पुण्यविषमूषवन्धनवारिरकम्पनसूरिः सन्नायातः । तदुपासनाय चास्योज्जयि-
नीजनस्य^८ महामहावहविजितोत्साहः^९ इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पावनवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रबलतालता-
श्रयकलि^{१०} वलिसमृच्छत् ।

सङ्गमधुरोद्गरण^{११} गलिर्बलिः—'देव,

न वेदादपरं तत्त्वं न श्रद्धादपरो विधिः । न यज्ञादपरो धर्मो न द्विजादपरो यतिः ॥ २२१ ॥'

किया था । जिसने उत्कट तपश्चर्या रूपी गुण धारण करने से तीन लोक को सरल किया था एवं जो महा-
श्रद्धाधारी थे ।

तब उसने विचार किया—'नागरिकों को यह तेज उत्सव देखने की प्रवृत्ति असमय में क्यों हो
रही है ?'

इतने में ही उसने वनपाल से, जिसके हस्त पल्लव का मध्य-भाग समस्त छह ऋतुओं में होने वाले
पुष्पों से निश्चल था, निम्नप्रकार वृत्तान्त सुना—

'हे राजन् ! आपकी नगरी के ऐसे उपवन में, जहाँ पर वनदेवता के नेत्र आपके दर्शनार्थ उत्कण्ठित
हैं । जिसमें आये हुए पूज्य अकम्पनाचार्य की तपश्चर्या के प्रभाव से प्रवृत्त हुई छह ऋतुओं द्वारा वृक्ष विकसित
किये गए हैं । जिसने अपनी सौगन्ध्य लक्ष्मी द्वारा गन्धमादन (पर्वत विशेष) को तिरस्कृत या शोभा-रहित
किया है । प्रशस्त गुणरूपी लक्ष्मी से यथार्थ विचार प्राप्त करने वाले महान् मुनिसंघ के साथ, ऐसे श्री
अकम्पनाचार्य आये हुए हैं, जिसने समस्त प्राणियों को आनन्द देनेवाले महान् वचनरूप अमृत-समूह द्वारा
चन्द्र-मण्डल तिरस्कृत किया है, जिसके चरणों का नख-मण्डल [नग्रीभूत] समस्त दिक्पालों के मुकुटों में
जड़े हुए श्रेष्ठ मणियों से दर्पण-सरीखा हो रहा है और जो पुण्य रूपी हाथियों के जुण्ड के बन्धन के लिए खूँटा-
सरीखा है, उनकी उपासना करने के लिए इस उज्जयिनी नगरी के मनुष्यों के चित्त में महान् पूजाकारक
उत्साह उमड़ रहा है ।'

फिर उक्त आचार्यश्री के चरणों की वन्दना के लिए उद्यत हृदय वाले राजा ने वहाँ प्रस्थान करने के
लिए बलि नाम के मंत्री से पूछा, जो मिथ्यात्व की विशेष प्रबलतारूपी लता के आश्रय के लिए बहेड़ा के वृक्ष-
सरीखा है ।

तब सच्चे धर्म की घुरा को उखाड़कर फेंक देने में दुष्ट बैल-सरीखे बलि मन्त्री ने कहा—'राजन् !
वेद से दूसरा कोई तत्त्व नहीं है । श्रद्धा से उत्कृष्ट कोई विधि नहीं है । यज्ञ से महान् कोई दूसरा धर्म नहीं है
और ब्राह्मण से उत्कृष्ट कोई दूसरा साधु नहीं है ॥ २२१ ॥

१. उत्सव । २. कोऽधिकारः । ३. बहुऋतुः । ४. निश्चल । ५. वृक्षे । ६. 'विलक्ष्मीकृत' क० । ७. संवादितः सम्यगूहो विचारो येन । ८. चन्द्रः । ९. दर्पणीभवत् । १०. महापूजाकारकः । ११. विभीतकतर्यः ।

११. गलिर्बुद्धवृषः शक्तोऽप्यधूर्बहः कर्माधोम्यो बलिः ।

सन्मार्गसंगोच्छेदकः प्रह्लादकः—

“अद्वैतात् परं तत्त्वं न देवः शंकरात्परः । शंकरात्स्वात्परं नास्ति मुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥ २२२ ॥”

तथा नास्तिक्याधिक्यथाववाचस्पती “शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे स्वप्रतिज्ञां विहाययामासतुः । मनागन्तःकुम्भित-
मतिः श्रुतिपतिः—‘अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजाः द्विजाः, किं ममैव पुरतो भवतां भारतो प्रगल्भते । किं वा बुधप्रवे-
कस्य’ लोकस्यापि । तस्मीतिवसुमतीविदारणद्विजैः—‘इत्यादि, तस्मिन् तस्मात्सन्मार्गोच्छेदकविषये सेष्यं मनः,
तदास्ती तावदभ्यस्तसास्त्रप्रवीणपक्षः परः प्राज्ञः । किन्तु सर्वज्ञस्यापि ‘वादेनैव पुरस्तात्परिगृहीतविद्यानवद्या एव ।’ स्थिर-
प्रकृतिः क्षोभीपतिः—‘यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति’ इत्यभिधायानन्दकुन्दुभिरवोपाजितपरिजनपूजोप-
करणो विजयशेखरं नाम करिणमारुह्यान्तःपुरानुगमयद्वाह्योऽतिवाह्यं वाह्यमगरमार्गमुपगताराभसीमसंसर्गः, ततः करि-
णोऽवतीर्य गृहीतायर्धेवपरिकरः कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरस्तं ततविद्यानवद्यं भगवन्तं यथावप्रभिक्ष्य समाश्रितनोबासन-
परिग्रहः सविनयाग्रहं १० स्वर्गापदमस्वरूपनिरूपणपरायणः सद्धर्मसनायां कथां प्रथयामास ११ । सत्कर्मवशा १२ प्रभिवलि-

सन्मार्ग की सृष्टि का उच्छेद करनेवाले प्रह्लादक मंत्री ने कहा—‘अद्वैत से महान् दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शङ्कर से उत्कृष्ट दूसरा कोई देवता नहीं है और जैव शास्त्र से बढ़कर दूसरा कोई मुक्ति (सांसारिक भोग) व मुक्ति को देनेवाला शास्त्र नहीं है ॥ २२२ ॥’

विशेष नास्तिक दर्शन के वचन बोलने के लिए बृहस्पति नाम के दो मन्त्रियों ने भी राजा के लिए अपने सिद्धान्त विज्ञापित किये (गमझाए) ।

फिर कुछ चित्त में कोप से कलुषित बुद्धिवाले राजा ने कहा—‘अहो दुष्टतारूपी लता के आधार-
दान में वृक्ष-सरीखे बाह्याणां ! क्या मेरे ही सामने आपकी वाणी बोलने में समर्थ होती है ? या महाविद्वान् लोक
के सामने भी आपको वाणी बोलने में समर्थ होती है ?’

पुनः प्रशस्त सीतिरूपी पृथिवी के विदारण के लिए महान् हल-सरीखा बलि बोला—‘हे पृथिवी
पालक ! यदि हमारी बुद्धि की महत्ता के विषय में आपका मन ईर्ष्या-युक्त है तो शास्त्रों के अभ्यास से प्रवीण
बुद्धिवाले विद्वान् की तो बात ही क्या है ।

यदि हम लोगों के सामने सर्वज्ञ ही वादी होकर शास्त्रार्थ करने उपस्थित हो जाय तो उसके
सामने भी हमारी विद्या निर्दोष रहरेगी ।

‘यदि ऐसा है तो शूखोर और कायरों को परीक्षा रण में ही होगी ।’

ऐसा कहकर स्थिर स्वभाव-वाला राजा आनन्द कुन्दुभि की ध्वनि के साथ अनुचर-वर्ग व पूजा के
उपकरण प्राप्त करता हुआ व अन्तःपुर का सहगमन न रोककर विजय शेखर नाम के हाथी पर चढ़कर चल दिया
और नगरी के बाह्यमार्ग का उल्लङ्घन करके मुनि के उद्यान की सीमा का संग प्राप्त करते ही हाथी से
उतर पड़ा और शिष्ट पुरुष का वेष व कुटुम्बी जनों को ग्रहण करनेवाले एवं कुछ हितैषी अनुचर-वर्ग को अग्र-

१. एकान्तात् किन्तु सर्वथैकान्तमेव अस्तुतत्त्वं । २. द्वी मन्त्रिणी । ३. मन्त्रिणः प्रति प्राह । ४. मुख्यस्य ।
५. महत्बलं । ६. भूः । ७. वादितः । ८. गमने सति अनिषेध्यः राजा । ९. बाह्य, बहिर्नगरमार्गमतिवाह्य
अतिक्रम्य संप्राप्तमुनिवनसीमसंगः सन् गजादुत्तीर्य । १०. राजा । ११. मुनिना कृत्वा विस्तारयामास । १२. प्रभेदन-
भ्रमरः टि० च० । जेणुस्तत्र प्रभित् भेदनं अलिभ्रमरः प्राह । टि० (ख०) ।

बलिः—‘स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्गास्तित्वसंग्रहे देवस्य दुराग्रहः, यतो द्वावशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुरुषः । तयोरेवोन्म-
मन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूतिः प्रीतिः प्रत्यक्षसमथिसर्गः’ स्वर्गो न पुनरबुष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति ।’ गुण-
धूरिः सूरिः—‘सकलं प्रमाणबले’ बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाणं समस्ति ।’ नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमात-
लिः बलिः—‘अत्रिलश्रुतधरोद्धाराविपुरुषाविदुषः, एकमेव ।’ भगवान्—‘कथं तर्हि भवतः मित्रोद्दिवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्,
कथं वा तवावस्थानां वंशानामवस्थितिः । स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयवादाप्तपुरुषोपदेशाभित्ति’ ‘स्वपक्षपरिक्षतिः परमतो-
त्सवकृतिश्च । बलिभट्टो भट्ट इवेतस्तदमितो सवोत्कटः करटीति संकटं प्रधट्टकमापतितः परं *सभाजनसभा’ ‘जन-
करमुत्तरमपश्यन्तश्लील’ ‘मत्तभ्यसर्गं तिर्गलमार्गं किमपि तं भगवन्तं प्रत्युवाच । क्षितिपतिरतोवमन्वा’ ‘क्षविक्षिप्तवीक्षणो

गामी करनेवाले उसने व्रत व विद्या में निर्दोष पूज्य अकम्पनाचार्य के लिए यथाविधि नमस्कार किया और एक नीचे आसन पर बैठ गया । आग्रहपूर्वक स्वर्ग व मोक्षस्वरूप के विचार में तत्पर हुए, उसने उक्त आचार्य द्वारा प्रशस्त धर्म वाली धर्म कथा विस्तारित की ।

उसे सुनकर पुण्य कर्मरूपी बाँस के विदारण करने के लिए भँवरा-सरीखे बलि मंत्री ने कहा—‘हे स्वामिन् ! स्वर्ग व मोक्ष का अस्तित्व मानने का आप दुराग्रह क्यों करते हैं ? क्योंकि बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष के पुरुष की परस्पर में असाधारण प्रेमरस की वृद्धि की उत्पत्ति वाली प्रीति ही प्रत्यक्ष-प्रतीत स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य व अमिलपित स्वर्ग नहीं है ।’

गुणों से बहुल आचार्य ने कहा—‘वाद-विवाद के कलह-सहित और प्रमाण-पूजक बलि ! क्या एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ?’

नास्तिकों में हन्द्र-सरीखे चावक के मनोरथरूपी रथ के संचालन के लिए सारथि-सरीखे बलि ने कहा—

समस्त वास्वरूपी पृथिवी का उद्धार करने में आदिपुरुष सरीखे हे विद्वन् ! ‘हाँ केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ।’

आचार्य—‘यदि आप केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हों तो आपके माता-पिता के विवाह-आदि की सत्ता कैसे सिद्ध होगी ? अथवा तुम्हारे वंश में उत्पन्न हुए अदृश्य पूर्वजों की सत्ता कैसे सिद्ध होगी ? उनकी सिद्धि के लिए यदि आप कहेंगे कि प्रमाण द्वारा जानने योग्य उक्त पदार्थ हैं अवश्य, परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जानने योग्य नहीं हैं, अतः वे आप पुरुष के उपदेश (आगम प्रमाण) की अपेक्षा करते हैं, तब तो आपके पूर्वपक्ष की हानि होती है, अर्थात्—‘वस्तु की स्थिति का साधक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, अन्य नहीं’ आपका यह सिद्धान्त खण्डित होता है और स्याद्वाद-दर्शन की सिद्धि होती है, क्योंकि आपने प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय आगम प्रमाण भी मान लिया ।

इसके बाद बलि नाम का विद्वान् मंत्री मूर्ख-सरीखा होकर ‘यहाँ पहाड़ की भीट है और वहाँ मदोन्मत्त हाथी है’ किस मार्ग से जाऊँ ? उसकी तरह दुःख-प्रकर्ष को प्राप्त हुआ और जब सभा के सदस्यों की प्रीतिजनक उत्तर न दे सका तब वह आचार्य से अश्लील, व उच्छृंखल मार्गवाला एवं दुष्टजनों के योग्य वचन बोल उठा ।

१. निश्चयः । २. सह कलिना यतसे । ३. प्रमाणे बलिः पूजा यस्य सः । ४. सारथिः । ५. विदुषो बुधस्तस्य संबोधनं हे मुने । ६. ज्ञानं प्रमाणं, ज्ञानेन यद्वस्तु जायते तत्प्रमेयं, तत्तु तवाप्रत्यक्षं तेन तेषां वस्तूनामवस्थितिर्न । ७. सत्याः । ८. पूर्वपक्षस्य हानिः । ९. अविद्वान् । * ‘परं सभाजनकरमुत्तरं’ क० । १०. प्रीतिकरं । ११. अश्रव्यं । १२. लज्जा ।

मुमुक्षुसमक्षमासन्नाशिवैतादृशसिंहं बलिभट्टं प्रतिष्ठामङ्गभयार्थिकमप्यननिलम्बः^१ भगवन्, असंपन्नतरुसंबन्धस्थ निजसंज्ञितप्रयुक्तचित्तमहामोहान्धस्य सदमंभ्यसहेतोर्जन्तोत्तिसर्गैर्व्यभिक्तु गुणगुण्यु न सल्लु दुरपवादकरणात्परभवसत्ते प्रहरणमस्ति^२ इति वचनपुरःसरं कथान्तरमनुवध्य^३ साधु समाराध्य च प्रशान्तिहेमवतो^४ प्रभवगिरिमकम्पनसूरिं विनेय-जनसंभावनीचित्यज्ञया तदनुशयात्मसदनमासाद्यापरेष्वपरदोषमिद्रेण *सम्पत्कारकरणमनुजैः सह कर्मस्कन्ध^५ बन्धवाद्धलि^६ बलिं निजवेशाभिर्वासयामास ।

भवसंवाच इलोकौ—

“सन्नसंज्ञं समाधेयं यदि चित्तं मलीमसम् । पात्यसात्तेः” अयं पूर्वः परं श्वाशुभवेष्टितात् ॥२२३॥

स्वमेव हस्तुमीहेतु दुर्जनः सज्जनं द्विषन् । योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न दजेदधः ॥२२४॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ।

बलिद्विजः साधुजस्तथा सकलजनसमक्षमसू^७ १० मणपूर्वकं निर्वासितः सन्नुनिविषयरोषोन्मेवकलुषितः

यह देखकर राजा के नेत्र विशेष लज्जा से विक्षिप्त हो गए और उसने मुमुक्षु आचार्य के सामने समीप में अकल्याण लगी वज्र का प्रहार करने वाले बलि भट्ट से अपनी प्रतिष्ठा के गङ्गा होने के गप से कुछ भी नहीं कहा और आचार्य से कहा—

‘पूज्यवर ! निस्सन्देह कुवादी मानव के लिए, जो तत्त्व-संबन्ध का ज्ञाता नहीं है (मूर्ख है) और जो आत्मस्वरूप से पतित होने के कारण बड़े हुए चित्तवर्ती महामोह से अन्धा है एवं जो प्रशस्त धर्म का ध्वंसक है, स्वाभाविक स्थिरता में सुमेरु पर्वत-सरीखे व सम्यग्ज्ञान-आदि गुणों से महान् पूज्य पुरुषों की निन्दा करने के सिवाय अन्त में दूसरा कोई हथियार नहीं है । इसके बाद उसने चर्चा के प्रसङ्ग का उपसंहार करके प्रकृष्ट उत्तम क्षमारूपी गंगानदी का उद्गम करने के लिए हिमवान् पर्वत-सरीखे अकम्पनाचार्य की उत्तम आराधना की । शिष्यजनों के समुचित विनय को जाननेवाली आचार्य की आज्ञा लेकर अपने महल में लौट आया । बाद में उसने दूसरे दिन कर्म-समूह के बंध के लिए हस्तिशस्त्र प्रणेता वाद्धलि आचार्य-सरीखे बलि को किसी दूसरे अग्राध के वहाने से त्रिषकार के विधान सहित उसके साथी (शुक्र प्रह्लादक व बृहस्पति) मन्त्रियों के साथ अपने देश से निर्वासित कर दिया ।

इस विषय में दो श्लोक हैं, जिनका अर्थ यह है—

यदि चित्त मलिन (अशुभ विचार से दूषित) है तो सज्जन और दुर्जन एक सरीखे हैं । उनमें से सज्जन तो अशान्ति (क्रोध) के कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्यों के करने से नष्ट हो जाता है । क्योंकि सज्जन से द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वयं अपने घात को नेष्टा करता है । ठीक ही है, जो अकेला ही तराजू में बैठ जाता है, वह नीचे क्यों नहीं जायगा ? ॥ २२३-२२४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में बलि के देश निर्वासन को वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ कल्प कल्प समाप्त हुआ ।

जब समस्त लोगोंके समक्ष विशेष तिरस्कार पूर्वक निकाला हुआ बलि ब्राह्मण अकम्पनाचार्य को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए क्रोध से सन्तप्त चित्त वाला हुआ तब उसने अपने छोटे भाई प्रह्लादक के साथ कुरुजाङ्गल

१. अकल्याण । २. अनुबद्धता । ३. उपसंहृत्य । ४. गङ्गा । ५. विगोपन । ६. समूह । ७. गजागमाचार्य ।

८. सत्पुरुषदुर्जनौ । ९. क्रोधात् सत्पुरुषः क्षयं याति । १०. दुर्जनः । ११. बृहत् । १२. पराभव ।

कुवजाङ्गलमण्डलेषु ^१सद्विलासिनो बलकेलिविगलितका ^२लेयपाठकस्तोलाधरसुरसस्ति ^३सोमस्तिनीचुम्बितपर्यन्तप्रसरे
हस्तिनागपुरे सास्त्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमतीं महादेवीमवहाय ^४सरस्वतीरसावगाहसागरस्य श्रुतसागरस्य भगवतोऽम्बु
पितृविनयविष्णुना ^५विष्णुना सधुजम्भता स्रुतना सार्वं प्रबाधितदीक्षापमस्य ^६महापद्मस्य महोपनेमंहास्तं ^७पद्मनामनिलयं
तनयसशिभ्रियत् ^८। पद्मोऽपि आरसंबाराद्विचितवंशविद्याप्रभावाय तस्मै बलितसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमवात् ^९।
बलिः—‘देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लावः प्रसादः। किंतु कर्णेजपद्मतीनां सङ्बलुञ्चनोचितचेतःप्रवृत्तीनां
च प्रायेण पृथ्वाणां नियोगिपदं द्वयास्पदं न शौर्योजितचित्तस्योदात्तस्य च, तवसाध्यसाधनेन नन्वयं ^{१०}जनो निवेश-
वामेनानुगृहीतव्यः’ ^{११}। पद्मः—‘सत्प्रमिदम् ^{१२}। किंतु सर्वविद्यासंपन्नः सर्वविद्या ^{१३}सर्वधुरीणेषु ^{१४}भवादिषु सचिवेषु सत्तु
किं नामासाध्यं समस्ति ^{१५}। अन्यथा तु कुम्भपुराचिह्नतभूतिः ^{१६}सिंहकोर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोध ^{१७}नलवधयशःप्रसाधनः संनद्ध-
सारसाधनो हस्तिनागपुरावस्क ^{१८}स्वप्रदानाभापच्छन्, एतन्नगररुद्धभाय ^{१९}सर्वनिर्वेदितागमनः पद्मनिवेद्यादभ्यमिश्रोण ^{२०}।
प्रयाणपरामर्शेन कूटप्रकामकव ^{२१}नकोविदविषयेन बलिनारुद्धमध्ये प्रबन्धेन ^{२२}युद्धयमानः, नामनिर्गमविधानः प्रधानैर्मुद्ध-

देश के हस्तिनागपुर नगर के, जिसकी विस्तृत पर्यन्तभूमि ऐसी गङ्गा नदीरूपी स्त्री द्वारा चुम्बन की गई है, जिसके तरङ्गरूपी ओष्ठ वहाँ की कामिनियों द्वारा की हुई जलक्रीड़ा से गिरे हुए कुंकुम से लालिमा-युक्त हैं, ऐसे महापद्म नामक राजा के ज्येष्ठ पुत्र पद्मनाम के स्थान वाले राजा का आश्रय लिया, जिसने साम्राज्य लक्ष्मी-सरीखी लक्ष्मीमति पट्टराती का त्याग किया था और जिसने ऐसे पूज्य श्रुतसागर नामक आचार्य के समीप पितृभक्ति को विस्तारित करने वाले अपने विष्णु नाम के छोटे पुत्र के साथ दीक्षा-सम्पत्ति ग्रहण की थी, जो कि सरस्वती रूपी नदी के आमन्दरूप जल में अवगाहन का समुद्र है।

पद्मराजा ने भी गुप्तचरों द्वारा जाने हुए वंश व विद्या से प्रभावशाली बलि के लिए समस्त अधिकारी वर्ग में श्रेष्ठ मन्त्री का पद प्रदान किया।

तब बलि ने कहा—‘हे देव ! मैंने आपका असाधारण सन्मान से सुखप्रद अनुग्रह ग्रहण कर लिया परन्तु अधिकार का पद चुगलखोरों और धूसखोरों के लिए प्रायः सुखदायक होता है न कि महान् चरित्र वाले व शूरता से शक्तिशाली चित्त वालों के लिए। अतः मुझे ऐसी आज्ञा-प्रदान द्वारा अनुगृहीत कीजिए, जिसमें असाध्य कार्य सिद्ध हो सके।’

तब पद्मराजा ने कहा—‘तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु स्वामी के अभोष्ट को पूरा करने में प्रवीण और समस्त कर्तव्यों में कुशल तुम्हारे जैसे मन्त्रियों के होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है।’

एक समय कुम्भपुर के स्वामी सिंहकोर्ति नामके राजा ने, जिसने अनेक युद्धों में यशरूपी सिद्धि प्राप्त की थी और जो युद्ध विद्या में कुशल सैनिकों की शक्तिरूप साधनों से सन्नद्ध (सुभज्जित) था, हस्तिनागपुर पर हमला करने के लिए प्रस्थान किया। परन्तु शत्रु के नगर में प्रच्छन्न हुए—छिपे हुए गुप्तचरों ने इसके आने का समाचार सूचित कर दिया, जिससे पद्म राजा की आज्ञा लेकर शत्रु के सन्मुख आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करने में तत्पर हुए एवं कूट कपट की अभिलाषा वाले युद्धों में प्रवीण बुद्धि वाले बलि नामके मन्त्री ने मार्ग के मध्य में ही मार्ग रोककर उसके साथ तुमुल

१. देश। २. कुङ्कुमं। ३. गंगानदी एवं सामन्तिनी। ४. परित्यज्य। ५. विस्तारकेण। ६. संपदः। ७. ज्येष्ठः। ८. बलिमन्त्री। ९. मल्लक्षणो जनः। १०. प्रवीणेषु। * सर्वकर्मणि कुशलेषु। ११. स्वामी। १२. संग्राम। १३. घाटकः। १४. प्रच्छन्नचरः। १५. शत्रुसन्मुख। १६. संग्राम। १७. मार्गरोधनेन।

सिद्धान्तोपार्तः^१ सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयप्रक्षाल्योन्मूलनप्रभवमतये भित्तिपतये प्राभूतीकृतः ।

भित्तिपतिः—‘शास्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले बले, निखिलेऽपि बले चिरकालमनेकशः कृतकृष्ण-
ववनच्छायेत्यास्य द्विष्टस्य विजयान्तितात्तं तुष्टोऽस्मि । तद्याच्यतां मनोभिलाषधरो वरः’ । बलिः—‘अलक, यदाहं
पाचे तदायं प्रसादीकृतस्यः’ इत्युद्यारमुद्योयं पुनश्चतुरङ्गबलप्रबलः प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्मभवभित्तिपतिमावेशं पादित्वा
सत्वरमशेषाशाचशनिवेशानी^२कमुत्रितशकलमहीततो दिग्विजययात्रार्थमुच्चंचाल ।

अत्रान्तरे बिहारवशाद्भूगवानकम्पनास्त्रार्थस्तेन महता मुनिनिकायेन साकं हस्तिनागपुरमनुसृत्योत्तरदिग्विज-
सिग्यवतंसकुमुदतरो हेमगिरी महावगाहापां^३ गुह्यायां चातुर्मासोनिमित्तं स्थितिं बबन्ध । बलिरपि निखिलजलविरोधः^४
सविषवनविनोदितवीरवधूहृदयो दिग्विजयं विधायागतस्तं भगवन्तमवबुध्य चिरकालव्यवधाने^५ऽप्य^६तर्कविपनिवेशं
इव जातप्रकीर्णोद्रेकस्तदपराधविधानाय^७ घराधीश्वरं ‘पुरावितोर्णधरव्याजेन^८ समाशाखार्धमात्मकशासनप्राज्यं
राष्यमन्तःपुरप्रचारैश्चर्यमात्रसद्यतः^९ पद्मतोऽप्यव्यं भक्तमिषेण मुनिसंन्याजः^{१०}त्कर्षं^{११} चिकीर्षुर्मेघनद्रव्याधिकरणे^{१२}
रूपकरणैरग्नौ^{१३}त्रमारेभे ।

युद्ध किया । जिससे बलि ने विख्यात नाम वाले प्रधानों और युद्ध-विद्या में समीपभूत सामन्तों के साथ उसे
बाँधकर हृदय के कोले के उन्मूलन होने से प्रसन्न बुद्धिवाले पद्मराजा के लिए भेंट कर दिया ।

तब पद्म ने कहा—‘शास्त्र-विद्या के आधार व्याकरण शास्त्र में पतञ्जलि-सरीखे शास्त्र विद्या में
प्रवीण बलि ! समस्त सैन्य के होते हुए भी चिरकाल से अनेक बार मेरी मुख-कान्ति को काली करने वाले
इस शत्रु को जीतने से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए आप मुझ से अपनी मनोकामना पूर्ण करने वाला वर माँगिए ।’
बलि—‘स्वामिन् ! जब मैं आपसे याचना करूँ, तब महाराज मुझ पर कृपा करें ।’

ऐसा उदारता पूर्वक कहकर और राजा पद्म से आज्ञा लेकर विरोधी राजाओं को वध में करने के
उद्देश्य से चतुरङ्ग सेना से शक्तिशाली हुए बलि ने समस्त दिशाओं को अपने अधीन करने वाले सैन्य-शिविर
द्वारा समस्त पृथिवी तल को आच्छादित करके दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान किया ।

इसी बीच में पूज्य अकम्पनाचार्य उस बड़े भारी मुनि संघ के साथ बिहार करते हुए हस्तिनागपुर
में पवारे और उत्तर दिशारूपी स्त्री के लिए कानों के आभूषणरूप फूले हुए वृक्षों वाले हेमगिरि नाम पर्वत की
महागम्भीर गुफा में चतुर्मास करने के लिए ठहर गए ।

समस्त समुद्र-तट के समीपवर्ती वनों में घोर वधू का हृदय प्रमुदित करने वाला बलि भी दिग्विजय
करके लौट आया । जैसे बहुत समय बीत जाने पर भी वर्षा ऋतु में पागल कुत्ते के काटने का जहर चढ़ जाता
है, वैसे ही मुनि संघ का समाचार जानकर उसे विशेष क्रोध-वृद्धि उत्पन्न हुई । इसलिए उसने मुनिसंघ की
विराधना करने के उद्देश्य से पूर्व में दिये हुए वर का ब्रह्मना लेकर अपने स्वामी राजा पद्म से, जिसका मन्दिर
(स्थान) अन्तःपुर में गंधार के योग्य वैभव वाला है, एक पक्ष के लिए केवल अपने ही शासन की
प्रचुरता वाला राज्य शासन माँग लिया और बलि ने मुनिसंघ के ऊपर विशेष उपसर्ग करने के इच्छुक होते
हुए मद्य व मांसादि साधनों द्वारा महायज्ञ करना आरम्भ कर दिया ।

१. समीपभूतः । २. सैन्य । ३. गम्भीराया । ४. तटसमीप । ५. आच्छादनेऽपि । ६. ‘हृदयशून्यके जलमेचनमिव,
विल उष्णजाले शुना दष्टः पुमान् तस्य विपं वर्षाकाले उदयमामच्छति’ टि० ख० । ‘अलकः ग्रहिलश्च’ इति
पञ्चिकाकारः । ‘ग्रहिलकुर्कुरः’ । टि० २० । ७. तेषां गुनीनां विराधनानिमित्तं । ८. पूर्व दत्त । ९. पक्षकं ।
१०. मन्दिरात् । ११. उपसर्ग । १२. मद्यपात्र । १३. महायज्ञं ।

अत्रान्तरे १ निजनिवासपवित्रितमिथिलापुरे: * जिष्णुसूरैरम्तेवासी आजिष्णुनाम २ तमीमध्यसमये बहि-
विहितविहारः ३ समीरमार्गे नक्षत्रवीथीं ४ लोचनलोकनलनाथा विवधातश्च ५ मूरसंचारचकितगात्रं कुरङ्गकलत्रमिव,
तरलतारकाश्रयणं श्रवणमवेक्ष्यात्तरिक्षे ६ लक्ष्यं बध्वा किलियमुच्चैरबोचत्—‘अहो, न जाने कलक्लिप्तहामुनीनां महानुप-
सर्गो वर्तते’ इति । एतच्च ७ श्रमणशरणगणी समाकर्ष्य प्रयुक्तावभिधोषस्त ८ शरगिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बलिबुचि-
लसितमवधार्यकार्यं च गगनगमनप्रभावं पुष्पकदेवं देशगतसेवन् ‘हंहो पुष्पकदेव, तव विक्रयद्वैधे ९ यन्नि तदुपसर्गविसर्गो
सामर्थ्यमस्ति । ततस्तथाविधद्विबुद्धिरोविष्णवे विष्णवे तामदृष्टविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविवृये १० निवेद्य ११ तदुप-
सर्गपदार्थं १२ यास्मत्स १३ गौर्ध्रियोजयितव्यः १४ ।’ पुष्पकदेवस्त्रिवशोचितशरणसेवस्य तस्य १५ ‘महर्षेर्भाषितात् देशमासाद्य
विष्णुमुनये तथाविधद्विबुद्धिं गुहनिवेशप्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास । विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्ध-
प्रसरेण किरणनिकरेण चारिष्विषयवैकानिर्भवेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविदम्बनकरेण

इसी जीव में अपने निवास द्वारा मिथिलापुरी को पवित्र करने वाले जिष्णु सूरि नामके आचार्य के
शिष्य आजिष्णु नाम के क्षुल्लक ने, जिसने अर्धरात्रि में बाहर विहार किया था और जो आकाश में नक्षत्र-
मार्ग को नेत्रों से दर्शन-युक्त कर रहा था, श्रवण नक्षत्र देखा, जो कि वैसा कांपने वाले नक्षत्र का आश्रय कर रहा
था, जैसे मृगी का धरोर व्याघ्र के आगमन से कांपने वाला हो जाता है । पुनः ज्योतिष शास्त्र का विचार
करके जोर से चिल्लाया—‘आह ? न जाने कहां पर महागुनियों पर महान् उपसर्ग हो रहा है ?

जब उक्त बात मुनि-संरक्षक जिष्णु सूरि नामके आचार्य श्री ने सुनी तब उन्होंने अवधि ज्ञान से
जाना कि हस्तिनागपुर नगर के पर्वत की गुफा में स्थित हुए अकम्पनाचार्य के ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर
रहा है ।’ इसके बाद उन्होंने शीघ्र आकाश में विहार करने की शक्ति वाले पुष्पक देव नाम के क्षुल्लक को
बुलाकर कहा—‘पुष्पक देव ! तुम्हारे पास विक्रिया ऋद्धि नहीं है, इसलिए तुममें मुनि संघ को उपसर्ग से
दूर करने की शक्ति नहीं है, अतः उपसर्ग निवारण करने वाली विक्रिया ऋद्धि की वृद्धि से दोषि-युक्त हो रहे
विष्णु कुमार मुनि से निवेदन करके, जो कि अपने में प्रकट हुई भी विक्रिया ऋद्धि को, जिसकी विशिष्टता
का अनुभव स्वयं उन्हें नहीं है, जिससे जो विशेषता-सून्य-सरीखी है, नहीं जान रहा है, मुनि संघ का उपसर्ग
नष्ट करने अथवा छुड़ाने के लिए उन्हें हमारी आज्ञा से प्रस्तुत कार्य में नियुक्त करने की प्रेरणा करनी चाहिए ।’

इसके उपरान्त पुष्पकदेव देवों के योग्य वरण-कमलों की सेवा वाले महर्षि जिष्णु सूरि के वाहने से
उस देश में पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होने की बात और गुरु की आज्ञा कह दी ।

इसे सुनकर जैसे दीपक, स्फाटिक भण्डी की भित्ति के मध्य प्रसार करनेवाले किरण-समूह से शोभाय-
मान होता है, वैसे ही वे विष्णुकुमार मुनि भी लवण समुद्र की वज्रमयी वेदिका का भेदन करनेवाले व मानु-
षोत्तर पर्वत के पर्यन्त भाग का अनुभव करनेवाले एवं मनुष्य क्षेत्र का आरम्भ तिरस्कृत करनेवाले अपने हाथ
से सुशोभित हुए । अर्थात्—जब उन्होंने अपनी विक्रिया ऋद्धि की परीक्षा करने के लिए ज्यों ही अपना कर-
कमल फैलाया तो वह लवण-समुद्र की वज्रमयी वेदिका का भेदन करता हुआ मानुषोत्तर पर्वत तक फैल गया ।

१. निवासेन पवित्रिता मिथिलापुरी येन सः । * गौरप्रधानहस्तस्वं तस्य सूरैः । २. रात्रि । ३. गगने । ४. मार्गे ।
५. व्याघ्र । ६. ज्योतिःशास्त्रे विचारं कृत्वा । ७. श्रमणानां शरणीभूतवचासी गणी सूरिः । ८. हस्तिनागपुर ।
९. रहितत्वात्-विनाशनात् । १०. अजागते । ११. कथयित्वा । १२. प्रान्ताय-विपोजनाय । १३. १४. आदेनात्
विष्णुर्योजनीयः । १५. जिष्णुसूरैः ।

करेणोर्णनाभ^१ इव सन्तुमिकाये काये स्वयश्राधयया व्याससमासक्रियया च^२ तामवागभ्योपगम्य च ह्रास्तिनपुरं^३ न तस्वनिवेष्ट निखिलव^४ निवर्णाधमपात्ताय मध्यमलोकपालायामर्षप्रवृत्ततन्त्रेण^५ हुंकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रयाः^६ 'प्रसंस्थानवनविध्वंसवाद्ये तपःप्रभाये दुर्जन्तविनयनार्थमभिनिविशन्ते'^७ यतोशाः^८ इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरं चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारोऽन्तःपुरं^९ पद्मभङ्गीपते, 'राजधानीत्यश्वामांशु वा तपस्थतः संयत्तलोकस्य रञ्जलु नरेश्वरात्परः प्रायेणास्ति गोपायिता^{१०} । तत्कथं माम तृणमात्रेण्यनपरायमतोनां यतीनामात्मन्युशुभलोकनिवेकसर्वमुपसर्ग सहते'^{११} इत्युक्तम् । 'भगवन्, सत्यमेवैतत् । किं तु कतिचिद्दिनानि बलिरत्रराजा, नाहम्' इति प्रत्युत्तिर्युक्तस्थितिं पद्म-भृपतिमवमर्य^{१२} 'क्षलेन खलु परेषु प्रायेण फलोल्लासनशीलास्तपःप्रभवद्विलोलाः' इति चावगत्य शा^{१३} 'शालाजिरसंपुटकौटराव-काशः प्रवीपप्रकाश इव संजातयामनाकृतिः'^{१४} सप्ततन्त्रुवसुमतीमनुसृत्य मधुरध्वनिः^{१५} 'तृतोयेन सवनेन'^{१६} प्राध्ययनं व्यधात् । बलिर्बलधरध्वानबन्धुरं वाक्प्रसरं सिन्धुर^{१७} इव^{१८} 'निभूतकर्णो निर्वर्ण्य'^{१९} 'कोऽयं खलु'^{२०} 'वेदवाचि विरिञ्च'^{२१}

इस प्रकार वह समस्त मनुष्य क्षेत्र में फैल गया । एवं जैसे मकड़ी अपने जाले को अपने अधीन करती हुई उन्हें विस्तृत व संकुचित करती है वैसे ही प्रस्तुत ऋषि भी अपना शरीर विस्तृत व संकुचित करते हुए अपनी विक्रिया ऋद्धि का निश्चय कर हस्तिनागपुर में पहुँचे । 'क्रोध से उत्पन्न हुए कार्य वाले हुंकारमात्र से तीनलोक को कम्पित करनेवाले मुनोश्वर निस्सन्देह ऐसे तप के प्रभाव होने पर भी, जो कि दुर्धनरूपी वन को विध्वंस करनेवाली दावानल अग्नि-सरीखा है, किन्तु वे समस्त पृथिवीवर्ती वर्ण व आश्रम में रहने वाली प्रजा के रक्षक राजा से कहे बिना दुष्टों को दंड देने का उद्यम नहीं करते ।'

ऐसा सोचकर विष्णुकुमार मुनि अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए । पुराने परिचित कञ्चुकि ने उनका प्रवेश सूचित किया ।

बाद में विष्णु मुनि ने राजा से कहा—

'पृथिवीपति पद्म ! जब निस्सन्देह राजधानियों में भी वन-सरीखा परिणाम रखनेवाले तपस्वी मुनि-समूह का राजा को छोड़कर प्रायः कोई दूसरा रक्षक नहीं है तब तृणमात्र के प्रति अपराध करने की बुद्धि न रखनेवाले ऋषियों के शरीर पर किया हुआ उपसर्ग, जिसको उत्पत्ति दुष्ट लोक रूपी मलिन जल से हुई है, आप कैसे सहन करते हैं ?

राजा पद्म — 'भगवन् ! आपका कहना ठीक है किन्तु यहाँ कुछ दिनों के लिए यहाँ का राजा बलि है मैं राजा नहीं हूँ ।'

तब विष्णुकुमार मुनि ने इस प्रकार के प्रत्युत्तर की युक्ति में राजा पद्म को अनादृत करके यह निश्चय किया—'कि 'निस्सन्देह तपश्चर्या से उत्पन्न होनेवाली ऋद्धियों के चमत्कार प्रायः दूसरों पर किये गये छल द्वारा फलदायक होते हैं ।' बाद में उन्होंने शराव-संपुट के मध्यवर्ती अवकाश वाले दीपक के प्रकाश-सरीखा वामन रूप धारण किया और यज्ञभूमि में जाकर मधुर ध्वनि पूर्वक ऊँचे स्वर से वेदाध्ययन शुरू किया ।

बलि ने मेघ को ध्वनि-सी मञ्ज उम विस्तृत वेदवाणो को वैसे निश्चल श्रोत्रवाले होकर सुनी जैसे हाथो मेघध्वनि को निश्चल कर्ण-युक्त होकर सुनता है । इससे उमका हृदय कौतूहल-युक्त हुआ ।

'वेद के प्रवचन-विषय में ब्रह्मा-सरीखा उच्चारण करने में चतुर यह कौन है ?'

१. लूला । २. विक्रियद्धि । ३. पृथ्वी । ४. क्रोधात्पक्षकार्येण । ५. ध्यान । ६. उद्यमं कुर्वन्ति । ७. प्रवेशः । ८. सराग-स्थानेष्वपि वनेष्विव परिणामः स्यात् । ९. रक्षकः । १०. त्वं सहते । ११. अवगमय्य । १२. 'शालाजिरं शरावं' इति पञ्जिभाकारः । शरावो वर्धमानकः इत्यमरः । १३. यज्ञभूमिः । १४. १५. उदात्तस्वरेण । १६. गजवत् । १७. निश्चल । १८. श्रुत्वा । १९. प्रवचनविषये । २०. ब्रह्मा ।

होषवारणचतुरः' इति कुतूहलितहृदयः 'सत्रनिलयान्निर्गत्य वयसि अपुपि च निश्चिताश्रयत्वादयं द्विजवयमेनमवादीत्—
'भट्ट, किमिष्टं वस्तु चेतसि निधाय प्राधोवे' १ । 'बले, दायवविलुप्तालयत्वात्तव्यं पादत्रयप्रमाणकल'मवनिसलम् । द्विजोत्तम,
निकामं वसम् ।' 'यद्येवं बहुमानयजमान, विधोयतामुवकधारोत्तरप्रवृत्तिः' २ इति ।' बलिः प्रवक्ष्यामी' लूमावाय 'द्विजा-
चार्य, प्रसार्यतां हस्तः' इत्युक्तवति ३ शुक्रः ४ संक्रम्यनमिव ५ कुलिशनिकेतनम्, प्रासादमिव कलशाह्लादम्, जला-
श्रयमिव मत्स्य-आश्रयम्, सरिताश्रमिव शङ्ख-सनाथम्, विरहिणीवासरगणनकुड्य ६ प्रदेशमिथोर्ध्वरेखावकाशम्, नारायण-
मिव चक्रलक्षणम्, यज्ञोपकरणमिव यवाधिकरणम् ७ जलयानपात्रमिव ८ निश्छिद्रतामयम्, ९ स्तम्भेरमकरमिव
दीर्घाङ्गुलिप्रसरम्, वंशकि १० शल्यमिवानुपूर्वोपवृत्तपर्वसंचयम्, कमलकोशमिवारणप्रकाशनिवेशम्, विह्वलभङ्गा ११ भोग-

बाद में वह यज्ञ-मण्डप से बाहर आया और इस श्रेष्ठ ब्राह्मण से, जिसको आश्चर्य-जनक मनोज्ञता
इसकी उम्र व शरीर के वामनाकार से निश्चित की गई थी, बोला—

'हे विद्वन् ! किस इष्ट वस्तु की इच्छा चित्त में स्थापित करके यह वेद पाठ करते हो ?'

हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ बलि ! मेरा गृह कुटुम्बों जनों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाने से आने कुटी बनाने के
लिए केवल तीन पैर के प्रमाण से मनोज्ञ पृथिवी के लिए वेदपाठ करता हूँ ।

बलि—'द्विजोत्तम ! मैंने तुम्हें इच्छानुसार तीन पैर जमीन दे दी ।'

द्विजोत्तम—'तो गान्धीय यजमान ! जल-धारा से मनोज्ञ प्रवृत्ति वाला दान कीजिए ।

एक बड़ी आरी [हाथ में] लेकर बलि—'द्विजाचार्य ! हाथ फैलाइए ।'

ऐसा बलि के कहने पर शुक्राचार्य ने उसका ऐसा हाथ देखकर, बलि से कहा—जो वैसा कुलिश-
निकेतन (वज्र के चिह्न वाला) है, जैसे इन्द्र कुलिश-निकेतन (वज्र का धारक) होता है । जो उस भाँति
कलश-आह्लाद—कलश के चिह्न से आनन्द प्रद है, जिस भाँति महल कलश-आह्लाद—कलशों से आनन्द दायक
होता है । जो वैसा मत्स्य-आश्रय (मछली के चिह्न से अलङ्कृत) है जैसे तालाव मत्स्य-आश्रय (मछलियों
का आवास-स्थान) होता है । जो वैसा शङ्ख-सनाथ (शङ्ख के चिह्न सहित) है जैसे समुद्र शङ्ख-सनाथ
शङ्खों से व्याप्त) होता है । जो वैसा ऊर्ध्व रेखा-युक्त है जैसे विरहिणी स्त्री के द्वारा पति के वियोग
के दिनों की गिनती करने के लिए भित्ति देश खींची गई रेखाओं का स्थान होता है । जो वैसा चक्रलक्षण
(चक्र-चिह्न से सुशोभित) है जैसे विष्णु चक्रलक्षण (सुदर्शन चक्रधारो) होता है । जो वैसा
यवाधिकरण (अँगूठों में जी के चिह्न का, जो कि कीर्तिका चिह्न है, आधार) है जैसे यज्ञ के उपकरण यव-
अधिकरण (जी अन्न के आधार) होते हैं । जो वैसा निश्छिद्रता-अमय (संलग्न कर की अङ्गुलियों वाला),
है जैसे जहाज निश्छिद्रता-अमय (छिद्रों से रहित का स्थान) होता है । जो वैसा दीर्घ-अङ्गुलि-प्रसर
(लम्बी व विस्तृत अङ्गुलियों वाला) है जैसे हाथी की सूँड़ दीर्घ-अङ्गुलि प्रसर (लम्बी नोक से विस्तृत)
होती है । जो वैसा आनुपूर्वी प्रवृत्त-पर्व-संचय है, अर्थात् क्रमपूर्वक प्रवृत्त होने वाले पर्व- (गाँठे) समूह से
सुशोभित है जिस प्रकार बाँस के नये पत्ते आनुपूर्वी प्रवृत्त पर्व संचयशाली—पर्व और गाँठेवाले-होते हैं । जो
वैसा अरण-प्रकाश-निवेश (संध्याकालीन आकाश की लालिमा वाला) है जैसे कमल का कोश अरण-प्रकाश-
निवेश (सूर्य के प्रकाश का स्थान) होता है । जिसके नाखूनों का अग्रभाग वैसा स्निग्ध-पाटल (चमकीला

१. 'दानशालायाः' इति टि० ख० । 'सत्रं यज्ञमण्डपः' इति पञ्चिकाकारः । 'यज्ञमण्डपान्' इति टि० ख० । २. प्राश्रयनं
कुतये । ३. मनोज्ञ । ४. मनोज्ञप्रवृत्तिः । ५. भृंगारं शारी । ६. सति बली, अये वक्ष्यमाणं ब्रूते । ७. मन्त्री ।
८. इन्द्र । ९. भित्तिदेशः । १०. अंगूठे एवं यवाधिकरणम् । ११. पाद । १२. संलग्नकराङ्गुलिम् । १३. अङ्कुरः ।
१४. रचनाविस्तारः ।

मिथ स्निग्धपाटलमखरापं लक्ष्मीलताविर्भावोद्यमं शयमुपलक्ष्य बले, न खल्वयमेवविधवाणितलसंबंधो गीष्मः परेषां याचिता किन्तु याच्यः इति वचनवर्कं शुक्रमवगणय्य बलिः स्वकीयां दत्तिभुवकधारोत्तरामकार्षीत् ।

तदनु स विष्णुमुनिर्विरोधनविरोकनिकरः इवाकमेणोर्ध्वमधश्चान् वषिषृद्धिपरः पर्वतस्योभयतः प्रवृत्ता-
पगाप्रवाह इव तिरःप्रसरहेहः, कायधरमेकमक्षुण्णवज्रप्रेविकायां निष्ठायापरं च क्रमं चक्रवालचूलिकायां पुनस्तृ-
तीयस्य मेदिनीमलममानस्तपनं रथस्थलनसेतुना १३ भुरसरित्तुरी १४ पलोतोहेतुना संवाविताविधजसुन्दरोद्यः १५ रणमार्ग-
विघ्नमेण १६ समाधरितस्त्रेचरीचेतःसंभ्रमेण भूगोलगीरवपरिच्छेदे तुलावण्डविडम्बनेन चरणन क्षोभितान्तरिक्षवरपुरस्कसः
किन्नराभरक्षचरचारणाविद्वद्देवंन्धमानपाधारविन्दः संयतजनोपकारसारः स्वकीयाद्विषृद्धिपरितोषितमनीयंन्तरानिमिषर-
कारणक्षजलालतस्थलि १७ बलिं सवान्धमवन्धयत् । प्रायशयच्च सदेहं रसातलगेहम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

महापद्मसुतो विष्णुर्मनीनां हास्तिने पुरे । बलिद्विजकृतं धिघ्नं शमयामास वरक्षतः ॥२२५॥

भीर लाली लिए हुए है जैसे सूर्य की रचना का विस्तार सचिक्कण व लालिमा-युक्त होता है एवं जिसमें लक्ष्मी (शोभा) रूपो लता की अभिव्यक्ति का उद्गम है । 'बलि ! निस्सन्देह ऐसा हस्ततल शाली मानव दूसरों से याचना करनेवाला नहीं हो सकता, किन्तु दूसरों के द्वारा याचना-योग्य होता है ।'

इस प्रकार वक्रोक्ति पूर्वक बोलने वाले शुक्र मन्त्री की तिरस्कृत करके बलि ने अपना दान, जलधारा से मनोज्ञ किया ।

इसके बाद विष्णु मुनि सूर्य की किरण-समूह सरीखे अपना शरीर एकदम से वेमर्याद ऊपर नीचे वृद्धिगत करने में तत्पर हुए और वे वैसा अपना शरीर तिरछे रूप से फैलाने वाले हुए, जैसे पर्वत के दोनों पार्श्व भागों पर प्रवाहित होने वाली नदी का प्रवाह तिरछे रूप से फैलता है । उन्होंने एक पैर फैलाकर समुद्र की वज्रमयी वेदिका पर स्थापित किया और दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत की चोटी पर स्थापित किया और तीसरे पैर को रखने के लिए जगह न मिलने से उसने उससे विद्याधरों के नगरों के गृह क्षुब्ध किये । जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—सूर्य के रथ को रोकने के लिए पुल ही है । जो गंगा नदी की चौथी धारा के उत्पन्न करने में कारण है । जो देव-सुन्दरियों के नगर-समूह की भ्रान्ति को उत्पन्न करनेवाला है और जो विद्याधरियों के चित्त में भय उत्पन्न करनेवाला है एवं जो भूमण्डल की गृहता—भारीपन-का निश्चय करने के लिए तराजू-सरीखा है । इससे किन्नरदेव, विद्याधर व चारण-आदि के समूह ने आकर उनके चरणकमलों की वन्दना की । वह संयमी जनों का उपकार करने से उत्तम था उसने अपनी विक्रिया ऋद्धि की वृद्धि से सन्तुष्ट बुद्धिवाले व्यन्तरदेवों ने स्वाभाविक दुष्टतारूपो लता के आश्रय के लिए भूमि-सरीखे बलि को उसके वन्धुजनों सहित बांध लिया और उसे शरीर-सहित रसातल में पहुँचा दिया ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—संयमी जनों से वात्सल्य (प्रेम) करनेवाले व महा-पद्म राजा के पुत्र विष्णुकुमार मुनि ने हस्तिनागपुर नामक नगर में बलि ब्राह्मण द्वारा मुनियों पर किया हुआ उपसर्ग निवारण किया ॥ २२५ ॥

१. हस्तं । २. पुरुषः । ३. अन्यैर्याचनीयः । ४. सूर्यकिरण । ५. अमर्याद । ६. तिरछु । ७. चरणं । ८. मानुषोत्तरगिरौ । ९. सूर्य । १०. गंगा किल त्रिपद्गा । ११. चतुर्ब । १२. नगरसमूह । १३. भ्रान्तिना । १४. भूमि ।

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यप्रवचनो नाम विशतितमः कल्पः ।

‘निसर्गोऽधिगमो’^१ वापि तदाप्तो^२ कारणद्वयम् । सम्यक्त्वभाष्यपुमाग्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥२२६॥

उक्तं च—आसन्नभव्यताकर्महानिसंतिवशुद्धपरिणामाः^३ । सम्यक्त्वहेतुरस्तर्वाह्योऽप्युपदेशकाविद्वज् ॥२२७॥

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य ‘तन्निदानद्रव्यक्षेत्रकालभावभ्रमसंपत्सेव्यस्य विधूनेत’^४ प्रतिबन्ध-
काग्धकारभङ्गस्वस्याकि^५ एतद्विशिष्टाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य^६ तवस्य भाजनस्येवासंजातदुर्वासनागन्धस्य^७ इदिति
यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिवर्णनसगन्धस्य^८ पूर्वभवसंभालनेन वा वेबनानुभवनेन वा^९ धर्म-
अवकाकणनेन^{१०} वाहृतप्रतिनिधिनिध्यानेन^{११} वा महामहोत्सवनिहालनेन^{१२} वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन^{१३} वा नृपु-
माकिपु^{१४} वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावेन^{१५} वाग्येन वा केनचित्कारणभावेन विचारकान्तारेषु मनोविहारारूपं
खेदमनापद्य यदा जीवाविषु पवार्येषु^{१६} व्याप्यात्म्यसमवधानं ध्यानं भवति तदा प्रयोक्तुः^{१७} सुकरक्रियत्वात्कल्पने शालयः

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वात्सल्य अङ्ग का प्रवचन करनेवाला बीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

अब सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दो कारणों से होती है । १. निसर्ग (परोपदेश के बिना स्वभाव) से होता है और दूसरा अधिगम (परोपदेश) से होता है । क्योंकि किसी पुरुष को अल्प प्रयत्न करने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और किसी को प्रचुर प्रयत्न करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ॥ २२६ ॥

कहा भी है—सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण निकट भव्यता, दर्शनमोहनीय का उपशम, अथ व क्षयो-
पसम, संजीवन और शुद्ध परिणाम हैं तथा बाह्य कारण उपदेश और जाति स्मरण व जिनविम्ब-दर्शन-आदि
हैं ॥ २२७ ॥

अभिप्राय यह है—ऐसे किसी निकट भव्यजीव को, जो कि सम्यक्त्व के कारण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की उत्पत्तिरूपी लक्ष्मी से सेवनीय है, जिसने सम्यक्त्व की उत्पत्ति में रुकावट डालनेवाले कर्म-
रूपी (दर्शन मोहनीय) अन्धकार का संबंध नष्ट कर दिया है । जिसने ऐसा संजी पंचेन्द्रियपन प्राप्त किया है, जो शिक्षा, क्रिया व वार्तालाप करने में निपुण है । जिसमें नये वर्तन की तरह दुर्वासना का संबंध उत्पन्न नहीं हुआ है और जो शीघ्र यथार्थ वस्तु-स्वरूप के संक्रमण में कारण होने से स्फटिक मणि के दर्पण-सरीखा है, पूर्व-
भव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्म शास्त्र के मुनने से, जिनविम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवों के देखने से और महाश्रद्धिधारी आचार्यों के दर्शन से एवं मनुष्यों में और देवों में सम्यक्त्व के माहात्म्य से उत्पन्न हुए ऐश्वर्य के दर्शन से अथवा अन्य किसी कारण से विचाररूपी बगीचों में मन की क्रीड़ा का स्थान खेद प्राप्त न करके जब जीवादि मोक्षोपयोगी तत्वों में यथोक्त परिज्ञान वाला श्रद्धान् उत्पन्न होता है तो उस सम्यक्त्व को ‘निसर्गज’ सम्यग्दर्शन कहते हैं । तब सम्यग्दर्शन का व्यवहार करनेवाले निकट भव्यात्मा द्वारा सुलभता पूर्वक प्राप्त होजाने से यह निसर्गज सम्यग्दर्शन वैसा कहा जाता है, जैसे धान्य काटने वाले कृषक द्वारा सुल-

१. स्वभावः । २. आधेयः । ३. सम्यक्त्वप्राप्ती । ४. आभ्यन्तरकारणः । ५. सम्यक्त्व । ६. कारण । ७. उत्पत्ति ।

८. सम्यक्त्व । ९. गृहीत । १०. पंचेन्द्रियमनःसंबन्धस्य । ११. संबंधस्य । १२. समानस्य । १३. अवगणं पुरतः,

धर्मशास्त्राकर्णनेन, मूलाचारश्चावकाचारश्रवणेनेत्यर्थः । १४. प्रतिमावलोकनेन । १५. दर्शनेन । १६. दर्शनेन ।

अत्र पञ्जिकाकारः प्राह—निध्यानं निहालनं, वाहनं दर्शनं च । इल विशोधने बहु परिकल्पने अन्ययोः रूपमिति ।

१६. देवेषु । १७. अवलोकनेन । १८. यथोक्तपरिज्ञानं । १९. उपदेशकस्य ।

स्वयमेव, विनीयन्ते^१ कुशलाशयाः स्वयमेव, इत्यादिबलान्निसर्गात् संजातमित्युच्यते । यदा^२ 'स्वयमुत्पत्तिसंशोतिविपर्यस्ति-
समधिकबोधस्याधि^३ 'सुक्ति'युक्ति'सूक्तिसंबन्धसविषय' प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाहोषु समस्तेष्वंतिहोषु^४
'परीक्षोपक्षेपादतिक्लिश्य^५ निःक्षेपबुराशानिष्ठादिमाशनाशुभ'^६ 'नमरोचिश्चिरेण तत्त्वेषु रविः संजायते, तदा^७ 'विप्रा-
सुरायासहेतुत्वात्तया निर्मापितोऽयं भूत्रानुसारो^८ 'हारो ममेवं संपादितं रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमा-
दाविर्भूतमित्युच्यते । उक्तं च—

अबुद्धिपूर्वमेक्षायां निष्ठा निष्ठं स्वदेवतः । बुद्धिपूर्वमेक्षायां निष्ठानिष्ठं स्वपौरुषात् ॥२२८॥

द्विविधं त्रिविधं वशविद्यमाहुः सम्यक्त्वभात्महितमतयः । तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥२२९॥

^{१३} सरागधीत^{१४} रागात्मविषयत्वाद्बुद्धिश्च स्मृतम् । प्रशमाविगुणं पूर्वं परं चात्मविशुद्धिभाक्^{१५} ॥२३०॥

भता पूर्वक काटी जा रहों धान्यों के प्रति यह कहा जाता है, कि ये धान्य स्वयं ही काटी जा रही हैं और जैसे कुशल बुद्धिशाली शिष्य स्वयं शिक्षा प्राप्त करते हैं ।

जब निकट भव्य को, जिसकी बुद्धि अनध्यवसाय, संशय व विपर्यय रूप मिथ्याज्ञान से आच्छादित है परन्तु जो श्रद्धा, नय, प्रमाण व सिद्धान्त शास्त्र के वेत्ता गुरु के निकटवर्ती है, जो ऐसे समस्त सिद्धान्त शास्त्रों की परीक्षा के आग्रह से, जो कि प्रमाण, नय, निक्षेप व चारों अनुयोगों के उपयोग द्वारा अवगाहन करने योग्य हैं, कष्ट उठाकर समझाया जाता है, उसे जो चिरकाल के पश्चान् रामस्त दुराशास्त्री रात्रि को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरण-सरीखी तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, उसे 'अधिगमज' सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्योंकि उसमें तत्त्वो-पदेशक का कष्ट कारण है । उसे वैसा अधिगमज कहते हैं, जैसे हार बनाने वाला कहता है, कि यह तन्तुओं में गूँथा हुआ हार मैंने बनाया है । अथवा मैंने यह रत्न-खचित आभूषण बनाया है ।

श्री समन्तभद्राचार्य ने देवागम स्तोत्र में कहा है कि जब मानव को बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किये बिना ही (बिना पुरुषार्थ किए) अस्तिकृतोपस्थित न्याय से (अचानक) सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें उसके भाग्याधीन समझने चाहिए । अर्थात्—उनमें उसका पूर्वजन्म में किया हुआ पुण्य-पाप कर्म ही कारण है और जब उसे ऐसे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, जिनमें पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है उनमें उसका पुरुषार्थ कारण है । प्राकरणिक अभि-प्राय यह है जब सुमुख मानव में, ऐसा सम्यक्त्व प्रकट होता है, जिसमें परोपदेश की अपेक्षा नहीं होती उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं । और जिसमें परोपदेश (देशनालब्धि) की अपेक्षा होती है, उसे अधिगमज कहते हैं ॥ २२८ ॥

सम्यग्दर्शन के भेद और उसके कार्य—आत्म-कल्याण में बुद्धि रखनेवाले आचार्यों ने सम्यक्त्व के दो, तीन और दश भेद कहे हैं । इन सभी भेदों में तत्त्वों की श्रद्धा करना समान रूप से पाई जाती है ॥ २२९ ॥

सराग जीव में (चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में) पाये जाने वाले तत्त्व-श्रद्धान को सराग सम्यक्त्व कहते हैं और वीतराग आत्मा में (बारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान वर्ती अयोगीजिन में) पाये जाने वाले तत्त्वश्रद्धान को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं । इस प्रकार सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ये दो भेद समझने चाहिए । उनमें पहला सराग सम्यक्त्व प्रशम, संवेग व अनुकम्पा-आदि चार

१. शिक्षन्ते । २. उपदेशकस्य । ३. श्रद्धा । ४. नयप्रमाण । ५. सिद्धान्त । ६. समीपस्य उपदेष्टुः । ७. सिद्धान्तेषु ।

८. 'आग्रहात्' टि० (ख०), 'प्रश्नस्यावलोकनात्' टि० (च०) । ९. क्लेशं कृत्वा संबोध्यते । १०. रविः ।

११. उपदेशकस्य । १२. सूत्रमनुसरति यो हारः, सूत्रमर्थात् प्रत्यवगादिक्लेश-सहितः । १३. एकादशगुणस्थानपर्यन्तं

सरागं । १४. द्वादशादि वीतरागं । १५. अपकर्षेण वीतरागं ।

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाज्ज्ञासंभोगेनापस्योत्पादनेन च विपदि र्भयविलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते, तथात्मस्वभावतयातिसूक्ष्मपदनमपि सम्यक्स्वरतनं प्रशस्तसंवेगानुकम्पास्तिथ्यरेक-
 'वाक्यैः राकलपितुं' शक्यम् । तत्र—

यद्वागाविषु क्षोभेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्^१ । तं प्राहुः प्रशस्तं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥ २३१ ॥

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवा^२ ज्ञेयात्^३ । स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भूतिः संवेगमुच्यते ॥ २३२ ॥

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयाद्वैतं^४ दयालवः । धर्मस्य परमं भूलसनुकम्पां प्रचक्षते ॥ २३३ ॥

आप्ते भ्रुते घृते तत्त्वे चित्तमस्ति त्वसंयुतम् । आस्तिक्यमास्तिक्यरुक्तं^५ भुक्तिभुक्तिधरे नरे ॥ २३४ ॥

रागरोषधरे नित्यं निर्वृते निर्दयात्मनि । संसारो दीर्घसारः^६ स्यान्नरे नास्तिकनीतिके^७ ॥ २३५ ॥

कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा । अद्वानं त्रिविधं बोध्यं^८ गतो सर्वत्र^९ अगुषु ॥ २३६ ॥

गुणों से युक्त होता है और केवल आत्मविशुद्धि-युक्त क्षणक्षणों में वर्तमान सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं [उक्त अभिप्राय टिप्पणीकार का है] ॥२३०॥

जैसे पुरुष की पुरुषत्व शक्ति यद्यपि अतोन्द्रिय (चक्षु-आदि इन्द्रियों द्वारा जानने के लिए अशक्य) है तथापि स्वीजनों के साथ रतिविलास करने से, सन्तान के उत्पादन से और विपत्ति में धैर्य के धारण करने से अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्य को समाप्त करना-आदि कार्यों से अनुमान प्रमाण द्वारा उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है वैसे ही सम्यक्स्वरूपी रत्न भी यद्यपि आत्म-स्वभाव होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि अव्यभिचारी (निर्दोष) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप चिन्हों से उसका निश्चय किया जाता है ।

विद्वानों ने राग-आदि दोषों से मनोवृत्ति के निवारण (हटाने) को प्रशम गुण कहा है, जो कि समस्त व्रतों का आभूषण है । क्योंकि इसके बिना व्रत निरर्थक हैं ॥२३१॥ शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःखों को उत्पन्न करने वाले और स्वप्न व इन्द्रजाल-सरीखे संसार से भयभीत होने को 'संवेग' गुण कहा है ॥२३२॥ समस्त प्राणियों में मनोवृत्ति को दयालुता से सरस रखने को दयालु विद्वान् अनुकम्पा कहते हैं, जो कि धर्म-रूपी वृक्ष की उत्कृष्ट जड़ है ॥२३३॥ आस्तिक आचार्यों ने आप्त (वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर), द्वादशाङ्ग शास्त्र, व्रत (अहिंसा-आदि) और जीवादितत्त्व इन पदार्थों के विषय में 'ये मौजूद हैं' इस प्रकार की इनकी मौजूदगी स्वीकार करने वाली चित्तवृत्ति को 'आस्तिक्य' कहा है । यह प्रशस्त गुण भुक्ति श्री के साथ संयोग रखने वाले (भुक्तिगामी) मानव में ही पाया जाता है ॥२३४॥ जो [मिथ्यादृष्टि] मानव सदा रागी व द्वेषी है, न कभी व्रत-धारण करता है और जिसकी आत्मा निर्दयी है एवं जो नास्तिक मत को मानता है, उसका संसार दीर्घ भ्रमण वाला हो जाता है । ॥२३५॥ अभिप्राय यह है कि ऊपर कहे हुए प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये प्रशस्त गुण यथार्थरूप से सम्यग्दृष्टि में ही पाये जाते हैं, मिथ्यादृष्टियों में ये नकली होते हैं । राग, द्वेष, काम व क्रोधादि विकृत भावों का उदय न होने देना प्रशम गुण है । यह संसार बुलार व गलगण्ढादि शारीरिक दुःखों एवं काम क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःखों एवं अति-वृष्टि, अनावृष्टि-आदि आगन्तुक कष्टों से व्याप्त है, इससे सदा डरते रहने को संवेग कहते हैं । इसी प्रकार दयालुता और आस्तिकता ये गुण अनन्तानुबन्धि कषाय चतुष्टय व मिथ्यात्त्व के अभाव हो जाने पर सम्यग्दृष्टि में ही पाये जाते हैं । इन गुणों से साराग सम्यक्त्व का

१. अव्यभिचारीः । २. परिज्ञातुं । ३. 'निवारणं' टि० (ख०) । 'निरसनं' पञ्जिकाकारः । ४. उत्पादकात् । ५. संसाराद्भीतिः । ६. सम्यक्ता । ७. मोक्षसंयोगधरे, भुक्तिगामिनि । ८. भ्रमणः । ९. शास्त्रे । १०. ११. चतुस्रूप गतिषु सर्वासु ।

वशविधौ तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् । विस्तारार्थस्य भवमवपरमावादिगाढं^१ च ॥ २३७ ॥

अस्यायमर्थः—भगवद्ब्रह्मसर्वज्ञप्रणीतायमानुज्ञासंज्ञा^२ आज्ञा, एतन्नयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषचरित-
श्रवणाभिनिवेश^३ उपदेशः, यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं^४ सूत्रम्, सकलसमयबल^५सूचनाख्याजं बीजम्, वास्तव्यतन्त्रत-
पदार्थसमासात्पाक्षेपः संक्षेपः, द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तोर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवसनविषये^६ स्व-
प्रत्ययसमर्थोऽर्थः, त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशाच्च^७गाह्यालीढमवगाढम्, अवधिमनःपर्ययकेवलाधिकपुरुष-
प्रत्ययप्रसङ्ग^८ परमावगाढम् ।

निश्चय होता है । परन्तु बीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धि रूप ही है, जो कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है ।

[अब सम्यग्दर्शन के तीन भेदों का कथन करते हैं—]

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है । औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक । जो सम्यग्दर्शन, अनन्ता-
नुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के
उपशम होने से होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और जो इन सात प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न
होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो इनके क्षयोपशम से होता है उसे क्षयोपशमिक कहते हैं । ये तीनों
सम्यग्दर्शन चारों नरकादि गतियों में पाये जाते हैं ॥ २३६ ॥

[अब सम्यग्दर्शन के दश भेदों का निरूपण करते हैं—]

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व ये सम्यग्दर्शन
के दश भेद हैं ॥ २३७ ॥

इसका स्वरूप यह है—जिस तत्त्वश्रद्धा में भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा रचे हुए आगम की आज्ञा को
स्वीकार करने से उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान पाया जाता है, उसे 'आज्ञासम्यक्त्व' कहते हैं । सम्यग्दर्शनज्ञानचारि-
आत्मक एतन्नयरूप मोक्षमार्ग के विचार से प्रकट होने वाले तत्त्वश्रद्धान को 'मार्ग सम्यक्त्व' कहते हैं । त्रिरेसठ
शलाका में विभक्त तीर्थङ्करादि पुराणपुरुषों के चरित को श्रवण करने से उत्पन्न होने वाले श्रद्धाविशेष को उपदेश
सम्यक्त्व कहते हैं । साधुजनों के महाव्रत-आदि आचार को निरूपण करने के भाजनप्राय आचाराङ्ग सूत्र के
श्रवण से उत्पन्न हुए तत्त्वश्रद्धान को सूत्रसम्यक्त्व कहा है । समस्त शास्त्रों के समूह की सूचना का लक्ष्य बीज
पद है और उसके आधार से प्रकट होने वाली तत्त्ववृत्ति को 'बीज सम्यक्त्व' कहते हैं । आप्त, श्रुत, व्रत व
पदार्थों के स्वल्प वर्णन से उत्पन्न होने वाली तत्त्वश्रद्धा को संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं । बारह अङ्ग, चौदह पूर्व
और सामायिक-आदि प्रकीर्णक आगमों के अर्थ का समर्थन सुनकर प्रकट होने वाली विस्तृत तत्त्ववृत्ति को
विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं ।

आगमके विषयों को श्रवण करके उत्पन्न हुए आत्मश्रद्धान में समर्थ तत्त्वश्रद्धान को अर्थसम्यक्त्व कहते

१. अवगाढं परमावगाढं । २. आदेशस्तथेति । ३. अभिप्रायः । ४. भाजनप्रायं । ५. समूह । ६. स्वरूप । ७. आत्मनि
आत्मनो वा विश्वासः । ८. द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदेन । ९. 'पूर्णं त्रिविधागममवगाहोत्पद्यते यत् सम्यक्त्वं
तदवगाढं' इति टि० (ख०) । 'त्रिविधागममध्येऽन्यतमावगाहोत्पद्यते एवं न, किन्तु परिपूर्णं त्रिविधागममवगाहो-
त्पद्यते यत्सम्यक्त्वं तदवगाढं' इति टि० (घ०) । १०. विद्वासेनोत्पन्नं ।

गृहस्थो वा यति र्वापि सम्यक्त्वस्य समाभयः । ^१एकादशविधः पूर्वद्वयसमश्च चतुर्विधः^२ ॥२३८॥

मायानिदानमिथ्यात्वशतत्रितयमुद्धरेत् । ^३आर्जवाकाङ्क्षाभाषतत्त्वभावनकीलकः^४ ॥२३९॥

^५दृष्टिहीनः पुमानेति न यथा पवनोप्सितम् । नृशङ्कितः पुमानेति न यथा यत्नोपेक्षितम् ॥२४०॥

सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं समाग्राज्यवत्प्राज्यभूतये । ^६ततस्तदङ्गसंगत्यामङ्गी निःसङ्गमोहताम् ॥२४१॥

हैं। अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक इन तीनों आगमों के पूरी तरह से अवगाहन करने पर उत्पन्न होने वाली गाढ़-श्रद्धा को अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। टिप्पणीकार ने भी यही लिखा है और अवधिज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी व केवलज्ञानी पुज्य महापुरुषों के विश्वास से उत्पन्न होने वाले प्रगाढ़ तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं।

भाषार्थ—इन सभी सम्यग्दर्शनों में अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है, क्योंकि इसके बिना सम्यक्त्व होना अशक्य है। इनमें दर्शनमोह के उपशम से होनेवाले सम्यक्त्व को औपशमिक व क्षय से प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शन को क्षायिक और दर्शनमोह के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक कहते हैं। परन्तु उक्त भेद बाह्य निमित्तों को आधार बनाकर किये गए हैं।

गृहस्थ धावक हो अथवा मुनि, परन्तु उसका सम्यग्दृष्टि होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना न कोई धावक कहा जा सका है और न मुनि। गृहस्थ के ग्यारह भेद हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं और मुनि के ऋषि, यति, मुनि व अनगार ये चार भेद हैं ॥ २३८ ॥ व्रती को सरलतारूपी कीले के द्वारा माथारूपी काँटा निकालना चाहिए। भोग-तृष्णा के त्यागरूपी कीले के द्वारा निदानरूपी काँटे का उन्मूलन करना चाहिए और तत्त्वों की भावना (सम्यक्त्व) रूपी कीले के द्वारा मिथ्यात्वरूपी काँटे को निकालना चाहिए।

भावार्थ—सूत्रकार उमास्वामी ने भी (निःशल्यो व्रती) इस सूत्र द्वारा बतलाया है, कि माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य (काँटे) हैं, इनका उन्मूलन करके अहिंसादि व्रतों का धारक व्रती कहा जा सकता है। इससे यह बात जान लेनी चाहिए, कि 'केवल अहिंसादि व्रतों को धारण करनेवाला व्रती नहीं हो सकता। अन्यथा द्रव्यलिङ्गी मुनि को भी, जो कि मिथ्यात्व-आदि तीन शल्यों के होने से पहले गुणस्थान वाला मिथ्यादृष्टि है, व्रती कहा जायगा। इसलिए निःशल्य होकर व्रतों के पालन से व्रती कहा जायगा। इसी प्रकार केवल निःशल्य भी व्रत धारण न करने पर व्रती नहीं कहा जा सकता, अन्यथा चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि भी निःशल्य होने के कारण व्रती माना जायगा।' उक्त बात हमने श्रीमत्पूज्य विद्यानन्दि आचार्य के 'तत्त्वार्थदलोकवार्तिक' के आधार से लिखी है ॥ २३९ ॥*

जैसे दृष्टि—नेत्रों-से हीन (अन्धा पुरुष) अपने इच्छित स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता वैसे ही दृष्टि (सम्यक्त्व) से हीन (मिथ्यादृष्टि) मानव भी अपना अभिलषित स्थान (मुक्ति) का लाभ नहीं कर सकता ॥ २४० ॥ पहले कहे हुए निःशङ्कित-आदि आठ सम्यक्त्व के अङ्गों के बिना सम्यग्दर्शन वैसा विशिष्ट विभूति (स्वर्ग व मुक्ति श्री) देने वाला नहीं होता जैसे मन्त्री व सेनापति आदि राज्य के अङ्गों के

१. मूलव्रतं व्रतान्यर्चा—इत्यादिभेदेन । २. ऋषि-यति-मुन्यनगारभेदेन । ३. यथासंख्येन । ४. शङ्कुभिः कृत्वा । ५. नेत्र ।

६. अष्टाङ्गपूर्णतार्या सत्यां प्राणीनिःसङ्गं चारित्र्यं वाञ्छतु ।

*. देखिए 'तत्त्वार्थदलोकवार्तिक' अ० ७, सूत्र १८ की अन्तिम २ लकीरें ।

विद्याविभूतिरुपाधाः सम्यक्त्वरहिते भुतः । न हि बीजव्यपायेऽस्ति ^१सम्पत्तिरङ्गिनि ॥२४२॥
 चक्रिणीः संभयोत्कण्ठा साक्षिणीर्दानोत्सुका । तस्य दूरे न मुक्तिर्भूतिर्बोधं यस्य वशतम् ॥२४३॥
 'मूढत्रयं महादवाष्टौ तथानामृतमग्निः' षट् । अतो अङ्गुष्ठादप्येति दृग्बोधः पञ्चविंशतिः ॥२४४॥
 निश्चयोचितचारित्रः ^४सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः । अत्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न त्रतस्थोऽप्यदर्शनः ^५ ॥२४५॥
 बहिः क्रिया ^६बहिःकर्म ^७कारणं केवलं भवेत् । रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥२४६॥
 'विशुद्धवस्तुषोडश्विबोधः' साकारगोचरः । ^{१०}अप्रसङ्गस्तथोर्वसं ^{११}भूतार्थनयवाचिनाम् ॥२४७॥

बिना राज्य विशेष समृद्धिशाली नहीं हो सकता । इसलिए जब सम्यक्त्व के आठों अङ्गों की परिपूर्णता हो जाय तब मुमुक्षु श्रावक निःसङ्ग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो जाने का इच्छुक होवे ॥ २४१ ॥

जिस प्रकार किसान को धान्य के बीजों के बिना धान्य-सम्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष को भी सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान, राज्य-विभूति और लावण्य-सम्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥२४२॥ जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्ती की विभूति उसका आलिङ्गन करने के लिए उत्कण्ठित रहती है और देवों की विभूति उसके दर्शन करने के लिए लालायित रहती है, अधिक क्या मुक्ति लक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥ २४३ ॥

[अब सम्यग्दर्शन के दोषों का निरूपण करते हैं—]

तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शङ्का-वर्गेरह, ये सम्यग्दर्शन के पञ्चीस दोष हैं ।

भावार्थ—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ हैं । जाति, पूजा, कुल, ज्ञान, रूप, सम्पत्ति, तप व बल का मद करना ये आठ मद हैं । कुदेव और उसका मन्दिर, कुशास्त्र व कुशास्त्र के धारक, कुतप व कुतप के धारक ये छह अनायतन हैं । सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों के उल्टे शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा-आदि आठ दोष हैं । ये सम्यग्दर्शन के पञ्चीस दोष हैं । जिसने इन दोषों का त्याग किया है, उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है ॥ २४४ ॥

मोक्षमार्गी कौन है ?

तत्त्वों का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि मानव, जो कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए योग्य चारित्र का धारक है, अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र का धारक है, व्रत-धारण न करता हुआ भी मुक्ति के मार्ग में स्थित है, किन्तु व्रतों का पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शन से रहित (मिथ्यादृष्टि) है, वह मुक्ति के मार्ग में स्थित नहीं है ॥२४५॥ बाह्यक्रिया (बाह्य ज्ञान व चारित्रादि) और बाह्यकर्म (देवपूजा-आदि में शारीरिक कष्ट-सहन-आदि) तो रत्नत्रय की उन्नति में केवल निमित्त मात्र हैं, किन्तु रत्नत्रय की समृद्धि का प्रधान कारण (उपादान कारण) तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमय आत्मा ही है ॥ २४६ ॥

निश्चयनय के वेत्ता आचार्यों के मत में, अर्थात्—निश्चय नय की दृष्टि से विशुद्ध आत्मस्वरूप में रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है । एवं विशुद्ध आत्मस्वरूप को विकल्प रूप से यथार्थ जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के विषय में भेद बुद्धि न करके एक रूप होना, अर्थात्—आत्मस्वरूप में लवलीन होना

१. धान्यसम्पत्तिः । २. मूढत्रयस्य मदानां च विकल्पं कविः स्वयमेवोत्तरं वक्ष्यति । ३. अनायतनानि षट्, कुदेवतदा-लयतदागम-इत्यर्थः । ४. अत्रतोऽपि योग्यचारित्रः । ५. मुक्तिस्थो न स्यात् । ६. बाह्यज्ञानचारित्रादि । ७. शरीरग्रहणलक्षणं । ८. आत्मस्वरूपे रुचिमिश्चयसम्यक्त्वं । ९. आत्मपरिज्ञानं । १०. तयोर्द्वयोर्बोधयोविषये अप्रसङ्गः अभेदः एकलोलीभावः निश्चयचारित्रं । ११. निश्चयनयज्ञानिनाम् ।

‘अभावज्ञानं’^१ ‘रुचिमोहाद्देहाद्वृत्तं’^२ च नास्ति यत् । आत्मन्यस्मिन्निवासीभूते तस्मादात्मैव तत्त्वयम्^३ ॥२४८॥
 नात्मा कर्म न कर्मात्मा^४ ‘तयोर्धन्यमहमस्तरम्’^५ । तवात्मैव तदा ‘सत्ता’^६ आत्मा श्योमेव केवलम् ॥२४९॥
 क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि । मोघमम्बु स्थितः किन्तु तवोष्णं^७ वह्निसंश्रयम् ॥२५०॥
 आत्मा कर्ता स्वपर्यायं^८ कर्म कर्तुं स्वपर्याये^९ : मिथो^{१०} । न जातु कर्तृत्वमपरस्परव्यवहारतः^{११} ॥२५१॥
 स्वतः सर्वे स्वभावेषु सक्रियं^{१२} सचराचरम्^{१३} । निमित्तमात्रमन्यत्र चागतेरिव सारिणी^{१४} ॥२५२॥
 जीवन्तु^{१५} वा च्यवन्तां वा प्राणिनोऽप्येव स्वकर्मतः । एवं विशुद्धं^{१६} मनोज्ञं हिंसन् हिंसकः पापभाग् भवेत् ॥२५३॥

निश्चय चारित्र्य है ॥२४७॥ इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो उसे इन्द्रियों या मन से ज्ञान होता है, न मोह से अन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है, अतः ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य तीनों आत्मस्वरूप ही हैं ।

भावार्थ—उक्त निरूपण निश्चय नय की दृष्टि से किया गया है, साथ में अमृतचन्द्राचार्य ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में कहा है कि व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं । अतः दोनों दृष्टि से वस्तु-विवेचन श्रेयस्कर है ॥ २४८ ॥

अब आत्मा और कर्म के संबंध को स्पष्ट करते हैं—

आत्मा कर्म नहीं है, अर्थात्—ज्ञानावरणादि रूप नहीं है और कर्म आत्मा नहीं है, अर्थात्—शुद्ध चैतन्यरूप नहीं है, आत्मा और कर्म में महान् भेद है, क्योंकि उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है । अतः मुकावस्था में कर्म-रहित होने से केवल आत्मा की ही सत्ता है और वहाँ वह केवल शुद्ध आकाश की तरह अमूर्तिकारूप से स्थित है ॥ २४९ ॥ आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेश का कारण है । जैसे जल स्वयं उष्ण नहीं है, अर्थात् शीतल है किन्तु अग्नि के आश्रय से उसमें उष्णता आ जाती है ॥ २५० ॥ आत्मा अपनी पर्याय (सिद्ध-पर्याय या ज्ञानादि गुणों की पर्याय) का कर्ता है और कर्म अपनी पर्याय (टि० नर-नरकादि पर्याय) का कर्ता है । उपचार (व्यवहार) के सिवाय दोनों परस्पर में एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं, अर्थात्—उपचार से आत्मा को कर्म का कर्ता, और कर्म को आत्मा का कर्ता कहा जाता है, परन्तु वास्तव में दोनों अपनी-अपनी पर्यायों के ही कर्ता हैं ॥ २५१ ॥ लहू द्रव्यों वाला समस्त चराचर लोक स्वयं अपने-अपने स्वभावों में क्रिया-सहित है, अर्थात्—अपने-अपने स्वभावों का कर्ता है, दूसरी वस्तु तो उसमें निमित्तमात्र है । उदाहरण में—आत्मा अपनी सिद्धपर्याय का कर्ता है और कर्म अपनी कर्म पर्याय का कर्ता है, दूसरी वस्तु निमित्त मात्र है । जैसे जल में स्वयं प्रवाहित होने की शक्ति है परन्तु नदी उसके प्रवाहित होने में निमित्तमात्र है ॥ २५२ ॥

यहाँ ध्यान यह है जब जीव अपने अपने कर्मों के उदय से जीते व मरते हैं तो मारने में निमित्त हुए को हिंसा का पाप क्यों लगता है ? अतः इसका समाधान करते हैं—

१. आत्मनि मोक्षं प्राप्ते शक्ति अध्रान् पण्डित्यात् ज्ञानं न भवति । २. मृकजीवे मोहनीयकर्माणः रुचिर्न किन्तु आत्मरुचिरेव ।
३. शरीराच्चारित्र्यं न किन्तु आत्मन्येकलोलीभावश्चारित्र्यं । ४. दर्शनज्ञानचारित्र्यत्रयं । ५. आत्मकर्मणोः ।
६. भेदः । ७. आत्मतत्त्वे । ८. ‘आत्मा श्योमेव केवलं’ (ख०) । अद्य इदानीं केवलमात्मानमेव अङ्गीकृतः ? एव निश्चयेन । ९. तस्य जलस्योष्णत्वं अग्नेर्भवति । १०. सिद्धपर्यायलक्षणे । ११. नरनरकादी पर्याये कर्तुं ।
- १२-१३. परस्परमात्मकर्मणोः कर्तृत्वं न, उपचाराद् व्यवहारादन्यत्र परस्परं कर्तृत्वं भवति न तु निश्चयात् ।
१४. निजस्वभावेषु क्रियासहितं, आत्मा आत्मानं सिद्धं करोति, कर्म कर्म करोति । १५. जगत् ।
१६. नीलजलगमनस्य ।
१७. ‘मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा । पयदस्स णत्थि वन्थो हिंसामिणेण समिदस्स ॥’
१८. अशुद्धं मनः कुर्वन् पुमान् हिंसको भवति पापी च । ‘स्वयमेवात्मना ज्ञत्मानं हिंस्तयात्मा प्रमादवान् पूषं, प्राण्यन्त-
 राणान्तु पश्चात् स्यादा न वा वधः’ । सर्वार्थ सिद्धि अ० ७ सूत्र १३ से संश्लिष्ट —

शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः । 'शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः ॥ २५४ ॥

पुण्यायापि भवेदुःखं पापायापि भवेत्सुखम् । स्वस्मिन्मयत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचैष्टितम् ॥ २५५ ॥

'सुखदुःखाविधातापि भवेत्पापसमाधयः । पटीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यात्सलिलं न किम् ॥ २५६ ॥

ये प्राणी अपने-अपने कर्म के उदय से जीवं या मरें, किन्तु जो मानव अपना मन विशुद्ध (कषाय-रहित) करता है वह अहिंसक है और जो अपने मन को अशुद्ध (कषाय-युक्त) करता है, वह हिंसक और पापी है । जो शुद्ध मार्ग (सदाचार-मार्ग) में प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन व काय शुद्ध है एवं जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध (कषायभाव से कलुषित नहीं) है, वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है ।

भावार्थ—अमृतचन्द्राचार्य अपने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'राग, द्वेष व मोहादि, दुर्वासनाओं को त्याग कर अपने भावों को विशुद्ध रखते हुए दूसरे प्राणियों की रक्षा करना या यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिंसा है और इसके विपरीत आत्मिक सुख-शान्ति को भङ्ग करनेवाले रागादि दुर्भावों से अपने या दूसरों के प्राणों को घात करना या दिल दुखाना हिंसा है । जो कषाय-वश यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता, उसके द्वारा चाहे जोव मरें अथवा न भी मरें तो भी वह हिंसा के पाप से बच नहीं सकता । ॥ २५३-२५४ ॥

स्वयं को या दूसरों को दुःख देने से पुण्य कर्म का भी बन्ध होता है और सुख देने से पाप कर्म का भी बन्ध होता है, क्योंकि मन की चेष्टाएँ चिन्तवन के लिए अशक्य हैं । अभिप्राय यह है कि यदि तपश्चर्या व कष्ट-सहन शुभ परिणामों से यथाविधि किये जाते हैं तो उससे पुण्य कर्म का बन्ध होता है, परन्तु यदि अशुभ-परिणामों से किये जाते हैं तो उससे पाप-बन्ध ही होगा । इसी तरह शुभ परिणाम से दूसरों को दुःख देने से पुण्य बन्ध होता है और अशुभ परिणामों से दुःख देने से पापबन्ध होता है, क्योंकि मन की चेष्टाएँ अचिन्त्य होती हैं ॥ २५५ ॥

भावार्थ—जेनदर्शनकार समन्तभद्राचार्य ने आसमीभासा में इस विषय की विवाद व्याख्या की है, उसे हम संकलित करते हैं—'कुछ लोगों की मान्यता है कि दूसरे प्राणी को दुःख देने से पाप-बन्ध ही होता है और सुख देने से पुण्य-बन्ध होता है ।' परन्तु उक्त मान्यता सही नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो विष व शस्त्रादि दूसरों को दुःख देने में निमित्त हैं उन्हें पापबन्ध होना चाहिए एवं कषाय-रहित वीतराग दूसरे को सुख देने में निमित्त है उसे पुण्य बन्ध का प्रसङ्ग हो जायगा तो मुक्ति संबन्धित नहीं होगी । लोक में आपरेषण करने वाला डाक्टर भी बीमार को कष्ट देने में निमित्त है, तो उसे भी पापबन्ध का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ १ ॥

कुछ लोगों की मान्यता है कि 'अपने को दुःख देने से पुण्यबन्ध होता है और सुख देने से पापबन्ध होता है ।' ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से तो वीतराग विद्वान् मुनि को भी पुण्य-पापकर्मों को

१. धर्म परिणतः सावयलेशो बहु अघ्नन्नपि वचनात् । २. तपः कष्टादिकं तदपि विद्वद्भ्यामचरितं कदाचित् पापाय भवति तेन एकान्तं नास्ति । ३. पापाय तदपि एकान्तं न । ४. परन्तु मनःप्रसारसहितः ।

५. तथा च समन्तभद्राचार्यः—

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि । अचेतनाकषायो च वक्ष्येयातां निमित्ततः ॥ १ ॥

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि । वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां पुञ्ज्यानिमित्ततः ॥ २ ॥

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्परं सुखामुखं । पुण्यपापासौ युक्तौ न चेद्वयर्थस्तवार्हतः ॥ ३ ॥

आप्तमीमांसा से संकलित—सम्पादक

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृषि^१ हृद्येव संस्थिते । परं^२ पापं परं पुण्यं^३ परमं च पदं^४ भवेत् ॥ २५७ ॥
 प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः । यो न चित्तप्रचारस्तस्य मोक्षपदं कुतः ॥ २५८ ॥
 यज्जानाति यथावस्थं वस्तु^५ सर्वस्वमञ्जसा । तृतीये लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥ २५९ ॥
 यष्टिवज्जनुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतसः । प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं हिताहितविभेचनात् ॥ २६० ॥
 मतिर्जागति^६ बृष्टेऽर्थे दृष्टेऽवृष्टे सधागमः । अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मलरं^७ मनः ॥ २६१ ॥
 यद्यर्थं वर्धितेऽपि स्याज्जन्तोः^८ संतमसा मतिः । ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा^९ रविरिषोरिव ॥ २६२ ॥

बन्ध करने का प्रसङ्ग हो जायगा । क्योंकि वह तपश्चर्या द्वारा अपने को दुःखी व ज्ञानाभ्यास द्वारा अपने को सुखी बनाता है तब मुक्ति किसे होगी ? ॥२५॥ इसलिए जैनदर्शन बताता है कि पुण्य-पापबन्ध की व्यवस्था हमारे विशुद्ध व संविलष्ट परिणामों पर अवलम्बित है, इससे अपने लिए या दूसरों के लिए दिये हुए सुख व दुःख यदि क्रमशः शुभपरिणाम व अशुभ परिणाम पूर्वक हैं तब पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, अर्थात्—यदि हम दूसरे प्राणी को कषाय-वश दुःख देते हैं तो हमें पापबन्ध ही होगा और यदि हम शुभ परिणामों से दूसरों को सुख देते हैं तो हमें पुण्यबन्ध ही होगा, यदि ऐसा नहीं है तो आपके मत में पुण्यास्त्र व पापास्त्र निष्फल हैं ॥ ३ ॥

चंचल मन वाला प्राणी दूसरों को सुख-दुःख न देता हुआ भी पापबंध करने वाला हो जाता है । क्या कपड़े की मञ्जूषा में रक्खा हुआ वस्त्र मलिन नहीं होता ? अर्थात्—वैसे ही भोगों की ओर दौड़ता हुआ मन भी क्या अशुभ ध्यान के कारण मलिन होकर पापबंध करने वाला नहीं होता ? ॥ २५६ ॥ शरीरादि से हिंसा व परोपकार-आदि अशुद्ध व शुद्ध कार्य करने में असमर्थ होने पर भी, यदि चित्त चित्त में लीन रहता है तो वह (चित्त) अशुभ ध्यान द्वारा तीव्रतम पापबंध करता है और शुभ ध्यान द्वारा उत्कृष्ट पुण्य बंध करता है तथा शुक्लध्यान द्वारा उत्कृष्ट मोक्ष पद प्राप्त करता है ॥ २५७ ॥ जो मानव चित्त की चंचलता को नहीं जानता, अर्थात्—जो भोगों की ओर दौड़ते हुए मन को नियन्त्रित करके धर्मध्यान में और जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के चिन्तन में प्रेरित नहीं करता, वह मानव ब्राह्म क्रिया काण्ड (अनशन-आदि तप) को करता हुआ भी केवल कष्ट का पात्र होता है, उसे मोक्षपद कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतः चित्त को नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील होना चाहिए, तभी ब्राह्म क्रियाएँ फलप्रद हो सकती हैं, अन्यथा निरर्थक हैं ॥ २५८ ॥

[अब सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हैं—]

जो वस्तु का समस्त स्वरूप (गुण व पर्याय) जैसे का तैसा (हीनाधिकता से रहित तथा संशय-आदि मिथ्याज्ञान से रहित) निश्चय करता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं । यह मनुष्यों का तीसरा नेत्र है ॥२५९॥ वह सम्यग्ज्ञान पुण्य करने में मनोवृत्ति रखने वाले धार्मिक मानव को हित (सुख व सुख के कारण) व अहित (दुःख व दुःख के कारण) का विवेचन करके वेसा उसको हित-प्राप्ति व अहित-परिहार में कारण होता है, जैसे जन्मान्ध पुरुष को लाठी ऊँची-नीची जगह बतलाकर उसको हित-प्राप्ति और अहित-परिहार (ऊँच-खाबड़ जगह से बचाने) में कारण होती है ॥२६०॥ मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयीभूत पदार्थों को ही जानता है, किन्तु श्रुतज्ञान (आगम) इन्द्रियों के विषयभूत और अतीन्द्रिय (सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती) दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान कराता है, इसलिए यदि ज्ञाता का मन ईर्ष्या नहीं है तो उसे तत्त्वज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥२६१॥ यदि तत्त्वोपदेशक द्वारा जीवादि पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन कर देने पर भी शिष्य

१. चित्ते । २. से ४. अशुभध्यानेन पापं स्यात्, शुभेन पुण्यं, परमशुक्लेन परं पदं । ५. सर्वार्थ—सर्ववस्तु स्वरूपमित्यर्थः । ६. गुरूपदिष्टे पदार्थे । ७. मात्सर्य-रहितं । ८. मलिना । ९. उत्कृष्टमेव ।

ज्ञातुरेव स बोधोऽयं यदवाधेऽपि वस्तुनि । मतिविपर्ययं भवेत्^१ यथेन्दो^२ मन्त्रचक्षुषः ॥ २६३ ॥

^३ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत् । अन्यत्र केवलज्ञानात्प्रत्येकमनेकधा ॥ २६४ ॥

^४अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिमितिः^५ । चारित्र्यं तच्च साधारणमारयतिसंशयम् ॥ २६५ ॥

की बुद्धि मलिन या अज्ञान-बहुल रहती है, तो उसका ज्ञान वैसा व्यर्थ है जैसे उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश व्यर्थ होता है ॥२६३॥ जैसे होश दुष्टि (धाच-कामधादि रोग से प्रस्त नेत्रवाले) मनुष्य की बुद्धि चन्द्र के विपर्य में विपरीत होती है, अर्थात्—उसे एक के दो चन्द्र दिखाई देते हैं या शुभ्र चन्द्र नीला दिखाई देता है, उसमें उसकी चक्षु का दोष समझा जाता है, न कि चन्द्र का, वैसे ही प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणों से बाधा-रहित वस्तु (कथंचिन्नित्यानित्यात्मक जीवादि वस्तु) में भी बुद्धि के विपरीत हो जाने में (वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य समझने में) ज्ञाता का ही दोष (मिथ्यात्व कर्म का उदय) है, न कि वस्तु का ॥२६३॥

[अब सम्यग्ज्ञान के भेदों का निरूपण करते हैं—]

जिसके द्वारा बाह्य व आध्यात्मिक पदार्थों में संशय, विपर्यय व अन्वयवसाय-रहित यथार्थता का निश्चय किया जाय उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं, वह सामान्य से एक भेद वाला है । प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह पाँच प्रकार का है । केवल ज्ञान के सिवाय अन्य चार ज्ञानों में से प्रत्येक के अनेक भेद हैं । जैसे—मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं । श्रुतज्ञान अङ्ग व अङ्ग बाह्य के भेद से दो प्रकार का है । अवधिज्ञान-देशावधि, परमावधि व सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है और देशावधि व परमावधि भी प्रत्येक जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार का है । और देशावधि, परमावधि व सर्वावधि इन तीनों में से प्रत्येक के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, प्रतिपाति एवं अप्रतिपाति के भेद से आठ प्रकार का है । मनःपर्यय ज्ञान भी ऋजु व विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है और ये दोनों जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार के हैं ॥२६४॥

[अब सम्यग्चारित्र्य का स्वरूप व भेद कहते हैं—]

सम्यग्ज्ञानी के हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह रूप पापक्रियाओं के त्याग को और धार्मिक क्रियाओं (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग) के करने को सम्यग्चारित्र्य कहते हैं, वह चारित्र्य गृहस्थों से धारण करने योग्य अणुव्रत और मुनियों से धारण करने योग्य महाव्रत

१. चन्द्रे । २. हीनचक्षुः चन्द्रं नीलं कुष्णादिकं पश्यति, द्वौ चोन्वा चन्द्रान् पश्यति ।

३. ज्ञानमेकमित्यादि—जायते निश्चीयते अव्युत्पत्तिसंशयविपर्ययव्युदात्तेन बाह्याध्यात्मिकपदार्थेषु याथात्म्यं येन तज्ज्ञानं, एकज्ञानार्थस्य सर्वत्रानुगमात् । द्वेधा-प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन । पञ्चधा-मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेन । प्रत्येकं मतिस्तावदनेकधा—पट्त्रिंशत्रिंशतीभेदेन । तथाहि—पट्त्रिंशत्यणि अर्थव्यञ्जनपर्यायिलक्षणपर्यायविपर्ययव्यग्रहेहावायधारणाभिर्गुणितानि चतुर्विंशति भवन्ति । चक्षुरनिन्द्रियवजितानामपरेषां चतुर्णामिन्द्रियाणां व्यञ्जनलक्षणपर्यायविपर्यायचत्वारोऽवग्रह एवमेतेषामष्टाविंशति बह्वादिभिर्द्वादशभिर्गुणिता पट्त्रिंशत्रिंशती च भवति । श्रुतमनेकधा—अङ्गाङ्गबाह्यभेदेन । तत्राङ्गानि आचारादीनि अङ्गबाह्यानि सामायिकादीनि पुनरपि पर्याय-पर्यायसमासाक्षरसमासभेदेन विंशतिभेदः । अवधिरनेकधा—देशावधि परमावधि—सर्वावधिभेदेन । देशावधिपरमावधी अपि प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधौ । देशावधिश्च प्रत्येकं यथासंभवननुगाम्यननुगामिबर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितप्रतिपाति—अप्रतिपाति-भेदेनाष्टविधं । मनःपर्ययोजनेकधा ऋजुविपुलमतिभेदेन पुनः प्रत्येकमेतौ जघन्यादिभेदेन त्रिविधौ ।

४. त्यागः । ५. कर्णः ।

१ देशतः प्रथमं तत्स्वात्सर्वतस्तु^२ द्वितीयकम् । चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥ २६६ ॥

देशतः सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् ।^३ स्वर्गपिषगंयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥ २६७ ॥

४'नुष्ककण्डूहरं शास्त्रं सम्यक्त्वविद्युरे' नरे । ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भंगाभरणोपमम् ॥ २६८ ॥

सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिश्चाहुता । वृत्तास्पृजामवाप्नोति त्रयान्च लभते शिवम् ॥ २६९ ॥

रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ज्ञानं तत्स्वनिरूपणम् । औदासीन्यं परं प्रादुर्भूतं सर्वक्रियोज्झितम् ॥ २७० ॥

वृत्तमग्निदपायो^५ धीः सम्यक्त्वं च रसौषधिः^६ । साधुसिद्धो भवेदेव तत्स्वाभावात्मपारदः^७ ॥ २७१ ॥

सम्यक्त्वस्थाध्यद्विचिन्तमम्यासौ भतिसंपदः^८ । चारित्रस्य शरीरं^९ स्याद्वित्तं^{१०} दानादिकर्मणः ॥ २७२ ॥

के भेद से दो प्रकार का है ॥ २६५ ॥ विशुद्ध चारित्र के विचार से योग्य चित्त-वृत्ति वाले आचार्यों ने गृहस्थों का देशचारित्र कहा है, क्योंकि उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाँच पापों का एक देश त्याग किया जाता है और मुनियों का सकलचारित्र कहा है, क्योंकि उसमें हिंसा-आदि पाँच पापों का सर्वदेश त्याग किया जाता है ॥ २६६ ॥ जिस मनुष्य में स्वर्ग व मोक्ष में से किसी को भी प्राप्त करने की योग्यता (शक्ति) नहीं है, वह न तो देश चारित्र ही पाल सकता है और न सकल चारित्र ही पाल सकता है ॥ २६७ ॥ सम्यक्त्व-हीन मानव का शास्त्रज्ञान केवल उसके मुख की खुजली दूर करता है—अर्थात्-वाद-विवाद करने में ही समर्थ होता है; क्योंकि उसमें आत्मदृष्टि नहीं होती । एवं ज्ञान-शून्य का चारित्र-धारण विधवा स्त्री के आभूषण-धारण करने के समान निरर्थक है ।

भाषार्थ—विना सम्यक्त्व के शास्त्राभ्यास-ज्ञानार्जन-निरर्थक है और विना ज्ञान के चारित्र का पालन करना व्यर्थ है ॥ २६८ ॥ सम्यग्दर्शन से मनुष्य को प्रशस्त गति-स्वर्ग-श्री प्राप्त होती है और सम्यग्ज्ञान से उसकी कीर्ति कौमुदी का प्रसार होता है और सम्यक्चारित्र से सन्मान प्राप्त होता है और तीनों से मुक्ति श्री प्राप्त होती है ॥ २६९ ॥ आचार्यों ने कहा है तत्त्वों में रुचि का होना सम्यग्दर्शन है । तत्त्वों का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है एवं समस्त पाप क्रियाओं की त्यागवाली उदासीनता होना सम्यक् चारित्र है ॥ २७० ॥ जो आत्मारूपी पारद (पारा) अनादिकाल से मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयमरूपी कुधातुओं के संसर्ग से अशुद्ध हो रहा है, उसे विशुद्ध करने के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र अनूठा साधन है । अर्थात्—उसे विशुद्ध करने के लिए सम्यक् चारित्र अग्नि है और सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यग्दर्शन (चित्त की विशुद्धि) रसौषधि (नीबू के रस में घुटा हुआ सिद्धप) है । अर्थात्—उक्त रत्नत्रय की प्राप्ति से यह आत्मारूपी पारा विशुद्ध होकर सांसारिक समस्त व्याधियों को ध्वंस करके व मुक्ति श्री प्राप्त करता है ।

भाषार्थ—अतः मुमुक्षु विवेकी मानव को रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ २७१ ॥ सम्यग्दर्शन वा आश्रय चित्त है । अर्थात्—इसकी प्राप्ति के लिए मानव को अपने चित्त की विशुद्धि करनी चाहिए । और ज्ञानलक्ष्मी का आश्रय शास्त्राभ्यास है । अर्थात्—ज्ञानलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मनुष्य को शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए । चारित्र का आश्रय शरीर है, अर्थात्—इसकी प्राप्ति के लिए शारीरिक कष्ट

१. विरतिः । २. विरतिः । ३. स्वर्गमोक्षयोर्मध्ये सत्य जीवस्य एकस्यापि योग्यता न भवति तस्याणुव्रतं महाव्रतं च न भवति । ४. मुखसर्जन । ५. रहिते । ६. धमण-फूकण । ७. वीर्यसहितमोगधम् । ८. दर्शनज्ञान चारित्रप्राप्तेः । ९. आत्मा एव पारदः । १०. ज्ञानलक्ष्म्याः अभ्यास एव आश्रयः स्यात् । ११. आश्रयः । १२. आश्रयः ।

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नार्हकविद्यतिष्ठतमः कल्पः ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणोऽश्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनन्तर्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिक्षण्डमण्ड-
नीभवस्वरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्यपवर्गसार्गमहोदयो नाम
षष्ठ आश्वासः—

सहन करते हुए पाप क्रियाओं का त्याग करना चाहिए और दान-पूजा-आदि धार्मिक कर्तव्यों का आश्रय घन है । अर्थात्—न्याय से संचित किये हुए घन को पात्रदान-आदि धार्मिक कार्यों में लगाना चाहिए ॥ २७२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में रत्नत्रय का स्वरूप बतलानेवाला इक्कीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इस प्रकार समस्त तार्किक-समूह में चूडामणि (मर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरमहाराजचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य है, मोक्षमार्ग का उदयशाली यह षष्ठ आश्वास समाप्त हुआ ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री व श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त

श्री १०५ कुल्लुक गणेश प्रसाद जी वर्णो न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य, नीति-

वाक्यामृत के अनुसन्धान-पूर्वक भाषा-टीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक,

जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद-विशारद,

एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागर

निवासी परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री

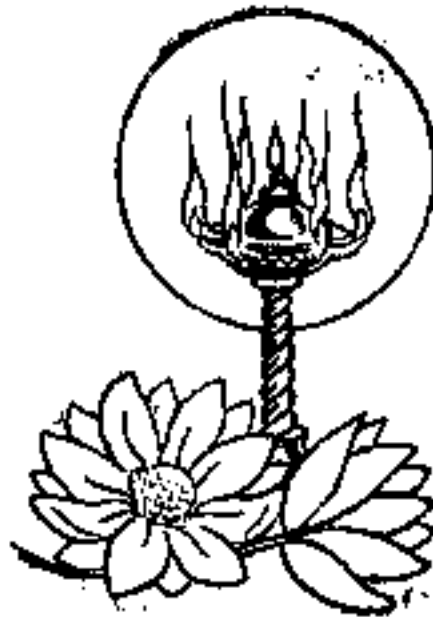
द्वारा रची हुई 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य'

की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की

भाषाटीका में मोक्षमार्ग का

उदयशाली यह षष्ठ

आश्वास पूर्ण हुआ ।



ससम आश्वासः

पुनः^१ भूणमणिकटक^२, ^३वेकटकमेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, ^४पुरुषकारानुष्ठानमिव देव-
संपदः^५, पराक्रमबलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवेदित्वमिव^६ सेव्यत्वस्य^७, अतः हि अल्लु सम्यक्त्वरत्नस्योपबृंहकमाहुः ।
तत्र—

मद्यमांसमधुरत्यागः *सहोदुम्बरपञ्चकः । अष्टाधेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥ १ ॥
सर्वदोषोदयो मद्यामहामोहकृतेमतेः । सर्वथा पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥ २ ॥
हिताहितविमोहेन देहिनः^८ किं न पातकम् । कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥ ३ ॥
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा ह्युतेन पाण्डवाः । इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन् सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥ ४ ॥
समुत्पद्य^९ विपद्येह देहिनोऽनेकशः^{१०} किल । मद्यीभवन्ति कालेन^{११} मनोमोहाय वेहिनाम् ॥ ५ ॥
मद्यकश्चिन्नुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत् । पुरयेषु न संदेहं समस्तमपि विष्टम् ॥ ६ ॥
मनोमोहस्य हेतुत्वाविधानत्वाच्च^{१२} कुर्यातेः । मद्यं संहितं मद्यं व्याज्यमिहामुजं च बोधकम् ॥ ७ ॥

जानादि गुणरूपी मणियों के कङ्कणीभूत हे मारिदत्त महाराज ! आचार्यों ने कहा है कि निश्चय
से धृत (अहिंसा-आदि) सम्यक्त्वरूपी रत्न के वैसे गुणवर्धक हैं जैसे शोधनादि क्रिया (शाणोल्लेखन-आदि)
माणिक्य की गुणवर्धक होती है । जैसे चूने का लेप महल की शोभावर्धक होता है । जैसे पुरुषार्थ का अनुष्ठान
भाग्य सम्पत्ति (पूर्वोपार्जित पुण्य लक्ष्मी) का गुणवर्धक होता है । जैसे पराक्रम का आश्रय नीतिमार्ग—
सदाचार की समृद्धि करने वाला होता है और जैसे विद्वत्ता सेवनीय (गुरु व राजा-आदि) की उन्नति करने
वाली होती है ।

श्रावकों के धृत मूलगुण व उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार के होते हैं ।

आठ मूलगुण

मद्य, मांस और मधु का त्याग और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग ये गृहस्थों के आठ मूलगुण आगम
में कहे गये हैं ॥ १ ॥

मद्य—शराब-के दोष—बुद्धि को अज्ञान से आच्छादित करने वाले मद्यपान से समस्त दोष (काम व
क्रोधादि) उत्पन्न होते हैं और यह समस्त पापों में अग्रेसर है ॥ २ ॥ मद्य पीने से हित और अहित का
विवेक नष्ट हो जाता है, जिससे शराबी लोग संसाररूपी वन में घुमाने वाले कौन-कौन से पाप नहीं करते ?
अर्थात्—मद्य पीने से समस्त पाप उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥ सर्वत्र लोक में यह कथा प्रसिद्ध है, कि शराब
पीने से यदुवंशी राजा लोग नष्ट हो गए और जुवा खेलने के कारण पाण्डव नष्ट हो गए ॥ ४ ॥ निश्चय से
शराब में असंख्यात जीव अनेक बार जन्म-मरण करके स्वल्प समय में शराबियों का मन मूर्च्छित करने के
लिए शराब रूप हो जाते हैं ॥ ५ ॥ मद्य की एक बिन्दु में उत्पन्न हुए बहुत से जीव यदि वहाँ से निकलकर
भ्रमण करें तो निस्सन्देह समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं ॥ ६ ॥ मद्यपान शराबी का मन मूर्च्छित करने

१. यथा । २. कङ्कण हे मारिदत्त ! । ३. 'शोधनरचनाक्रिया' टि० (ख०) । 'शोधनादिक्रिया' टि० (घ०) (च०) गञ्जि-
कायां च । ४. पीरपशक्तिः, कर्तव्यं । ५. पूर्वोपार्जितगुण्यस्य । ६. विद्वत्त्वं । ७. गुरोः नृपादिकस्य । ८. धृतं । ९. 'सहो-
दुम्बरपञ्चकः' इति क०, ख०, घ०, च० । १०. जीवाः । १०. मृत्वा । ११. बहुवारान् । १२. स्वल्पेन । १३. कारणत्वात् ।

मनोमहामोहः कौपीनमपहाय 'हारहूरव्यवहारातिलङ्घितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविटम्बनावसरो प्रहृहीत-
शरीर इवानीतानेकविकारः पुनर्बुभुक्षाशुशुक्षिणि' क्षीणकुक्षिकुहरस्तरसमपि^१ भक्षितवान् । प्रातुर्भवद्बुःसहोद्रेकमदमो
मातङ्गीं कामितवान्^२ । भवति चात्र श्लोकः—

हेतुशुद्धेः^३ धृतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलंकपात् । मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमामसः ॥ ८ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिबोधदर्शनी नाम द्वाविंशः कल्पः ।

भूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्थोपाख्यातम्—अक्षेपविद्यावंशारध^४ मवमत्तमनीधि^५ 'मत्तासिकुलकेलि' कमलनाभ्यां
वलभ्यां^६ पुरि* खाद्यचरित्रशीलः^७ करवालः, कपाटोद्घाटनपटुर्बटुः, महा निद्रासंपादनकुशलो धूर्तिलः,
परगोपा^८ यितद्रविणदेशविशारदः शारदः, ^९स्वरपटागमविलासः कृकिलाप्रहनेनि^{१०} मत्ता मत्तासिकुलः^{११} प्रतिपन्नपर-
स्परप्रीतिप्रपञ्चाः स्वयं^{१२} वसायसाहसाभ्यामीश्वरशरीराध्वंसासिनी भवानीमपि मुकुन्वद्बुधयाश्रयधियं शिष्यमपि
कात्यायनीलोचना^{१३} 'संजनमञ्जनमपिहृत्' समर्थाः, पश्यतोहराणामपि पश्यतोहराः, कृतान्तकृतानामपि कृतान्तकृताः ।

ऐसा चिर काल तक मन में विचारकर म्लेच्छविद्या के निधि वाले उसने शराव पी ली । उससे प्रभाव
से उसे तीव्र नशा चढ़ा । उसने अपनी लंगोटी खोल डाली और मद्यपान से विह्वल हुई चाण्डालनियों के गीत
को अनुकरण करती हुई तालियाँ पीटने लगा । उस समय उसकी दशा ऐसी हो गई थी—मानों उसके शरीर में
कोई भूत घुस गया है, इसलिए उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ कीं और जब उसके उदर का मध्यभाग भूखरूपी अग्नि
से क्षीण होने लगा तब उसने मांस भी खा लिया । उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने चाण्डालिनी
के साथ रतिविलास भी कर लिया ।

इस विषय में एक श्लोक है, जिसका अभिप्राय यह है—

मद्य को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बुद्ध होने से तथा वेद में लिखा होने से मूढ़ मनोवृत्ति वाले
एकपाद संन्यासी ने मद्य पी लिया और फिर उसने मांस भी खाया और चाण्डालिनी के साथ रति विलास
भी किया ॥ ८ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मद्यपान के दोष बतलाने वाला बाईसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

१०. मद्यप्रली धूर्तिल नाम के चोर की कथा—

[अब मद्यत्याग से उत्पन्न हुए गुण वाले की कथा सुनिए ।]

सभी विद्याओं की चतुराई के मद से मत्त हुए विद्वान् रूपी भँवरों के समूह की क्रीड़ा के लिये कमल
के कोश-सरीखी 'वलभो' नाम की नगरी में पाँच चोर रहते थे । उनमें से 'करवाल' नाम का चोर मकानों में
छिद्र (सेंध) लगाने के स्वभाव वाला था । 'बटु' किवाड़ खोलने में चतुर था । 'धूर्तिल' महानिद्रा उत्पन्न करा
कर चोरी करने में कुशल था । 'शारद' दूसरों के द्वारा छिपाये हुये धन का स्थान देखने में प्रवीण था और
पाँचवाँ कृकिलास ठग विद्या का विलासी था । वे पाँचों पारस्परिक प्रीति विस्तार को स्वीकार करने वाले थे
और अपने उद्योग व साहस द्वारा वे शिव के अर्धाङ्ग में निवास करने वाली पार्वती को भी, विष्णु के हृदय में
निवास करने की बुद्धि रखने वाली लक्ष्मी को भी और दुर्गा के नेत्रों में लगे हुए अञ्जन को भी चुराने में समर्थ
थे । वे चोरों के भी चोर थे और यम-दूतों के भी यम-दूत थे ।

१. मद्यपानविह्वलीभूतमातङ्गी । २. अग्निः । ३. मांसं । ४. सेवितवान् । ५. मद्यस्य कारणं गुह्यं, धातुकोप्रमुखशुद्धत्वात् ।

६. चातुर्यं । ७. मनीषिण एव मत्तप्रमत्ताः । ८. क्रीड़ा । ९. मध्ये कोशासदृशायाम् । * खात्रं छिद्रं । १०. चौरकर्म ।

११. गोपितं । १२. ठकशास्त्रं । १३. चौराः । १४. उद्यमः । १५. आसक्तं ।

कदाचिदेकस्यां निशि *चेलालोपं वर्धति वेवे कञ्जलपटलकाश^१ कायप्रतिष्ठासु सकलासु काष्ठासु^२ विहित-
पुरसा^३ रापहाराः पुरवाहिरिकोपवने धनं विभजन्तस्त्वेषं ममेवमिति विधवमानाः *कञ्जलमपह्राय *समानायित-
मरेयाः *पानगोष्ठोभमुतिष्ठन्तः *पूर्वाहितकलहकोपोन्मेयकलुषधियणाः यष्टायष्टि मुष्टामुष्टि च युद्धं विधाय सर्वेऽपि
मग्नुरन्यत्र धूतिलात् । स किल *यथावर्शनसंभवं महामुनिविलांकनास्मिन्नहृष्येकं व्रतं गृह्णाति । तत्र च दिने *तद्दर्शनादा-
सवव्रतमग्रहीत् ।

तदनु धूतिलः समानशोलेषु कञ्जवदयां *विनाशलेख्यामात्मसमक्षमुपयुज्य^{११} *^{१२}विरज्याजचंजवादमुखबीजा-
वृत्पाटय^{१३} च *मनोजकुज^{१४} जटाजालनिर्देशमिव केशपाशं चिरत्राय^{१५} *परत्राहितजैत्राय चरित्राय समीहांचके ।
भवति चात्र श्लोकः—

एकस्मिन्वासरं मद्यनिवृत्तिर्धूतिलः किल : एतद्दोषासहायेषु मृतेष्वा^{१६} पवनापवम्^{१७} ॥ ९ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः ।

किसी समय एक रात्रि में जब मेघ वस्त्र को आर्द्र (भीगा) करने पूर्वक जोर की जलवृष्टि कर रहे
थे और समस्त दिशाएँ कञ्जल-पटल-सरीखीं कृष्ण शरीर वालीं हो रहीं थीं तब उन्होंने नगर के सार द्रव्य
(सुवर्ण व रत्नादि) की चोरी की । फिर वे नगर के बाहर के बगीचे में धन का विभाग (बँटवारा) कर रहे
थे और 'यह मेरा है और यह तेरा है' यह कहकर झगड़ रहे थे । पश्चात् युद्ध (झगड़ना) छोड़कर उन्होंने पहले
किसी एक चोर द्वारा शराब मँगवाई और शराब की पान गोष्ठी की, अर्थात्—एक स्थान पर बैठकर प्रायः सभी
ने शराब पी, जिससे पहले किये हुए कलह का कोप बढ़ जाने से मलिन-बुद्धि वाले उन्होंने लठा-लठी और
मुक्का मुक्की वाला तुमुल युद्ध किया, जिससे धूतिल के सिवा सब मर गये ।

निस्सन्देह धूतिल के एक नियम था, कि उसे जिस दिन मुनि का दर्शन होता था, उस दिन वह
सदा एक व्रत ग्रहण करता था, अतः उसने उस दिन मुनि के दर्शन होने से शराब के त्याग का व्रत ले लिया
था, इसी से वह बच गया ।

एक सरीखे स्वभाव वाले अपने साथी चोरों की शराबखोरी के आश्रय से उत्पन्न हुई मरणावस्था
को प्रत्यक्ष देखकर वह विशेष दुःखों के कारण संसार से विरक्त हो गया और कामदेव रूपी वृक्ष के जटा-समूह
के प्रवेश-सरीखे केश-समूह उखाड़ कर पारलौकिक दुःखों को जीतने वाले चरित्र के पालन करने का चिरकाल
तक इच्छुक हुआ ।

उक्त कथा के संबंध के एक श्लोक का भाव यह है—

'जब कि मद्यपान के दोष से दूसरे साथी चोर मर गये तब एक दिन के लिये शराब का त्याग कर
देने से धूतिल चोर बच गया और उसने दीक्षित होकर आपत्तियों से रहित स्थान (मुक्तिपद) प्राप्त किया ॥ ९ ॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मद्य-त्याग के गुणों का निदान करने वाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

*. 'चेलक्रोपं ग०' । १. कृष्णशरीर । २. दिशासु । ३. सारद्रव्य । ४. युद्धं । ५. अनेन केनचित् कृत्वा आनायितमशाः ।
६. एकत्र पानं । ७. मद्यपानात् पूर्व कृत । ८. यस्मिन् दिने मुनयो मिलन्ति तद्दिने नित्यं व्रतं गृह्णाति । ९. मुनिदर्श-
नात् । १०. मरणावस्थां । ११. दृष्ट्वा । १२. संसारात् । १३. उत्पाटनं कृत्वा । १४. कामः । १५. वृक्षः । १६. चिरं
दोषकालं पालितवानित्यर्थः । १७. परलोकपापदुःखजयनशीलाय । १८. प्राप्तवान् । १९. आपत्-रहितं स्थानं ।

स्वभावाद्युचि दुर्गन्धमन्धापापहुरास्पदम्^१ । सन्तोऽक्षमि^२ कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥ १० ॥
 कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यवि चाश्रमः ।^३ हन्यमानविधिर्न स्याद्व्यमथा^४ वा न जीवनम् ॥ ११ ॥
 धर्माच्छर्मभुजां धर्मो किन्तु विद्वेषकारणम् । शान्तिवार्त्तप्रदं हरेति^५ को यन्मांसं पश्येत् ॥ १२ ॥
 अन्धात्पलेशात्तुल्यं सुष्टु सुधीश्चेत्स्वस्थं वाञ्छति । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १३ ॥
 स तुल्यं सेवमानोऽपि^६ जन्मान्तस्तुलाश्रयः^७ । यः परावृणोतेन तुल्यसेवापरायणः ॥ १४ ॥
 स पुमान्नु लोकेऽस्मिन्नुदके^८ दुःखवर्जितः । यस्तवात्त्वसुखात्पुमान् मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥ १५ ॥
 स भूभारः परं प्राणी जीवन्त्यपि मृतश्च सः । यो न धर्मार्थकामेषु मधेद्व्यतमाश्रयः^९ ॥ १६ ॥
 स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पयोरेपि । योऽदन्तनपि फलं धर्माद्धर्मं भवति मन्दधोः ॥ १७ ॥
 स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पण्डितः । यः स्वतो चान्नतो वापि नाधर्माय समीहते ॥ १८ ॥

मांस-त्याग—

सज्जन पुरुष ऐसे मांस को, कैसे भक्षण करते हैं ? जो कि स्वभाव से अपवित्र व दुर्गन्धित है, जो दूसरे पशु-पक्षियों के घात से उत्पन्न होता है, जो कसाईयों व खटीकों-आदि के छोटे स्थान से प्राप्त होता है एवं जो भविष्य में दुर्गति को देने वाला है ॥ १० ॥ यदि मांस के निमित्त हमारे द्वारा घात किया जा रहा पशु दूसरे जन्म में हमारा घात न करे या मांस के बिना दूसरा कोई भी उदर-पोषण का उपाय नहीं है तो प्राणी नहीं करने योग्य कर्म (जीव-घात) भले हों करे, किन्तु ऐसी बात नहीं है, मांस के बिना भी अन्न व भक्ष्य फलादि से उदर-पोषण होता ही है, अतः मांस-भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥ अहिंसा धर्म के माहात्म्य से सुख भोगने वालों को धर्म से द्वेष करने का क्या कारण है ? अर्थात्—धर्म से द्वेष करना उनकी निरी मूर्खता है । क्योंकि कौन बुद्धिमान् पुरुष अभिलषित—इच्छित वस्तु देनेवाले कल्प वृक्ष से द्वेष करता है ? अगितु कोई नहीं करता ॥ १२ ॥ यदि बुद्धिमान् पुरुष थोड़ा-सा क्लेश उठाकर अपने लिये विरोध सुखी देखना चाहती है, तो उसका कर्त्तव्य है, कि जैसा व्यवहार (मारना व विश्वास-घात-आदि) अपने लिए दुःखदायक है, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति न करे ॥ १३ ॥ जो पुरुष दूसरों का घात न करके अपनी सुख-सामग्री के भोगने में तत्पर है, वह इस लोक में सुख भोगता हुआ भी दूसरे जन्म में सुख का स्थान होता है ॥ १४ ॥

जो मनुष्य इस जन्म में तात्कालिक सांसारिक सुखों में आसक्त होकर धार्मिक कर्त्तव्यों में मूढ़ नहीं होता अर्थात्—धर्म कर्म में प्रवृत्त होता रहता है, वह इस लोक में व परलोक में दुःखी नहीं होता—सुख-लाभ करता है ॥ १५ ॥ जो मानव धर्म, अर्थ व काम में से एक का भी आश्रय नहीं करता वह पृथ्वी का भार रूप है और जीता हुआ भी मरा-भा है ॥ १६ ॥ जो मानव धर्म से उत्पन्न होने वाले सांसारिक सुख रूप फल का उपभोग करता हुआ भी धर्मानुष्ठान में मन्दबुद्धि (आलसी) है, वह मूर्ख है, जड है, अज्ञानी है और पशु से भी निरापशु है ॥ १७ ॥ जो स्वयं या दूसरों के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी अधर्म करने की चेष्टा नहीं करता, वही विद्वान्, महा-विद्वान् और बुद्धिमान् तथा पण्डित है ॥ १८ ॥

१. दुःस्थाने गुणान्तरगृहे लब्धं । २. भक्षयन्ति । ३-४. यथा पशूहृतः तथा परधाक्वेत् स पशुः तस्य हिंसकस्य न हितस्ति, अथवा चेन्मांसं विनाज्यः कोऽपि जीवनोपायो नास्ति । चेदन्नमद्यफलादिकं वर्तते तर्हि मांसं कथं भक्ष्यते । ५. को द्वेषं करोति । ६. भुञ्जानोऽपि । ७. नवति । ८. आध्यात्मिकाले । ९. इहलोकं तत्काले । १०. त्रिषु मध्ये एकस्यापि यः आश्रयो न भवति ।

तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहितं मुहुः । अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधापिनः ॥ १९ ॥
 परजने^१ करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा । वृद्धये^२ घनवद्वृतं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥ २० ॥
 मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मत्तम् । अधर्मः कोऽपरः किं वा भवेद्दुर्गतिवायकम् ॥ २१ ॥
 स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् । सज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ २२ ॥
 स्वकीयं जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् । तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥ २३ ॥
 मांसादिषु^३ दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु । आनृशंस्यं^४ न मर्त्येषु^५ मधुबुम्बरसेविषु ॥ २४ ॥
 मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डविनिपीडनात् । जातं मधु कथं सत्तः सेवन्ते कललाकृति^६ ॥ २५ ॥
 "उब्धान्ताभंगगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत्^७ । कुतो मधु^८ मधुच्छत्रे^९ व्याचलु^{१०} ॥ २६ ॥
 अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष^{११} न्यग्रोष्ठ^{१२} लिङ्गलेहवपि । प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्तूलाः सूक्ष्मास्तत्तत्तत्तत्तत्तत् ॥ २७ ॥

जो अपने कल्याण के इच्छुक हैं और बार-बार दुःख देने वाले पाप कर्म का त्याग करते हैं, वे दूसरे पशु-पक्षियों के मांस से अपने मांस की वृद्धि करने वाले कैसे हो सकते हैं ? ॥ १९ ॥ जिस प्रकार दूसरों की वृद्धि के लिए दिया गया धन, कालान्तर में व्याज के बढ़ जाने से देने वाले को अधिक प्राप्त होता है (व्याज-सहित मिल जाता है) उसी प्रकार मनुष्य दूसरे प्राणियों के लिए जो सुख या दुःख देना है, वह सुख या दुःख कालान्तर में उसे अधिक प्राप्त होता है । अर्थात्—सुख देने से विशेष सुख प्राप्त होता है और दुःख देने से विशेष दुःख प्राप्त होता है । २० ॥ यदि मद्य-पान, मांस-भक्षण और मधु आस्वादन की अधिकता वाला क्रिया काण्ड (यज्ञ व श्राद्धादि) धर्म है तो फिर दूसरा अधर्म क्या है ? और दुर्गति देने वाला क्या है ? ॥ २१ ॥ सच्चा धर्म वही है, जिसमें अधर्म (हिंसा-आदि व मिथ्यात्व-आदि) नहीं है । सच्चा सुख वही है, जिसमें नरक-आदि का दुःख नहीं है । सम्यग्ज्ञान वही है, जिसमें अज्ञान नहीं है तथा सच्ची गति वही है, जिसके मिलने पर संसार में पुनरागमन नहीं होता ॥ २२ ॥ जिस तरह सभी प्राणियों के लिए अपना जीवन प्यारा है उसी तरह दूसरों को भी अपना जीवन प्यारा है, इसलिए जीव हिंसा का त्याग करना चाहिए ॥ २३ ॥ मांस भक्षकों में दया नहीं होती और शराब पीने वालों में सत्य भाषण नहीं होता एवं मधु और उदुम्बर फलों का भक्षण करने वालों में दयालुता नहीं होती, अर्थात्—निर्दयी होते हैं ॥ २४ ॥

मधु के बोध

सज्जन पुरुष गर्भाशय में स्थित हुए शुक्र-गोणित के सम्मिश्रण-सरीस्रे आकार वाले मधु को, जो कि शहद की मक्खियों तथा उनके छोटे-छोटे बच्चों के घात से उत्पन्न होता है, किस प्रकार सेवन करते हैं ? ॥ २५ ॥ जिसके बीच में छोटे-छोटे शहद की मक्खियों के बच्चे भिनभिना रहे हैं, ऐसे शहद के छत्ते में स्थित हुआ मधु, जो कि अण्डों से उत्पन्न हुए पक्षियों के बालकों के झुण्ड-सरीखा है, वहेलियों तथा भील लोगों के लिए खाने-योग्य किस प्रकार हो गया ? यह आश्चर्यजनक है ॥ २६ ॥

पाँच उदुम्बर फलों के बोध

पीपल, गूलर, गाजर, बड़ और कटूमर (अंजीर) इन पाँच उदुम्बर फलों में भी स्थूल वसजीव उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और अनेक सूक्ष्मजीव भी उनमें पाये जाते हैं, जो शस्त्रों द्वारा जाने जा सकते हैं ॥ २७ ॥

१. परजने । २. वृद्धिनिमित्तं भवति व्याजफलं तद्वत् । ३. मांसं जदन्ति इत्येवं शीलाः । ४. कारुण्यं । ५. मनुष्येषु । ६. गर्भवेष्टनं । ७. चलित । ८. पक्षिबालकसमूहवत् । ९. माधुर्यं । १०. मधुफले । ११. भिन्नलोकानां भक्ष्यं । १२. कटुम्बर अंजीरापरनाम ।

‘मद्यादिस्वादिगेषु पानमग्नं च नाचरेत् । तच्चमद्यादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ २८ ॥

कुर्वन्नप्रतिभिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु । प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥ २९ ॥

द्वीतिप्रत्येषु^६ पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु^७ । वतस्थो वर्जयेन्नित्यं योचितश्चात्रतोचिताः^८ ॥ ३० ॥

जीवयोगाविशेषेण^९ मधमेवाविकायवत् । मुद्गा*माषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे^{१०} जगुः ॥ ३१ ॥

तद्व्युक्तं । तदाह—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा^{१०} मांसम् । यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवन्न वा निम्बः ॥ ३२ ॥

मद्यादिक का सेवन करने वालों से बचने का उपदेश—

मद्य, मांस व मधु को भक्षण करने वालों के गृहों में कभी खान-पान नहीं करना चाहिए तथा उनके बर्तनों आदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए ॥ २८ ॥ अतः न पालने वाले पुरुषों के साथ भोजनादि में संसर्ग रखने वाले मानव की इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में भी उसे प्रशस्त फल नहीं मिलता अर्थात्—कटुफल भोगना पड़ता है ॥ २९ ॥ अती पुरुष को चमड़े की मयूक का पानी, चमड़े के कुप्यों में रक्खा हुआ घी व तैल का उपयोग सदा छोड़ते हुए रजःस्वला स्त्रियों का संसर्ग (छूना) नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥

कुछ लोगों ने कहा है कि मूंग व उड़द-आदि एकेन्द्रिय जीवों का शरीर भी मांस है, क्योंकि वह जीव का शरीर है, जैसे ऊँट व मेढा-आदि का शरीर । अर्थात्—जैसे ऊँट व मेढा-आदि त्रस जीवों का शरीर जीव-शरीर होने से मांस है वैसे ही मूंग व उड़द-आदि धान्यों का शरीर भी जीव-शरीर होने से मांस है, क्योंकि जहाँ-जहाँ जीव-शरीर है वहाँ-वहाँ मांस है, जैसे ऊँट वगैरह, ऐसी व्याप्ति है । क्योंकि जीव का शरीरपन सर्वत्र समानरूप से पाया जाता है ॥ ३१ ॥ उक्त मान्यता योग्य नहीं है; क्योंकि मांस, जीव का शरीर है यह कहना उचित है, किन्तु जो जीव का शरीर है, वह मांस होता भी है और नहीं भी होता । जैसे नीम, वृक्ष होता है, किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता । अर्थात्—यदि किसी जीव का शरीर मांस होता है, तो क्या समस्त जीवों के शरीर मांस ही होते हैं ? यह नियम नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय-पर्यन्त जीवों में विशेषता है । यदि नीम वृक्ष होता है, तो क्या दूसरे वृक्ष भी नीम हो सकते हैं ?

भावार्थ—जहाँ-जहाँ मांस होता है, वहाँ-वहाँ जीव-शरीर अवश्य होता है, परन्तु जहाँ जीव-शरीर होता है, वहाँ मांस होने का नियम नहीं है । क्योंकि मांसपन व्याप्य है और जीव शरीरपन व्यापक है, इसलिये जहाँ-जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ-वहाँ व्यापक अवश्य होता है । परन्तु जहाँ व्यापक है वहाँ व्याप्य के होने का नियम नहीं है । जिस प्रकार जहाँ-जहाँ नीमपन होता है, वहाँ वृक्षपन अवश्य होता है, परन्तु जहाँ वृक्षपन है वहाँ नीमपन के होने का नियम नहीं है । अतः मूंग, उड़द-आदि को एकेन्द्रिय जीव के शरीर होने से मांस मानना युक्तिसंगत नहीं है ॥ ३२ ॥

१. मद्यमांसमधुमक्षकाणां । २. भोजनादिस्पर्श । ३. निन्दा । ४. चर्मभाण्डेषु । ५. धृततलाधारचर्मभाजनेषु ।

६. रजःस्वलाः, काये संसर्ग ।

७. प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि भोज्यं मांसं न धार्मिकः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाभिवका ॥१॥ सागारधर्मा ।

८. उष्ट्रः । * . एकेन्द्रियशरीरमपि मांसं । ९. मिथ्यादृष्टयः । १०. यदि कस्यचित् शरीरं मांसं संजातं तर्हि सर्वेषां जीवानां शरीरं किं मांसमेव भवति ? तत्र, एकेन्द्रियादि पञ्चेन्द्रिय-पर्यन्तं विशेषोऽस्ति, चेत् कश्चित्निम्बवृक्षः संजातस्तर्हि अन्येऽपि वृक्षाः किं निम्बा एव ? अपि तु न ।

किं च— ^१द्विजाण्डमनिहन्तूणां यथा पापं विशिष्यते । ^२जीवयोगाविशेषेऽपि तथा *फलपलाशिनान् ^३ ॥ ३३ ॥

स्त्रीत्वपेयस्वसामान्याद् ^४रदारिवदीहताम् । एष बादी चवन्नेवं मद्यमातृसमागमे ॥ ३४ ॥

शुद्धं दुग्धं न गोभीसं वस्तुर्विषममोक्षम् । विषघ्नं रत्नमाहेयं ^५ विषं च विषधे यतः ॥ ३५ ॥

अथवा । हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे । ^६विषघ्नोरायुषे ^७ पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥ ३६ ॥

अपि च ^८शरीरावयवस्थेऽपि मांसे दोषो न सपिबि । जिह्वावन्न हि बोधाय ^९पादे मद्यं द्विजातिषु ॥ ३७ ॥

^{१०}विविधचेत्केवलं शुद्धं द्विजैः ^{११}सर्वं निषेध्यताम् । शुद्धं ^{१२}चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥ ३८ ॥

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनों में जीव-शरीर होने से संग्रहण की अपेक्षा अभेद है तथापि पक्षी के घात की अपेक्षा ब्राह्मण के घात करने में अधिक पाप है वैसे ही फल और मांस दोनों जीव के शरीर हैं किन्तु फल खानेवाले को स्तोक (थोड़ा) पाप लगता है, क्योंकि मध्य फलों में एकेन्द्रिय जीव ही होते हैं, और मांस-भक्षण में महापाप-ग्रन्थ है, क्योंकि मांस में दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव-राशि सदैव रहती है ॥ ३३ ॥ जो बादी यह कहता है कि मूँग-जईरह धान्य और मांस दोनों ही जीव के शरीर होने से एक सरीखे भक्षणीय हैं, उसके यही पत्नी और माता दोनों में स्त्रीपन समान होने से एक सरीखी हैं और सुरा व जल दोनों में पीने लायकपन होने से एक सरीखे हैं, अतः उसे माता की स्त्री की तरह और सुरा को जल की तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए ।

भाषार्थ—जब बादी मद्य व जल में पीनेलायकपन समान होने पर भी जल पीता है और मद्य का त्याग करता है और पत्नी व माता में स्त्रीपन समान होनेपर भी पत्नी का उपभोग करता है और माता को नमस्कार करता है, उसी तरह उसे जीव का शरीरपन समान होने पर भी मूँग-आदि धान्य भक्षण करनी चाहिए और सदाके लिए मांस का त्याग सुरा की तरह करना चाहिए ॥ ३४ ॥

गाय का दूध शुद्ध है परन्तु गो-मांस शुद्ध नहीं है । वस्तु के स्वभाव की विचित्रता ही ऐसी है । उदाहरण के रूप में—साँप की फणा का नागदमनमणि तो विष को नष्ट करनेवाला है और उसका जहर तत्काल मार देता है ॥ ३५ ॥ अथवा—यद्यपि मांस और दूध के उत्पादक कारण (घास-आदि) एक-सरीखे हैं, तथापि मांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने-योग्य है । उदाहरण के रूप में—जैसे विषवृक्ष का पत्ता और उसकी जड़ इन दोनों के उत्पादक कारण एक-सरे हैं तथापि विषवृक्ष का पत्ता आयु-रक्षक है और उसकी जड़ (विष) मृत्यु को कारण होती है ॥ ३६ ॥ यद्यपि मांस और घी इन दोनों का निमित्त कारण शरीर ही है, अर्थात्—गाय के शरीर से ही मांस व घी उत्पन्न होते हैं, तथापि मांस-भक्षण में पाप है न कि घी खाने में । जिस प्रकार ब्राह्मणादि को जिह्वा से शराव के स्पर्श करने में पाप है, परन्तु पैर में शराव के लगाने में पाप नहीं होता ॥ ३७ ॥ यदि विधि (संग्रहण—कुश व मन्त्रों के जल द्वारा वस्तु को शुद्ध करना) से ही वस्तु शुद्ध हो जाती है तो ब्राह्मणों के लिए सभी योग्य-अयोग्य वस्तु का सेवन कर लेना चाहिए, अर्थात्—फिर तो उन्हें 'अन्न भक्षणीय है और मांस त्याज्य है' ऐसा आग्रह नहीं करना चाहिए । अथवा उक्त दोष के निवारण के लिए आप कहेंगे कि समस्त वस्तु शुद्ध ही होती है, तो चाण्डाल के गृह पर भी भोजन कर लेना चाहिए, क्योंकि आपके कहने से चाण्डाल का गृह भी शुद्ध है ॥ ३८ ॥

१. विप्रपत्ति । २. संग्रहणयोग्याभेदेऽपि । * 'पापं पलाशिनान्' क० च० घ० । ३. पापं विशिष्यते । ४. मातरं दारानिव मद्यं वारीव ईहतां । ५. अहेः सर्पस्थेदं रत्नं नागदमनमणि । ६. विषवृक्षस्य पत्रं । ७. आयः निमित्तं । ८. द्वयोर्मांससपिबिर्निमित्तं शरीरमेव । ९. पादे लग्नं । १०. संग्रहणयज्ञादिश्चेत् शुद्धं भवति । ११. योग्यमयोग्यं च । १२. अथवा विविदिष्यन्तु वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते ।

तद्द्रव्यवातृपात्राणां विशुद्धी विधिमुद्धता । यत्संस्कारशतेनापि नाजातिद्विजतां व्रजेत् ॥ ३९ ॥

तच्छ्राव्यसांख्यचार्याकवेदध्वज^१ कपविनाम् । मतं विहाय^२ हातव्यं मांसं श्रेयोऽपिभिः सदा ॥ ४० ॥

यस्तु लील्येन मांसाशो^३ धर्मधीः स द्विपातकः । परवारक्षिमाकारी भात्रा सत्रं यथा मरः ॥ ४१ ॥

अथ ताम्र मांसापानाभिषयानमात्रस्यापि^४ पातकस्य फलम्—श्रीमत्पुण्यदन्तभयान्ताजतारावतीर्णनिदिपतिसंपावितो-
“शावेन्विरासद्यां काकन्दो^५ पुरि श्रावकान्वयसंभूतिः सौरसेनो नाम नृपतिः कुलधर्मानुरोधः बुद्ध्या गृहोत्पिहिततप्तः
“पुनर्वैवर्ध्याद्वैतमतमोहितमतिः संजात^६ जाकुलजिघत्सानुमतिरङ्गीकृतवस्तु^७ निवर्हणाज्जनापवादाज्जुगुप्समानो मनोविधास्ति-
हेतुना कर्मप्रियनामकेतुना बल्लवेन^८ रहसि^९ मिलस्थलजलान्तरालचरतरसमा^{१०} नाययन्नप्यनेकराजकार्यपर्याकुलमानसतया
मांसभक्षणक्षण^{११} नाकाप ।

कर्मप्रियोऽपि तथा पृथिवीश्वर निदेशमनुदिनमनुतिष्ठन्नेकदा^{१२} पृथाकुपाकोपद्रुतः प्रेत्य^{१३} स्वयंभूरमणाभिषात-

जैसे सैकड़ों संस्कारों से सुसंस्कृत हुआ शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता [वैसे ही सैकड़ों विधियों (प्रोक्षण व यज्ञमन्त्रादि विधियों) से शुद्ध किया हुआ मांस भी शुद्ध नहीं हो सकता] क्योंकि द्रव्य, दाता और पात्र इन तीनों के शुद्ध हो जाने पर शुद्ध विधि घटित होती है ॥ ३९ ॥ आत्मकल्याण के इच्छुक मानवों को बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक, वैद्य और शैवों की युक्ति-शून्य मान्यता पर ध्यान न देकर सदा के लिए मांस का त्याग कर देना चाहिए ॥ ४० ॥ जैसे जो परस्त्री-लम्पट मनुष्य माता के साथ रतिविलास करता है, वह दो पाप (कुशील व अन्धाय) करता है वैसे ही जो मनुष्य धर्म-बुद्धि से लालसा पूर्वक मांस-भक्षण करता है वह भी दो पाप करता है (मांस-भक्षण का पाप और मांस-भक्षण को धर्म समझना रूप मिथ्यात्व) ॥ ४१ ॥

मांस-भक्षण का संकल्प (चिन्तन) करनेवाले राजा सौरसेन की कथा—

[अब मांस-भक्षण के चिन्तनमात्र से होनेवाले पाप के विषय में एक कथा है, उसे सुनिए—]

ऐसी काकन्दो नामकी नगरों में, जो कि श्रीपुण्यदन्त भगवान् के जन्मोत्सव के लिए आये हुए इन्द्र द्वारा की जानेवाली उत्सव लक्ष्मी की स्थान थी, श्रावक कुलोत्पन्न ‘सौरसेन’ नाम का राजा राज्य करता था । उसने अपने कुलधर्म के अनुसरण की बुद्धि से मांस-भक्षण का त्याग स्वीकार किया था । परन्तु बाद में जब वेद-वचन, वेद्य-वचन व शैव दर्शन से उमकी बुद्धि विपरीत हो गई तब उसे मांस-भक्षण की इच्छा को अनुसरण करने वाली बुद्धि उत्पन्न हुई । इसलिए वह स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा के निर्वाह करने में असमर्थ हो गया । परन्तु वह लोकापवाद से डरता था । यद्यपि वह अपने मन को आराम देने वाले ‘कर्मप्रिय’ नामरूपी ध्वजा वाले रसोई से एकान्त में अनेक विलों में रहने वाले जलुओं, जलचर, थलचर एवं भूमिचर जीवों का मांस संग्रहाता था, परन्तु उसका मन अनेक राजकार्यों में व्याकुलित रहता था, इसलिए उसे मांस-भक्षण का अवसर नहीं मिलता था ।

‘कर्मप्रिय’ रसोईया भी राजा की आज्ञा के अनुसार प्रतिदिन मांस पकाता था । एक दिन उसने साँप के बच्चे का मांस पकाया और उसी के जहर से पीड़ित हुआ और मरकर वह ‘स्वयंभूरमण’ नाम के चिह्न वाले समुद्र में अनेक मछलियों का निगलने वाला, विशालकाय व शक्तिशाली महामच्छ हुआ ।

१. भिषज । २. त्याज्यं । ३. भक्षकः धर्मनिमित्तं तस्य पातकद्वयं भवति । ४. चिन्तनमात्र । ५. उत्सवलक्ष्मीस्थानं । ६. वेदवचनवेद्यवचनशैववचनः । ७. मांसं । ८. निवर्हणमतीति निवर्हणान् । ९. बल्लवः स्यात् सूपकारे गोदोगविर वृकोदरे । १०. एकान्ते । ११. सूपकारेण कृत्वा आनयनं कारयन् । १२. अवसरं । १३. सर्पकिशुता । १४. मृत्वा ।

मुदे^१ समुद्रे महादेहबलरितमिङ्गिलगिलो बभूव^२ । नृपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाधित्यं विदित्वाशमाशयानु-
बन्धात्तत्रैव^३ स्थितौ तस्यैव महामोहस्य कर्णविले तन्मलागतशीलः^४ शालिसिक्थकलकलेवरः^५ नफरोऽभूत् ।
तदन्वये^६ पर्याप्तोभयकरणस्तस्य ध्वनं व्यादाय^७ निद्रायतो गलगुहावगात्रे^८ 'धेलानदीप्रवाह इवानेकं जलचरानीकं
प्रचिश्य तथैव निष्क्रामन्निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्याणां चाशनीरधर्मा अन्वये^९ क्षयो यद्वच्चसंपातरतयेतास्यपि न शक्नोति
अशितुं यावन्ति । सम पुनर्यदि ह्रवयेप्सितप्रभावाद्देवादेतावन्मात्रं गात्रं स्यात्तत्रा समस्तमपि समुद्रं 'विद्रुतसकलसंस्व-
संचारमुद्रं विदधाति' ^{१०}इत्यभिध्यानादल्पकायकलः^{११} शकुलो^{१२} निखिलनक्रवक्रधाराश्च^{१३} महावेहावीनो सैनः
कालेन^{१४} 'विपज्योत्पद्य चोत्तमतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुनिलये निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषो तावन्निमिषवरी^{१५}
नारकपर्यायधरो किलंबमालापं सक्तुः--'अहो मृदुमत्स्य, तत्रा निम्निकर्मणो दुष्कर्माणो भमावार्गातकचित्तं । तव तु
पत्कर्णविले मलोपजीवनस्य कथमप्रागमनमभूत् । 'महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदुःखसंबन्धनिबन्धनावशुभध्यानात् ।'
भवति चात्र श्लोकः—

कुछ काल के बाद सौरसेन राजा भी मरकर मांस-भक्षण के अभिप्राय के निरन्तर संस्कार से उसी
समुद्र में उसी महामत्स्य के कर्णरूप विल में कानों के मेल का भक्षण करने वाला और शालि चाँवल के प्रमाण
शरीर वाला भच्छ हुआ । पश्चात् तन्दुलमच्छ स्पर्शन-आदि इन्द्रिय व मन की पर्याप्ति को पूर्ण करने वाला
हुआ । महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसकी समुद्र-नदी के संगम के प्रवाह-सरीसृपी विस्तृत
गहरी गलेरूपी गुफा में अनेक जलचर जीवों की सेना घुसकर जीवित निकल आती थी । उसे देखकर तन्दुल
मत्स्य सोचता था 'यह मत्स्य बड़ा पापी और भाग्य-हीनो में अग्रेसर है, जो अपने मुँह में स्वयं ही आने वाले
मत्स्य-आदि जल जन्तुओं को भी नहीं खा सकता ।

यदि हादिक इच्छा के प्रभाव वाले शुभ देव से मेरा इतना विशालकाय शरीर होता तो मैं इस समस्त
समुद्र को भी समस्त जल-जन्तुओं के संचार-चिह्न से शून्य कर डालता ।'

उक्त निन्द्य दुर्ध्यान के कारण अल्पकाय के लेशवाला तन्दुलमत्स्य और समस्त मकर-समूह के भक्षण
से महाकाय महामत्स्य एक गव्यूति (दो कोस) का शरीर और एक पल्य की आयु पूर्ण करके मरकर सातवें
तरक में तैतीस सागर की उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए । वहाँ उन दोनों के उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञान, भवप्रत्यय
नामक अवधिज्ञान के अधीन थे, अर्थात्—उन्हें भवप्रत्यय अवधिज्ञान था ।

ये दोनों भूतपूर्व मत्स्य नारकी पर्यायधारी परस्पर में चर्चालाप करते थे—'क्षुद्रमत्स्य ! अनेक जल-
जन्तुओं के संहार-संबन्धी पाप कर्म करने वाले मुझ पापी का यहाँ आना उचित ही था, परन्तु मेरे कर्णों के विलों
में मल भक्षण करनेवाले तुम्हारा यहाँ आना कैसे हुआ ?'

तन्दुल मत्स्य—'महामत्स्य ! मेरा यहाँ आना ऐसे अशुभ ध्यान (अर्त-रीद्रध्यान) से हुआ है, जो कि
विकृत मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ है और जो भयानक दुःख-संबन्ध का कारण है ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

१. निन्दे । २. नृपालोऽभूत् । ३. संतत्या प्रवर्तनात् । ४. भक्षण । ५. शालिसिक्थमात्र । ६. अन्तःकरण (मन)
यहिःकरण (इन्द्रिय) आहितशरीरः द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियपरिपूर्णपर्याप्तिमहितः संजातः । जीवास्त्रिप्रकाराः—
पर्याप्ताः अपर्याप्ताः लब्धपर्याप्ताः । ७. प्रसार्य । ८. समुद्रनदीसंगमवत् विस्तारे । ९. 'निष्क्रामन्तं निरीक्ष्य'
इति ग० । १०. रहित । ११. चिन्तनात् । १२. भागः लेशः । १३. मत्स्यः । १४. भक्षणात् । १५. एकगव्यूति-
कायः एकपल्यायुः । १६. मृत्वा । १७. भूतपूर्वमत्स्यौ ।

सूत्रसत्त्वः किलंकस्तु स्वयंभूरमणोदधी । महामत्स्यस्य कर्णस्थः ^१स्मृतिदोषावधो गतः ॥ ४२ ॥

इत्युपासकाध्ययने मांसानिलाणमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ।

श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपायमानम्—^२अवन्तिमण्डलनलिनाभिनिवाससरस्यामेकानस्यां^३ पुरि पुर-
वाहिरिकायां देविलासहिलाविलासविशिष्य^४वृत्तिकोषणस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्येकस्यां विशि निर्वेणितपिशितोपदंशस्या^५
परस्यां विशि विधत्तसुरासंभृतकलशस्य तो एतोपदंशोपासं सुरा पात्रं २५ तदुभयान्तराले चर्मनिर्माणतन्त्रां^६ “वरत्रा वर्तयतो
विषद्विहारोद्धृष्टीमाण्डजडिभ्रमण्डलखण्डनविनिर्घ्यान्वि^७विषधरविषदोषावसरा सुरासीत् । अग्रंवाससरे तत्समीपवत्संगोचरे^८
धर्मश्रवणजन्मान्तराविप्रकाशनपथाभिः कथाभिर्विनेयजनोपकाराय कृतकामचारप्रचारमन्त्रराश्रुतिमत्स्वर्गापवर्गमार्गयमल-
मिवावतरचचारणपियुगलमवलोक्य संजातकुतूहलसं देशमनुगम्य नगरे^९ तद्दृशनेन भावकलोकं व्रतानि समाब्रवानमनुस्मृत्य
समाधरितप्रणामः सुमन्दनाग्रेसरगमनमभिनन्दनं भगवन्तमात्मोचितं व्रतममाधत् । भगवानपि—

निस्सन्देह 'स्वयंभूरमण' समुद्र में महामत्स्य के कर्ण में स्थित हुआ तन्दुलमत्स्य अशुभ चिन्तन के
दोष से (बुरे संकल्प से) नरक में गया ॥ ४२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मांस की इच्छामात्र करने का फल बतलानेवाला चौबीसवाँ कल्प
समाप्त हुआ ।

अब मांस-त्याग के फल के विषय में एक कथा कहते हैं, उसे सुनिए—

१२. मांसत्यागी चाण्डाल की कथा—

अवन्तिदेश में उत्पन्न हुए मानवरूपी कमलों के निवास के लिए तड़ाग-सरोखी उज्जयिनी नगरी में
नगर के बाहर निवास करने वाला और देविला नाम की पत्नी के साथ रतिविलासरूप वाणवृत्ति के लिए
धनुष-जैसा 'चण्ड' नाम का चाण्डाल रहता था । जिसने बीच-बीच में खाने के लिए अपने गृह की एक दिशा में
मांस रूप शाक स्थापित की थी । और मध्य में पीने के लिए दूसरी दिशा में सुग से भरा हुआ घट स्थापित
किया था । एवं जो उन दोनों दिशाओं के मध्य में बैठकर मांस रूप शाक से प्रचुर सुरापान करता जाता था
और बीच-बीच में चमड़े की रचना के संप्रदायवाली चर्मयष्टि बटता जाता था । उस समय उसकी शराब ऐसे
जहरीले सर्प के विष से विषली हो गई, जो कि आकाश में बिहार करने से उड़ते हुए पक्षि-शावक की चोंच से
खण्ड-खण्ड किये जाने से म्वाव-महित था ।

उसने इसी अवसर पर ऐसा चारण ऋद्धि-धारक ऋषि-युगल देखा, जो कि उसके गृह के निकटवर्ती
मार्ग में आकाश से उतरता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था । जिसने धर्मोपदेश और पूर्वभद्रों को प्रकाश करने
वाली विस्तृत धर्मकथाओं द्वारा शिष्य जनों के उपकार के लिए इच्छानुसार बिहार किया था एवं जो आकाश
से अवतरण करता हुआ ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मूर्तिमान स्वर्ग व मोक्षमार्ग का जोड़ा हो है—इसे
देखकर चाण्डाल का कौतूहल हुआ । यह भी उनके समीप गया और नगर के बीच मुनि-दर्शन से व्रत ग्रहण
कर रहे श्रावक-समूह को देखकर इसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनि के आगे गमन करने वाले ज्येष्ठ
भगवान् अभिनन्दन मुनि से इसने अपने योग्य व्रत ग्रहण करने की याचना की ।

१. चिन्तनवोपात् । २. देशोत्पत्ता जना एव नल्लिनानि कमलानि तेषां वसने घरः । ३. उज्जयिन्यां । ४. वाण ।

५. मध्ये मध्ये भक्षणं शाकं । ६. दिशाः । ७. संप्रदायां । ८. चर्मयष्टि । ९. आवसहितसर्प । १०. विषये ।

११. नगरमध्ये मुनिदर्शनात् ।

उपकाराय सर्वस्य पर्यग्य^१ इव धार्मिकः । तत्स्थानास्थानञ्जिन्नेमं धृष्टिद्वयं हिलोक्तिषु^२ ॥ ४३ ॥

इत्थवगम्य सम्यगवबिबोषोपयोगाद्^३ भगतेतवासन्न* परासुतायोगस्तन्मातङ्गमेवमबोचत्—‘ग्रहो मातङ्ग, तदुभयो^४ न्तराल-
सज्जां रज्जूं^५ मृजतस्तन्मध्ये तत्र^६ तद्विवृत्तिव्रतम्^७ इति । मातङ्गस्तथा प्रतिपद्योपसद्य^८ च तन्मन्त्रकारं पिशितं^९
प्राश्य^{१०} ‘मासदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मेऽस्य निवृत्तिः’ इत्यभिधाय समासावितमदिरास्थानः प्रतिपद्यमानस्त*तुप्रतर-
गरभरात्लघू^{११} ‘लघ्वितममतिप्रसरस्त’^{१२} निवृत्तिमलभमानचितोर्जपि श्रेय^{१३} तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन यज्ञकुले यज्ञमुख्यत्वं
प्रतिपेदे । भवति चात्र श्लोकः—

चण्डोऽवशितेषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तिः । अत्यल्पकालभाविन्याः^{१४} प्रपेदे यज्ञमुख्यताम् ॥ ४४ ॥

इदमुपासकाध्ययने मांसनिवृत्तिफलस्थानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः ।

धार्मिक महापुरुष समस्त लोक का उपकार करने के लिए मेघ-सरीखे होते हैं । अर्थात्—जैसे मेघ
सब का उपकार करने के लिए हैं वैसे ही धार्मिक महापुरुष सब का उपकार करने के लिये हैं और जैसे स्थान
और अस्थान का विचार किये बिना मेघ सर्वत्र वरसता है, वैसे ही धार्मिक पुरुष कल्याणकारक धर्मोपदेश में
स्थान और अस्थान का विचार नहीं करते । अर्थात्—उन्हें यह उत्तम है और यह नीच है, इस प्रकार की चिन्ता
(विचार) नहीं होती । अभिप्राय यह है, कि वे समस्त सर्व साधारण प्राणियों के प्राप्त धर्म का निरूपण करते
हैं ॥ ४३ ॥

ऐसा निश्चय करके भगवान् ‘अभिनन्दन’ मुनि ने अवधिज्ञान के उपयोग से इस चाण्डाल की निकट
मृत्यु जान ली । अतः उन्होंने उससे कहा—‘अहो चाण्डाल ! मांस व सुरा से भरे हुए घड़ों के मध्यदेश में बँधी
हुई जर्म-रज्जू को बाँटनेवाले तुम्हारे लिए जिस वस्तु (मांस-आदि) के पास जाकर उसे एक बार भक्षण करली,
उसको समीपता छोड़कर दूसरी बार जब तक नहीं पहुँचते हो, अर्थात्—जब तक रस्सी बट रहे हो, उसने समय
तक तुम्हें उसका त्याग है ।’

चाण्डाल उक्त नियम लेकर उस स्थान पर पहुँचा । उसने मांस भक्षण करके नियम किया ‘कि जब
तक मैं इस स्थान पर न आऊँ तब तक के लिए मुझे इसका त्याग है ।’ इसके बाद वह सुरा से भरे हुए घड़े के
पास पहुँचा और उसने सुरा पी ली । पीते ही जहरीले साँप के तीव्रतर जहर के प्रभाव से उसकी बुद्धि का प्रसार
शीघ्र नष्ट हो गया । यद्यपि वह सुरा का त्याग न कर सका तथापि मरकर केवल उतने मात्र व्रत के माहात्म्य
से वह यज्ञ जाति के देव-समूह में प्रधान यज्ञ हुआ ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

अवन्ति देश में ‘चण्ड’ नाम का चाण्डाल बहुत थोड़े समय में होनेवाली मांस की निवृत्ति (त्याग)
से मरकर यज्ञ देवों में प्रधान हुआ ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मांस-त्याग का फल निरूपण करनेवाला पञ्चोसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

१. मेघः । २. एष उत्तमः एष नीचः धर्मकथने इति चिन्ता न, सर्वेषां धर्मो वाच्यः । ३. ज्ञात । ४. मरणं ।

५. मांसमद्यमध्यवह्या । ६. कुर्वतः । ७. यस्मिन् पार्श्वे यत्पुक्तं तत्समीपं त्यक्त्वा त्रितीयवारं यावद्वायाति

तावत्कालपर्यन्तं तद्व्रतं । ८. गत्वा । ९. स्थानं । १०. भुक्त्वा । ११. ‘तदुप्रतरगरात्लघू’ इति व० । १२. शीघ्रं ।

१३. मयनियमं । १४. मृत्वा । १५. सेवन-शीलायाः ।

अथ के ते उत्तरगुणाः—

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥ ४५ ॥

तत्र—

हिंसास्तेयानृताश्रद्धपरिग्रहविनिग्रहाः । एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥ ४६ ॥

संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते । 'प्रवृत्तिविनिवृत्ती' वा सवस्तुकर्मसंभवो ॥ ४७ ॥

हिंसायामनृते चौर्यामन्नह्राणि परिग्रहे । वृष्टा चिपत्तिरश्रव परश्रव च दुर्गतिः ॥ ४८ ॥

यस्त्यागप्रभावयोगेन प्राणिषु प्राणहानम्^१ । सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु क्षता मता ॥ ४९ ॥

विकयाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च । अभ्यासाभिरसो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥ ५० ॥

देवतातिथिपित्रर्थ मन्त्रोद्यमभवाय^२ वा । न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वमहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥ ५१ ॥

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टव्रतानि कारयेत् । व्रतव्रथाणि सर्वाणि पटव्रतानि योजयेत् ॥ ५२ ॥

आसनं शयनं मार्गमक्षमन्यच्च वस्तु यत् । अवृष्टं तस्य सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ ५३ ॥

श्रावकों के उत्तर गुण—

[अथ श्रावकों के उत्तरगुण वतलाते हैं—]

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥ ४५ ॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के एकदेश त्याग करने को पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ४६ ॥

व्रत का लक्षण—

सेवनीय वस्तु का संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा प्रशस्त कार्यों (दान, पूजा व व्रतादि) में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त (निन्द्य) कार्यों (मिथ्यात्व-आदि) के त्याग करने को व्रत कहते हैं ॥ ४७ ॥

पाँच पापों का कटुक फल—

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करने से इस लोक में भयानक दुःख और परलोक में दुर्गति के दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ४८ ॥

अहिंसा का लक्षण—प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करने को सज्जनों ने हिंसा मानी है और उनको रक्षा करना अहिंसा मानी है ॥ ४९ ॥

प्रमत्त का लक्षण—जो जीव, चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय एक निद्रा और एक मोह, इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादों के अभ्यास में अनुराग करने वाले प्राणियों को प्रमत्त कहा गया है ॥ ५० ॥

जो मानव देवताओं की पूजा के लिए, अतिथिसत्कार के लिए, पितरों के लिए, मन्त्रों की सिद्धि के लिए, औषधि के लिए अथवा भय-निमित्त सब प्राणियों की हिंसा नहीं करता, उसका वह अहिंसा व्रत है ॥ ५१ ॥

पानी वगैरह को छानकर उपयोग करना—

सभी गृहकार्य देखभाल कर कराने चाहिए और समस्त तरल पदार्थ (घी, दूध, तेल व जलादि) वस्त्र से छानकर उपयोग में लाने चाहिए ॥ ५२ ॥ आसन, शय्या, मार्ग, अन्न, और जो कुछ भी दूसरे पदार्थ हैं उन्हें यथासमय सेवन करता हुआ भी बिना देखे शोधे सेवन न करे ॥ ५३ ॥

१. दानपूजाव्रतादी । २. मिथ्यात्वाविरत्यादी । ३. त्याग । ४. भयनिमित्तं च ।

‘दर्शनस्पर्श’संकल्प’संसर्ग’त्यस्तभोजिताः’ । हिंसताकन्दनप्रायाः ‘प्राणप्रवृत्तकारकाः ॥ ५४ ॥
अतिप्रसङ्गहानाय’ तपसः परिबृद्धये । अन्तरायाः स्मृता सङ्घर्षतबीजविनिर्जिताः’ ॥ ५५ ॥
अहिंसाव्रतक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । निपायां वज्रपेङ्गुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥ ५६ ॥
आचितेषु’ च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः । गृहाणमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥ ५७ ॥
संधामं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं वनम् । जीवयोनि न संग्राह्यं यच्च जीवैरुपभुतम् ॥ ५८ ॥
अमिथ’ १’ १’ मिथमुत्सर्गि’ १’ १’ कालदेशवशाध्यम् । वस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपोहास्ति जिनागमे’ १’ १’ ॥ ५९ ॥
यवन्तःशुधिरप्रायं हेयं नालीमलादि तत् । अनन्तकायिकप्रायं’ १’ १’ अल्लोकन्दाविक’ १’ १’ त्यजेत् ॥ ६० ॥
द्विचलं’ १’ १’ द्विचलं’ १’ १’ प्राश्यं २’ २’ प्रायेणानवर्ता गतम् । शिष्यः’ २’ २’ सकलास्त्याज्याः साधिताः’ २’ २’ असकलाश्च याः ॥ ६१ ॥

भोजन के अन्तराय—गीला चमड़ा, हड्डी, मांस, रक्त, पीप-आदि का देखना, रजः स्वला स्त्री, शुष्क घमं, हड्डी, कुत्ता, बिल्ली व चाण्दाल-आदि का छू जाना, भोज्य पदार्थ में ‘यह मांस की तरह है’ इस प्रकार का बुरा संकल्प हो जाना, भोज्य पदार्थ में भक्ती वगैरह का गिरकर मर जाना, त्याग को हुई वस्तु को भक्षण कर लेना, मारने, काटने, रोंने, चिल्लाने-आदि की आवाज सुनना, ये सब भोजन के अन्तराय (विघ्न पैदा करनेवाले) हैं । अर्थात्—उक्त अवस्थाओं में घामिक पुरुष को भोजन छोड़ देना चाहिए ॥ ५४ ॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीज की रक्षा करने के लिए बाड़-सरीखे हैं, इनके पालने से अतिप्रसङ्ग दोष की निवृत्ति होती है, और तपकी वृद्धि होती है, ऐसा आचार्यों ने माना है ॥ ५५ ॥ अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए व मूलगुणों की विशुद्धि करने के लिए इस लोक व परलोक में दुःख देनेवाले रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५६ ॥ गृहस्थ को चाहिए, कि जो अपने अधीन (गो, दासी व दास-आदि) हों, पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे और शारीरिक अवसर (भोजनादि) में स्वयं यत्न करना चाहिए ॥ ५७ ॥ असजीवों की राशिरूप अचार, पानक, धान्य, पुष्प, मूल, फल, पत्ता, जो कि जीवों की योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं, ग्रहण नहीं करना चाहिए (भक्षण नहीं करना चाहिए) तथा कीड़ों से खाई हुई धुनी वस्तु को भी उपयोग में नहीं लानी चाहिए ॥ ५८ ॥ आचार शास्त्र में कोई वस्तु (जीव-योनि होने से) अकेली त्याज्य कही है, कोई वस्तु किसी के साथ संयुक्त (मिल जाने) से त्याज्य हो जाती है । कोई पदार्थ निरपवाद होने से त्याज्य होता है, अर्थात्—कोई वस्तु सर्वदा त्याज्य होती है । कोई वस्तु अमुक देश (स्थान) के आश्रय हो जाने से त्याज्य हो जाती है । कोई अमुक काल (चन्द्रग्रहण व वर्षाकाल-आदि) का आश्रय पाने से त्याज्य होती है एवं कोई पदार्थ अमुक दशा (अवस्था) का आश्रय हो जाने से त्याज्य होता है । परन्तु ये बातें पिण्ड वृद्धि-आदि शास्त्रों से विस्तार पूर्वक जानने के लिए शक्य हैं ॥ ५९ ॥

अहिंसा की रक्षार्थ दूसरे आवश्यक कर्तव्य—जिसके मध्य वहुत से छिद्र हों, ऐसी कमल-झंडी-आदि शाकें नहीं खानी चाहिए, क्योंकि उनमें आगन्तुक असजीव होते हैं और जो अनंतकारा हैं, जैसे—लताएँ,

१. मांसवधिरादीनां । २. श्व-रजःस्वलादीनाम् । ३. इदं मांसमिदं रविरं इत्याद्याः । ४. मृतजीवजन्तवादिभिरशुद्धता ।
५. प्रत्याख्याताजसेवनात् या परिहृताभ्यवहरणं । ६. भोजनविघ्नाः या भोजनान्तरायाः । ७. त्यागाय । ८. व्रतबीज-वृत्तयः । ९. गोदासीवामादिषु । १०. केवलं । ११. संयुक्तं । १२. निरपवादं । १३. देशाश्रयं कालाश्रयं अवस्थाश्रयं च, एतच्च देशांतरं पिण्डशुद्ध्यादिशास्त्रेभ्यो विस्तारेण प्रतिपत्तव्यं । १४. किञ्चित् त्याज्यमपि वस्तु वर्तते । १५. अल्लण्डाः । १६. गुहूष्यादि । १७. सूरणादि । १८. द्विचलं । १९. ‘माषमुद्गादि’ टि० ख०, ‘माषमुद्गजनकादिषाम्य’ पं० । २०. जीर्णतां प्राप्तं द्विचलं, नदीनं कदाचिच्चणकादिकं अक्षण्डमपि प्राश्यं । २१. फलयः । २२. अक्षण्डताः । २३. ‘रद्धाः’ पं०, ‘रद्धा अपि’ टि० ख०, ‘रद्धाः’ टि० ख० । * ‘सकलास्त्याजाः’ इति क० ।

तथाहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः । बन्धके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥ ६२ ॥
 शोकसंतापसंकन्द 'परिदेवतदुःखधोः' । भवस्वपर्योर्जन्तुरसद्वेद्याय प्रापते ॥ ६३ ॥
 कषायोदयतीक्ष्णात्सा भावो यस्योपजायते । जीवो जायेत चारित्र्यमोहस्यासौ समाश्रयः ॥ ६४ ॥
 मैत्रीप्रमोदकाव्यमाप्यस्थानि यमाक्रमम् । सत्त्वं गुणाधिके विलप्ते निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥ ६५ ॥
 कापेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र वेहिनि । अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविवां मता ॥ ६६ ॥
 तयोगुणाधिके पुंसि प्रभवाभयनिर्भरः । जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥ ६७ ॥
 विनाभ्युद्धरणे वृद्धिः कारुण्यं करुणात्मकम् । हर्षामर्षोर्विशता^१ वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥ ६८ ॥
 इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि वेहिनिः । करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम्^२ ॥ ६९ ॥
 पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् । तत्पार्थ पुंसि किं तिष्ठेद्दयावीधितिमास्तिति ॥ ७० ॥
 सा क्रिया कापि नास्तीह पस्यां हिंसा न विद्यते । विशिष्येते परं भाषावत्र 'मुख्यानुषङ्गिकौ ॥ ७१ ॥

गुडूची (गुरखेल) और मुरण-आदि कन्द भी भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ६० ॥ पुनमे (प्रायः जीर्ण हुए) भूँग, उड़द और चना-आदि को दलने के बाद ही खाना चाहिए । बिना दले हुए भूँग व सारा उड़द-आदि नहीं खाना चाहिए और अखण्डित (पूरी) समस्त फलियाँ रांधी हुई या बिना रांधी हुई (कच्ची) नहीं खानी चाहिए, क्योंकि उनमें वसजीवों का वास होता है । उन्हें खोलकर शोधने के बाद ही रांधकर ही या बिना रांधे खानी चाहिए ॥ ६१ ॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है, वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मानव में दयालुता नहीं होती ॥ ६२ ॥ जो मानव स्वयं शोक करता है तथा दूसरों को शोक उत्पन्न करने में कारण होता है । स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरों को सन्तापित करता है, स्वयं रोता है और दूसरों को रुलाता है और जो स्वयं दुःखी होता है और दूसरों को दुःखी करता है, उसे असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥ ६३ ॥ जिसके कषाय के उदय से अत्यन्त संकलुष्ट परिणाम होते हैं, वह प्राणी चारित्र्य-मोहनीय कर्म का बन्ध करता है ॥ ६४ ॥

मैत्री प्रमोद व कारुण्यादि भावनाओं का स्वरूप—समस्त जीवों में मैत्री भाव का चिंतन करना चाहिए । जो ज्ञानादि गुणों में विशिष्ट हों, उनके प्रति प्रमोद भाव का चिन्तन करना चाहिए । दुःखी जीवों के प्रति करुणा भाव रखना चाहिए और गुणों से हीन (अमभ्य व उद्धत) पुरुषों के प्रति माध्यस्थ्य भाव का चिन्तन करना चाहिए ॥ ६५ ॥ मैत्रीभावना के ज्ञाताओं ने दूसरे समस्त प्राणियों के प्रति मन, वचन व काय से दुःख उत्पन्न न करने की इच्छा-युक्त वृत्ति को मैत्री भावना स्वीकार की है ॥ ६६ ॥ तप व ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट पुरुष को देखकर जो विनय के आधार से पूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है, उसे विद्वानों ने 'प्रमोद' कहा है ॥ ६७ ॥

दैन (दुःखी) पुरुषों की दरिद्रता व रोगादि पीड़ा के दूर करने की वृद्धि को 'कारुण्य' कहते हैं और गुणों से शून्य मिथ्यादृष्टि असभ्यों के प्रति रागद्वेष न करने की वृत्ति को 'माध्यस्थ्य' कहते हैं ॥ ६८ ॥ इस प्रकार यत्नशील पुरुष को गृहस्थ हो करके भी स्वर्ग सुख हाथ में स्थित रहता है और उसे मोक्ष भी दूर नहीं है ॥ ६९ ॥ शास्त्रकारों ने पुण्य को प्रकाशरूप और पाप को अन्धकार रूप कहा है, अतः जिसके हृदय में दयारूपी सूर्य का प्रकाश हो रहा है, उसमें क्या अन्धकार रूप पाप ठहर सकता है ? ॥ ७० ॥ लोक में ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसमें हिंसा नहीं होती, किन्तु हिंसा और अहिंसा में केवल मुख्य व गौणभावों की विशेष-

१. रोदन । २. त्यक्ता । ३. मोक्षः । ४. मुख्यत्वेन यदा वचः कियते तदा महत् पापं, यदाऽकस्मात् प्रसङ्गेन कदाचिद् वधो भवति तदा स्वल्पं पापं स्यादित्यर्थः ।

अप्यपि भवेत्पापी तिष्ठन्नपि न पापभाक् । अभिव्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ७२ ॥
कल्पयित्सन्निविष्टस्य 'वारात्मातरमस्तरा' । वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि सोमूषी तु विशिष्यते ॥ ७३ ॥

तदुक्तम्—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः । तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविशेषः ॥ ७४ ॥

—आत्मानुशासन, श्लोक २३ ।

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया । क्रिया चित्तावचिन्त्येयं तवत्र प्रयतो भवेत्* ॥ ७५ ॥

क्रियान्यत्र^१ क्रमेण स्यात्क्रियत्स्वेव च वस्तुषु । जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥ ७६ ॥

तथा च लोकोक्तिः—

एकस्मिन्मनसः कोणे पृंतामुत्साहशालिनाम् । अनायासेन संमान्ति भुवनानि चतुर्वंश ॥ ७७ ॥

यथा है । अर्थात्—जब निर्दयी मानव द्वारा मुख्यता से—संकल्पपूर्वक वध किया जाता है तब उसे महान् पापबन्ध होता है और जब उसके द्वारा प्रमत्त से (कृषि-आदि जीवोपाय के उद्देश्य से) वध किया जाता है, तब उसे स्वल्प पाप होता है ।

भाषार्थ—पं० आशाधर ने भी कहा है, कि गृहस्थाश्रम कृषि-आदि आरंभ के बिना नहीं होता और आरंभ हिंसा बिना नहीं होता, अतः मानव को संकल्पी हिंसा के त्याग करने में प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ ७१ ॥ संकल्प में भेद होने से अथवा मानसिक अभिप्राय की विशेषता से धीवर मच्छलियों का घात न करता हुआ भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है । अर्थात्—वह 'मैं कुटुम्ब के पालन के लिए धान्य पैदा करूँगा' इस विशुद्ध चित्तवृत्ति पूर्वक कृषि में प्रवृत्त होता है, जब कि धीवर बहुत मच्छलियाँ मारूँगा, इस दुरभिप्राय से नदी में जाल डालता है ॥ ७२ ॥ कोई एक मनुष्य, जिसके एक पार्श्वभाग में उसकी पत्नी बैठी है और दूसरे पार्श्वभाग में उसकी माता बैठी हुई है और वह उन दोनों के बीच में बैठा है, यद्यपि वह दोनों के शरीर का स्पर्श कर रहा है, उस अङ्ग-स्पर्श में कोई भेद नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भावना में बड़ा अन्तर है । अर्थात्—वह माता के स्पर्श-काल में विशुद्ध चित्तवृत्ति के कारण पुण्यवान् है और पत्नी के स्पर्शकाल में सविलष्ट चित्तवृत्ति के कारण पापी—कामो है ॥ ७३ ॥

निस्सन्देह प्रवीण पुरुषों ने परिणामों को ही पुण्य-पाप का कारण कहा है, अतः शुभ परिणामों से पुण्य का संचय करते हुए पाप की हानि करनी चाहिए ॥ ७४ ॥ मन के निमित्त से ही काय व वचन की क्रिया भी शुभ और अशुभ का आश्रय करती है । मन की शक्ति अचिन्तनीय है, इसलिए मन को नियन्त्रित (काबू) व शुद्ध करने में प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ ७५ ॥ शरीर व वचन की क्रिया तो क्रमिक (क्रम से) होती हैं और कुछ प्रतिनियत (सीमित) स्थूल पदार्थों में ही होती है, अर्थात्—कुछ ही पदार्थों को अपना विषय बनाती है परन्तु मन की क्रिया तो क्षणभर में तीन लोक से भी महान् होती है । अर्थात्—मन एक क्षण में तीन लोक के विषय में सोच सकता है । अतः विवेकी मन को नियन्त्रित करने में सावधान होवे अन्यथा महान् पाप बन्ध होगा ॥ ७६ ॥

इस विषय में एक लोकोक्ति भी है—

उद्यमशील पुरुषों के मन के एक कोने में बिना परिश्रम के चौदह लोक समा जाते हैं, अर्थात्—मन की

१. एकस्मिन् पार्श्वे दारान् एकव मातरं प्लयोर्मध्ये उपविष्टस्य स्पर्शं विशेषो न परन्तु मनसि विशेषोऽस्ति । २. मध्ये ।

*. ह० लि० क०, ख०, ग०, घ०, प्रतियों में संकल्पित—सम्पादक । ३. काये वचसि च ।

भूयःपथनाग्नीनां तृणादीनां च हिसनम् । यत्प्रयोजनं स्वस्य तत्प्रयोजनं यत् ॥ ७८ ॥
 ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथाशक्तं प्रवर्तताम् । गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥ ७९ ॥
 कर्णेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने । प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथादीर्घं यथागमम् ॥ ८० ॥
 प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् । एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रवक्षते ॥ ८१ ॥
 द्वादशाङ्गधरोऽप्येको^२ न *कृच्छ्रं^३ धातुमर्हति । तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥ ८२ ॥
 मनसा कर्मणा वाचा यद्व्युक्तमुपाजितम् । मनसा कर्मणा वाचा तत्तर्कं विहायेत्^४ ॥ ८३ ॥

अचिन्त्य शक्ति है उससे चौदह लोक जाने जाते हैं ॥ ७७ ॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्नि-
 कायिक एवं घास-आदि वनस्पतिकायिक इन पाँच स्थावर—एकेन्द्रिय जीवों की विराधना उतनी ही करनी
 चाहिए, जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो एवं जिस स्थान में दो-इन्द्रिय-आदि असजीव नहीं हैं, उस स्थान से
 उक्त पृथिवी व जल-आदि अपने प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ॥ ७८ ॥ ग्राम-कार्य (ग्राम-सेवा-आदि),
 स्वामि-कार्य व निजी कार्यों (कुटुम्ब-संरक्षण व परोपकार-आदि) में लोकरीति के अनुसार प्रवृत्ति करनी
 चाहिए । क्योंकि इन कार्यों के गुण-दोषों का पृथक्-पृथक् बोध कराने में लोक ही गुरु है । अर्थात्-लौकिक
 कार्यों को लोकरीति के अनुसार ही करना चाहिए ॥ ७९ ॥

प्रायश्चित्त का विधान

मद से अथवा कषाय से दो इन्द्रिय-आदि अस जीवों का घात हो जाने पर अपने दोष के अनुकूल
 प्रायश्चित्त शास्त्र का अनुसरण करके प्रायश्चित्त विधि करनी चाहिए ॥ ८० ॥ 'प्रायः' शब्द का अर्थ साधुलोक
 है और उसके मन को चित्त कहते हैं; अतः साधुलोक की मानसिक शुद्धि करनेवाले प्रशस्त कार्यों (उपवास-
 आदि तपों) को आचार्य प्रायश्चित्त कहते हैं ।

भावार्थ—प्रायश्चित्त करने से अपराधी जन की मानसिक शुद्धि होती है और दूसरे साधर्मि जनों का
 मन भी सन्तुष्ट हो जाता है । इसके ग्रहण करने से पुनः अकार्य (असंयम) में प्रवृत्ति नहीं होती और जितेन्द्र
 भगवान् की आज्ञा का पालन भी होता है, इत्यादि अनेक लाभ होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रायश्चित्त-प्रदान का अधिकार

आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग श्रुत का धारक भी एक गुरु प्रायश्चित्त देने में समर्थ नहीं है; क्योंकि
 अकेला एक विद्वान्, देश व काल-आदि समस्त अवस्थाओं के विचार करने में समर्थ नहीं हो सकता । टिप्पणी-
 कार ने भी लिखा है—'आचार्य को गृहस्थ श्रावकों को प्रायश्चित्त देने के अवसर पर बहुत से विद्वानों को
 साक्षी करना चाहिए ।' अतः आगम में बहुश्रुत अनेक विद्वान् प्रायश्चित्त देने के अधिकारी माने गए हैं ।
 अर्थात्—आचार्य, साधुजनों-आदि के लिए प्रायश्चित्त देने के अवसर पर देश व कालादि का विचार करने के
 लिए बहुश्रुत विद्वान् साधुओं को भी नियुक्त करे ॥ ८२ ॥

पाप के त्याग की अमोघ रामबाण औषधि

[इस मानद ने] अशुभ मन, वचन व काययोग द्वारा जो पाप-संचय किये हैं, उन्हें उसके विपरीत
 शुभ मन, वचन व काययोग द्वारा त्याग करना चाहिए ।

१. यत्र स्थाने असाः न सन्ति तस्मात् स्थानाद् गृहीतव्यं । २. किन्तु गृहिणां दम्बदाने बहवः साक्षिणः कर्तव्याः ।

*. 'कृच्छ्रं' क०, 'कृच्छ्रं' च० । ३. समयं प्रायश्चित्तं । ४. त्यजेत् ।

आत्मदेशपरिस्पन्दो भोगो योगविदा मतः । मनोवाक्कायतत्त्वेषा पुण्यपापान्नवाधयः ॥ ८४ ॥

हिंसनाग्रहचौर्यादि काये कर्माद्युभं विदुः । असत्यासभ्यपादायप्रायं वचनगोचरम् ॥ ८५ ॥

^१सर्वेष्वर्थाभ्युपगमि^२ स्यादन्तोष्णपारसंशयम् । ^३एतद्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेनेषु तत्पुनः ॥ ८६ ॥

हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यान्नवाससाम् । वानेर्धहुविधेश्चान्यन्नं पापमुपशाम्यति ॥ ८७ ॥

लङ्घनीषवसाध्यानां व्याघ्रीनां बाह्यको विधिः । यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापेऽपि मम्यताम् ॥ ८८ ॥

निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः । करोतु सकलं कर्म वानपूजादिकं ततः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ—प्रायः विवेक-हीन मानव मानसिक असंयम (मद, ईर्ष्या व अनिष्ट-चिन्तन-आदि) और वाचनिक असंयम (असत्य, असभ्य व मर्म-वेधक वचन बोलना) और कायिक असंयम (हिंसा, कुशील व चोरी-आदि) द्वारा जो पा-संयम कर चुका है, जो इतना कर्तव्य है कि इसके विपरीत मानसिक संयम (अहिंसा, मार्दव-आदि) व वाचनिक संयम (हित, मित्र व प्रिय भाषण-आदि) और कायिक संयम (अहिंसा, अचोर्य व ब्रह्मचर्य-आदि) द्वारा पापों का त्याग करे ।

विमर्श—यहाँ पर श्लोक में 'विहापयेत्' का अर्थ टिप्पणीकार ने 'त्यजेत्' किया है उसी अर्थ का अनुकरण हमने भी किया है । आगे के श्लोकों से यही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है ॥ ८३ ॥

योग का स्वरूप और भेद—

योग-वेत्ता आचार्यों ने मन, वचन व काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों के सकम्प होने को योग माना है । उसके तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग व काययोग । मन के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का सकम्प होना मनोयोग है । वचन के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का सकम्प होना वचन योग है और काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का सकम्प होना काययोग है । उक्त तीनों प्रकार का योग पुण्य व पाप कर्मों के आस्रव (आग-मन) का कारण है । अर्थात्—शुभ मन, वचन व काययोग पुण्य कर्म के आस्रव का कारण है और अशुभ मन, वचन व काययोग पाप कर्म के आस्रव का कारण है ॥ ८४ ॥ आचार्य जानते हैं कि प्राणियों की हिंसा करना, कुशील-सेवन करना व चोरी करना अशुभ काययोग है और असत्य, असभ्य और दूसरों के मर्म-भेदक अप्रिय एवं कठोरप्राय वचन बोलना अशुभ वचनयोग है ॥ ८५ ॥ विद्वत्ता व पूजादि का घमण्ड करना, (अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से काम वासना से उत्पन्न हुआ कोप,) ईर्ष्या (घमं द्वेष) करना, असूया (दूसरों के गुणों में भी दोषारोपण करना) आदि विकृत मनोवृत्ति के व्यापार के आश्रयवाला अशुभ मनोयोग जानना चाहिए और इनसे विपरीत अहिंसा व मार्दव-आदि शुभ मनोयोग समझना चाहिए ॥ ८६ ॥

पापों से बचने का उपाय

सुवर्ण, पशु, पृथिवी, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओं के दान देने से पाप शान्त नहीं होता ॥ ८७ ॥ जिस प्रकार लोक में लङ्घन और औषधि द्वारा नष्ट होने वाले रोगों को नष्ट करने के लिए केवल बाह्य उपचार व्यर्थ होता है उसी प्रकार पाप के विषय में भी मानना चाहिए । अर्थात्—मन, वचन व काय को वश में किये बिना केवल बाह्य वस्तुओं के त्याग कर देने मात्र से पापरूपी रोग शान्त नहीं होता ॥ ८८ ॥ इसलिए मन, वचन व काय के निग्रह द्वारा समस्त पाप नष्ट करके पश्चात् दान और पूजा-आदि सर्व शुभ कार्य करो ॥ ८९ ॥

१. कामजः कोपः घमद्वेषः । २. दोषारोपो गुणेष्वपि । ३. एतेषां विपर्ययात् अहिंसाब्रह्मास्तेयादिशुभपरिणामैः ।

आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः । संस्मृत्य शुद्धदामानि कुर्यान्निराश्रितं विधिम् ॥ ९० ॥

वैवादाद्युर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं महत् । भोगशून्यमतः कालं नावहेदन्नतं व्रती ॥ ९१ ॥

एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः । परं फलं तु पूर्वत्र^१ कृषेच्चिन्तामणेरिव ॥ ९२ ॥

आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमाधुरः । अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥ ९३ ॥

अयंतामत्राहिंसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु सकलसोकमनोहरागमाराभिः^२ शिरीषग्रामे मृगसेनाभि-
षामो मत्स्यबन्धः स्कन्धावलम्बितगलजालाच्छरन्वणः^३ पुष्परोमरत्नानामो^४ पनीतविह्वलः^५ दलोलजलप्लावितकूल-
शालेयमालवप्रा^६ सिप्रां सरितमनुसरन्नशेषमहविपरिवृद्धमक्षिलमहाभागभूपतिकल्पितसपर्यं^७ मिथ्यात्वविरहितधर्म-
चर्यं^८ श्रीयशोधराचार्यं निवास्य^९ समासप्रमुक्ततासाधद्वयत्वाद्बुरादेव परित्यक्तपापसंपादनोपकरणशामः^{१०}

शयन के पहिले के कर्तव्य

‘अब तक मेरी पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं हुई तब तक के लिए मेरे सब का त्याग है’ इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए फिर पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करके निद्रा-आदि लेनी चाहिए ॥ ९० ॥ क्योंकि देव-वश यदि आयु क्षीण हो जाय तो त्याग से विशेष लाभ होता है, अतः व्रती का कर्तव्य है, जिस काल में वह भोग न करता हो, उस काल को बिना व्रत के न जाने दे । अर्थात्—उतने समय के लिए उसे भोग का व्रत ले लेना चाहिए । टिप्पणीकार ने भी लिखा है कि ‘निद्रादि लेते समय भोग-शून्यता रहती ही है, अतः नियम लिये बिना काल व्यतीत न करे’ ॥ ९१ ॥ अकेली जीवदया एक ओर है और बाकी की समस्त धार्मिक क्रियाएँ दूसरी ओर हैं । अर्थात् अन्य समस्त क्रियाओं से जीवदया श्रेष्ठ है । अन्य समस्त धार्मिक क्रियाओं का फल खेती करने सरोखा (भविष्य कालीन) है और जीवदया का फल चिन्तामणि रत्न की तरह है, अर्थात्—चाही हुई चिन्तित वस्तु तत्काल देता है ॥ ९२ ॥ केवल अहिंसा व्रत के प्रभाव से ही दयालु मानव दीर्घायु, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान्, सुन्दर व यशस्वी होता है ॥ ९३ ॥

अहिंसा व्रत के पालक मृगसेन घोवर की कथा

अब अहिंसा व्रत के फल के संबंध में एक कथा सुनिए—

अवन्ति देश के शिरीष नामक ग्राम में, जहाँ के उद्यानों में सभी जन-समूह आनन्द पूर्वक विचरते हैं, मृगसेन नाम का घोवर रहता था । एक दिन वह कँचे पर लटकाए हुए मछलियों के फँसाने के काँटे व जाल-आदि साधनों को लेकर मछली लाने के लिए विचरता हुआ ऐसी सिप्रा नदी की ओर चला, जो कि अपनी तरङ्गों के जल प्रवाह द्वारा तटवर्ती वृक्षश्रेणी को ओर खेतों को डुबो रही थी ।

मार्ग में उसने श्रीयशोधर आचार्य के दर्शन किये, जो कि समस्त मुनियों को समा में श्रेष्ठ थे और समस्त भाग्यशाली राजाओं द्वारा पूजित थे और मिथ्यात्व से रहित (सम्यग्दर्शन-पूर्वक) धर्म का आचरण करनेवाले थे ।

- १ निद्रादिकं कुर्वता भोगस्य शून्यता स्यात्तेन नियमं विना कालं न गमयेत् । २. न निर्गमनं कुर्यात् । ३. दयायां । ४. अन्यासां क्रियाणां फलं कृषिवत्, दयायास्तु चिन्तामणिवत् । ५. मनोहरः आगमः—आगमनं यत्र आरामेषु । ६. पुष्परोमा, शकुली, बैसारिणः, अषडक्षीणः, पाठीनश्च मत्स्यः । ७. कृत । ८. वृक्षश्रेणितयां । ९. ‘दृच्छा-विहारविहितवर्मचर्यं’ अथवा ‘धर्मचर्यं’ इति क० । १०. मिथ्यात्वेन विरहिता धर्मचर्या—चारित्र्यं यस्य स तं । ११. समूह ।

ससंभ्रमं^१ संपादितदीर्घप्रणामः प्रकामं प्रगल्भवेनाः समाहितमनाः 'साधुसमाजसत्तम'^२ समस्तमहामुनिजनोत्तम, वेदा-
कुपपन्नपुण्यगृह्यभावोऽनुगृह्यतां कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनार्थं जनः' इत्यभाषत । भगवान्—'ननु कथमस्य पयःपतङ्गस्येव^३
सर्वेव 'शकुलिविनाशनिःशूकासपक्षस्य'^४ व्रतग्रहणोपदेशे प्रवीणमन्तःकरणमभूत् । अस्ति हि लोके प्रवादः, न खलु
प्रायेण प्राणिनां प्रकृतेर्विदुषिण्यस्य^५ शुभमदुःखं ५ दिनाः भवति । इदमुक्तवर्तिः सम्यगवबुद्धः^६ सविद्यैतज्जीवितावधि-
स्तमेवमवादीत्—'अहो शुभाशयास्तन, लघुतन्वाहनि मस्तवादावेवानामे^७ सीनः समापतति स त्वया न प्रमापयितव्यः'^८ ।
पावकवात्मवृत्तिविषयः^९ 'मामिषं न प्राप्नोषि तावत्सव सप्रियुक्तिः'^{१०} । अयं पुनः पञ्चात्रिंशदक्षरपवित्रो मन्त्रः सर्वदा सुस्थि-
तेन कुस्थितेन च त्वया ध्यातव्यः' इति । मृगसेनः—'यथाविशति बहुमानस्तथास्तु' इत्यभिनिविध्य^{११} तां शंखलि-^{१२}
नीमनुसृत्य जलितजालक्षेपोऽ^{१३} 'कालक्षेपमतनुकरण'^{१४} 'वैसारिण'^{१५} 'मासाद्य स्मृतव्रतस्तस्य'^{१६} अवसि^{१७} 'चिह्नाय^{२०} चोर-
चोरो^{२१} निवध्यात्यासीत्^{२२} । पुनरपराधकाशे^{२३} सीरिणोऽप्रवेशे तर्भवाद्भूततरशर्मा समाचरितकर्मा तमेवावडक्षीण-^{२४}
मक्षीणायुषमवाप्याधुञ्चत । तदेवमेतस्मिन्ननणिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पञ्चकृत्वो लघने विपवमग्ने मुख्यमाने सति, अरत-

उस धीवर का हृदय निकट में पुण्य प्राप्त करने योग्य था, इसलिये उसने पापार्जन में सहायक जाल-
आदि उपकरण-समूह दूर स्थान पर छोड़ दिये और आचार्य श्री के पास पहुँचा और उन्हें सादर साष्टाङ्ग
नमस्कार किया, उस समय उसके पाप विशेषरूप से गल रहे थे और उसकी चित्तवृत्ति भी एकाग्र थी ।

फिर उसने कहा—'हे साधु-समाज में श्रेष्ठ और समस्त महामुनियों में उत्तम मुनिराज ! आज भाग्य
से ही पुण्य-संचय का यह अवसर प्राप्त हुआ है, अतः मेरे लिए कोई व्रत लेकर अनुगृहीत कीजिए ।'

मह मुनकर मुनिराज ने सोचा—'निस्सन्देह बगुला-सरीखे निरन्तर मछलियों का घात करने में निर्दयी
चित्त वाले इस धीवर का मन व्रत-ग्रहण के कहने में कैसे निपुण हुआ ? निस्सन्देह लोक में ऐसी जनश्रुति
है, कि प्रायः प्राणियों की प्रकृति (स्वभाव) उत्तरकाल में होनेवाले हित-अहित के बिना नहीं पलटती' यह
सोचकर उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग कर उसे अल्पायु निश्चय करते हुए कहा—'हे शुभ मनोवृत्ति के
आश्रय ! आज जो पहली मछली तुम्हारे जाल में फँस जाय, उसे तुम नहीं मारना और जब तक तुम्हें अपनी
जीविका रूप मांस प्राप्त न हो, तब तक के लिए तुम्हारे मांस का त्याग है और यह पैंतीस अक्षरों का पवित्र
पंच नमस्कार मन्त्र है, इसका निरन्तर सुखी व दुःखी अवस्था में ध्यान करो ।'

मृगसेन ने 'पूज्य की जो आज्ञा' ऐसा अभिप्राय करके व्रत ग्रहण कर लिए और सिन्धु नदी पर
पहुँच कर जाल डाल कर शीघ्र बृहत्काय (बड़ी) मछली पकड़ ली । उसने अपने व्रत की स्मरण करके
पहचान के लिए उस मछली के कान में कपड़े की धाँजों बाँधकर जल में जीवित छोड़ दिया । फिर निकट में
सुख की प्राप्त होने वाले उसने दूसरे स्थान से नदी में जाल-विक्षेप-आदि कार्य किया । किन्तु वही मछली
जाल में फिर आकर फँस गई, अतः उसने उसे फिर जीवित छोड़ दिया और जब वही मछलियों में श्रेष्ठ
बृहत्कायवाली महामछली उसके जाल में पाँच बार फँसकर आपत्ति में पैंतीस तो भी उसने उसे जीवित जल
में छोड़ दिया ।

१. सादर । २. हे मुने ! । ३. वक्तव्य । ४. मत्स्यविनाशे । ५. निर्दयस्य । ६. उत्तरकाले । ७. समीप ।
८. प्रथमतः । ९. जाले । १०. न मारणीयः । ११. स्वकरमानात् । १२. मांसस्य नियमः । १३. अभिप्रायं
कृत्वा । १४. सिन्धु नदी । १५. शीघ्र । १६. बृहच्छरीरं । १७. मत्स्यं । १८. मत्स्यस्य । १९. कर्णे । २०. अभि-
ज्ञानाय । २१. वस्त्रं । २२. त्यजति स्म । २३. स्थाने । २४. मत्स्यं ।

‘मस्तकमध्यास्त’^१ धनधूसुणरसारणितवक्षपुष्पुच्छप्रोक्तकान्तिशालं यवास्तिलकं । तदनु तं गृहीतवत्तापरि-
 स्थागभोवभानचेतनं मृगसेनमधामिकलोकव्यतिरिक्तं^२ रिक्तमाणञ्जलं परिच्छिद्य,^३ अतुच्छकोपापरिहार्या सङ्क्रार्या
 घण्टार्या यमघण्टेव किमपि कर्णकटु वक्षणात् कुटीरास्तःश्रितशरीरा ‘निर्विवरमरदं’^४ प्रदामात्मात् ।

मृगसेनोऽपि तया निरुद्धवेऽमप्रवृत्तस्तन्मन्त्र^५ स्मरणसक्तचित्तः ‘पुराणतरतवभित्त’^६ मुच्छोषे निषाय
 सान्त्रं^७ ‘निद्रायन्नेततवभित्त’^८ म्यन्तरविनिःसृतेन सरीसृपसृतेन^९ चष्टः कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो^{१०} ‘द्युष्टसमये’^{११}
 घण्टया दृष्टः । पुनरनेन सार्वभुव^{१२} ब्रुवमध्यानुगमोचितनिश्चययार्मनि विहितबहुनिन्दया शोषितवत् । ततः सा
 ‘यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि । जन्मान्तरे चायमेव मे पतिः’ इत्यावेदितनिदाना समित्समिद्धमहसि^{१३} ‘द्रविणीदासि
 हृष्यसमस्तेहं’^{१४} वेहं जुहाव^{१५} ।

अथ विलासिनोविलोचनोत्पलपुनश्चन्दनमालायां^{१६} विशालायां पुरि विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वंभरो
 विश्वंभरो नाम नृपतिः । धनश्रीपतिः पिता च कुहितुः^{१७} सुबन्धोर्गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य
 मनोरथपान्थप्रोतिप्रदालिकायामेतस्यां^{१८} कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां^{१९} सत्त्वाय, असौ वसुधापति-
 विदकथासंसृष्टतया^{२०} प्रतिपन्नवाञ्छजनोन्मादो नर्मभर्मनाम्नो नमंसचिदस्य सुताय नमंघर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनमस्त्रिल-

इतने में ऐसा सूर्य अस्ताचल पर्वत पर आश्रित हुआ—अस्त हो गया । जिसने धने कुङ्कुम रस से
 वरुणपुर की स्त्रियों की गालों की कान्ति लालिमा-युक्त-की है ।

इसके पश्चात् स्वीकार किए हुए व्रत का पालन करने से प्रसन्न चित्त होकर खाली हाथ लींटे हुए
 धार्मिक मृगसेन को आते हुए जानकर उसकी पत्नी घण्टा उसपर विशेष क्रुपित हुई और यमराज की घण्टा-
 सरीखी कर्ण-कटु माली-गलीज बकती हुई अपनी झोपड़ी में चली गई और अन्दर से किवाड़ निश्छिद्र (वन्द)
 करके बैठ गई ।

पत्नी द्वारा गृह में प्रवेश रोका हुआ मृगसेन भी पंच नमस्कार मन्त्र के स्मरण करने में संलग्न
 चित्त हुआ और एक जीर्ण वृक्ष के खण्ड को तकिया बनाकर मस्तक के नीचे रखकर गाड़ निद्रा ले रहा था,
 कि इतने में उस वृक्ष की जड़ के भीतरी भाग से निकले हुए सर्प के बन्धने उसे डस लिया, जिसके कारण
 विशेष कष्ट अवस्था में प्रविष्ट हुआ—मर गया । प्रभात होने पर जब उसकी घण्टा नाम की स्त्री ने उसे मरा
 देखा तब उसने अपनी विशेष निन्दा करके विशेष शोकाकुल होकर इसी के साथ अग्नि में जल जाने का
 निश्चय किया तथा उसने निदान किया, कि ‘जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और हमारे जन्म में भी वही
 मेरा पति हो’ । उसके बाद उसने ईधन से प्रज्वलित कान्तिवाली चिता की अग्नि में घी-सरीखी चिकनी
 अपनी देह की आहुति दे दी—अपनी देह होम दी ।

वैद्यार्थों के नेत्ररूपी कमलों के द्वारा दुगुनी हुई तोरणन्यक्तिवाली उज्जयिनी नगरी में ‘विश्वगुणा’
 नाम की पट्टरानी का स्वामी और विश्व का पालक ‘विश्वम्भर’ नाम का राजा था । वहीं पर गुणपाल नाम का
 सेठ था । उसकी धनश्री नाम की प्रिया थी और सुबन्धु नाम की पुत्री थी । जब गुणपाल के सन्तोरथरूपी पथिक
 के लिए प्रीतिरूपी व्याक-भो उसकी पत्नी इस मृगसेन धीवर के आये हुए जीव से गर्भवती हुई तब वहाँ के

१. अस्तपर्वत । २. आश्रितः । ३. पृथग्भूतं । ४. जात्वा । ५. निश्छिद्रं । ६. कपाटं । ७. पंचनमस्कार ।
 ८. ९. पुराणतत्—जीर्णवृक्षखण्डं काष्ठं । १०. निद्रां कुर्वन् । ११. अपेक्षे । १२. प्रविष्टः । १३. प्रभाते ।
 १४. अग्निः । १५. अग्नी । १६. घृतवच्चिदकणं । १७. आहुतीचकार । १८. तोरण । १९. सुबन्धुपुत्री-जातः ।
 २०. कुलमार्यायां । २१. गर्भिण्यां । २२. भाण्डादिरतो नृपः ।

कलाकलापालंकृतकृष्णसमन्वितां सुतामयाचत । श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राजा तथा धावितः 'यवि नर्मसचिवमुताय सुतां वित-
रामि' तवावश्यं कुलकमव्यतिक्रमो बुरपवादोपक्रमश्च । अथ 'स्वामिवास्तनमतिक्रम्यात्रैवासे' तवा सर्वस्थापहारः प्राण-
संहारश्च' इति निश्चित्य प्रियसुहृदः श्रोतृस्य वणिक्पतेनिकेतने समणिमेखलकलत्रं^१ कसत्रं^२ मवस्थाप्य 'स्वापतेयसाहं
बुहितरं चात्मसात्कृत्य सुलभकेलिवनवना^३ शयनिवेशं क्रीशाम्बोदेशमयासौत् ।

अत्रान्तरे 'ओमहृदिस्त्रिभुवनविशेषमाचरितचर्यापर्यटनी शिवगुप्तमुनिगुप्तनामानौ मुनौ श्रीवत्प्रतिवेश'^४-
निवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ^५ कृतोपचारविषहो च तामङ्गणाभयां धनधियमपश्यताम् । तत्र मुनि-
गुप्तभगवान्किल केवलमल्लिस्तानपरुषवपुधमुत्गमनी^६ 'यसंगताङ्गाभोगत्विधमर्धध्याचिह्नदवर'^७ कभात्रालंकारकुपमपस्त-
कान्तापत्यपरिजनविरहवेहसादां गर्भगौरवखेदां च शिशिराजस्रया^८ 'अवशवर्तिनीं स्थलकमलिनीमिव मलिनच्छविमुद-
वसि'^९ 'तपरिसरे'^{१०} परगृहवासविशोधमः^{११} 'णमुज्ज्वलं धनश्रियं निष्पाय'^{१२} 'अहो, महीयसां फलु'^{१३} 'एनसामावातः
कोऽप्यस्याः कुक्षौ महापुरुषोऽवतीर्णः, येनावतीर्णमात्रेणापि^{१४} 'दुष्पुत्रेणेयं वराको द्वयधावेशां वशामशिश्रयत्' इत्यभाषत ।

राजा विश्वम्भर को विदों के साथ वार्तालाप करने में शामिल होने के कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे । अतः
उसने नर्मभर्म नाम के विदूषक के पुत्र नर्मधर्म के लिए गुणपाल सेठ से समस्त कलाओं की श्रेणी से अलङ्कृत
व सर्वाङ्ग सुन्दरी पुत्री की याचना की । दुर्बुद्धि राजा की इस माँग से गुणपाल ने निश्चय किया—'यदि
विदूषक के पुत्र को कन्या देना है तो अवश्य कुल-परम्परा का उल्लङ्घन होता है एवं अपकीर्ति भी फैलती
है और यदि स्वामी की आज्ञा को उल्लङ्घन करके भी यहाँ स्थित रहता है तो सर्वस्व अपहरण के साथ-साथ
प्राण भी जाते हैं ।' ऐसा निश्चय करके रत्नजटित करधोनी से अलङ्कृत अङ्गुली वाली अपनी पत्नी को तो
अपने प्रिय मित्र श्रोतृ सेठ के यहाँ रखी और सार सम्पत्ति-सौ अपनी पुत्री को अपने अधीन करके (साथ
लेकर) क्रीडावनों व जलाशयों की स्थानीभूत 'क्रीशाम्बो' देश की ओर प्रस्थान किया ।

इसी बीच में घनाढ्य और निर्धनों के गृहों में समान चित्तवृत्तिपूर्वक (भेद न रखते हुए) आहार-
चर्या के लिए विहार करनेवाले शिवगुप्त व मुनिगुप्त नामके दो मुनिराजों ने श्रोतृ के आंगन में बैठी हुई धनश्री
को देखा, जिनका पड़गाढ़ता श्रोतृ के निकट रहनेवाले (पड़ोसी) श्रावक द्वारा यथाविधि किया गया था,
एवं जिनकी शारीरिक सेवा-शुश्रूषा की गई थी ।

उनमें से मुनिगुप्त मुनि ने ऐसी धनश्री को देखकर कहा,—जिसका शरीर तैल के बिना स्नान करने
से रुद्ध था । जिसके शारीरिक अङ्गों की विस्तृत कान्ति शुक्ल वस्त्र से सुशोभित थी । जो सौभाग्य-सूचक
मङ्गलसूत्रमात्र आभूषण को प्रातिपूर्यक धारण कर रही थी । जिसका शरीर हितैषी जन, पति, पुत्री एवं
परिजनों के वियोग से कूट हो गया था । जो गर्भ के भार से खेद-खिन्न थी और जिसकी कान्ति उस प्रकार
म्लान थी जिस प्रकार शीत ऋतु संबंधी दिवसों के निरन्तर आने से स्थल कमलिनी की कान्ति म्लान होती है ।
एवं जो गृहाङ्गण में स्थित थी और जिसकी मुखश्री दूसरे के गृह में रहने से म्लान हो रही थी ।

'अहो आश्चर्य है कि निस्सन्देह इसकी कुक्षि में ऐसा कोई महान् पापों का स्थान (बड़ा पापी)

१. चेद्वामि । २. राजादेशं । ३. तिष्ठामि । ४. जघनं यस्याः । ५. भार्या, कलत्रं जघनं भार्या चेति पञ्चिकाकारः ।
६. धनं । ७. जलाशयः । ८. सघननिर्धनगृहसमन्वितम् । ९. निकटवासिना । १०. स्वीकारौ । ११. शुक्लवस्त्र-
मुक्ता अङ्गुलिक मय्याः । १२. दवरकः दोरः । १३. वालो वासरः । १४. उदवसितं गृहं । १५. परिसरः अङ्गणं ।
१६. म्लायन्ती । १७. दृष्ट्वा । १८. पापानां । १९. दुष्प्रज्ञेन ।

मुनिवृषः^१ शिवगुप्तः—‘मुनिगुप्त, सर्वं भाविष्ठाः । यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी कानिचिद्दिनान्येवंभूता सती पराविष्ठाने^२ तिष्ठति, तथाप्येतद्वन्द्वेन सकलवणिक्पतिना गिरवविशेषोद्वारेण^३ विश्वम्भरेश्वरमुतावरेण च भक्तिव्यम्^४ इत्यवोचत् ।

एतच्च स्वकीयमग्निरातिन्दकगतः^५ श्रीदत्तो निशम्य ‘न खलु प्रायेणासत्यमिवमुक्तं भविष्यति महर्षेः’ इत्यवधार्य सुखीमुखसर्पश्चवृत्तेरित्तद्वत्चेतोवृत्तिरासीत् । धनश्रीश्च परिप्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत । श्रीदत्तः—
‘अत्रभानुरिवाद्यमाप्रयाशः^६ खलु वालिशः । ‘तवसंजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपांशुवण्डः^७ श्रेयान्’ इति परा-
मुष्य प्रसूतिदुःखेनातुच्छमूर्च्छापाथ्या^८ । धनधियमकलम्य निजपरिजनज^९ रतीमुखेन ‘प्रमीत’^{१०} एवार्थं तनयः संजातः’
इति प्रसिद्धिं विधायाकार्यं चकमाचरितोपचारप्रपञ्चं^{११} । श्वपचं^{१२} ‘जिह्वाहो’^{१३} रहस्यनिकेतः कृतापायसंकेतस्तं^{१४} स्तन्य-
पमेतस्य^{१५} समर्पयामास ।

सोऽपि जनंगमः स्वभानुप्रभेण^{१६} करेण रामरश्मिमिव^{१७} तं स्तनध्वमपूरुष्य निःशलाकावकाशं^{१८} देशमाश्रित्य

महापुरुष आया हुआ प्रतीत होता है, जिस दुष्ट पुत्र के गर्भ में आने मात्र से इस विचारी ने ऐसी शोचनीय दशा का आश्रय किया है ।’

उक्त बात सुनकर मुनियों में मुख्य या ज्येष्ठ ‘शिवगुप्त’ मुनिराज ने कहा—‘मुनिगुप्त ! ऐसा मत कहो; क्योंकि यद्यपि यह सेठानी कुछ दिनों तक ऐसी शोचनीय दशा का अनुभव करती हुई दूसरे के गृह में रह रही है, तथापि इसका पुत्र समस्त वणिकों का स्वामी, राज-श्रेष्ठी व निस्सीम निधि का स्वामी एवं विश्वम्भर राजा की राजकुमारी का वर होना चाहिए ।’

अपने गृह के बाह्य द्वार पर बैठे हुए श्रीदत्त ने उक्त ऋषि की बात सुनकर ‘निस्सन्देह महर्षि द्वारा कही हुई वाणी प्रायः झूठी नहीं होती ।’ ऐसा निश्चय करके उसने अपनी चित्तवृत्ति को उस प्रकार दुष्ट संकल्प को ओर लगाई जिस प्रकार दुष्टि-विषवाला साँप दर्शन मात्र से दुष्ट संकल्प (डँसने) की ओर लगाता है । प्रसव के दिन समाप्त करके धनश्री ने पुत्र को जन्म दिया ।

श्रीदत्त ने विचार किया—‘निस्सन्देह यह बच्चा अग्नि की तरह अपने आश्रय का भक्षक है, माता का इस पर स्नेह उत्पन्न होने के पूर्व ही इसका गुप्तवध कर देना श्रेयस्कर है ।’ अतः उसने धनश्री को प्रसूति के कष्ट से विशेष मूर्च्छा का आश्रय करनेवाली (मूर्च्छित—बेहोश) निश्चय कर अपने कुटुम्ब की एक वृद्ध स्त्री के मुख से ‘बच्चा मरा ही पैदा हुआ है’ ऐसी प्रसिद्धि करके कुटिल भापा के रहस्य के स्थानीभूत हुए इसने सेवा का प्रपञ्च करनेवाले—घूसखोर एक चाण्डाल को बुलाकर वध का संकेत करते हुए उसके लिए बच्चा समर्पण कर दिया ।

वह चाण्डाल भी राहु-सरीखे कृष्ण कान्ति वाले हाथ से चन्द्र-सरीखे बच्चे को आच्छादित करके

१. मुख्यः । २. परगृहे । ३. ‘स्थाविधनं’ टि० ख०, ‘शेवधिः निधिः’ इति पञ्जिकाकारः । ४. राजकन्या-भर्ता भविता । ५. प्रधानप्रवणालिन्दवह्निर्वारप्रकोष्ठके । ६. मग्निवत् । ७. आश्रयं अदनातीति । ८. तस्मात् कारणात् । ९. गूढवधः । १०. संश्रयां । ११. वृद्धा स्त्री । १२. मृत एव जनितः । १३. श्वपचः, जनंगमः, अन्त्या-वसायी, दिवाकीर्तिश्च चाण्डालः । १४. कुटिला । १५. वाणी । १६. शिशुं । १७. जनंगमस्य । १८. राहुसदृश-कृष्णेन । १९. ‘चन्द्रमसमिव’ टि० ख०, ‘रामरश्मिः हरिणकिरणश्च श्वेतभानुश्चन्द्र इति यावत् । रामः सितेऽपि निर्दिष्टो हरिणश्च तथा मतः इति वचनात्’ इति पञ्जिकाकारः । २०. एकान्तं ।

पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य संजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः सुतेन विनिधाय घाम ^१स्वकीयमटीकतः ।

पुनरस्य ^२बाधरभव ^३भगिनोपतिरशेषापणिक ^४पणपरमेष्ठी इन्द्रवत्श्रेष्ठी विजयाडम्बरितशण्ड ^५मण्ड-
लाधीनं पीठोपकण्ठगोष्ठी ^६ममनुसृतो ^७वत्सीयविषयसनीड ^८कीडागसगोपालबालकलपन ^९परम्परालापान्ततर ^{१०}।
^{११}तानकसंतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमण्डपमणिनिधानमिव तं ^{१२}जातमुपलभ्य स्वयमदृष्टमन्त्रमवबन-
रवा ^{१३}सद्बुद्ध्या साध्वमुदय्य ^{१४}स्तनंधयावधानधृतबोधे राधे ^{१५}, तवायं गूढगर्भसंभवस्तनून्मूचः ^{१६} इति प्रवर्धितप्रसिद्धिमं-
हान्तमपरयोत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत् ।

श्रीदत्तः ^{१७}अथणपरम्परया तमेतं वृत्तान्तमुपश्रुत्याभिरय च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश ^{१८}इव तन्निधेशम् ^{१९}।
'इन्द्रवत्, अयं महाभागधेयो भागिनेयो ममैव तावद्वाग्निं वर्धयाम्' इत्यभिधाय सभागिनोकं ^{२०}तोकमारमावासमानोय
पुरावत्करप्रज्ञः ^{२१}संज्ञपनार्थमन्तावसायिने ^{२२}प्रायच्छत । सोऽपि विवाकीर्तितपातपुत्रभाण्डः सत्वरमुपह्वर ^{२३}गह्वरानु-
सारो ^{२४}समीरवशविगलितधनाम्बरावरणं हरिणकिरणमिव ^{२५}ईक्षणरमणोयं गुणपालतनयमालोक्य सवपद्मदयः प्रवत-

एकान्त स्थान में ले गया । वहाँ पुण्य-परमाणुओं के पुञ्ज-जैसे सुन्दर शरीर-धारक इस बच्चे को देखकर इसे विशेष करुणारस उत्पन्न होने से इसका मुख प्रसन्न हो गया, अतः वह जीवित बच्चे को सुख से लिटाकर अपने स्थान पर चला गया ।

इसके पश्चात् श्रीदत्त का छोटा बहनोई 'इन्द्रदत्त' नामका सेठ, जो कि सभी वणिक्-व्यवहार में श्रेष्ठ था, बेचने के लिए इकट्ठे किये हुए बेलों के झुण्ड की अधीनता वाले स्थान के निकटवर्ती गोकुल में पहुँचा और उसे ऐसा बालक प्राप्त हुआ, जो कि बछड़ों के लिए हितकारक प्रदेश के निकट क्रीड़ा करने के लिए आये हुए ग्वालों के बच्चों की मुखपरम्परा के वातालाप से और छोटे बछड़ों के झुण्ड से घिरा हुआ था । एवं जो अनेक चन्द्रकान्त मणिमयी शिलाओं के बीच में मौजूद था । जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—लाल मणियों की निधि ही है । उसने कभी स्वयं पुत्र का मुख नहीं देखा था, अर्थात्—उसके पुत्र नहीं था, इसलिए उसने इसे अपने पुत्र की बुद्धि से उठा लिया । उसने विशेष आग्रह पूर्वक अपनी पत्नी राधा से कहा—'सदा बच्चे को लालसा के ध्यान में अपनी बुद्धि प्रेरित करने वाली प्रिये राधे ! यह तुम्हारे गूढ़ गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र है ! उसने उक्त प्रकार प्रसिद्धि को वृद्धिगत करते हुए पुत्रोत्पत्ति का महान् महोत्सव किया ।

श्रीदत्त कर्णपरम्परा से यह समाचार सुनकर बच्चे का घात करने के दुरभिप्राय से यमराज-सरीखा होकर इन्द्रदत्त के गृह पर पहुँच कर उससे बोला—'इन्द्रदत्त ! यह महाभाग्यशाली भानजा मेरे ही स्थान पर बड़ा होना चाहिए !' और बहिन-महित बच्चे को अपने गृह पर ले आया एवं पूर्व की तरह निर्दय बुद्धि-वाले उसने वध करने के लिए बच्चे को चाण्डाल के लिए दे दिया । वह चाण्डाल भी पुत्ररूपी वर्तन को लेकर शीघ्र ही एकान्त गुफा की ओर चल दिया । जब उसने ऐसे गुणपाल के शिशु को देखकर, जो कि वायु के संचार से जिसके ऊपर से मेघ-मटल का आवरण हट गया है, ऐसे चन्द्रमा-सरीखा नेत्रों को प्यारा है । उसका

१. स्वगृहं गतः । २. श्रीदत्तस्य । ३. लघुभगिनी । ४. वणिक्व्यवहारः । ५. वृषभाः । ६. गोष्ठिनं गोकुलस्थानं । ७. वत्सीभ्यो हितप्रदेश । ८. समीपं । ९. मुखपरम्परा । १०. लघुबला । ११. वृषभाः । १२. बालं । १३. पुत्र । १४. हे भार्ये । १५. कर्णपरम्परया । १६. यमः । १७. इन्द्रदत्तगृहं । १८. अपत्यं पुत्रं वा । १९. सारणार्थं । २०. मातङ्गाय । २१. एकान्तं, रहः । २२. वायुपरवशेन । २३. चन्द्रमिव ।

विटपिसंकटे तरित्तटनिकटे परित्यज्य यथायथमश्वत्थीत्^१ ।

तत्राभ्यसौ पुरोपाजितपुण्यप्रभावावुपमातृभिरिव^२ एतद्दीक्षणात्सरत्क्षीरस्तनीभिरानन्दोदीरितनिर्भरह^३ ।
 भावतिभिः^४ प्रचारायागताभिः^५ कुण्डोष्णीभिर्जलो^६ कथेर्गुभिरुपगृह्यतविषभागः^७ उपदान्तरमागतेन तत्रक्षण-
 दक्षेण गोपालजगेन अस्तावत^८ मभासिन्य^९ शोकस्तवकमुन्दरे सरोजमुह्वि^{१०} सति विलोकितः । कथितश्च सकलगोष्ठ-
 ज्येष्ठाय^{११} वल्लवकुलवरिष्ठाय निजाननापहसितारविन्दाय गोविन्दाय । सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय अनित-
 हृदयानन्दायाः मुनन्दायाः समपितवान् । अकरोच्चा^{१२} स्येन्विशामन्दिरस्य^{१३} धनकीर्तिरिति नाम । ततोऽसौ क्रमेण परि-
 त्यक्तशोशवशः कमलेश^{१४} इव युयजनमनः^{१५} पश्यतामण्योःकुलसबल^{१६} वीलोचनालिङ्गुलावलेह्य^{१७} लावण्यभकरन्दमन्वानन्द-
 कामन्द^{१८} मतिकालरूपायतनं यौवनमासादितः पुनरपि प्राज्याज्यवर्णज्योपार्जनसञ्जागमनेन तेन श्रोवत्तेन वृष्टः । पृष्टश्च
 गोविन्दस्तदवाप्तिप्रयच्छम् ।^{१९} श्रीदत्तः—'गोविन्द, मदीये तदने किमपि सहकार्यमात्मनस्य^{२०} निवेद्यमस्ति । तदर्थं

हृदय दया से द्रवीभूत हो गया । अतः उसने उसे स्थूल वृक्षों से व्याप्त नदी के तट के समीप छोड़कर पूर्व की तरफ वहाँ से क्षीघ्र चल दिया ।

इसके पूर्वोपाजित पुण्य के प्रभाव से वहाँ पर भी ऐसी गोकुल की गायों से इसका निकटवर्ती स्थान रोका गया; जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—इसकी घाँटें ही हैं—इस बच्चे को देखने से जिनके धनों से दूध झर रहा था । जिन्होंने आनन्द से विशेष रेंभाने की ध्वनि प्रकट की थी । जो घास चरने के लिए वहाँ आई हुई थीं और जिनके धन प्रचुर मात्रा में दूध से भरे होने के कारण कुण्ड-सरीखे थे ।

जब सन्ध्या के समय अशोक वृक्ष के गुच्छा-सरीखा मनोज्ञ सूर्य अस्ताचल पर मुकुट-सरीखा शोभायमान हो रहा था, तब इसके पास आए हुए गोरक्षा में चतुर ग्वालों ने इसे देखा और समस्त गोकुल—गोशाला के स्वामी व ग्वालों के वंश में श्रेष्ठ एवं अपनी मुख-कान्ति द्वारा कमलों की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले 'गोविन्द' नामके स्वामी से कहा । पुत्र-स्नेह से व आनन्द से महान् गोविन्द भी उस बच्चे को घर ले आया और उसने हृदय में उत्पन्न हुए आनन्द वाली मुनन्दा नाम की प्रिया के लिए समर्पण कर दिया ; लक्ष्मी के स्थान इस बालक का नाम 'धनकीर्ति' रखवा ।

इसके पश्चात् क्रम से बाल्यावस्था को छोड़कर श्रौपति सरीखे इसने ऐसी युवावस्था प्राप्त की, जिसमें युवक-जन के मन के ग्रहण करने में बेचने-योग्य (अर्धप्राय) जीवन से प्रमूढित हुई गोपियों की नेत्ररूपी भ्रमर-श्रेणी द्वारा आस्वादन करने योग्य लावण्यरूपी पुष्परस पाया जाता है । जो प्रचुर सुख का कामद (मन्दिर) है, अथवा पाठान्तर में पञ्जिकाकार के अभिप्राय से जिसमें प्रचुर सुख व कामदेव वर्तमान है और जो देमर्याद खूबसूरती का स्थान है ।

एक दिन प्रचुर घी के व्यापार द्वारा धनोपार्जन की इच्छा से यहाँ आये हुए श्रीदत्त ने इसे देखकर गोविन्द से इसको प्राप्ति के विषय में विस्तार से पूछा और उससे कहा—'गोविन्द ! मुझे अपने गृह पर अपने

१. आशु गतशान् वल्ल आशुगमने लुङि । २. धात्रीभिः । ३. विशु । ४. भोक्तृ । ५. तुणादनार्थ । ६. गोकुल । ७. समीप । ८. उपदान्तरं समीपं । * 'भागि' ग० । ९. मध्यात्मये । १०. रवी । ११. वल्लवाः गोकुलिकाः । १२. पुत्रस्य । १३. लक्ष्मीगृहस्य । १४. हरिरिव । १५. मनोग्रहणे यत्तत्तथैव विक्रयमाणं अर्धप्रायं तादृश्यं । १६. गोपी । १७. आस्वाद्य । * 'कामदं (मन्दिरं)' ख० । १८. कामन्दः कामः इति पञ्जिकायां । १९. श्रीदत्तः प्राह । २०. मम पुत्रस्य महाबलस्य ।

‘प्रकृष्टमिदं लेखं प्राह्यित्वा सत्वरं ग्रहेतव्यः’^१ । गोविन्दः—‘श्रेष्ठित्, एवमस्तु ।’ लेखं च वचनलिखत्—‘अहो विवित-
समस्तपोत^२ वक्रल महाबल, एष सत्त्वस्मद्वंशविनाशवैश्वानरोऽवज्यं विषयो^३ मुशलयो^४ वा विधातव्यः’ इति । धन-
कीर्तिस्तथा ‘तातवणिकपतिभ्यामाविष्टः सावष्टम्भं^५ गलालंकारसखं लेखं कृत्वा गत्वा च जन्मान्तरोपकाराद्यो-
‘मीनावतारसरसीमेकानसी’ सत्प्रवेशपरि^६ पर्यन्तवर्तिनि वने वामंश्चापनयनाय^७ ‘पिकाप्रियालवालपरिसरे
‘निःसंज्ञमस्वाप्सीत् ।

अत्रावसरे विहितपुण्याद्यव्यविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा^८ पूर्वभवोपकारस्तिग्धा संजीवनीवधि-
समन्वातङ्गसेनानामिका गणिका तस्मैव सहकारतरोस्तलमुपहीय धिलोष्य च निःस्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव
‘भुस्तकुसुमास्त्रतन्त्रं’^९ ‘लोकांतरमित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्ति धनकीर्ति पुमरायुःश्वोसरस्वतीसमागमदेशरेखात्रयेणैव
प्रकटवितर्कितकर्कोटप्रयेण’^{१०} बन्धुरमध्यप्रवेशात्कण्ठदेशाबाधाभावायप्रतिपावनाक्षरालेखं लेखमवाचयत् ।

लिलेख^{११} च तं बाणिजकापसवं^{१२} हृदयेन धिक्कुर्वतो^{१३} लोचनाञ्जनकरण्डाबुपासेन वमबलिलपल्लवनिर्द्या-

पुत्र से कुछ जरूरी बात निवेदनीय है । अतः प्रकृष्ट घुटनों वाले इस युवक को यह पत्र देकर शीघ्र भेज दो ।’

गोविन्द ने कहा—‘श्रेष्ठित् ऐसा हो ।’

उसने पत्र में यह लिखा था—‘माप-सोल की कला के ज्ञाता महाबल ! यह युवक हमारे वंश को ध्वंस करने
के लिए अग्नि-सरोखा है, अतः पा तो यह विष देकर मार करके लावक है या गूसलों द्वारा वध करने योग्य है ।’

पिता (गोविन्द) और वैश्यपति (श्रीदत्त) द्वारा आज्ञापित हुआ धनकीर्ति उस मुद्राङ्कित पत्र
को अपने गले का आभूषणरूप मित्र बना कर उस उज्जयिनी नगरी की ओर चल दिया, जो कि पूर्वजन्म में
किये हुए उपकार के अधीन हुई मछली के जन्म के लिए बड़े तड़ाग-सरोखी है और नगरी के निकट पहुँचकर
वह नगरी के प्रवेश-मार्ग के निकटवर्ती वन में मार्ग को थकावट दूर करने के लिए आम्रवृक्ष की क्यारी के
समीप देश में निश्चेतनता पूर्वक सो गया ।

इसी अवसर पर पुष्प-वयन की क्रीड़ा करनेवाली, अपने सेवक जनों से सहित, समस्त विद्याओं में
निपुण, पूर्वभव (मछली को पर्याय) में किये हुए उपकार से उससे स्नेह करनेवाली एवं संजीवन बूटी-सरोखी
जीवनदात्री अनङ्गसेना नाम की बेश्या, उसी आम्रवृक्ष के नीचे गई और ऐसे धनश्री को देखकर निश्चल नेत्रों
वाली हुई, अर्थात्—टकटकी लगाकर देखने लगी । जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—पुष्परूपी बाणों की
पराधीनता से रहित हुआ (बाणों के बिना) कामदेव ही है—जो पूर्वजन्म का मित्र है, एवं जिसका शरीर
समस्त शुभ लक्षणों से सुभोभित है । इसके बाद उसने स्पष्ट जाना हुई कण्ठ की तीन रेखाओं से मुनोज्ञ मध्य-
भाग वाले उसके कंठदेश से, जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—उसकी चिरायु, लक्ष्मी व सरस्वती के समागम
को सूचित करनेवाली तीन रेखाएँ थीं, पत्र ग्रहण करके पढ़ा, जिसमें धनकीर्ति के वध करने की सूचक अक्षर-
पङ्क्ति चारों ओर लिखी हुई थी ।

इसके बाद उस निकृष्ट वणिक को हृदय से धिक्कार देती हुई उसने अपने नेत्ररूपी अञ्जन की

१. प्रकृष्टजानुः । २. प्रेषणीयः । ३. पीतवं तुला मानं च । ४. विषेण वध्यः । ५. मुशलेन वध्यः । ६. गोविन्द ।
७. मुद्रासहितं । ८. पूर्वजन्मनि यो मत्स्यः स तत्र वेश्या जाता वर्तते । ९. उज्जयिनीम् । १०. परिदरः मार्गः ।
११. पिकाप्रियश्चूतः । १२. निश्चेतनं । १३. चतुरा । १४. बाणान् बिना कन्दर्पं । १५. पूर्वजन्मोपकारिणं ।
१६. कण्ठरेखा । १७. शात्वा । १८. निन्द्यं पङ्क्तिरहितं । १९. निन्दतो ।

सरसङ्गतेन 'कञ्जलेना' 'जुनशलाकया' तत्रैव 'परिम्लिष्टपुरातनपुष्पे' पत्रे लेखान्तरम् । तथाहि—'यदि श्रेष्ठिनी सामवधेयवधनं' श्रेष्ठिनं भवति, महाबलश्च यदि सामनुल्लङ्घनीयवाचप्रसरं पितरं गणयति, तदास्मिन् निकामं सप्तपुत्र-पदेनपरीक्षिताभ्यधनपत्नये धनकीर्तये 'कूपदप्रक्रमेण द्विजवेदमु'त्तमसमविवारापेक्षं श्रीमती वातव्या' इति ।

ततो यथाभ्यातविशिषमिमं^१ लेखसामुच्च^२ समाचरितगमनायामनङ्गसेनायां धनकीर्तिश्चिरेण 'विद्या-सान्निव्रोद्रेकः' 'सोत्सेकमुत्थाय प्रधाय'^३ च शीघ्रननिकेतनं जननीमभिव्रजतः महाबलाय प्रदर्शितलेखः श्रीमती-^४ 'सखोऽभवत्' ।

श्रीदत्तो वार्ताभिन्नामाकर्ण्य प्रतूर्णं प्रत्यावर्त्य^५ निधाय^६ च तद्वधाय राजधानीबाहिरिकायां चण्डिकायतने कृतसंकेतं संनद्धवपुषं पुरुषं 'कचचराचरणपिशाचीं देवद्वीची'^७ च परिप्राप्तोदवसितो^८ रहसि धनकीर्तिं मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिरेवमावभाषे—'वत्स, मधोये कुले किल्बिषमाचारो यदुत यामिनोमुखे कात्यायिनीप्रमुखे^९ प्रवेशे प्रतिपन्ना-भिनवकङ्कणबन्धेन स्तनंधयागोधेन^{१०} महारजनरसरक्ताशुक^{११} समाधयः स्वयमेव^{१२} माघमयनो^{१३} रपौकुलि^{१४} बलिश्च-

द्विविया से ग्रहण किये हुए और उपवन की लताओं की नई कोपलों के रस में घोले हुए कज्जल से चाँदी की अथवा तूणों की सलाई (लेखनी) द्वारा उसी पत्र पर पहले के अक्षर मिटाकर दूसरा लेख लिखा। लेख इस प्रकार था—'यदि मेठानी मुझे आदरणीय वचनों वाला मानती है और यदि महाबल मुझे ऐसा पिता मानता है, जिसके वधन-समूह उल्लङ्घनीय नहीं हैं, तो सात पीढ़ी तक विशेष परीक्षित वंश लक्ष्मी वाले इस धनकीर्ति के लिये बिना विचार की अपेक्षा किये ब्राह्मण व अग्नि की साक्षीपूर्वक दहेज के साथ मेरी पुत्री श्रीमती देनी चाहिए।'।

यथोक्त मार्ग वाले इस लेख को उसके गले में बाँधकर अनङ्ग सेना चली गई।

जब चिरकाल के बाद धनकीर्ति की गाढ़ निद्रा का वेग दूर हुआ तो वह उत्कण्ठापूर्वक उठा और श्रीदत्त के घर पहुँचा और उसने माता-सहित महाबल के लिये पत्र दिखाया, जिससे वह श्रीमति का पति हो गया।

श्रीदत्त इस समाचार को सुनकर शोच ही लौट आया और उसने धनकीर्ति का वध करने के लिए राजधानी के बाह्य प्रदेशवर्ती चण्डिका देवी के मन्दिर में सशस्त्र व वध-करने का संकेत किए हुए पुरुष को एवं निन्द्य कर्म का आचरण करनेवाली पिशाची-सरीसृप देवपूजिका स्त्री को नियुक्त करके अपने गृह को चला गया और अत्यन्त कूटकापट की बुद्धिवाले उसने एकान्त में धनकीर्ति को बुलाकर फिर से कहा—'पुत्र! निदधय से मेरे गृह को ऐसी रीति है कि नवीन कङ्कण-वधन को स्वीकार करने वाले नवीन विवाहित कन्या के पति को रात्रि के अगले भाग में कात्यायनी देवी के प्राङ्गण प्रदेश में जाकर कुसुंभी रंग से रंगे हुए वस्त्र के

१. षोलितेन । २. 'हेमत्पूर्णं वा' टि० ख०, 'अर्जुनं तूर्णं' इति पञ्जिकायां । ३. पूर्वाक्षराणि परिमृज्य तूतनाक्षराणि लिखितानि । ४. आदरणीय । ५. 'जामातुदेयं वस्तु हिरण्यकन्यादार्यं कूपदः कथ्यते' टि० ख०, पञ्जिकाकारो-ऽप्याह—'सहिरण्यकन्यादार्यं जामातुदेयं वस्तु कूपदः' । ६. वेदमुखो बलिः । ७. मार्गं त्रिशिखा । ८. कण्ठे बद्ध्वा । ९. उदगतः उपशान्तः । १०. सगर्व । ११. गत्वा । १२. भर्ता । १३. गोविन्दगृहात् स्वगृहमागत्य । १४. पुरुषं स्थापयित्वा । १५. 'मलिनाचरित' टि० ख०, 'कचचरं कुत्सितं' पञ्जिकायां । १६. चण्डिका । १७. गृह । १८. प्राङ्गणे । १९. कुसुंभ । २०. रक्तवस्त्रेण श्रंपितः । २१. माघ—'धान्येन धतित' टि० ख०, 'धान्यपिष्टेन' टि० ख० । २२. मयूरः । २३. काकः ।

हर्तव्यः' । धनकीर्तिः— 'तात, यथा तातादेशः' इति निर्णयं गृहीतकुलदेवतादेय^१ हस्तकारोपकरणस्तेन स्थालेन महाबलेन पुरप्रतीलिप्रदेशाग्निःसरसवलोकितः । समालापितश्च—'हंहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकाराचन्यायामस्यां वेलायामवगणः^२ कबोजचलितोऽसि ।' 'महाबल, मातुलनिदेशात्प्रसक्त^३ निवेदनाय दुर्गालये ।' 'यद्येवं नगरजनासंस्तुत-
*त्वात्त्वं निवासं प्रति निवतस्व । अहमेतदुपस्थापितं^४ शशाङ्कः स्थापितुं^५ प्रयत्नयामि । यद्यत्र तातो रोजिष्यति तदा तद्रोषमहमपनेष्यामि ।' ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम्^६ । श्रीवत्तः सुतमरणशोकात्तज्जो-
पान्तः^७ प्रकाशिताशेषवृत्तान्तः 'सकलनिकाय^८ कार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मतोद्भावा^९ चन्द्रलेखे विशाखे,
कथमयं वेषेयो^{१०} ममान्वया^{११} पायहेतुः^{१२} प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः^{१३} प्रवासयितव्यः^{१४} ।' विशाखा—'श्रेष्ठिन्,
^{१५} भेलभावात्सर्वमनुपपन्नं^{१६} त्वया चेष्टितम् । अतः कुरुण्वतो^{१७} भोतः कुपकुटपोत इव तूष्णीमास्व । अविध्यति अव-
तोऽश्रोत्रं मनोषितम्' इत्याभाध्य अपरेक्षुर्दयितजीवितव्यतोदकेषु^{१८} भोदकेषु विषं संघार्य 'सुते श्रीभते, य एते कुन्वकुम्ब-

आश्रयवाली [अर्थात्—कुसुंभी वस्त्र पहिन कर] एवं पोसे हुए उड़द से बने हुए मोर व कोए की बलि देनी चाहिए ।'

इसे सुनकर धनकीर्ति बोला—'पिताजी ! जैसी आपकी आज्ञा ।'

धनकीर्ति कुलदेवता के लिए अर्पित करने योग्य सामग्री लेकर नगर की बीच की गली से निकला तो उसको उसके साले महाबल ने देखकर कहा—'धनकीर्ति ! इस निविड़ अँधेरी रात्रि की बेला में अकेले कहाँ जा रहे हो ?'

'महाबल ! मामा की आज्ञा से बलि देने के लिए दुर्गदेवी के मन्दिर को जा रहा हूँ ।'

'यदि ऐसा है तो तुम नागरिकों से अपरिचित हो, अतः गृह को लौट जाओ । दुर्गदेवी की यह मेंट देने के लिए मैं जाता हूँ । यदि पिताजी क्रुपित होंगे तो मैं उनका कोप दूर कर दूँगा ।'

धनकीर्ति अपने गृह पर गया और महाबल यमराज की उदररूपी गुफा में समा गया ।

पुत्र-मरण के शोक से समीप दुःखित हुए श्रीवत्त ने अपनी प्रिया 'विशाखा' से समस्त वृत्तान्त निवेदित करके कहा—'समस्त गृहकर्मी के नियमपूर्वक करने में विष्णु-सरीखी समर्थ और मेरे मन में सुख उत्पन्न करने के लिए चन्द्रपङ्क्ति-सरीखी 'विशाखा' सेठानी ! इस अभामे बालक को, जो कि मेरा वंश नष्ट करने में कारण है और मेरे द्वारा किये हुए अनेक कष्ट-पूर्ण घातक उपायों के विनाश करने में केतु-जैसा समर्थ है, कैसे मारना चाहिए ?'

'सेठजी ! [पञ्जिकाकार के अभिप्राय से अविचारक होने के कारण अथवा टिप्पणीकार के अभि-
प्राय से] बूढ़ होने के कारण तुमने सब कार्य अयोध्य किया । अतः बिलाव से डरे हुए मुर्गे के बच्चे की तरह तुम चुप बैठो । आपके सब मनोरथ पूर्ण होंगे ।'

दूसरे दिन सेठानी ने अपने पति का जीवन व्ययित करनेवाले लड्डुओं में जहर मिलाकर श्रीमति

१. दातव्यः । २. दान । ३. एकाकी । ४. 'देयवस्तु' टि० ख०, 'निवेद्यं' टि० च० । ५. अमंस्तुतः अपरिचितः । ६. हस्तकारं—दान । ७. दातुं । ८. अगात्—मृतः इत्यर्थः । ९. समीपदुःखः । १०. निकार्यं गृहं । ११. सौख्य, हे भाय्ये ! । १२. निर्भाग्यो बालिषः । १३. वंश । १४. मम कृतानेककष्टविनाशसमर्थः । १५. नवमो ग्रहः । १६. मारणीयः । १७. 'बूढ़' टि० ख०, 'भेलः अविचारकः' इति पञ्जिकायां । १८. अव्ययमानं अयुक्तं त्वया कृतं । १९. 'मार्जरात्' टि० ख०, 'कुण्डलो मार्जरीः' पं० । २०. पीड़केषु—व्यथकेषु ।

कास्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः, 'श्यावश्यामाकस्यामलश्वयश्च जनकाय' इति ^१समपितसमया समासप्र-
मरणसमया सरिति ^२सवनायानुसारः ।

श्रीमतिः—^३'यच्चोत्तमभक्ष्यं तत्प्रतोक्षाय' ताताय वितरीतव्यम्^४ इत्यवगत्याविज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या
निःशल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणाभीभूतम्^५ । विशाखा पतिशून्यमरण्यसामान्यमगारभाष्य^६ परिदेव्य^७ च सुचिरं पुनः
'पुत्रि, किमभ्यथा भवति महामुनिभाषितम् । केवलं तव वापेन^८ मया च स्वर्गपाप्मोयान्वयविलोपाय^९ कृतयोत्थापनमा-
चरितम् । तद्वलमत्र बहुप्रलापेन कल्पवृक्षेण कल्पलतेय रश्मनेन दैवदेयदेहरक्षाविधानेन धयेन^{१०} सार्धमाकल्पमिन्द्रियैश्चयं-
सुखमनुभव' इति संभाविताशीर्वादो तमेकं मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि^{११} प्रतस्थे । एवं स्वयं विहितकुरीहितवशादुपासा-
मितलोकमाशशोकावस्थे^{१२} दशमीस्थे^{१३} तस्मिन्प्रवचनुरे श्वभूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहाराभ्याकुललङ्घितघोरप्रतिघ^{१४}-
पञ्चकापरप्रतिविममुदीयमानसंपदेकदा तेन विश्वभरेण क्षितीश्वरेण निरीक्षितः । तद्व्यसंपत्तौ जातबहुविस्मयेन तनूजया

पुत्री से कहा—'पुत्री श्रीमति ! इन लड्डूओं में से कुन्द व कुमुद-पुष्प-सरीखी कान्ति वाले श्वेत लड्डू तो अपने
पति को देना और धूसरित श्याम धान्य-सरीखे श्याम लड्डू अपने पिता को देना' इतना संकेत करके निकट-
वर्ती मरणवाली सेठानी नदी में स्नान करने के लिए चली गई । इसके पश्चात् श्रीमती पुत्री ने ऐसा निश्चय
किया कि 'श्वेत वर्णवाले खाने-योग्य उत्तम लड्डू तो पूज्य पिताजी के लिए देना चाहिए ।'

श्रीमति को माता के चित्त की कुटिलता का पता नहीं था और वह निष्कपट मन वाली थी, इसलिए
उसने उन दोनों के लिए प्रस्तुत लड्डू उलट कर दे दिये । अर्थात्—विर्षले लड्डू अपने पिता के लिए और
निर्विष लड्डू अपने पति के लिए खिला दिये । जिससे उसका पिता श्रीदत्त काल-कवलित हो गया ।

जब विशाखा स्नान करके आई तो उसका पति मर चुका था, इसलिए वह जंगल-सरोखे पति-शून्य
गृह में आकर बड़ी देर तक रोई और बोली—'पुत्रि ! क्या महामुनि की वाणी मिथ्या होती है ?' केवल
तुम्हारे पिता और मुझ वृद्धा ने अपने स्थिर वंश को नष्ट करने के लिए इस कृत्या* का उत्पादन किया है । इस-
लिए अब शोक करना व्यर्थ है । अतः अब कल्पवृक्ष के साथ कल्पलता-सरीखी तू दैव के द्वारा रक्षा किये हुए
इस पति के साथ, कल्पकाल तक इन्द्रिय-सुख व एश्वर्य सुखों को भोगो ।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक
जहरीला लड्डू खा लिया और पति की अनुगामिनी हो गई—मर गई ।

जब धनकीर्ति के सास समुर स्वयं किये हुए दुरभिप्राय से पुत्र-मरण से विशेष शोकाकुल होकर काल-
कवलित हुए तब धनकीर्ति पूर्वजन्म संबंधी पुण्य के माहात्म्य से भयानक विघ्नों वाली पाँच विपत्तियों को उल्ल-
ङ्घन करके दिनोंदिन उदित होनेवाली संपत्ति से मुशोभित हुआ । एक दिन 'विश्वभर' राजा ने उसे देखा,

१. 'श्यावः श्यात् कपिशः धूसरारुणाः' टि० ख०, 'श्यावः कर्दमः' इति पञ्चिकायां । २. मता—अभिप्राया ।
३. स्नाताय । ४. 'यच्चोत्तमभक्ष्यं' इति क० ख० च० प्रतिष्ठु, टिप्पण्यां तु 'चोक्षः सुन्दरगीतयोः शुभौ ।' ५. पूज्याय ।
६. देयं । ७. परिवेषयामास—इत्ते स्म । ८. आगत्य । ९. रोदनं कृत्वा । १०. पित्रा । ११. अथर्वण्यजे कृते सति
यथाऽऽमवधाय कृत्या उत्पद्यते । १२. कान्तेन । १३. मृता इत्यर्थः । १४. उपात्ता बहुला पुत्रमरणशोकस्य अवस्था
येन । १५. मृते सति । १६. विघ्नः ।

*. कृत्या — अपने नाश के लिए की हुई मन्त्र-सिद्धि ।

सारांश यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य शत्रु का वध करने के उद्देश्य से मन्त्र विशेष सिद्ध करता है, जिससे
शत्रु का वध करने के लिए एक पिशाच प्रकट होता है, परन्तु यदि शत्रु जप, होम या दानादि करने से विशेष
वलिष्ठ होता है, तब वह पिशाच शत्रु को न मारकर उल्टा मन्त्र-सिद्धि करने वाले को मार डालता है ।

सह उभयेन^१ विनामाधिपत्यपत्नेन योजितश्च । गुणपालः किवदन्तीपरम्परया अस्य^२ कल्याणपरम्परामुपभूत्य-
कौशाम्बीवेशास्पद्यावती^३ पुरमागत्य अनेनाश्चर्यं स्वयंभावा लुब्धः^४ सह संजग्मे^५ ।

अथान्यथा सकलत्रपुत्रनिश्रितन्त्रेण धनकीर्तिना दर्शनायागतयानङ्गसेनया चानुगतिनिष्ठो गुणपालभेष्टो
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविषयसम्प्राजमखिलमुनिमण्डलीराजं श्री यशोध्वजनामभाजं भगवन्तमभिवन्द्य स बहुप्रधपमेवम-
पृच्छत्—‘भगवन्, किं नाम जस्मान्तरे धर्ममूर्तिना धनकीर्तिना सुकृतमुपाजितम्, येन बाधकालेऽपि तानि तानि वैश्वक-
शरणप्रतीकाराणि व्यसन्तामि श्रुतिश्रान्तः, येनास्मि^६ल्लोकव्यतिरिक्त^७रमा^८कपसंपन्नोऽभूत् । येनाव^९भ्रात्रिय^{१०} ।
विभावसुप्रभासंभार इव देवानामप्यप्रतिहतमहाः^{११} समजनि, येन चापरेषामपि तेषां तेषां^{१२}महापुरुषकक्षावपहाणां^{१३}
गुणानां समवायोऽभवत् । तयारि—रत्नार्त्तं^{१४}विदग्धतायाः, वदान्यो वदान्यस्त्वयि^{१५}, निकेतनसखदानकर्मणः^{१६},
क्षेत्रं मैत्रेयिकायाः^{१७} स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनो भवतुः^{१८} कस्तुरिव च^{१९} कामिनीलोकस्य । तदस्य भवन्त,

उसकी लावण्य सम्पत्ति देखकर राजा को विशेष आश्चर्य हुआ । उसने उसके साथ अपनी राजकुमारी का
विवाह कर दिया और उसे राजसेठ पद पर भी अधिष्ठित कर दिया । अर्थात्—इस प्रकार धनकीर्ति विवा-
होत्सव व श्रेष्ठिपदोत्सव इन दोनों उत्सवों से सुशोभित हुआ ।

जब धनकीर्ति के पिता गुणपाल ने किवदन्ती परम्परा (जन-साधारण की खबर) से अपने पुत्र धनकीर्ति
की कल्याण परम्परा सुनी तो वह कौशाम्बी से उज्जयिनी नगरी में आकर आश्चर्यजनक ऐश्वर्यशाली अपने
पुत्र के साथ सम्मिलित हुआ ।

एक बार स्त्री, पुत्र व मित्रादि से युक्त धनकीर्ति पुत्र के साथ और दर्शन के लिए आई हुई अनङ्ग-
सेना के साथ अनुगमन करने वाले गुणपाल सेठ ने मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्ययज्ञान के धारी एवं
समस्त मुनियों की मंडली में श्रेष्ठ श्री यशोध्वज आचार्य के लिए नमस्कार करके विशेष विनय पूर्वक पूछा—
‘भगवन् ! इस धर्ममूर्ति धनकीर्ति ने पूर्वजन्म में ऐसा कीत-सा पुण्य संचय किया था ? जिसके कारण इसने
बचपन में भी ऐसे भीषण दुःख नष्ट किये, जो कि इसके केवल भाग्य की शरण द्वारा दूर किये जा सकते थे ।
एवं जिससे यह इस जन्म में भी लोक से प्रचुर लक्ष्मी व लावण्य सम्पत्ति से सम्पन्न हुआ । जिसके प्रभाव से
यह वैसा देवों द्वारा भी नष्ट न किये जाने वाला तेजस्वी हुआ जैसे बहुल मेघपटल सम्बन्धो वज्राग्नि का तेज-
पुञ्ज किसी के द्वारा नष्ट न किये जानेवाले तेजवाला होता है । जिसके प्रभाव से यह पुराण-पुरुषों—
तीर्थङ्करादि—के पक्ष के उन-उन गुणों के साथ नित्य संबंध करने वाला हुआ ।

जैसे यह विद्वत्ता का आश्रय है, उदारता गुण का स्थान है । यह अवदान (शत्रुओं का खंडन, सर्व-
पालन, सर्वप्रदान अथवा शुद्ध कर्म) का स्थान है । यह समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव की उर्वरा भूमि है ।
इससे स्वप्न में भी कुटुम्बीजनों के मन में खेद या अपराध उत्पन्न नहीं हुआ एवं यह स्त्री-समूह के लिए

१. एको विवाहोत्सवः द्वितीयः श्रेष्ठिपदं । २. धनकीर्तः । ३. उज्जयिनी । ४. पुत्रेण । ५. सम्मिलितः ।
६. जन्मनि । ७. अधिक । ८. ‘सारूप्य’ इति ग० । ९. श्रीः । १०. बहुल । ११. ‘अश्रपटलसंघर्षी अग्नितेजः
समूहवत्’ टि० ख०, ‘अभ्रियो वज्राग्निः’ इति पञ्चिकायां । १२. तेजः । १३. पुराणपुरुषः । १४. परवशानां ।
- १५-१६. ‘विदान्यो विदग्धः’ ‘वदान्यस्त्वयागी’ इति पञ्चिकायां, ‘विदग्धतायाः’ टि० च०, ‘स्यान् वतान्यतायाः’ इति
ख० प्रती । ‘वक्तृत्वस्य, वदान्यो वरगुणागपि प्रियवादी । स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशीलः बहुप्रदे । वदति दीयतामिति
वदान्यः वदेरान्यः । वदान्यो वरगुणागपि’ इति टि० ख० । १७. अवदानं शत्रुखंडनं, सर्वपालनं सर्वप्रदानं वा शुद्धकर्म,
टि० ख० । ‘अवदानं साहसं’ इति पं० । १८. ‘मित्रत्वस्य’ टि० ख० । ‘मित्रयुः व्यवहारखंडी तस्य भावो मैत्रेयिका’
इति पं० व टि० च० । १९. ‘विप्रियं अपराधः’ टि० ख० । ‘खेदः’ इति टि० च एवं पञ्चिकायामपि । २०. कामः ।

आपणिक'परिषत्प्रवणस्य मिःशेषशास्त्रप्रवीणान्तःकरणस्य निसर्गदेव निखिलपरिजनालपनसत्त्वस्य' *सदाधारशुक्लस्य विनेयजनमनःकुवलयानन्दिकथावतारासृतमूर्तेः^३ सुकीर्तार्धनकीर्तः पुरोपाजितं सुकृतं कथयितुमर्हसि ।' भगवान्—'धेच्छिन्, भूयताम् ।' तत्संबन्धसक्तं पूर्वोक्तं वृत्तान्तमचकथत्—'या चास्य पूर्वभवानिकटा घण्टा वधूदी सा कुतनिवाना वपुनसि' प्रवेशादियं संप्रति श्रीमतिः संजाता । यद्यच्च स मोतः स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्व पर्यायपर्वे^४ मनःकुसेनाभूत् । अतोऽस्य महाभागस्यैकदिवसाऽहिंसाफलमेतद्विजृम्भते । धनकीर्तिरेतद्वचन^५ पवित्रश्रोत्रवर्मा । तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभवं भवं संभाल्योग्मूल्य च तमःसंतानतन्निवेशमिव केशपाशं तस्यैव 'दोषजस्यान्तिके यथायोष्यताविकल्पं तयःकल्पमादाय जितमार्गोचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रयं विधाय च विधिवतिरज्य^६ मनोवर्तनं प्रायोपवेदनम्' । तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्बभूव । श्रीमतिरनङ्गसेना च 'कल्पान्तरसंयोग्यं देवसापुत्र्य'^७ मभजत् ।

भवति चात्र श्लोकः सर्वार्थः—

पञ्चकृत्वः^८ किलकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा । अभूत्पञ्चापवेतोस्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥ ९४ ॥

कामदेव-सरीखा विशेष प्यारा है । इसलिए पूज्यवर ! आप ऐसे धनकीर्ति की पूर्वजन्म में संचय किये हुए पुण्य की कथा कहिए, जो कि वणिक-परिषत् में तन्म्र या अनुरक्त है । जिसका मन समस्त शास्त्रों में निपुण है । जो समस्त आश्रित जनों के साथ वार्तालाप करने में मश्रुर है । जो सदाचार से शुभ्र है । एवं जिसका कथावताररुणी चन्द्रमा शिष्यजनों के मनरूपी कुवलय (चन्द्रविकासी कमल) को प्रमुदित—विकसित करने वाला है और जो प्रशस्त कीर्तिमान है ।

मुनिराज ने इसके पूर्वजन्म की कथा कह सुनाई ।

जो पूर्वजन्म में समीप रहने वाली इसकी घण्टा नामकी स्त्री थी, वह निदान बंध करके अग्नि में जल मरी थी, वह इस जन्म में इसकी प्रिया श्रीमती हुई है और जो मछली थी, जिसे मृगसेन ने जल में जीवित छोड़ दिया था, वह कालक्रम से पूर्वपराय छोड़कर दूसरे पर्याय धारण कर अनङ्गसेना हुई है । अतः एक दिन हिंसा न करने का फल इस भाग्यशाली को प्राप्त हुआ है ।

धनकीर्ति ने उक्त आचार्य के वचनों से अपना श्रोत्रमार्ग पवित्र किया । इसकी प्रिया श्रीमती ने और अनङ्गसेना नामकी वेश्या ने अपना पूर्वभव सुनकर अन्धकार-समूहका वृक्ष के प्रवेश-मरीखे केश-पाशों का लुञ्चन करके उसी विद्वान् आचार्य के समीप अपनी योग्यतानुसार दीक्षा ग्रहण की और जैन मार्ग के अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रय का आराधन किया । और मनोवृत्ति को निर्विघ्नतापूर्वक समाधिमरण किया । धनकीर्ति सर्वार्थ सिद्धि विमान को प्राप्त करने में कीर्तिमान हुआ और श्रीमती और अनङ्गसेना भी स्वर्गलोक में देव हुए ।

इस कथा के विषय में समस्त विषय को बतलाने वाला एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—निस्सन्देह धनकीर्ति, जिसने पूर्वजन्म में एक मछली को पाँच बार रक्षा की थी, जिससे वह पाँच भयानक आपत्तियाँ पार करके लक्ष्मी का स्वामी हुआ ॥ ९४ ॥

१. वणिक । २. मधुरस्य । ३. इदं पदं मु० प्रती नास्ति, किन्तु ह० लि० क० प्रतिज्ञा संकलितं—सम्पादक । ४. चन्द्रस्य । ५. अग्नी, 'दमुनाश्चित्रमानुस्तनूनपात् । ६. पर्वप्रस्तावे । ७. वचनं वचनं । ८. 'विदुषः' इति टि० ख०, 'दोषजः अतीन्द्रियजः' इति पञ्चिकायां तथा टि० च० । ९. निर्विघ्नं । १०. पादोपयानमरणं—संन्यासविधि । ११. स्वर्गलोक । १२. 'देवत्व' टि० ख०, 'प्रायुज्यं साम्यं' इति पं० । १३. पञ्चवारान् ।

इष्टुपासकाध्ययने अहिंसाफलवलोकाभौ नाम वद्विंशः कल्पः ।

अवस्तस्य परस्वस्य^१ ग्रहणं स्तेयमुच्यते । सर्वभोग्यास्तद्वन्धत्र भावः शोषदृष्टादितः ॥ ९५ ॥

जातीनामत्यये^२ चित्तमवस्तमपि संमतम् । जीवतां तु निक्षेपेन^३ वतक्षतिं रतोऽन्यथा ॥ ९६ ॥

संक्षेपेनाभिनिवेशेन^४ प्रवृत्तिर्धनं जायते । तत्सर्वं रायि^५ विज्ञेयं स्तेयं स्वान्यजनाश्रये ॥ ९७ ॥

रिक्थं^६ निविनिधानोत्थं^७ न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते । यस्त्वस्या^८ स्वाभिकस्येह वायावो मेदिनीपतिः ॥ ९८ ॥

आत्माजित्तमपि द्रव्यं^९ द्वापरायाम्यथा भवेत् । निजान्वयावतोऽन्यस्य^{१०} वतो स्वं परिवर्जयेत् ॥ ९९ ॥

मन्दिरे पविरे^{११} तीरे कान्तारे धरणीधरे । तस्मान्मयोधमावेयं स्वापतेयं वताश्रयः ॥ १०० ॥

धीतवन्मूनताधिक्ये स्तेनकर्म^{१२} ततोऽग्रहः^{१३} । विपहे^{१४} संप्रहोऽर्थस्या^{१५} स्तेयस्येते निवर्तकाः^{१६} ॥ १०१ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अहिंसा का फल बतलानेवाला यह छब्बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ । अब चोरो न करने का उपदेश करते हैं—

अचौर्याणुव्रत

सर्वसाधारण के भोगने योग्य जल व तृण-आदि पदार्थों को छाड़कर क्रोधादि कषाय से, बिना दिया हुआ दूसरे का धन ग्रहण करना चोरी कही जाती है ॥ ९५ ॥ कुटुम्बियों की मृत्यु हो जाने पर, उनका धन बिना दिया हुआ भी ग्रहण किया जा सकता है । परन्तु जीवित कुटुम्बियों का धन उनकी आज्ञा लेकर ही ग्रहण किया जा सकता है । अन्यथा (उनकी जीवित अवस्था में उनकी आज्ञा के बिना उनका धन ग्रहण कर लेने पर) अचौर्याणुव्रत की क्षति होती है ॥ ९६ ॥ अपने या दूसरों के धन में जब आर्त व रौद्र अभिप्राय से (चोरो के अभिप्राय से) प्रवृत्ति की जाती है, तो वह सब चोरो ही समझनी चाहिए ॥ ९७ ॥ निधि (भूमि-आदि में गड़ा हुआ जो खजाना व्यय करने पर भी नष्ट नहीं होता) और निधान (जो व्यय करने पर नष्ट हो जाता है—अल्प खजाना) से उत्पन्न हुआ बिना स्वामी का धन राजा को छाड़कर दूसरे का नहीं है; क्योंकि लोक में जिस धन का कोई स्वामी नहीं है, उसका स्वामी राजा होता है । अभिप्राय यह है कि नदी, गुफा व खानि-आदि में पड़ा हुआ धन राजा के बिना दूसरे का नहीं है, क्योंकि स्वामी से हीन हुए धन का राजा स्वामी होता है ॥ ९८ ॥ अपने द्वारा उद्यम-आदि से उपार्जन किया हुआ धन भी यदि संदिग्ध है अर्थात् (यह मेरा है ? या दूसरे का ?) तो उसका ग्रहण करना भी चोरी है, अतः व्रती पुरुष को अपने कुटुम्ब के सिवाय दूसरों का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ९९ ॥ अचौर्याणुव्रतो पुरुष को मन्दिर, मार्ग, जल, वन व पर्वत-आदि में पड़ा हुआ दूसरों का धन नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ १०० ॥

नापने-तोलने के बाँट तराजू-आदि को कमतो-बढ़तो रखना, चोरो करने का उपाय बतलाना, चोर से लाई हुई वस्तु को खरीदना, राज्य-विरुद्ध कार्य करना व पदार्थों को संग्रह करना ये अचौर्याणुव्रत के

१. धनस्य । २. विनाशे मरणे सति । ३. आदेशेन ग्राह्यं । ४. विनाशः । ५. आर्तरोद्राभिप्रायेण प्रवर्तनं । ६. धने । ७. धनं । ८. यो व्ययीकृतः क्षयं न याति स निधिः । ९. यद् व्ययीकृतं सत् क्षयं याति तन्निधानमल्पमित्यर्थः । १०. द्रव्यस्य । ११. संपादाय—सन्वेहाय । १२. स्वर्वशादन्यस्य धनं वर्जयेत् । १३. मार्गं । १४. तुलाहीनाधिक्ये । १५. चौर्याणुमोदनं । १६. ततः स्तेनात् । १७. 'चौरार्थादानं' टि० ख०, 'चौरादानीतद्रव्यग्रहणं' टि० च० । १८. राज्यविरुद्धे । १९. वस्तुनः पदार्थस्य । २०. अतोचाराः । 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहृताधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' मोक्षशास्त्र अ० ७ सूत्र २७ ।

रत्नरामा^१ङ्गरत्न^२स्त्रीरत्नाम्ब^३रविभूतयः । सकल्पचिन्तितास्मेवामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥ १०२ ॥

^४परप्रमोक्षतोषेण तृणाकृष्णविद्यां नृणाम् । अत्रैव घोषसंसृतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥ १०३ ॥

अथ ताम्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागवेशेषु निवासविलासवारलाप्रकापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेविनीप्रप्राधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः । तस्य निखिलभूषमजतस्तवनोचितवृत्ता रामवत्ता नामाग्रमहिषी । सुतो बानपोराश्चर्यसौन्दर्योवायं परितोषितानिमि^५क्षेत्री सिंहचन्द्रपूर्णचन्द्रौ नाम । निःशेष-शास्त्रविशारदमतिः श्रीभूतिरस्य पुरोहितः ^६सूनुता धिकधिवणतया सत्यघोषापरनामधेयः । धर्मपत्नी चास्य पतिहि-संकषित्ता श्रीवत्ता नामाभूत् ।

स किल श्रीभूतिविश्वासरसनिर्विलतया परोपकारनिष्ठतया^७ च विमलानेकापवरक^८रचनाशालिनीभिर्महा-भाण्ड^९वाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभिः^{१०} कुल्याभिः^{११} समन्वित^{१२} मत्सुलभजलधरसे^{१३} ध्वजप्रचारं^{१४} भण्डनारम्भोद्भूत^{१५}-भटी^{१६}रपेटकपक्षरक्षासारं^{१७} गोस्तप्रमाणं वप्रधाकारं^{१८} प्रतीलिपरिष्ठासूत्रितत्राणं प्रपासत्^{१९} असमासनाथ^{२०} कीचि^{२१}।

अतीचार हैं ॥ १०१ ॥ त्रिन महापुरुषों में विशुद्ध—निरतिचार-अचीर्याणुव्रत प्रतिष्ठित होता है, उन्हें माणिक्य-आदि रत्न, सुवर्ण-आदि, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र-आदि विभूतियाँ बिना चिन्तवन की हुई स्वयं प्राप्त हो जाती हैं ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य दूसरों की धनादि वस्तु चुराकर हर्षित होते हैं, तृणा से मलिन बुद्धि वाले उन्हें ऐहिक दुःख (जेलखाने-आदि का कष्ट) और पारलौकिक दुर्गति के कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥ १०३ ॥

१४. चोरी में आसक्त श्रीभूति पुरोहित की कथा

चोरी के फल के संबंध में एक कथा है, उसे सुनिए—प्रयाग देश के सिंहपुर नामक नगर में, जहाँ पर वेश्याओं के नूपुर, गृहों में क्रोड़ा करती हुई हंसिनियों के मधुर स्वरों के साथ मुखरित हो रहे थे—शून्यशून ध्वनि कर रहे थे, 'सिंहसेन' नामक राजा था, जिसकी सेना समस्त समुद्रों से चिह्नित पृथ्वी को वश करने वाली थी और जो सिंह-सरोखा पराक्रमी था । उसकी समस्त लोक के मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय चरित्रशालिनी 'रामदत्ता' नामकी पट्टराज्ञी थी । उनके आश्चर्यजनक लावण्य सम्पत्ति एवं उदारता द्वारा देवों के इन्द्रों को प्रमुद्रित करने वाले 'सिंहचन्द्र' व 'पूर्णचन्द्र' नामके दो पुत्र थे । समस्त शास्त्रों में निपुण बुद्धिशाली 'श्रीभूति' राज-पुरोहित था । अपनी बुद्धि की सत्य वचन की ओर विशेष प्रेरित करने से उसका दूसरा नाम 'सत्यघोष' भी था । पति का हित करने में लीन चित्तवाली उसकी 'श्रीदत्ता' नामकी धर्मपत्नी थी ।

श्रीभूति पुरोहित बिना बिघ्न वाधाओं के अपना विश्वास व प्रेम उत्पन्न करने में समर्थ था और परोप-कार करने के अधीन था । अतः उसने एक ऐसा क्रयाण नगर बनवाया, जो कि ऐसी पटशालाओं (वस्त्रगृहों—तम्बुओं) से युक्त था, जो कि जुड़े-जुड़े अनेक अन्तर्गृहों की रचना से सुशोभित थीं । जहाँ पर बड़े-बड़े वर्तन स्थापित थे और जो गोशाला के नजदीक थीं । जहाँ पर जल, घास व ईंधन का मिलना सुलभ था । जो युद्ध के आरम्भ करने में उत्कट योद्धाओं के समूह के निवास से विशेष सुरक्षित होने के कारण उत्तम था । जो एक कोस के विस्तार में बना था । जो खेत, कोट, मुख्य मार्ग और ज़ाई होने से सुरक्षित था और

१. सुवर्णादि । २. उत्तमस्त्री । ३. उत्तमवस्त्र । ४. परवस्तुचौर्यहर्षण । ५. देवाः । ६. सत्यवचन ।

७. परव्रणतया । ८. अरंडा वोकश ? । ९. 'कुण्डकूण्डोप्रमुख' टि० ख०, 'वाक्वरभाजन ? टि० ख० । १०. गोमहिषी-वन्धनस्थानसमीपाभिः । ११-१२. वस्त्रशाल, पटशालाभिः क्रयाणपत्तनं पोटस्थानं विनिर्माप्य । १३. तृण ।

१४. संग्राम । १५. उत्कट । १६. सुगट । १७. क्रोश । १८. अधोलोढभित्तिवाधारः । १९. सत्रमाच्छादने यशो सदावन्ते वनेऽपि च इत्यमरः । संकलित—सम्पादक २०. सहित । २१. मार्ग ।

निवेशनं पण्यपुटभेदनं^१ विद्वरितकितवविटविद्वषक^२पीठ^३मर्वावस्थानं^४ पेण्डास्थानं^५ विमिनप्य तानादिश्वेशोपसर्पण-
पुजां वणिजां प्रशान्तेशुत्क^६भाटक^७भाग^८हारव्यवहारमचीकरत् ।

अत्राग्तरे पचिनीखेटपट्टनविनिविष्टा^९वासतन्त्रस्य गुह्यपुस्तकप्रवर्णिगन्विष्टिगोचरस्य सगित्तयोः पुस्तिकतय
११ निजसभाभिजनाम्भोजभानुः सूपुर्भद्रमित्रो नाम समानधनचारित्र्यैर्वणिक्पुत्रः सत्त्रं^{१२} बहिस्तयात्रायां यियासुः ।

‘पादमाया’^{१३} निवि^{१४} कुर्वास्थारं वित्ताय कल्पयेत् । धर्मोपभोगयोः पार्श्वं पार्श्वं भर्तव्यपोषणे^{१५} ॥१०४॥’ इति ।

*पुण्यश्लोकार्थमवधार्य विचार्य धातिविरमुप^{१६} निधिन्यासयोग्यतावासम् उचिताचारसेव्योऽवधारितेति कर्तव्य-
स्तस्याखिललोकप्रलाप्यविश्वासप्रसूतेः श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नीसमसमनर्थ^{१७} कक्षमनुगताप्तकं^{१८} रत्नसप्तकं निधाय विधाय
च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्णद्वीपमनुससार ।

जहाँ पर प्याऊ, सदावर्त और व्यवहार-निर्णय करने वाली सभा से युक्त हुई गृह पंक्तियों की रचना पाई जाती थी ।

और उसमें ऐसा पीठस्थान (बाजार) बनवाया, जो कि जुआड़ियों, चिटों, विद्वपकों व मशखरों की स्थिति से रहित था । वहाँ ब्रह्म नाना दिशा संबंधी देशों से आने वाले वणिकों के साथ स्वल्पव्याज व स्वल्प-भाड़ा और थोड़े दान-ग्रहण वाला व्यापार करने लगा ।

इसी बीच में पचिनीखेट नगर में स्थित हुए गृह में निवास करने वाले और मुदत्ता नामकी स्त्री के सदाचार से पवित्र वंशदाले, वणिक् स्वामी ‘सुमित्र’ नामके सेठ का अपने कुटुम्बी जनरूपी कमलों को विक-सित करने के लिए सूर्य-सरीखा ‘भद्रमित्र’ नाम का पुत्र था ।

एक समय वह धन व चरित्र में अपने-सरीखे अन्य वणिक् पुत्रों के साथ यानपात्र (जहाज) द्वारा समुद्र-यात्रा करने का इच्छुक हुआ ।

नीति में कहा है—‘अपनी आमदनी का एक चौथाई तो पूंजी-निमित्त निर्धारित करके रखना चाहिए । एक चौथाई व्यापार के लिए निर्धारित करना चाहिए । एक चौथाई धार्मिक कार्यों व उपभोग में खर्च करना चाहिए और एक चौथाई से अपने आश्रितों का पालन करना चाहिए’ ॥ १०४ ॥

इस सत्य वाणी को निश्चय कर भद्रमित्र ने अपनी स्थापनीय रत्नादि निधि को किसी सुरक्षित योग्य स्थान में रखने का विरकाल तक विचार करके शास्त्रोक्त सदाचार पालनेवाले व निश्चित कर्तव्यशील उसने अन्त में समस्त लोक में प्रशंसनीय विश्वास के जनक उसी श्रीभूति के हाथ में उसकी स्त्री के समक्ष अत्यन्त मूल्यवान पक्षवाले व पूर्व पुरुषों द्वारा संचय किये हुए अपने सात रत्न धरोहररूप में स्थापित करके जल-यात्रा में समर्थ धन को अपने पास रखकर एक जहाज द्वारा ऐसे सुवर्ण द्वीप को प्रस्थान किया, जहाँ पर एक वर्ण वाली प्रजा के रहने की किवदन्ती है ।

१. क्रमणपत्तनं । २. वैहासिक । ३. ‘कामाचार्यं वेश्याचार्यं’ टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु ‘पीठमर्दः नाटकाचार्यः’ इत्याह ।
४. पीठस्थानं । ५. स्वल्प । ६. व्याज । ७. भाड़ा । ८. दाण । ९. स्थितम् । १०. ‘गोत्रजन’ टि० ख०,
‘सनातिर्वन्धुः’ इति पञ्जिकायां । ११. यानपात्र । १२. उपार्जन-लाभमभ्यात् । १३. पूंजीनिमित्तं ।
१४. निर्धारितं कार्यं । * पुण्यश्लोकः सत्यवाक् । १५. बहुमूल्यपदं । १६. स्थापनीयं द्रव्यं । १७. बहुमूल्यपदं । १८. पूर्वपुरुषसंचितं ।

पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमभिरयमात्माभिमर्तं^१ वस्तुस्तन्मवावय^२ प्रत्यावर्तमानस्याद्भुतसगराव-
सानस्याकाण्डप्रचण्डबलादनितात्परिवर्तित^३ पोतपात्रस्य^४ यद्बुद्धिः^५ यत्तया आपुषः^६ शेषत्वास्तस्यैकस्य प्रसादफलका^७—
वलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रवेशप्राप्तजीवितस्य कथंकथमपि क्षणवायाः^८ क्षयिणि चरमयामक्षणेऽद्विरो^९ घोषसन्धिरभवत् ।

ततोऽसी^{१०} "सुखं धितशरीरत्वादपाराकूपारक्षारवारिवशवांश^{११} काक्षयदिवरायार्पयत्^{१२} मूर्च्छां^{१३} कर्मप्रका-
रूपितचक्रवाकचिन्तामणौ^{१४} प्रागचलचूलिकाचक्रवालचूडामणौ^{१५} कमलिनीकुलविकासाहितहंसवा^{१६} सितशर्मणि विष-
कर्मणि^{१७} १३ १४ "वल्लभलितान्तरालरक्षिरे लोचनगोचरे संजाते सति बान्धवजनमरणाद्द्विविणसंश्रवणा^{१८} क्वातीवान्तर्भनस्तथा^{१९}
१० "ज्ञातच्छायाकायः^{२०} ११ पटञ्जरखलवीरोनिचिताङ्ग^{२१} १२ शकटिः कर्पटिः १३ परपत्न्यो^{२२} १४ वास्तितिरस्ताभिमानावभिरवर्तन्तिः^{२३} १५ सन्
क्रमेण सिंहपुरं नगरमागत्य गौमात्रावसेय^{२४} पूर्वपर्यायस्तं महामोहरसो^{२५} स्मारितम्रीति श्रीभूतिमभिजानाधिकवाक्यो
माणिकसप्तकमयाक्षत । परप्रतारणाम्यस्तश्रुतिगोतिः^{२६} श्रीभूतिः ।

वहाँ अनगिनती विक्रेय वस्तुएँ, बेंचकर तथा उनके बदले में चिन्तवन के लिए अशक्य व मनचाही वस्तु-समूह खरीदकर वापिस लौट रहे उसको जब समुद्र का किनारा समीप आया तब असमय में आये हुए प्रचण्ड शक्तिशाली वायु के झकासों से (बड़े जोर का तूफान आने से) इसका जहाज उच्छलित हो गया— उलट गया । देव (भाग्य) की अवलम्बन-परता से व वायु बाकी रहने से वह टूटो हुई जहाज के टूटें हुए काष्ठ खण्ड को ग्रहण करने उद्यत हुआ । कण्ठप्रवेश में प्राप्त हुए प्राणवाले उसे रात्रि के अन्तिम पहर बीतने पर किसी प्रकार से समुद्र-तट की प्राप्ति हुई ।

यह सुख से वृद्धिगत शरीर वाला था, परन्तु उक्त घटना से और अपार समुद्र के खारे जल से इसका चित्त शून्य हो गया और चिरकाल में इसकी उत्पन्न हुई मूर्च्छा दूर हुई । जब ऐसा सूर्य दृष्टिगोचर हुआ— उदित हुआ, जिसने अपनी किरणों के प्रसार से चकवी-चकवी का चिन्तारूपी मणि चूर-चूर किया है । जो उदयाचल की शिखर-मण्डल का चूडामणि (मुकुटमणि) है । जिसने कमलिनी के समूह को विकसित करने से हंसिनी में सुख स्थापित किया है और जो विकसित कमलों के मध्य प्रविष्ट होने से मनोज्ञ है । तब बन्धुजनों के मरण से और धन के विनाश हो जाने से उसे विशेष मानसिक दुःख हुआ । उसकी शारीरिक कान्ति म्लान हो गई थी । उसकी शरीररूपी छोटी गाड़ी जीर्ण वस्त्र के चीथड़ों से आच्छादित थी । वह निर्धन था । परगृहों की सेवा से उसकी अभिमानरूपी पृथिवी नष्ट हो चुकी थी । अन्त में आजीविका-शून्य हुआ वह धूमता-धूमता क्रम से सिंहपुर में आया । उसको पूर्वदशा केवल वचन द्वारा ही निश्चय करने योग्य थी । वह श्रीभूति का स्मरण करके जोर-जोर से चिल्लाता था । उसने तोष लोभ के कारण प्रीति का त्याग करनेवाले श्रीभूति से अपने सात रत्न मणि ।

दूसरों को ठगने के लिए वेद व स्मृति शास्त्र का अभ्यास किये हुए श्रीभूति ने सोचा—

१. वस्तुसमूह । २. व्याघुदितस्य । ३. उच्छलित । ४. देवावलम्बनपरतया । ५. घुदितभग्नप्रवहणिकाण्डं । ६. राशेः । ७. समुद्रतट । ८. वर्द्धित । ९. शून्यचित्त । १०. स्फोटित । ११. चिन्ता एव मणिः । १२. स्त्री । १३. आदित्ये—सूर्ये । १४. विकसत्कमल । १५. धनविनाशान् । १६. मानसदुःखेन । १७. कृपाः । १८. जीर्णवस्त्र । १९. अङ्गमेव शकटिः । * 'कटिमात्रवस्त्रः कापहीसदृशो वा' इति टि० ख० । पञ्चिकायां तु 'कर्पटिः निस्वः ।' 'दरिद्रो' इति टि० च० । २०. परगृहसेवा । २१. 'वर्तन्तिः आजीविका' टि० ख० । २२. तु 'अवर्तन्ति-निर्जीविका' । २३. ज्ञातानुक्रमः । २४. त्यक्तस्नेह । २५. शास्त्रं, वेदः स्मृतिश्च ।

‘सुप्रपुक्तेन दम्भेन स्वयंभूरपि वञ्च्यते । का नामालोचना’न्यत्र^३ संवृत्तिः^४ परमा यदि ॥ १०५ ॥’

इति परामुष्य ‘महाघङ्गाधरातचेतास्तमायातशुचमेवमबोधत्—‘अहो, दुर्वृष्ट’ किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन वृत्तितः, किमु पक्षेन्नाम्नोत्तमं दुर्गन्धेन मोहनीयमेतत्किञ्चित्, किं वा कितव्यवहारेषु हारित-समस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवञ्चनपिशाचिकया कयाचिरलज्जिकया^५ जनितबुधप्रवृत्तिः, आहोस्वित्फलवतः^६ पावपस्येव श्रीमतः क्रियमाणोजभियोगो^७ न खलु किमपि फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचिदुभयसा विप्रलब्ध-बुद्धिर्येनैवमतिविरुद्धमभिधत्से^८ । क्वाहम्, क्व भवान्, क्व मणयः, क्ववाचयोः संबन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिताकर, पट्टन-पाटञ्चर^९, अणकपणिक^{१०}, सकलमण्डलप्रतीतप्रत्य^{११}यिकशीलमति^{१२}चेतमेव मामकाण्डे चण्डकर्मन्पर्यनुगुञ्जानः^{१३} कथं न सञ्जसे ।’

पुनश्चैतन्मर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालं शब्दालं^{१४} बलात्पालित्व^{१५}मन्दिरमनुबरेरानाम्यानात्यमतिः^{१६}, ‘देव, अयं वणिग्निष्कारणमस्माकं वुरपयावमृदङ्गवन्मुखरमुखः सुखेनानस्तितस्तानक^{१७} इवास्तितुं न वदति’ इत्यादिभिर्वदिते-रवाप्तप्रसरतयोसेजित^{१८}राजहृदयस्त्वर्थेव पृथिवीनायेनापि^{१९}निराकारयत् ।

‘अच्छी तरह से प्रयोग किये हुए छल से ब्रह्मा भी ठगाया जाता है और यदि [ठगने-योग्य] दूसरे मनुष्य में पूर्व अवस्था का लोप हो गया है, अर्थात्—विशेष परिवर्तन हो गया है, तब तो विचार करने की बात ही क्या है ? अर्थात्—उसे ठगना सुलभ है’ ॥ १०५ ॥

विशेष तृष्णा से व्याप्त चित्त वाले श्रीभूति ने शोकाकुल वणिक्-पुत्र से कहा—‘अरे दुराग्रही भील ! क्या तू यहाँ पर किसी पिशाच द्वारा निरसन्देह छला गया है ? या मानसिक तृष्णा को उत्पन्न करने वाले आग्रह वाली किसी मोहन औपधि द्वारा तू आक्रान्त हुआ है ? अथवा जुआ खेलने से तेरी समस्त चित्तवृत्ति हराई गई है ? अथवा आश्चर्य है कि क्या दूसरों के चित्त को धोखा देने में पिशाचिनी-सरीखी किसी दासी द्वारा तेरे में खोटी प्रवृत्ति उत्पन्न की गई है ? अथवा—जिस प्रकार फलशाली वृक्ष पर किया हुआ लकड़ी का प्रहार, बिना फल गिराये विश्राम नहीं लेता उसी प्रकार धनाढ्य के ऊपर किसी दृष्ट पुरुष के द्वारा किया हुआ प्रहार भी बिना धन-आदि प्राप्त किए विश्राम नहीं लेता, ऐसा सोचकर किसी दुर्वृद्धि ने तेरी बुद्धि ठगी है ? जिससे तू उल्टे वचन बकता है; क्योंकि कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ रत्न और कहाँ मेरा व आपका संबंध ? अतः कूट कपट-र्णपू चेष्टाओं की खानि, नगरचोर, निन्द्य व उग्र कर्म वाले वणिक् ! समस्त देश में विश्वसनीय प्रकृति वाले भुक्तसे असमय में विशेषरूप से पूँछता हुआ तू लज्जित क्यों नहीं होता ?

इसके उपरान्त दुर्वृद्धि श्रीभूति धन की प्रार्थना के मार्ग-युक्त महान मनोरथ वाले और वाचाल इस भद्रमित्र वणिक्-पुत्र को जबर्दस्ती तैवकों द्वारा राजमहल में ले गया और राजा से बोला—‘देव ! यह वणिक्, जिसका मुख अकारण मेरी अपकीर्ति करने के लिए मुदङ्ग-जैसा वाचाल हो रहा है और जो बिना नाथ के बैल-जैसा मुखे सुख से बैठने नहीं देता ।’ इत्यादि बातों द्वारा नम्रता प्राप्त करने से श्रीभूति ने राजा का हृदय

१. ब्रह्मा । २. विचारः । ३. परम्पर । ४. अपसं लोपः । ५. तृष्णा । ६. प्राप्तशोचं । ७. ‘दुराग्राहिन्’ टि० ख० । ८. तु ‘दुर्वृष्ट दुराग्रही’ । ८. दास्या । ९. वृक्षस्य चालनं वञ्चनं । १०. उद्यमः सकटकलसणः । ११. वदसि । १२. रे पत्तनचौर ! । १३. निन्द्यवणिक् । १४. देश । १५. ‘विश्वासस्वभाव’ टि० ख०, पञ्जिकायां तु ‘प्रत्ययिको विश्वासः’ । १६. गाढं अतीव । १७. पुञ्छन् । १८. वाचालं । १९. राजमन्दिरं । २०. असम्यः । २१. नाथरहितवृषभवन् । २२. कोपित । २३. निर्धाटनं कारयामास टि० ख०, निर्धाटयामास टि० ख० ।

रात्रिसिद्धः 'निर्गन्तव्यं नृणां पितृणां' 'परिवर्तमानं' कुलकमायातापिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाह-
सालयमेव, 'मोक्षविषयानिधिरपर' इत्यापायजलधि नगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति' इति जाता 'मर्षोत्कर्षस्तं'
'न्यासापेक्षेतिचिक्कणचिन्त' निश्चित्य स्वाध्यायिपरिष्वि' महापरिष्वि' च तदन्धाधोपन्यासविन्यासेन साध्य-
सिद्धिमनवबुद्धयानधीनयोः^१ 'अथाक्षुण्णकमतिमहादेवो धामनेम' 'निवेशमभिल' 'कानोकहृशिखादेशमारुह्यापद्गुह्यः'
'कुररीविरहावसरः कुरर इव' 'तमस्थिनीप्रथमपश्चिमयामसमये' 'सुहृच्चराहृतिः श्रीभूतिरेवंविधकरणद्विन्यस्तम्,
इयत्संस्थानसमम्, एतद्वर्णम्, अधः संख्यान्वयं च मदीयं मणिगणमुपनिधि' 'निधेयं न प्रतिवेदातीत्यत्रास्यैव धर्मरमणी
साक्षिणी च । यवि च' 'यद्वत्तयेतद्व्यथा मनागपि भवति तदा मे चित्रवयो विधातव्यः ।'

इति दीर्घघोषघृणितमूर्ध्वमध्यमूर्ध्वबाहुः सर्वर्तुपरिवर्ताहं^२ पूतकुर्वन्नेकदा नगराङ्गमाजनस्य 'चन्द्राभृतपा-
त्रयन्त्रधारागूहावगाहगौरितजगत्त्रयं कोमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया तमङ्गोत्सङ्गसमासीनया'^३ निपुणिकाभिधानो-

कुपित कर दिया, जिससे राजा ने भी उसे निकलवा दिया ।

तब भद्रमित्र ने विचार किया—'निस्सन्देह यह आश्चर्य की बात है कि चोरी करने की बुद्धि का
निधि यह श्रीभूति, जो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—मेरा धन नष्ट करनेवाला दूसरा समुद्र ही है—दूसरी
को ठगने के निमित्त से वंशपरम्परा से प्राप्त हुई समस्त लक्ष्मी के स्थानीभूत और असाधारण साहस के गूह
मुझे भी नगर के मध्य में ठगने की इच्छा करता है' । अतः उसे उत्कट क्रोध उत्पन्न हुआ । पश्चात् उसने श्री-
भूति को स्थापित धन के वापिस देने में विशेष लुब्धचित्तवाला अथवा पञ्जिकाकार के अभिप्राय से विचार-
शून्य निश्चय किया और जब उसने भठाधीश विद्वानों की सभा में और न्याय के चिन्तन में नियुक्त हुए धर्मा-
धिकारियों की सभा (न्यायालय) में श्रीभूति के अन्याय (धरोहर सम्पत्ति का अपहरण) के स्थापन करने
से अपनी प्रयोजन-सिद्धि (सात रत्नों की प्राप्ति) नहीं समझी तब परवश बुद्धिवाला और स्थिर-अस्थिर
बुद्धि-युक्त हुआ वह महारानी के महल के समीप स्थित हुए इमली के वृक्ष की शिखर पर आरुढ़ होकर वैसा
संकट-ग्रस्त हुआ जैसे पक्षिणों के वियोग के अवसर वाला पक्षी संकट-ग्रस्त होता है ।

इसके उपरान्त वह रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर की बेला में अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर
अपना मध्यभाग ऊपर करने पूर्वक ऊँचे स्वर से कम्पन-पूर्वक जोर से चिल्लाता रहा—'मेरा पूर्व का मित्र किन्तु
अब शत्रु नाम वाला श्रीभूति, अमुक प्रकार के पिटारे में रक्खे हुए, अमुक आकारवाले, अमुक वर्णवाले, अमुक
संख्यावाले मेरे रत्न-समूह (सात रत्न) नहीं देता, जिन्हें मैंने उसके पास स्थापनीय (धरोहर के रूप में) रूप से
स्थापित किये थे । इस विषय में इसकी धर्मपत्नी ही साक्षी है । यदि मेरा यह कथन असम्बद्ध प्रलाप से जरा
भी झूठ हो तो मेरा गूढ़ वध कर देना चाहिए ।' इस प्रकार वह छह माह तक चिल्लाता रहा ।

इसके पश्चात् एक समय ऐसी रामदत्ता रानी ने इसका चिल्लाना सुनकर करुण अभिप्राय से इसे

१. परवचननिमित्तं सामपि मोषितुमभिलषति । २. चौर्य । ३. द्वितीयः । ४. क्रोध । ५. स्थापितधनदाने । ६. लोभिष्टं ।
'चिक्कणः अपरिच्छेदकः' इति पं० । ७. स्वाध्यायिमठिकाप्रतिवद्धसमूहे । ८. न्यायचिन्तनाधिकारसमूहे—
धर्माधिकारे । ९. परवशबुद्धिः । १०. अथाक्षुण्णका स्थिरास्थिरा । ११. नेमं समीपं । १२. चिचिणीवृक्ष ।
१३. पक्षिणी । १४. रात्रिः । १५. पूर्वं सुहृदिदानीं शत्रुरिति नाम । १६. स्थापनीयं धनं स्थाप्यं ।
१७. असम्बद्धप्रलापतया । १८. षण्मासान् यावत् । १९. चन्द्र एव अमृतपात्रं तदेव यन्त्रधारागृहं । २०. 'शिक्षिरकर-
किरणामृतासारावगाहगौरितजगत्त्रयम्' इति क० । २०. उपरितनभूमिस्थितया रामदत्तया ।

‘पसवित्रीसमेतया अनाथलोकलोकचकोर’कौमुदीकल्पधृतया रामदत्तया करुणारसप्रचारपद्धत्या’ महादेव्याकणितानु-
‘क्रोशाभिनिवेशाभिर्बोधितम् ।

तदनु ‘अस्मन्मनःसंध्यात्रि ध्यात्रि,’ न एतदेव मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो^१ ताप्युन्मत्ताचरितो यतस्तं विद्वस-
भावं कृत्वा सकलमपि ‘परिचत्सरत्नसेकवाक्यव्याहाराकुष्ठ’पाठकठोरकण्ठनालः । तद्विचारयेयं तावच्चिरकालं
‘शारविशारवहृदयाम्बुजस्य एतत्कीडाव्याजेन’^२ मन्त्रेरन्तःकरणम् । अग्निके^३, स्वयापि ‘द्युतदेवनावसरे पञ्चहमेन-
मनेककुष्ठ’^४ राक्षारनिचितचित्तमतिबहुकुचकु^५ ‘टिचेष्टितं बकोद्वृत्तमुदस्तजातं पृच्छामि, यद्यच्चास्य’^६ कटकोदिकान्मुका-
दिकं जघामि, तत्तदेवाभिशानोक्त्य मृगोमुख्यव्याघ्रोसमाचारकटुनी^७ श्रीदत्ता भट्टिनी^८ तित्तिनीकातरुभाजोऽस्य
वणिजो^९ विषमरुचिमरीचिसंख्यासंपन्नानि रत्नानि याचयितव्या ।’

इति निपुणितातः १-संगीतिः^{१०} इत्युक्तेऽहनि^{११} ‘एवं पक्षीः हुरातत्तत्पुच्छुभे कुन्नुभे^{१२}, स्वयापि भगवत्या
साधु विजृम्भितरश्मम्, यद्यस्य चिञ्चापुरुषस्यास्ति सत्यता’ इत्यध्येष्य^{१३} तर्धवाचरिताचरणा शतशस्तत्तवभिज्ञानज्ञापनानु-

देखा, जो कि राजमहल की उपरितन भूमि पर बैठकर नागरिक कामिनी जनों की कौमुदी महोत्सव-वेला को, जिसने चन्द्ररूपी अमृतपात्र के फुव्वारा-गृह में प्रवेश करने से तीन लोक शुभ्र किये हैं, देख रही थी, जो निपुणिका नाम की धाय सहित थी । जिसका चरित्र अनाथलोक के नेत्ररूपी चकोर पक्षियों को सन्तुष्ट करने के लिए चौदनी को सृष्टि करनेवाला है और जो करुणा रस के प्रचार की मार्गरूप है ।

पश्चात् उसने अपनी निपुणिका धाय से कहा—‘मेरे मन में मैत्री स्थापित करनेवाली धाय । निस्सन्देह यह मनुष्य पिशाच के द्वारा गृहीत नहीं है, और न इसका आचरण पागलों-सरीखा है; क्योंकि इसकी कण्ठनाल उसी दिन से लेकर लगातार छह माह तक उक्त प्रकार एक वाक्य संबंधी उच्चारण के अमन्द पाठ से कठोर हो गई है । अतः मुझे द्यूतक्रीड़ा के बहाने से द्यूत-क्रीड़ा में प्रवीण हृदय कमलवाले श्रीभूति मन्त्री के हृदय की परीक्षा शीघ्र करनी चाहिए ।’

माता ! बुआ खेलते समय मैं अनेक कुत्सित (निन्द्य) आचरण से व्याप्त चित्तवाले, अत्यधिक माया-चार की चेष्टा-युक्त व बगुला भगत से जो जो वृत्तान्त-समूह पूँछूँ और जो उसके कङ्कण, अँगूठी व वस्त्रादि जीतूँ उनकी स्मृति या पहिचान कराकर—उन सब को प्रमाण रूप से उपस्थित करके—तुम्हें उस मृगी के समान मुखवाली किन्तु सिंहनी के समान आचरणवाली कुट्टनी श्रीदत्ता से हमलो के वृक्ष पर आरुढ़ हुए इस वणिक् के समर्चि (अग्नि) की संख्यावाले (सात) रत्न माँग लाने चाहिए ।’

रानी ने इसप्रकार ‘निपुणिका’ धाय को संकेत कर दिया और आगामी दिन में प्रार्थना की—
‘हे मेरे हृदय को सदा आनन्द देनेवाले दुन्दुभि-सरीखे पाशदेवता ! यदि इस हमली के वृक्षवाला पुरुष सच्चा है तो भगवती तुझे भी इसमें अच्छी तरह सहायता करनी चाहिए ।’ पश्चात् उसने वैसा ही किया, अर्थात्—श्रीभूति के साथ शतरञ्ज खेलकर उसके कड़े, अँगूठों और वस्त्रादि जीत लिये और श्रीभूति की पत्नी से,

१. धात्री । २. ‘चन्द्रिकाचारवृत्तया’ इति क० । ३. मार्गरूपया । ४. ‘कटणाभिप्रायात्’ टि० ख० । ५० तु अनुक्रोशः अनुग्रहः । ‘अनुग्रह’ टि० च० । ५. हे मातः ! । ६. गृहीतः । ७. संवत्सराद्यं । ८. आलापः । ९. अमन्दः । १०. द्यूतक्रीडा । ११. सचिवस्य । १२. हे ध्यात्रि ! । १३. क्रोदन । १४. कुत्सित । १५. माया । १६. कंकण, मुद्रिका, वस्त्र । १७. ‘कुट्टिनी’ इति क० । १८. चिञ्चा । १९. सप्तविंसंख्यानि । २०. संकेतः । २१. आगामिदिने । २२. हे ध्यात्रि ! । २३. प्रार्थ्य ।

बन्ध^१ तन्नातः कलत्रान्मणीनुपप्रणीय^२ राज्ञः समर्पयामास । स राजाऽद्भुतांशौ^३ स्वकीयरत्नराशौ तानि संकीर्य^४ आकाशं चैनमासन्नलक्ष्मीकल्पलताविलासनन्धनं^५ वंदेहकनन्धनम्^६, 'अहो वर्णिकतनय, यान्यत्र रत्ननिचये^७ तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विविक्ष्य गृहाण' इत्यभाषीत् । भद्रमित्रः 'चिरत्राय^८ ननु विष्टया^९ वर्षेऽहम्' इति मनस्यभिनिविष्टम्^{१०} 'यथाविधाति विशां पतिः' इत्युपविश्य विमृश्य च तस्यो माणिक्यपुञ्जौ^{११} निजान्येष भनाखिलम्बितपरिचयचिररत्नानि^{१२} रत्नानि सन्ग्रहीत् ।

ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामं विस्मितमतिः 'वर्णिकपते, त्वमेवाश्रान्वर्धतः सत्यघोषः, स्वमेव च परम-निःस्पृहमनोधः, यत्तव चेतसि वचसि च न भनागप्यन्यथाभावः सपस्ति' इति प्रतीतिभिः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रकृति-भिस्तत्तदौ^{१३} पयिकोपचितिवसतिभिश्च भणितिभिस्तमखिलबह्व^{१४} स्तम्बेति^{१५} भीविजृम्भमाणगुणगणस्तोत्रं भद्रमित्रं कथं-कारं न इत्याद्ययामास । पुनरदूराशिवताति^{१६} श्रीभूतिं निखिललोक^{१७} लपनालवालमूलकौलीनता^{१८} लताध्वशास्त्रिनं मृगजाननं^{१९} निसर्गेण^{२०} हरिणीसमच्छाद्यमपि महासाहसानुष्ठानात्सु^{२१} मोंसमानकायमनल्पवैलक्ष्य^{२२} स्फुटवास्वनित^{२३} ।

जो कि सैकड़ों उन उन चिह्नों—कङ्कग-आदि—के शापन की निरन्तर प्रवृत्ति से परवश हुई है, उक्त वर्णिक के सात रत्न भँगवाकर राजा के लिए समर्पण कर दिये ।

राजा ने अद्भुत किरणों वाली अपनी रत्न-राशि में उन्हें मिलाकर समीपवर्ती लक्ष्मीरूपी कल्पलता की क्रीड़ा के लिये नन्दनवन-सरीखे उस वैश्यपुत्र को बुलाकर कहा—'वर्णिकपुत्र ! इस रत्नसमूह के मध्य में जो रत्न तुम्हारे हों, उन्हें जानकर ले लो ।'

'चिरकाल के पश्चात् उत्पन्न हुए पुण्य से मैं बड़ रहा हूँ' ऐसा मन में अभिप्राय करके 'भद्रमित्र' ने कहा—'राजा सा० जैसी आज्ञा देते हैं ।'

पश्चात् उसने उस रत्न-समूह के मध्य में से अपने ऐसे सात रत्न विचार कर ग्रहण कर लिए, जिनमें अल्प विलम्ब वाली जानकारी के कारण कालश्रेय (कुछ समय का यापन) वर्तमान था ।

यह देखकर राजा सकुटम्ब विशेष आश्चर्यान्वित बुद्धि वाला हाँकर बोला—'हे वर्णिक-पति ! तुम ही लोक में यथार्थ सत्यघोष हो, तुम ही विवोध वाञ्छा-रहित बुद्धिमान हो, क्योंकि तुम्हारे मन व वचन में जरा-सी भी धनलम्पटता या छलाछद्वृत्ता नहीं है ।' राजा ने इस प्रकार के पारितोषिक-पूर्वक धन-प्रदान स्वभाव वाले विश्वासों द्वारा और तत्काल में उचित सम्मान के स्थानीभूत वचनों द्वारा भद्रमित्र की अत्यधिक प्रशंसा की, जिसके गुण-समूह को स्तुति समस्त ब्रह्माण्ड के हृदय में विस्तृत हो रही है,

जब राजा ने श्रीभूति को ऐसा देखा, जो कि समीपवर्ती अमङ्गल वाला है, जो कि सगस्त लोक की मुखरूपी क्यारों में स्थित हुई जड़वाली लोक-निन्दारूपी लता के आश्रय के लिए वृक्ष-सरोक्षा है, जो मोचा मुख

१. संतत्या प्रवर्तमानपरवशात् । २. आनीय । ३. किरण । ४. मिश्रोक्त । ५. 'कोडावनं' टि० ख०, 'देवोद्यानं' टि० ख० । पञ्जिकायां तु नन्दनं देवोद्यानं । ६. वैश्यपुत्रं । ७. रत्न-समूहमध्ये । ८. चिराय । ९. समुपजातेन पुण्येन । १०. अभिप्रायं कृत्वा । ११. पुञ्जः समूहः । १२. भनाखिलम्बितपरिचयेन चिरत्नः कालश्रेयो येषु रत्नेषु तानि चिररत्नानि । १३. तत्सम्मात्तदाकाले उचितजाताभिः टि० ख०, पं० तु उपयिकमुचितम् । १४. ब्रह्माण्ड । १५. हृदयं । १६. समीपाज्मंगलं । १७. मुख । १८. जनापवादः टि० ख०, पं० तु दुस्प्रवादः । १९. अधोमुखं । २०. स्वर्णप्रतिमा । २१. लोहप्रतिमा । २२. उन्मार्ग । २३. हृदयं ।

मतीव भयाविर्भूतोत्पथ^१ वेपथुस्ति^२ मितमवेष्ट्य ब्रह्माशेषम्, 'आः^३ 'सोमपायिनामपाङ्क्तैः^४ वैधेयं^५, विदवास-
घातक, पातकप्रसव, श्रोत्रियकितव, दुराचार, प्रवर्तितस्नरत्नापहार, कुशिककुलपांसन^६, बकानुष्ठानसदन, साधुजन-
मनाशकुनि^७ बन्धनापातमुत्तन्त्री^८ जालमिव शलु तवेवं यज्ञोपवीतम् । असदाचाराधिक^९, वैधव्यधिक^{१०}, सद्धर्मशाम-
ध्या^{११} मलसाविधानाय^{१२} विश्वभोजसमिन्धन^{१३}, अकृत्यचैत्य^{१४}, द्राघा^{१५} मात्य, जरायमवृत्तिकोपपत्तिक^{१६} कुर्गतिक^{१७},
किमात्मनो न पश्यसि^{१८} चर्मन्तस्त्वन्मिवातिप्रवृद्धविश्वोवात्स्यो^{१९} न्नायशिथिलता प्रभातप्रक्षीपिकामिवास्तासन्नजीवित-
रविमङ्गल्यवि^{२०} येमाद्यापि ययोधसि^{२१} वयसि वर्तमान इव चेष्टसे । तद्विवानी यदि घनाभि^{२२} धारघोरतेजसि विश्व-
वेदसि^{२३} निक्षिप्यसे, तदा विरोपचितदुराचारग्रहस्य तवाधिरदुःखदामिपरिग्रहोऽनुग्रह इव ।

ततो द्विजापसव, 'कदाचित्स्वधेदमतिकुर्यान्मगोर्वरोवृग्वि^{२४} तमध्याशयं^{२५} शालाजिरत्रयमशितव्यम्, नो चेदशरा-
ल^{२६} बलोत्फुल्लगल्लानां भल्लानां वयस्मिन्महत्त^{२७} प्रतुल्यसि सन्तिस्यसि । तुल्यव्यया नव मयस्थापहारः ।' प्रणाशाव-

किये हुए है, जो पूर्व में स्वभावतः सुवर्ण की मूर्ति-सरीखा कान्ति-युक्त था, परन्तु महान् दुस्साहस-युक्त कर्म करने से वह लोहे की मूर्ति-सरीखे शरीर-युक्त मालूम पड़ता है, जिसका मन प्रचुर उन्मार्ग (कुपथ) में गमन करने से भग्न हो रहा था—चूर-चूर-हो रहा था और जो विशेष भय से उत्पन्न हुए नेमर्याद कम्पन से प्रस्वे-
दित (अत्यधिक पसीना-युक्त) था, तब उसने विशेष तिरस्कार पूर्वक कहा—'बड़ा खेद है, हे ब्राह्मणों के मध्य पङ्क्ति-रहित ! अर्थात्—हे ब्राह्मण-श्रेणी में रखने के अयोग्य (जाति से बहिष्कृत) ! निर्भाग्य ! हे विदवास-
घातक व पातकों की उत्पत्ति स्थान ! हे ब्राह्मण-धूर्त ! दुराचारी ! नवीन रत्नों का अपहरण करनेवाले ! हे ब्राह्मण-वंश-दूषण ! हे बगुला-सरीखी कुटिलता के स्थान ! निस्सन्देह तेरा यह यज्ञोपवीत शिष्ट पुरुषों के मन-
रूपी पक्षियों के बन्धन के लिए बृहत् तालों का जाल-सरीखा है । हे पापाचार को चरम सीमावाले ! वेदरूपी कावड़ी के धारक (वेदों के भारवाहक) ! प्रशस्त धर्मस्थान में मलिनता उत्पन्न करने के लिये अग्नि के ईंधन ! हे कुकर्म के गृह ! हे निकृष्ट (अधम) मंत्री ! हे वृद्धावस्था रूपी यमदूती के आदर करने में तत्पर ! और हे जार !

क्या तुम विशेष बड़ी हुई वृद्धावस्थारूपी प्रचण्ड वायु द्वारा उत्पन्न हुई घातक शिथिलतावाली, भोजपत्र-सरीखी शारीरिक शिथिलतावाली और तेज हवा के चलने से वृद्धने के उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपक-
सरीखी व जिसमें जीवनरूपी सूर्य का अस्त होना निकटवर्ती है, ऐसी शरीर की खाल को नहीं देखते हो ? जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो—भानों—तुम युवा हो । अतः इस समय यदि तू प्रचुर धृत डालने से भयानक तेजवाली—धँवकती हुई अग्नि में फेंक दिया जाय तो चिरकाल से संचित किये हुए पाप को स्वीकार करनेवाले तेरा अनुग्रह जैसा होगा, क्योंकि तुझे अग्नि में फेंकना तत्काल दुःख देने वाला है । इसलिए हे निकृष्ट ब्राह्मण ! या तो तुझे विशेष दुर्गन्धित गोबर से भरे हुए मध्यदेश वाले तीन सकोरों परिमाण गोबर खाना चाहिए । यदि ऐसा नहीं कर सकता तो प्रचुर बल से फूले हुए गालों वाले पहलवानों के तेतोंस कोहनियों के प्रहार

- १-२. कम्पेनाद्रं प्रस्वेदितं । ३. खेदे । ४. सोमपायिनो ब्राह्मणाः । ५. पङ्क्तिरहित । ६. निर्भाग्य ।
७. ब्राह्मणकुलदूषण । ८. पञ्चिवन्धनार्थ । ९. दवरकस्य तातंणकुजाल । १०. मर्यादिक । ११. वेदानुष्ठानरत ।
१२. कुण्ठत्व । १३. अग्नेः । १४. बन्धन । १५. गृह । १६. निकृष्ट मन्त्रिन् । १७. जरिव यमदूती, उपपत्तिकः
आदरपरः । १८. जार । १९. भूर्जतपत्रवत् शिथिलशरीररत्ना । २०. जरा एव वात्या । २१. कायखल्वा ।
२२. यौवने इव । २३. धृत । २४. अग्नी । २५. अधवा । २६. भृतमध्यप्रदेश । २७. भाजन—भाणा टि० ख०,
पं० तु 'शालाजिरं शराधं' शराधं टि० ख० । २८. बहुलबल । २९. अवहृत्य—कोहणी ।

काशविभूतिः श्रीभूतिराद्यतयं वण्डद्वयं कमेणातितिक्षमाणः^१ २वर्धास्तिस्रस्तत्रविणः किमिकिर्मो^३स्परिषत्परिकल्पित^४ प्रमाष्टिः कृतकलशकपाल^५मालावासिक^६सृष्टिरुसृष्ट^७सरावमस्य^८रिष्कृतिः^९ १०पुराववालयवालेय^{११}कमारोह्य सनिकारं निष्कासितः पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठ^{१२}कुण्डो बुष्परिणामकनिष्ठः^{१३} शुभाशयारण्यविनाशमहति हिरण्य-
रेतसि^{१४} तनुविसर्गवित्तीरसर्पावाहेये^{१५}अन्ववाये प्रादुर्भूय^{१६} विरायापराध्य^{१७} च प्राणिषु जातजोवितावधि^{१८}रघः-
प्रधाननिधिर्बभूव ।

भवति चात्र श्लोकः—

श्रीभूतिः स्तेयदोषेण पापुः प्राप्य पराभवम् । रोहिव^{१९}एवप्रवेशेन दंशेरः^{२०} सप्तविंशतितमः कल्पः ॥१०६॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ।

अत्युक्तिमन्वयोक्तिसमस्योक्ति २१च वक्ष्येत् । भाषेत वचनं नित्यमभिजात^{२२} हितं मितम् ॥१०७॥

तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्मात्परविपक्षये । अगन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पवाः ॥१०८॥

(मुक्के) सहन करना चाहिए । नहीं तो निस्सन्देह तेरा समस्त धन अपहरण किया जायगा ।

मृत्यु से अपनी रक्षा की विभूति माननेवाला श्रीभूति जब शुरू के दो राज-वण्ड क्रमशः सहन न कर सका तब राजा द्वारा उसका समस्त धन ग्रहण कर लिया गया और उसके शरीर पर कीड़ों से कर्बुरित कीचड़ से विलेपन करके घड़ों की खप्पर श्रेणी की माला पहिना कर उसे जूठे सकोरों की माला से अलङ्कृत किया गया । बाद में बड़े गधे पर चढ़ा कर उसे तिरस्कार पूर्वक नगर से निकाल दिया । पापकर्म के उदय से उसे चारों ओर अशोभमान कोढ़ हो गया । खोटे परिणामों से वह अधन्य कोटि का था । इसलिए उसने उसके शुभ परिणामरूप वन की भस्म करनेवाली अग्नि में जलकर शरीर त्याग किया—मर गया और उत्पन्न हुए रौद्र ध्यान के कारण सर्पों के वंश में उत्पन्न हुआ । वहाँ उसने अनेक प्राणियों को डँसा और आयु पूरी करके नरकवासि हुआ—

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—श्रीभूति नाम का पुरोहित चोरी करने के अपराध से राजा द्वारा तिरस्कृत हुआ और अग्नि में जलकर मर गया । पश्चात् सर्पयोनि में उत्पन्न होकर नरकगामी हुआ ॥ १०६ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में चोरी का फल बतलानेवाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब सत्यव्रत का निरूपण करते हैं—

सत्याणुव्रत

सत्यवादी को किसी बात को बढ़ाकर नहीं कहते हुए दूसरों के दोष नहीं कहना चाहिए और असत्य वचन बोलने का त्याग करना चाहिए । उसे सदा कुलीनता प्रकट करनेवाले, हितकारक व परिमित वचन बोलना चाहिए ॥१०७ सत्यवक्ता को ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरे प्राणियों पर विपत्ति (पोड़ा या सरण)

१. असाहयानः । २. गृहीत—उद्धालित । ३. कृमिभिः विचित्रकर्मः टि० ख०, पं० तु किर्मिरः कर्बुरः, परिप्लु कर्मः । ४. परिविरचितविलेपनः टि० ख०, पं० तु प्रमाष्टि विलेपनं । ५. कुम्भस्य खप्परश्रेणी । ६. अशोभमान । ७. उच्छिष्ट । ८. माला । ९. परिष्कृतः अलङ्कृतः । १०. नगरात् । ११. बृहत्तरासर्ग । १२. अशोभमान । १३. अधन्यः । १४. अग्नौ । १५. सर्पवंशे । १६. उत्पन्न । १७. प्राणिषु अपराधं कृत्वा । १८. सर्पैः । १९. अग्नि । २०. सर्पः । २१. 'असत्योक्ति च' इति क० । २२. 'अभिजातस्तु कुलजे वृक्षे सुकुमारे त्याग्ये चोपचारात्' टि० ख०, 'अभिजातं शुभकुलोद्भवं वचनं' टि० ख० ।

प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारः प्रियवचः । स्यात्ताम्रं^१ सधीनित्यं नित्यं परहिते रतः ॥१०९॥

केवलित्युत्तरेषु देवधर्मतपसु च ।^२ अघर्षवाधवाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान्^३ ॥११०॥

मोक्षमार्गं स्वयं ज्ञानन्निधने यो न भाषते । भवापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरणद्वयोः ॥१११॥

मन्त्रभेदः परीवादः^४ वीक्षणं कूटलेखनम् । मृधासाक्षिपवोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥११२॥

परस्त्रीराज^५ विद्विष्टलोक^६ विद्विष्टसंध्याम् । अनायकसमारम्भा न कथा कथयेद्बुधः ॥११३॥

असत्यं सत्यं किञ्चित्किञ्चित्सत्यमसत्यम् । सत्यसत्यं पुनः किञ्चित्सत्यासत्यमेव च ॥११४॥

“अस्येदमैवंपर्यं” सत्यमपि किञ्चित्सत्यमेव, यथान्धांसि^७ रण्ययति पर्यति आसीतीति^८ । सत्यमप्यसत्यं किञ्चित्कारणमासतमे विवसे तदेवं वेपमित्याख्या^९ मासतमे संवत्सरतमे वा विवसे ददातीति । सत्यसत्यं किञ्चित्कालं यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवादा^{१०} । असत्यासत्यं किञ्चित्स्थस्यासत्संगिरते^{११} कल्पे वास्यामीति ।

आती हो या अपने ऊपर भयानक दुर्निवार आपत्तियाँ आती हों ॥१०८॥ सत्यवादी मानव को सदा प्यारी प्रकृति वाला, प्रिय आचरण वाला, प्रिय करने वाला, प्रिय भाषण करने वाला एवं सदा परोपकार करने में तत्पर होकर सदा दूसरों से द्रोह न करने वाली बुद्धिवाला (दयालु) होना चाहिए ॥१०९॥ जो प्राणी केवलो, द्रादशाङ्ग-शास्त्र, मुनिसंघ, देव, धर्म (अहिंसा लक्षण) व तप में गेरमोजूद दोषों का आरोपण करता है, या इनकी निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अर्थात्—उसे दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है ॥११०॥ जो विद्वान् पुरुष मोक्ष के मार्ग को स्वयं जानता हुआ भी अपने ज्ञान का घमण्ड करने से, ज्ञान को छिपाने से, मात्सर्यभाव से—ईर्ष्या से (मेरे सिवाय दूसरा कोई न जानने पावे ऐसी ईर्ष्या के कारण) मोक्ष मार्ग के इच्छुक दूसरे मानव को नहीं बताता, वह ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध करता है ॥१११॥ दूसरे के मन को घात जानकर उसे दूसरों पर प्रकट कर देना, असम्बद्ध भाषण करना अथवा झूठा उपदेश देना, चुगली करना, झूठे दस्तावेज-आदि लिखाना और झूठी गवाही देना ये पाँच दुर्गुण सत्यव्रत के घातक हैं, अर्थात्—ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥११२॥ विद्वान् पुरुष को परस्त्री-कथा, राज-विरुद्ध कथा व लोक विरुद्ध कथा का श्याग करते हुए निरर्थक, नायक-रहित व कपोल-कल्पित कथा नहीं कहनी चाहिए ॥११३॥ वचन चार प्रकार का होता है—१. असत्य-सत्य, २. सत्यासत्य, ३. सत्यसत्य व ४. असत्यासत्य ॥११४॥

इस श्लोक का यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है। जैसे ‘यह भात पकाता है’ या ‘वस्त्र बुनता है।’ यहाँ पर पकाने योग्य चीजों में भात शब्द का प्रयोग किया गया है एवं वस्त्र-निर्माण-योग्य तन्तुओं में वस्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए उक्त वाक्यों में असत्यता होते हुए भी सत्यता है। अतः असत्य सत्य वचन [लोक व्यवहार के अनुकूल] है।

इसी तरह कुछ सत्यवचन ऐसे होते हैं, जिनमें काल का व्यवधान हो जाने से असत्यता का मिश्रण होता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी से कहता है, कि ‘मैं आपको अमुक वस्तु पन्द्रह दिन में दूँगा।’ ऐसी प्रतिज्ञा करके वह एक महीना व एक वर्ष में उसे प्रतिज्ञात वस्तु देता है, इसे सत्यासत्य वचन जानना चाहिए। क्योंकि

*. ‘स्यादानुशस्यधीनित्यं’ इति क० च० । १. पराङ्मोहबुद्धिः दयासहितः । २. निन्दापरः । ३. मिथ्यादृष्टिः । ४. असम्बद्धालापः । ५. राजविरुद्धा । ६. लोकविरुद्धा । ७. फलानुकर्या नायकरहिता कपोलकल्पिताम् । ८. श्लोकस्य । ९. रहस्यं-अममर्थः । १०. ‘ओदन’ टि० ख०, पं० तु अन्धांसि अघानि । ११. वस्त्राणि । १२. प्रतिज्ञाय । १३. अभिप्रेत्यावादः । १४. कथयति, सम् प्रतिज्ञायति टि० ख०, ‘प्रतिज्ञायति’ इति टि० च० ।

तुरीयं^१ वर्णयेन्नित्यं^२ लोकयात्राजये स्थिता । सा मिथ्यापि न गीमिथ्या वा गुर्वदिप्रसाविनी ॥११५॥
 न स्तुयावात्मनात्मानं न परं परिवारयेत्^३ । न^४ सतोऽन्यगुणाभिहस्यान्नासतः स्वस्थं वर्णयेत् ॥११६॥
 तथा^५ "क्षुब्धप्रजायेत नीचगोत्रोचितः पुमान् । उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृतेः^६ कृतो ॥११७॥
 यत्परस्य प्रियं क्षुधावात्मनस्तत्प्रियं हि तत् । अतः किमिति लोकोऽयं पराप्रिय^७ परायणः ॥११८॥
 यथा यथा परेष्वेतच्चेतो^८ वितनुते तमः । तथा तथात्मनाद्योषु तमोघारा निषिञ्चति ॥११९॥
 बोधतोयं^९ गुणगोष्मैः संगन्तुणि^{१०} शरीरिणाम् । भवन्ति चित्तवासोऽसि गुरुणि च लघूनि च ॥१२०॥
 सत्यवाक्यसत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते । वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥१२१॥
 तथैर्धर्माभर्षह^{११} "षष्टिर्मुखाभाषामनीषितः । जिह्वाश्चेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम्^{१२} ॥१२२॥

यहाँ पर वस्तु के देने से विरोध न होने के कारण सत्यता है और प्रतिज्ञा । कये हुए काल के उल्लङ्घन हो जाने से असत्यता है । जो वस्तु जिस देश में, जिस काल में, जिस आकार में और जिस प्रमाण में जानी है, उसको उसी रूप से सत्य कहना सत्य-सत्य है । जो वस्तु अपने पास नहीं है, उसके लिए ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं तुम्हें सबेरे दूँगा परन्तु देता नहीं है । इसे असत्य-असत्य समझना चाहिए ।

इनमें से चौथे असत्य-असत्य वचन को कभी नहीं बोलना चाहिए । क्योंकि लोक व्यवहार शेष तीन प्रकार के वचनों पर ही स्थित है । इसी प्रकार जो वाणी गुरु-आदि हितैषियों को प्रमुदित करनेवाली है, वह मिथ्या होने पर भी मिथ्या नहीं समझी जाती ॥ ११५ ॥ सत्यवादी को अपनी प्रशंसा न करते हुए दूसरों को निन्दा नहीं करना चाहिए । उसे दूसरों में विद्यमान गुणों का घात (लोप) नहीं करना चाहिए । और अपने अविद्यमान गुणों को नहीं कहना चाहिए कि मेरे में ये गुण हैं ॥ ११६ ॥ परनिन्दा, आत्मप्रशंसा व दूसरों के प्रशस्त गुणों का लोप करनेवाला मानव नीच गोत्र का बंध करता है और जब धार्मिक पुरुष उससे विपरीत करता है । अर्थात्—अपनी निन्दा और दूसरों की प्रशंसा करता है तथा दूसरों में गुण न होने पर भी उनका वर्णन करता है तथा अपने में गुण होते हुए भी उनका कथन नहीं करता तब उच्चगोत्र का बंध करता है ॥ ११७ ॥ जो व्यक्ति दूसरों का हित करने में तत्पर रहता है, वह अपना ही हित करता है, फिर भी न जाने क्यों यह लोक-संसार-दूसरों का अहित करने में तत्पर रहता है ? ॥ ११८ ॥ जिस जिस प्रकार से यह विकृत मनोवृत्ति दूसरे प्राणियों में अज्ञानरूप अन्धकार का प्रसार करती है, उस उस प्रकार से वह अपनी घमनियों—नाड़ियों—में अज्ञानरूप अन्धकार की धारा को प्रवाहित करता है । अभिप्राय यह है कि दूसरों का अहित करने से अगना ही अहित होता है ॥ ११९ ॥ [लोक में] प्राणियों के चित्तरूपी वस्त्र जब दोषरूपी जल में डाले जाते हैं तो आर्द्र होने से गुरु (वजनदार व पक्षान्तर में पापी) हो जाते हैं और जब वे गुणरूपी गर्मी में फैलाये जाते हैं तो सूख जाने के कारण लघु (हल्के व पक्षान्तर में पुण्यशाली) हो जाते हैं ।

निष्कर्ष—अतः नैतिक पुरुष को अपना मनरूपी वस्त्र सदा सभ्यज्ञानादि प्रशस्त गुणरूप गर्मी द्वारा लघु (हल्का-पुण्यशाली) करते रहना चाहिए ॥ १२० ॥

सत्यवादी पुरुष सत्य के प्रभाव से वचन-सिद्धि प्राप्त करता है । उसको वाणी जिस-जिस विषय में

१. असत्यासत्यं । २. व्यवहार । ३. निन्दयेत् । ४. विद्यमानान् । ५. परात्मनिष्ठाप्रशंसां कुर्वीतः । ६. तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्तिः । ७. अहिततत्परः । ८. मनः । ९. जलैर्मनोवस्त्राणि आर्द्रोभवन्ति । १०. संबंधीनि । ११. तुष्णामोह । १२. सुगतिविनाशं ।

श्रूयतामवाप्त्यफलस्योपायानम्—जाङ्गलदेशेषु 'हस्तिनागनामावनोद्वरकुञ्जरजनितावतारे हस्तिनागपुरे प्रचण्डबोर्वण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाप्रखण्डितमण्डनकण्डू'लारा^१तिकीर्तिततानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः । 'अनवरतवसुविधाणनप्रोणितातिथिरतिथिर्नामा चास्य महादेवी । सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या गभंगतापि 'जातेयेनकीदरशायिनो' रम्यकदेशनिबे^२षोपेतपौदनपुरनिबेशिनो 'निविषक्षलक्ष्मीलक्षिताक्षूणमञ्जलस्य' पिञ्जलस्य 'गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सुनवे पुष्परवीरवक्षःस्थलीहलना'^३ चदानोद्योगलाङ्गलाय मधुपिङ्गलाय परिपणिता^४ 'वभूव ।

भूभुजा च महोदयेन तेन विहितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभास्य भाग्यभोग्यतया धीम्यमिव स्वर्णं त्रिविणं तस्यैतद्भूयात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मताम्विजित्तसुखदुःखागमानुमेयप्रभावं ईवमेव शरणम्' इति विगणय्य^५ स्वयंवराथं भीम-भीष्म-भरत-भाग-सङ्ग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामबनिपतीनामुपबानुकूलं^६ मूलं^७ प्रस्थापयामासुवे^८ ।

प्रवृत्त होती है, उस उस विषय में मान्य होती है ॥ १२१ ॥ इसके विपरीत जो मानव तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध व हर्ष-आदि के कारण झूठ बोलने को बुद्धि वाला होता है, उसे इस लोक में जिह्वाच्छेदन-आदि कष्ट होते हैं और परलोक में उसकी युगलि नष्ट होती है, अर्थात्—दुर्गति होती है ॥ १२२ ॥

१५. असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारद की कथा

अब झूठ बोलने का कटुकफल बतलाने वाली कथा सुनाए—

जाङ्गलदेश के 'हस्तिनाग' नामक श्रेष्ठ राजा का जन्म होने के कारण सार्थक नाम वाले 'हस्तिनागपुर' नाम के नगर में, अपना प्रचण्ड बाहुदण्डमण्डली के अलङ्काररूप खड्ग द्वारा युद्ध करने को खूजली वाले शत्रुओं की कीर्तिकपी लता को खण्डित करने में कारणीभूत 'अयोधन' नामका राजा था । इसकी निरन्तर धन के दान द्वारा अतिथियों को सन्तुष्ट करनेवाली 'अतिथि' नामकी पट्टरानी थी ; इनके समस्त कलाओं के अभ्यास में प्रयत्नशील 'सुलसा' नामकी पुत्री थी । जब राजकुमारी सुलसा महारानी के गर्भ में थी, तभी से महारानी ने निस्सन्देह रम्यक देशवर्ती पौदनपुर नगर के निवासी, जिसका परिपूर्ण मञ्जल (राज्यमुख) शत्रु-रहित राज्य लक्ष्मी द्वारा जाना गया था व जो महारानी का सहोदर था, ऐसे अपने भाई पिङ्गल के पुत्र ऐसे मधुपिङ्गल के लिये वाग्दान (दान) कर रखी थी, जो गुण (वीरता-आदि) रूपी सुमेरु पर्वत का रत्नमयी शिखर था और जिसका उद्योगरूपों लाङ्गल (हल) दुःख से भी निवारण करने के लिए अशक्य (दुर्जेय) शत्रुओं के वक्षःस्थलों (उरोभूमि) के विदारणरूपी प्रशस्त कर्म वाला था ।

[जब सुलसा विवाह-योग्य हुई ; तब विशेष उन्नतिशील राजा-अयोधन को यद्यपि अपनी महारानी के हृदय की बात ज्ञात थी तो भी उसने सोचा कि—'यह स्त्री धन जिस किसी महाभाग्यशाली के भाग्य में भोगने के योग्य है, उसी का यह होना चाहिए । इस विषय में सब शरीरधारियों का देव ही शरण है और देव का

१. 'हस्तिनाग' नामा कश्चिद्राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तद्वारं हस्तिनागपुरमित्यभवत् । * अतिः । २-३. खजितकर । ४. द्रव्य । ५. जातिर्भावः जातेयं तेन वन्त्युत्वेनेत्यर्थः । ६. अतिथिपिङ्गलावेकोदरांतयो । ७. स्थान । ८. दातुरहितः । ९. परिपूर्णमञ्जलस्य । १०. गुणा एव गीर्वाणाचलः 'मेरुस्तात्र रत्नशिखरस्य टि० ख०, गुणा एव गीर्वाणाः देवाः तेभ्यः अवलः मेरुः तत्र रत्नसानुः टि० च० । ११. उहलनायावदानं अद्भुतकर्म शुद्धकर्म वा तत्र उद्योग एव लाङ्गलं यस्य सः । १२. दत्ता । १३. आत्मा । १४. प्राभूतपूर्व । १५. लेखं । १६. तेन भूभुजा ।

अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धचाराख्यायामयोध्यायां नरवरः सगरः नाम । स किञ्च लास्याविविला^१सकौशल-
सरसायाः सुलसायाः कर्णपरम्परया श्रुतसौकुम्यातिशयो^२ मनागुपरमसाक्ष्यतावशोवधः प्रयोगेण^३ तामात्मसाक्षिकीर्तु-
स्तैर्यत्रिकसूत्रे^४ प्रतिकर्मत्रिकल्पेषु संभोगसिद्धान्ते^५ विप्रदत्तविद्यायां स्त्रीपुरुषलक्षणेषु^६ कथाख्यायिकाख्यानप्रवाह्लीका-
स्थवरासु^७ च तासु तासु कलासु परमसंयोगतालताधरित्रो मन्दोदरी^८ नाम चात्रो ज्योतिषाविशास्त्रनिशितमतिप्रसूति
विश्वभूति^९ च बहुमानसंभावितमनसं पुरोषसं तत्र पुरि प्राहिणोत् ।

विशिकाप्रायशार्दूलवरी^{१०} मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा^{११} कृतकात्यायिनोबेवा
तत्तत्कलाबलोकनकुतूहलमयोधनशरापालं निजनाथार्थसिद्धिपरवतो^{१२} रञ्जितवती सती^{१३} शुद्धान्तोपाध्यायी भूत्वा
सुलसां सगरे संगरं^{१४} ग्राहयामास । तया वकोटवृत्तिबेवाः स पुरोवाइच तंस्तरादेशेस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्वा
वशीकृतचित्तवृत्तिः ।

प्रभाव अचानक सुख-दुःख के आगमन से अनुमेय है ।^१ ऐसा जानकर उसने स्वयंवर के लिये भीम, भीष्म, भरत, भाग, सङ्ग, सगर, सुवन्धु, और मधुपिङ्गल-आदि राजाओं के पास भेंट पूर्वक पत्र भिजवा दिये ।

[इसी बीच एक दूसरी घटना घटी]

मगध देश के मध्य में ख्याति प्राप्त करने से आराधना के योग्य अध्यायानगरी में 'सगर' नामका राजा था । निस्सन्देह उसने कर्णपरम्परा से नृत्यादि कलाओं की निपुणता से व विलास (हावभाव) की चतुरता से रसीली सुलसा राजकुमारी की सर्वोत्कृष्ट अनोखी सुन्दरता की चर्चा सुनी । इस राजा की जवानी की सौन्दर्य-वृद्धि कुछ अल्प हो रही थी । अतः वह किरा भी उपाय से उसे अपने अधीन करने का इच्छुक हुआ । अतः उसने 'मन्दोदरी' नामकी धाय को, जो कि भरत मुनि के गीत, नृत्य व वादित्वरूप संगीतकला में, मण्डन-आभरण-आदि में, कामशास्त्र में, होराशरादि द्वारा दूसरे की मनोवृत्ति के ज्ञान में, स्त्री-पुरुषों के लक्षण-ज्ञान में, कथा (चित्र अर्थ बतानेवाली), आख्यायिका (प्रसिद्ध अर्थवाली कथा), आख्यान (दृष्टान्त-कथन) व पहेली और दूसरी ललित कलाओं में विशेष पटुतास्पी लता को परललित करने के लिए पृथिवी-सरीखी थी । तथा ऐसे विश्वभूति नामक पुरोहित की, जिसकी बुद्धि का प्रसार ज्योतिष-आदि शास्त्रों में तीक्ष्ण था एवं जिसका मन विशेष सन्मान से आह्लादित था, हस्तिनागपुर भेजा ।

मन्दोदरी धाय ने, जो कि दूसरों को धोखा देने के उपाय संबंधी अभिप्राय के लिए व्याघ्र की गुफा-जैसी थी और जिसकी बुद्धि दूसरों को ठगने में प्रवीण थी, उस नगर में पहुँच कर कात्यायनी (समस्त लोक द्वारा तमस्कार करने के योग्य बेधवाली, समस्त कलाओं में प्रवीण, प्रौढ़ अर्द्धवृद्धा नारी) का वेध बनाया और अपने स्वामी को प्रयोजन-सिद्धि करने में तत्पर हुई । इसने उन उन कलाओं के देखने का कुतूहल वाले अयोधन राजा को अपने ऊपर विशेष प्रसन्न कर लिया और अन्तःपुर की अध्यायिका होकर सुलसा से सगर राजा को

१. नृत्यविशेष । २. विरमत् । ३. 'प्रयोगस्तु निदर्शनं कामणे च प्रयुक्ती च केनाप्युपायैनेत्यर्थः' टि० ख०, 'प्रसाधनेन' टि० च० । ४. 'मण्डनाभरणादिषु' टि० ख०, 'नेपथ्य' टि० च० । 'प्रतिकर्म तेषु' इति पञ्जिकायां ।

५. होराशरादिभिः परचित्तज्ञाने अथवा अहोरात्र्यादिभिः परचित्तज्ञाने ।

६. कथा विप्रार्थगा जेया ख्यातार्थाख्यायिका मता । दृष्टान्तस्योक्तिराख्यानं प्रवाह्लीका प्रहेलिका ॥ १ ॥

७. पटुता । ८. विशिका परवंचनोपायः । ९. व्याघ्रगुहापि प्राणार्थये वर्तते । १०. 'अर्द्धवृद्धा' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु कात्यायनी लक्षणं ग्राह—

'सर्वलोकतमस्कार्यवेधाऽशेषकलाश्रया । कात्यायनी भवेन्नारी प्रगल्भातीतयौवना' ॥ १ ॥

११. तत्परा । १२. अन्तःपुर । १३. संगरं प्रतिज्ञां ।

कुण्डे (गले) पण्डितशीतिः स्यादेकाक्षं दधिरे शतम् । धामने च शतं त्रिंशं दोषाः पिङ्गे त्वसंख्यकाः ॥१२३॥
मुखस्वार्द्धे^१ शरीरं स्याद्घ्राणार्द्धं^२ मुखमुख्यते । नेत्रार्द्धं^३ घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु^४ नयने परे ॥१२४॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्भधुपिङ्गले विप्रोति कारयामास ।

“ततश्चाप्येयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनंधयेषु पुष्पंधयेष्विव मिलितेषु स्वयंवरारुहान्शृङ्गारिताहं-
कारेण महीववरेषु सा मन्दोदरीचशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत^५ निम्नधरोपगापगेव^६ सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

अर्धरपि समर्थः स्यात्सहार्धविजयी नृपः । कार्योयान्तो^७ हि कुतस्तस्य दण्डस्तस्य^८ परिश्रवः ॥१२५॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

ही वरण करने की प्रतिज्ञा करा ली । बगुला-जैसी कुटिल वृत्ति में बृहस्पति-मरीखे राजपुरोहित ने भी अनेक उपदेशों से उस राजा का और महारानी का मन अपने वश में कर लिया ।

इसके उपरान्त उसने उन्हें स्वयं रचे हुए श्लोकों द्वारा मधुपिङ्गल के विषय में विरक्तता उत्पन्न कराई ।

उन श्लोकों का भाव यह था—

दण्डे में ६० दोष होते हैं, काने में ८० और बहरे में सौ दोष होते हैं । घोने में एक सौ बीस दोष होते हैं, किन्तु पीत नेत्रवाले में तो अगणित दोष होते हैं ॥ १२३ ॥

समस्त शरीर, मुख के मूल्य को प्राप्त करता है, अर्थात्—शरीर में मुख कीमती होता है । मुख नासिका का मूल्य प्राप्त करता है (मुख में नासिका श्रेष्ठ होती है) । एवं नासिका नेत्रों का मूल्य प्राप्त करती है (नासिका की अपेक्षा नेत्र श्रेष्ठ हैं) । तथा नेत्र शरीर, मुख व नासिका-आदि के मध्य सर्वोत्कृष्ट माने गये हैं ॥ १२४ ॥

इसके बाद स्वयंवर हुआ—

स्वयंवर में बुलाने से वस्त्राभूषणों से सज्जित होने के कारण अहङ्कारी राजा लोग, जिनके ज्ञान-
रूपी शिशु, चम्पक-बल्लरियों की सुगन्धिरूपी दुग्धपान में विशेष लुब्ध हैं, भीरों की तरह जब स्वयंवर मंडप में एकत्रित हुए, तब उनमें से मन्दोदरी धाय के अधीन हुई मनोवृत्ति वाली सुलसा ने कर्णों के लिए, मनोज्ञ सगर राजकुमार को वैसा वरण किया जैसे नीची पृथिवी पर गमन करनेवाली नदी समुद्र का वरण करती है—उसमें प्रविष्ट होती है ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

राजा शक्तिशाली थोड़े से भी सैनिक सहायकों से विजयश्री प्राप्त करता है, जैसे भाले की नौक ही अपना कार्य (प्रहार) करती है, उसमें लगा हुआ दण्ड तो केवल सहायक मात्र है ॥ १२५ ॥

१. सर्व शरीरं मुखस्वार्द्धं तुल्यं मूल्यं । २. सर्वं मुखं नासिकायाः अर्द्धं तुल्यं मूल्यं वा लभते । ३. एकनेत्रस्य मूल्यं नासिका लभते । ४. पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे । ५. चम्पकवल्लरीमु लयत्सुगन्धना एव दुग्धपानं तत्र लोभिष्ठज्ञानबालकेषु । ६. निम्नभूयामिनो । ७. नदी । ८. अश्वभाग । ९. कुतस्तस्य ।

प्रकृतिर्वैदिकत्वलो* मधुपिङ्गलः 'भोगिदमभोगायतनं' भोगायतनं^२ यदेकदेशदीक्षादिनामुचितसमागमानपि
 'मामतनूद्वहानहं नासृष्टि' इति मत्वा विमुक्तसंसारपक्षः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण सोस्तान्प्रामारामनिवेशाभिरनुको^३
 जङ्घाकरिक^४ इव लोचनोत्सवतां नयन्नशताया^५ बुद्धयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तोन्नतपोऽतिथ्यास्तदेहो
 बाष्पीह^६ इव 'वल्लभधुपपोहाय सगरागारद्वार*मन्दिरे' मनावधयस्वस्त । तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायनीतिविश्वभूतिः
 प्रगल्भमतये शिवभूतये रुचिष्याय^७ शिष्याय रहितरहस्य^८ मुद्रकं सामुद्रिकमशेषविबु^९ धविचक्षणो व्याचक्षानो बभूव ।
 परामर्शवशाशोतिः^{१०} शिवभूतिस्तं न्यक्षलक्षणपेशलं मधुपिङ्गलमवलोक्य 'उपाध्याय,'^{११} घनघृताहुतिवृद्धिमद्धासशालिनि
 'व्यालामालिनि' ब्रह्मतामेतवेतिह्यस्वाध्यायो यदेवविश्वभूतिरप्ययमीदृगवस्थाकीतिः^{१२} सदाचारनिगृहीतिविद्वभूतिः—अप-
 र्याप्तपूर्वापरसंगोते^{१३} शिवभूते, मा गाः खेदम्, यवेध नृपवरस्य सगरस्य निवेशावस्मदुपदेशावनन्प्रसामान्यत्वावण्यविनिहासो
 सुलसानलभमानस्तपस्वी^{१४} तपस्वी समभूत् । एतच्चासन्नारिष्ट^{१५} तातेविद्वभूतेर्धनमेकायनमनाः^{१६} स पतिनिशम्य

इस प्रकार उपासकाध्ययन में सुलसा का सगर के साथ संगम नाम का अट्टाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इस घटना से मधुपिङ्गल के हृदय में वैराग्य रूप कन्द उँग गया और ऐसा सोचकर उसने संसार से मोह छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । 'भोग-शून्य स्थान वाले इस शरीर को धिक्कार है, जिसके एकदेश (नेत्र) में दोष होने के कारण मैं समागम के योग्य (अनोखी सुन्दरी) मामा की पुत्री को नहीं प्राप्त कर सका ।' इसके उपरान्त एकाकी पादचारी की तरह घूमते हुए उसने क्रम से अनेक ग्रामों व बगीचों के स्थान नेत्रों की उत्सवता में प्राप्त किये । एक दिन वह भोजन की इच्छा की वृद्धि से आहार के लिए अयोध्या नगरी में आया । अनेक उपवास करने के कारण उसके हृदय का उत्साह पराधीन (बेकाबू) हो गया और तीव्र धूप से उसका शरीर विशेष थक गया था, अतः चातक पक्षी की तरह थकावट दूर करने के लिए सगर राजा के महल के द्वार-मण्डप पर थोड़ी देर के लिए ठहर गया ।

वहाँ पर समस्त विद्वानों में प्रवीण विश्वभूति, जिसने पूर्व में इसका मुलसा राजकुमारी के साथ होनेवाले विवाह-संबंध को छुड़ाने की कूटनीति का प्रयोग किया था, प्रतिभाशाली, बुद्धिमान एवं शास्त्रोपदेश के योग्य (अथवा टि० के अभिप्राय से प्रेमपात्र) शिवभूति नामक शिष्य के लिए गोप्य-रहित मुद्रापूर्वक (खुले तौर पर) सामुद्रिक विद्या का व्याख्यान दे रहा था, उस समय विचार के अधीन चित्तवाले शिवभूति शिष्य ने समस्त लक्षणों से मनोज्ञ मधुपिङ्गल को देखकर अपने गुरु से कहा—उपाध्याय ! 'प्रचुर धी की आहुति से वृद्धिगत तेजवाला—बंधकती हुए अग्नि में इस सामुद्रिक विद्या को जला देने की चाहिए; क्योंकि इस प्रकार के लक्षणों से युक्त होने पर भी इस मानव की ऐसी शोचनीय अवस्था है ।'

इसे सुनकर सदाचार के शत्रु विश्वभूति ने कहा—'पूर्वापर संबंध को न जाननेवाले शिवभूति ! खेद मत करो, क्योंकि सगर राजा की आज्ञा से और हमारे कहने से अनोखे सौन्दर्य की आश्रय मुलसा को प्राप्त न

* कन्द । १. भोगरहितं गृहं । २. शरीरं । ३. मातुलपुत्रीं । ४. न प्राप्तवान् । ५. असहायः एकाकी । ६. चरणचरः पादचारी । ७. 'आहारार्थ' टि० ख०, 'बुभुक्षायाः' टि० च०, पं० तु अथना क्षुधा । ८. चातकः । ९. श्वम-स्फोटमाय । * 'द्वारपदिरे' इति ख०, । १०. 'पदिरे—प्राङ्गणे मण्डपे' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'मन्दिरं मण्डपः' इत्याह । ११. 'वल्लभाय' टि० ख०, पं० तु 'रुचिष्यः शास्त्रोपदेशयोग्यः' । १२. गोप्यरहित । १३. विदुषं पण्डितः । १४. 'चित्तः' टि० ख०, पं० तु 'आशोतिः आशयः' । १५. न्यक्षः सर्वः । १६. हे उपाध्याय !—हे प्रगल्भ । टि० ख० । १७. अग्नी । १८. संबंध । १९. दीनः, पं० तु तपस्वी वर्पुटः । २०. अमङ्गल । २१. एकान्विस्तः ।

प्रवृद्धकोधानलः कालेन ^१विपश्योत्पद्य चासुरेषु कालासुरभामः भवप्रत्ययमाहात्म्यादुपजातावधिसन्निधिस्तपस्याप्रपञ्च ^२।
असुरान्वयोद्वञ्च ^३। चात्मनो विनिश्चित्य यद्विद्वानमीमेव महापराधनगरं सगरभकारणप्रकाशितवोषजाति विश्वभूतिं च
धूर्णपेषं पिनपिच, तद्वानयोः ^४। सुहृत्सूयिष्ठत्वात् प्रेत्यापि ^५। सुरश्रेष्ठत्वावाप्तिरिति न साध्वपराधः स्यात् । ततो यथेहा-
नयोर्बहुविद्वन्वनाथरोधो यथः, परत्र च दुःखपरम्परानुरोधो भवति, तथा विधेयम् । न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धि-
रस्ति' इत्यभिप्रायेणात्मवैकारिक ^६द्विप्रदर्शनातिथि ^७। वैनिर्यातन ^८मनोरथरथसारथिमन्वेष्टमाणमतिरासीत् ।

अथ कामकोदण्डकारणकान्तारैरिष्टेषुवणावतारैर्विराजितमण्डलायाः ^९। ^{१०}डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम
पुरी । तस्यामभिचन्द्रापरनामधसु ^{११}विश्ववसुनाम नृपतिः । तस्य निधिलगुणमणिप्रसूति ^{१२}। वसुमती वसुमती नामापम-
हिषी । पुनुरनयोः ^{१३}समस्ततपस्मभूतहविर्भावसु ^{१४}वसुः । पुरोहितश्च निश्चिताशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्बः क्षीरकदम्बः ।
कुटुम्बिनो पुनरस्य सतीवतोपास्तिमती स्वस्तिमती नाम । ^{१५}अन्युदनयोरनेकतमसित ^{१६}पर्वतप्राप्तः पर्वतो नाम । स

करने के कारण यह बेचारा तपस्वी हो गया है ।'

उस तपस्वी ने एकाग्रचित्त होते हुए निकटवर्ती अमङ्गल-समूहवाले विश्वभूति के वचन सुनकर उसकी क्रोधान्ति भड़क उठी । वह आयु के अन्त में मर कर असुरकुमार जाति के देवों में कलासुर नामका देव हो गया । वहीं पर देव पर्याय के माहात्म्य से उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान की समीपता उत्पन्न हुई । उसके द्वारा उसने अपनी तपश्चर्या का विस्तार व उससे असुर कुमार जाति के देवों में अपनी उत्पत्ति का निश्चय किया ।

इसके उपरान्त उसने सोचा-कि 'यदि मैं इसी समय महान् अपराध के स्थान सगर को व निष्कारण मेरे गैरमौजूद दोष-समूह को प्रकाशित करने वाले वृद्ध विश्वभूति को 'दूर' से सहा पीगत' हूँ तब पुण्य अधिक होने से इन दोनों को देवों की श्रेष्ठ पर्याय ही मिलेगी, जिससे इनका विशेष अपकार नहीं होगा ।' इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका वध महान् कष्टों के संबंध वाला हो और परलोक में भी इन्हें दुःख-परम्परा का संबंध हो । परन्तु अकेला बृहस्पति भी सहायकों के बिना कार्य-सिद्धि में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । ऐसा सोचकर उसकी बुद्धि ऐसे कुशल पुरुष की खोज करने में तत्पर हुई, जो इसकी वैक्रियक ऋद्धि के अमत्कार दिखलाने का अतिथि हो एवं जो वैर-शुद्धि के मनोरथ रूप रथ का सारथि हो । अर्थात्—वैर शोधने में सहायक हो ।

इसु-वनों की उत्पत्ति द्वारा, जो भानों—कामदेव के धनुष उत्पन्न करनेवाले वन ही हैं, सुशोभित विस्तार वाले डहाला देश में स्वस्तिमती नामकी नगरी है । उसमें विश्ववसु नामका राजा राज्य करता था, उसका दूसरा नाम अभिचन्द्र भी था । उसकी समस्त गुणरूप मणियों की उत्पत्ति के लिए वसुमति (पृथ्वी) सरीस्त्री 'वसुमति' नामकी पट्टरानी थी । इनके समस्त धातुरूपी वृक्षों को भस्म करने के लिए अग्नि-जैसा वसु नामक पुत्र था । समस्त शास्त्र के रहस्य-समूह को निश्चय करने वाला 'क्षीरकदम्ब' राज-पुरोहित था । इसकी पातिव्रत्य धर्म की उपासना करनेवाला स्वस्तिमती नामकी प्रिया थी । इनके पर्वत नामक पुत्र था, जो कि बहुल नैवेद्य बढ़ाकर की हुई देवताओं की आराधनाओं से प्राप्त हुआ था ।

१. मृत्वा । २. विस्तारं । ३. उद्वञ्च—उत्पत्ति । ४. नृपमन्त्रिणोः । ५. मृत्वापि । ६. विकारो भवा विक्रियद्धि । ७. प्राधूर्णिकं, मम विक्रियां तस्य दर्शयामीति भावः । ८. वैरशुद्धिकरणसहायं । ९. त्रकवालायां विस्तारगता । १०. नाम देशे । ११. अभिचन्द्रः विश्ववसुः इति तस्य नृपस्य नामद्वयं । १२. उत्पत्ती भूमिः । १३-१४. धातुवृक्षदहनानिः । १५. पुत्रः । १६. हन्तकारा एव पर्वताः तैः प्राप्ताः बहुलनैवेद्येन देवाराधनैः प्राप्त इत्यर्थः ।

किल सदाचरणसूरिः क्षीरकदम्बकसूरिः शिष्योऽप्यध्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्णगिरिगुहाङ्गणशिलाया^१।
मेकदा तस्मै मुवा गतस्मयाय^२ यथार्थाय^३ सभांश्चजिगांसवे वसवे प्रगलितविनृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरि-
कूटपत्तनवसतेविश्वनाम्नो विश्वभरापतेः पुरोहितस्य विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेवस्य विश्वदेवस्य नन्दनाथ
नारदामिवानाथ च^४ निखिलभुवनव्यवहारतन्त्रसागमसूत्रमतिमधुरस्वरापदेश^५मुपदिशन्नम्बरादवतरत्स्वर्गा सूर्याचन्द्र-
समाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामुषिभ्यामोक्षाञ्चक्रे ।

तत्र समाससुगतिरनन्तगतिर्भगवांश्चिल्लेखमभाषत—‘भगवन्, एत^६ एव ललु विदुष्याः^७ शिष्याः, पदे-
धमनवद्यं ब्रह्मोद्यविद्य^८मेत^९ स्मादग्रन्थार्थप्रयोगभङ्गोष्^{१०} यथार्थप्रदर्शनतया^{११} विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेक^{१२} सर्गवि-
द्योऽधीयते ।’

प्रयुक्तावधिबोधस्थितिरमितगतिर्भगवान्—‘भुनिवृणन्^{१४}, सत्यमेवतत् । किञ्चित्तेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्याम-
भसि^{१५} गौरवोपेतपदार्थवद्व्यप्रबोधो^{१६} चित्तमतिभ्यामिदमतिपवित्रमपि सूत्रं विपर्यासयितव्यम् ।’

एतच्च प्रवचनलोचनालोकितब्रह्मस्तम्भः^{१७} क्षीरकदम्बः संश्रुत्य नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽर्थात्सप्तरवि^{१८}—

एक समय निस्सन्देह विशेष सदाचारी क्षीरकदम्ब नामक विद्वान् सुवर्ण गिरि की गुफा के आँगन की शिला पर, जो कि उस प्रकार स्वाध्याय के सम्पादन के लिए विशाल (विस्तृत) थी जिस प्रकार शिष्य की बुद्धि स्वाध्याय के सम्पादन में विशाल (प्रखर) होती है, गर्व-रहित (विनोत) व यथाविधि अध्ययन के इच्छुक वसु राजकुमार के लिए और अपने पुत्र पर्वत के लिए, जिसका पिता को विद्वत्ता का गर्वरूपी पर्वत नष्ट हो चुका था, एवं नारद नामक शिष्य के लिए, जो कि गिरिकूट नगर के स्वामी राजा विश्व के पुरोहित व निर्दोष विद्या के आचार्यों का चरण सेवक विश्वदेव का पुत्र था, त्रैलोक्य के वर्णन के सम्प्रदाय वाले सिद्धान्त-सूत्र का अत्यन्त मधुर स्वर-सहित उपदेश देता था । इसी अवसर पर आकाश से उतरते हुए व सूर्य-चन्द्रमा-सरीखे अमितगति व अनन्तमति नामके चारणऋद्धिधारी ऋषियों ने उसे देखा ।

उनमें से समीपवर्ती प्रशस्त गतिवाले अनन्तगति मुनि निस्सन्देह बोले—‘भगवन् ! निस्सन्देह ये ही शिष्य विद्वान् हैं; क्योंकि ये लोग एक अभिप्रायवाली बुद्धि से युक्त हुए ग्रन्थ के अर्थ की प्रयोग-रचनाओं को यथार्थ दिखलाने के कारण दुराचार को उत्पत्ति को नष्ट करनेवाले (सदाचारी) इस उपाध्याय (शिक्षक) से, तीर्थङ्करों द्वारा कहा हुआ निर्दोष शास्त्र पढ़ रहे हैं ।’

उपयोग की शक्ति से अवधिज्ञान की स्थिति लानेवाले भगवान् अमितगति ने उत्तर दिया—‘भुनि-
श्रेष्ठ ! आपका कहना सत्य है, परन्तु इन चारों के मध्य दो शिष्य उस प्रकार अधः (तरक) के अनुभवन के योग्य बुद्धिवाले होंगे जिस प्रकार जल में फेंकी हुई वजनदार वस्तु (पाषाण-आदि) अधः अनुभवन के योग्य (नीचे जानेवाली) होती है । क्योंकि उनके द्वारा अत्यन्त पवित्र भी शास्त्र का अर्थ विपरीत—उल्टा किया जायगा ।’

१. पट्टशालायां । २. रहितगर्वयि । ३. अव्येतुमिच्छवे । ४. कृत । ५. त्रैलोक्यवर्णनसंप्रदायं सिद्धान्तं । ६. स्वर सहितं । ७. चत्वारः । ८. विचक्षणाः । ९. शास्त्रं । १०. उपाध्यायात् । ११. रचनाम् । १२. विधूतः स्फोटितः उपाधेर-सदाचारस्य आयः उद्यादो येन सः तस्मात् । १३. एकाभिप्रायाः, सर्गः स्वभावनिर्माणनिश्चयाध्यायसृष्टिषु । १४. श्रेष्ठ । १५. जलं यथा गुरु वस्तु निमज्जति । १६. अनुभवन । १७. ब्रह्माण्ड । १८. सप्तरविरमिः ।

मरीचिवत्तुद्वाभ्यामूर्ध्वगाम्यो भवितव्यमिति प्रतीयते । तत्राह तावदेकदेशयतिपूतात्मानमात्मानमधरधामसंतिष्ठानं न संभावयेयम् । नरकान्तं राज्यम्, वंशजातो नियोगः, मरणास्तः स्त्रीषु विधासः, विषयन्ता खलेषु मंत्री, इति वचना-
विन्दिरामहिरामदमलिनमनःप्रधारे राज्यभारे 'प्रसरदसु वसुं च नोर्ध्वं विद्यासुम्' । तन्नारदपर्वतो परीक्षाधिकृती'
इति निश्चित्य 'समिधमयपूर्णाघुद्वयं' निर्माय प्रदाय च तान्याम् 'अहो, द्वाभ्यामपि भवद्गुणामिदमूणविपुलं यत्र न
कोऽप्यालीकते तत्र विनाश्य प्राशितव्यम्' इत्यादिशेषः । तावपि तदादेशेन *हृष्यवाह्वाहनद्वितयं प्रत्येकमादाय यथायथ-
मयासिष्टाम् । तत्र सत्त्वातिशयः^१ पर्वतः 'पश्य'वाश्चात्यकुम्भा^२ 'मुपस'^३ छापाद्य च भट्टिचमुरध्रमुत्रमुवरानलपात्र-
मकार्षीत् । शुभाशयविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालीकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कात्तारे वा
'^४सद्रुणो योऽधिकरणं'^५ सात्त्विकेणस्य व्यन्तरागस्य महामुनिजनान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तर्पय तं '^६वृष्णि-
मुपाध्यायाय समर्पयामास ।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुद्धयः संसाररुस्तम्भमिव^७ कचनिकुरुम्बमुत्पाद्य स्वर्गलक्ष्मीसपथा वीक्षा-
नादाय निखिलागमसमीक्षा शिक्षामनुश्रित्य चानुबर्ण्यभमणसङ्घसंतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य '^८एकत्वादिभावना-

शास्त्ररूपी नेत्र द्वारा ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले क्षीरकदम्बक ने अथ मुनियों की बात सुनी
तब उसने निश्चय किया—कि 'वास्तव में इस महामुनि के वाक्य के अभिप्राय से यह प्रतीत होता है कि
हममें से दो निश्चय से अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगामी हैं । उनमें से मैंने तो अपनी आत्मा को श्रावकों
के चरित्र पालन से पवित्र किया है, अतः मैं अपने को नरक स्थान के समीप होने की सम्भावना नहीं कर
सकता और वसु को, जिसके प्राण लक्ष्मीरूपी मदिरा के मद से मनोवृत्ति को कलुषित करनेवाले राज्य-भार
में विस्तृत हो रहे हैं, ऊर्ध्वगामी होने की संभावना नहीं करता, क्योंकि नीतिकारों ने कहा है—'राज्य का फल
अन्त में नरक है । शासन का फल बन्धन है । स्त्रियों में विश्वास करने से अन्त में मृत्यु होती है । दुष्टों की
संगति अन्त में दुःख देनेवाली है ।' अतः अब नारद और पर्वत परीक्षणीय हैं । ऐसा निश्चय कर उसने गेहूँ के
आटे के दो मेढ़े बनाकर उन दोनों के लिए एक एक मेढ़ा देकर आज्ञा दी—'शिष्यधुगल ! तुम दोनों इस मेढ़े
के जोड़े को जहाँ कोई न देख सके, ऐसे एकान्त स्थान पर मारकर खा जाओ ।'

गुरु की आज्ञा से वे दोनों एक-एक मेढ़ा लेकर यथायोग्य स्थान पर चले गए । उन दोनों छात्रों में
से सज्जनों के साथ मित्रता करने में लघु पर्वत नामके छात्र ने अपने गृह को पिछवाड़े भाग की बाड़ी के समीप
जाकर कुल्हाड़ी वगैरह हथियार लेकर मेढ़े को अपनी जठराग्नि का स्थान बना लिया । किन्तु शुभ-अभिप्राय में
प्रवीण नारद ने तो 'जिस स्थान पर कोई नहीं देख सके' इस गुरु की कही हुई बात पर चिन्तन करके
विचार—'इस नगर व वन में ऐसा कौन सा प्रदेश है, जो अतीन्द्रिय दर्शी व्यन्तरदेव-समूह के ज्ञान का स्थान
नहीं है ? या महामुनि जनों के ज्ञान का विषय नहीं है ? ऐसा विचार कर वह मेढ़ा जैसे का तैसा—उपाध्याय
के लिए समर्पण कर दिया ।

शिक्षक ने जान लिया कि नारद भी स्वर्गगामी है । अतः उसने संसाररूप वृक्ष को जड़ सरोखे केश-

१. वीचस्थान-नरक । २. विस्तरत्याणं । ३. नाहं संभावयेयम् । ४. गोधूमचूर्णं । ५. मेघयुगलं । ६. मेघयुगलं टि०
ख०, पं० तु हृष्यवाह्वाहनः उरधः वृष्णिदच मेघः । ७. तयोर्द्वयमप्यो । ८. लघुः । ९-११. गृहपरचाद्भागमहा-
वृत्तिकान्तरे नीत्वा कुम्भा तु महामुनिवृत्तिरित्यमरः । १२. प्रदेशः । १३. स्थानं । १४. मेघं । १५. अथ कांठे स्तम्भ-
गुल्मी जवकः विटपश्च सः । १६. भावनाः पञ्च—एकत्वभावना, तपोभावना, श्रुतभावना, शीलभावना, धृतिभावना-
इति भावनाः पञ्च ।

पुरस्कारमात्मसंस्कारं विधाय कायकषायकर्शनां सल्लेखनामनुष्ठाय निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्क्षवितर्गतमर्थमुत्तमार्थं^१ च प्रतिपद्य सुरमुत्तनुकृतार्थो वचनपूर्वमेव । तदावेशावात्मदेशोपवेशवः^२ सकलसिद्धान्तकोविदो नारदः सवृणुषूरेः क्षीर-कदम्बसूरेः प्रव्रज्यावरणं स्वर्गविरोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं गुरुकलत्रं च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणः^३ पर्याप्त-तदाराधनोपकरणस्तद्विरहदुःखदुर्मनसमुपाध्यायानो जननो सह पांशुकीडितं पर्वतं च ब्रष्टुमागतः ।

अपरेद्युस्तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैरजात्मजं^४ यंष्टव्यं हृष्यकष्याप्यो विधिविधानव्यः' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो 'व्याहरन्तमुपधृत्य बृहस्पतिभ्यः पर्वत, मेवं व्याख्यः । किं तु 'न जायन्त इत्यजा वषट्त्रयप्रवृत्तयो ब्रह्मस्तैर्यष्टव्यं शान्तिकरीष्टिकार्या क्रिया कार्या' इति 'परायंवाच्यार्थादिदं वाक्यमेवमभ्योष्व'^५ 'पस्तसजू-^६ स्तर्यंवाचिन्तयाव । तत्कथमप्यम'^७ एव तव सतिर्वापरवसतिः^८ समजनोति बहुविस्मयं मे मनः ।^९ आचार्यनिकेत पर्वत, यद्येवमद्यश्वाते^{१०} 'ऽप्यर्थाभिधाने'^{११} भवानपरवानपि^{१२} विपर्यस्यति^{१३}, नरा पराधीने 'मादृग्विधीने'^{१४} को माम संप्रत्ययः ।

समूह का लुञ्चन करके स्वर्ग लक्ष्मी की सखी जितदीक्षा धारण करके समस्त जिन-सिद्धान्तों की समीक्षावाली शिक्षा प्राप्त कर चारों प्रकार के मुनि संघ को सन्तुष्ट करने वाला आचार्य-पद प्राप्त किया, जो कि मुनि संघ का संरक्षण रूप है, एवं एकत्वादि पाँच भावनाओं के साथ रहने वाला आत्म-संस्कार करके और आयु के अन्त में काय व कषाय को कुश करने वाला समाधिमरण धारण किया और ऐसा सन्यासमरण प्राप्त किया, जो कि समस्त दोषों को आलोचना-पूर्वक शरीर-त्याग में समर्थ है, जिससे वह पूर्व में ही देव लोक का सुख प्राप्त करके कृतार्थ हो गया ।

समस्त शास्त्रों का धेत्ता व मोक्षमार्गी नारद पूर्व में ही गुरु को आज्ञा लेकर अपने देश की ओर चला गया था । उसने जब प्रशस्त गुणों से महान् आचार्य क्षीर कदम्बक के दीक्षा-ग्रहण व स्वर्गारोहण के समाचार सुने तो उसे 'गुरु के समान ही गुरु-पुत्र व गुरुपत्नी को मानना चाहिए ।' इस नीति वाक्य का स्मरण हो गया । इसलिए वह 'उसकी सेवा की सामग्री (वस्त्रादि) भेंट लेकर पति-वियोग के दुःख से दुःखित चित्त वाली माता-सरीखी गुरुपत्नी और एक साथ चूलि में जोड़ा किये हुए मित्र पर्वत को देखने के लिये आया ।

दूसरे दिन नारद ने पर्वत को, जो कि गुरु-वचनों की प्रतीति से चमत्कारों छात्रों के लिये 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का 'बकरी के बच्चों की बलि द्वारा देवकार्य व पितृकार्य (श्राद्ध) करना चाहिए ।' इस प्रकार का विपरीत अर्थ कहते हुए सुना था उसे रोककर कहा—'बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पर्वत ! ऐसी विपरीत व्याख्या मत करो । किन्तु 'अज' अर्थात्—'जो न ठेग सके ऐसे तीन वर्ष के पुराने धान्य से शान्ति व पुष्टिक्रिया करनी चाहिए ।' ऐसा अर्थ करो । क्योंकि हे मित्र ! सत् तृतीय वर्ष में (तीन वर्ष पूर्व) ही आचार्य से हम दोनों ने उक्त वाक्य का ऐसा ही अर्थ सुना था । एवं गतवर्ष हम दोनों ने साथ-साथ उसी प्रकार चिन्तवन भी किया था । तब इसी वर्ष में ही तुम्हारी बुद्धि संदिग्ध कैसे हो गई ? यह जानकर मेरा मन विशेष आश्चर्यनिबल हुआ है । पर्वत ! तुम आचार्य की गद्दी पर हो । जब आप पुराने अर्थ-कथन में स्वतन्त्र होकर भी इस प्रकार उल्टा अर्थ करते हो । तब पराधीन हम-सरीखों के अर्थ-कथन के स्वामित्व में किस प्रकार विश्वास हो सकता है ?

१. सन्मार्गः । २. नारदो गतः अर्थात्—मोक्षमार्गं वर्तमान इत्यर्थः, टि० स०, 'आत्मदेशोपदेशः' इति च० 'आत्मदेशोपदेशः' इति क०, पञ्जिकाकारस्तु 'अपसदः गतः, उपसदो वा गतः' इति ग्राह्य, अर्थात्—तन्मते 'आत्मदेशोपसदः' इति पाठः साधुः । ३. गृहीत । ४. छागपुत्रैः । ५. गुरुवचनप्रतीतिचमत्कारिभ्यः । ६. कथयन्तं । ७. गत-तृतीयवर्षे एव हे मित्र ! । ८. आवां श्रुतवन्तो । ९. गतवर्षे । १०. सह । ११. इदानीमस्मिन् वर्षे । १२. संशयः । १३. पुराणे । १४. अर्थकथने । १५. स्वतंत्रः । १६. विपरीतं करोति । १७. मादृशां विधिस्तस्य इने ईश्वरे ।

पर्वतः—‘नारद, नेदमस्तुङ्गारं^१ यदस्य पदस्य नक्षिणत एवातिमूक्तोऽर्थः । यदि चायमन्धया स्यात्तदा रसवाहिनीलण्डनमेव मे दण्डः ।’ नारदः—‘पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमामयोरावयोनिषसूभिः^२ ।’ पर्वतः—‘नारद, वसुः । कर्हि तर्हि तं समयानुसृतं^३ । इदानीमेव “नाओडारः” इत्यभिधाय द्वावपि तौ वसुं निष्ठां प्रास्थिषाताम्^४, ऐक्षिषातां च । तथोपस्थितौ तेन वसुना गुरुनिर्दिशमाचरितसंमानो यथावत्कृतकशिपुविधानो^५ विहितोचितोचितकाञ्चनवानो समागमनकारणमापृष्टौ स्वाभिप्रायमभिधाताम् ।

वसुः—‘यथाहस्तत्रभवन्तो^६ तथा प्रातरेवानुतिष्ठेयम्^७ ।’

अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षयेव क्षपायां सा किलोपाध्यायी नारदपञ्चानुमतं क्षीरकदम्बाचार्यकृतं तद्वाक्य-व्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या वसुमनुसृत्य ‘वस वसो, यः पूर्वमुपाध्यायवन्तर्था^८ नापराध-लक्षणावसरो वरस्त्वयावायि, स मे संप्रति समर्पितव्यः’ इत्युवाच । सत्यप्रतिपालनाबुद्धिः—‘किमम्ब, सन्देहस्तत्र ।

यद्येवं यथा सहाध्यायी पर्वतो वदति, तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम् ।’ वसुस्तथा स्वयमाचार्याभ्याभिहितः^९—

पर्वत—मेरा यह अर्थ-कथन असङ्गत नहीं है; क्योंकि इस पद का मेरा कहा हुआ अर्थ ही ठीक है । यदि यह ठीक नहीं है तो जिह्वा-खंडन ही मेरे लिये दण्ड है ।’

नारद—‘पर्वत । इस विषय में निश्चितरूप से विवाद करनेवाले हम दोनों का परीक्षा-स्थान (परी-क्षक—फैसला करनेवाला) कौन है ?’

पर्वत—‘नारद ! राजा वसु ।’

नारद—‘तो उसके पास कब चलना चाहिए ?’

पर्वत—‘इसी समय ही, इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए ।’

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनों ने वसु के समीप प्रस्थान किया और वहाँ उपस्थित होकर वसु के दर्शन किये । वसु ने उनका गुरु-जैसा आदर-सत्कार किया और यथायोग्य अन्न व वस्त्र प्रदान किये एवं यथायोग्य सुवर्ण का दान दिया और उनसे आने का कारण पूछा । तब दोनों ने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया ।

वसु—‘पूज्य आप दोनों ने जिस प्रकार कहा है, उसका फैसला कल प्रातःकाल कराऊँगा ।’

इसी प्रसङ्ग में निस्सन्देह वसु राजा की लक्ष्मी के विनाश के लिए प्रलय रात्रि-जैसी स्वस्तिमती नाम-की क्षीर-कदम्बक नामके उपाध्याय की पत्नी ने, अपने पति क्षीर-कदम्बक के द्वारा किया हुआ उस वाक्य का व्याख्यान स्मरण किया, जो कि नारद के पक्ष का समर्थक था, अतः अपने पुत्र पर्वत के पराजय को नष्ट करने की वृद्धि से वह रात्रि में ही वसु के समीप गई और बोली—‘पुत्र वसु ! पहिले गुरु से छिपने का अपराध करने के समय वाला जो वर तुमने मुझे दिया था, वह मुझे अब दो ।’

सत्य-रक्षण को प्राण समझनेवाले वसु ने कहा—‘माता ! उसमें सन्देह मत करो ।’

स्वस्तिमती—‘यदि ऐसा है तो तुम्हारा सहपाठी पर्वत जैसा कहता है उसी प्रकार तुम्हें साक्षी होना चाहिए ।’

१. असङ्गतं । २. जिह्वा-खंडनं । ३. परीक्षास्थानं । ४. समीपं । ५. न विलम्बः । ६. प्रस्थितौ । ७. भोजना-च्छादनी । ८. पूज्यौ । ९. अहं कारयेयं । १०. तिरोधानं । ११. प्रार्थितः ।

‘यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरये पतामि । अयं न भवामि तदा सत्यप्रचक्षामि’ इत्युभयाशयशार्ङ्गविवृतमनोमृगचिरं विचिन्तय ।

न यतमस्थिग्रहणं^१ शाकपयोभूलभक्षचर्मा वा । सतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥१२६॥

इति च विमुच्य निरयनिधानवशं चरमपक्षमेव^२ पक्षमाक्षेप्सोत्^३ ।

तदनु^४ मुमुक्षिमाणारविन्वहृदयविनिर्द्वेषिन्विरचरणप्रचारोद्गच्छन्नकरस्वसिन्दूरितनोरदेवतासोमन्तान्नराले प्रभात-काले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपास्तिपर्यस्तोत्तंसकुसुमसंपावितोपहारमहोपसि च सति सवति मृगयाध्यक्षनव्याजशरणी-कृते^५ कुरङ्गपोते, *अपराद्धेषु^६ प्रस्थासावितस्पर्शमात्रावशोयाकाशस्फटिकघटितविलसनं सिंहासनमुपगत्य ‘सत्यशोचावि-माहारम्यावहं विहायसि गतो अगद्वधवहारं^७ निहासयामि’ इत्यात्मनात्मानमुत्कुर्वाणो^८ विवादसमये तेन ‘विनतचरदेन नारदेन ‘अहो, मृदोद्योद्भिदविभावसो^९ वसो, अद्यापि न किञ्चिन्नश्यति^{१०} । तत्सत्यं ब्रूहि सत्यं ब्रूहि’ इत्यनेकशः

गुरु-पत्नी द्वारा स्वयं उस प्रकार प्रार्थना किये हुए वसु ने विचार किया—‘यदि पर्वत का साक्षी होता हूँ तब तो मेरा नरक में पतन अवश्य होगा और यदि साक्षी नहीं होता हूँ तो सत्य से (वर देने की प्रतिज्ञा से) विचलित होता हूँ ।’ इस प्रकार उसका मनरूपी मृग दोनों अभिप्रायरूपी व्याघ्र द्वारा विच-लित हुआ तब उसने इस प्रकार चिरकाल तक निश्चय किया—

‘हूँ (कपाल) का धारण करना, शाक, जल, व कन्दमूल का लेना अथवा भिक्षा-भोजन करना ये सब व्रत नहीं हैं, किन्तु स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा का पूर्ण करना ही विशिष्ट बुद्धिशाली मानवों का व्रत है ॥१२६॥

उसने ऐसा विचार करके नरक ले जाने में समर्थ कारण पर्वत का पक्ष ही स्वीकार किया । दूसरे दिन जब ऐसा प्रातःकाल हो रहा था, जिसमें जल देवता के केशपाश का मध्यभाग, विकसित हो रहे कमलों के मध्य में जाग्रत हुए—वत्साही भवरों के चरण-संचार से उछलते हुए पुष्प-रत्न रूपी सिन्दूर से युक्त किया गया था । जब राज-सभा ऐसी हो रही थी, जो कि सेवा के लिए आये हुए सभी सामन्तों द्वारा की जानेवाली उपासना के समय गिरे हुए मुकुटों के पुष्प-समूह रूपी दी हुई भेंट से महान् प्रतीत हो रही थी । जब मृग-शावक ऐसे हो रहे थे, जो कि शिकारियों द्वारा शिकार खेलने के व्यसन के बहाने से वाणों के लक्ष्य (बंधने-योग्य) किये गए हैं । [इसी अवसर पर] राजा वसु लक्ष्य से च्युतबाणवाला (निधाना-चूकने वाला) होकर उसका वाण किसी वस्तु से टकराकर वापिस लौट आया तब वह ऐसे राज-सिंहासन पर आकर बैठ गया, जो कि स्पर्श मात्र से निश्चय करने योग्य व प्राप्त हुए आकाश-स्फटिक से घटित होने के कारण सुशोभित हो रहा था । उस समय वह स्वयं अपनी आत्मा को इस प्रकार उत्कर्षता में प्राप्त करा रहा था (अपने मुख से अपनी प्रशंसा कर रहा था) कि ‘मैं सत्य व शौच (लोभ-निग्रह) आदि धर्म के प्रताप से आकाश में बैठ कर जगत का न्याय देखता हूँ ।’

विवाद के अवसर पर नम्र शिष्यों के लिए इच्छित वस्तु देनेवाले नारद ने कहा—‘मिथ्या भाषण-

१. ‘कीकस’ टि० ख०, ‘आणालिकव्रत’ टि० च० । २. ‘साक्षिवचनं’ टि० ख०, पर्वतवचनं टि० ब० । ३. अङ्गीच-कार । ४. विकसमानभद्रमन्वसच्छेद्यमानभ्रमरचरण । ५. ‘बंधो’ टि० ख०, ‘लक्ष्योक्तं’ टि० च० एवं यश० पक्षिकायामपि ।

*. ‘अपराद्धेषु रिपुप्रत्यावृत्त्यासादितस्पर्श’ च० ख० । ‘अपराद्धेषु रिपुप्रत्यासादितस्पर्श’ क० ।

६. लक्ष्यच्युतबाणः । ७. न्यायं पश्यामि । ८. उत्कर्षतां प्रापयन् टि० ख०, पं० तु प्रकाशयन् । ९. विनतानां । विनेयानां । १०. ‘शृगवहनास्ते’ टि० ख०, ‘उद्भिदस्तत्कुम्भाद्याः इत्यमरः’ टि० च०, पं० तु ‘उद्भिदः तदः’ ।

११. विनाशं यास्यति ।

कृतोपदेशः काश्यपीतलं गिरासुर्वसुः—‘नारद, यथेवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्’ इत्यसन्नीक्यं^१ साक्ष्यं वदन् विष, अद्यापि यथापथं वद यथायथं वद’ इत्यालापबहुले^२ ‘समन्नुमानसधिलासिनील्ल^३ जितोक्तिलोहले^४’ विद्यावासाविद्वद्वयप्रज्ञा-प्रजल्पकाहले^५ स्फुटब्रह्माण्ड^६ शण्डव्यनिकुतूहले^७ समुच्छलति परिच्छन्नकोलाहले^८ सत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवतावश-कुचिलसनः साँसिहासनः क्षणमाश्रमप्यनासावित^९ सुखकालं पातालमूलं^{१०} जगाहे । अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिवेलायां प्रजा^१ जल्पन्ति—‘वत्सिल वसो, स्वर्गं गच्छ’ इति ।

भवति चात्र श्लोकः—

अस्थाने बद्धकक्षाणां नराणां सुलभं वयम् । परत्र कुर्वतिर्वीर्यां वुल्कीतिश्चात्र शाश्वती ॥ १२७ ॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासावनो नार्मकोनविशः कल्पः ।

नारदस्तमेव निर्वैकुण्ठरीकृत्य नतभू^{१०} विभ्रमभ्रमरकुलनिलयनीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलफलापमृन्मूक्य परम-निर्गन्धनतानिह्वं^{११} जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानाभूतवर्षाविकरणं संयमोपकरण^{१२} माकलय्य^{१३} मुक्तिलक्ष्मी-समागमसंचारिका^{१४} मिथोवक्त्रपरिवारि^{१५} कामावृत्त्य शिवश्रीवशीकरणाध्यायमिव^{१६} स्वाध्यायमनुबद्धय^{१७} मनोमर्कट-

रूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखे वसु ! अब भी कुछ नष्ट नहीं होगा, अतः सच बोल सच बोल ।’

परन्तु बार-बार उपदेश दिए हुए नरक जाने के इच्छुक वसु ने यही कहा—‘नारद ! जो पर्वत कहता है वही सत्य है ।’ इस प्रकार जब अपरीक्षणीय झूठी गवाही बोल रहा था तब ऐसा कुटुम्बीजनों का कोलाहल उत्थित हुआ, जो कि महाराज ! ‘अब भी सच बोलिये, अब भी सच बोलिए’ इस प्रकार के शब्दों से प्रचुर था । जो कोपसहित मनवाली राज-स्त्रियों के अव्यक्त वचनों से अस्फुट था । जो खेद से व्यथित हृदय-वाली प्रजाओं के जोर-शोर से चिल्लाने रूपी काहल (वाद्य विशेष) वाला था एवं जिसमें ब्रह्माण्ड (मध्य लोक) के फटने का कुतूहल वर्तमान था । तब अधर्म कर्म (मिथ्याभाषण) में प्रवृत्ति करने से मुपित हुए नगर देवता द्वारा विशेष कष्ट दिया गया वसु सिंहासन-समेत ऐसे समम नरक में प्रविष्ट हुआ, जिसमें क्षणमात्र भी सुख-प्राप्ति का अवसर नहीं है, इसीलिए आज भी यज्ञ में पहली आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं—‘वसु उठ, स्वर्ग जा ।’

प्रस्तुत विषय-समर्थक नैतिक श्लोक का अर्थ यह है—

नीति से विरुद्ध खोटे मार्ग में दुराग्रह से प्रवृत्त होनेवाले मानवों के लिए दो वस्तुएँ सुलभ होती हैं—परलोक में दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोक में अमिट अपकीर्ति ॥ १२७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वसु की रसातल में प्राप्ति करानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इस घटना से नारद ने उसी वैराग्य की स्वीकार करके ऐसा केश-समूह उत्पादित (लुञ्जित) करके जो ऐसे मालूम पड़ते थे—भानों—कमनीय कामिनियों के विलासरूपी भ्रमर-समूह के आवास स्थान वाली नीलकमलों की राशि ही है, और उत्कृष्ट परिग्रह के त्याग को वतलानेवाली दिगम्बर मुद्रा धारण करके ऐसा प्राणियों की रक्षा का उपकरण भगूरपिच्छ ग्रहण किया, जो कि समस्त प्राणियों के लिये अमय-

१. अपरीक्षणीयं । २. ‘कोपसहितचित्त’ टि० स्त०, पं० तु ‘मन्युः दुःखं’ । ३. अव्यक्तवचन । ४. अस्फुट—अव्यक्ते । ५. चन्द्रे । ६. मर्त्यलोक । ७. अप्राप्त । ८. सममनरकं । ९. विप्राः । १०. स्त्री । ११. कण्ठः । १२. भगूरपिच्छं । १३. गृहीत्वा । १४. दूती । १५. कुण्डिका—कमण्डलुं । १६. परिच्छेद । १७. कृत्वा ।

कीडाप्रकाश^१ मिन्द्रियारामभुपरम्भ^२ अन्तरात्महेमाइम^३ समस्तमलबहन् ध्यायवहनमुद्गोप्य संजातकेवलस्तत्प^४ वाप्ति-
पेशलो वसूष ॥

पर्वतस्तु तथा सर्वसभासमाजोदीरितोदीर्घपुरपवावरजसि मिथ्यासाक्षिपञ्चविषक्षणवचसि दुराचारेण क्षुभित-
सहस्राक्षानुधरी^५ भित्तजीवितमहसि कथाशेषतेजसि वसी सति^६ अहस्वह्नीयतया पीरापञ्चिकीर्षया^७ च निरन्तरोद-
रोमञ्चनिकायः^८ शललशललकानिकोर्षकाय इव निजागणे^९ यदुरीहिताध्मातो^{१०} बरचमंष्टुटः स्फुटल्लिव च सैर्न^{११} पतिविनाशव-
शामयिभिः संभूयोपदिष्टलोष्टवर्षिभिरतु^{१२} च्छपिच्छो^{१३} लबलास्फालनप्रकर्षिभिः प्रतिघातोच्छलच्छल^{१४} कथा^{१५} प्रहारतपि-
भिनंगरनिवासहृदिभिर्जनैरगणितापकारं सरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशे प्राप्तप्राणः^{१६} पुष्पूतकृतोत्पणवधाणः^{१७} सकल-
दुरवीचियु^{१८} विश्वगुष्टानुजातो^{१९} निष्काशितः^{२०} इवपञ्चस्मशानांशुकपिहितदेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डतः^{२१}

दानरूपी अमृत की वृष्टि का आश्रय है। बाद में उसने मुक्ति लक्ष्मी के समागम के लिए दूती-सरीस्त्री कुण्डिका (कमण्डल) धारण करके और मुक्तिश्री के नशीकरण का परिच्छेद-जैसा शास्त्र-स्वाध्याय करके एवं मनरूपी बन्दर की बहुल कीड़ावाले इन्द्रियरूपी बगीचे से दूर होकर ऐसी धर्मध्यानरूपी अग्नि उद्गोपित करके, जो कि अन्तरात्मारूपी सुवर्ण-पाषाण की समस्त पापरूपी किट्टकालिमा को दग्ध करनेवाली है। अर्थात्—उसने धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिघा कर्मरूपी ईधन को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह मोक्षपद प्राप्त करने से मनाज हो गया।

जब ऐसा वसु, जिसका तेज केवल कथामात्र में ही शेष था, अर्थात्—जो मर चुका था। जिसके प्रति समस्त सभासदों व सामाजिक जनों द्वारा महान् धिक्काररूपी धूलि उच्चारण की गई थी, (पद्मान्तर में फैली गई थी) जिसके वचन झूठी गवाही देने के पक्ष के समर्थन में प्रवीण थे। जिसका जीवनरूपी तेज दुराचार (मिथ्या-पक्ष का समर्थन) के कारण कुपित हुई इन्द्र की किङ्कुरियों द्वारा विशेष रूप से नष्ट किया गया था। तब कालासुर (जो कि पूर्वजन्म में मधुपिङ्गल था) ने ऐसे पर्वत को देखा, दीर्घलज्जा से व नागरिकों की द्राह् करमेवाली इच्छा के कारण जिसे अविच्छिन्न व उच्चतर रोमाञ्च श्रेणी उत्पन्न हुई थी। जिसकी कुक्षि का चर्मपुट अपने असंख्य पापों से फट गया था—मानों—उसका शरीर सेही के काटों से बौधा गया-जैसा मालूम पड़ता था। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—फट ही रहा है। जो ऐसे नगर में निवास करने से हर्षित हुए नागरिक जनों द्वारा अगणित अपकार पूर्वक गधे पर चढ़ाकर समस्त नगर की गलियों में दुरपवाद की धोषणा को प्राप्त हुआ नगर से बाहर निकाल दिया गया था। जो कि (नागरिक जन) वसु राजा के मर जाने के वश से इससे कुपित थे। जो एकत्रित हांकर इसके ऊपर पत्थरों की वर्षा करने का उपदेश देते थे। जो कि बहुल बस के खण्डों द्वारा इसे विशेष रूप से ताड़ित करते थे और जो ताड़न करने से ऊपर उछलते हुए खण्डों वाले कोढ़ों से प्रहार करने की अधिक तृष्णा करते थे। कष्ट से उसके प्राण कण्ठ देश में आ गये थे। जो विशेष चिल्लाने का उत्कट शब्द करता था।

१. यथैष्ट-अधिक। २. परितो भूत्वा। ३. सुवर्णपाषाण। ४. मोक्ष। ५. किङ्कुरीभिः क्षितं विध्वस्तं जीवितमेव महस्तेजो यस्य। ६. दीर्घलज्जया। ७. द्रोहकरषाञ्छया टि० ख०, अपकर्तुमिच्छया टि० च०। ८. सैर्नदूल-विद्धशरीरः। ९. बहुल, असंख्य। १०. आफटितकुक्षिः। ११. बहुल। १२. वंश। १३. खण्ड। १४. 'तर्जनक' टि० ख०, 'ह्यहहनोपकरणं' टि० च०, यश० पञ्चिकायामपि। १५. महान्। १६. शब्दः। १७. विश्वगुष्टं दुरपवादधोषणा यश० पं०। १८. 'विश्वगुष्टानुजातो' इति ख०, टिप्पणी तु 'सारमेयाः पृष्टवो भवन्ति'। १९. चाण्डालवितास्थानवस्त्रेण कृतकौपीनः। २०. विपरीत पीछणी मध्ये मध्ये पाटापाहित।

प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो^१ पलनालाबलम्बितशराधमासः प्रधीयसि वनगहनरहसि प्रविष्टः सुचक्षोदकद्वी^२पिनीतटिनी-
तटनिकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः^३ प्रत्यवमृष्टद्वन्द्वेष्टेन चाहं^४ तावद्वैकारिकद्विप्रविकाशपिपुशक्तिः^५ एषोऽपि
स्वमतप्रतिष्ठापयिषुमतिप्रवाक्तिरतो निष्प्रतिघः^६ खलु मे कार्योल्लाघः^७ इति निभूतं वितर्क्यं^८ पर्याप्तपरित्रा^९जकक्षेणेन
मायामयमनोवेषेण भाषितवच्च ।

तथाहि—‘पर्वत, केन खलु समासन्नकीना^{१०}शकेलिनर्मणा बुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्व^{११}शपकारः^{१२} पर्वतः—
‘तात, को भवान्’ । ‘पर्वत, अवत्पितुः खलु प्रियसुहृदहं सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नाभाभिधायो । यदा हि यत्न, भवान्
‘^{१३}षोडन् समभवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम । इवानो^{१४}चागाम् । अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति । तत्कथय हन्त^{१५}
कारणमस्य व्यतिकरस्य’ ।

पर्वतः—‘मत्प्राणितपरित्रा^{१६}णकारिन् भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसंनिधातरि^{१७} सुकृतमणिसभा-
हर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकवा प्रदीप्तनिकामकामोद्गमः^{१८} संपन्नपण्याङ्गमाजन-
समागमः^{१९} कृतपिशितकापिशा^{२०}पिनस्वादः पापकर्मप्रासादः^{२१}चेतनप्यायो^{२२}पदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमहं^{२३}दुरात्माख्यामः

चाण्डाल की चिताभूमि के वस्त्र (मुँदों का कपफन) से जिसने लँगोटी की थी । मार्ग में उल्टे
उस्तरे से उसका सिर भूँडा गया था । जिसकी चोटी में बिल्व फल-समूह प्रकट रूप से बाँधे गए थे । जिसकी
कण्ठनाल में सुकौनों की श्रेणी आश्रित थी । वह विशाल वन के गहन एकान्त प्रदेश में प्रविष्ट हुआ और थोड़े
जलवाली द्वापिनी नाम की नदी के तट के निकट बैठ गया ।

वहाँ उसे कालासुर व्यन्तर ने देखा, उसकी मन की दशा जानते हुए कालासुर ने निश्चल विचार
किया—‘मैं अपनी विक्रिया वृद्धि को प्रकट करने की शक्तिवाला हूँ और इस पर्वत की वृद्धि की प्रकृष्ट शक्ति
अपने मत को स्थापन करने की इच्छुक है, अतः निश्चय से मेरी कार्य-घटना निर्दिष्ट है ।

ऐसा विचार कर उसने सन्यासी का वेष प्राप्त (धारण) किया और अपनी वृद्धि को छल-कपट-पूर्ण
करते हुए कहा—‘पर्वत ! निश्चय से यमराज की क्रीड़ा के निकटवर्ती परिहास (मजाक) करनेवाले किस
दृष्ट के द्वारा तुम्हारे साथ यह निष्ठुर अपकार कराया गया ? अर्थात्—तुम्हारे अपकार करनेवाले की मृत्यु
निश्चित है ।

पर्वत—‘पिता ! आप कौन हैं ?’

कालासुर—‘पर्वत ! निस्सन्देह मैं आपके पिता का सहपाठी प्रिय मित्र हूँ । मेरा नाम शाण्डिल्य है ।
जब तुम छह दौर्भाग्य वाले शिशु थे तब मैं तीर्थयात्रा के लिए चला गया था और अब वापिस आया हूँ, इसी
लिये आप मुझे अच्छी तरह नहीं जानते । अतः अहो पुत्र ! तुम अपनी इस दशा का कारण कहो ।’

पर्वत—‘मेरे प्राणों की जीवन-रक्षा करनेवाले भगवन् ! सुनिए—समस्त शास्त्र रूपी रत्नों को भली-
भाँति धारण करनेवाले और पुण्य रूप मणि को एकत्रित करने वाले मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब
स्वर्गारोहण कर चुके तब मैं स्वच्छन्द होने से एक समय मेरे में कामोत्पत्ति अतिशय रूप से प्रज्वलित हुई,

१. श्रीफलं बिल्वं । २. नाम्नी । ३. परामृष्टद्वन्द्वेष्टेन । ४. विक्रिया वृद्धि प्रकटयितुं शक्तिः । ५. निर्विघ्न ।
६. घटना । ७. निश्चलं विचार्य । ८. तपस्वी । ९. यम । १०. ‘निष्ठुर’ टि० ख०, पक्षिकाकारस्तु निर्वरो
निर्वरः’ इत्याह । ११. यदा तब पट्पन्ताः षोडन्, साधनिका पचन्तवत्, टि० ख०, ‘पट्पन्तः’ टि० च०, पं० तु
‘षोडन् पट्पन्तः’ । १२. आगतः । १३. अहो ! । १४. जीवितरक्षणं । १५. सन्धारके । १६. कृत ।
१७. मांस । १८. मद्य । १९. जानन्नपि । २०. पितृ । २१. दुरात्म-दृष्टस्वभावं आख्यानं चरितं यस्य मम सोऽहं ।

स्वव्यसनविष्वद्वयेऽवमं बुद्ध्या साधुमध्ये अजैर्यष्टव्यमितोदं वाक्यमशेषकलमणनिषेधो^१ अन्यधोपन्यस्यमानो^२ नारदे-
नापाबितवचनस्फलनः सन् एतावद्विपत्तिस्थानमवस्थामवापम्^३ ।

कालासुरः—‘पर्वत, मा शोक । मुञ्च स्वमशेमं विवणाकलुषम् । अङ्ग, साधु संजोषयात्मानम् । न सक्तु
निरीहस्य^४ नरस्थास्ति काचिन्मनीषितावाप्तिः । तवत्वं हस्त^५ हृदयदाहानुगेनावेगेन^६ । हंहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीय-
संकेताङ्कं ब्राह्मणोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनां सप्तसन्तुनां^७ प्रतिपादकानि वाक्यानि विरचय्य
अन्तरान्तरा^८ धेववचनेषु निवेशय । वरस, मयि भूर्भुवःस्वस्त्रयोषिपर्वासनसमर्थमन्त्रमाहात्म्ये, त्वयि च तरसासवसदित्री-
प्रवृत्तिहेतुभूतिगीति^९ ‘समर्थस्तसात्म्ये’ किं नु^{१०} नामे^{११} हासाध्यम्^{१२} इत्युत्साह्य स्वयं विज्ञावष्टम्भसृष्टाभिरष्टा^{१३} भिर-
पीतिभि^{१४} रूपद्रुममाणजनपदहृदयमयोध्याविषयसागरय नगरवाहिरिकायां स देवश्चतुराननोऽभूत् ।^{१५} अध्वर्युः पर्वतः
समासीत् । मायाधमसृष्टयः पिङ्गल-मनु-सतङ्ग-मरीचि-गौतमावयश्च^{१६} ‘कृत्विजोऽब्जनिवत् । तत्र^{१७} भूतिपूतिश्च-
तुभिर्वन्दनैरुपविशति ।

जिससे मैंने वेदयाजनों के साथ रति विलास किया और मांस-भक्षण किया और मदिरा पी, इस प्रकार मैं पातकों
का गूह बन गया । ‘अजैर्यष्टव्य’ इस वाक्य का पिताजी ने जो विशिष्ट अर्थ किया था, उसे जानते हुए भी दुष्ट
स्वभाववाले चरित-युक्त मैंने पापबुद्धि से अपने व्यसनों की वृद्धि के लिए उसे बदलकर समस्त पापों से
आश्रयणीय मैंने अन्तर-पुरुषों के बीच-दिगरीय अर्थों को व्यवस्थापक रूप से निरूपण कर रहा था तब नारद ने
मेरे अन्यथा निरूपण को सज्जनों के समक्ष प्रदर्शित कर दिया । अर्थात्—मेरी गलती पकड़ ली । इससे मैं इस
प्रकार की विपत्ति के आश्रय वाली इस दयनीय दशा को प्राप्त हुआ हूँ ।’

कालासुर—पर्वत ! शोक मत कर और समस्त बुद्धि को मलिनता को छोड़ । हे पुत्र ! अपनी आत्मा
को सम्बोध । जो मानव शत्रु-लोक के ऊपर निःस्पृह होता है या निरुद्यमी होता है उसे कोई अभिलषित
वस्तु प्राप्त नहीं होती । अतः हृदय के दाह को अनुसरण करनेवाले शोक को छोड़ । अहो पुत्र-पर्वत ! ब्राह्मण, गोमेध,
अश्वमेध, सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय व पुण्डरीक-आदि यज्ञों के निरूपण करनेवाले वाक्यों को अपने
संकेत के अनुसार (अपने अभिप्राय के सूचक) रचना करके उन्हें वैदिक वाक्यों के बीच-बीच में प्रविष्ट कर
दो । पुत्र ! जब मेरे में पृथिवीलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक इन तीनों लोकों को विपरीत करने में समर्थ हुए
मन्त्रों की सामर्थ्य होते हुए और मांस-मदिरा और माता में प्रवृत्ति करने में कारण वैदिक मन्त्रों के पाठ में
अभ्यस्त हितवाले तुम्हारे होते हुए मैं पूछता हूँ कि तब लोक में ऐसी कौन वस्तु है, जिसे हम प्राप्त नहीं
कर सकते ?

इस प्रकार पर्वत को उत्साहित करके वह कालासुर ऐसे अयोध्या नाम के देश में आया, जिस देश

१. आश्रयणीयः । २. उपसर्गाश्रमनेपदं ‘उपसर्गादिस्मृत्युद्गोर्वा’ इत्यनेन । ३. ‘शत्रुलोकोपरि निःस्पृहस्य’ टि० ख०,
‘निरुद्यमस्य’ टि० ख० । ४. हस्त इर्येऽनुकम्पायां वाक्यारंभविपादयोः । ५. शोकित । ६. यज्ञानां । ७. मध्ये मध्ये ।
८. पाठ । ९. हिते । १०. नु पृच्छायां विकल्पो च वितर्कं च । ११. नाम-प्राकाश्यसम्भाव्यजोर्धोपगमकुत्सने ।
१२-१३. अतिदृष्टिरनावृष्टिर्मुपकाः शलभाः पुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सपर्वताः ईतयः स्मृताः ॥ १ ॥

अष्टमी नाम सा हिम-आतपवर्षादिका ।

१४. ‘यजुर्वेदजाता’ अध्वर्युः अध्वर्युः होतृहोतारो यजुः सप्तः’ टि० ख०, ‘यज्वा’ टि० प० च० । १५. संजाताः
माया तु कालासुरस्येव । १६. ब्रह्मा ।

पर्वतस्तु—यशस्य पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञो हि सूर्य सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १२८ ॥

* ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते^१, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यः वैश्यं, तमसे शूद्रम्, उत्तमसे तत्कर्, आत्मने^२ पत्नीं, कामाय पुंश्चलं, अतिकृष्टाय मागधं, ^३गीताय पुत्रं, आक्रियाय स्त्रियं गर्भिणीं, सौत्रामणी य एवंविधां सुरां पिबति, न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च^४ तिल एव भूतौ संमताः—पेण्टी, गोडो,^५ माधवी चेति । गोसवे ब्राह्मणो^६ गोसवे-नेष्टृषा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति । उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

^७वृक्षाणाम्नि *नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाभूतानि पशुमित्तिभिः ॥ १२९ ॥

^८महोशं वा ^९महार्जं वा धोत्रियाय विशस्यते^{१०} । निवेद्यते तु दिव्याय त्वसुगन्धिनिर्मिबिधिः ॥ १३० ॥

का मध्यभाग अपनी विद्या के बल से रची हुई आठ ईतियों (सर्प व कण्टकादि अथवा टिप्पणीकार* के अभि-प्राय से अतिवृष्टि व अनावृष्टि-आदि) द्वारा पीड़ित किया जा रहा था और ब्रह्मा का रूप धारण करके नगर के बाह्य प्रदेश पर बैठ गया । एवं उसी के निकट पशुर्वेद का ज्ञाता पर्वत पुरोहित होकर बैठा था । मायामयी सृष्टिवाले पिङ्गल, मनु, भतङ्ग, मरीचि और गौतम बगरह हाता हो गए, यह सब कालासुर की माया थी । ब्रह्माजी चारों मुखों से उपदेव देते थे और पर्वत आदेश देता था ।

ब्रह्मा ने स्वयं यज्ञ के लिए ही पशुओं की सृष्टि की है । यज्ञ सबकी समृद्धि के लिये है । इसलिए यज्ञ में किया जानेवाला पशु-वध वध नहीं है ॥ १२८ ॥

ब्रह्मा के लिये ब्राह्मण का होम करना चाहिए । इन्द्र को सन्तुष्ट करने के लिये क्षत्रिय का होम करना चाहिये । वायु के लिए वैश्य को होम देना चाहिए । तम के लिए शूद्र को होम देना चाहिए । उत्तमस—राहु की शान्ति के लिए चोर को होम देना चाहिए । आत्मा के लिए तपुसक का होम करना चाहिए । कामदेव के लिए व्यभिचारी का होम करना चाहिए । अतिकृष्ट के लिए मागध का होम करना चाहिए । गीत के लिए पुत्र का होम करना चाहिए । और सूर्य देवता के लिए गर्भिणी स्त्री का होम करना चाहिए । जो मानव सौत्रामणि यज्ञ में वैदिक मन्त्रों द्वारा सुसंस्कृत सुरा पीता है, उसे शराबखोर नहीं समझा जाता । वेद में तीन प्रकार की सुरा मानी गई है । १. पेण्टी—जो बगरह के आटे से बनी हुई, गोडो—गुड़ से बनाई हुई और माधवी—जो महुए से बनती है । गोसव यज्ञ में ब्राह्मण तत्काल जन्मे हुए गाय के बछड़े से यज्ञ करके वर्ष के अन्त में माता की भी इच्छा करता है । माता के पास जाओ । बहिन के पास जाओ ।

अश्वमेध यज्ञ में मध्याह्न-वेला में तीन काम छह सी अर्थात्—पाँचसी सप्तानवे- ५९७ पशु मारे जाते

*. 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते । इन्द्राय क्षत्रियं । मरुद्भ्यो वैश्यं । तमसे शूद्रं । उत्तमसे तत्कर् । आत्मने पत्नीम् । कामाय पुंश्चलम् । अतिकृष्टाय मागधम् । गीताय पुत्रं । नृत्ताय पौलूषम् ।'—वैत्तिरोय ब्राह्मण ३, ४ । वाजसनेयी संहिता ३०, ५ में तथा शतपथ ब्राह्मण १३, ६, २ में भी पाठ भेद के साथ उक्त उद्धरण मिलता है । १. होमयेत् । २. गर्भिकम् । ३. ग्राह-स्युर्गामिषास्तु मगधाः धमिदन्तः स्तुतिपाठकाः । ४. 'गोडो पेण्टी च माधवी च विशेषा त्रिविधा सुरा ।'—मनुस्मृति ११-९४ । ५. गुड़विकार । ६. घेन्वा—सज्जः प्रसूतगवा । ७. वाजसनेयी संहिता २४, ४० की उद्धृत और महीय की टीका में यह प्लोक पाया जाता है, उसमें उत्तरार्ध इस प्रकार है—'अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिष्वचाधिकानि च । * अधिक्रियन्ते । ८. 'महोशं वा महार्जं वा धोत्रियाय विशस्यते । सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः ॥ १०९ ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, पृ० ३४ । उक्षो वृषभः । ९. छागः । १०. हिंस्यते ।

गोसवे सुरभिं हन्याद्राजसूये तु स्रुजम् । अश्वमेधं ह्यं हन्यात्पौण्डरीकं तु दन्तिनम् ॥ १३१ ॥

*औषध्यः पशवो वृक्षास्त्रियञ्चः पक्षिणो नराः । यज्ञार्थं निघनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिता गतिम् ॥ १३२ ॥

मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंगुतम् । अप्रमाणं तु यो व्रूयात्स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥ १३३ ॥

१पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आकासिष्ठानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १३४ ॥

इत्याद्यादिशति । मनु-मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च २सवषट्कारमजद्विजगजवाजिप्रभृतीन्वेहिनो जुह्वति । तवेवं ३श्रुतिशस्त्रधाणिजयन्त्यो*पजोविनामीतोः ४पर्वतो ष्यपोहति । कालासुरः ५पुनरालम्बमानान्प्राणिनः साक्षाद्विमाना-
ख्यानस्वर्गं ६सांख्या पर्यटतो वर्णयति । मनुप्रमुखाश्च मुदयः प्रभावयन्ति ७ । ततो मायाप्रवर्शितत्रिवशवेदमप्रवेशादिसोभे
संजाते सकलजनक्षोभे स ८प्रत्यासन्ननरकनगरः सगरः स च श्वध्विभ्रमोजितस्थितिर्विश्वभूतिस्त ९दुपवेशात्तास्तान् १०
सत्त्वान् हृत्वा ११प्तात्वा च दुरन्तदुरितोचितचेतसो मक्षमिवात्कालासुरेण स्मारितपूर्वभवागतौ १२ १३वीतिहोत्राहुति-

हैं, ऐसी आज्ञा है ॥ १२९ ॥ श्रोत्रिय (यज्ञ करनेवाले वेदपाठी विद्वान्) के लिए बड़ा बेल अथवा बड़ा बकरा मारा जाता है । पुष्प-माला व सुगन्धि-युक्त उक्त विधि स्वर्ग-सुख के लिए निरूपण की गई है ॥ १३० ॥ गोसव यज्ञ में तत्काल प्रसव करनेवाली गाय का वध करना चाहिए । रायसूय यज्ञ में राजा का वध करना चाहिए । अश्वमेध में घोड़े का वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञ में हाथी का वध करना चाहिए ॥ १३१ ॥

औषधियाँ, पशु, वृक्ष, त्रियञ्च, पक्षी और मनुष्य यज्ञ में मारे जाने से उच्चगति प्राप्त करते हैं ॥ १३२ ॥ मनु का धर्म शास्त्र (मनुस्मृति-आदि) और व्यास व वशिष्ठ का शास्त्र (महाभारत-आदि) एवं वैदिक वचनों को जो अप्रमाण बतलाता है, वह ब्रह्मघाती है ॥ १३३ ॥ पुराण, मानवधर्म, छह अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष) समेत चारों वेद और आयुर्वेद ये चारों स्वयं प्रमाण हैं, इन्हें युक्तियों से खण्डित नहीं करना चाहिए ॥ १३४ ॥

पर्यंत इस तरह की आज्ञा देता था और मनु, मरीचि और मतङ्ग-आदि ऋषि स्वाहा शब्द के साथ बकरा, द्विज, हाथी और घोड़ा वगैरह प्राणियों का होम करते थे । इस प्रकार वेद से जीविका करनेवाले ब्राह्मणों में, वस्त्रजीवी क्षत्रियों में, व्यापार से जीविका करनेवाले वैश्यों में, कृषि से जीविका करनेवाले कृषकों में कालासुर ने जो ईतियाँ (सर्प-कण्टक-आदि के दुःख) फैलाई थीं, उन्हें पर्वत दूर करता था और कालासुर मारे गए प्राणियों को अपनी माया के द्वारा विमान में सवार कराकर स्वर्ग को जाते हुए प्रत्यक्ष दिखाता था । मनु-वगैरह ऋषि इससे दूसरों को प्रभावित करते थे । इस प्रकार जब समस्त नागरिक जनों में ऐसा क्षोभ हो गया, जिसमें माया द्वारा दिखलाये गये स्वर्ग-प्रदेश के गमन-आदि का लोभ था । तब समीपवर्ती नरक आवास वाले समर राजा ने और उस नरक के विलास के योग्य स्थितिबंध करने वाले विश्वभूति ने कालासुर के उपदेश से बहृत से प्राणियों का घात करके भक्षण किया, जिससे उन दोनों के चित्त महाभयानक पाप का संघय करने वाले हुए फिर कालासुर ने उन दोनों को पूर्वजन्म संबंधी सुलसा राजकुमारी के अपहरण का दोष

*. 'औषध्यः' पक्षिणस्तया । 'प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिताः पुनः ॥४०॥'—मनुस्मृति अ० ५ ।

१. मनुस्मृति १२, ११० । २. स्वाहासहितं । ३-५. श्रुतिजीविनां ब्राह्मणानां, शस्त्रजीविनां क्षत्रियाणां या ईतयः

कालासुरेण मायया कृताः ताः पर्यंतः कालासुरमायया स्फोटयति । * कृषिः । ६. हिंस्यमानान् । ७. मायया ।

८. प्रभावनां कुर्वन्ति । ९. समीपनरकावासः । १०. कालासुरोपदेशात् । ११. प्राणिनः । १२. वीचित्वा ।

१३. सुलसापहारदोषौ । १४. अग्निः ।

विहितविचित्रवधरहसी^१ विचित्राया^२ परित्या^३ द्राघीयो दुःखवधुमन्थरं^४ तलमगाताम्^५ । पर्वतोऽप्यनायी-
पतिविजये^६ जठरधनंजये च^७ हव्य^८ कट्यकर्मभिः समाचरितसप्तमस्तसत्त्वसंहारः^९ कालासुरतिरोधान^{१०} विषुरविषि-
मारस्तद्विरहात्कुशो^{११} कशोचिष्केशकृष्णचक्षुरीरः^{१२} कालेन^{१३} जीनजीवितप्रचारः^{१४} सप्तमरसावसरः^{१५} समपादि^{१६} ।
भवति चात्र श्लोकः—

मृपोद्भादीन^{१७} बोद्धोगात्पर्वतेन समं वसुः । अगाम जगतीमूलं ज्वलदासङ्गुपावकम् ॥ १३५ ॥

इत्युपासकाध्ययने असत्त्वफलमूचनो नाम त्रिशप्तमः कल्पः ।

^{१७} वधुवित्तस्त्रियी हित्वा^{१८} सर्वत्रान्यत्र तज्जने^{१९} । माता स्वसा तनूजेति मतिर्बहु* गृहाभमे ॥ १३६ ॥

^{२०} धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः^{२१} । यज्जात्येव^{२२} ^{२३} पराजातिबन्धुलिङ्घिस्त्रियस्त्यजेत् ॥ १३७ ॥

स्मरण कराकर यज्ञ के बहाने से उन दोनों को यज्ञ की अग्नि में होंम दिया, जिससे वे विचित्रवध-लक्षणवाले हुए । इसके उपरान्त वे दोनों बालुकाप्रभा नामकी तीसरी नरक-भूमि के विस्तृत तल में चले गये, जो कि दुःख-दायक परिताप से मन्दगमन वाला था ।

पर्वत ने भी अग्नि को तिरस्कार करने वाली अपनी जठराग्नि में देवताओं और पितरों की तृप्ति के बहाने से समस्त प्राणियों का संहार कर डाला । कालासुर के तिरोधान हो जाने से उसकी यज्ञ-विधि असमर्थ (फीकी) हो गई । उसका शरीर कालासुर के वियोग-दुःख रूपी शोकाग्नि से कृश हो गया । आयु के अन्त में उसका जीवन-प्रचार क्षीण हुआ और मरकर सप्तम नरक-भूमि में गया ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका भाव यह है—

झूठ बोलने के दोष में प्रवृत्ति करने के कारण पर्वत के साथ वसु भी सप्तम नरक में गया, जहाँपर संतापरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है ॥ १३५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में असत्त्व का कटुक फल सूचित करनेवाला तीसरा कल्प समाप्त हुआ ।

अब ब्रह्मचर्याणुव्रत का निरूपण करते हैं—

अपनी विवाहिता स्त्री और रखैली स्त्री के सिवाय दूसरी समस्त स्त्रीजनों में अपनी माता, बहिन व पुत्री की वृद्धि रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥ १३६ ॥ धर्म-भूमि आर्यखण्ड में मनुष्य स्वभाव से ही अल्पकाम होता है, अतः उसे अपनी जाति की विवाहिता स्त्री से ही संभोग करना चाहिए और दूसरी कुजातियों की तथा

१. तत्सौ बध्नलक्षणपदार्थौ । २. बालुकाप्रभायाः । ३. दीर्घतरः । ४. परितापेन मन्दगमनसहितं । ५. गती ।

६. अग्नितिरस्कारके । ७. निजोदराग्नौ । ८. देवदेवं । ९. गितुं देवं । १०. असमर्थ । ११. शोकाग्निः ।

१२. तनूप्रभवत । १३. जीर्ण अथवा क्षीणः । १४. सप्तमभूमि । १५. संजातः । १६. 'आदीनवं दोषः'

टि० च०, यज्ञ० पं०, 'आसवदोषः' टि० ष० । १७. परिणीता अवबृता च । १८. मृत्या । १९. स्त्रीजने ।

*. 'न तु परदारान् मर्च्छति न परान् अभयति च पापभीतयेत् । सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामाश्रयः' ॥५९॥—

रत्नकरण्ड था० । 'उपात्ताया अनुपात्तावाश्च पराङ्मनायाः सङ्गाद्विशृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम् ।'—सर्वार्थसिद्धि ७,

२० । २०. आर्यखण्डे । २१. अल्पकन्दर्पः तस्य वेगाः वणः तथाहि—

चित्तादिवृद्धानिश्वासज्वरतापावचिरपि । भूच्छैर्न्यस्तत्वसंक्षिप्तप्राणमृत्युन् भजेद्विदः ॥ १ ॥

२२. स्वजात्या परिणीतया सह संभोगः कार्यः अथवा सन्तोषः कार्यः । २३. परा चासौ अजातिश्च पराजातिः परकीय-

जातिस्त्री, बन्धुस्त्रीलिङ्घिनीस्त्री त्यजेत् यस्मात् ।

रक्ष्यमाणे हि बृंहन्ति यथाहिंसाद्यो गुणाः । उवाहरन्ति तद्ब्रह्म^१ ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥ १३८ ॥

मवनोद्दीपनं^२ संवनोद्दीपनं रसैः । मवनोद्दीपनः शास्त्रैर्भक्षमात्मनि जानरेत् ॥ १३९ ॥

^३हृष्यैरिव हृतप्रीतिः "पाथोभिरिव" नीरधिः । तोषमेति पुमानेव न भोग्यं भवसंभवः ॥ १४० ॥

*विषयवृद्धिषयाः पुंसामावाते^४ "मधुरागमाः । अन्ते विपत्तिफलवास्तस्तमिह को ग्रहः ॥ १४१ ॥

बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्तः संकल्पजन्तवाम् ।^५ भावाप्तावेव निर्वर्ति^६ "बलेऽस्तत्राधिकाः परम् ॥ १४२ ॥

^७नित्यात् ^८कामकामात्मा ^९तृतीया प्रकृतिर्भवेत् । अनन्तवीर्यपर्यायस्तस्मान्नारतसेवने ॥ १४३ ॥

सर्वा क्रियानुलोमा^{१०} स्यात्कलाय^{११} हितकामिनाम्^{१२} । "अपरश्रयकामान्यां^{१३} यस्तौ^{१४} न स्तां तदधिषु^{१५} ॥ १४४ ॥

बन्धुजनों की स्त्रियों से एवं तपस्विनी स्त्रियों से संबंध नहीं करना चाहिए ॥ १३७ ॥ निरसन्देह जिसकी रक्षा की जाने पर अहिंसा-आदि गुण वृद्धिगत होते हैं उसे अध्यात्म-विद्या में प्रवीण आचार्य ब्रह्म कहते हैं ॥ १३८ ॥ अतः काम की वृद्धि करनेवाले सरागी कार्यों से और कामोद्दीपन करनेवाले रसों के सेवन से एवं काम-वर्धक शास्त्रों (कामसूत्र-आदि ग्रन्थों) के श्रवण-पठन से अपनी आत्मा में काम का मद नहीं लाना चाहिए ॥ १३९ ॥ जैसे देवताओं के लिए समर्पण करने योग्य द्रव्यों (घृत-आदि हवन सामग्री) में अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती एवं जैसे प्रचुरजल से समुद्र तृप्त नहीं होता वैसे ही यह मानव भी सांसारिक भोगों से कभी तृप्त नहीं होता ॥ १४० ॥ स्त्री-आदि पंचेन्द्रियों के विषय वैसे आरम्भ (तत्काल) में पुरुषों को मधुर (प्रिय) मालूम पड़ते हैं और अन्त में विपत्ति (दुःख) रूप फल देनेवाले होते हैं जैसे वत्सनाग विष आस्वादन-काल में मधुर (स्वादिष्ट—मीठा) होता है और अन्त में विपत्ति (मरण) रूप कुफल देनेवाला होता है, इसलिए सज्जनों का विषयों में आग्रह कैसे हो सकता है ? ॥ १४१ ॥ अनेक प्रकार की वाह्य क्रियाओं को करता हुआ कामी पुरुष रति-रस की प्राप्ति में ही सुखी होता है, परन्तु उसमें उसे केवल क्लेश ही अधिक मिलता है और मुख तो बहुत थोड़ा नाम मात्र होता है ॥ १४२ ॥ जो मानव विशेष रूप से काम सेवन की इच्छा के स्वभाव वाला है वह निरन्तर काम का सेवन करने से असमय में नपुंसक हो जाता है, इसके विपरीत ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वह अनन्त वीर्य के धारण करने के अवसर वाला होता है ।

भाषार्थ—प्रस्तुत आचार्य श्री ने नीतिवाक्यामृत के व्यसन-समुद्देश में लिखा है कि 'स्त्रियमति-शयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥ १ ॥ सोम्यवानुक्षयेण सर्वधातुक्षयः ॥ २ ॥ अर्थात्—अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन करनेवाला मानव अधिक वीर्य धातु के क्षय हो जाने से असमय में वृद्ध या नपुंसक हो जाता है ॥ १ ॥ क्योंकि स्त्री सेवन से पुरुष की शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीर में वर्तमान वाकी की समस्त छह धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि-आदि) स्रष्ट हो जाती हैं । निष्कर्ष यह है कि नैतिक पुरुष को वीर्य रक्षार्थ ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए अथवा अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन का त्याग करना चाहिए ॥ १४३ ॥

१. 'अहिंसादयो धर्मा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहन्ति बृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म ।' —नवार्थसिद्धि ७-१६ । २. सरागानुष्ठानः । ३. वेददेयद्रव्यैः । ४. अग्निने तोषमेति । ५. जलैः । * क्रियाफलसम्भोगसन्निभं तद्धि भीथुनम् । आपातमात्ररम्भं स्याद्विपाकेऽप्यस्तभोतदम् ॥ १० ॥ —ज्ञानार्णव पृ० १३४ । ६. वत्सनागोर्ष्य आस्वादाने सानि मूढः (स्वादिष्टः) स्यात् । ७. आरम्भे । ८. स्वादु प्रियौ तु मधुरौ । ९-१०. रतिरसप्राप्तावेव सुखो भवति किन्तु तत्र सुखं स्तोकम् । ११. अतीव । १२. कामवाञ्छास्वभावः । १३. नपुंसकः । १४. हिता । १५. हिताभि-लाधिनां । १७. परन्तु अर्थकामलक्षणा क्रिया फलाय न स्यादित्यर्थः । १८. यस्मात् कारणात् । १९-२०. तावर्थकामी न स्तां न भवेतां, केषु तदधिषु अर्थकामवाञ्छकेषु, कोऽर्थस्तेषु तृप्तिर्न भवतीति भाषार्थः ।

१ क्षयामयसमः कामः सर्वदोषोद्ययश्रुतिः । २ उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुतः श्रेयःसमागमः ॥१४५॥
 ३ देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः । जितकामे ब्रूया सर्वस्तत्कामः ४ सर्वदोषभाक् ॥१४६॥
 स्वाध्यायध्यानधर्मज्ञाः श्रियास्तत्त्वज्ञे कुतः । ५ इन्धे चित्सेत्यने यावदेष कामाद्युपश्रुतिः ॥१४७॥
 ६ ऐवंपर्यंतो मुक्त्वा भोगानाहारवज्जुजेत् । देहदाहोपशास्यर्थमभिध्यानं विहानये ॥१४८॥
 ७ परस्त्रीसंगमानङ्गक्रोडाद्योपयमक्रियाः १० । ११ तीयता रतिकर्तव्ये १२ हृन्पुरेतानि तत्त्वतम् १३ * ॥१४९॥
 मद्यं शूतमुपव्रज्य १४ तीर्थं शिकन्तं विप्रः । मद्यो रित्ता वृणुतेति १५ इन्द्रधनङ्गुली गणः * ॥१५०॥
 हिंसनं साहसं १६ द्रोहः १७ पौरोभाग्यार्थदूषणे १८ ।
 ईर्ष्या १९ दण्डपाद २० लोकोपजः २१ स्याद्गणोऽष्टधा ॥१५१॥

सुखाभिलाषी मानवों की सुख-प्राप्ति के लिए की जाने वाली समस्त अनुलोम (हित) क्रियाएँ फल-दायक होती हैं, किन्तु अर्थ व काम को छोड़कर । अर्थात्—धन व काम की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्तव्य फलप्रद नहीं होते । क्योंकि धन चाहने वालों को धन प्राप्त नहीं होता और काम चाहनेवालों को काम-सुख प्राप्त नहीं होता । अभिप्राय यह है कि धन चाहने वालों को प्रचुर धन मिल जाने पर भी तृप्ति नहीं होती और कामियों का काम-सुख प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति नहीं होती ॥ १४४ ॥

काम, क्षयरोग-सरीखा है । यह वैसा समस्त दोषों (पापों) का जनक है जैसे क्षयरोग समस्त दोषों (वात, पित्त व कफ की विकृतियों) का जनक होता है, इसलिए उसकी अधिकता में प्रवृत्त हुए मानवों के लिए कल्याण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥१४५॥ काम पर विजय-श्री प्राप्त करनेवाले जितेन्द्रिय मानव के, शरीर का संस्कार करना और धन कमाना-आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं; क्योंकि काम ही समस्त दोषों का जनक है ॥ १४६ ॥ जब तक कामी पुरुष के चित्त रूपा ईंधन में यह कामरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है तब तक उसमें स्वाध्याय, धर्मध्यान व धर्माचरण-आदि क्रियाएँ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं ? ॥ १४७ ॥ अतः काम (रतिविलास) की अधिकता छोड़कर शारीरिक मन्ताप की शान्ति के लिए व आतं ध्यान को नष्ट करने के लिए आहार की तरह भोगों का सेवन करना चाहिए ॥ १४८ ॥ व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ आना जाना, काम-सेवन

१. क्षयरोग । २. आधिक्ये । ३. देहस्य संस्कारश्रुतिः द्रविणस्योपार्जनवृत्तिः । ४. कन्दर्पो दीपवान् । ५. ज्वलति । ६. कामाग्निः । ७. आधिक्यं । ८. आलम्ब्यान । ९. इत्वरिका । १०. परविवाहकरणं । ११. विपुलतृषा । १२. विटल्यं । १३. अज्ञाचर्यं ।

*. 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिमृहीतापरिमृहीतागमनानङ्गक्रोडाकामतीश्रान्तिवेद्याः ॥२८॥ —मोक्षशास्त्र अ० ७ । 'अन्य-विवाहकरणानङ्गक्रोडाविटल्यविपुलतृषाः । इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६०॥ —रत्नकरणश्री अ० १४. यन्त्रलिङ्गलेपाविप्रयोगः । १५. गवमेव विहरणं । *. 'मृगयाऽशो दिवास्वप्नः परिवारः स्त्रियो मदः । तीर्थं त्रिकं वृषाटथा च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥'—मनुस्मृति अ० ७ । १६. परपरिग्रहाभियमः कन्यादूषणं वा साहसम् । १७. 'पौरे भाग्यार्थदूषणे' इति ख० । तत्र टिप्पणी—'तगरसंबन्धिनो द्वे, परनिन्दा भाग्यदूषणं ।' पञ्चिकाकारस्तु पौरोभाग्य-मसूयकत्वमित्याह । टि० न, टि० च इत्यत्रापि असूयकत्वमित्युल्लेखः ।

१८. अलिव्ययोऽपात्रव्ययश्चायर्थदूषणम् । १९. जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचितं वचो वाक्पाशव्यम् ।

२०. वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपादव्यम् ।

हमारे द्वारा अनुदित 'नीतिवाक्यामृत' व्यसनसंग्रहेश पृ० २४३-२४४ से संकलित—सम्पादक ।

२१. 'पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्यासूयाऽर्थदूषणम् ।

वाग्दण्डजं च पादव्यं क्षीयजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥'—मनुस्मृति अ० ७ ।

ऐश्वर्योद्धारमशौण्डी^१ यैर्वैर्यसौन्दर्यवीर्यताः । लभेताञ्जु तसंचाराश्चतुर्थधनपूतधीः ॥१५२॥

अनङ्गानलसंलीढे परस्त्रीरतिचेतसि । सद्यस्का विपक्षे ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥१५३॥

श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यातम्—काशिदेशेषु सुरमुन्दरीसपत्न्यपौराङ्गमाजन^२ विनोद्वारविश्वसरस्या दारा-
णस्यां संपादितसदस्तारातिसंतानप्रकर्षकवर्णने दुर्मर्षणो नाम नृपतिः । अस्यातिथिरप्रकृष्टप्रौढप्रणयसहकारमञ्जरो
सुमञ्जरी नामापमहादेवो । ^३पञ्चतन्त्राविशास्त्रविस्तृतवचन उग्रसेनो नाम सचिवः । पतिहितकमनोमुखा सुभद्रा
नामास्य पत्नी । दुविलासरसरङ्गः कडारपिङ्गो नामानयोः सन्तुः । अनवशविशेषप्रकाशिताशेषशिष्यः पुष्यो नाम
पुरोहितः । सौक्यमातिशयापहसितपद्मः^४ पद्मा नामास्य धर्मपत्नी । समस्ताभिजात^५ अनवाह्यव्यवहारानुरागः स

के अङ्गों से भिन्न अङ्गों में कामक्रीड़ा करना, दूसरों का विवाह करना, काम-भोग को तीव्र लालसा रखना
और विदित्व ये कार्य ब्रह्मचर्यव्रत के धातक हैं । अर्थात्—ब्रह्मचर्याणुव्रत के उक्त पाँच अतिचार हैं ॥ १४९ ॥

मद्य-पान, जुआ खेलना, उपद्रव्य (टि० के अभिप्राय से मांस-भक्षण व मद्य-सेवन और पञ्जिकाकार
के अभिप्राय से जननेन्द्रिय पर लेप-आदि का प्रयोग), गीत-सुनने में आसक्ति, नृत्य देखने में आसक्ति, बाजों के
सुनने में आसक्ति, भड़कीली वेष-भूषा, मद, विदित्व (लुच्चापन) एवं व्यर्थ भ्रमण ये दश काम के गण
(अनुचर) हैं ॥ १५० ॥ दूसरों की हिंसा करना, माहस (परस्त्री-सेवन व कन्याओं को दुर्धित करना), मित्रादि
के साथ द्रोह करना, पौरोभाग्य (दूसरों की कुगली करना), अर्थ-दूषण (आमदनी से अधिक धन खर्च करना
और अपात्रों के लिए धन देना), ईर्ष्या, वाक् पारुष्य (कठोर वचन बोलना, अर्थात्—कुलीन को नीच कुल का
कहना, वयोवृद्ध को बालक, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख कहना और निर्दोषी को सदोषी कहना-
आदि कठोर वचन) और दण्डपारुष्य (अन्याय से किसी का वध करना, जेल खाने की सजा देना और उसका
समस्त धन अपहरण कर लेना या उसकी जीविका नष्ट करना) ये आठ क्रोध के अनुचर हैं ॥१५१॥ ब्रह्मचर्य
से पवित्र बुद्धिवाला मानव आश्चर्य-जनक वैभव, उदारता, दानवीरता व विशेष पराक्रम, धीरता, मनोज्ञता,
विशिष्ट शक्ति और आश्चर्यजनक संचार (आकाश में गमन करना-आदि) इन प्रशस्त गुणों का प्राप्त करता है
॥ १५२ ॥ जो मानव कामरूपी अग्नि से संस्पृष्ट है और जिसका चित्त परस्त्री के साथ रतिविलास करने में
संलग्न है, उसे इस लोक में तत्काल विपत्तियाँ (लिङ्ग-च्छेद-आदि) उठानी पड़ती हैं और परलोक में भी
नरक-आदि दुष्ट स्थान वाली भयानक विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं ॥ १५३ ॥

अब दुराचार के कटु फल की समर्थक कथा सुनिए—

१६. दुराचारी कडारपिङ्ग की कथा

काशी देश की वाराणसी नगरी में, जो कि देव-मुन्दरियों से स्पर्धा करने वाली नागरिक कामिनीजनों
की क्रीड़ा रूपी कमलों के लिए सरसी (तड़ाग) है, समस्त शत्रु-समूह को उन्नति को क्षीण करने वाला
दुर्मर्षण नामका राजा था । इसकी चिरकाल से उत्पन्न हुए गाढ़ प्रेम रूपी आम्रवृक्ष को मञ्जरी-जैसी सुमञ्जरी
नामकी पट्टरानी थी और *दर्शनशास्त्र व व्याकरण-आदि शास्त्रों के अध्ययन से विस्तृत वचन वाला उग्रमेन
नामका मन्त्री था । उसकी पति के कल्याण में अनोखे मनो व्यापार वाली सुभद्रा नामकी प्रिया थी । इनके
निन्द्य काम क्रीडारूपी रस के अभिनय करने के लिए रङ्गमञ्च-सरोखा कडारपिङ्ग नामका पुत्र था । उक्त

१. त्यागविक्रमाम्यां शौण्डीरः ।

२. विनोद एव कमल ।

३. तर्कव्याकरणादि ।

४. तिरस्कृतलक्ष्मी ।

५. अभिजातस्तु कुलजे वृद्धे सुकुमारि न्याय्ये च । *

कडारपिङ्गः स्वापतेयतारुण्यमदनन्दमान^१ बलान्वापलाहुरातापनभण्डेन चिह्नपञ्चमे^२ सह नतभूविधमाग्यर्घ्य-
मानभुजङ्गातिथिषु^३ पुरवीथिषु संचरमाण^४ स्तामेकधा प्रासादतलोपसदामरा^५ लघुमेक्षणाक्षिप्तपद्मा^६ पद्मामवलोक्य

^७ एषेभिर्द्वयद्वयसमुत्सन्नान्बुधवृष्टिरेषा मनोमृगविनोदविहारभूमिः ।

एषा स्मरद्विरदवगन्धनवारिवृत्तिः किं खेचरी किममरी किमिदं रतिर्वा ॥ १५४ ॥

इति च विचिन्त्य मकरकेतुधशध्यापारनिधिः प्रवृत्तनुरभिर्बन्धिः^८ "पुरुषप्रयोगेणाभिमतकार्यघटनासिद्धिमनव-
बुध्यमानः पराशप*जलधिवारणतडिल्लतामिव^९ तडिल्लतां नाम धात्रीं अपडक्षीणे^{१०} शरणे^{११} सुनयावतनपतनादिभिः^{१२}
पादपतनादिभिः प्रत्यये^{१३} एकाशयाध्वरव^{१४} न्यसाध्यमुपस्थ स्वकीया^{१५} कृतकान्तारप्रघर्षदधरित्रोमकरोत् ।

^{१६} तदुपरोधात्तथाविधविधिविधानी^{१७} धात्री—(स्वगतम् ।) 'परपरिग्रहो'^{१८} 'अन्यतरानुरागग्रहश्चेति धुर्घट-
प्रतिभासः'^{१९} खलु कार्योपन्यासः^{२०} । अथवा सुघट एवायं कार्यघटः । यतस्तप्तातप्तवपसोरयसोरिव चेतसोः सांगत्याय खलु

राजा का निर्दोष विद्याओं के उपदेश से समस्त शिष्यों को प्रकाशित करने वाला पुण्य नामका पुरोहित था ।
इसकी अपने रूप लावण्य की विशेषता से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली पद्मा नाम की प्रिया थी ।

एक समय समस्त कुलीन जनों से विपरीत आचार में अनुरक्त हुआ कडारपिङ्ग धन व जयानी के
मद से प्रचुर शक्तिशाली चपलता के कारण अश्लील वचन बोलने वाले विट-समूह के साथ ऐसी नगर की
गलियों में घूम रहा था, जहाँपर कामीय कामिनीयों के विद्या से आपन्नित होकर कामोजन आतिथ्य
ग्रहण करते थे, एक समय वह महल के तल पर बैठी हुई एवं अपने सुन्दर पलकों वाले नेत्रों से लक्ष्मी को
तिरस्कृत करने वाली पद्मा को देखकर सोचने लगा—

इन्द्रियरूपों वृक्ष को विकसित करने के लिए जलवृष्टि-सरोखी, मनरूपी मृग की झोड़ा के लिए
विहार-भूमि-सी एवं कामरूपी हाथी को बाँधने के लिए बंधनरज्जु-सी यह कौन है ? क्या विद्याधरी है ? क्या
देवी है ? अथवा क्या रति है ? ॥ १५४ ॥*

इसके पश्चात् काम के अधीन कर्तव्य-निधिवाले उसने दुष्ट अभिप्राय उत्पन्न किया । बलात्कार से
अपनी मनोरथ-सिद्धि न जानकर उसने दूसरों के अभिप्रायरूपी पर्वत के विदारण के लिए विजली-सरोखी
तडिल्लता नाम की धाय को उसके पास भेजने का विचार किया । उसने उस धाय को तीसरे मनुष्य-आदि के
लिये अगोचर (एकान्त) गृह में ऐसे विनयों द्वारा सफलता पूर्वक रोककर, जो कि नैतिक स्थान की प्राप्ति
को नष्ट करनेवाले थे, और जिनमें पैरों पर गिरना-आदि वर्तमान थे एवं जो दुर्जनों द्वारा आश्रय किए जानेवाले
थे, उसे अपने अभिप्राय की वृद्धिगत वन-भूमिप्राय कर दी ।

उसके आग्रह से उसी प्रकार के कर्तव्य को करनेवाली धाय ने अपने मन में विचार किया—
निस्सन्देह परस्त्री व उसके प्रति प्रेमी का प्रेम-काथन इस कार्य की वार्ता का प्रारम्भ दुःख में भी करने के लिए

१. प्रचुरीभवत् । २. विटसमूहेन ॥ ३. कामिजन । ४. उदः सकर्मकश्चर इत्यधिकारः 'समस्तृतीयाशुर्ने' इत्यात्मने पदं ।
५. 'बभ्रं अराजं कुटिलं गिह्य' इति टि० ख० । पञ्जिकाकारस्तु 'अराजं चाग' इत्यचीकषत् । ६. श्रियं । ७. पद्मा ।
* रूपकपरिपुष्टः सन्देहालंकारः । ८. बलात्कारेण । ९. चित्त । १०. विद्युतं । ११. 'अपडक्षीणो यस्तृतीयाधगोचरः'
टि० ख०, 'अतुल्यनेन' टि० घ० च० पद्मा वरा० पं० । १२. गृहे । १३. सुनयावतनस्य पतनं गमनं बदन्ति
विनाशयन्ति इत्येवं णोलानि तैः । १४. विनयैः । १५. 'सफल' टि० ख०, पं० तु क्रियाविशेषणमिदं । १६. अभि-
प्रायवनभूमिप्रायः । १७. तस्याग्रहात् । १८. कर्त्री । १९. फलवत् । २०. प्रत्ययः विश्वासः । २१. उपन्यासस्तु
वाङ्मुखः ।

पण्डितैर्वीर्यं^१ ^२वीर्यसन्ध्या सरससरसो^३ रम्भसोरिव^४ इयोरपि द्रवत्वभावधोरेकीकरणे किं पु नाम 'प्रतिमा-
विजृम्भितम् । किं च ।

सा हूतिकाभिमतकार्यविधौ बुधानां चातुर्यवर्धनोचितचित्तवृत्तिः ।

या चूर्म्बकोपलकलेव* हि शल्पमन्त्र^५ जेतोनि कडमपरस्य बहिष्करोति ॥१५५॥

सबलं विलम्बेन । परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमवः^६ 'सरसताघिष्ठानमनुष्ठानम् । कित्वस्य
साहस्यवलम्बनधर्मणः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ वा देवात्परेङ्गिताकारसर्वज्ञैः प्राज्ञैः कथमपि बहुजनाधकाशे प्रकाशे कृतैः^७
सति 'पुरश्चारी हि शरीरो भवति दुरपवात्रपरागावधरो व्यसनगोचरश्च^८ । तद्धूत^९ 'येयमिवमवसेयम्^{१०} 'द्वितीया-
पत्यप्रसवाय सचिवाय, 'तबुवाहरन्ति न चानिवेद्य भर्तुः किलिवारम्भं कुर्याद्व्यवसा^{११} परप्रतीकारेभ्यः ।' इति । (प्रकाशम् ।)

'प्राणप्रियैकापत्य अमात्य^{१२}, 'ईदृश इव ननु भवावशोऽपि जनो^{१३} जातजीवितामृतनिषेधाय^{१४} अचिरत्नं यत्नं
कर्तुमर्हति ।'

अशक्य विश्वास वाला है । अर्थात्—बड़ा कठिन है । अथवा यह कार्य-रचना सुलभतान्पूर्वक प्रयत्न करने के लिए
शक्य है । अर्थात्—सरल है; क्योंकि तपे हुए और बिना तपे हुए लोहों के समान परस्पर विरुद्ध दो चित्तों के
अनुकूलोकरण के लिए निस्सन्देह विद्वानों के द्वारा जो प्रकाश के योग्य प्रयत्न किया जाता है वही तो वास्तव
में दूतत्व है । अन्यथा द्रवीभूत वेगवाले दो जलों की तरह दो तरल हृदयों को मिलाने में दूती का बुद्धि-
विस्तार क्या कहा जायगा ?

विद्वानों ने ऐसी दूती इष्ट कार्य करने में समर्थ मानी है, जिसकी मनोवृत्ति बुद्धि की चतुराई से श्रेष्ठ
वचनों के योग्य है । जो चुम्बक पत्थर को तरह दूसरे के मन के भीतर की शल्य को (पश्चान्तर में लोहादि
को) खींचकर बाहर फेंक देती है ॥ १५५ ॥

अतः इस कार्य में विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं । जैसे समय के बीत जाने पर पका फल भी
सरस नहीं रहता वैसे ही समय बीत जाने पर कार्य भी सरस (सिद्ध) नहीं होता, किन्तु यह कार्य साहस के आश्रय
से साध्य है । यदि भाग्योदय से सिद्ध हो गया तो दूसरों का मानसिक अभिप्राय और शारीरिक आकृति के
जानने में सर्वज्ञ विद्वान् लोग बड़े कष्ट से बहुत लोगों के मन में प्रत्यक्ष रूप से स्थान (गन्मान) प्राप्त कर लेते हैं,
जिससे साहस कर्म करने वाला मनुष्य अग्रेसर (श्रेष्ठ) हो जाता है । परन्तु भाग्य-चक्र के पलट जाने से जब कार्य
सिद्ध नहीं होता तो दूत ही अपकीर्ति रूपी धूलि पड़ने का अवसर प्राप्त करता है और विपत्ति में फँस जाता
है । अतः मैं यह कार्य, इकलौते पुत्र को उत्पन्न करने वाले मन्त्री से कहती हूँ । क्योंकि नीतिकार आचार्यों ने
कहा है कि 'असह्य संकट दूर करने के सिवा दूसरा कोई भी कार्य सेवक को स्वामी से निवेदन किये बिना नहीं
करना चाहिए । अर्थात्—केवल आपत्ति का प्रतीकार स्वामी को बिना निवेदन किये भी करना चाहिए ।

ऐसा मन में सोचकर धाय मन्त्री से स्पष्ट बोली—'प्राणों से प्यारे इकलौते पुत्र वाले हे मन्त्री ! निश्चय

१-२. प्रकाशं यत्क्रियते तदेव दूतत्वम् । ३. द्रवीभूतवेगयोः । ४. जलयोरिव । ५. मति । ६. पक्षे लोहादिकं ।

*. चित्तमध्ये । ७. कार्य । ८. यथा पक्वं फलं अतीतकालं सरसं न भवति । ९. कार्य । १०. दूतः ।

११. दूतो भवति । १२. कथयामि । १३. कार्य । १४. आचार्याः कथयन्ति । १५. किन्तु आपत्प्रतीकारः स्वामिनः

अनिवेद्यापि करणीयः, अन्यत्कार्यं कथनीयमित्यर्थः । १६. हे मन्त्रिन् ! । १७. एवं स्वमपि ईदृशो बभूवन्ति भावः ।

१८. पुत्रजीवितमेवामृतं तत्सेवनाय । १९. शीघ्रं ।

अमर्त्यः—‘समस्तमनोरथसमर्पणकथास्मार्थं आर्ये, तज्जीवितामृतनिवेकाय भज्जीवितोचितनिवेकाय च तत्रभवत्येव’ प्रभवति^१ ।’

धात्री—‘अथ किम् । तथाप्यलज्जितमनोतिरिक्तप्रतिमावता^२ तत्रभवतापि प्रतियतितव्यम् ।’ इत्यभिधाय धृतकात्यायिनोप्रतिकर्मा करतलामलकमिश्राकलितसकलस्त्रेणधर्मा तंस्तैः परचित्ताकर्षणमन्त्रैर्वचनै^३ ‘इक्षुक्षुचेतोक्त्वाव-
वास्तुभि^४’ वस्तुभिश्च अतिचिरायाचरितोपचारा परिप्राप्तप्रणयप्रसरावतारा च एकवा मुखा रहसीमं प्रस्तुतकार्यघटना-
समसीमं तां पुण्यकारतामुद्दिश्य श्लोकमुवाह्वयति ।

स्त्रीषु धन्याश्च गङ्गां च परभोगोपगापि या । भणिमालेव सोत्तासं ध्रियते मूर्च्छि शंभुना ॥१५६॥’

भट्टिनो—(स्वगतम् ।) ‘इत्त्वरोजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपात इवायं वाक्योपोद्धातः’ । तथा
वाहं ज्ञेयं तावदेतवाकृतपरिपाकम्^५ । (प्रकाशम् ।) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य^६ ऐवंपर्यम् ।

धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभाषितस्य कंपधम्^७, यदि न वञ्छयितव्यमस्ति ।

से आप भी पहिले ऐसे ही थे, इसलिए आपको पुत्र के जीवनरूपी अमृत के सिञ्चन के लिए सीधे प्रयत्न करना चाहिए ।’

मन्त्री—‘देवी ! आप समस्त मनोरथों को सफल करने की कथा में स्मरण के योग्य हैं, अतः उसके जीवनरूपी अमृत के सिञ्चन के लिए और मेरी जीवन-रक्षा के योग्य ज्ञान के लिए आप ही समर्थ हैं ।’

धाय—‘यह तो ठीक है, परन्तु आप स्त्रीजनों के मानसिक ज्ञान की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली हैं अतः आपको भी प्रस्तुत कार्य में प्रयत्न करना चाहिए ।’

इतना कहकर धाय ने अर्ध वृद्धा स्त्री का वेष धारण किया और उसने समस्त स्त्रीजनों के उचित कर्तव्य हस्त पर रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट निश्चय किए । उसने दूसरों के चित्त को आकर्षण करने के लिए मन्त्र-मरीखे वचनों द्वारा और नेत्र-मुख व मानसिक मुख को स्थायीभूत वस्तुओं की भेंटों द्वारा पद्मा की चिरकाल तक सेवा की । जिससे उसने अपने ऊपर पद्मा की विस्तृत प्रेम की उत्पत्ति प्राप्त की ।

एक समय उसने एकान्त में पद्मा को लक्ष्य करके हर्षपूर्वक ऐसा श्लोक पढ़ा, जो कि प्रसङ्ग में प्राप्त हुई कार्य-रचना की अनुकूल मर्यादा से युक्त था ।

‘इयं लोक की स्त्रियों में गङ्गा ही धन्य है, जो दूसरों के समीप भाग-दान के लिए जाती है, फिर भी वह शङ्करजों द्वारा मणियों की माला की तरह उल्लास-सहित मस्तक पर धारण का जाती है ॥ १५६ ॥

इसे सुनकर पद्मा ने अपने मन में विचार किया—‘यह वाक्य के अवतारणों का क्रम कुलटा स्त्रीजन-के आचरणरूपी महल के निर्माण करने के लिए प्रथम सूत्रपात-मरीखा है । फिर भी इसने जो कुछ कहा है, उसके अभिप्राय का सार जान लेना चाहिए ।’

पश्चात् पद्मा ने स्पष्ट कहा—‘माता ! आपके इस सुभाषित का क्या रहस्य है ?’

१. त्वमेव । २. समर्थ । ३. एवमेतत् । ४. अधिकबुद्ध्या । ५. अप्रयत्नी । ६. वचनैः । ७. वास्तु मूहम् ।
८. कुलटा । ९. ‘संग्रहवाक्यं अवतारणक्रमः, उपन्यामस्तु आश्मुखं, उपोद्धातः उवाहारः’ टि० ख०,
‘अवतारणक्रमः’ इति टि० च० तथा यश० पं० अपि । १०. अभिप्रायोदयं सूत्रपातसदृशम् । ११. रहस्यं ।
१२. रहस्यं ।

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम्, यदि भवत्प्रयुक्तोपधातधनजर्जरितकाया न भविष्यामि ।
(प्रकाशम् ।) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्षं श्रोतुमिच्छामि ।

ध्यात्री—वत्से, कथयामि । किं तु ।

चित्तं द्वयोः पुरत एव निवेदनीयं, ज्ञानाभिमानधनधन्यधिया नरेण ।

यः प्रार्थितं न^१ रहस्यमभियुज्यमानो^२, यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूलः^३ ॥१५७॥

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) अहो ! 'नभःप्रकृतिमयीयं पञ्च'रूपलक्षणमिच्छति । (प्रकाशम् ।) आर्ये, 'उभयत्रापि समर्थाहं न संतन्मनुष्यं' भवदुपक्रमं वा^४ ।

ध्यात्री—(स्वगतम् ।) 'अनुगुणेयं जलं कार्यपरिणतिः, यदि निकटतटतन्त्रस्य' बहिर्नपात्रस्येव कुर्वताली^५ संनिपातो न भवेत् । (प्रकाशम् ।) अत एव भवो, वन्नग्नित् पुराणचित्रः—

'विष्णुर्गुरोः कलत्रेण गोतमस्यामरेक्षरः ।'^६ संतनोश्चापि '^७ बुधवर्मा समगंस्त'^८ पुरा किल ॥१५८॥

धाय—'परम सौभाग्य शालिनी देवी ! यदि तुम्हारा हृदय वज्रघटित नहीं है तो इस सुभाषित का रहस्य (अभिप्राय) तुम जानती ही हो ।'

पद्या—(मन में) 'यदि आपके द्वारा फेंके जाने वाले प्रहार रूपी धनों द्वारा जर्जरित शरीर वाला नहीं होऊँगी तो वास्तव में मैं वज्रघटित हृदय वाली हूँ ।' (प्रकाश में) 'माता ! मैं आपके मन में स्थित हुआ अभिप्राय सुनने की इच्छा करता हूँ ।'

धाय—'पुत्री ! कहती हैं, किन्तु

ज्ञान और स्वाभिमान रूपी धन से धन्य बुद्धिवाले मनुष्य को दो व्यक्तियों के सामने ही अपने मन की बात कहनी चाहिए । १. प्रार्थना किया हुआ जो व्यक्ति प्रार्थना की हुई वस्तु छुड़ाता नहीं है, अर्थात्—प्रार्थना की हुई वस्तु दे देता है । २. निस्सन्देह जो मानव प्रार्थना करने वाले के मन के अनुकूल है ॥ १५७ ॥

पद्या—(मन में) 'अहो ! आश्चर्य है, कि यह आकाश के स्वभाव-सरीखी निर्लिप्त वस्तु को भी कोचड़ से लीपने की इच्छा करती है । अर्थात्—आकाश-सी निर्मल प्रकृतिवाली पतिव्रता मुझको यह धाय कुलटा श्रौजनों के दाँपरूपी कोचड़ से लीपना चाहती है ।' (प्रकाश में) 'पूज्य देवी ! मैं आपको दोनों बातों में (प्रार्थना की हुई वस्तु के देने में और आपके मन की अनुकूलता में) समर्थ हूँ । यह मेरी उपाधि नहीं है और न इसमें आपका उद्यम ही है; क्योंकि मेरी पहले से ही ऐसी प्रवृत्ति है ।'

धाय—(मन में) यह कार्य का परिणामन मेरे अभिप्राय के अनुकूल है, परन्तु यदि तट के समीप प्राप्त हुई नौका के लिए प्रतिकूल चलनेवाली प्रचण्ड वायु के झकोरों का वेग से आगमन न हो । अर्थात्—मेरा कार्य इस समय सिद्ध प्राय है, यदि इसमें विघ्न न हो ।

(प्रकाश में) 'पुत्री ! इसीलिए पुराणकारों ने कहा है कि—निस्सन्देह प्राचीनकाल में चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी के साथ रति विलास किया व इन्द्र ने शैतम की प्रिया (अहिल्या) के साथ एवं रुद्र (श्रीशिव) ने शान्तनु राजा की रानी के साथ रतिविलास किया ॥ १५८ ॥'

१. न त्याजयति । २. प्रार्थितः, प्रार्थ्यमानः । ३. हितः । ४. आकाशस्वभावं । ५. प्रार्थितवाने मनोऽनुकूलतायाञ्च ।
६-७. न हि मदीय उपाधिनं च भवदीय उद्यमः किन्तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति । ८. अनुकूला इयं । ९. पोतस्य ।
१०. वात्स्या । ११. शान्तनुराजः । १२. हरः । १३. एकत्र बभूव ।

भट्टिनी—‘आर्ये, एवमेव । यतः ।

स्त्रीणां वपुर्बन्धुनिरग्निसाक्षिकं परत्र विक्रीतमिव न मानसम् ।

स एव तस्याधिपतिर्मतः कृती विद्वन्मगर्जा^१ ननु यत्र निर्वृतिः^२ ॥१५९॥

धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम् । त्वं किलैकदा कस्यचि^३त्कुसुमकिसारनिविशेषवपुषः पुराङ्गनाजनलोचनो-
त्पलोत्सवामृतरोचिषः प्रामादपरि^४सरविहारिणी वीक्षणपथानुसारिणी सती कौमुदीव हृदयचन्द्रकान्तानन्दस्यन्दसंपादिनी
अभूः । तत्प्रभृति ननु तस्य मन्मथसुन्दरस्य यूनः^५ ‘प्रत्ययसितवसन्तश्रीसमागमसमयस्य^६ पुष्पध्वस्येव^७ रसालमञ्जर्या-
मिव भवत्पां महान्ति खलु मन्दमकरन्दास्वादने दोहदानि नितान्तं चिन्ताघकपरिक्रान्तं स्वान्तम्, प्रसभं गुणस्मरण-
परिणामाधिकरणमन्तःकरणम्, अन्तरतं रामणीयकानुकीर्तितसंकेतं चेतः, प्रविकसत्कुसुमविलासोचितसंनिहितेऽप्यन्यास्मि-
हल^८ताकास्ताजने महानुद्वेगः, विशाचछलितस्येव वाऽस्थानानुबन्धः^९ प्रसपितप्रबन्धः, संजातोन्मादस्येव विचित्रोपतन्मः
क्रियाप्रारम्भः, ‘^{१०}स्कन्धगवगृहीतस्येव प्रतिवासरं कादर्यावतारः, स्मराराधनप्रणीतप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु^{११} सन्ततः जडता,
प्राणेषु^{१२} चाद्यश्वोनपथा कथा । अपि च ।

पद्या—‘पूज्य देवी ! आपका कहना ठीक है, क्योंकि

बन्धुजनों द्वारा कामिनियों का केवल शरीर मात्र ही अग्नि की साक्षीपूर्वक दूसरों के लिए बँचा गया
है, न कि मन । इसलिए वही भाग्यशाली या कुशल पुरुष उनके मन का स्वामी माना गया है, जिसके द्वारा
उन्हें विश्वास-सहित रति-विलास-आदि का सुख प्राप्त हो ॥ १५९ ॥’

धात्री—कुम्भी ! तो सुनिश्चय-पूर्वक सगर्व पुरुष महत् के उगदितन प्राङ्गण पर घूम रही थीं, तब निस्स-
न्देह किसी ऐसे प्रेमी नवयुवक के नेत्रों की दृष्टि के मार्ग को अनुसरण करनेवाली हुई । जिसका शरीर कामदेव-
जैसा विशेष मनोज्ञ है और जो नागरिक कामिनी जनों के नेत्ररूपी कुमुदों को विकसित करने के लिए चन्द्र-
सरीखा है । उस समय तुम कौमुदी- (चन्द्र-किरण) सरीखी उसके हृदयरूपी चन्द्रकान्तमणि में आनन्द रूपी
जल-निर्गम को उत्पन्न करनेवाली हुई । तभी से लेकर निस्सन्देह कामदेव-सरीखे अत्यन्त सुन्दर उस नवयुवक
को उस प्रकार आपके मुख की सुगन्धि रूपी मकरन्द (पुष्परस) के आस्वादन करने के महान् मनोरथ हुए जिस
प्रकार वसन्तलक्ष्मी के समागम के समय को प्राप्त करनेवाले भोरे के लिए आभ्रमञ्जरी के रसास्वाद करने
का तीव्र दोहला (मनोरथ) होता है । उसी दिन से उसका मन सदा आपकी चिन्ता के चक्र से व्याकुलित
रहता है । एवं उसका अन्तःकरण अत्यन्त आपके गुणों के स्मरण की परिणति का आधार है । उसका चित्त
निरन्तर आपके देह-सौन्दर्य के पुनः पुनः स्मरण करने में संकेत-युक्त है । आपको छोड़कर विकसित पुष्पों-
सरीखी विलास के योग्य दूसरी लता-सी कामिनी जनों के समीप आनेपर भी उसके हृदय में महान् घबड़ाहट
उत्पन्न हो जाती है । भूतादिष्ट की तरह उसका एक स्थान में सन्ततिरूप से प्रवर्तित नहीं है और उसमें
प्रलाप- (बकवाद) समूह वर्तमान है । पागलों की तरह उसके कार्य का प्रारम्भ विचित्र विभ्रम वाला है,
क्षयरोग से पीड़ित रोगी की तरह उसका शरीर प्रतिदिन क्षीणता प्राप्त कर रहा है । कामदेव की आराधना

१. विश्वाससहिता । २. सुखं । ३. ‘किसारः सस्यसूकं स्यात्, सूकीञ्जरीश्छदगतीक्ष्णाभे पुण्यकेसरसमः कनकवर्णः’
हृति० टि० ख०, ‘पुण्यकेसरसदृशः कनकवर्ण इवेत्यर्थः’ टि० च०, यश० पञ्जिकाकारस्तु ‘कुसुमकिसारः’ कामः
इत्याह । ४. उपरितनप्राङ्गण । ५. संजात । ६. अमरस्येव । ७. रसालश्चूतः । ८. ‘अत्र मूलपरिमलं
मकरन्दः’ टि० ख०, ‘अत्र मुखकमलमेव मकरन्दः’ टि० च० । ९. वत् । १०. सन्तत्या प्रवर्तनम् । ११. क्षयरोग ।
१२. ‘चेष्टाभावक्षीणता टि० च० ‘जडता’ टि० ख० । १३. अद्य कल्पे वा प्राणाः वात्यन्ति ।

अनवरत^१ जलाद्रन्वोलनस्पन्दमन्दै^२ रतिसरसमुणालीकन्वलेश्वन्दनाद्रैः^३ ।

अमृतस्विमरीचिप्रोहितायां निशायां प्रियसखि सुहृवस्ते^४ किञ्चिदात्मप्रदोषः^५ ॥१६०॥

भट्टिनी—आये, किमित्यद्यापि गोपायते ।

धात्री—(^६कर्णनाहमनुमुत्थ ।) ^७एवमेवम् ।

भट्टिनी—को दोषः ।

धात्री—कदा ।

भट्टिनी—यदा तुभ्यं रोचते ।

इतश्चानन्तरायतया 'तनयानुमताहितमतिपादवः सचिवोऽपि नृपतिनिवासोचितप्रचारेषु^८ वासुरेषु शुण्ड्या-
वर्णनावसरायातमेतस्य महोपतेः पुरस्ताच्छ्लोकमिममुपन्यास्यत्^९—

'राज्यं प्रवर्धते तत्र किञ्जल्पो यस्य वंशमनि । शत्रवश्च अयं यान्ति सिद्धाच्चिन्तामणेरिव ॥१६१॥'

राजा—'अमात्य, यव तस्य प्रादुर्भूतिः, कौकुशी च तस्याकृतिः ।

में एकाग्रता प्राप्त करने वाले पुरुष की तरह उसकी इन्द्रियों में चेष्टाभाव-शीणता है और जड़ता है । आज व कल में उसके प्राण निकल जायेंगे ।

'प्यारो सखी ! निरन्तर जल से भोगे हुए वस्त्र के पंखों के हिलाने के कारण वेग में मन्द हुए पंखों के द्वारा और अतिस्निग्ध कमल-नाल के चन्दन-सहित कन्दों द्वारा शीतोपचार किये हुए तेरे मित्र को चन्द्र-किरणों से वृद्धिगत (चाँदनी) रात में कुछ बेतना होती है ॥ १६० ॥

पद्मा—'देवी ! क्या अब भी मुझ से छिपाती हो ?'

वाय—पद्मा के कामों के समीप धीरे से बोली—'ऐसा हो है, अर्थात्—कडारपिङ्ग आपको चाहता है ।'

पद्मा—'इसमें क्या बुराई है ?'

वाय—'तो कब ?'

पद्मा—'जब तुम चाहो ।'

[यहाँ वाय प्रयत्नशील थी, वहाँ मन्त्री भी प्रयत्नशाल था ।]

उधर पुत्र के प्रिय कार्य में वृद्धि की पटुता स्थापित करने वाले उग्रसेन मन्त्री ने भी राजा के समक्ष ऐसा श्लोक बने रोक टोक पढ़ा, जो कि राजमहल के योग्य प्रचारवाले पक्षियों के गुणों के कथन के अवसर पर प्राप्त हुआ था ।

'जिस राजा के महल में किञ्जल्प नामक पक्षी रहता है, उसकी राज्य-वृद्धि होती है और सिद्ध किये हुए चिन्तामणि की तरह उससे शत्रु नष्ट होते हैं' ॥ १६१ ॥

राजा—'मन्त्री ! यह पक्षी किस स्थान पर उत्पन्न होता है ? और उसकी आकृति कैसी होती है ?'

१. 'जलाद्रै वस्त्रव्यजनं' इति पञ्जिकाकारः । २. व्यजन । ३. कन्दैश्चन्दनसहितैः । ४. मताव ।

५. भवति, ईदृशो वर्तते । ६. कर्णसमीपं वानः कथितवती । ७. कडारपिङ्ग एव त्वां वाञ्छति । ८. पुत्र ।

९. पक्षिपु । १०. पठतिस्म ।

अमात्यः—देव, भगवतः पार्वतीपतेः ^१द्वयशुरस्य मन्वाकिनीस्पन्वनिवाभकरनीहारस्य ^२रमणसहचरशेखरी-
सुरतपरिमलमत्तम ^३सालिभण्डलोविलिख्यमान ^४मरकतमणिमेखलस्य प्रासेयाचलस्य ^५वृक्षोत्पलखण्डमण्डितशिखण्डस्य
रत्नशिखण्डनाम्नः ^६जिह्वरस्याम्भासे ^७निःशेषशकुन्तसंभवावहा गुहा समस्ति । यस्यां ^८जटायु-वैनतेय-वैशम्पायन-
प्रभृतयः शकुन्तल्यः प्रादुरासन् । ^९तस्यामेव ^{१०}तस्योत्पत्तिः । तां च गुहामहं पुण्यंश्चानेकशो नन्वाभगवतोपात्रानुसा-
रिष्वात्सायु आनीयः । प्रतिकृतिश्चास्या ^{११}नेकवर्णा मनुष्यसवर्णा ^{१२} च ।

भूपालः—(संजातकुतूहलः ।) अमात्य, कथं तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकुप्यता ^{१३} स्यात् ।

अमात्यः—देव, मयि, पुण्ये वा एते सति ।

राजा—अमात्य, भवान्तोय प्रवयाः ^{१४} । तत्पुण्यः प्रयातु ।

अमात्यः—देव, तर्हि क्षीयतामस्मै सरत्नालंकारप्रवेकं ^{१५} पारितोषिकम्, ^{१६}अगण्यं पाथेयं च ।

राजा—वाचम् ।

स्वामिचिन्ताचारचक्षुष्यः ^{१७}पुण्यस्तदाविष्टो ^{१८}मेहमागत्य 'आवेशं न विकल्पयेत्' इति मतानुसारी प्रयाण-
सामग्रीं कुर्वाणस्तया सतीप्रतपविहितसक्या पद्मया पुष्टः—'भट्ट, किमकाण्डे प्रयाणादम्बरः ।

मन्त्री—'देव ! भगवान् शङ्कर के श्वसुर हिमालय पर्वत की, जिसकी गुफाओं का हिम गङ्गा के
प्रवाह का कारण है, और जिसकी मरकत मणियों की मेखला (मध्यभाग या करधनी) भर्तृओं के साथ गमन
करने वाली विद्याधरी कामिनियों के रत्तिविलास की सुगन्धि में मत्त (लम्पट) हुई अमर-श्रेणी द्वारा विलक्ष्मी
(शोभा-हीन) की जा रही है, कर्णिकार वृक्षों के समूह से अलङ्कृत चोटीवाले रत्नशिखण्ड नामकी शिखर
के समीप समस्त पक्षियों को उत्पन्न करनेवाली गुफा है, जिसमें जटायु, गरुड़ व वैशम्पायन-आदि पक्षी उत्पन्न
हुए थे । उसी में ही किञ्जल्क नाम के पक्षी की उत्पत्ति है । उस गुफा को हम दोनों (मैं और पुण्य) मली-
भीति जानते हैं, क्योंकि हम दोनों ने अनेक बार पार्वती परमेश्वरी के दर्शन के लिए वहाँ की यात्रा का अनुसरण
किया था । इसकी आकृति अनेक वर्ण (स्वेत व पोतादि) वाली व मनुष्य-सी है ।'

उत्पन्न हुए कौतुक वाला राजा—'मन्त्री ! उसके दर्शन की मेरी तीव्र अभिलाषा किस प्रकार
पूर्ण होगी ?'

मन्त्री—'देव ! मेरे और पुण्य के वहाँ जाने पर ही आपको तीव्र अभिलाषा पूर्ण हो सकती है ।'

राजा—'मन्त्री ! आप विशेष वृद्ध हो, अतः पुण्य जाय ।'

मन्त्री—'देव ! तो पुण्य के लिए रत्न-जड़ित कङ्कण वाला पारितोषिक दीजिए और मार्ग में हित
कारक प्रचुर सामग्री भी ।'

राजा—'बहुत अच्छा ।'

स्वामी की चिन्ता के अनुकूल प्रवृत्ति करने से मतोज्ञ और राजा द्वारा आज्ञा दिया हुआ पुण्य घर

१. हिमाचलस्य । २. हिमं गलित्वा, जलं मूत्वा गङ्गा वहति । ३. भर्तृमहामन । ४. अमरश्रेणी । ५. विलक्ष्मी-
क्रियमाण । ६. कर्णिकारः । ७. समीपे । ८. पक्षिविशेष । ९. गुह्याम् । १०. किञ्जल्पपक्षिणः ।
११. पक्षिणः । १२. ममाना । १३. अमन्दा । १४. वृद्धः । १५. कङ्कणं । १६. प्रचुरं । १७. प्रवृत्तिशुभगः ।
१८. राज्ञा आदिष्टः पुण्यः ।

पुण्यः—प्रस्तुतमात्रे ।

भट्टिनी—भट्ट, सर्वमेतत्सचिवस्य कूटकपटचेष्टितम् ।

भट्टः—‘भट्टिनी, किं तु सत्त्वोत्प्रेक्षितस्पापतनम्’ ।

भट्टिनी—‘प्रकान्तमभाषिष्ट ।

भट्टः—किमत्र कार्यम् ।

भट्टिनी—कार्यमेतदेव । विद्या^१ प्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्त्य अत्रैव महावकाशे निज-निवासनिवेशे^२ सुखेन वस्तव्यम् । ‘उत्तरत्राहं जानामि ।

भट्टः—तथास्तु^३ ।

ततोऽप्यत्र तया ‘परनिकृतिपाश्या श्याया स ‘दुराचाराभिषङ्गः कडारपिङ्गः’ ‘मुप्तजनसमये समानोतः ‘समम्यसत्तु तावद्विहयेयमयं च’^४ ‘महीमूलं पियासुः पातालावातबुधम्’ इत्यनुष्याय तया पद्याया ‘‘महावर्तस्य गर्तस्थो-परि कल्पितादः प्रधाता’^५ ‘‘यः परान्तां कलेणोत्प्रेक्षितगुणै तौ द्वावि’^६ ‘‘दुरातङ्गबन्धे श्वभ्रमन्धे विनिपेततुः । अनुक-

आया । वह ‘आज्ञा में संकल्प-विकल्प नहीं करना चाहिए’ इस नैतिक सिद्धान्त को मानने वाला था । अतः वह प्रस्थान की सामग्री का संचय करने लगा ।

उसी समय पातिव्रत्य धर्म से गृह को पवित्र करने वाली उसकी पत्नी पद्मा ने उससे पूछा—‘स्वामी ! आप असमय में यह देशान्तर में गमन करने का प्रयत्न क्यों कर रहे हैं ?’

पुण्य ने उससे प्रस्तुत बात कह दी ।

पद्मा—‘स्वामी ! यह सब मन्त्री के कूटकपट की चेष्टा (व्यवहार) है ।’

पुण्य—‘प्रिये ! निस्सन्देह इस कूटकपट-पूर्ण व्यवहार का क्या कारण है ?’

पद्मा ने प्रस्तुत पूर्व वृत्तान्त कह दिया ।

पुण्य—‘इस अवसर पर मुझे क्या करना चाहिए ?’

पद्मा—‘कर्तव्य इतना ही है, कि आप दिन में समस्त जनों के सामने इस नगर से प्रस्थान कर दो और रात्रि में चुपचाप लौटकर बड़ी जगह वाले अपने निवास स्थान (गृह) में सुखपूर्वक निवास करो । पूर्वोक्त वृत्तान्त के विषय का कर्तव्य मैं जानती हूँ ।’

पुण्य ने वैसा ही किया ।

इसके उपरान्त एक दिन रात्रि की मध्यवेला में दूसरों को छोड़ा देने की पात्र-भूत यह घाय, दुराचार से संबंध रखने वाले (परस्त्री-लम्पट) कडारपिङ्ग को लाई । उधर पद्मा ने यह सोचकर कि ‘ये दोनों इसी जन्म में नरक में गमन करने के इच्छुक होकर नरक-निवास का दुःख भोगें’ ऐसा सोचकर उसने खूब गहरे गड्ढे के ऊपर बिना दुनी खाट बिछा दी, जा कि कपड़े को चादर मात्र से सजी हुई थी, उसपर उन दोनों को बैठाया, जिससे वे दोनों (घाय और कडारपिङ्ग) महाव्यथा वाले उस नरक-कुण्ड-सरीखे गड्ढे में

१. कारण । २. प्रस्तुत पूर्व वृत्तान्त । ३. दिवसे । ४. स्थाने । ५. पूर्वोक्तवृत्तान्ते । ६. तथैव कृतवान् । ७. माया । ८. दुराचारेण सह संबंधो यस्य । ९. सुप्तजनः रात्रिमध्यः । १०. धात्रीकडारपिङ्गी । ११. विस्तारेण गम्भीरस्य । १२. अणवुणीखट्वायां । * ‘अवान्तायां प्रच्छेदमात्रप्रमापनायां खट्वायां’ इति क०, ख०, घ० च० । विमर्शः— ‘अयं पाठः साधुरिति ममाभिप्रायः’—सम्पादकः । १३. धात्रीकडारपिङ्गी ।

सूचतुश्च निखिलपरिजनोच्छिष्टसिद्धजीवनी कुम्भीपाकोपकर्म^१ वट^२समासाखान्तुःसक्रमम्^३ ।

पुनरेकवा 'स्वाम्यावेशविशेषविबुध्यः पुण्यः तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं'^४ कृतपञ्जरपरिकल्पं किञ्चल्पमादाय आगच्छंस्त्रिचतुरेषु वासरेष्वस्यां पुरि प्रविशति^५ इति प्रसिद्धम् । तत्प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बित-
कायेन चटकचकोरखाणवातकादिछन्दच्छादित^६ प्रतीकनिकायेन पञ्जरालयेन तद्द्वयेन सह^७ चिरप्रवासोचितवेषजोष्यं^८
पुण्यं पुरोपवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसंभाषणसनापसक्तीजनसंकल्पा वृत्तप्रोषितभर्तृकाकल्पाभिभुक्तमयासीत्^९ ।

अपरेष्टुः स निखिलगुणविशेष्यः पुण्यः पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अयं स किञ्चल्पः पक्षी, इदं च सत्प्र-
सवित्री^{१०} पतत्रिणी च' इत्याचरत् ।

राजा—(चिरं निर्दण्यं निर्णय च स्वरेण ।) पुरोहित, नय खलु किञ्चल्पः पक्षी, किन्तु कडारपिङ्गोऽयम् ।
एषापि विहङ्गी न भवति, किं तु तडिल्लतेयं कुट्टिनी ।

पुण्यः—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसवः सच्चिवः ।

राजा सच्चिवस्तथा पृष्ठः शमातलं प्रविबिसुरिध कोणीतलमवालोकत ।

जा गिरे और समस्त कुटुम्बी जनों के जूँटे भात को खाकर जीवित रहने वाले उन दोनों ने छह माह तक
नरक के आरम्भ-सरीखा भयानक दुःख भोगा ।

इसके पश्चात् पद्या ने एक समय राज्य में ऐसी प्रसिद्धि की, कि 'स्वामी की आज्ञा-पालन में
विशेष निपुण पुण्य एक पिञ्जरे में बन्द किञ्चल्प पक्षी को और इस प्रकार के पक्षी को जन्म देने में समर्थ
पक्षिणी को लेकर जा रहा है और यह तीन चार दिन में इस सरी में प्रविष्ट हो रहा है।' इसके उपरान्त
उसने चिरकालीन प्रमाण के योग्य वेष धारण करने वाले अपने पति पुण्य को ऐसे उन दोनों (कडारपिङ्ग व
आय) के साथ पहले ही नगर के बगीचे में ठहराया, जिनका शरीर नाना प्रकार के वर्णों (पीत व रक्तादि)
द्वारा विचित्र किया गया था और जिनके शारीरिक अवयव- (हस्त व पाद-आदि) समूह चिड़िया, चकोर,
नौलकण्ठ व चातक-आदि पक्षियों के पंखों द्वारा आच्छादित किये गए थे और जो पिञ्जरारूपी गृहवाले थे । और
यह (पद्या), जो ऐसे सखीजनों से भूषित थी, जो कि पुण्य के कारण से उत्पन्न हुए आरम्भवाले संभाषण
से मुक्त था, जिसने प्रवास में गये हुए पतिवाली स्त्री का वेष धारण किया था, पति के सम्मुख गई ।

दूसरे दिन समस्त गुणों में उत्कृष्ट पुण्य राज-भवन में जाकर बोला—'देव ! यह वही किञ्चल्प पक्षी
है और यह उसकी माता पक्षिणी है ।'

राजा—(बहुत देर तक देखकर व शब्द सुनने से पहचान कर) 'पुरोहित ! यह किञ्चल्प पक्षी नहीं
है, यह तो कडारपिङ्ग है । यह भी पक्षिणी नहीं है, किन्तु तडिल्लता नामकी कुट्टिनी है' ।

पुण्य—'किञ्चल्प पक्षी के ज्ञान में प्रौढ़ बुद्धि उत्पन्न करने वाले उग्रसेन मन्त्री हैं ।'

राजा ने मन्त्री से उन्हें पहचानने के लिए पूँछा, तो मन्त्री पृथिवी-तल की ओर देखता रह गया,
मानों—पृथिवी-तल में प्रवेश करने का इच्छुक ही है ।

१. उपजा ज्ञानमार्गं स्यात् ज्ञात्कारंभ उपक्रमः । २. वण्मासान् । ३. अनुदभूवतुः । ४. धात्रीसहितं । ५. 'इति
प्रसिद्धिर्भवतिनी भट्टिनी' क० । ६. प्रतीकाः अवयवाः । ७. सह पुण्यं निवेश्य । ८. निवर्णायं । ९. वेण ।
१०. सम्मुखं गता । १०. माता ।

राजा—पुण्य, समास्ताम् । अयं भवानेतद्ध्यतिकरं कथयितुमर्हति ।

पुण्यः—स्वामिन्, 'कुलपालिकात्र प्रगल्भते' ।

सूयतिः भट्टिनीमाह्वय 'अम्ब, कोऽयं ध्यतिकरः' इत्यपृच्छत् । भट्टिनी गतमुदन्तमाप्यत्—काश्यपीश्वरः शैलूष^१ इव हृषान्प्रोत्कर्षश्वाभ्यधनदुःखविनिर्वाहना पुद्गुरांशोयत्नान्मानपादपद्मा पद्मा तैस्तैः सतीजनप्रह्लादनवचनैः संमानसंनिधानैरलंकारवानैश्चोपचर्य, प्रवेक्ष्य च वेदविद्विजोह्यमान^२ कर्णोरथाङ्कां वेदम^३, पुनः 'अरे निहीन, किमिह नगरे न क्षन्ति सकललोकसाधारणभोगाः सुभगाः सीमन्तिव्यः, येनैवसाक्षरः । कथं न दुराचार, एवमाक्षरश्चात्र विलापं^४ विलोकोऽसि । तदिदानीमेव यधि सवन्तं तूणाङ्कुरमिव तृणेहि^५ तदा न बहुकलमपकृतं स्यात्' इति निर्भरं^६ निर्भर्यम्^७ दुर्नयगरलभुजङ्गं कडारपिङ्गं कुट्टिनीमनोरथातिथिसन्निधेयं मुग्रसेनमन्त्रिणं च निखिलजनसमक्षमा^८ कारणपूर्वकं^९ प्राकटयत् । कु^{१०} प्रवृत्तामङ्गमातङ्गः कडारपिङ्गस्तथा प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारितः बुधिरमेतदेनःफलमनुभूय दशमीस्य^{११} सन् इवअप्रभवभाजमं^{१२} जनमभजत ।

भवति चात्र श्लोकः—

राजा—'पुण्य । मन्त्री को रहने दो, तुम सब समाचार कहने के योग्य हो ।'

पुण्य—'स्वामी ! मेरी पत्नी ही प्रस्तुत घटना के कथन करने में समर्थ है ।'

राजा ने पद्मा को बुलाकर कहा—'माता ! यह क्या घटना है ?'

पद्मा ने सब बीता हुआ वृत्तान्त कह दिया ।

वृत्तान्त सुनकर राजा नट-सरीखा उत्कट हर्ष की और विशेष क्रोध की दशा का अनुभव कर रहा था । उसने समस्त अन्तःपुर की सौभाग्यवती स्त्रीजनों द्वारा नमस्कार किये गए चरण-कमल वाली पद्मा की पतिव्रता स्त्री जनों के हृदयों में आनन्द उत्पन्न करने वाले वचनों द्वारा और सम्मान के समीपवर्ती वस्त्र व आभूषणों के प्रदान द्वारा सम्मानित करके उसे वेदार्थ जानने वाले ब्राह्मणों द्वारा स्कन्ध से वहन किये जाने वाले रथ में बैठाकर उसके गृह में प्रविष्ट कराया । पश्चात् कुट्टिनी धाय का और कडारपिङ्ग का अत्यन्त तिरस्कार करते हुए बोला—'अरे नीच ! क्या इस नगर में समस्त जनों द्वारा सार्वजनिक रूप से सम्भोगवाली सुन्दर वेश्याएँ नहीं हैं ? जिसके कारण तूने ऐसा अनैतिक आचरण किया । अरे दुराचारी ! ऐसा आचरण करता हुआ तू यहाँ मरण प्राप्त कर क्यों नहीं मरता ? अतः यदि इस समय मैं तुझे तूणाङ्कुर-सरीखा नष्ट करता हूँ, तो यह तेरा विशेष अपकार नहीं होगा ।'

इस प्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण तिरस्कार करके अनैति रूपी जहरीले साँप-सरीखे कडारपिङ्ग को और कुट्टिनी धाय के मनोरथरूपी अतिथि के यजमान उग्रसेन मन्त्री को समस्त लोक के समक्ष विशेष आक्रोश-पूर्वक देश से निर्वासित कर दिया—निकाल दिया । इस प्रकार कडारपिङ्ग, जिसका कामदेवरूप चाण्डाल निन्द्य कार्य में संलग्न है, व्यभिचार के कारण प्रजाजनों के समक्ष तिरस्कृत होकर चिरकाल तक इस पाप का फल भोगता रहा फिर मरकर नरक लोक में गया ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

१. भट्टिनी । २. समर्था भवति । ३. नटाचार्यवत् । ४. स्कन्धेनोह्यमानो रथः विमानाख्यः । उक्तं च—कर्णोरथः प्रवह्णं द्यमं च समं वयम् । ५. गृहं प्रवेक्ष्य । ६. विनाशं गत्वा किं न विनष्टोऽसि ? । ७. हितस्मि । ८. अतिक्षरः । ९. मन्त्री यजमानः, यजमानं । १०. 'आक्रोशः' टि० ख०, यश० पं० तु आक्षारणा परिभवः । ११. निर्वर्तितः । १२. दुष्टप्रवृत्तेः अनङ्ग एव मातङ्गो यस्य । १३. मूलः सन् । १४. स्थानं नरकलोकं श्रितः इत्यर्थः ।

मन्मथोन्माथितस्वान्तः परस्त्रीरतिजातयोः । कण्ठारपिङ्गः संकल्पाश्रयपात रसातले ॥१६२॥

वृत्तुपासकाध्ययनेऽब्रह्मकलस्फारणो नार्सकत्रिशालमः कल्पः ।

ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु । *परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्छ्वेतो निकुञ्चनम्^१ ॥१६३॥

*क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु^२ कुप्यं शयनमासनम् । द्विपदाः पशवो^३ भाण्डं बाह्या वन परिग्रहाः ॥१६४॥

समिध्यात्वास्त्रयो वेदा^४ हास्यप्रभृतयो^५ऽपि षट् । अस्त्रारश्च कवायाः स्युरन्तर्गन्थाश्चतुर्विंश ॥१६५॥

अथवा चेतनाचेतनासङ्गाद्विधा बाह्यपरिग्रहः । अन्तः स एक एव स्याद्भवहेत्वाशयाश्रयः^६ ॥१६६॥

^७धनायाविद्धबुद्धीनामधनाः^८ स्युर्मनोरथाः । न ह्यभयक्रियारम्भा^९ धीस्तर्वाथिषु कामधुक्^{१०} ॥१६७॥

सहसंभूतिरप्येष बेहो यत्र न शाश्वतः । इव्यदारकदारेषु तत्र कास्था^{११} महात्मनाम् ॥१६८॥

स श्रेष्ठानपि निःशोकः स नरश्च नराधमः । यो न धर्माय भोगाय विनयेत^{१२} यन्तामसम् ॥१६९॥

काम से पीड़ित चित्तवाला और परस्त्री के साथ रति-विलास करने के लिए उत्पन्न हुई बुद्धिवाला कण्ठारपिङ्ग परस्त्री-भामन के संकल्पमात्र से नरक भूमि में गिरा ॥१६२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में कुशील के कटुक फल की प्रचुरतावाला यह इकतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब परिग्रहपरिमाणानुव्रत का निरूपण करते हैं]

बाह्य (धन व धान्य-आदि) और आभ्यन्तर (मिथ्यात्व-आदि) पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प को परिग्रह कहते हैं, उसके विषय में मनोवृत्ति को संकुचित करनी चाहिए ॥१६३॥ खेत, धान्य, धन, गृह, कुप्य (वस्त्र व कम्बल-आदि), शय्या, आसन, द्विपद (दासी-दास), पशु, और भाजन ये दश बाह्य परिग्रह हैं ॥१६४॥ मिथ्यात्व, पुँवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया व लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ॥१६५॥ अथवा—चेतन व अचेतन के भेद से बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है और संसार के कारणों के आश्रयवाला परिणाम अन्तरङ्ग परिग्रह है, जो कि एक ही प्रकार का है । अर्थात्—संसार के कारण मिथ्यात्वादि चैतन्यरूप परिणाम ही हैं आचार जिसके वह अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकार का है ॥१६६॥ धन की तृष्णा से व्याकुलित बुद्धिवालों के मनारथ निष्फल (धन-होन) होते हैं; क्योंकि धन चाहनेवालों की निरर्थक वाञ्छावाली बुद्धि वाञ्छित (अभिलषित—मनचाही) वस्तु देनेवाली नहीं होती । अर्थात्—इच्छामात्र से धन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आचार्यों ने धन-प्राप्ति का कारण लाभान्तराय का क्षयोपशम बतलाया है; अतः धन-प्राप्ति के विषय में मार्तन्ध्यान नहीं करना चाहिए ॥१६७॥ जिस संसार में साथ उत्पन्न हुआ यह शरीर भी स्थायी (नित्य रहनेवाला) नहीं है वहाँपर शरीर से भिन्न धन, पुत्र व स्त्रियों में महात्माओं की आस्था (श्रद्धा) कैसे हो सकती है ? ॥१६८॥

जो मानव दान व पुण्य-आदि धर्म की प्राप्ति के लिए और न्याय-प्राप्त भोगों के भोगने के लिए संचित

*. 'मूर्च्छा परिग्रहः'—मोक्षशास्त्र अ० ७-१७ । १. संकोचः । *. 'वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासी दासं चतुष्टयं भाण्डम् । परिमेयं कर्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलं ॥ ७३ ॥ —अमि० धा० ६ । २. 'वस्त्रादि' टि० ख०, 'वस्त्रकम्बलादि' टि० च० एवं यश० पं० । ३. लोहकपूरतैलादि । ४. स्त्रीपुंनपुंसकभावाः । ५. हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः । ६. संसाराश्रयपरिणामः । ७. 'धनगर्हवाञ्छा' टि० ख०, यश० पं० तु 'धनायाविद्धः गर्हः' । ८. निष्फलाः । ९. वाञ्छामात्रा । १०. वाञ्छितप्रदा भविर्न स्यात् । ११. वाञ्छा । १२. न उपयोगी कुर्यात् ।

प्राप्तेऽर्थे ये न साधयन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालवः । लोकदूपाधितां श्रोणीं त एव परमेष्ठवराः ॥१७०॥

*चित्तस्य चित्तचिन्तायां न फलं परमेष्ठिनः^१ । अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्परं फलम् ॥१७१॥

अन्तर्बहिर्गते सङ्गे निःसङ्गं यस्य मानसम् । सोऽगम्यपुण्यसंपन्नः सर्वत्र सुखमश्नुते ॥१७२॥

बाह्यसङ्गरते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता । सनुषे हि बहिर्धान्ये दुर्लभान्तविशुद्धता ॥१७३॥

सत्पात्रविनियोगेन^२ धोऽर्थसंग्रहस्तत्परः । लुब्धेषु स परं लुब्धः सहासुत्र धनं नयन्^३ ॥१७४॥

कुतप्रभाणात्लोभेन धनादधिकसंग्रहः । पञ्चमाणुव्रतव्याप्तिं^४ करोति गृहमेविनाम् ॥१७५॥

यस्य हृन्मृद्वयेऽप्यस्मिन्निस्पृहं वेहिनो मनः । स्वर्गपवर्गालम्बोणां क्षणात्पक्षे स बभूवे^५ ॥१७६॥

अत्यर्थमर्थकादृक्षायामवश्यं जायते नृणाम् । अधसंधितं चेतः संसारावर्तगर्तगम् ॥१७७॥

सूक्तमत्र परिग्रहणं हृन्मोमादृक्षान्—

धन का उपयोग नहीं करता, वह धनाढ्य होकर के भी दरिद्र है और मनुष्य होकर के भी मनुष्यों में नीच है ॥ १६९ ॥ प्राप्त हुए धन में अभिमान न करने वाले व अप्राप्त धन की वाञ्छा न करने वाले मानव हो दोनों लोकों में प्राप्त होने वाली लक्ष्मियों के उत्कृष्ट स्वामी होते हैं ॥ १७० ॥ जब मानव का चित्त धन-प्राप्ति के लिए चिन्तित होता है तब उसे पापबन्ध के सिवाय दूसरा फल प्राप्त नहीं होता; क्योंकि निस्सन्देह अयोग्य स्थान में क्लेशित होने वाले व्यक्ति को कष्ट के सिवा दूसरा फल प्राप्त नहीं होता ॥ १७१ ॥ जिसका विशुद्ध मन बाह्य व आन्तर परिस्रह में अनासक्त या मूर्च्छा-रहित है, वह अगम्य (अनगिनती) पुण्य-शक्ति से युक्त हुआ सर्वत्र (इस लोक व परलोक में) सुख प्राप्त करता है ॥ १७२ ॥ जिस प्रकार निस्सन्देह छिलका-सहित बाहिरी धान्य में भीतरी निर्मलता दुर्लभ होती है उसी प्रकार बाह्य परिस्रह में आसक्त हुए मानव में चित्त की विशुद्धि किस प्रकार हो सकती है? ॥ १७३ ॥ जो सत्पात्रों के लिए दान देकर धन के संचय करने में तत्पर है, वह उस धन को अपने साथ परलोक में ले जाता है अतः वह लोभियों में महा लोभी है ।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री ने अपने 'नीतिवाक्यामृत' के धर्म समुद्देश में भी लिखा है—'स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम्' ॥ १८ ॥ अर्थात्—जो मनुष्य सज्जनों के लिए दान देकर अपने साथ परलोक में धन ले जाता है, वही निश्चय से सच्चा लोभी है, अभिप्राय यह है, कि धन का लोभी लोभी नहीं है, किन्तु जो उदार है, उसे सच्चा लोभी कहा गया है; क्योंकि पात्रदान के प्रभाव से उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर उसे जन्मान्तर में मिल जाती है ॥१७४॥

लोभ में आकर परिमाण किये हुए धन से अधिक धन का संचय करने वाला मानव श्रावकों के परिग्रह परिमाण नाम के अणुव्रत की हानि करता है ॥ १७५ ॥ जिस मानव का चित्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिस्रहों में निस्पृह (लालसा-शून्य) है, वह क्षणभर में स्वर्गश्री व मुक्तिश्री के पक्ष (स्वीकार करने) में दक्ष (चतुर) होता है ॥ १७६ ॥ धन की अत्यधिक तृष्णा होने पर मनुष्यों का मन अवश्य ही पाप-समूह का संचय करता हुआ उन्हें संसाररूपी भँवर के गड्ढे में गिरा देता है ॥ १७७ ॥

अब परिग्रह की तृष्णा वाली कथा श्रवण कीजिए—

*. वित्तार्थचित्तचिन्तायां न फलं परमेष्ठिनः । अतीवोद्योगिनोऽस्थाने न हि क्लेशात् परं फलम् ॥ ६३ ॥ —धर्मरत्ना० पृ० ९६ । १. धन । २. पापात् भिन्नं फलं न, किन्तु पापमेव भवति । ३. दानयोगेन । ४. 'स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम्' ॥ १८ ॥—नीतिवाक्यामृत, धर्म, नूत १८ पृ० २६ । ५. हानि । ६. परिग्रहव्यये । ७. दक्षः स्यात् ।

पञ्चालदेशेषु त्रिवशनिवेशानुकूलोपशान्ते^१ काम्पिल्ये निजमनिघाहात्म्योपहसितामराधार्यप्रतिभो^२ रत्नप्रभो नाम नृपतिः । आत्मीयकपोलकारितविजितामृतमरीचिमण्डला मणिकुण्डला ताम्रास्य महादेवी । कुसुममगतात्मोपाविता-
मितवित्तः सागरदत्तो नाम श्रेष्ठो । गृहस्य श्रीरिव धनधोर्नामास्य भार्या । सूरुरनयोन्वय्यार्थोपाजनेकवित्तः सुवस्तो नाम । स महालोभविभावसुग्वलच्चित्तभित्तः सागरदत्तः पुदषपरम्परायातायाः काश्चनकोटेरेकस्याः * स्वयमुपाजितार्थ-
कोटेः पतिर्भवन्नपि शालीयाविभक्तभोजने^३ द्वितयतुपापनोति^४ 'वर्षा'ना^५ 'आवण'कृतिश्च, शाकपाकविधाने संभारावित्तिः^६
^७ 'प्रसभान्यववृत्तिश्च', 'धातंपूरपू'रिमावेष्टिमाविभक्त्योपक्षेपे महती स्नेहापहतिरिन्धनदिरतिश्च, दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे, न
विक्रयस्य धृतं न च तर्कं^८ 'कडङ्गरायेति' च मन्यमानः स्वयमेव प्रतिदिवसवृद्धि^९ 'प्रहणाय' ^{१०} 'ध्वजलोकपाटके' विहरमाणः
^{११} 'प्रतिपितृप्रिया' ^{१२} 'यन्त्रमुपसृष्ट्य' 'आः' ^{१३}, सुरभिः खल्वेष खलः संघातः^{१४} इति सस्मेरं व्याहरन्, गृहीतपिण्डावध^{१५} ^{१६}
^{१७} 'प्रस्थवसानसमये' तद्वगन्धमानिग्रहन्, सर्वलोकपरिहृत^{१८} 'मनवधिकालोचित' ^{१९} 'मत्तिसमर्थतां' गतमकण्डितमेव^{२०} च
स्थालोविलीयं भवति^{२१} तत्केवला^{२२} 'वृत्तिसोमसहायमाहरति' । अत एवाश्च^{२३} महाभोहानुबन्धस्य^{२४} पिण्याकगन्ध इति

१७. शोभी पिण्याकगन्ध को कथा

पञ्चालदेश के स्वर्ग की अनुकूलता के निकटवर्ती काम्पिल्य नगर में अपनी बुद्धि के माहात्म्य से बृहस्पति की प्रतिभा को तिरस्कृत करने वाला 'रत्नप्रभ' नामका राजा था । अगने गालों की मनोज्ञ कान्ति द्वारा चन्द्रमण्डल की जीतने वाली 'मणिकुण्डला' नाम की उसकी पटुराती थी । वहाँ पर वंशपरम्परा से प्राप्त हुई व स्वयं कमाई हुई अपरिमित लक्ष्मी का स्वामी 'सागरदत्त' नामका नगरसेठ था । उसकी गृहलक्ष्मी-सी 'धनधो' नामकी पत्नी थी । इनके न्यायपूर्वक धन कमाने में एकाग्रचित्त वाला 'सुदत्त' नामक पुत्र था ।

महालोभरूपी अग्नि में अपनी चित्तरूपी भित्ति को प्रज्वलित करनेवाला सागरदत्त सेठ यद्यपि वंश परम्परा से प्राप्त हुई एक करोड़ सुवर्णमुद्राओं का और स्वयं कमाई हुई अर्धकरोड़ सुवर्णमुद्राओं का स्वामी था, तथापि वह सोचता था, कि धान्य-आदि का भात खाने में उसके छिलके दूर करने होंगे और प्रक्षालन और पसावण करना पड़ता है । यदि शाक पकाया जाय तो तेल व मिर्च-मसाला-आदि में खर्च होता है और उसके साथ अधिक अन्न भी खाया जायगा और घेवर, पुड़ी व जलेबी-आदि भक्षण-योग्य वस्तुओं के आक्षेप में प्रचुर भी नष्ट होता है और ईंधन का व्यय होता है । इसी प्रकार दूध, दही, तक्र (मट्ठा) के उपयोग (भक्षण) करने से न तो बँचने के लिए धी रहेगा और न धान्य की भूसी के लिए छाँछ ही रहेगी ।

अतः जब वह स्वयं प्रतिदिन व्याज वसूल करने के लिए तेलियों के समूह के मुट्ठल्ले में पर्यटन करता था तो उनके कोल्हू के समीप जाकर जरा हँसकर कहता 'वाह निस्सन्देह यह खली तो सुगन्धित निकली है' ऐसा कहकर वह तिल की खली का एक टुकड़ा उठा लेता था और भोजन-वेला में उसकी गंध भूँचता हुआ और ऐसी धान काँजो के साथ खाता था, जो कि समस्त लोगों द्वारा छोड़ी हुई, अतिजीर्ण, स्वल्प मूल्य वाली

१. समीपे । २. बृहस्पतिबुद्धिः । ३. 'स्वयमुपाजितस्य च तदर्थस्य च पतिर्भवन्नपि' क० । ४. सति बह्वी हानि-
भवतीति मन्यमानः । ५. प्रक्षालन । ६. पसावण । ७. तैलमरीचादीनां व्ययः स्यात् । ८. 'प्रचुराग्नस्य
भुक्तिः' टि० ख०, यश० पं० तु 'गृद्धिमीजनं' । ९. घेवर । १०. पुड़ी । ११. धान्यत्वग्निमित्तं । १२. व्याज ।
१३. तिलबुद, तैलिकाः । १४. पितृप्रियाः तिलाः । १५. यन्त्रं तिलपीठनयन्त्रं भाण्डं (घाणी) । १६. अत्र आः
इति कोपेऽर्थे व्याजग्रहणार्थं । १७. खलः । १८. भोजनवेलायां । १९. अतिजीर्ण । २०. स्वल्पमूल्यं । २१. खंडन-
रहितं । २२. स्थालोविलीयं अर्हति । २३. काश्चिकेन सहितं । २४. सागरदत्तस्य । २५. आशक्तेः ।

जगति नाम पत्रये । 'मुत्रामोदमात्रेण च प्रयोजनम् । तबलं ताम्बूलार्थमर्थव्ययेन' इति विचिन्त्य 'विष्णुतत्त्वचः'
 १'कालवल्लीदन्तोत्तरास्वावचः कथयति । २'अर्घ्यप्राणोदरः परिवारः कदाचिदपि वेहे हृदये वा न मनापि विक्रुस्ते'
 इति सत्त्वा न कमप्यूर्ध्वं पूरयति । ३'प्रतिचारकाश्चैवं शिक्षयति—'न तंलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्', किं तु
 ४'कार्यापणं भारं चादाय ५'आपणमुपडोश्य तनुभयं गृहीत्वा पुनरिव ६'साधु न भवतीति प्रतिसमर्पयस्तत्र माये किंचित्तल-
 नमयाति तेन शरीरो विविविधातयः ।' परिजनाभक्तान् स्वकीयांश्चैवमुपजयति ७—'न भवद्विरङ्गाम्यङ्गार्यं भवममुपडो-
 शव्यम्, किं तु सस्नेहवेहेः ८'प्रातिवेशिकशिशुसंघोहे सहातिसंवाधं योद्धव्यम् । अतो भवतामनुपायसंनिधिः स्नानविधिः ।
 क्षपायां च ९'प्रतिवेशदेशमप्रवीपप्रभाप्रज्वलितेन १०'वलीकान्तावलम्बितेन ११'काधमुकुरेण गुहाङ्गणे *प्रवीपकार्यं १२'तिकाव्य-
 मध्ये च सणसरण्ड १३'प्रोते १४'विश्वरूपिणी १५'हृत्कवीर्षीः कालेति । सत्यव्रतसम्भारणाश्च १६'नवीनसङ्गा एव १७'धुगाः
 सपरिच्छदः शरिदधाति । मनात्मलीमसरागाश्च विक्रीणीति । ततोऽप्य १८'वसनघावनार्थमपि न १९'कपर्दकोपक्षयः

और बिना कूटी काटी व थाली में स्थापित करते ही बिखरने वाली थी, अतएव तोय लोभ में आसक्त हुए इसका
 'विष्याकगन्ध' (मूल सूँघने वाला) यह नाम लोक में प्रसिद्ध हुआ ।

'मुख को सुगन्धित करने मात्र से ही तो प्रयोजन है; अतः ताम्बूल के लिए धन खर्च करना निरर्थक
 है' ऐसा साँचकर वह पीपल की छालों को भक्षण करता था, जिनकी रसि वीर के या यावची के पत्तों के पदचात्
 खाने से होती है ।

'आधे पेट खाने वाला कुटुम्ब कभी भी [गृह-स्वामी से] शरीर व मन द्वारा जरा भी विकृत
 (वैर विरोध करने वाला) नहीं होता' ऐसा मानकर वह किसी कुटुम्बी को भरपेट भोजन नहीं देता था । वह
 अपने सेवकों के लिए इस प्रकार की शिक्षा देता था कि 'तैल व नमक-आदि साधारण वस्तुओं के लिए धन
 नष्ट नहीं करना चाहिए, पैसा व वर्तन लेकर बाजार में जाना चाहिए और तैल व नमक लेकर वाद में यह
 अच्छा नहीं है, यह कहकर वापिस लौटा देना चाहिए जिससे वर्तन में कुछ तैल व नमक लगा रह जाता है,
 उससे मालिश वर्गेरह शारीरिक कार्य करता चाहिए ।' वह अपने और कुटुम्ब के वच्चों से यह कहता था कि
 'आप लोगों के लिए शरीर में मालिश करने के लिए मेरे गृह पर नहीं आना चाहिए किन्तु तैल की मालिश
 किये हुए पड़ोसियों के बालक-समूह के साथ आपस की विशेष रगड़पूर्वक कुश्ती लड़नी चाहिए, जिससे आपकी
 तैल-स्नान-विधि बिना यत्न किए हो जायगी ।

वह रात्रि में पड़ोसों के गृह के दीपकों की कान्ति से प्रकाशित हुए व गृह के उपरितन भाग
 पर लटके हुए काँच के दर्पण द्वारा अपने घर के बांगन में दीपक का कार्य करता था और पोचोलकड़ी-
 सन-शलाका-में परोये हुए व अग्नि द्वारा प्रदीप्त किये हुए एरण्ड के बीजों से घर के अन्दर प्रकाश करता
 था । वह सर्वसाधारण के उपयोग में आनेवाला नया (कोरा) वस्त्र-जोड़ा (टि० के अभिप्राय से सेला-जोड़ा)

१. पिप्पलछली । २. 'वावचोपत्र, पत्राणां पश्चाद्भोजनेन स्क् रचिर्यासां ताः विष्णुतत्त्वचः' टि० ख०,
 पञ्चिकाकारस्तु 'कालवल्ली बदरी' इत्याह । ३. अर्घ्यप्राण । ४. उत्तरसाधकान् । ५. तंललवणादि
 सामान्यवस्तुनमित्तं समोर्ध्वं धनं कथं विनाययते ? । ६. मानं । ७. हट्टं गत्वा । ८. तमीचीनं ।
 ९. शिक्षयति । १०. पड़ोसी । ११. पड़ोसी-गृह । १२. गृहस्थोपरितनभागे । १३. काच-दर्पणेन । *, प्रदीपकार्यं सागरदत्तः
 श्रेष्ठी करोति । १४. गृहमध्यं । १५. भीखीदंड—पोचोलाकड़ी । १६. अग्नि । १७. एरण्डबीजः । १८-१९. कोरावस्त्र-
 सेलाद्वय । २०. वस्त्रप्रक्षालनार्थं । २१. कौड़ी ।

‘पर्वणि च’ २ पुराणपल्लवकचवरापनयनकणोत्करेणातपतस्त ३ संघाटस्नेहप्रवेण ४ पुच्छगोमोलालनकायेण च निवर्त-
यति ५ । प्रथममन्त्रणेन द्विगव्ययात् ६ रागारभोजनावलोकनेनाशितजनमनोविनाशभयाभ्यामन्त्रितो न कस्यापि
निकेतने ७ प्लाति ।

एवमतीवसर्पित्कर्षरसहार्धे सकलकदर्याचार्ये ८ तस्मिन्धीवत्यपि मृतकल्पमनसि वसति सति एकदा स लक्ष्मी-
कमलिनोपरिमलनकलभो रत्नप्रभो राजसिन्धुरप्रधावसंदर्शनप्राप्तावसंपावनाय ९ अथवाश्रयवृत्तस्य ब्रह्मवत्तस्य महीपतेः
कालेन स्थण्डिलतालुप्तावकाशे भवनप्रवेशे भूशोधनं विधापयन्नेतदास्थानमण्डपाभोगवन्धजुवः १० प्रकाशोपरदोषकलुष-
वपुषः संपूर्णविस्तारपुषः ११ प्रथमगुणविशिष्टकाः १२ सुवर्णैष्टकाः समालोक्य बहिर्निकामं कलङ्कुमलिनवाचितरेष्टका-
विशिष्टत्वमाकलयन् एताः खलु चेत्यालघनिर्भाणाय योग्याः १३ चेतसंकत्र स्तूपतामानाययामास ।

अत्रान्तरे समस्त १४ मितपत्रपुरोगमसंगणः १५ पिण्याकगन्धः सरभसमापततामिष्टकावहतां १६ वैवधिकनिव-
हानां सायंसमये १७ मार्गप्रिये पतितामेकामिष्टकामदाय्यं चलनशालनदेशे १८ गच्छात् । तत्र च १९ प्रतिधनमङ्गसंधर्षाव-

परिवार-सहित पहनता था और जैसे ही वे थोड़े मलिन होते थे, उन्हें बैच देता था, जिससे कपड़े धोने
में उसको कोड़ी भी खर्च नहीं होती थी । वह दीपोत्सव-आदि पर्व, पुराने पत्तों को कूट कर और
उनके रेखे निकालने से उत्पन्न हुई चूर्ण-राशि से और सूर्य को गर्मी से तप्त हुए संघाट—गुड़ांश—के
तरल तेल द्वारा एवं गुड़ की फट्टी घोने से उत्पन्न हुए मधुर रस द्वारा व्यतीत करता था । बदले में दूसरों का
निमन्त्रण करने से धन खर्च होगा एवं दूसरों के गृह का भोजन देखने से मेरे सेवकजनों के मन मुझ से टूट
जायेंगे, इस भय से निमन्त्रण आने पर भी वह किसी के घर पर नहीं ज़ोमता था । इस प्रकार अत्यन्त बड़ी
हुई तुष्णा से प्रेम करने वाला और सब कंजूसों का आचार्य वह पिण्याकगन्ध जीवित रहने पर भी मरे हुए-
सरीखे मनवाला होकर निवास कर रहा था ।

एक समय लक्ष्मीरूपी कमलिनी के मर्दन करने के लिए हाथी के बच्चा-सरीखे रत्नप्रभ राजा ने
श्रेष्ठ हाथियों की दौड़ देखने के लिए एक राज-महल के निर्माण के लिए विचार किया और उसके लिए स्वर्गीय
ब्रह्मवत्त राजा के महल-प्रदेश में, जिसकी जगह समय पाकर ढेर हो जाने से लुप्तप्राय हो गई थी, भूमि-शोधन
कराई तब उसने ऐसी सुवर्ण की ईंटें देखीं, जो कि इसके विस्तृत सभागृह में लगीं हुई थीं । जो अत्यन्त जमीन
के ऊपर दोष से काली हो गई थी । जो समस्त विस्तार को पुष्ट करने वाली थीं और जो पृथु गुण से विशिष्ट
थीं (चौड़ी थीं), परन्तु वे बाहर से अत्यन्त मेल से मलिन थीं, इसलिए उसने दूसरी ईंटों की विशेषता निश्चय
करते हुए ‘निस्सन्देह ये ईंटें मन्दिर के निर्माण के लिए योग्य हैं’ इस प्रकार मन में विचार कर एक स्थान पर
उनका ढेर लगवा दिया ।

इसी बीच में समस्त लोभियों में अग्रसर-सरीखा पिण्याकगन्ध वेशपूर्वक आने वाले, ईंटों का भार-
वहन करने वाले बँहगी उठाने वालों (कावड़िक) के समूहों की संख्या की वेला में मार्ग-प्रदेश पर गिरी हुई
एक ईंट उठा लीया और उसे पैर-धोने के स्थान पर रख दी । वहाँ पर प्रत्येक दिन पैरों की राड़ से जब उस

१. दीपोत्सवादीनि करोति । २. कड्यक्कलकणगणि ? । ३. सीबड़ा । ४. कोथली । ५. पर्वणि करोति ।

६. अन्यलोकगृहे भोजनं यथेभिर्दृष्टं तदा मदगृहे एतं न स्यात्यन्ति इति भयात् । ७. न भुङ्क्ते । ८. लुब्धे ।

९. मृतस्य । १०. ईदृशाः । दृष्टकाः । ११. विस्तारं पुष्णन्ति याः । १२. पृथु । १३. मनसि कृत्वा ।

१४. लुब्धः । १५. सदृशः । १६. ‘भारवाहानां’ टि० च०, ‘वातविहो वैवधिकः’, विविधः भारः पर्याहारी वा तं

वह्नोति वैवधिकः’ टि० ख०, पञ्जिकायां तु ‘वैवधिकाः परिस्कन्धाः काष्यहाश्च एकाद्याः ।’ इति प्रोक्तं ।

१७. संख्यायां । १८. पादप्रक्षालनदेशे । १९. प्रतिदिनं ।

शोबहालुष्यमोषे^१ भर्मनिमित्तत्वमवेत्य तंस्तः प्रलोभनवस्तुभिः^२ काचवहानां विहितोपचारस्थाः^३ संगृह्णन्^४ श्रुतस्वस्त्रीया-
पायोवन्तः^५ स्फायमानमनोमन्युकृतान्तः^६ पिण्याकगन्धः पुत्र, निखिलकलावदातवित्त सुवत्त, भवत्पितृस्वभुः सुतशोक-
शङ्कशान्मनाय मयावश्यं तत्र गतस्यमपस्तनातस्य^७ च । ततस्त्वयाप्येताः^८ परिस्कन्दलोकप्रलोभनेन साधु संगृहीतव्याः^९
इत्युपह्वरे^{१०} वप्राहृत्य सकलजगद्वधवहारावभारविदेयां काकन्द्यां तोकशोकभूमिष्ठायस्तूणं कनिष्ठाय वशंनार्थमगच्छत् ।
^{१०} अस्तवधवहारव्यावृत्तः सुवत्तः तातोपदेशमनिधेय^{११} समवस्थन्^{१२} यतो* राजपरिगृहीतं तृणमपि गृहीतं काकन्द्यानीभवति
संपद्यते च पूर्वोपाजितस्याप्यर्घस्यापहाराय प्राणसंहाराय चेति जातमतिर्नैकामपीष्टकां समग्रहीत् ।

महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धस्तस्याः पुरोऽपस्तनायाऽऽगतः सुतमप्राप्नोत्—'धरत, कियतोः खलु त्वमिष्ट-
काततोः पर्यग्रहीः ।'

स्तेययोगविनिवृत्तः सुदत्तः—'तात, नैकामपि ।'

प्राबुर्भवद्दीर्घदुर्गतिदुरितवन्धः पिण्याकगन्धः समर्थं सदाचारकृतार्थं पुण्यभाजि शुजि परमुत्तरमपश्यन्, 'यदीमौ
कमौ परिक्रमणक्षमौ मम नामविध्यतो तदा^{१३} कर्षकारमहं मन्मनोरथवन्धा^{१४} काकन्द्यामगमिष्यम् । अतः^{१५} एताव-

ईंट की समस्त मलिनता नष्ट हुई तब उसने उसे सुवर्ण की ईंट निश्चय की । फिर तो यह उन उन प्रलोभन
वस्तुओं के प्रदान द्वारा उठावेगी उठानेवालों की रे ल लाके उनसे ईंटों का संग्रह करने लगा ।

एक दिन पिण्याकगन्ध ने अपने भानेज की मृत्यु का समाचार सुना और इससे उसका मानसिक
शोकरूपी यमराज बढ़ा, अतः उसने अपने पुत्र को एकान्त में बुलाकर कहा—

'समस्त कलाओं के अभ्यास से विदुष्ट चित्तवाले पुत्र सुदत्त ! आपकी बुद्धा का पुत्र-वियोग संबंधी
शोकरूपी कीला उखाड़ने के लिए मुझे वहाँ अवश्य जाना चाहिए और मृत-स्नान भी करना चाहिए । अतः तुम्हें
इस कावड़िक-(बैहगी उठानेवाले) समूह के लिए प्रलोभन वस्तु के प्रदान द्वारा सोने की ईंटें; अच्छी तरह संग्रह
करनी चाहिए ।' इस तरह एकान्त में कहकर पिण्याकगन्ध पुत्र के वियोग का प्रचुर शोक करनेवाली सबसे
छोटी बहिन के दर्शनार्थ शीघ्र काकन्दी नगरी में गया, जो कि समस्त लोक-व्यवहार की उत्पत्ति में त्रिवेदी
(प्रवीण) है ।

यहाँ पर सुदत्त अन्याय से पराङ्मुख-दूरवर्ती-रहता था; अतः उसने अपने पिता का उपदेश संसार
का कारण निश्चय करते हुए एक भी ईंट ग्रहण नहीं की; क्योंकि उसे ऐसी नैतिक वृद्धि उत्पन्न हो गई थी—
'जो मानव राजा का तृण भी चुग लेता है, उसे उसके बदले में सुवर्ण देना पड़ता है; क्योंकि राजकीय साधा-
रण वस्तु की चोरी तीक्ष्ण राज-दण्डवाली होने से पूर्व-संचित समस्त धन नष्ट कराने में व प्राणघात कराने में
कारण होती है ।'

महालोभ की तृष्णा से अन्ये पिण्याकगन्ध ने मृत-स्नान करके उस नगरी से आकर पुत्र से पूछा—
'पुत्र ! निस्सन्देह तुमने कितनी ईंटों का समूह संग्रह किया ?'

चोरी के संबंध से पराङ्मुख हुए सुदत्त ने उत्तर दिया—'पिताजी ! एक भी नहीं ।'

घोर दुर्गति के कारण पाप का बंध करनेवाले पिण्याकगन्ध ने, कृदुम्ब-पालन में समर्थ, सदाचार से

१. विनाशे सति । २. भारवाहानां । ३. दृष्टकाः । ४. भागिनेयभरण । ५. वृद्धि जायमान । ६. शोकयमः ।

७. मृतस्नानं कर्तव्यं । ८. कावड़िक । ९. एकान्तं । १०. अन्यायपराङ्मुखः । ११. संसारकारण । १२. जानन् ।

*. देखिए—'नीतिवाक्यामृत' व्यरान समुदेश सूत्र २८ पृ० २४४ । (हमारी भाषाटीका)—सम्पादक ।

१३. केन कारणेन । १४. कारायां । १५. पादौ ।

चात्र श्रीविरात्मायहौ ब्रौह्मो' इति विचिन्त्योद्धतं वसंतस्याः स्ववासिन्याः कराबाक्षिप्तशरीरेण^१ शिलापुत्रकेण^२ तौ अजरितावजीजनत् ।

एतच्च^३ वैदेहिकव्यञ्जनपरिजनात्प्रा^४चीनवह्निभिः क्षितिदमणीकरिणीभिः रत्नप्रभः धृत्वा^५ वासी-
वप्रेण शिल्पिभिर्वि^६धापितेष्वकातक्षयः^७ सुवर्णं निष्कृतं विहितं सर्वस्वापहारं सनिकारं^८ नगरजनोच्चार्यमाण-
धुरववावप्रसभ्यं पिण्याकगन्धं^९ 'निरवासयत्' : 'निराजयामां हि दुःखं योर्गोपिताम्' इति लीज्जिः^{१०} मनुस्मृत्य मूलधन-
प्रदानेनावधारितं^{११} निवासनिवेदनेन च परब्रह्मावाननिवृत्तं सुदत्तं साधु समाश्वासयत् । स तथा निर्वासितः संजातनरक-
निवेकं^{१२} निदग्धः कृतप्रकामलोभसंभवद्विचरायोपाजितदुरन्तबुध्कमंस्कन्धः पिण्याकगन्धः प्रेत्य^{१३} पातासमगात् ।

भवति चात्र श्लोकः—

षष्ठ्याः क्षितेश्चतुर्थी^{१४} अस्मिन्लल्लके दुःखमल्लके । पेटे पिण्याकगन्धेन घनापाविद्धचेतसा ॥१७८॥

इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलकुशलो नाम द्वाविंशः कल्पः ।

सफल जन्मवाले एवं पुण्यवान् पुत्र के कहने पर जब कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं जाना तब 'यदि ये मेरे दोनों पैर चलने में समर्थ न होते, तो मैं मेरे मनोरथ को बन्दीगृह (जेलखाना) काकन्दी नगरी में किस प्रकार से जाता ? इसलिए ये दोनों पैर ही लक्ष्मी रोकनेवाले व पापी हैं' ऐसा सोचकर उसने खटन पोसनेवाली अपनी पत्नी के हाथ से ग्रहण की हुई पीसने की सिल द्वारा अपने दोनों पैर तोड़ डाले ।

इन्द्र-सरीखे व पृथिवीरूपी स्त्री को प्रमुदित करने के लिए हथिनो को हाथी-जैसे रत्नप्रभ राजा ने वणिक् बेधी गुप्तचर के मुख से उक्त घटना सुनकर टांकी के अग्रभाग से शिल्पियों द्वारा उन ईंटों को कटवाया तो उसने उन्हें सोने की निश्चय कीं । तब उसने पिण्याकगन्ध का समस्त धन जब्त कर लिया और उसे नागरिकजनों द्वारा कथन किये गए निन्द्य अपकीर्ति के प्रबन्ध वाला करके बेइज्जतपूर्वक देश से निकाल दिया ।

राजालोभ गुणवान् के लिए इन्द्र हैं और दुष्ट के लिए यमराज हैं ।' इस नाति-वाक्य का स्मरण करके राजा रत्नप्रभ ने चोरी से पराङ्मुख हुए उसके सुदत्त पुत्र के लिए मूलधन के प्रदान द्वारा और वंश परम्परा से चले आनेवाले आवास की अनुमति द्वारा अच्छी तरह आश्वासन दिया ।

देश से निकाला जाकर पिण्याकगन्ध अत्यन्त लोभ का संवंध करने के कारण नरक-पतन का बंध करके और चिरकाल तक दारुण दुःखदायक पाप-समूह का संचय करके मरकर नरक गया ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

घन के लिए भ्रान्त चित्तवाला पिण्याकगन्ध पशुम नरक के तीसरे लल्लक नामके पाथड़े में, जो कि भयानक और दुःख का पात्र है, गिरा ॥ १७८ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में परिग्रह में आसक्ति का फल विस्तृत करनेवाला

यह बत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

१. गृहीत । २. 'नीसायेण' टि० ख० 'पेरणपायायेन' इति पं० । ३. 'वणिक्प्रीडमुखात्' टि० ख०, 'वैदेहिकव्यञ्जनः वणिक्वेषः राजप्रणिधिः' इति यश० पं० । ४. इन्द्रसमानः । ५. टांकी । ६. क्षिति । ७. तनूकरणं । ८. घन । ९. निकारो विप्रकारः स्यात् विष्णुकविधितेय्यः । १०. निर्वृद्धितवान् । ११. आवासानुमतेन । १२. पतन । १३. मृत्वा । १४. पशुमनरकस्य तृतीये प्रस्तारे ।

* दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिस्त्रितयाध्वयम् । गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥१७९॥
 १ विष्णु सर्वास्वयः प्रोर्ध्वविशेषु निखिलेषु च । एतस्यां विशि देशोऽस्मिन्नि यत्वेवं १ गतिर्मम ॥१८०॥
 २ दिग्देशनिधमावेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु । हिंसालोभोपभोगादिनिवृत्तिवत्तयन्त्रण ॥१८१॥
 रक्षप्रियं प्रयत्नेन गुणव्रतत्रयं गृही । आर्जुनस्य लभेत्तं यत्र यत्रोपजायते ॥१८२॥
 ३ आशावेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यक्तिकमात् ४ । देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाधयः ॥१८३॥
 ५ शिखण्डिकुक्कुटद्वयेन विद्यालक्ष्यालक्ष्यः ६ । विषकण्टकशस्त्राग्निकशापाशकरज्ज्वरः ॥१८४॥
 ७ पापलक्ष्यानां शुभाध्यानां ८ हिंसाक्रोधाव्याक्रियाः ९ १० । परोपतापैः शून्यशोकाः ११ न्वनकारिताः ॥१८५॥
 वधवन्धनसंरोधहेतवोऽपि चेद्वशाः । भवस्थानर्थदण्डाख्याः सां १२ शयप्रवर्धनात् ॥१८६॥

[अब गुणव्रतों का वर्णन करते हैं]

सज्जन आचार्यों ने दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदण्डव्रत के भेद से गृहस्थ व्रतियों के तीन गुणव्रत निरूपण किये हैं ॥ १७९ ॥

दिग्व्रत व देशव्रत का लक्षण—

पूर्व व पश्चिम-आदि समस्त दिशों दिशाओं में से अमुक दिशा में नियमित गमन करना, अर्थात्—अमुक दिशा में जन्मपर्यन्त इतने योजन या इतने कोश तक ही जाऊँगा, उससे बाहर न जाना दिग्व्रत है और (दिग्विचरति के भीतर कुछ समय के लिए) अथः व ऊर्ध्व-आदि समस्त दिशों में से अमुक दिशा में ही भेदा नियमित गमन होगा, इससे बाहर नहीं जाऊँगा, यह देशव्रत है ॥ १८० ॥

इन व्रतों से लाभ—

इस प्रकार दिशा और देश का नियम करने के कारण अवधि से बाहर की भोगोपभोग वस्तुओं में हिंसा, लोभ व उपभोग-आदि का त्याग हो जाने से चित्त कावू में होता है या मनोनिग्रह होता है ॥ १८१ ॥ तीनों गुणव्रतों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ यह व्रती श्रावक जहाँ जहाँ जन्म लेता है वहाँ वहाँ आज्ञा व ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ १८२ ॥ दिशा और देश के किये हुए प्रमाण का उल्लंघन करने से (उससे बाहर चले जाने से) दिग्व्रती व देशव्रती को प्रायश्चित्त लेना पड़ता है ॥ १८३ ॥

अब अनर्थदण्ड व्रत का निरूपण करते हैं—मयूर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सर्प और नेवला-आदि हिंसक जन्तुओं का पालना, विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, चावुक, जाल व रस्सी-आदि हिंसा के साधनों को दूसरों को देना, पाप का उपदेश देना, आर्त व रोद्रध्यान करना, हिंसा-प्रधान क्रीड़ा करना, निष्प्रयोजन पृथिवी-खोदना-आदि, दूसरों को कष्ट देना, चुगली करना, शोक करना व दूसरों को रलाना एवं इसी प्रकार के दूसरे कार्य करना, जो कि प्रार्थियों का वध, वंघन करनेवाले हैं और दूसरे के रोक रखने में कारण हैं, उन्हें अनर्थ दण्ड कहते हैं, क्योंकि

*, 'दिग्देशानर्थदण्डविरतिः—' । मोक्षशास्त्र ७-२१ । १. 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोर्ध्वं बहिर्न यास्यामि । इति संकल्पो दिग्व्रतशामुत्पणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥'—रत्नकरण्ड आ० । २. इयती—नियमिता । ३. 'अवधे-वैहिरणुपापप्रतिविरतिदिग्भ्रतानि धारयताम् । पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥'—रत्न० । ४. दिशा । ५. लंघनात् । ६. 'मण्डलविडालकुक्कुट—इत्यादि ॥ ८१ ॥ अमितगतिः ६-८१ । 'विषकण्टकशस्त्राग्नि-रज्जुकशादण्डादि हिंसाप्रकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् ।—सर्वार्थसिद्धि ७-२२ । ७. नकुलः । ८. पापोपदेश । ९. आखेटकादि । १०. व्याक्रियाः निष्प्रयोजनं भूखननं, जलस्फालनं, अनलमभ्यन्धनं, पवनकरणमैकेन्द्रिमहितनं च । ११. क्रन्दितं रुदितं—कुटं । १२. संसारः ।

पोषणं कूरत्तत्त्वानां हि सोपकरणक्रियाम् । देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुषीः ॥१८७॥

अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतिः । सुदृष्टां सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ॥१८८॥

वञ्चनारम्भहिंसातामुपदेशात्प्रवर्तनम् । भाराधिक्याधिककलेशौ तृतीयगुणहानये ॥१८९॥

इत्थुपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणोः श्रीमश्वमेधेश्वरभगवतः शिष्येण सद्यो नवगणपत्यविद्याधरचक्रवर्तिसिलप-
मण्डनीभट्टचरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्च-
रित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः ।

उनसे संसार की वृद्धि होती है ॥ १८४-१८६ ॥ अपना आचार उत्तम बनाने की बुद्धि-युक्त हुए देशव्रती श्रावक को हिंसक जीवों का पोषण नहीं करना चाहिए एवं हिंसा के उपकरणों को किसी के लिए नहीं देना चाहिए ॥ १८७ ॥

अणुव्रती श्रावक अनर्थ दण्डों का त्याग करने से अवश्य ही समस्त प्राणियों की मित्रता व उनका स्वामित्व प्राप्त करता है ॥ १८८ ॥ छोटा उपदेश देकर दूसरों को धोखा देना, आरम्भ और हिंसा का प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोजा लादना और अधिक कष्ट देना ये पाँच कर्म अनर्थदण्ड व्रत को हानि पहुँचाते हैं, अर्थात्—इनसे अनर्थ दण्डव्रत सदोष हो जाता है, अतः अणुव्रती श्रावक को इन कामों से दूर रहना चाहिए ॥ १८९ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में तीन गुणव्रतों का निरूपण करनेवाला यह तैत्तिरीय कल्प पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार समस्त तार्किक-चक्रवर्तियों में चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य 'श्रीमत्सोमदेवसूरि' द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्यविद्याधर-समूह के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधर महाराज-चरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' है, 'सच्चरित्र चिन्तामणि' नामका सप्तम आश्वास पूर्ण हुआ ।



अष्टम आश्वासः

आदौ सामायिकं कर्म प्रोपधोपासतक्रिया । 'सेव्यार्थनियमो बानं शिक्षाव्रतचमुष्टयम् ॥ १ ॥
 आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयाधिनाम् । निमुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमुच्यते ॥ २ ॥
 'आप्तस्थासन्निधानेऽपि पुण्यापाकृतिपूजनम् । 'तार्क्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषयसामर्थ्यपूजनम्' ॥ ३ ॥
 अन्तःशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चनम् । आद्या 'दीर्घचित्तनिर्मोक्षादस्या' स्नानाद्यथाविधि ॥ ४ ॥
 संभोगाय विशुद्धधर्मं स्नानं धर्माय च स्मृतम् । धर्माय तद्भूवेत्स्नानं यन्नामुच्यते विधिः ॥ ५ ॥
 नित्यंस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे । यत्सेतु 'दुर्जनस्पर्शास्नानमन्यद्विर्गहितम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री, श्रीमत्पूज्य व्याख्यात्मिक सन्त श्री १०५ कुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य एवं वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व साहित्य विभाग के अध्यक्ष 'न्यायाचार्य' 'साहित्याचार्य' व कवि चक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्दशास्त्री खिस्ते के प्रधान शिष्य, नीतिवाक्यामृत के भाषाटीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक, 'जैन न्यायतीर्थ', प्राचीन न्यायतीर्थ, कान्यतीर्थ, आयुर्वेद विशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागर-निवासी व परिवार जैनजातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक दीपिका' नाम की भाषाटीका में 'सच्चरित्र चिन्तामणि' नामका सप्तम आश्वास पूर्ण हुआ ।

[अब शिक्षाव्रतों को कहते हैं—]

सामायिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और पात्रदान ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥ १ ॥ सामायिक का स्वरूप-अर्हत्परमेश्वरी को पूजा करने का जो उपदेश है, उसे 'समय' कहते हैं एवं उसमें निर्धारित क्रियाकाण्डों (जिन-स्तपन, पूजा, स्तुति व जप-आदि) को शास्त्रकारों ने उसके इच्छुक श्रावकों का सामायिक व्रत कहा है ॥ २ ॥

मूर्तिपूजा का विधान—जिनेन्द्र भगवान् के न होने पर भी उनकी मूर्ति की पूजा पुण्यबंध के लिए होती है । गरुड़ के न होने पर भी क्या उसकी मुद्रा विष की शक्ति को नष्ट नहीं करता ? ॥ ३ ॥ विवेकी पुरुष को अन्तरङ्ग शुद्धि व बहिरङ्ग शुद्धि करके देवपूजा करना चाहिए । चित्त से दुष्परिणामों के त्याग करने से अन्तरङ्ग शुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करने से बहिरङ्ग शुद्धि होती है ॥ ४ ॥ स्नान-विधि का निरूपण—भोजन के लिए, विशुद्धि के लिए और धर्म के लिए आचार्यों ने स्नान करना कहा है । जिसमें परलोक (स्वर्गादि) के योग्य कर्तव्य (दान, व्रत, पूजा व अभिषेक-आदि) किये जाते हैं, वह स्नान धर्म के लिए कहा गया है ॥ ५ ॥ देव-पूजा को स्वीकार करने के लिए गृहस्थ को सदा स्नान करना चाहिए और मुनि को

१. भोगोपभोगसंख्या । २. 'आगमयगुक्तिमुक्तं'—इत्यादि ॥ १३ ॥ रत्नकरण्ड धा० । 'रागद्वेषत्यागाद्विबिलब्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य । तत्त्वोपलब्धिभूलं बहुधाः सामायिकं कार्यम् ॥ १४८ ॥'—पुरुषार्थ० । ३. तीर्थस्थासन्निधानेऽपि प्रतिमा धर्महेतवे । चैतन्यस्य मुद्राऽपि विषं हन्ति न संशयः ॥ २२२ ॥—प्रबोधसार । ४. गरुड़ः । ५. अपनोदनम् । ६. अन्तःशुद्धिः । 'मध्यशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्यात्तदुपासने । पूर्वा स्यात् स्वान्तर्गम्यात् परा स्नानाद्यथाविधिः ॥ २२३ ॥'—प्रबोध० । ७. 'दुष्परिणामपरिहारात्' टि० क०, घ०, च० । पञ्जिकाकारस्तु 'दीर्घचित्तमार्तरौद्रव्याने' इत्याह । ८. बहिःशुद्धिः । ९. दुर्जनश्चाण्डालरजःस्वलादिः ।

यातातपावि*संपृष्टे भूरितोये जलाशये^१ । अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भवेत् ॥ ७ ॥
 पावजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंख्यम् । स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥ ८ ॥
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः । यद्वा तद्वा भवेत्स्नानम^२त्यमन्यस्य तद्द्वयम्^३ ॥ ९ ॥
 *सर्वारम्भजिज्ञास्य^४ ब्रह्मजिज्ञास्य^५ देहितः । अविधाय बहिः शुद्धिं नाप्सोपास्त्यधिकारिता ॥ १० ॥
 अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायणः । स मन्त्रैः शुद्धिभाग्नूतं भुक्त्वा^६ हृत्या^७ विहृत्य च ॥ ११ ॥
 *मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च । शीघ्रं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता^८ भवेत् ॥ १२ ॥
 *बहिविहृत्य संप्राप्तो नानावाय्व गृहं विशेत् । स्थानान्तरात्समायातं^९ सर्वं^{१०} प्रोक्षितमानरेत् ॥ १३ ॥
 *आप्लुतः^{११} संप्लुतस्थान्तः शुचिवासीविभूषितः । *मौनसंयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥ १४ ॥

दुर्जन (कापालिक, रजस्वला व चाण्डालादि) से छू जाने पर ही स्नान करना चाहिए । यदि मुनि को दुर्जन का स्पर्श नहीं हुआ है, तो उसका स्नान नित्य है ॥ ६ ॥ प्रचुर जलराशिवाले व बहती हुई वायु से स्पर्श किये हुए और सूर्य की किरणों से सर्वत्र से स्पर्श किये हुए, तालाब-आदि जलाशय में अवगाहन करके स्नान करना उचित है, किन्तु जिस जलाशय व कुआ-आदि का पानी धूप व वायु से स्पर्श किया हुआ नहीं है, उसे छानकर ही स्नान में प्रयोग करना चाहिए ॥ ७ ॥ स्नान पाँच प्रकार का जानना चाहिए । पैरों तक, घुटनों तक, कमर पर्यन्त, गर्दन तक और सिर तक । इनमें से मनुष्यों को उनके दोष के अनुसार स्नान करना चाहिए ॥ ८ ॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकार के आरम्भों (कृषि व व्यापार-आदि) का त्यागो है, उसे इनमें से कोई भी स्नान कर लेना चाहिए, किन्तु दूसरे गृहस्थों को तो कण्ठ पर्यन्त या मस्तक पर्यन्त स्नान करना चाहिए । अर्थात्—आरम्भ करने पर कण्ठ-स्नान और ब्रह्मचर्य के भङ्ग होने पर मस्तक-पर्यन्त स्नान करना चाहिए ॥ ९ ॥ जो समस्त प्रकार के आरम्भों (कृषि व व्यापार-आदि) में प्रवृत्त है और ब्रह्मचर्य के पालन में कुटिल है, उसे कण्ठ पर्यन्त व मस्तक पर्यन्त स्नान द्वारा बाह्यशुद्धि किये बिना देवोपासना का अधिकार नहीं है ॥ १० ॥

स्नान-हीन साधु की शुद्धि—

जल-स्नान से शुद्धि को निराकरण करता हुआ (जल-स्नान न करनेवाला) साधु केवल मन्त्र-मात्र के जप में तत्पर होता है; क्योंकि वह आहार, विहार व मल-मूत्रादि क्षेपण व दहन करके उनसे उत्पन्न हुए दोषों के निवारण करने के लिए निस्सन्देह मन्त्रों द्वारा शुद्ध हो जाता है, उसे जल-स्नान द्वारा बाह्य शुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ११ ॥ अतः प्राप्तुक व प्रशस्त मिट्टी से अथवा ईंट के चूर्ण से अथवा राख या गोबर से तब तक हस्तादि की शुद्धि करनी चाहिए, जब तक उनमें निर्मलता (शुद्धि) न आजाय ॥ १२ ॥ बाहर से घूम करके गृह पर आए हुए मानव को आचमन (कुल्ला) किये बिना गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए । एवं अन्य स्थान से आई हुई समस्त वस्तुओं को जल-सिञ्चन से पवित्र करके व्यवहार में लानी चाहिए ॥ १३ ॥ गृही श्रावक को

*. 'संपृष्टे' इति मु० व क० । १. तडागादी । २-३. क्रमेण ग्रीवा शिरः, कण्ठ शिरः वा स्नानं गृहस्थस्य, आरंभे सति कण्ठस्नानं, ब्रह्मभङ्गे सति मस्तकस्नानं । *. 'सर्वारम्भप्रवृत्तस्य' इति क० । ४. आरंभे प्रवृत्तस्य । ५. 'ब्रह्मस्य' टि० ख०, पक्षिकायां तु 'ब्रह्मचर्य-मन्दस्य' इति प्रीतिः । ६. दहनं कृत्वा । *. 'विशुद्धय च' इति क० । ७. 'मृत्स्ना अजन्तुका भूमिः' ग०, 'प्रशस्तमृत्तिकाया' टि० ध० च० । ८. गन्धलेपहानिः । ९. आचमेद्गोतहस्ताङ्घ्रिः पीते वारिणि सर्वदा । चतुर्गृहाराभुन्जी च कृतायामुदकं पिबेत् ॥ १ ॥ १०. सर्वं वस्तु । ११. अभ्युक्षित्वा । १२. स्नातः । १३. संस्कृतचित्तः अथवा अग्रचित्तः । १४. मौनसंयमसम्पन्नीर्देवोपास्तियिधीयताम् ।
 दन्तधावनशुद्धास्यधीतवस्त्रपवित्रितः ॥ २२६ ॥—प्रबोधसार ।

वन्तघवनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः । धसंजाताभ्यसंसर्गः सुधीर्वैवानुपाधरेत् ॥ १५ ॥

‘होमभूत’ बली पूर्ववक्तो *भक्तविशुद्धये । भुक्त्वाद्यौ सलिलं ‘सपिरोधस्यं’ च ‘रसायनम्’ ॥ १६ ॥

एतद्विधिं धर्माय नाधर्माय तद्विक्रिया । धर्मपुण्याक्षतधोऽवन्दनाविविधानवत् ॥ १७ ॥

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः । लोकाध्ययो भवेदाद्यः ‘परः स्यादागमाश्रयः’ ॥ १८ ॥

जातयोनादयः सर्वास्तस्मिन्नापि सार्थाविधा । श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ १९ ॥

स्वजात्येव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् । तत्किमाविधियोगाय ‘जैनागमविधिः’ परम् ॥ २० ॥

‘यद्भवभ्रान्तिनिर्मृत्तिहेतुर्धौस्तत्र’* दुर्लभा । संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे ध्यागमः ॥ २१ ॥

शुद्ध जल से स्नान किया हुआ, अव्यग्रचित्त-युक्त होकर, पवित्र वस्त्रों से सुशोभित एवं मौन व संयम से युक्त होकर देवपूजा की विधि करनी चाहिए ॥ १४ ॥ विवेकी पुरुष को दातोन से मुख शुद्ध करके अपना मुख, मुख-पर वस्त्र लगाकर आच्छादित करके तथा बिना स्नान किये हुए दूसरे मनुष्यों का स्पर्श न करके जित-पूजा करनी चाहिए ॥ १५ ॥

पूर्वाचार्यों ने भोजन की शुद्धि के लिए भोजन करने से पहले होम (अग्नि में भोज्यांश का हवन करना) और भूतबलि (पशु-आदि जीवों के लिए प्राङ्गण में कुछ अन्न का प्रक्षेपण करना) का विधान कहा है । अर्थात्—शिष्ट पुरुषों को भोजन के अवसर पर कुछ अन्न अग्नि में होम करना चाहिए और कुछ अन्न अग्नि में प्रक्षेपण करना चाहिए, जिससे उनका भोज्य पदार्थ विशुद्ध हो जाता है । एवं भोजन में जल, घी, दूध व तक का सेवन रसायन-सरोखा बल व चौर्यवर्धक कहा है ॥ १६ ॥ उक्त विधि (भोजन के शुरु में होम-आदि) करना पुण्य-निमित्त नहीं है और उसका न करना अधर्म-निमित्त भी नहीं है । उक्त विधि-विधान तो केवल उस प्रकार माङ्गलिक (शकुन-निमित्त) है जिस प्रकार विवाह-आदि लौकिक शुभ कार्यों के प्रारम्भ में डाम का स्थापन, पुष्प व अक्षतों का प्रक्षेपण एवं शास्त्र-स्थापन और वन्दनवार बाँधना-आदि विधि-विधान माङ्गलिक (शकुन-निमित्त) होता है ॥ १७ ॥

निश्चय से गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का है । एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक । इनमें से लौकिक धर्म लोक के आधार वाला है । अर्थात्—लोक की रीति के अनुसार होता है और दूसरा पारलौकिक धर्म आगमाश्रय है । अर्थात्—पूर्वापर के विरोध से रहित प्रामाणिक द्वादशाङ्ग शास्त्रों का आधार लेकर होता है—उनके अनुसार होता है ॥ १८ ॥ ब्राह्मण-आदि वर्णों की समस्त जातियाँ अनादि (बाज-वृक्ष की तरह प्रवाह रूप से चली आनेवाली) हैं और उनकी क्रियाएँ भी अनादि हैं, उसमें वेद व स्मृति ग्रन्थ प्रमाण हों इसमें हमारी (आहंती—जनों की) कोई हानि नहीं है ॥ १९ ॥

जिसप्रकार रत्नों की, खानि से निकले हुए रत्नों के लिए संस्कार-विधि (शाणोल्लेखन-आदि) महत्त्वपूर्ण होती है उसीप्रकार जाति (मातृ-पक्ष) से विशुद्ध ब्राह्मण-आदि वर्णवाले मानवों की क्रियाओं

१-२. भोजनावसरे किंचिदग्नौ किंचित्प्राङ्गणेऽन्नं क्षिप्यते । ‘अध्यापनं बह्वयजः पितृयजस्तु तर्पणम् । होमो वैधो बलिर्भौतौ नृयजोऽतिथिपूजनम्’ ॥ ७० ॥ —मनुस्मृति ३ अ० । * . ‘शुक्तिविशुद्धये’ इति क० । ३. ‘सपिरोधस्यं’ इति क० । ‘धृताधरोत्तरमुञ्जामोर्जिन दृष्टि च लभते’ ॥ ३४ ॥ —नीतिवाक्यामृत हमारी भाषा टीका पृ० ३२८. अर्थात्—धृत-पानपूर्वक भोजन करनेवाले मनुष्य की जठराग्नि प्रशम होती है और नेत्रों की रोशनी भी मड़ जाती है ॥ ३४ ॥ ४. दुग्धं । ५. मयितं । ६. शकुनार्थं बंधते । ७. पारलौकिकः । ८. निश्चयाय । ९. संसारप्रमणमोचनमति-दुर्लभा । १०. लौकिकव्यवहारे ।

तथा च । सर्व एव हि जनेषां प्रमाणं ^१लौकिको विधिः । यत्र सध्यत्वहानिर्न यत्र न सतद्रूपणम् ॥ २२ ॥

इत्थुपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम अतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः ।

^२द्वये देवसेवाधिकृताः ^३संकल्पितास्तपूज्यपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च, *संकल्पोऽपि ^४दलफलोपलादिष्विव न समयान्तरप्रतिमासु विधेयः । यतः—

“शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन ह्युच्यते । ^५नाकारान्तरसंक्रान्ते यथा ^६परपरिग्रहे ॥ २३ ॥

तत्र ^७प्रथमान्तरप्रति ^८समयसमाचारविधिमभिधास्यामः । तथा हि !

(गर्भान्वय, दोक्षान्वय व कर्त्रन्वय क्रियाओं) के निश्चय करने के लिए जैनशास्त्रों का विधि-विधान ही उत्कृष्ट है ॥ २० ॥ क्योंकि शास्त्रान्तरों में संसार के भ्रमण से छुड़ानेवाला सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है और लौकिक व्यवहार तो स्वतः सिद्ध है, उसमें आगम की अपेक्षा करना निरर्थक है ॥ २१ ॥ निस्सन्देह जैनधर्मानुयायियों को वे समस्त लौकिक विधि-विधान (विवाह-आदि) प्रमाण है, जिनमें उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और चारित्र्य (अहिंसा-आदि) दूषित नहीं होता । अर्थात्—ऊपर कहे हुए होम, मृतवलि व अतिथि-सत्कार-आदि लौकिक विधि विधान में सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और अहिंसादि व्रत की शक्ति नहीं होती, अतः प्रमाण है, परन्तु वेद और स्मृति ग्रन्थों में यज्ञ में किये हुए प्राणिबध को अहिंसा माना है, उसका आचरण अहिंसाव्रत का घातक है और सम्यक्त्व को नष्ट करता है अतः जैनों को प्रमाण नहीं है ॥ २२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में ‘स्नान-विधि’ नाम का चौतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

देवपूजा की विधि

देवपूजा के अधिकारी मानव दो प्रकार के हैं—

१. जिन्होंने पत्र व पुष्प-वगैरह शुद्ध पदार्थों में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके, उन्हें पूज्य स्वीकार किया है और २. जिन्होंने जित-त्रिमूर्तियों में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके उन्हें पूज्य स्वीकार किया है, परन्तु विवेकी पुरुष जिसप्रकार पत्र, फल व पाषाण-आदि शुद्ध वस्तुओं में जिनेन्द्र भगवान्-आदि की स्थापना करता है उस प्रकार उसे दूसरे मत्तों की ब्रह्मा व विष्णु-आदि की मूर्तियों में ऋषभदेव-आदि तीर्थङ्करों का संकल्प कदापि नहीं करना चाहिए ।

क्योंकि अविच्छेद या शुद्ध पदार्थ में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना उसप्रकार उचित है जिस प्रकार शुद्ध कन्या में पत्नी का संकल्प करना उचित होता है । जिस प्रकार दूसरे से विवाहित कन्या में पत्नी का संकल्प उचित नहीं है । उसी प्रकार अन्य देवाकार को प्राप्त हुए विष्णु-आदि की प्रतिमाओं में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना अयोग्य (आगम से विरुद्ध) है ॥ २३ ॥

अब हम पत्र व पुष्प-आदि में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके देव-पूजा करनेवाले श्रावकों के प्रति पूजा-विधि के विषय में धर्मोपदेश देंगे—

१. लौकिको विधिः विवाहः । २. द्विप्रकाराः पृथगाः । ३. ‘संकल्पितास्तपूजिताः’ इति क० । *
- ‘संकल्पितोऽपि’ इति क० । ४. ‘यथा दलफलोपलादिषु संकल्पो जिनस्य क्रियते तथा अन्यदेवप्रतिमायां जिनसंकल्पो न क्रियते इत्यर्थः’ इति क०, ‘न कर्तव्यः क्व समयान्तरप्रतिमासु केचिद्वदलादिषु ह्य । अन्यदेवहरहिरण्यगर्भप्रतिमाविषये जिनसंकल्पो न क्रियते’ इति टि० ख० । ५. अविच्छेदः । ६. न अन्यदेवाकारसंक्रान्ते उपक्रायौ । ७. यथा परपरिग्रहे परिणीतकन्यायां संकल्पोऽनुचितः अयोग्यः । ८-९. संकल्पितास्तपूज्यपरिग्रहान् प्रति धर्मोपदेशं दास्यामः ।

अर्हन्त^१तनुमध्ये वक्षिणतो^२ गणधरस्तथा पश्चात् । श्रुतगोः साष्टस्तवनु च पुरोऽपि^३ भृगवगमवृत्तानि ॥२४॥

मूर्जे फलके^४ सिचये^५ शिलातले^६ संकते क्षितौ व्योम्नि ।

हृदये चैते स्थाप्याः समयसमाचारवैद्विभिनित्यम् ॥२५॥

रत्नत्रयपुरस्काराः पञ्चापि परमेष्ठिनः । भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेश्वराः ॥२६॥

ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य^७ परानपेक्षापर्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवल-
ज्ञानसाम्राज्यसाध्यनपञ्चमहाकल्याणाष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषनिराजितस्य^८ योद्धशार्चलक्षणसहस्राङ्कित-
विष्यदेहमाहात्म्यस्य^९ द्वादशगणप्रमुखमहामुनिसनःप्रणिधान^{१०} संनिधीयमानपरमेश्वरपरमसंबन्धाविनामसहस्रस्य^{११} विरहिता-
दिरजोऽहःकुहकभावस्य^{१२} समयसरणसरोवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकसङ्गमार्तण्डमण्डलस्य^{१३} दुष्पारा^{१४} जवञ्जवीभावजलनिधिति-
सज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरभागमस्य^{१५} भक्तिभरविनतविष्टपत्रयोपालमौलिमणिप्रभा^{१६} भोगनभोविजृम्भमाणवरणनक्षत्र-
निकुम्भस्य^{१७} सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेलक्ष्मीलतानिकेत^{१८} कल्पानोकुहस्य^{१९} कीर्ति^{२०} पोतिकाप्रवर्धनकामधेनोः^{२१} अवीचि-
परिचयक्षलोकारकारणाभिवानवाध्रमन्त्रप्रभावस्य^{२२} सौभाग्यसौरभसंपादनवारिजातप्रसवस्तवकस्य^{२३} सौरूप्योत्पत्तिमणि^{२४} भक्तिरि-

पूजा-विधि के वेत्ताओं को सदा अर्हन्त और सिद्ध को पत्र व पुष्पादि के मध्य में, आचार्य को दक्षिण में, उपाध्याय को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और पूर्व में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को क्रम से भोजपत्र पर, लकड़ी के पट्टिये पर, वस्त्र पर, शिलातल पर, बालुकामय प्रदेश पर, पृथ्वी पर, आकाश में और हृदय में स्थापित करना चाहिए ॥२४-२५॥ सम्यग्दर्शन-आदि रत्नत्रय से पूजनीय और तीन लोक के लिए चन्द्रमा-सरीखे पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्र को प्रमुदित करें ॥ २६ ॥

अर्हन्त पूजा

मैं ऐसे भगवान् अर्हन्त परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जिनकी विशेष माहात्म्यवाली पूजा परम्परा समस्त लोक के स्वामियों (इन्द्र-आदि) द्वारा की गई है । जो दूसरे (चक्षुरादि इन्द्रिय) की अपेक्षा से रहित परमात्म-पर्याय से उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों के अवलोकनरूप केवलदर्शन व केवलज्ञानरूप साम्राज्य के चिह्नरूप पञ्चकल्याणकों, आठ प्रातिहार्यों एवं चौत्तीस अतिशयों से विशेषरूप से सुशोभित हैं । जिनके दिव्य परमौदारिक शरीर का प्रभाव एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त है । जिनके परमेश्वर व परमसर्वज्ञ-आदि एकहजार नाम बारह गण (शिक्षक, दादो व विक्रियद्वि-आदि) के मुनियों में प्रमुख महा-मुनियों (गणधरों) के मन में चित्त की एकाग्रता द्वारा आरोपण किये जा रहे हैं । जो मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय इन पातिया कर्मरूप इन्द्रजाल से रहित हैं । जो समयसरणरूपी सरोवर में आये हुए तीनलोक के प्राणीरूप कमल-समूह को विकसित करने के लिए सूर्य-मण्डल-सरीखे हैं । जिनका उत्कृष्ट द्वादशाङ्ग शास्त्र दुःख से भी पार करने के लिए अशक्य संसाररूप समुद्र में डूबे हुए प्राणी-समूह के लिए हस्तावलम्बन-सरीखा है । जिनके चरणों के नखरूपी नक्षत्र-समूह, भक्ति के भार से नम्रीभूत हुए तीनलोक के स्वामियों (इन्द्र-आदि) के मुकुटों में जड़े हुए मणियों को कात्ति के विस्तार-रूप आकाश में विस्तृत हो रहा है । जो सरस्वती को वर का प्रसाद देने के लिए चिन्तामणि हैं । जो लक्ष्मीरूपी लता के आश्रय के लिए कल्पवृक्ष-से हैं । जो कीर्तिरूपी

१. सिद्धः । २. आचार्यः । ३. उपाध्यायः । ४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि । ५. वस्त्रे । ६. पुलिने । ७. परस्य अनपेक्षा या पर्यायसंगतिः, अनुक्रमो वा । ८. आरोप्यमाण । ९. अरिमोहः, रजो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं, रहः अन्तरायः, कुहकमिन्द्रजालं । १०. आजवञ्जवीभावः संसारः । ११. विस्तार एव नभः । १२. स्थान । १३. बालिका । १४. अवीचिर्नरकविशेषस्तस्य परिचयः संगतिः । १५. 'मकरो' दि० ख०, पक्षिकाकारस्तु 'मणिमकरिका पुत्तलिका' इत्याह ।

कायटनविकटाकारस्य^१ रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा । अपि च ।

नरोरगसुरास्त्रोजविरोचनवचिथियम्^२ । आरोग्याय जिताधीशं करोम्यर्चनगोचरम् ॥ २७ ॥

ॐ 'सहचरसमीचीनवा^३ चोत्रयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सल्लि-
लान्मुक्ताफलमिव उपलादिव काञ्चनम्^४ स्मादेवात्मनः 'कारणविशेषोप^५सर्पणदशादाविर्भूतमखिलमलविलयलब्धात्मस्वभाव-
मसमप्रसहायमक्रममवधीरितान्य^६ संविधिश्रवधानमनवधिमयतनसाध्यमवसितातिशयसीमानसात्मस्वरूपेकनिबन्धनम्^७ न्तःप्र-
काशम्^८ प्यासितवत्तमनस्तदर्शनवैशद्य^९ विशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमम^{१०} वसानसुख^{११} ओतसमपर्यन्तधोर्यमवाधुष-
सूक्ष्मावभासमसदृश^{१२} अभिवेशावगाहमलघुगुरुव्यपदेशमपातबाधाधराकारसंकममतिविशुद्धस्वभावतया निवृत्ताशेषशरीर-

वच्छिन्ना की वृद्धि के लिए कामधेनु हैं । जिनके नामरूपी मन्त्र का प्रभाव नरक विशेष की संगति को नष्ट करने में कारण है । जो सौभाग्यरूपी मृगन्धि की प्राप्ति में कल्पवृक्ष के पुष्पों का गुच्छा-सरीखे हैं । जो अनोखे सौन्दर्य की उत्पत्तिरूपी मणि-जड़ित पुतली की रचना के लिए स्वर्णकार-जैसे हैं एवं जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं ।

मैं जन्म-जरा-मरणरूपी रोग को निवृत्ति के लिए मनुष्य, नागासुर व देवरूपी कमलों के विकसित करने के लिए सूर्य की कान्ति को धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेव की पूजा करता हूँ ॥ २७ ॥

सिद्ध-पूजा

मैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ । जिनका हिताहित का प्रकृष्ट ज्ञान पूर्वजन्म से आये हुए मति, श्रुत व अवधिज्ञान के विचार के विषय के योग्य है, इसीलिए गुरु-आदि दूसरे की अपेक्षा न करने के कारण जो स्वयंभू हैं । जिसने ऐसे केवलज्ञान से अधिष्ठित ऐसे परमात्मा का प्राप्त किया है, जो कि (केवलज्ञान) इसी पूर्व संसारो आत्मा से ही धातिया कर्मों को क्षय करनेवाली कारण सामग्री (द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव-आदि एवं सम्यग्दर्शन-आदि) के सन्निधान से उस प्रकार उत्पन्न हुआ है, जिसप्रकार कारण-सामग्री (स्वाति नक्षत्र का उदय-आदि) के सन्निधान से जल से [सीप में] मोती उत्पन्न होता है और जिस-प्रकार कारणसामग्री (अग्निपुट-याक व छेदन, भेदन-आदि) के सन्निधान से सुवर्णपाषाण से सुवर्ण उत्पन्न होता है । जिसकी उत्पत्ति समस्त मलों (धातिया कर्म व उनके उदय से होनेवाले अज्ञानादि दोषों) के क्षय से हुई है, जो अनोखा और चक्षुरादि इन्द्रियों की सहायता से शून्य है । जो क्रम-रहित है, अर्थात्—समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाला है । जिसने दूसरे पदार्थों की निकटता व दूरी तिरस्कृत की है । जो सीमा को उल्लंघन करने वाला व इन्द्रियों के व्यापार-आदि प्रयत्नों के बिना उत्पन्न होनेवाला एवं जो अतिशय की सीमा का अन्त करने वाला है और जिसकी उत्पत्ति में केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही कारण है । जिसमें (परमात्मा में) अनन्त दर्शन की विशेष निर्मलता के कारण समस्त पदार्थों का सार प्रत्यक्ष किया गया है । जो अनन्त सुख का झरना है । जो अनन्तवीर्य-शाली है । जिसमें चक्षुरिन्द्रिय से अगांचर सूक्ष्मत्व प्रति जोखी गुण की प्रतीति है । जिसमें अनोखे परमावगाह सम्यक्त्व के साथ अवगाह गुण वर्तमान है । जो अगुरु लघु गुण

१. 'जडिया—स्वर्णकार' टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'विकटाकारः टंकः' इति प्रोक्तम् । २. विरोचनो रविः ।

३. पूर्वजन्मागत । ४. चार्त्तत्रयं मतिः श्रुतमवधिरच । ५. पूर्वसंसारिणः एव । ६. द्रव्यक्षेत्रकालभावादि, त्वय उदयसो विस्तीर्णो वेक्षण पात्रमकरणलद्धीए चत्तारि विमामण्णा करणे पुण होई सम्मत्तं ॥ १ ॥ ७. आगमनं । ८. सामीप्य ।

९. केवलज्ञानं । १०. प्राप्तवन्तः । ११. निर्मलता । १२-१३. ईदृशं परमात्मानं । १४. अभिविशेषः सम्यक्त्वं ।

द्वारतया च मनाद्भुक्तपूर्वावस्थान्तरमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनशिरःशेषदायभाजय^१द्विष्यभरमुपशान्तसकलसंसार-
बोधप्रसरं परमात्मानमुपेयुषो^२ गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनोऽष्टतयोर्मिष्टि-
करोमीति स्वाहा । अपि च ।

^३प्रत्नकर्मविभिर्भुक्तान्मूलकर्मविजितान् । यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्तरत्नत्रयमहोपसः ॥ २८ ॥

^४भुवनत्रयस्य । "जगतिर्लोकाः पुनर्लोक्युपास्यन्तरोपास्यन्तस्तत्तिष्ठारहस्यसारस्य" अध्ययनाध्यापनं^५ विनि-
योजयितव्यमित्यभोप^६नयनादिक्रियाकाण्डनिःस्नात^७विस्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघप्रवर्धनधर्मरत्नस्य द्विविधात्मकधर्मविबोधनविषू-
तंहिकथ्यपेक्षासंबन्धस्य सकलवर्णाश्रमसमयसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरौचिविविलितनिश्चिन्नजनतारविन्दिनीमिथ्यात्व-
महामोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यप्रशिक्ष्यसंपदाशेषमिव भुवनमुद्धतुमुद्यतस्य भगवतो
रत्नत्रयपुरःसरस्याध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयोर्मिष्टि करोमीति स्वाहा ।

अपि च । विचार्य सर्वमेतिह्यमाचार्यकमुपेयुषः । आचार्यवर्णानर्थांमि संघार्य हृदयान्मुजे ॥ २९ ॥

से मुक्त है । जो बाधा और पर के आकाररूप संक्रमण से रहित है । विशेष विशुद्ध स्वभाव के कारण और
समस्त शारीरिक द्वारों के हट जाने से जो पूर्व अवस्था से कुछ छुटकारा पा चुका है, अर्थात् — जो पूर्व-अवस्था
से कुछ ऊँच है । जिसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श नहीं हैं व जो समस्त लोक के शिर पर मुकुट के समान
आचरण करनेवाले स्थान से जगत् का पालन करनेवाला है एवं जिसमें समस्त सांसारिक अज्ञानादि दोषों का
विस्तार नष्ट हो चुका है । जो (सिद्ध परमेष्ठो) तीर्थङ्कर परमदेव द्वारा भी गुरु माने गये हैं और जो सम्यग्दर्शन,
सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं ।

पुराने कर्मों के बन्धन से छुटे हुए और नवीन कर्मों से रहित तथा रत्नत्रय से महान् उन सिद्धों का
में यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥ २८ ॥

आचार्य-पूजा

मैं विशेष पूज्य ऐसे भगवान् आचार्य परमेष्ठो की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जिन्होंने ज्ञाति व
आचरण से शुद्ध कुल व सदाचार से विभूषित हुई गुरु-परम्परा द्वारा समस्त आगम के गोप्यतत्त्व का सार
ग्रहण किया है । जिनका चित्त स्वयं शास्त्रों का पठन-पाठन, अधिकार, वित्त, नियम (व्रत व तप का
पालन) व दीक्षा व व्रतारोपण विधि-आदि क्रिया-काण्डों से पवित्र है । जो चार वर्ण (ऋषि, यति, मुनि व
अनगार) के साधु-संघ की वृद्धि का भार वहन करनेवाले हैं । जिन्होंने मुनि व श्रावक धर्म के ज्ञापन में इस
लोक संबंधी मूल्य की अपेक्षा का संबंध त्याग दिया है । जिन्होंने समस्त वर्णों व आश्रमों की आगमानुकूल क्रिया-
पद्धति के विचार के योग्य वचन-समूह-रूपी किरणों द्वारा समस्त जनता-रूपी कमलिनी का मिथ्यात्व व विशिष्ट
अज्ञानरूप अन्धकार-पटल नष्ट कर दिया है । जिन्होंने ज्ञान व तप के प्रभाव से जिन-शासन को उद्दीप्त
किया है और जो अपनी शिष्य-प्रशिक्ष्य सम्पत्ति द्वारा समस्त लोक के उद्धार करने में प्रयत्नशील-से रहते
हैं एवं जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्यरूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं ।

मैं समस्त आगम को विचार करके आचार्यपद प्राप्त करनेवाले पूज्य आचार्यों को अपने हृदयकमल
में स्थापित करके उनकी पूजा करता हूँ ॥ २९ ॥

१. स्थान । २. तीर्थङ्करपरमदेवेन 'नमः सिद्धेभ्यः' इति वचनात् । ३. पुराण । ४. तप । ५. ज्ञात्याचरणशुद्ध ।

६. स्वयं पठन । ७. पाठन । ८. अधिकार । ९. दोआव्रतारोपणादिविधि । १०. पवित्र ।

ॐ श्रीमद्भूगवदहर्षद्वन्द्वनारद्विर्वाचिनिर्गन्तद्वाङ्माङ्गल्यतुल्यशुद्धप्रकोर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारंगमस्य अपारसंपरा-
पारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गमार्गण^१ निरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तकान्तवाचसदमयीमलिनपरवाधिकरिक्ण्ठोरवोत्कण्ठ-
कण्ठार^२वायसाण^३प्रमाणनय^४ निक्षेपा^५नुयोग^६वाग्व्यतिकरस्य श्रवणग्रहणावगाहना^७विचारण^८प्रयोग^९वाग्विस्त्वकवित्त्वामक^{१०}।
शक्तिविस्मापितविनतनरनिर्लिम्पाश्चरखकवत्सोभन्तप्रान्त^{११}पर्यस्तोत्सखसोरभाधिवारितपावपौठोपकण्ठस्य प्रतवि-
द्यानवद्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयोर्मिष्टि करोमोति स्वाहा ।

अपि च । अपास्तेकान्तवादीन्नामपाराणमपारगान् । उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय^{१२} श्रुतास्तये ॥३०॥

ॐ १० विवितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरण^{१३}करणत्रयविशुद्धिप्रियया^{१४}पमाप्रवाहनिर्मुलितमनोजकुज-

उपाध्याय-पूजा

मैं ऐसे भगवान् उपाध्याय परमेष्ठि की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जो श्रीमान् भगवान् अर्हन्त देव के मुत्रकमल से निकले हुए बारह अङ्गों (आचार-आदि), चौदह पूर्वों (उत्पादपूर्व-आदि) तथा चौदह प्रकोर्णों (सामायिक-आदि) के रूप में विस्तीर्ण श्रुतरूपी समुद्र के पारगामी हैं । जो अपार संसाररूपी अटवी से निकलने के लिए बाधा-रहित मार्ग के अन्वेषण करने में तत्पर हुए शिष्यजनों के लिए शरणभूत हैं । दुरन्त एकान्तवाद के मदरूपी कालिमा से मलिन हुए अन्यमतावलम्बीरूपी हाधियों के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप व अनुयोग से युक्त जिनका वचन-समूह सिंह के दहाड़ने के समान आचरण करता है । श्रवण, ग्रहण, अवगाहन (विचार करना), अवधारण, प्रयोग (शास्त्र के अर्थ को ज्ञापन करनेवाला वचन), वस्तुत्व-कला (शास्त्र के अर्थ को मुख द्वारा सूचित करना), कवित्व व तार्किक शक्ति द्वारा आश्चर्य-युक्त किये गए नम्रीभूत हुए मनुष्यों, देवों व विद्याधरों के स्वामियों के केशप्रान्त से नीचे गिरी हुई मुकुट माला के पुष्पों की सुगन्धि से, जिनके चरणों के आसन का निकट भाग सुगन्धित किया गया है और जिनका हृदय चारित्र्य व श्रुतज्ञान से पवित्र है एवं जो पूज्य हैं तथा सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान व सम्यक्चारित्र्यरूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं ।

मैं पुण्य व श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ एकान्तवादियों को परास्त करनेवाले और अपार द्वादशाङ्ग आगम के पारगामी उपाध्याय परमेष्ठियों की पूजा करता हूँ ॥ ३० ॥

साधु-पूजा

मैं विशेष पूज्य और ऐसे सर्वसाधु परमेष्ठि की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जो मोक्षोपयोगी जीवादि तत्त्वों के ज्ञाता हैं । जिन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर चारित्र्य-पालनरूपी एवं मन, वचन व काम की विशुद्धिरूपी गङ्गागद्दी के प्रवाह द्वारा कामदेवरूपी वृक्ष के गुटुम्ब का विस्तार जड़मूल से उखाड़कर फेंक दिया है । जिन्होंने

१. संसाराटवी । २. अवलोकित । ३. शब्दायमान । ४. वस्तुमायात्म्यप्रतिपत्तिहेतु प्रमाण । ५. प्रमाणपरिगृहीतार्थेकदेश-निरूपणप्रवर्णनयः । ६. अवदन्तकल्पयोग्यतास्वरूपैर्वस्तुव्यवस्थापनहेतुनिक्षेपः । ७. सामान्यविशेषाभ्यामवक्षेपपदार्था-वगमाश्रमः अनुयोगः । ८. अवगाहनं विमर्शनम् । ९. प्रयोगः शास्त्रार्थज्ञापनं वचनं । १०. 'वाचोयुक्तिः पदवर्त्तनी' इति टि० ख०, यत्र० पञ्चिकाकारस्तु 'शास्त्रपरिज्ञानस्य मुखसूचितत्वं वाग्विस्त्वम् । तदुक्तं—पुरतः प्रशमितमिवालिखित-मिथ मनोनिपिकमिव हृदये गृष्टं ? (प्रविष्टं) यस्य शास्त्रं स सर्वं ज्ञाता तदर्थस्य पातु वो निकषप्राप्तो' इत्यचीकथत् । ११. तार्किकः सिद्धान्तज्ञाता । १२. अचः पतित । १३. उप समीपे अयः शुभावहो विविर्त्यस्य सः उपायः पुण्यमित्यर्थः पुण्यार्थं श्रुगार्थं च । १४. ज्ञाततत्त्वस्य । १५. मनोवाक्याय । १६. गंगा ।

कुटुम्बाङ्गम्बरस्य अमराङ्गरचरनरनितम्बिनी ^१ कदम्बनवप्राप्तुं तमदन ^२ मदमकरन्ददुदिन * विनोदारविन्द ^३ चन्द्रायमाणोचितो -
दितत्रतत्राता ^४ पक्षिता ^५ र्वाचीनचरित्रच्युतविरञ्ज ^६ विरो ^७ चनावि ^८ र्वाधानसरसस्य ^९ अनेकशस्त्रभुवनकोभविधाविभिर्म्यनि-
र्घ्याविभूतविश्वकप्रसू ^{१०} हृद्यहैरनन्यजनसामान्यवृत्तिभिर्मनो गोचराति ^{११} चरैराश्चर्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्लोक-
त्तरगुणग्रामणीभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैर्हिकमुखासाम्राज्यवरप्रधानावहिता ^{१२} यातावधीरित * विस्मितोपनतवनदेवतालकालि
कूलविलुप्यमानचरणसरसिहृपरागस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सर्वसाधुपरमेष्ठिनोऽष्टतयीनिष्ठि
करोमोति स्वाहा ।

अपि च । बोधापगाप्रवाहेण विध्यासानङ्गवह्नयः । * विध्याराध्याङ्गप्रयः सन्तु साध्यबोध्यौ ^{१३} साधवः ॥ ३१ ॥

ॐ जितजिनापमजिमधर्मजिनोक्तजीवावितत्त्वा ^{१४} अवधारणद्वयविजृम्भित ^{१५} निरतिशयाभिनिवेशाविष्ठानासु ^{१६} -
प्रकाशितशङ्का ^{१७} प्राकाम्या ^{१८} अवह्लादन ^{१९} कु ^{२०} मतातिशयोद्धारासु ^{२१} प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यस्तम्भसंभूतासु

ऐसे विद्युद्ध चारित्र-समूह द्वारा नवीन चारित्र से च्युत हुए ब्रह्मा व विरोचन (तपस्वी विशेष) आदि तपस्वियों का ध्यान तिरस्कृत किया है, जो कि (चारित्र-समूह) देवाङ्गना, विद्याधरो व मानवों को कमनीय कामिनी-समूह-रूपी तड़ाग में उत्पन्न हुए काममदरूपी मकरन्दवाले दुदिन (मेधाच्छन्न दिन) की क्रीडारूपी कमलों को चन्द्र-सा आवरण करनेवाला है, अर्थात्—संकुचित करनेवाला है । अनेक बार तीनों लोकों की क्षोभित कर देनेवाले, धर्मध्यान को निश्चायता से समस्त विद्वानों के समूह को नष्ट करनेवाले, सर्व साधारण मानवों द्वारा अशक्य प्रवृत्तिवाले, मन से चिन्तवन के लिए अणक्य, आश्चर्य व प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पृथिवी-सरीखे, मूलगुण व उत्तरगुणों की प्रमुखतावाले नानाप्रकार के तपों के अभ्यासों से (क्षुभित—प्रतुष्ट होकर) समस्त इस लोक राज्यों मुख-साम्राज्यरूप वर देने के लिए सावधान होकर आये हुए, परन्तु तिरस्कृत होनेपर आश्चर्या-न्वित व नष्टीभूत हुए वन-देवताओं के केश-समूह-रूपी भ्रमर-समूह द्वारा, जिनके चरणकमलों का पराग विलुप्त कर दिया गया है और जिनकी आत्मा मोक्ष-मार्ग में थडाला है और जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से विभूषित है ।

जिन्होंने सम्यग्शानरूपी नवी के प्रवाह द्वारा कामरूपी अग्नि बुझा दी है, और जिनके चरण पूजा विधि से पूजनीय हैं, वे साधु केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए होंगे ॥ ३१ ॥

सम्यग्दर्शन-पूजा

में संसाररूपी वृक्ष को काटने में प्रथम कारण, समस्त कल्याणों के कर्ता व पंचपरमेष्ठों का अग्रेसर करनेवाले भगवान् सम्यग्दर्शनरूपीरत्न की अष्ट द्रव्यों से पूजा करता है । जिसने (सम्यग्दर्शन ने) पुण्यशाली

१. स्त्रीसमूहहृत् तयोत्पन्न । २. काम । * आच्छादित, क्रीडा एव कमलं । ३. कमलसंकोचकारकः कामविध्वंसकः इति भावः । ४. ज्ञातः समूहः । ५. तिरस्कृतब्रह्मादयः । * अवर्गभवं । ६. ब्रह्मा । ७. ऋषिनाम । ८. तपस । ९. ध्यानाध्यस्य । १०. प्रसूतो विज्जः । ११. अगम्यैः । १२. सावधान । * 'अवधारित' ग० । विमर्श—मु० प्रति का 'अवधीरित' पाठ सही प्रतीत होता है—सम्पादक । * पूजाविधिना आराध्याः अङ्घ्र्यश्चरणाः शेषाः । १३. साध्यो बोध्यः आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्यं केवलज्ञानं तत्तमं । १४. अवधारणद्वयमयोग्यवच्छेदान्ययो-गव्यवच्छेदः, जिनो देव एव, जिन एव देवः इत्यादि । १५. सर्वेषां सम्यग्दर्शनाभिमिश्रयाः परिणामाः समानाः सदृशा एव भवन्ति न तु न्यूनाधिकाः । १६-१७. प्रकटित-निष्काशितशल्यासु, प्रासादभूमिशोधनेऽपि अस्थ्यादि निष्काश्यते, निःशङ्कितगुण । १८. प्राकाम्यमाकाङ्क्षा । १९. अवह्लादनं विचिकित्सा । २०. मूढदृष्टिः एतानि शल्यानि । २१. प्रायः भूमिशोधने अस्थ्यादिकं निष्काश्यते ।

ॐ यन्निजिलभुवन^१ तार्तोपलोचनम्, आत्महिताहितविवेकयापात्मावबोधसमासावितसमीचीनभावम्, अधि-
गमजसम्यक्त्वरस्तोत्पत्तिस्थानम्, ^२अखिलास्वपि वशात् क्षेत्रज्ञत्वभावसांभ्राज्यपरमलाञ्छनम्, अपि च 'यस्मिन्नि-
धानीमपि' ^३'नवीस्तातचेतोभिः' ^४'सम्यगुपाहितोपयोगसंमार्जने' ^५'धूमणिमणिवर्पण इव साक्षादभवन्ति' ते ते 'भार्व-
कसंप्रत्ययाः' ^६'स्यभावक्षेत्रसमग्रविप्रकषिणोऽपि भावास्तास्यात्मलाभनिबन्धनो' ^७'भयहेतुविहितविचित्रपरिणतिभिर्मतिधृता-
वधिवनःपर्ययकेवलः पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्न-
स्याष्टतयीनिर्गट करोमीति स्थाहा ।

अपि च । नेत्रं हिताहितालोके धूयं धोसौधसाधने । पात्रं पूजाविधेः कुर्वे क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ ३३ ॥

युक्ति (दर्शनशास्त्र) लक्ष्मीरूपी लता को वृद्धिमत करने के लिए जल है एवं जो सांसारिक भोगरूपी चिन्ता-
मणि को देनेवाला है ॥ ३२ ॥

सम्यग्ज्ञान-पूजा

जो समस्त लोक को जानने के लिए तीसरा नेत्र है । आत्मा के हिताहित के विवेक के यथार्थ जानने से ही जिसे समीचीनता प्राप्त हुई है, जो अधिगमज सम्यग्दर्शनरूप रत्न की उत्पत्ति का स्थान है। क्योंकि अधिगमज सम्यक्त्व में परोपदेश की अपेक्षा होती है । जो आत्मा को समस्त पर्यायों (नरक व एकेन्द्रियादि) में भी आत्मा के स्वभाव रूप साम्राज्य का प्रदर्शन चिह्न है, अर्थात्—अनेक नर व नरक-आदि पर्यायों को धारण करता हुआ यह आत्मा जिस प्रधान चिह्न के कारण अपने ज्ञान स्वभावरूप साम्राज्य वाला कहा जाता है । इसकी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि केवल केवलियों के तीर्थ में ही नहीं, अपितु इस समय में भी सरस्वती-रूपी नदी में स्नान करने से जिनके चित्त निर्मल हो गए हैं ऐसे विद्वानों द्वारा आरोपित अभ्यास से अपने उप-योग को विदुद्ध कर लेने पर उनके केवलज्ञान में सूर्यकान्तमणि के दर्पण की तरह स्वभाव से सूक्ष्म परमाणु-आदि व क्षेत्र से दूरवर्ती-सुमेरु-आदि और काल से दूरवर्ती राम-रावण-आदि स्वात्मा द्वारा अनुभव करने-योग्य पदार्थ प्रत्यक्षगोचर प्रतीत होते हैं । वह ज्ञान यद्यपि एक है, किन्तु अपनी उत्पत्ति के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग-कारणों से होनेवाली विचित्र परिणति के द्वारा मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय व केवलज्ञान के भेद से उसकी पाँच अवस्थाएँ (भेद) हो गई हैं, उस समस्त कल्याणों का कर्ता और पंच परमेष्ठी को अग्रेसर करनेवाले (क्योंकि पंचपरमेष्ठी का स्वरूप जाने बिना सम्यग्ज्ञान उदित नहीं होता) भगवान् (पूज्य) सम्यग्ज्ञान की आठ द्रव्यों से पूजा करता है ।

मैं ऐसे सम्यग्ज्ञान को पूजाविधि का पात्र करता हूँ, अर्थात्—उसकी पूजा करता हूँ, जो कि आत्मिक हित और अहित को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है और जो बुद्धिरूपी महल के निर्माण करने के लिए बड़ी है एवं जो लक्ष्मी के समागम कराने का स्थान है ॥ ३३ ॥

१. तृतीय । २. नरक, एकेन्द्रियादिपु । ३. जाने । ४. व केवलं केवलितं तीर्थे । ५. सरस्वत्यां स्नातचित्तै-
विद्वद्भिः । ६. आरोपिताभ्यासेन कृतोप्यले केनैदीस्तातचित्तैर्नरैः । ७. सूर्यकान्तमुकुरे । ८. जीवादि-
पदार्थाः । ९. स्वात्मानुभवनीयाः । १०. केचन भावाःस्वभावेन दूराः, केचन क्षेत्रापेक्षया दूराः, केचन कालापेक्षया
दूरतराः तस्य सम्यग्ज्ञानस्य । ११. 'मतेरन्तरङ्गो हेतुः क्षयोपशमः, बाह्यं तदिन्द्रियानिन्द्रियं । श्रुतस्यान्तरङ्गं क्षयोपशमः
बाह्यमनिन्द्रियं । अवधेर्बाह्यं भवप्रत्ययः, मनःपर्ययस्य बाह्यं क्षेत्रादिकं, अन्तरङ्गं क्षयोपशमः, अवधेश्चापि क्षयोपशम-
मन्तरङ्गं । केवलज्ञानस्य बाह्यं मानुष्यं, अन्तरङ्गं कर्मणां क्षयः' । इति टि० ख० प० ।

४० यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिध्वन्यकारविध्वंसनम्, १ अतद्वद्विद्यामन्त्राकिनीनिधानं देविनीधरम्^१, अशेषसत्त्वोत्सवानन्दबन्धोदयम्, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयम्^२, अनल्पफलप्रदायितपःकल्पद्रुमप्रसव-भूमिम्^३ सनयोपशमसौमनस्यवृत्तिर्धर्मप्रधानं रनुष्ठीयमानमुशान्तिं सखीधनाः परमपदप्राप्तैः प्रथममिव सोपानम्, तस्य पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमातिशयावसानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चारित्र्य-रत्नस्याष्टतयोर्मिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अधिष्ठ । *धर्मं योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिभयाजने । शर्मकृतसर्वसत्त्वानां धर्मधीवृत्तमाधये ॥ ३४ ॥

जिनसिद्धसूरिवेशकसाधुध्यानबोधवृत्तानाम् । कृत्वाष्टतयोर्मिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ ३५ ॥

तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः अज्ञानमुक्तं जिनं रेतद्विनिश्चयप्रभेदविषयं व्यक्तं^४ चतुर्भुजं ।

अष्टाङ्गं भुवनत्रयाचितमिवं मूर्धरपोढं त्रिभिर्दिवत्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥ ३६ ॥

सम्यक्चारित्र्य-पूजा

जो समस्त लोक और अलोक के देखने व जानने में रुकावट डालनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकार को विध्वंस करनेवाला है, जो केवलज्ञानरूपी गङ्गा का उत्पादक कारण हिमाचल है । अर्थात्—जैसे हिमाचल से गङ्गा निकलती है वैसे ही चारित्र्य की आराधना से केवलज्ञान प्रकट होता है । जो समस्त प्राणियों के उत्सवों (आनन्दों) की वृद्धि के लिए चन्द्र के उदय-सा है । अर्थात्—जिस प्रकार चन्द्र के उदय से समुद्र वृद्धिगत होता है उसी प्रकार चारित्र्य की आराधना से समस्त प्राणियों के आनन्द की वृद्धि होती है । जो समस्त व्रत, गुप्ति व समितिरूपी लताओं के बगीचे के लिए वसन्त ऋतु के समान है । जो प्रचुर फलदायक तपरूपी कल्प-वृक्ष की उत्पत्ति भूमि है । जो गर्व का अभाव, कषायों का क्षय, विशुद्ध चित्तवृत्ति व धीरता की प्रमुखतावाले महात्माओं द्वारा धारण किया जाता है । प्रशस्त वृद्धिरूपी धनवाले महात्मा ऐसे चारित्र्य को मोक्षपद की प्राप्ति का प्रथम सोपान- (सीढ़ी) सरोखा कहते हैं । जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यात चारित्र्य के भेद से अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप व वीर्याचार के भेद से पांच प्रकार का है । और जिसके अन्त में मन, वचन व काय के व्यापार का क्षय वर्तमान है, उस समस्त कल्याणों के कर्ता और पञ्चपरमेष्ठो की प्रमुखतावाले भगवान् सम्यक्चारित्र्य की आठ द्रव्यों से पूजा करता है ।

धर्म में वृद्धि रखनेवाला मैं ऐसे सम्यक्चारित्र्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ जो कि कर्मरूपी जन्तुओं पर विजयधरो प्राप्त करने में महामुनिरूपी राजा का धनुष है एवं जो समस्त प्राणियों के लिए सुखदायक है ॥ ३४ ॥

इसप्रकार अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्यकी अष्ट द्रव्य से पूजन करके मैं इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥ ३५ ॥

सम्यग्दर्शन की भक्ति

हे जिनेन्द्र ! मैं संसाररूपी लता की वृद्धि को समाप्त करने का उत्सववाले व तीन लोक द्वारा पूजित

१. केवलज्ञानं । २. कारणं । ३. हिमाचलं धोवनाः उशान्तिं कथयन्ति । ४. धसन्तं । ५. अगर्वं । ६. पञ्चतयात्मनः सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्र्यभेदेन । ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवीर्याचारभेदेन ।
७. मनोवचःकायव्यापारक्षयपर्यन्तस्य । * 'धर्म' इति ष० । ८. महामुनि । ९. निसर्गाधिगम, उपशम-क्षायिक-मित्र, आज्ञामार्गादि । १०. उपशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिष्य ।

ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि संविन्वता । वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिवः ।
एषा येषु न विद्यते तव वचःश्रद्धावयानोद्धरा नृपकर्माङ्गु रकुञ्ज^१ वज्रवहनद्योतावदाता रुचिः ॥ ३७ ॥
संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसम्प्राप्तलक्ष्मीवन प्रोल्लासामृतवारिवाहमखिलव्रतोप्यचिन्तामणिम् ।

कल्याणाम्बुजक्षण्डसंभवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृती यो घत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गधियः ॥ ३८ ॥

(इति दर्शनभक्तिः)

^२अत्यल्पायतिरसजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः^३ सादृश्यः स्वविदेव योगिनि स च स्वल्पो मनः पर्ययः ।
द्रुमप्रापं पुनरस्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं माहात्म्यं निखिलार्थमे तु सुलभं किं वर्णयामः श्रुते ॥ ३९ ॥

यदेवः शिरसा धृतं गणधरैः कर्णवत्तंसीकृतं न्यस्तं चेतसि योगिभिरुपवरेराध्यातसारं पुनः ।

हस्ते वृष्टिपथे मुखे च निहितं विद्याधराधीश्वरैस्तत्समादावसरोद्धं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥ ४० ॥

सम्यग्दर्शन को चित्त में धारण करता है । जिनेन्द्रों ने जीवादि मात तत्त्वों में इस विशुद्ध मन की उत्कृष्ट रुचि को सम्यग्दर्शन कहा है, जिसके निसर्गज व अधिगमज दो भेद हैं एवं औपशमिक धार्मिक व दायोपशमिक ये तीन भेद हैं तथा आज्ञा व मार्ग-आदि दशभेद हैं । जो प्रज्ञा, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य इन चारों गुणों से पहचाना जाता है । जो निःशङ्कित-आदि आठ अङ्गोंवाला है और जो तीन प्रकार की मूढ़ता से रहित है ॥ ३६ ॥ हे जिनेन्द्र ! जिनकी आपके वचनों में गाढ़ मनोयोग से उत्कट श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो कि (रुचि) पाप कर्मरूपी अङ्कुरों के लतागुहों को भस्म करने के लिए वज्राग्नि की कान्तिसरीखी शुभ्र है, वे चञ्चल बुद्धिवाले चाहे फिरता ही तप करें और चाहे फिरता ही प्रभु के संचय करें अथवा घन वितरण करें, फिर भी प्रायः जन्म-परम्परा का छेदन करनेवाले नहीं हो सकते ॥ ३७ ॥

हे प्रभो ! जो पुण्यवान् पुरुष ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को अपने हृदय में धारण कर ता है, उसे स्वर्ग और मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति सुलभ है, जो कि संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए पुल के बन्धन-सरीखा है । जो क्रम से उत्पन्न होनेवाले लक्ष्मों के उपवन को विकसित करने के लिए अमृत भरे मेघों-सरीखा है और जो समस्त तीन लोक के प्राणियों को चिन्तामणि-सा है एवं जो कल्याणरूपी कमल-समूह की उत्पत्ति के लिए तट्टाग-सरीखा है ॥ ३८ ॥

सम्यग्ज्ञान की भक्ति

इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान स्वल्प व्यापारवाला है, अर्थात्—बहुत थोड़े पदार्थों को विषय करता है । अर्वाधिज्ञान भी मर्यादा-सहित है, अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर केवल रूपी पदार्थों की ही विषय करने के कारण सीमित है । मनः पर्यय का भी विषय थोड़ा है और वह भी किसी विशिष्ट योगी में ही उत्पन्न होता है, अतः आश्चर्यजनक है । केवलज्ञान महान् है, किन्तु उसकी प्राप्ति इस पंचमकाल में दुर्लभ है । वह तो पूज्य महापुरुषों के कथानकों का विषय रह गया है । एक श्रुतज्ञान हो ऐसा है, जो समस्त पदार्थों को विषय करता है और सुलभ भी है, उसको हम क्या प्रशंसा करें ॥ ३९ ॥ ऐसा स्याद्वाद (अनेकान्त) श्रुतरूपी कमल मेरे मनरूपी हंस की प्रसन्नता के लिए हो, जिसे जिनेन्द्रदेव ने शिर पर धारण किया था, गणधरों द्वारा जो कर्णभूषण किया गया, जो महामुनियों द्वारा अपने चित्त में स्थापित किया गया और राजाओं में श्रेष्ठों के द्वारा जिसका सार सूँघा गया है एवं विद्याधरों के स्वामियों ने जिसे अपने हाथों पर स्थापित किया एवं नेत्र गोचर किया तथा मुख में स्थापित किया ॥ ४० ॥

१. वज्राग्निः । २. 'अल्पदृष्ट्या' टि० ख०, गङ्गिकाकारस्तु 'अत्यल्पायति स्वल्पव्यापारा' इत्याह । ३. समर्यादः ।

मिथ्यातमः पटलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।

तत्तत्त्वभावमनाः प्रणमामि नित्यं त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ॥ ४१ ॥ (इति ज्ञानभक्तिः)

ज्ञानं दुर्भगवेहमण्डनमिव स्यात्स्वयं खेदावहं धत्ते साधु न तत्फलभिद्यमयं सम्यक्स्वरत्नाङ्कुरः ।

कामं देव यद्यन्तरेण विकलास्तास्तास्तपोभूमयस्तस्मै त्वक्चरिताय संयमवमध्यानादिषाम्भे नमः ॥ ४२ ॥

यच्चिन्तामणिरोपिसेषु वसतिः सौख्यसौभाग्ययोः श्रीपाणिग्रहकोतुकं कुलबलारोग्यागमे संगमः ।

यत्पूर्वश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये ॥ ४३ ॥

हस्ते स्वर्गसुखान्यतः कृतभवास्ताऽन्यत्रवर्तिभ्यो देवाः पादतले लुठन्ति फलति धीः कामितं सर्वतः ।

कल्याणोत्सवसंपदः पुनरिमास्तस्यावतारालये प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितं जनेः पवित्रं मनः ॥ ४४ ॥

(इति चारित्रभक्तिः)

बोधोऽवधिः^१ श्रुतमशेषनिरूपितार्यमन्तर्बहिःकरणजा सहका मतिस्ते ।

इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो^२ अपेक्षा^३ ॥ ४५ ॥

आगम में कहे हुए तत्त्वों की भावना से युक्त चित्तवाला मैं ऐसे जिनागम के लिए सदा नमस्कार करता हूँ, जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार समूह को नष्ट करने में कारण है, जो स्वर्ग व मोक्षरूपी नगर के मार्ग का ज्ञान करानेवाला है एवं जो तीन लोक का कल्याण करनेवाला है ॥ ४१ ॥

चारित्र-भक्ति

जिस चारित्र के बिना विद्वान् का ज्ञान उस प्रकार उसके लिए खेदजनक होता है जिस प्रकार भाग्यहीन मानव का शरीर पर आभूषण धारण करना खेदजनक होता है और जिसके बिना यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्नाङ्कुर सम्यग्ज्ञानरूपी फल सम्पत्ति को भलो प्रकार धारण नहीं करता एवं जिसके बिना समस्त तपो-भूमियाँ अत्यन्त निष्फल हुईं, हे भगवन् ! आपके उस सम्यक्चारित्र के लिए नमस्कार हो, जो कि संयम, इन्द्रिय-दमन व धर्मध्यान और शुकलध्यान-आदि का स्थान है ॥ ४२ ॥ ऐसे उस अनेक प्रकार के सम्यक्चारित्र के लिए मैं स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ, जो अभिलषित वस्तुओं के प्रदान करने के लिए चिन्तामणि है । जो सौन्दर्य व उत्तम भाग्य का निवास है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ पाणि-ग्रहण करने में कङ्कण-बन्धन है । जो उत्तमकुल, शक्ति व निरोगता का संगमस्थान है । जिसे धर्मध्यान की निधिवाले पूर्वचार्यों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए धारण किया था और जो सामायिक व छेदोपस्थापना-आदि के भेद से पाँच प्रकार का है ॥ ४३ ॥

जिनेन्द्र के चारित्र-धारण से पवित्र मनवाले मानव के लिए स्वर्ग-सुख हस्त-गत हो जाते हैं । चक्रवर्ती की विभूतियाँ बिना विचारे प्राप्त होनेवाली होती हैं, । देवतालोक उसके चरणतल पर लोटते हैं, समस्त दिशाएँ उसके मनोरथ को पूर्ण करती हैं और उस चरित्रवान् की जन्मभूमि में जन्म से पूर्व ही ये गर्भकल्याणक-आदि उत्सव सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

अहन्त-भक्ति

हे जिनेन्द्र ! आपको जन्म से ही अन्तरङ्ग (मन) व बहिरङ्ग (स्पर्शनादि) इन्द्रियों से होनेवाला मतिज्ञान, समस्त जीवादि तत्त्वों को जाननेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है । इस प्रकार स्वतः ही

१. छविनेत्रमजो क्लीबं समूहे पटलं न ना । २. ज्ञान । ३. चारित्र्येण विना । ४. कङ्कणं । ५. हे जिन तव वर्तते ।

६. अन्यतः । ७. वाञ्छा ।

ध्यानावलोकविगलतिमिरप्रताने तां वैव केवलसर्पों धियभाक्ष्याने ।
 आसीत्त्वयि त्रिभुवनं मुहुत्तवाय व्यापारमभ्यर्^१मिर्भकपुरं महाय^२ ॥ ४६ ॥
 छत्रं दधामि किम् चामरमुत्क्षिपामि हेमाम्बुजात्यथ जितस्य पठेऽर्पमाभि ।
 इत्थं मुदामरपतिः स्वयमेव यत्र सेवापरः परमहं किमु वक्षि तत्र ॥ ४७ ॥
 त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वक्षस्ते सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विघ्नश्च ।
 लोकास्तथापि यवि तुष्यति न त्वयोद्वा कर्मास्य तन्नमु रवाविव कीशिकस्य ॥ ४८ ॥
 पुष्पं त्वयोचरणार्चन^३पीठसङ्गाच्छ्रद्धामणी भवति देव जगत्त्रयस्य ।
 अस्पृश्यमन्यजिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुपास्तु^४ रवीश्वराद्यः^५ ॥ ४९ ॥
 मिथ्यामहाग्धसमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगद्भूद्भवगतं पाति ।
 तद्देव^६ दृष्टिद्वयान्जविफासकान्तः स्याद्वाक्शिरसि^७भिरयोद्धतवांस्त्वमेव ॥ ५० ॥
 पादाम्बुजद्वयमिधं तव देव यस्य स्वच्छे मनःसरसि संनिहितं समास्ते ।
 तं धीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥ ५१ ॥ (इत्यर्हःश्रुतिः)

समस्त पदार्थों की विवेक बुद्धिवाले आपको पर की (गुरु-आदि की) सहायता की वाञ्छा ही क्या है ? अर्थात्-
 आपको ज्ञानोत्पत्ति में गुरु-आदि सहायकों की अपेक्षा नहीं होती ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! जब आप शुक्लध्यानरूपी
 प्रकाश द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाले होने से उत्पन्न हुई उस केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को
 धारण करनेवाले हुए तब तीन लोक ने आपको बार-बार पूजा के लिए अपने व्यापार में मन्द होकर (अपना
 कार्य रोककर) एकनगर-सरोखे होकर महान् उत्सव किया । अर्थात्-भगवान् को केवलज्ञान होनेपर उनके
 समवसरण में नर, सुर व पशु-आदि धर्म-श्रवण के लिए आते हैं ॥ ४६ ॥

'मैं प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण करूँ या चमर ढोऊँ अथवा जितेन्द्र के चरणों में स्वर्ण-कमल
 अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ सौधमेन्द्र स्वयं ही प्रमुदित होकर प्रभु की आराधना में तत्पर है, वहाँ मैं क्या
 कहूँ ॥ ४७ ॥ हे स्वामिन् ! तुम समस्त दोषों (क्षुधा-तृषा-आदि अठारह दोषों) से रहित हो । तुम्हारे वचन
 स्याद्वाद (अपेक्षावाद) रूप हैं (विविध दृष्टिकोणों से वस्तु का निश्चय करनेवाले हैं) । तथा तुम्हारे
 द्वारा कही हुई समस्त विधि सभी प्राणियों की रक्षा में तत्पर है, तथापि लोक आपसे सन्तुष्ट नहीं होते, इसका
 कारण उनका मिथ्यात्व कम ही है न कि आप । जिस प्रकार सूर्य के उदित होनेपर उसे उल्लू नहीं देखता,
 इसमें उल्लू का दृष्टि-दोष ही कारण है, न कि सूर्य ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! तुम्हारे चरणों की पूजा का पुष्प-प्रक्षेप
 के आधारभूत आसन (पीड़ा) के संसर्गमात्र से पुष्प, तीनों लोकों के मस्तक का आभूषण हो जाता है, अर्थात्-
 उस पुष्प को सब अपने शिर पर धारण करते हैं । परन्तु दूसरों के शिर पर स्थित हुआ भी पुष्प अस्पृश्य माना
 जाता है । अतः दूसरे सूर्य व रुद्र-आदि देवताओं से तुम्हारी तुलना को कौन कहे ? ॥ ४९ ॥ हे देव ! पहले
 मिथ्यात्वरूपी निविड़ अन्धकार से आच्छादित होने के कारण प्रकृष्ट कर्त्तव्य-ज्ञान से विमुख हुआ यह जगत्
 संसाररूपी गड्ढे में पड़ा हुआ था, उसका तुमने ही नेत्र-कमल व हृदय-कमल को विकसित करने के कारण मनोज्ञ
 स्याद्वाद (अनेकान्त) रूपी रश्मियों (किरणों अथवा आकर्षण की अपेक्षा से रज्जुओं) से उद्धार किया ॥ ५० ॥
 हे देव ! जिसके विशुद्ध मनरूपी स्वच्छ तट्टाग में तुम्हारे दोनों चरणकमल समीप में विराजमान हैं, उसकी

१. मन्द । २. पूजार्थ । ३. चरणागतः यदर्थनपीठं पुष्पप्रक्षेपस्याधारभूतमन्यत् पीठं च वर्तते तस्य संसर्गत् ।
 ४. कथयतु । ५. सूर्यश्रद्धाः । ६. नेत्रकमलं हृदयकमलं च । ७. किरणैः आकर्षणापेक्षया रज्जुभिः ।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण^१ प्रविदितनिखिलज्योत्स्वप्रपञ्चाः प्रोद्भूय ध्यानवातेः सकलमघरजः प्राप्तकैवल्यरूपाः ।
 कृत्वा सत्प्रोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्देतयाप्रोत्सवा ये ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयक्षेत्रपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥ ५२ ॥
 वानज्ञानचरित्रसंयमनयप्रारम्भगर्भं मनः कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि सद्यतः^२ संयम्य पञ्चापि च ।
 पश्चाद्वीतविकल्पजालमखिलं अस्यत्तमःसंततिं दद्यान् तदप्रविधाय ये च मुमुक्षुस्तेभ्योऽपि बहोऽञ्जलिः ॥ ५३ ॥
 इत्थं येऽत्र समुद्रकन्दरसरःक्रीतस्विनीभूतभोद्वीपादिद्रुमकाननादिषु धृतध्यानावधानद्वयः^३ ।
 कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमजुष्टस्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपैस्ते रत्नत्रयमङ्गलानि दधतां भव्येषु रत्नाकराः ॥ ५४ ॥

(इति सिद्धभक्तिः)

^४भौमव्यन्तरमर्त्यमास्करयुरभेणोन्मिमानाथिताः स्वर्गोतिः कुलपर्वतान्तरवरार^५ध्वप्रबन्धस्थितोः ।

वन्दे तत्पुत्रपाळमौलिचितसद्वत्तनप्रवीपाकिताः साम्राज्याय जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्स्वा^६ध्यायिसाध्याकृतोः ॥ ५५ ॥

(इति चैत्यभक्तिः)

लक्ष्मी स्वयं सेवा करती है और स्वर्ग-भोग उत्पन्न करनेवाली यह सरस्वती निश्चित रूप से उसे वरण करती है ॥ ५१ ॥

सिद्ध-भक्ति

ऐसे वे सिद्ध परमेश्वरी तुम्हारी मिद्धि (मुक्ति) के लिए हों, जिन्होंने छद्मस्थ अवस्था में भक्ति, श्रुत व अवधिज्ञान द्वारा समस्त जानने योग्य तत्त्वों को विस्तारपूर्वक जाना । पुनः शुक्लध्यान रूपी वायु के द्वारा समस्त पापरूपी घूल को उड़ाकर केवलज्ञान प्राप्त किया । पश्चात् जिन्होंने प्राणियों का उपकार किया । पुनः तीन लोक के स्वामियों (इन्द्र-आदि) द्वारा जिनका निर्वाण-कल्याणक उत्सव किया गया और जो तीन लोक के अग्रभाररूपी सिद्धपुरी में निवास करनेवाले हैं । अभिप्राय यह है कि इस पद्य में जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए हैं, उन्हें नमस्कार किया गया है ॥ ५२ ॥ ऐसे उन सिद्ध परमेश्वरियों के लिए भो में अञ्जलि (हस्त-संपुट) जोड़ता हूँ, जिन्होंने अपना मन, दान, ज्ञान, चारित्र्य, संयम व नयों के प्रारम्भ में स्थापित करके मन व स्पर्शनादि बाह्य इन्द्रियों का तथा पाँच वायुओं (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) का निरोध किया । फिर ऐसा शुक्लध्यान प्राप्त करके मुक्त हुए, जिसमें राग, द्वेष व मोहादि समस्त विकल्प समूह नष्ट हो चुके हैं और जो अज्ञानरूपी अन्धकार-परम्परा का विध्वंस करनेवाला है । भावार्थ—प्रस्तुत पद्य में जो सामान्य जन सिद्ध हुए हैं, उन्हें नमस्कार किया गया है ॥ ५३ ॥

इसप्रकार समुद्र, गुफा, तडाग, नदी, पृथिवी, आकाश, द्वीप, पर्वत वृक्ष व वन-आदि में लगाये हुए ध्यान की संलग्नतारूपी ऋद्धिवाले होकर जिन्होंने तीनों कालों (भूत भविष्यत् व वर्तमान) में मुक्तिश्री के साथ प्रीतिपूर्वक संगम सेवन किया है, जो तीनों लोकों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं और जो सम्यग्दर्शन-आदि रत्नों को खानि हैं, वे सिद्ध परमेश्वरी भव्य प्राणियों के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यरूपी मङ्गल समर्पण करें ॥ ५४ ॥

चैत्यभक्ति

मैं ऐसी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व सर्वसाधुओं की प्रतिमाओं को स्वर्ग-आदि के साम्राज्य की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ, जो कि भवतवासी व व्यन्तरी के भवनों में, मानवी के भवनों में, सूर्य-

१. छद्मस्थावस्थायां ।

२. द्यतात्—प्राणापानव्यानोदानसमानान् ।

३. ध्यानावधानमेव ऋद्धिर्येषां ।

४. भीमाः भवतवासिनः ।

५. गिरणारादिषु पर्वततलेषु नयनेषु ? ।

६. उपाध्याय ।

समवसरणवासान्मुक्तिलक्ष्मीविलासा^१न्स^२कलसमयनाथा^३न्वाक्यविद्यासनाथान्^४ ।

भक्तनिगल^५विनाशोद्योगयोगकाशा^६भिरुपमगुणभावात्संस्तुयेऽहं क्रियावान्^७ ॥ ५६ ॥

भवबुःखानलशान्ति^८धर्ममृतवर्धजनितजनशान्तिः^९ ।

शिवशर्मास्त्रिशान्तिः^{१०} शान्तिवरः^{११} स्ताग्निजनः शान्तिः ॥ ५७ ॥ (इति शान्तिभक्तिः)

मनोमात्रोचितायापि यः पुण्याय न क्षेप्यते । हताशस्य कथं तस्य कृतार्थाः स्युर्मनोरथाः ॥ ५८ ॥

येषां तृष्णातिमिरभिदुरस्त^{१२}स्वलोकावलोकात्पारेऽवारे^{१३}प्रशमजलधेः सङ्गवार्धेः परेऽस्मिन् ।

बाह्यव्याप्तिप्रसरविधु^{१४}रश्चित्तवृत्तिप्रचार^{१५}स्तेषामर्थाविधिषु भवताहारिपूरः^{१६} धिये वः ॥ ५९ ॥

^{१७}कुराल्ले^{१८}प्रणिधितरणान्तरात्मास्मरेऽस्मिन्नास्ते येषां हृदयसमलं भोवनिस्पन्धवृत्तिः ।

तत्स्वालोकावगमगलित^{१९}ध्वान्तबन्धस्थितोना^{२०}निष्ठितेष्वाभहुमुपनये^{२१}पादयोदचन्दनेन ॥ ६० ॥

और देवों के श्रेणी विमानों में स्थित हैं, जिनका निवास स्वर्ग, ज्योतिषो देव, कुलाचल, पाताललोक, गुफाएँ व गिरनार-आदि पर्वत-तलों में है और जो उन नगर-स्वामियों के मुकुटों पर जड़े हुए रत्नरूपी दीपकों से पूजा गई है ॥ ५५ ॥

पञ्चगुरु-भक्ति

क्रिया में उद्यत हुआ मैं, समवसरण में स्थित हुए अहन्तों की, मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ क्रीडा करने-वाले सिद्धों की, समस्त आगम के स्वामी आचार्यों को व व्याकरण-आदि विद्याओं से सहित उपाध्यायों की तथा ऐसे सर्वसाधुओं की स्तुति करता हूँ, जिनका ध्यानरूप प्रकाश संसाररूपी शृङ्खला को छिन्न-भिन्न करने के उद्योगवाला है एवं जिनमें अनोखे सम्यग्दर्शन-आदि गुण वर्तमान हैं ॥ ५६ ॥

शान्ति-भक्ति

ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान् शान्ति (विघ्न-हरण) करनेवाले हों, जो सांसारिक दुःखरूपी अग्नि को धान्त करनेवाले (बुझाने वाले) हैं, जिन्होंने धर्मरूपी अमृत की वृष्टि द्वारा जनता में शान्ति (शैत्य) उत्पन्न की है व जो मांश-मुख में बाधक कर्मों (ज्ञानावरण-आदि) के आस्रव की शान्ति (क्षय) करनेवाले हैं ॥ ५७ ॥ जो ऐसे पुण्य-संचय के लिए प्रयत्न नहीं करता, जिसकी प्राप्ति में केवल मन की विशुद्धि मात्र ही योग्य है, उस हताश (दीन) मानव के मनोरथ कैसे सफल हो सकते हैं ? ॥ ५८ ॥

आचार्य-भक्ति

उन आचार्यों को पूजाविधि में अर्पित किया गया जल-समूह तुम लोगों को लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए होवे, जिनका चित्तवृत्ति-प्रचार (आत्मा, इन्द्रिय और मन को केन्द्रित करने में कारणीभूत व्यापार—ध्यानादि) तत्त्व-समूह के यथार्थ प्रकाश से तृष्णारूपी अन्धकार का नष्ट करनेवाला है और प्रशमरूपी समुद्र के उस पार (तट) व इस पार में वर्तमान है, अर्थात्—प्रशमरूपी समुद्र के मध्य में ही वर्तमान है एवं जो परिग्रह रूपी समुद्र से उत्तीर्ण (पार) हो चुका है तथा जो बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति के प्रसार से रहित है ॥ ५९ ॥

१. अहन्तः । २. गिडान् । ३. परिपूर्ण । ४. सूरिन् । ५. उपाध्यायान् । ६. शृङ्खला । ७. साधून् । ८. क्रियाराज्यतः । ९. विध्यापनं विध्याति—विध्यातीत्यर्थः । १०. शैत्यं । ११. क्षय । १२. विघ्नहरः । १३-१४. येषां चित्तवृत्तिप्रचारः प्रशमजलधेः पारि गरकूले, अवारे अवाष्कूले च वर्तते, प्रशमसमुद्रमध्ये एव वर्तते इत्यर्थः । सङ्गवार्धेः परिग्रहसमुद्रस्य परे पारे वर्तते तस्मादुत्तीर्ण इत्यर्थः । १५. प्रविशलेषे च विकले विधुरं मुधियो विदुः । १६. आत्मेन्द्रियमनसा व्यासङ्गहेतुर्व्यापारः । १७. समूहः । १८. प्रकर्षे प्राप्ते सति । १९. ध्यानसूर्ये, प्रणिधिः प्रार्थने चरे अवधानेऽपि । २०. ध्वान्तस्याज्ञानस्य प्रबन्धः समूहः तस्य स्थितिः । २१. पूजा । २२. परिकल्पयामि ।

येषामन्तस्तवमृतरसास्वाद्यमन्वप्रचारे^१ क्षेत्राधीशो विगतनिहितारम्भसंभोगमात्रः ।
 प्रामोऽक्षाणामुबुधित^२ इवाभाति योगीश्वराणां कुर्मस्तेषां कलमसदकैः^३ पूजनं निर्ममाणाम्^४ ॥ ६१ ॥
 'देहारा'मेऽयुपरतधियः सर्वहन्त्यज्ञानेयैर्वा^५ सुमिस्म^६ पविन्दिता सदाधामावृताग्नेः ।
 आत्मात्मोयानुगमविगमाद्वृत्तयः शुद्धबोधास्तेषां पुष्पंचरणकमलान्यर्चयेयं शिवाय ॥ ६२ ॥
 येषामङ्गो मलयजरसैः संगमः कर्बुर्भवा स्त्रीभिर्बोर्कैः^७ पितृवत्तृप्तिताम्रस्मभिर्वा समानः ।
 मित्रे शत्रावपि च विषये^८ निस्तरङ्गो^९ऽनुपङ्ग^{१०} स्तेषां पूजाव्यतिकरविषावस्तु भूयं हविवः^{११} ॥ ६३ ॥
 योगाभोगाचरणचतुरे^{१२} दीर्णकवर्षेषु^{१३} स्वान्ते ध्वान्तोद्धरणसन्नि^{१४}धे ज्योतिरन्मेव^{१५} भाजि ।
^{१६}संभवेतामृतभूत इव क्षेत्रनाथोऽन्तरुच्यैषां तेषु क्रमपरिचयात्स्याच्छिद्ये चः प्रबोधः ॥ ६४ ॥

विशुद्ध आत्मारूपी आकाश में धर्मध्यानरूपी सूर्य प्रकर्ष का प्राप्त हो जाने पर जिनका हृदय कमल हर्ष से निश्चलता प्राप्त करता है, अर्थात्—आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता है और तत्त्वदर्शन व तत्त्वज्ञान से जिनके अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को स्थिति नष्ट हो चुकी है, उनके चरणों की चन्दन से पूजा करता है ॥ ६० ॥

हम ममत्व-रहित ऐसे आचार्यों की अक्षतों (धान्य तण्डुलों) से पूजा करते हैं, जिनकी आत्माज, अध्यात्मरूपी अमृतरस के पान करने से बाह्य अनात्मीय पदार्थों में मन्द गतिवाली हो जाने पर जिनका इन्द्रिय-समूह, जिससे समस्त आरम्भ व काम-क्रोड़ा नष्ट हो चुकी है, अजड़ हुआ-सरीखा शोभायमान हो रहा है ॥ ६१ ॥ मैं ऐसे आचार्यों के चरणकमलों को मोक्ष प्राप्ति के लिए पुष्पों से पूजा करता हूँ, समस्त संकल्पों (कामनाओं) के शान्त हो जाने से जो शरीररूपी परिग्रह में भी विरक्त बुद्धिवाले हैं, मोक्षस्थानरूपी अमृत की प्राप्ति हो जाने से जिनकी क्षुधा व तृष्णा-आदि की पीड़ा का सहन गर्व-रहित है और आत्मा में भी अपनेपन की भावना की उत्पत्ति के नष्ट हो जाने से जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध बुद्धि वाली हो गई हैं ॥ ६२ ॥ ऐसे उन आचार्यों की पूजा की उत्सव विधि में अर्पण किया हुआ नेत्रेण तुम्हारी विभूति के लिए हो, जिन्हें अपने शरीर पर लगाया गया भल्यागिर चन्दन का लेप अथवा कीचड़ों का लेप एक सरीखा है, अर्थात्—क्रम से हर्ष व विषाद के लिए नहीं है व जिन्हें स्त्रियों के विलास या श्मशान भूमि की चिता की राख समान है एवं मित्र व शत्रु के दृष्टिगोचर होने पर जिनका आशय कल्लोल-रहित (राग-द्वेष-शून्य) है, अर्थात्—जो मित्र से अनुराग व शत्रु से द्वेष नहीं करते ॥ ६३ ॥

जिनका मन जब ऐसा विशुद्ध हो जाता है, जो कि विस्तृत योगों (ध्यानों) के पालन करने में प्रवीण है और कामदेव का गर्व विदीर्ण करनेवाला है एवं अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने में तत्पर है; क्योंकि उसमें ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न हो चुकी है, तब जिनकी अन्तरात्मा अमृतरस से भरी हुई-सी या चन्द्र-सी विशेष आनन्दित होती है, उनके चरणों की पूजा के लिए अर्पित किया गया दीप तुम्हारी श्री-बुद्धि के लिए हो ॥ ६४ ॥

१. क्षेत्राधीशे । २. उदस इव । ३. 'अशर्तः' टि० ख० 'सदकास्तण्डुलाः' इति पं० । ४. ममत्वरहितानां । ५. आरामः परिग्रहः । ६. 'देहारा'मे' इति ग० । ७. 'ऊर्मिः पीडाजबोत्कण्ठा भङ्गप्रकाशयोचिषु क्षुत्पिपासादिपीडा' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'ऊर्मयः क्षुत्पिपासादयः' इत्याह । ८. गर्व । ९. विलासः । १०. इन्द्रियगोचरः । ११. निष्कल्लोलः । १२. 'संगतिः' इति टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'अनुपङ्गः आशयः' इति प्रोक्तं । १३. नेत्रेण । १४. विदारित । १५. समीपे । १६. प्रादुर्भाव । १७. हर्षेत ।

येषां 'ध्येयाशयकुवलयानन्दचन्द्रोदयानां बोधाभ्योविः' प्रमदस्तिलैर्माति नारमावकाशे ।
 ललत्राप्येतामखिलमूर्धनैर्ध्वजलक्ष्मीं निरीहं चेतस्तेषामयमपवित्री^१ ध्वजसे वोऽस्तु धूपः ॥६५॥
 'चित्ते चित्ते विधाति करणेष्वन्तरात्मस्थितेषु' 'स्रोतः स्यूते' बहिरल्लिलतो व्याप्तिशून्ये^२ च पुंसि ।
 येषां व्योतिः किमपि परमानन्दसंदर्भे^३ गर्भे^४ जन्मच्छेदि प्रभवति^५ फलेस्तेषु कुम्भः सपर्याम् ॥६६॥
 वादेवतावर द्वायमुपासकानामागामि^६ 'तत्फलविधाविध पुण्यपुञ्जः ।
 लक्ष्मीकटाक्ष'^७ 'मधुपागमनैकहेतुः पुष्पाञ्जलिर्भवतु तत्चरणार्चनेन ॥६७॥ (इत्याचार्यभक्तिः)
 इष्टमुपासकाध्ययने समयसमाचारविधिनाम पञ्चविंशतमः कल्पः ।
 इदानीं ये^८ 'कृतप्रतिभापरिग्रहास्तान्प्रति स्नापमार्चनस्तथजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधौन् षट् श्रोवाहरिण्यामः ।

तथाहि—

श्रीकेतनं वाग्वनितानियासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम् । स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिधकाध्ययमाधयामि ॥६८॥
 भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः^९ 'पुण्यामृतेन च तनो नितरां पवित्रः ।
 शोमण्डपे विविधवस्तुविभूयितायां वेश्या जिनस्य^{१०} 'सर्वनं विविधतनोमि ॥६९॥

ऐसे उन आचार्यों की पूजा में अर्पण किया हुआ धूप आप लोगों के कल्याण के लिए हो, जो मध्यजनरूपी कुवलय (नीलकमल व पद्मान्तर में पृथिवी-पाङ्कज) की आनन्दित या जिक्रित करने के लिए चन्द्रमा के उदय सरीखे हैं, जिनका ज्ञानरूपी समुद्र हर्षरूपी जल राशि से आत्मारूपी स्थान में नहीं समाता एवं समस्त लोक की ऐश्वर्य लक्ष्मी प्राप्त करके भी जिनका चित्त निस्पृह (लालसा-शून्य) है ॥६५॥ हम ऐसे उन आचार्यों की फलों से पूजा करते हैं, जिनकी चित्तवृत्ति, जब चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन हो जाता है और जिनकी समस्त इन्द्रियां जब अन्तरात्मा में लीन हो जाती हैं एवं इन्द्रियों के प्रवाह वाली आत्मा जब अविच्छिन्नता से समस्त बाह्य प्रपंचों से रहित हो जाती है तब जिन्हें ऐसी कोई अनिर्वचनीय ज्ञानज्वालि उत्पन्न होती है, जिसके मध्य में उत्कृष्ट आनन्द की सृष्टि है, और जो जन्म-परम्परा के छेदन करने में समर्थ होती है ॥ ६६ ॥ ऐसी यह पुष्पाञ्जलि उस आचार्य के चरणों की पूजा करने से ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—यह सरस्वती देवी का वरदान ही है और मानों—यह भविष्य में प्राप्त होनेवाले पूजा के फल के लिए पुण्य-समूह ही है, श्रावकों की लक्ष्मी के कटाक्षरूपी भ्रमरों के आगमन का कारण हो ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में पूजा विधि का बतलानेवाला पैतीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

अब हम जिनविम्ब की पूजा की प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकों को उद्देश्य करके अभिषेक, पूजन, स्तुति, जप, ध्यान व श्रुतदेवता की आराधना इन छह विधियों को कहेंगे—

अभिषेक विधि

मैं ऐसे जितेन्द्रदेव के अभिषेक के गृह (जिनमन्दिर) में प्रविष्ट होता हूँ, जो लक्ष्मी देवी का गृह है, श्रुतदेवता का निवास-स्थान है व देवपूजादि करनेवाले श्रावकों के पुण्यार्जन का खेल है तथा स्वर्ग व मोक्षप्राप्ति का मुख्य कारण है ॥ ६८ ॥ मैं विशुद्ध परिणामरूपी जल से अपनी मानसिक शुद्धि प्राप्त करके और पवित्र जल

१. ध्येयाशयः भव्यजनः । २. हर्ष । ३. पूजायां । ४. आत्मनि चैतन्यरूपे । ५-७. स्रोतः प्रवाहेन्द्रिययोः अविच्छिन्नतया बाह्यप्रपञ्चरहिते पुंसि । ८. रचना । ९. उत्पद्यते ज्योतिः । १०. पूजा । ११. कटाक्षाः एव भ्रमराः । १२. जिनविम्ब । १३. पवित्रजलेन । १४. 'सर्वः अभिषेकः' इति पञ्जिकाकारः ।

‘उच्यते मुखाः स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् । पूजाशब्दं भवन्नित्यं यमो वाचंयमक्रियः ॥७०॥
 ‘प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम् । पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥७१॥
 यः श्रोत्रमपघोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो येनेवं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कृतंते ।
 यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना यस्मिन्नर्थ भवाश्रयो व्यतिकरस्तत्स्वार्थं स्थापनम् ॥७२॥
 ‘द्योतोपलेपवपुषो न मत्मानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुतः ‘परोऽर्घ्यः’ ।
 मोक्षामृते धृतधियस्तव पैथ^१ कामः स्नानं ततः ‘कमुपकारमिवं तनोतु ॥७३॥
 तथापि स्वस्य पुण्यायं प्रस्तुषेऽभिययं तव । को माम् सूपकारार्थं फलाभीं बिहृतोद्यमः ॥७४॥

(इति प्रस्तावना)

‘स्तान्भुभिः ‘कुशकृशानुभिरात्’ ‘गृहीतौ सुमी भुनक्तुमपनीनमृतैरुपास्य’^२ ।
 कुर्मः ‘प्रजापतिमिकेतनविद्भुजानि ब्रूक्षितप्रसवदर्भविबभितानि’^३ ॥७५॥

द्वारा शरीर में अत्यन्त पवित्र होकर अर्थात्—सकलीकरण व अङ्गन्यास करके श्रीमण्डप में अष्ट मङ्गल द्रव्यों (छत्र व चमर-आदि) से अलङ्कृत हुई वेदी पर श्री जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक यथाविधि विस्तारित करता है ॥ ६९ ॥ ऐसी प्रतिज्ञा करके पूजा करनेवाला श्रावक स्वयं उत्तर दिशा की ओर मुँह करके खड़ा हो और जिनबिम्ब का मुख पूर्व दिशा की ओर करके स्थापित करे एवं पूजा के समय सदा शंयमी (प्राणि-रक्षा करने वाला और इन्द्रियों को काबू में करनेवाला) और मौन रखनेवाला, अर्थात्—पूजा-मन्त्रों के उच्चारण के सिवा दूसरों से भाषण न करनेवाला होवे ॥ ७० ॥

देवपूजा के छह विधि-विधान हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, संनिधापन, पूजा और पूजाफल ॥७१॥

प्रस्तावना

मैं उस जिनेन्द्रदेव का अभिषेक प्रारम्भ करता हूँ, जो लक्ष्मी के जन्म के लिए समुद्र-सरीखे हैं, जिसे योगीजन अपने मन में चिन्तन करते हैं, जिसके द्वारा यह समस्त लोक स्वामी-युक्त है, जिसके लिए समस्त देव-समूह नमस्कार करते हैं, जिससे द्वादशाङ्ग श्रुत का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी प्रसन्नता से मानव पुण्यशाली होते हैं और जिसमें संसार का कारण कर्म-संबंध (राग, द्वेष व मोहादि) नहीं है ॥७२॥ हे प्रभो ! आपके शरीर से आगन्तुक मल के नष्ट हो जाने से आपका मेल से कोई संबंध नहीं है, तीन लोक द्वारा पूजनीय चरण-कमल-वाले आपके दधि व दुग्ध-आदि प्रमुख पदार्थ पूज्यता के पात्र पवित्र किस प्रकार हो सकते हैं । इसी प्रकार मोक्षरूपी अमृत में स्थापित की हुई बुद्धिवाले आपमें जब किसी प्रकार की वाञ्छा नहीं है तब यह अभिषेक आपका क्या उपकार कर सकता है ? ॥ ७३ ॥ तथापि मैं अपने पुण्य-संचय के लिए आपका अभिषेक आरम्भ करता हूँ; क्योंकि कौन धान्य-आदि फल का इच्छुक मानव धान्य-आदि वपञ्जनों के लिए अपना प्रयत्न नष्ट करनेवाला होगा ? ॥ ७४ ॥

[इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ । आगे पुराकर्म कहते हैं]

१. उत्तरदिक् । २. ‘स्तान्भुभिः योग्यतास्थापनं प्रस्तावना प्रस्तावः’ टि० ज०, ‘स्तान्भुभिः योग्यतास्थापनं प्रस्तावना टि० च०, प्र० । ३. विगतआगन्तुकमलस्य तव । ४. दुग्धदधिप्रमुखपदार्थः । ५. पूज्यतापात्रं पवित्रः कथं ? । ६. वाञ्छा न । ७. अपि तु न कमपि । ८. रत्नसहितजलैः कुम्भमप्ये भुञ्जारे वा पञ्चरत्नं क्षिप्यते, मुद्रापण । ९. दर्भाग्निप्रज्वालनं । १०. गृहीत । ११. सिक्त्वा । १२. ‘ब्रह्मस्थान—पीठस्थानप्रमुखानि’ टि० ख०, ‘ब्रह्मस्थान-प्रमुखानि’ टि० घ०, ‘प्रजापतिमिकेतनं ब्रह्मस्थानं’ इति पञ्जिकायां । १३. गुम्फितानि ।

‘पायःपूर्णान्कुम्भात्कोणेषु मुपलवप्रसूनार्चन् । दुग्धाब्धीमिव निबधे प्रवालमुत्तोत्थणादचतुरः ॥७६॥

[इति पुराकर्म]

यस्य स्थानं त्रिभुवनशिरःशेखराग्रे निसर्गात्तस्यामर्त्यक्षितिभृति^१ भवेन्नाद्भुतं स्थानपीठं^२ ।

लोकानन्वामृतजलनिषेर्वारि चतसृषात्वं घत्ते यत्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते कः ॥७७॥

सौथोदकर्मणिसुवर्णधटोपनीतः पीठे^३ पवित्रजपुधि प्रतिकल्पितार्थे^४ ।

‘लक्ष्मी’^५भूतागमन^६बीजविदग्धर्गर्भे^७संस्थापयामि भुवभाषिणं जितेन्द्रम् ॥७८॥

(इति स्थापना)

सोऽयं जिनः सुरगिरिनंतु^८ पीठमेतदेतानि दुग्धजलघेः सलिलानि साक्षात् ।

इन्द्रस्त्वहं तव^९ ‘सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णं ततः कथमियं न सहोत्सवश्रीः ॥७९॥

(इति सन्निधापनम्)

पुराकर्म

रत्न-सहित जलों (जल से भरे हुए कलश-आदि में पंचरत्न क्षेपण किये जाते हैं—भुद्रार्पण) से व दग्ध-अग्नि के प्रज्वालन से गृहीत शुद्धिवाली जितेन्द्र को अभिषेक-भूमि में दुग्ध से धरणेन्द्रों को सन्तृप्त करके ब्रह्म-स्थान (सिंहासन) की पूर्व-आदि दश दिशाओं को दूर्वा, अक्षत, पुष्प व झाड़ों से गुम्फित करते हैं ॥ ७५ ॥ मैं वेदी के चारों कोनों में आम्नादि के पल्लवों से और पुष्पों से पूजित व जल से भरे हुए चार घटों को स्थापित करता हूँ, जो कि मूंगों और मोतियों की मालाओं से युक्त होने के कारण क्षीर समुद्र-सरीखे हैं ॥ ७६ ॥

[इस प्रकार पुराकर्म विधि समाप्त हुई]

स्थापना

जिस जितेन्द्र का निवासस्थान स्वभाव से ही तीन लोक के मस्तक (सर्वार्थसिद्धि विमान) के ऊपर मुकुट-सरीखी सिद्ध शिला के ऊपर है, उसके अभिषेक का सिंहासन सुमेरुपर्वत पर है, इसमें आश्चर्य नहीं है। इसीतरह है जितेन्द्र ! तुम्हारे अभिषेक के समय लोक के आनन्दरूपी क्षीरसमुद्र का यह जल यदि अमृत-पना प्राप्त करता है तो इसमें कौन आश्चर्य करता है ? ॥ ७७ ॥

मैं ऐसे सिंहासन पर तीन लोक के स्वामी जितेन्द्रदेव को स्थापित करता हूँ, जो कि मणि-जड़ित सुवर्ण कलशों से लाये हुए पवित्र जलों से प्रक्षालित किया गया है व जिसके लिए पूर्व में अर्घ-प्रदान किया गया है एवं जिसका मध्यभाग लक्ष्मी व सरस्वती के बीजों द्वारा श्रीं ह्रीं का गुम्फन किया गया है, अर्थात्—जिसके मध्य में अक्षतों से श्रीं ह्रीं लिखे गये हैं ॥ ७८ ॥

[इस प्रकार स्थापना-विधि समाप्त हुई]

सन्निधापन

यह जिनविम्ब ही निस्सन्देह वही समवसरण में विराजमान साक्षात् जितेन्द्रदेव है व यह सिंहासन ही सुमेरु है एवं कलशों में भरा हुआ यह पवित्र जलपूर ही साक्षात् क्षीर सागर का जलपूर है तथा तुम्हारे अभिषेकरूपी अलङ्कार की शोभा के संबंध से इन्द्र का रूप धारक मैं ही साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक

१. जल । २. ‘मेरी’ ख०, ‘सुरशीले’ पं० । ३. सिंहासन । ४. जलीः प्रक्षालिते । ५. पीठस्थापि पूर्व अर्घः प्रदीयते ।

६. ‘श्रीं’ । ७. ह्रीं । ८. अक्षतैः श्रीकारो लिख्यते न तु गन्धेन । ९. ‘गुम्फित, मिथित ।’ इति दि० ख०,

‘लक्ष्मीभूतागमनबीजैः श्रीसरस्वतीबीजैः ‘श्रीं, ह्रीं’ इति पं० । १०. पीठमेव मेघः । ११. ‘सवः अभिषेकः’ इति पं० ।

^१यागेऽस्मिन्नाकनाथ उवलन ^२पितृपते ^३भैरवेय ^४प्रचेतो

वायो ^५रैदेशकोषोद् ^६पसपरिजना वृयमेस्य ग्रहायाः ॥

मन्त्रैर्भूः स्वः स्वधाद्यैरधिगतवलयः ^७ स्वासु विसृष्टविष्टाः ।

^८क्षेमोपः क्षेमवक्षाः कुक्षत जिनसबोत्साहिनां विघ्नशान्तिम् ॥८०॥

^९देहेऽस्मिन्विहिताचने निनवति ^{१०}प्रारब्धगीतध्वनावातोद्यः स्तुतिपाठमङ्गलरवेऽवानन्विनि प्राङ्गणे ।

मृत्स्नापोमय ^{११}भूतिपिण्ड ^{१२}हरिताक्षमप्रसूनाक्षतैरन्मोभिश्च सखन्दर्तजिनपतेर्नोराजनां प्रस्तुये ॥८१॥

^{१३}पुण्यद्रुमश्चिरमयं नवपत्त्रवध्रीश्चेतःसरः ^{१४}प्रमदमन्त्रसरोजगर्भम् ।

वागापगा च मम वृत्तरतीरमार्गा स्नानाभूर्तजिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदः ॥८२॥

ब्राह्माक्षर्जूर ^{१५}चोचैक्षु ^{१६}प्राचीनामलकोद्भूतैः । राजादनाच्छ्रुगोत्थैः ^{१७}स्नापयामि जिनं रसैः ॥८३॥

महोत्सव की शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ? ॥ ७९ ॥

[इस प्रकार सन्निधापन विधि पूर्ण हुई]

पूजा

इस अभिषेक महोत्सव में, हे रक्षण-चतुर इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईश, धरणेन्द्र तथा चन्द्र ! तुम लोग, जो कि ग्रहों (सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, धनैश्चर, रवि, राहु व केतु) की प्रमुखता वाले हो, अपने परिवार के साथ आकर और 'भूः स्वः स्वधा-आदि मन्त्रों के द्वारा बलि (नैवेद्य) प्राप्त किये हुए होकर अपनी-अपनी दिशाओं (पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण-आदि) में स्थित होकर शीघ्र ही जिनेन्द्र की अभिषेक-विधि में उत्साहित हुए पुरुषों को विघ्न-शान्ति करो ।

भावार्थ—जिनेन्द्र की अभिषेक-विधि की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आचार्यश्री ने उक्त दिक्पालों व ग्रहों का स्मरण मात्र किया है न कि उनकी पूजा की है ॥ ८० ॥

जिनेन्द्र-शरीर के पूजित हो जाने पर, भव्यों को प्रमुदित करनेवाले जिनमन्दिर के आँगन में, जो कि बाजों व स्तुतिपाठकों के मांगलिक शब्दों से गूँज रहा है एवं जिसमें गीतों की ध्वनि आरम्भ हो चुकी है, मैं प्रशस्त मिट्टी, जमीन पर न पड़ा हुआ गोबर-पिण्ड, भस्म-समूह, दुर्वा, दर्भ (कुश), पुष्प, अक्षत, जल तथा चन्दन से जिनेन्द्र भगवान् की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥ ८१ ॥

जिनेन्द्रप्रभु के तीन लोक को प्रमुदित करनेवाले अभिषेक जलों से भेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नवीन पल्लवों की शोभा-युक्त हो और मेरे चित्तरूपी तड़ाग के मध्य में हर्षरूपी यथेच्छ कमल विकसित हों एवं मेरी वाणीरूपी नदी के तट का मार्ग दुस्तर हो, अर्थात्—उसे कोई पार न कर सके ॥ ८२ ॥

मैं मुनक्कादास, खजूर, नारियल, ईख, पका आँवला, राजादन (चिरोँजी या खिरनी) आम्र व सुपारी के रसों से जिनेन्द्र का अभिषेक करता हूँ ॥ ८३ ॥

१. स्नापनविधौ । २. हे यम ! । ३. हे नैऋते ! । ४. हे वरुण ! । ५. हे भवद ! । ६. हे सोम ! (चन्द्र) ।

७. अधिगता प्राप्ता बलियेस्ते । ८. शीघ्र । ९. जिनदेहे नीराजनां प्रारब्धे । १०. सति । ११. भस्म । १२. दुर्वा ।

१३. भवसु इत्यध्याहार्य । १४. चित्तमेव तड़ागं । १५. हर्ष । १६. नालिकेरं । १७. 'पक्व' टि० ख०,

'प्राचीनामलकं पक्वफलविशेषः' इति पं० । १८. पूगं क्रमकं ।

आयुः प्रजासु परमं भवतात्सर्वं धर्माविबोध^१सुरभिचिरमस्तु मृतः ।

पुष्टि विनेयजनता वितनोतु कामं^२ हेयंगवीनसपनेन जिनेश्वरस्य ॥८४॥

येषां कर्मभूजङ्गानि विषविषो बुद्धिप्रबन्धो नृणां येषां जातिजरासृतिरुपरमध्यानप्रपञ्चाग्रहः ।

येषामात्मविशुद्धबोधविभवलोके सतृष्णं मनस्ते धारोष्णपयःप्रवाहस्वभावं ध्यायन्तु जैनं वपुः ॥८५॥

जन्मस्नेहच्छिद्वपि जगतः^३ स्नेहेहेतुनिसर्गं^४ पुण्योपाये^५ मृदुगुणमपि^६ स्तब्धलब्धात्मवृत्तिः ।

चेतोजाड्यं हरदपि^७ धधि प्राप्तजाड्यस्वभावं^८ जैनस्मानानुभवविधौ मङ्गलं वस्तमोतु ॥८६॥

एलातवज्जकङ्कोल^९ मलयगक्षमिभित्तैः । पिष्टैः^{१०} कल्कैः^{११} कषायैश्च जिनदेहमुपास्महे ॥८७॥

^{१२} नन्द्यावर्तस्वस्तिककलप्रसूनाक्षताम्बुकुण्डलैः । अबतारयामि देवं जिनेश्वरं^{१३} धर्मानेव ॥८८॥

जिनेन्द्र के घृताभिषेक से प्रजाजनों की आयु सदैव चिरकालीन हो, राजा चिरकाल तक धार्मिक ज्ञान की सुगन्धि-युक्त (गुणवान्) हो एवं शिष्यजन-समूह (भव्य-समूह) यथेष्ट समृद्धि विस्तारित करे ॥ ८४ ॥

जिन मानवों की बुद्धि की अविच्छिन्नता (सातत्य), कर्मरूपी सर्पों को निविष करने में प्रवृत्त है और जिनका जन्म, जरा व मरण के दुःखों को नष्ट करनेवाले धर्मध्यान के विस्तार में प्रगाढ़ अनुराग है एवं जिनका मन आत्मिक विशुद्ध केवलज्ञानरूपी ऐश्वर्य के दर्शन के लिए उत्कण्ठित है, वे धारोष्ण दुध के प्रवाह से शुभ्र हुए जिनेन्द्र प्रभु के शरीर का ध्यान करें ॥ ८५ ॥

दही संसार के जन्म संबंधी स्नेह (प्रेम—अनुराग) को नष्ट करनेवाला होकर के भी स्वभाव से स्नेह (प्रेम) का कारण है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो स्नेह को नष्ट करनेवाला है, वह स्नेह का कारण कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि दही जिनेन्द्रप्रभु के अभिषेक के माहात्म्य से जगत की जन्मपरम्परा के स्नेह (अनुराग) को नष्ट करनेवाला है और अपि (निश्चय से) वह स्वभाव से स्नेह (प्री) का कारण है । इसी प्रकार दही दान के अवसर पर मृदुगुणमपि (कोमल होकर के भी) स्तब्धलब्धात्मवृत्ति (गर्व-युक्त—सदर्प नहीं है) किन्तु कठिन है । यहाँ पर भी विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि जो कोमल प्रकृति है वह कठिन कैसे हो सकता है, ? अतः इसका परिहार यह है कि जो मृदुगुणमपि (कोमल स्वभाववाला है) और अपि (निश्चय से) स्तब्धलब्धात्मवृत्ति है (कठिन—स्थिर-होकर हो जन्म प्राप्त करता है—जमता है) इसी प्रकार जो चेतोजाड्यं हरदपि (चित्त की जड़ता—मूर्खता नष्ट करनेवाला) होकर के भी प्राप्तजाड्यस्वभावं (मूर्खता-प्राप्त करनेवाला) है । यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि मूर्खता-शून्य में मूर्खता किस प्रकार हो सकती है ? अतः इसका समाधान यह है कि जो चेतोजाड्यं हरत् (चित्त की जड़ता—आलस्य) नष्ट करनेवाला है और आपे (निश्चय से) प्राप्तजाड्यस्वभावं (सचनता प्राप्त करनेवाला या जलस्वभाव) है, ऐसा दही जिनेन्द्र-प्रभु के अभिषेक के माहात्म्य से तुम्हारा कल्याण विस्तारित करे ॥ ८६ ॥

हम इलायची, लौंग, कङ्कोल (सुगन्धि जड़ी बूटी), चन्दन व अगुत इनके चूर्णों के कल्कों (सुगन्धि जलों) से ओर पकाकर तैयार किये हुए इनके काढ़ों से जिनेन्द्रदेव के शरीर की उपासना करते हैं ॥ ८७ ॥

१. सुगन्धः गुणवानित्यर्थः । २. घृतं । ३. पक्षे घृतं । ४. दाने । ५. कोमल मूहालू ? । ६. सदर्प न किन्तु कठिनं वर्तते ।

७. मूर्खत्वं न किन्तु सचनं । ८. मलयं चन्दनं । ९. त्वक्चूर्णैः । १०. पंचप्रकारत्वक्कायैः ।

११. आश्रुत्य स्तपनं विशोष्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक् कोणायौ सकुशभ्रियां जिनपति न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।

नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्धर्तनम् ।* सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

—सागारधर्मा० अ० ६ ।

*. एलादिचूर्णकल्ककषायैरुद्धृत्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारणं । —संस्कृत टी० सागार० धर्मा० अ० ६ । १२. शरावपुटैः ।

ॐ भक्तिभरविनतोरगनरसुरासुरेध्वरशिरःकिरोटकोटिकल्पतत्पल्लवाथमानचरणयुगलम्, अमृतादानाङ्गनाकर-
विकीर्यमाणमन्वारमसेरुपारिजातसंतानकयनप्रसूनस्पन्दमानमकरध्वस्वाद्योन्मदमिलन्मसालिकुलप्रसापोत्तालित^१ निलिम्पाल-
प्ति^२ रघारिगलम्, अम्बरधरकुमारहेलास्फालितवैष्णवस्तकीपणवानकमृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालमलरीभेरी^३ मम्भाप्रभृत्य-
नधधि^४ धन^५ शुषिर^६ तलाव^७ नदबाद्यनादनिबोधितनिखिलविष्टपाधिपोषासनाधसरम्, अनेकामर^८ विकिरकुलकीर्णकिञ्च-
लयाधोकानोकुहोलसत्प्रसवपरागपुनस्तसकल^९ दिवपाल* हृदयरगप्रसरम्, अखिलभूवनेध्वयंतलछद्मनातपत्रत्रय^{१०} शिखण्ड-
मण्डनमणिमयूखरेखालिख्यमान^{११} मलमुखरसैचरी^{१२} भालतलतिलकपत्रम्, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणोभयपक्षचामरपरस्पर-
शुभालवर्धितविनेयजनमनःप्रासादचरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थातिशायिशारीरप्रभापरिवेषमुषित^{१३} परिवत्समास्तार^{१४}-
मत्तितिमिरनिकरम्, अनवधिवस्तुविस्तारात्मसाक्षात्कारासारविस्फारितसरस्वतोतरङ्गसङ्गतपित्तमस्तसस्वसरोजाकरम्,

नन्द्यावर्तक, स्वस्तिक, फल, पुष्प, अक्षत, जल और कुश-समूह से तथा सराव पुटों (सकोरों) से जिनेन्द्रप्रभु को अवतारित करता है ॥ ८८ ॥

जिनके चरणयुगल भक्ति के भार से नम्रीभूत हुए घरणेन्द्र, चक्रवर्ती, इन्द्र व असुरेन्द्रों के मस्तकों पर धारण किये हुए मुकुटों के अग्रभाग पर कल्पवृक्ष के पल्लव-सरीखे आचरण करते हैं। जिन्होंने ऐसे मतवाले भ्रमर-समूह की गुञ्जायमान ध्वनि से उत्कण्ठित किये गए देवों के गले संगीत करने के व्यापार-युक्त किये हैं, जो कि देवियों के हस्तों द्वारा क्षेपण किये जा रहे मन्दार, नमस्, पारिजात व सन्तातक कल्पवृक्षों के वनों के पुष्पों से प्रवाहित हो रहे पुष्परस का पान करने से मतवाले होकर एकत्रित हो रहे थे। जिन्होंने विद्याधर-कुमारों द्वारा क्रीड़ापूर्वक बजाये जानेवाले वांसुरी, वीणा, पणव (ढोल या तबला), भेरी, नगाड़ा, मृदङ्ग, शङ्ख, बड़ा ढोल, त्रिविल (बाद्यविशेष), ताल (मँजीरा), झाँझ, मेरी व भम्भा (हुडुक्का), आदि एवं बेमर्याद धन (तालादि), शुषिर (वंश-आदि), तत (वीणादि), अवनद्व (मुरजादि) की ध्वनि द्वारा समस्त दिक् के स्वामियों (इन्द्र-आदि) के लिए उपासना करने का अवसर सूचित किया है। जिन्होंने अनेक देवों व पक्षि-समूह द्वारा क्षेपण की हुई कोंपलोंवाले अशोकवृक्षों की क्षोभायमान पुष्पधूलि से समस्त दिक्पालों के हृदयों का प्रेम-विस्तार द्वि-गुणित किया है। जिनके द्वारा स्तुति करने में बाचाल हुई विद्याधरियों के ललाट-तल की तिलकरचना, समस्त लोकों के ऐश्वर्य के चिह्नरूप तीन छत्रों के मस्तक पर अलंकृत हुई मणियों की किरण-पङ्क्ति द्वारा चित्रित की जा रही है। जिन्होंने विष्यजनों के मनरूपी महल का चरित्र (आचरण व पञ्चान्तर में मार्ग) निरन्तर यक्षजाति के देवों द्वारा दोनों वाजू दोरी जानेवाली चामरों की श्रेणी के किरण-समूह से शुभ्र किया है। जिन्होंने समस्त प्रकाशशील पदार्थों को अतिक्रमण करनेवाले अपने शारीरिक कान्ति के परिवेश (घेरा) द्वारा समवसरणसभा के सभासदों की बुद्धि का अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह नष्ट किया है।

अनन्त पदार्थों के विस्तार को प्रत्यक्ष करनेवाले केवलज्ञानरूपी आसार (जलवृष्टि) से बढ़ी हुई सरस्वतीरूपी नदी की तरङ्गों के संसर्ग से जिन्होंने समस्त प्राणीरूपी कमल-समूह को अत्यन्त सन्तुष्ट किया है।

१. उत्सुकीकृत । २. गीत । ३. 'हुडुक्का' पं०, 'नफेरी' टि० ख० । ४. तालादिकं । ५. वंशादि । ६. वीणादि । ७. मुरजादि । ८. पक्षी । ९. नृप । * 'हृदयरगप्रसरं' क० । १०. मस्तक । ११. स्तुति । १२. लल्लटं । १३. 'समज्यापरिपद्गोष्ठी सभा सभितिसंसदः । आस्थानी वलीवमास्थानं स्त्रीतपुंसकयोः सदः' ॥ टि० ख०, 'परिषत् समवसरणसभा' इति पं० । १४. 'सभासदः सभास्वारः सम्भाः सामानिकाश्च ते ।' टि० ख०, 'वृषाः' इति पं० ।

‘इभारातिपरिवृद्धोपवाह्यमानासनावसानलनरसनकरप्रसरपल्लवितविद्यत्थावपाभोगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसभासौन-
मनुजविजिभुजङ्गेन्द्रवन्द्यमानपावारविन्दयुगलम्,

‘मद्भाविष्यलक्ष्मीलतिकावनस्य प्रवर्धनार्वाजित^१वारिपूरः । जिनं चतुर्भिः स्तपयामि कुर्मं नभःसरो^२ चेनुपयोधराभैः ॥८९॥

लक्ष्मीकल्पलते^३ समुल्लस जनामर्गः परं पल्लव^४धर्मराम फलैः प्रकामतुभगतत्वं मध्यसेव्यो भव ।

‘बोधायोश विमुक्त्य संप्रति मुहुर्वृक्षकर्मधर्मवल्लमं त्रैलोक्यप्रमथावहे जिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात् ॥९०॥

शुद्धं विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः^५ । करोम्य^६धम्यस्तानमुत्तरोत्तरसंपदे ॥९१॥

‘‘अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाङ्घ्रिबोजे^७ कलादले^८ कमले । संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधितः ॥९२॥

जिन्होंने सिंह-स्वामी द्वारा धार्यमाण आसन (सिंहासन) के अन्त में जड़े हुए रत्नों को किरणों के प्रसार से आकाश
रूपी विस्तृत वृक्ष को पल्लवित किया है एवं अतोन्नी समवसरणसभा में स्थित हुए चक्रवर्ती, इन्द्र व घरणेन्द्रों
के समूह द्वारा जिनके दोनों चरणकमल वंदनीय किये जा रहे हैं ।

जिनमें मेरी भविष्य में होनेवाली लक्ष्मीरूपी लता के वन को वृद्धिगत करनेवाला जलपूर ग्रहण
किया गया है (भरा गया है) व जिनकी कान्ति देवों की कामधेनु के स्तनों-सरीखी शुभ है, ऐसे चार कलशों
से पूर्वोक्त जिनेन्द्रप्रभु का अभिषेक करता हूँ* ॥ ८९ ॥

जिनेन्द्रप्रभु के तीन लोक को आनन्ददायक गन्धोदकों के अभिषेचन से हे लक्ष्मीरूपी कल्पलता !
तुम मनुष्यों के आनन्दरूपी पल्लवों से उल्लास को प्राप्त हो जाओ । हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलों से अत्यन्त
मनोज्ञ होकर भव्य प्राणियों द्वारा सेवनीय हो जाओ और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी सन्ताप
को ग्लानि को बार बार छोड़ो ॥ ९० ॥

मैं केवलज्ञानी जिनेन्द्रप्रभु का शुद्ध व श्रेष्ठ जलों से अभिषेक करके सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मी की प्राप्ति के
लिए यज्ञान्तस्नान (अभिषेक करने के पश्चात् स्नान करके अष्टप्रकारी पूजा की जाती है, यह क्रम है) करता
हूँ ॥ ९१ ॥

मैं, सोलह पांखुड़ीवाले, जिन (पांखुड़ियों) में अकार-आदि सोलह स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ,
ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) लिखकर चिन्तवन किये गए हैं, कमल पर, जिसकी कर्णिका पकार
(प व्यञ्जन) से निर्मित हुई है, अर्थात्—जिसकी कर्णिका में पकार लिखकर चिन्तवन किया गया है,
जिसके (कर्णिका के) मध्य अपना नाम स्थापित किया गया है, अर्थात्—जिसमें विशुद्ध आत्मद्रव्य या
अर्हन्तप्रभु या हूँ को स्थापित करके चिन्तवन किया गया है, तीन लोक को अभिलषित वस्तु देनेवाले जिनेन्द्र-
प्रभु को विधि पूर्वक स्थापित करके उनकी पूजा करता हूँ ।

भावार्थ—शास्त्रकारों ने धर्मध्यान के चार भेद निदिष्ट किये हैं । पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और
रूपातीत ।

१. सिंहः । २. मम । ३. उपात्तः । ४. कामधेनुः । ५. हे त्वमुल्लासं प्राप । ६. सह । ७. हे आत्मन् ! । ८. ‘भेद्यजलैः
सङ्गादादानीर्तः’ टि० ख०, ‘उत्तरोदकैः मेघोदकैः हंसोदकैर्वा’ इति पं० । ९. यज्ञान्तस्नानं, अभिषेके कृते सति पुनः
स्नात्वा पश्चादष्टप्रकारी पूजा क्रियते इति क्रमः । १०-११-१२. ‘पकारेण (पवर्ण) कर्णिका क्रियते, तन्मध्ये स्वकीयं
नाम निक्षिप्यते, षोडशदलेषु अकारादयः स्वराः लिख्यन्ते’ टि० ख० घ० च० । ‘अमृतं पवर्णः, कला अकारादयः
षोडश’ इति पं० । *, रूपक व उपमालंकारः ।

पिङ्गस्थ ध्यान में विवेकी व संयमी धार्मिक पुरुष को पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वाहणी और तत्त्वरूप-वती इन पाँच धारणाओं—व्येयतत्त्वों—का ध्यान, दुःखों को निवृत्ति के लिए करना चाहिए ।

पार्थिवी धारणा में मध्यलोकगत स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त तिर्यग्लोक के बराबर, निःशब्द, तरङ्गों से रहित और बर्फ-सरोखा शुभ्र ऐसे क्षीर समुद्र का ध्यान करे । उसके मध्य में सुन्दर रचना-युक्त, अमित दीप्ति से सुशोभित, पिघले हुए सुवर्ण के समान प्रभा-युक्त, हजार पत्तोंवाला, जम्बूद्वीप के बराबर और मनरूपी भ्रमर को प्रमुदित करनेवाला ऐसे कमल का चिन्तन करे । तत्पश्चात् उस कमल के मध्य में सुमेरुपर्वत के समान पीतरंग की कान्ति से व्याप्त ऐसी कणिका का ध्यान करे । पुनः उसम शरत्कालीन चन्द्र-सरोखा शुभ्र और ऊँचे सिंहासन का चिन्तन करके उसमें आत्मद्रव्य को सुखपूर्वक विराजमान, शान्त और क्षोभ-रहित, राग, द्वेष व मोह-आदि ससस्त पाप कलङ्क को शय्य करने में समर्थ और संसार-जनित ज्ञानावरण-आदि कर्म-समूह को नष्ट करने में प्रयत्नशील चिन्तन करे ।
इति पार्थिवी धारणा ।

आग्नेयी धारणा में निश्चल अभ्यास से नाभिमंडल में सोलह उन्नत पत्तोंवाले एक मनोहर कमल का और उसकी कणिका में महामन्त्र (ह्रीं) का, तथा उक्त सोलह पत्तों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः इन सोलह अक्षरों का ध्यान करे ।

पश्चात् हृदय में आठ पांखुड़ीवाले एक ऐसे कमल का ध्यान करे, जो अधोमुख (ओंघा) हो और जिसपर ज्ञानावरण-आदि आठ कर्म स्थित हों ।

पश्चात्-पूर्वचिन्तित नाभिस्थ कमल की कणिका के महामन्त्र की रेफ से मन्द-मन्द निकलती हुई घूम की शिखा का, और उससे निकलती हुई प्रवाहरूप स्फुलिङ्गों की पंक्ति का, पश्चात् उससे निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिन्तन करे । इसके बाद उस ज्वाला (अग्नि) के समूह से अपने हृदयस्थ कमल और उसमें स्थित कर्म-समूह को जलाता हुआ चिन्तन करे । इस प्रकार आठों कर्म जल जाते हैं, यह ध्यान की ही सामर्थ्य है ।

पश्चात् शरीर के बाह्य ऐसी त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिन्तन करे, जो कि ज्वालाओं के समूह से प्रज्वलित बड़बानल के समान, अग्नि-बीजाक्षर 'र' से व्याप्त व अन्त में सायिया के चिन्ह से चिह्नित, ऊर्ध्व-मण्डल से उत्पन्न, घूम-रहित और सुवर्ण-सरोखी कान्ति-युक्त हो । इस प्रकार धगधगायमान फैलती हुई लपटों के समूह से देदीप्यमान बाहर का अग्निपुर, अन्तरङ्ग को मन्त्राग्नि को दग्ध करता है ।

तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल-आदि को भस्मीभूत करके दाह्य-जलाने-योग्य-पदार्थ का अभाव होने के कारण स्वयं शान्त हो जाता है ।
इति आग्नेयी धारणा—

मास्ती धारणा में ध्यानी संयमी मनुष्य को, आकाश में पूर्ण होकर संचार करनेवाले, महावेगवाली, महाशक्तिशाली, देवों की सेना को चलायमान करनेवाला और सुमेरुपर्वत को कम्पित करनेवाला, मेघों के समूह को बखेरनेवाला, समुद्र को क्षुब्ध करनेवाला, दशों दिशाओं में संचार करनेवाला, लोक के मध्य में संचार करता हुआ और संसार में व्याप्त ऐसे वायु मंडल का चिन्तन करे । तत्पश्चात् उस वायुमंडल द्वारा कर्मों के दग्ध होने से उत्पन्न हुई भस्म को उड़ाता हुआ ध्यान करे । पुनः उस वायु मंडल को स्थिर चिन्तन कर उसे शान्त करे ।
इति मास्ती धारणा ।

वाहणी धारणा में ध्यानी मानव, ऐसे आकाशतत्त्व का चिन्तन करे, जो कि इन्द्रधनुष और विजली

पुष्पोपार्जनशरणं^१पुराणपुरुषं स्तवोचिताचरणम् । ^२पुरुहूतविहितसेवं ^३पुरुदेवं पूजयामि तोयेन ॥९३॥

^४मन्त्रमवसदनवसनं मन्दरगिरिशिखरमञ्जनावसरं । कन्वं मुमालतिकायादधःपदनवर्धचितं जिनं कुर्वे ॥९४॥

^५अवमतवगहनवहनं निकाममुखं^६संभवामृतस्थानम् ।

आगमवीपालोकं कलमभवस्तन्बुलंभजामि जिनम् ॥९५॥

^७स्मरसविमुक्तमूर्ति विज्ञानसमुद्रं^८मुविताशेषम् । श्रीमानसकलहंसं कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम् ॥९६॥

को गर्जना-आदि चमत्कारवाले मेघों के समूह से व्याप्त हो । इसके बाद अर्धचन्द्राकार, मनोज्ञ और अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश की बहाते हुए वरुणमंडल (जलतत्त्व) का ध्यान करके उसके द्वारा उक्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाली भस्म का प्रक्षालन करता हुआ चिन्तन करे । इति वारुणी धारणा ।

तत्त्वरूपवती धारणा में संयमी व ध्यानी पुरुष सप्तधातु-रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश कान्ति-युक्त और सर्वज्ञ के समान अपनी विशुद्ध आत्मा का ध्यान करे । इति तत्त्वरूपवती धारणा ।

इस प्रकार अभी तक पिछले ध्यान का संक्षिप्त विवेचन किया गया है, अन्य पदस्थ-आदि का स्वरूप ज्ञानार्णव शास्त्र से जान लेना चाहिए ।

विस्तार के भय से हम यहाँ उसका संकलन नहीं करते । प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत पद्य में आचार्यश्री ने आनेयो व तत्त्वरूपवती धारणा का विवेचन करते हुए ज्ञानार्णव का निरूपण किया है * ॥९२॥

मैं ऐसे प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ भगवान् को जल से पूजा करता हूँ, जो कि पुष्पोपार्जन के गृह हैं, जो पुराण पुरुष हैं, जिनका चारित्र्य स्तुति के योग्य हैं और जिनकी पूजा इन्द्रों द्वारा की गई है ॥ ९३ ॥ जो प्रचुर दण्डवाले काम का दमन करनेवाले हैं, जिनको सुमेरुपर्वत की शिखर पर अभिषेक का अवसर प्राप्त हुआ है और जो कीर्तिरूपी लता की जड़ हैं, उन जिनेन्द्रदेव को हम चन्दन के लेप से पूजित करते हैं ॥ ९४ ॥ मैं ऐसे जिनेन्द्र को धान्य-तण्डुलों (अक्षतों) से पूजा करता हूँ, जो दोष (राग-आदि) रूपी वृक्षों के वन को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीस्रे हैं, जो अनन्तसुख की उत्पत्ति के लिए मोक्ष-सदृश हैं और जिनमें आगम (द्वादशाङ्ग श्रुत) रूपी दीपक का प्रकाश वर्तमान है ॥ ९५ ॥

जिनकी सूक्तियाँ (वचन) राग से रहित हैं, जिन्होंने (केवलज्ञान) रूपी समुद्र द्वारा समस्त लोक को वेष्टित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवर के राजहंस हैं, उन जिनेन्द्र प्रभु की पुष्पों से पूजा करता हूँ ॥ ९६ ॥ मैं ऐसे अर्हन्त भगवान् को नैवेद्य से पूजा करता हूँ, जिनकी नीतियाँ—नय-अनन्त हैं, अर्थात्—जो

१. गृहम् । २. पुरुहूतः शक्रः । ३. आदिदेव ।

४. प्रचुरवर्षमहितकाम । ५. कीर्ति । ६. दोषः । ७. संभवार्थं मोक्षसदृश । ८. रागादिभूक्ता सूक्तिर्वचनं यस्य सः तं ।

९. वेष्टित ।

*. प्रस्तुत लेखभाला 'नीतिवाक्यामृत' (हमारी भाषा-टीका) आन्धीक्षिकीसमुद्देश पृ० १०१, १०२ से संकलन की गई है—सम्पादक

अर्हन्तमभित्तनोति निरञ्जनं मि^१हिरमाधिवासानेः । आराधयामि हृदिवा मुक्तिश्रीरमितनामसमञ्जनम् ॥९७॥

भवत्या नतामराशयकमलवना^२रालतिमिरमार्तण्डम् ।

जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखाराम^३कामवमशामम् ॥९८॥

अनुपमकेवलवपुषं^४सकलकलाविलयवर्तिरुपस्थम् । योगावगम्यनिलयं यजामहे^५निखिलं जिनं धूपैः ॥९९॥

स्वर्गापवरोसंगतिविधादिनं^६व्यस्तजातिमृतिदोषम् । ध्योमचरामरपतिभिः स्मृतं फलैर्जिनपतिमुपासे ॥१००॥

अध्मश्चन्दनतन्तुलोद्ग^७महविदीपैः सधूपैः फलैरचित्वा त्रिजगद्गुरुं^८जिनपति स्नानोत्सवामन्तरम् ।

तं स्तोमि प्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे^९युताराधनं^{१०}त्रैलोक्यप्रभवं च तत्सहस्रं काशत्रये^{११}श्रद्धये ॥१०१॥

‘यज्ञैर्मुवाचभू’^{१२}यभाग्निरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।

श्वेतालपत्रचमरीसहवर्षणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥१०२॥

(इति पूजा)

अनन्त नयों के स्वरूप के प्रतिपादक हैं, जो निरञ्जन (राग, द्वेष व मोहरूपी अञ्जन से रहित—वीतराग-विशुद्ध) हैं, जो मानसिक व्याधिरूपी दावानल अग्नि को बुझाने के लिए मेघ-सरीखे हैं, जिनका मन मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ अनुरक्त है और जो कामदेव-सरीखे मनोज हैं ॥ ९७ ॥

मैं ऐसे जिनेन्द्रदेव की दीपों से पूजा करता हूँ, जो कि भक्ति से नम्रीभूत हुए देवों के चित्तरूपी कमल-वन का विषमान्वकार (निविड़ अज्ञानान्वकार व पक्षान्तर में विकसित न होना) नष्ट करने के लिए सूर्य-सरीखे हैं, जो समस्त सुखों के लिए उद्यान रूप हुए अभिलषित वस्तु देनेवाले हैं एवं जो काम-वासना से रहित हैं ॥ ९८ ॥ हम ऐसे जिनेन्द्रदेव की धूप से पूजा करते हैं, जिनका अनोखा केवलज्ञान और अनोखा परमौदारिक शरीर है, समस्त भावकर्मों (रागादि) के नष्ट हो जाने पर जो रूप रहता है, उसी रूप (केवलज्ञान स्वरूप) में जो स्थित है और जिनका स्थान (मोक्ष) ध्यान के द्वारा जानने योग्य है एवं जो केवलज्ञान की अपेक्षा समस्त पदार्थों में व्यापक है ॥ ९९ ॥

मैं ऐसे जिनेन्द्र को फलों से उपासना (पूजा) करता हूँ, जो कि स्वर्गश्री व मुक्तिश्री के साथ संगम करानेवाले हैं, जिन्होंने जन्म व मरणरूपी दोष नष्ट कर दिये हैं और जो विद्याधरों के स्वामियों व देवेन्द्रों द्वारा स्मरण किये गये हैं ॥१००॥ अभिषेक—समारोह के पश्चात् तीन लोक के गुरु श्रीजिनेन्द्र की जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप व फलों से पूजा करके मैं उनकी स्तुति करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें अपने चित्त में स्थापित करता हूँ एवं द्वादशाङ्ग श्रुत की आराधना करता हूँ तथा तीन लोक में उत्पन्न होने वाले उस यज्ञोत्सव की तीनों काष्ठों में अनुमोदना करता हूँ, अर्थात्—जहाँ कहीं यज्ञ (पूजा) होता है, उसको मैं अनुमोदना करता हूँ ॥ १०१ ॥ यज्ञान्त स्नान किया हुआ मैं जिनका पादपीठ (चरणों के पास का स्थान), पुष्पाञ्जलि-समूह से भरा हुआ है, उन जिनेन्द्रदेव की पूजा द्वारा हर्षपूर्वक उपासना करके पुनः मैं उनकी श्वेत छत्र, चमर व दर्पण-आदि माङ्गलिक द्रव्यों से आराधना करता हूँ ॥ १०२ ॥

[इस प्रकार पूजा समाप्त हुई, आगे पूजा का फल बतलाते हैं—]

१. मेघ । २. विषमान्वकार । ३. वाञ्छितप्रद । ४. कलाः भावकर्मणि तासां विलये विनाशे सति, सकलकलाविलये वर्तते यद् रूपं तत्सकलकलाविलयवर्तिनां तत्र तिष्ठतीति तदस्थं केवलज्ञानसकल्पमित्यर्थः । ५. सर्वज्ञ केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापकं । ६. पुष्प । ७. त्रैलोक्ये प्रभवः उत्पत्तिर्यस्य सहस्रं स तं । ८. यत्र कुत्रापि यज्ञो वर्तते तमनुमोदयामि । ९. पूजाभिः । १०. यज्ञान्तस्नानं ।

भक्तिमित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री सर्वतिथ्ये मम विभवशीर्षु द्विरध्यात्मतत्त्वे ।

सद्विद्येषु प्रणयपरता त्रिसर्वतिः परार्थे भूमादेतद् भवति भगवन्ध्याम यावत्त्वदीयम् ॥१०३॥

प्रातर्विधिस्तत्र पवास्त्रुजपूजनेन मध्याह्नसंनिधिरियं मुनिमाननेन ।

सायंतनोऽपि समयो मम इधं व्याजान्नित्यं त्र्यहोचरणकीर्तनकारणतः ॥१०४॥

धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ धर्मविवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः ।

नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजापच्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥१०५॥ (इति पूजाफलम्)

आलस्यद्वेषो हृषीकहरणव्यभिपतो चात्मनश्चापत्यान्यमसौ मतेर्लङ्घ्यतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।

यः कश्चिन्नस्य संस्तवेषु समभूवेष प्रमादः स मे मिथ्या, स्तान्ननु देवताः प्रणयितां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥१०६॥

वेदपूजामनिर्माय मुनेननुपचर्य च । यो भुञ्जीत गृहस्थः सत्स भुञ्जीत परं तमः^३ ॥१०७॥

इत्युपासकाध्ययने स्तपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः ।

नमदमरमौलिमण्डलविलग्नस्तनांशुनिकरगगनेऽस्मिन् । अहणावतेऽङ्घ्रिपुगलं यस्य स जीयाजिनो देवः ॥१०८॥

पूजा-फल

हे भगवन् ! जब तक आपका केवलज्ञानरूप प्रकाश मेरी आत्मा में प्रकट हो तब तक जिन भगवान् के चरणों में मेरी भक्ति हो, समस्त प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव (दुःख उत्पन्न न होने की अभिलाषा) हो । मेरी धन-वितरण की बुद्धि समस्त अतिथियों के सत्कार में संलग्न होवे, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्त्व में लीन रहे, मेरी विद्वानों के प्रति प्रेम-तत्परता हो तथा मेरी चित्तवृत्ति परोपकार करने में प्रवृत्त हो ॥ १०३ ॥ हे देव ! मेरी प्रातःकालीन विधि आपके चरणकमलों की पूजा से सम्पन्न हो, मध्याह्न-वेला का समागम साधुओं के सन्मान में व्यतीत हो एवं मेरी सायंकालीन वेला भी सदा आपके चारित्र्य-कथन की कामना में व्यतीत हो ॥१०४॥

धर्म के आचरण से प्रभावशाली हुआ राजा धर्म (उत्तम क्षमा-आदि), धार्मिक जन (मुनि-आदि) व धर्म साधनों (चैत्यालय, मुनि, शास्त्र व संघ) के विषय में सदा अनुकूल रहे और सदा जिनेन्द्र के चरण-कमलों की पूजा से प्राप्त हुए पुण्य द्वारा पुण्यशालिनी हुई जनता यथेष्ट उत्कृष्ट लक्ष्मी प्राप्त करे ॥ १०५ ॥ हे देव ! शरीर के आलस्य से या इन्द्रियों का दूसरी जगह उपयोग के चले जाने से, आत्मा की दूसरे कार्य में व्याकुलता के कारण, मानसिक चञ्चलता से, बुद्धि की जड़ता से और वचनों के स्पष्ट उच्चारण की मन्दता के कारण तुम्हारी स्तुतियों में भ्रम से जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो । क्योंकि निस्सन्देह देवता तो अनुरक्तों की भक्ति से सन्तुष्ट होते हैं ॥ १०६ ॥

जो मानव गृहस्थ होकर के भी देवपूजा किये बिना और साधुओं की सेवा किये बिना भोजन करता है, वह महापाप खाता है ॥ १०७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अभिषेक व पूजन-विधि नामका छत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

ऐसे वे जिनेन्द्र देव जयवन्त हों, जिनके चरण-युगल नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटों के समूह में खचित रत्न-किरणों के समूहहूयी आकाश में सूर्य-सरीखे आचरण करते हैं ॥ १०८ ॥ जिनके चरणों के तलों का किरण-समूह, इन्द्राणी के श्रोत्रों पर स्थित हुई कल्पवृक्ष की ईषद्विकसित मञ्जरी-जैसा मनोज है, वे जिनेन्द्र

सुरपतिपुवतिश्च^१ वसामनरत^२ स्मेरमञ्जरीरुचिरम् । चरणनक्षत्रिणजालं यस्य स अथताज्जिनो जगति ॥१०९॥

वर्णः—^१ विविजकुञ्जरमौलिमन्दारमकरन्द*स्य^२ न्वनि, करविसरसारधूसरपद्मकुञ्ज,

वैद्यधोपरमप^३ वप्राप्तवावजयविजितमनसिज ॥११०॥

भाषा—यस्त्वाममितगुणं जिन कश्चित्सावधिबोधः स्तौति विपश्चित् ।

मूषमसौ ननु काञ्चनशीलं तुल्यति हस्तेनाक्षिरकालम्^४ ॥१११॥

स्तोत्रे यत्र महामुनिपदाः^५ सकलैतिह्याम्बुधिषिविधवाः ।

मुमुक्षुदिघ्नतामनवधिबोधास्तत्र कथं ननु मादुरबोधाः^६ ॥११२॥

तद्यपि वदेयं किमपि जिन स्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।

यदियं भक्तिर्मां मौगस्थं^७ देव न कामं कुरुते स्वस्थम् ॥११३॥

चतुर्थवी—सुरपतिविरचितसंस्तव दलिताखिलभव परमधामलब्धोदय ।

कस्तव जन्तुगुणगणमघहरचरण^८ प्रवितनुतां हतनतभय ॥११४॥

जय निखिलानलिस्था^९ १३ लापक^{१०} १३ जयतोस्तुतकीतिकलत्रतत्त्व^{११} ।

जय^{१२} परमधर्महर्म्यावितार लोकत्रितयोद्धरणकसार^{१४} ॥११५॥

प्रभु जगत में जयवन्त हों ॥ १०९ ॥ जिनके चरणकमल देवेन्द्रों के मुकुटों पर स्थित हुए मन्दारजाति के कल्प-वृक्षों के पुष्पों के मकरन्द (पुष्प-रस) के स्यन्दकारी (बहनेवाले) प्रसार (फैलाव) के सार से ईषत्पाण्डु (कुछ शुभ्र) किये गए हैं, विद्वत्ता में सर्वोत्कृष्ट होने से जिन्होंने वाद (शास्त्रार्थ) में विजय ध्री (अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से कीर्ति लक्ष्मी) प्राप्त की है और जो कामदेव को जीतनेवाले हैं, ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! ॥ ११० ॥ सीमितज्ञानी जो कोई विद्वान् अपरिमित गुणवान् आपकी स्तुति करता है, वह शीघ्र हाथ से सुमेरु-पर्वत को तोलता है ॥ १११ ॥ समस्त आगमरूपी समुद्र के अवगाहन करने में निपुण, असीम ज्ञानधारी महा-मुनि-समूह भी जब जिस प्रभु की स्तुति करने का विचार छोड़ चुके तब निश्चय से मुक्त-सरीखा अल्पज्ञानी आपकी स्तुति करने का विचार किस प्रकार कर सकता है ? ॥ ११२ ॥ हे जिनेन्द्र ! यद्यपि मेरे में आपकी स्तुति करने की शक्ति नहीं है तथापि कुछ कहता हूँ, क्योंकि आपकी यह भक्ति मौन धारण करनेवाले भुक्ते यथेष्ट सुखी नहीं करती ॥ ११३ ॥

जिनको इन्द्रों ने स्तुति की, जो समस्त संसार-परिभ्रमण को नष्ट करनेवाले हैं, जिन्होंने सर्वोत्तम मोक्षस्थान के कारण प्रातिहार्य-आदि वैभव प्राप्त किया, जिनके चरण पाप-नाशक हैं एवं जो भक्त प्राणियों का भय नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे हे प्रभो ! कौन मानव आपके गुण-समूह का विस्तार से कथन कर सकता है ॥ ११४ ॥ जो समस्त देवों को स्तुति के ग्रन्थरूप हैं और जो समस्त पृथिवी के द्वारा स्तुति की गई कीर्ति-रूपी कामिनी के लिए वाद्यारूप हैं, ऐसे हे प्रभो ! आपकी जय हो । जो उत्कृष्ट धर्म के अवतार में प्रासादप्राय हैं और जिनकी अद्वितीय शक्ति तीन लोक के उद्धार करने में समर्थ है, ऐसे हे जिन ! आपकी जय हो ॥ ११५ ॥

१. कर्णानां । २. ईषद्विकसित । ३. देवप्रधान । ४. 'स्यन्दकर' ख० । ५. स्यन्दकारी विसरः प्रसारः, मन्दारपुष्पाणां मकरन्दसमूहप्रसारसारेण धूसरः ईषत्पाण्डुकृतः । ६. पदे प्राप्तो दाये मशः येन । ७. शीघ्र । ८. 'समूहाः महामुनयः एव' ख०, 'पक्षाः समूहः' टि० च० । ९. कर्ता । १०. 'देव निकामं कुरुते स्वस्थं' क० । ११. अपि तु न कश्चित् तत्र गुणसमूहं प्रवितनुतां । १२. स्तुति । १३. ग्रन्थ । १४. शब्दा । १५. धर्मस्य प्रासादप्रायः । १६. 'सारो मञ्जारीस्थि-राशयोः बले श्रेष्ठे च' टि० ख० । 'सारः स्यान्मञ्जनि बले स्थिराशीर्षि पृमानयम् । सारं न्याप्य जले विले सारं स्याद्वाच्यवदरे' इति विश्वः' इति संकलनं सम्पादकस्य ।

जय लक्ष्मीकरकमलाविताङ्ग सारस्वतरसमटमाटघरङ्ग ।

जय^१ बोधसध्यसिद्धावितार्थ मुक्तिधीरमणोरलिकृतार्थ ॥११६॥

नमस्करनीलि*मन्विरतटान्तराज्यवनलनक्षत्रकान्त^२ ।

विद्युत्स्त्रीनेत्राम्बुजविबोध^३ भकरध्वजधनु^४ रुद्रवनिरोध ॥११७॥

बोधत्रयविहितविभेदतन्त्र^५ का नामापेक्षा तत्र परम्^६ ।

वधतः^७ प्रबोधसमुभूजतस्थ गुतरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य^८ ॥११८॥

^९ निजबीजबलान्मलिनानां^{१०} पि महति^{११} धीः शुद्धि परमामभव भजति ।

युक्तेः कनकाङ्गमा भवति हेम^{१२} किं कोऽपि तत्र विधवेत तम ॥११९॥

हे लक्ष्मी के करकमलों द्वारा पूजित शरीरवाले, हे सारस्वत रसरूपी नट के अभिनय के लिए रङ्गमञ्च-सरोवरे प्रभो ! आपको जय हो । हे केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों के ज्ञाता और हे भुक्तिलक्ष्मोरूपी कामिनी के साथ रसविलास करने से कृतार्थ हुए प्रभो ! आपको जय हो ॥ ११६ ॥ नमस्कार करते हुए, देवों के मुकुटरूपी सुमेरु-तट के प्रान्तभाग में जिनके चरण-नखरूपी चन्द्र सुशोभित हो रहे हैं, जो देवियों के नेत्ररूपी कमलों को विकसित करते हैं, जो कामदेव के धनुष का गर्व रोकने वाले हैं, ऐसे हे प्रभो ! आप जयवन्त हो ॥ ११७ ॥ जैसे इस लोक में प्राणि-जनों का जागरण करनेवाले सूर्य का क्या कोई गुरु है ? वैसे ही मति, श्रुत व अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य वस्तु-समूह को जाननेवाले हे प्रभो ! तुम्हें भी किसी गुरु की अपेक्षा नहीं हुई ॥ ११८ ॥

जैमिनीय मत-समीक्षा

हे संसार-रहित प्रभो ! अज्ञान-आदि दोषों से मलिन बुद्धि भी आपमें ज्ञान-ध्यानादि उपादान कारणों की सामर्थ्य से उस प्रकार अत्यन्त शुद्धि (केवलज्ञान) प्राप्त करती है जिस प्रकार मलिन सुवर्णपाषाण उपाय (अग्निपुट-पाकादि) से शुद्ध सुवर्ण हो जाता है, इसमें क्या कोई भी (जैमिनीय-आदि दार्शनिक) विवाद कर सकता है ? ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जेनदर्शनकार स्वामी समन्तभद्राचार्य* ने भी कहा है, कि किसी पुरुष-विशेष (तीर्थङ्कर-आदि) में अज्ञान-आदि दोषों व उनके कारणभूत ज्ञानावरण-आदि कर्मों की समूलतल (जड़ से) हानि उसको नष्ट करनेवाले आत्मिक कारणों (ज्ञान-ध्यानादि उपायों) द्वारा उस प्रकार होती है जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण का वाह्य व आभ्यन्तर मल उसको नष्ट करनेवाली कारणसामग्री (अग्नि-पुटपाकादि उपाय) द्वारा नष्ट हो जाता है ।

हे प्रभो ! जैसे परिमाण (आकार) आकाश में अपनी बुद्धि की चरमसीमा (महापरिमाणपन) प्राप्त करता है वैसे ही बुद्धि भी किसी महापुरुष (तीर्थङ्कर-आदि) में अपने विकास की चरमसीमा (केवल-

१. केवलज्ञान । २. 'मन्दरतटान्त' क० । ३. चन्द्रः शोभमान एव चन्द्रः । ४. विकासकर्ता । ५. गर्व । ६. 'परिच्छेद-वस्तु-तन्त्रं आत्वं कुलं तन्त्रं तन्त्रं सिद्धौषधिक्रिया । तन्त्रं मुखं वलं तन्त्रं तन्त्रं पत्रनसाधनं' टि० ख० 'तन्त्र संप्रदायः' इति टि० ख० । ७. गुरौ । ८. जागरणं । ९. सूर्यस्य । १०. ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात् । ११. धीः । १२. स्वयि विषये । १३. जैमिनीयो निरस्तः ।

*. तथा च स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

दोषावरणसंहर्तृनिःशेषास्त्यतिशयानात् । ष्वचिद्यथा स्वहेतुभ्योर्वहिरन्तर्मलक्षयः ॥ १ ॥

परिमाणमिवातिशयेन विद्यति भतिरुच्चैर्नरि गुदतामुपैति ।

१ तद्विश्ववेदिनिन्दा द्विजस्य विश्राम्यति चित्ते देव कस्य ॥१२०॥

२ कपिलो यदि बाण्डुलि^१ चित्तिमचिति^२ सुरगुणोपु^३ स्फेद्वेषे^४ पतति ।

३ चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि^५ कस्य ध्वं^६ तत्र विदित^७ ॥१२१॥

भूपवन^८ वनानलतत्त्वकेषु^९ विषणो^{१०} निगूणाति^{११} विभागेषु ।

न पुनर्विधि^{१२} तद्विपरीतधर्मधाम्नि^{१३} त्वीति तत्तस्य^{१४} कर्म ॥१२२॥

ज्ञान) प्राप्त करती है, इसलिए मीमांसक ने जो सर्वज्ञ की आलोचना की है, वह किसी के भी चित्त में नहीं उत्तरती ॥ १२० ॥

सांख्यदर्शन-मीमांसा

हे विख्यात प्रभो ! जब सांख्य बुद्धि को जड़रूप प्रकृति का धर्म (गुण) मानता है तब यह चतुर्भूत (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु) के स्थापक चार्वाक के यत्नो (सिद्धान्तों) में आ गिरता है । अर्थात्—जिस प्रकार चार्वाक (नास्तिक) बुद्धि को पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार भूतों से उत्पन्न हुई (देहात्मिका, देह-कार्य व देह-गुण) मानता है उसी प्रकार सांख्य भी बुद्धि को जड़रूप प्रकृति से उत्पन्न हुई मानता है, इसलिए उन्हें चार्वाक-मता की आपत्ति होती है ; उक्त शीघ्र के निवारण के लिए यदि सांख्य यह कहता है कि हम तो स्वतन्त्र पुरुषतत्त्व (आत्मपदार्थ) मानते हैं, जो कि चैतन्यस्वरूप की लिए हुए है, तब उक्त दोष कैसे आ सकता है ? उसका उक्त कथन भी विरुद्ध है, क्योंकि जब सांख्य का चैतन्य बाह्य घट-पटादि पदार्थों के ज्ञान से शून्य है, तब हे प्रभो ! आप उसे उस चैतन्य के विषय में कहिए कि उसका वह अर्थक्रिया-हीन चैतन्य किसके उपयोगी होगा ? अर्थात्—जब वह बाह्य पदार्थों के जाननेरूप अर्थ-क्रिया नहीं करता तब अर्थक्रिया-शून्य होने से वह खर-विषाण (गधे के सींग) की तरह असत् सिद्ध होता है ॥ १२१ ॥

भावार्थ—सांख्यदर्शनकार* ने निम्नप्रकार पञ्चीस तत्त्व माने हैं । १. प्रकृति, २. महान् (बुद्धि), ३. अहंकार (अभिमानवृत्ति-युक्त अन्तःकरण), अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले १६ गण (पाँच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध व ग्राह्य इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय-चक्षुरादि-पाँच कर्मेन्द्रिय-वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) व मन एवं पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न होनेवाले पाँचभूत (पृथिवी-आदि) अर्थात्—शब्द से आकाश, रूप से तेज, गन्ध से पृथिवी, रस से जल व स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है । इस प्रकार चौबीस पदार्थ हुए और पञ्चीसवाँ पुरुषतत्त्व (जीवात्मा), जो कि अनादि, सूक्ष्म, चैतन, सर्वगत (व्यापक), निर्गुण, कूटस्थ-नित्य, दृष्टा, भोक्ता व क्षेत्रवित् है । विशेष यह कि सांख्यदर्शन की मीमांसा पूर्व में (आ० ५ पृ० १५२-१५३ श्लोक ६२ व उसके बाद का मध्य तथा पृ० १५७-१५८ श्लोक नं० ८५-८९) कर चुके हैं, वहाँ से ज्ञान लेनी चाहिये ।

१. जिन-निन्दा । २. सांख्यः । ३. ज्ञानं, बुद्धि । ४. अचेतने प्रधान इति यावत् । ५. चार्वाकयत्नोपु चतुर्भूतस्थापकेषु पतति । ६. वतते चैतन्यं तदपि विरुद्धं तदपि श्राव्यमतस्यन्दनं । ७. कार्यकारकं । ८. कथय । ९. चैतन्यविषये । १०. हे विख्यात । ११. जल । १२. बृहस्पतिः । १३. कथयति । १४. विभेदनं ज्ञानं । १५. आत्मनि ज्ञानं न कथयति । १६. तस्मादचेतने जीवस्थापनाद्विपरीतधर्मः । १७. इदं विषयस्य पापं वर्तते ।

*. तथा चोक्तम्—'प्रकृतेर्महोस्तत्रोहंकारस्तस्मादृगणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकापञ्चम्यः पञ्चभूतानि' ॥

(भा० का० २२) सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३१९ से संकलित—सम्पादक

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुचि न गुणाः किल यस्य नयोऽत्र याचि ।

तस्यैव पुमानपि नैव तत्र दाहादहनः क इहापरोऽत्र ॥१२३॥

वरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु निपगृहावि गिरिशः करोति ।

चित्रं तणापि यत्तद्वचांसि लोकेषु भवन्ति महायक्षांसि ॥१२४॥

चार्वाक दर्शन-मीमांसा

चार्वाक-गुरु बृहस्पति ज्ञान को पृथिवी, वायु, जल व अग्नि इन चार अचेतन (जड़) भूतों का धर्म (गुण) कहता है, किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले, अर्थात्—अचेतन (जड़) पृथिवी-आदि भूतों से विपरीत धर्म (चैतन्यगुण) के स्थानवाले आत्मा का धर्म (गुण) नहीं मानता यह उसी बृहस्पति का ही पाप है ।

भावार्थ—चार्वाकदर्शन* की मान्यता है कि 'जब तक जिम्मे तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो; क्योंकि संसार में कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है । अभिप्राय यह है जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तब तपश्चर्या-आदि का बलेश-सहन व्यर्थ है । शरीर ही आत्मा है; क्योंकि उससे भिन्न आत्मद्रव्य की प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतीति नहीं होती । इसलिये जब मरणकाल में शरीर ही भस्मीभूत हो गया; अतः इसका परलोक-गमन (मरण) व जन्मान्तर प्राप्ति (अन्य जन्म) नहीं है । यह पृथिवी, जल, तेज व वायु इन चार भूतों को चार पदार्थ मानता है और जिस प्रकार महुआ, गुड़, व जल-आदि पदार्थों से उत्पन्न हुई सुरा में मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार शरीरकार परिणत हुए पृथिवी-आदि चार भूतों से चैतन्य (ज्ञान) शक्ति उत्पन्न होती है एवं शरीर के नष्ट हो जाने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है । विशेष यह कि हम नास्तिक दर्शन की विस्तृत मीमांसा पूर्व में (आश्वास ४ पृ० ५१-५२ श्लोक ४५-४७ एवं आश्वास ५ पृ० १६३-१६५, श्लोक ११३-१२६ तक) कर चुके हैं ॥ १२२ ॥

वैशेषिक दर्शन की मुक्ति-मीमांसा

जिस कणाद ऋषि (वैशेषिक दर्शनकार) के सिद्धान्त में यह न्याय है कि "निश्चय से मुक्तजीव में विज्ञान (बुद्धि) व सुख-आदि गुण नहीं हैं, उसके यहाँ मुक्ति अवस्था में जीवतत्त्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार लोकर में उष्णता के बिना अग्नि सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार विज्ञान-आदि गुणों के बिना मुक्त अवस्था में जीव भी सिद्ध नहीं होता, । क्योंकि गुणों के बिना गुणवान् द्रव्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?

भावार्थ—वैशेषिक दर्शनकार† मुक्ति अवस्था में मुक्तजीव में बुद्धि व सुख-आदि विशेष गुणों का अत्यन्त अभाव मानते हैं । यह युक्ति संगत नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्ति में जीव द्रव्य शून्य सिद्ध हो जाता है ॥ १२३ ॥

सृष्टिकर्तृत्व-मीमांसा

जब महेश्वर पर्वत व पृथिवी-आदि पदार्थों की सृष्टि करता है तब निश्चय से उसी शिव को घट व

१. मुक्तजीवों के विज्ञानादयो गुणाः न वर्तन्ते । २. यस्य जीवस्य कणादस्य याचि—सिद्धान्ते—नयो न्यायोऽस्ति ।
३. जीवोऽपि नास्ति तस्मिन् मते, दाहादुष्णत्वं विना यथाऽग्निर्नास्ति तथा ज्ञानादिगुणान् विना आत्मापि नास्ति ।
४. गिरिप्रभृति यदि वस्तु सृजति तर्हि घटादीनपि सृजति । ५. रुद्रः । ६. शैववचांसि—शैववचनानि ।
- *. तथा चोक्तम्—यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य वेदस्य पुनरागमनं कुतः ॥ १ ॥

सर्वदर्शन संग्रह पृ० २ से संकलित—सम्पादक

- †. तथा चोक्तम्—अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिकाः सर्वदर्शनसंग्रह (उपोद्घात) पृ० ७८ से संकलित—

पुष्पप्रयमबलासक्तमूर्ति तस्मात्परस्तु^१ गतकायकीर्तिः^२ ।

एवं सति नाय कथं हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥१२५॥

^३सोऽहं योऽभूवं जालवयसि निविचन्वन्शणिकमर्तं जहासि ।

^४संतानोऽप्यत्र न *वासनापि ^५यत्तन्वयभावस्तेन नापि ॥१२६॥

^६चित्तं न विचार*कमक्षजनितमखिलं ^७सर्विकल्पं ^८स्वाशपतित-

^९मुदितानि ^{१०}वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमारमहिताभ्युशन्ति^{११} ॥१२७॥

व गृह-आदि को सृष्टि करनी चाहिए, आश्चर्य है फिर भी उसके वचन (वेदादि) मनुष्य-समूह द्वारा विशेष कीर्तिशाली (प्रामाणिक) माने जाते हैं ।

भावार्थ—जब सदाशिव पृथिवी-आदि को सृष्टि करता है तब वही घट व गृहादि को सृष्टि क्यों नहीं करता ? और ऐसा होने से कुंभार व बढ़ई-आदि से क्या प्रयोजन रहेगा ? इसकी मीमांसा पूर्व में (आ० ५ पृ० १६१) की जा चुकी है ॥ १२४ ॥

वेद की ईश्वर कर्तृत्व-मान्यता की समीक्षा

हे स्वामिन् ! श्री ब्रह्मा, विष्णु व महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी व गौरी में आसक्त हैं, (जिससे रागादि दोषों से दूषित होने के कारण अप्रमाण हैं) और उनसे भिन्न परमशिव शरीर-रहित है । ऐसी स्थिति में उस परमशिव से हिताहित के प्रदर्शक वेद की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है ? ॥ १२५ ॥

बौद्धदर्शन-समीक्षा

‘जो मैं बाल्यावस्था में था, वही मैं युवावस्था में हूँ’ यदि इस प्रकार एकत्व मानते हो तो हे बौद्ध ! तुम अपने क्षणिक सिद्धान्त का त्याग करते हो । उक्त दोषके निवारण के लिए बौद्ध (बौद्ध) यह कहता है, कि यद्यपि क्षणिक आत्मादि वस्तु नष्ट हो जाती है, परन्तु उसकी सन्तान या वासना बनी रहती है, जिससे उक्त बात संघटित हो जायगी । उक्त विषय पर विचार करते हैं, कि आपके यहाँ सन्तान या वासना भी घटित नहीं होती । अर्थात्—जो जीवक्षण प्रथम समयमें ही समूल नष्ट हो चुका, उससे अन्य जीवक्षण उत्पन्न नहीं हो सकता । जिस प्रकार आपके क्षणिकवाद में सन्तान नहीं है उसी प्रकार वासना (संस्कार) भी नहीं है; क्योंकि विद्यमान पदार्थ में सन्तान या वासना संघटित होती है, न कि सर्वथा समूलतल नष्ट हुए पदार्थों में । अतः आपका कथन विरुद्ध पड़ता है । क्योंकि अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली पूर्वापर पर्यायोंमें व्यापक रूप से रहनेवाले आत्म द्रव्य संबंधी अन्वय के बिना सन्तान या वासना नहीं बन सकती ॥ १२६ ॥

बौद्ध के प्रमाणतत्त्व की मीमांसा

१. आपका समस्त पाँच प्रकार का इन्द्रिय-जनित निर्विकल्पक ज्ञान विचारक नहीं है और इससे दूसरा

१. परः परम एव शिवः । २. कायरहितः । ३. सोऽहं इति मन्यसे चेत्तर्हि क्षणिकमर्तं जहासि रे बौद्ध ! ।
४. यो जीवः प्रथमसमये विष्वक्सं प्राप्तः तस्माज्जीवाद्यो जीवो नोत्पद्यते । एवंविधः सन्ताननिषेधोऽस्ति भवन्मते ।
- *. भवन्मते यथा सन्तानो नास्ति तथा वासनापि नास्ति तर्हि कथमुच्यते वासनया ज्ञानमुत्पद्यते तद् भवतः सर्वमसम्बद्धं । ५. अनुक्रमेणोत्पन्नेषु चैज्जीवाज्जीव उत्पद्यते तर्हि तेन कारणीतास्मन्यतेऽपि आत्मा विवर्तते ।
६. अविकल्पं ज्ञानं । ‘तज्ज्व निर्विकल्पकमिव सर्विकल्पमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापसंसर्ग-रहितत्वात्’ ।—अष्टसहस्री पृ० ७४ से संकलित—सम्पादक । * . निर्विकल्पं । ७. ससन्देहं पञ्चप्रकारं ।
८. आत्मस्वरूपाद्भिन्नं वर्तते । ९. बोद्धोक्तानि । १०. जीवादि । ११. वदन्ति ।

‘अद्वैतं तत्त्वं यदस्ति’ कोऽपि मुषियां^१ विद्यमातनुते न सोऽपि* ।

‘यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसंस्थाः कुतोऽत्र शिवशर्मसदन ॥१२८॥

‘हेतावनेकधर्मप्रवृद्धि’राख्याति जिनेश्वरतरवसिद्धि—^२ ।

‘मन्यपुन’रखिलमतिव्यतीतमुद्धाति सर्वमुदनयनिकेत^३ ॥१२९॥

पाँच प्रकार का सविकल्पक ज्ञान अपने प्रमाण स्वरूप से भिन्न (संदिग्ध) है। इसलिए हे भगवन् ! जब बौद्धों द्वारा कहे हुए प्रमाणतत्त्व या वचन जीवादि वस्तु का स्पर्श नहीं करते तब बौद्धानुयायी आत्महित किस प्रकार कहते हैं ?

भावार्थ—बौद्धों* ने कहा है, कि इन्द्रिय-जनित निविकल्पक प्रत्यक्ष सत्य (प्रमाण) है; क्योंकि वह ब्राह्मण-आदि की कल्पना से शून्य है और सविकल्पक ज्ञान भ्रम रूप है, क्योंकि उसमें कल्पितरूप से वस्तु प्रतीत होती है, जिससे सभी को ऐकमत्य नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में जब प्रमाणतत्त्व वस्तु निश्चायक नहीं है तब वहाँ आत्म-हित कैसे संभव हो सकता है ? ॥ १२७ ॥

ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार (बौद्ध विशेष) मत-समीक्षा

हे मोक्ष-सुख के गृह प्रभो ! जो कोई (ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार) भी अद्वैत तत्त्व (क्षणिक ज्ञानमात्र) को कहता है। अर्थात्—जो समस्त चराचर जगत को भ्रमरूप मानकर केवल क्षणिक ज्ञान परमाणु-पुञ्जरूप तत्त्व मानता है, वह भी विद्वानों की बुद्धि को प्रभावित नहीं कर सकता; क्योंकि इस अद्वैत तत्त्व में प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण की स्थिति किस प्रकार संघटित हो सकती है ?

भावार्थ—‘रागादि से भिन्न शुद्ध जीवतत्त्व नहीं है, जिस प्रकार अङ्गार से कृष्णता पृथक् नहीं है’। प्रस्तुत वादी की यह मान्यता अयुक्त है; क्योंकि प्रतिवादी (जैन) द्वारा स्वीकार किये हुए निम्नप्रकार पक्ष, हेतु व उदाहरण वर्तमान हैं। ‘रागादि से भिन्न शुद्ध जीवतत्त्व है’ यह पक्ष या प्रतिज्ञा हुई; क्योंकि परम-समाधिस्थ महापुरुषों द्वारा शरीर-परिमाण, रागादि से भिन्न, चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्ध जीवतत्त्व की उपलब्धि देखी जाती है’ यह हेतु (युक्ति) हुआ। ‘कालिकास्वरूपस्वर्णवत्’ अर्थात्—जिस प्रकार किट्ट कालिका से पृथक् शुद्ध सुवर्ण उपलब्ध है, यह दृष्टान्त-वचन (उदाहरण) हुआ। इस प्रकार प्रतिपक्ष-हेतु-उदाहरण समझना चाहिए ॥ १२८ ॥

अद्वैत की सिद्धि के लिए हेतु को मान लेने से उसके साथ में हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व-आदि

१. ज्ञानमात्रमेकमेव । २. बौद्धविशेषः । ३. चमत्कारः ।

*. ‘हेतोरद्वैतसिद्धिरचेद् द्वैतं स्याद्वेनुसाध्ययाः । हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं बाह्यमात्रतो न किम् ॥ २९ ॥—आप्तमीमांसा ।

४. ‘अङ्गारात् कालिकास्वर्णवत्’ रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्ति’ इति यद् भणितं तदयुक्तं कथमिति चेत्—‘रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्ति’ इति पक्षः आस्था सन्धा-प्रतिज्ञा इत्यनर्थान्तरं, परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीरप्रमाणरागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुतः, कालिकास्वरूपस्वर्णवदिति दृष्टान्तः, इति प्रतिपक्षहेतुदृष्टान्त-वचनानि शाखयानि । ५. कारणे कथिते सति । ६. पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वादिका । ७. अनेकपदार्थस्वभावसिद्धि कथयति । ८. दृष्टान्तं वचः । ९. सर्वमतरहितं कस्यापि मतस्याधीनं न दृष्टान्तं ‘दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येयाः’ इत्यादि पूर्वोक्तः । १०. हे अनेकान्तानयनिकेत ।

*. तदुक्तं—कल्याणोद्धमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निविकल्पकम् । विकल्पो वस्तुनिर्भाषसंवादादुपप्लवः ॥ १ ॥

सर्वदर्शन संग्रह पृ० ४४ से संकलित—सम्पादक

१ भूषणपूर्ववर्तमानायकस्य २ भवतो ३ भवतोऽपि गुणोत्तमस्य ।
 ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडजं भौक्तिकमपि *हरन्ति ॥१३०॥
 नास्तेषु ४ बहुष्वं यः सहेतु ५ पर्यायविपुलधिवि ६ महेतु ।
 नूनं ब्रह्मिणादिषु वेदेषु ७ कं तस्य स्फुटति तथाविधेषु ८ ॥१३१॥
 ९ बोधासु तपसि वचसि १० त्वयि तु यविहैक्यं ११ सकलगुणैरहीन १२ ।
 तस्मादवैमि १३ जगतां स्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥१३२॥
 वेव त्वयि कोऽपि तथापि विमुक्तचित्तो यदि १४ विदलितमदनविशिष्ट ।
 निन्द्यः स एव घूके दिवापि १५ विदूशोऽनुपाख्यते न कोऽपि ॥१३३॥

अनेक धर्म मानने पड़ते हैं और उनके मानने से जितेन्द्र के द्वारा कहे हुए द्वैततत्त्व की ही सिद्धि होती है—
 अद्वैत की नहीं । अतः हे स्याद्वाद के आधार प्रभो ! सर्वमत से रहित हुए केवल एकमत के समर्थक दृष्टान्त
 नहीं होते ॥ १२९ ॥

हे प्रभो ! द्वेष से कलुषित बुद्धिवाले लोग, जो पूर्व में मनुष्य होकर स्याद्वाददर्शन के नेता हुए हैं और
 जो श्रीशिव (रुद्र) से भी गुणोत्तम (वीतरागता व सर्वज्ञता-आदि गुणों से सर्वश्रेष्ठ और पक्षान्तर में प्रशस्त
 तन्तुओं द्वारा गूँथी जाने से थोड़ा) हैं आपके ऐसे भौक्तिक (मुक्तिश्री की प्राप्ति के सिद्धान्त व पक्षान्तर में
 मोती-समूह) को छोड़ देते हैं, जो कि जड़ज (जड़ाय-जातं, अर्थात्—अज्ञानियों के उद्धार के लिए उत्पन्न
 हुआ और पक्षान्तर में झलथोरभेदः, अर्थात्—झलथालझूल में ड और ल एक समझे जाते हैं; अतः जलज—जल
 से उत्पन्न हुआ) है ।

भाषार्थ—जिस प्रकार मलिन बुद्धिवाले अज्ञानी पुरुष जल से उत्पन्न हुए बहुमूल्य मोती-समूहको,
 जो कि गुणोत्तम (प्रशस्त तन्तुओं द्वारा गुम्फित होने से उत्तम) है व श्रेष्ठनायक मणिवाला है, छोड़ देते हैं
 उसी प्रकार द्वेष से कलुषित बुद्धिवाले पुरुष भी आपके भौक्तिक (मुक्ति-संबंधी सिद्धान्त), जो कि जड़ज है,
 अर्थात्—सांसारिक ताप नष्ट करने से शीतल है, अथवा अज्ञानियों के उद्धार के लिए उत्पन्न हुए हैं, छोड़ देते
 हैं ॥ १३० ॥

हे पूज्य ! जिसे अनुक्रम से होनेवाले बहुत आत्माओं को मान्यता सह्य नहीं है, निश्चय ही अवताररूप
 ब्रह्मा-आदि देवताओं के सामने वह अपना सिर फोड़ता है । अर्थात्—उसे अनुक्रम से उत्पन्न हुए बहु संख्या-
 वाले ब्रह्मा-आदि देवताओं के लिए भी अपना भस्तक नहीं झुकाना चाहिए ॥ १३१ ॥ हे समस्त गुणों से परि-
 पूर्ण व विद्वानों की योग्य चरण सेवावाले प्रभो ! निश्चय से आपके चारित्र्य, तपश्चर्या व वचनों में जो एक-
 वाक्यता (पूर्वापर विरोध-अन्यता) पाई जाती है, अतः मैं जानता हूँ कि तुम्हीं तीनलोक के स्वामी
 हो ॥ १३२ ॥ हे काम के वाणों को चूर-चूर करनेवाले प्रभो ! तथापि यदि कोई तुमसे विमुक्त चित्तवाला है तो

१. अयं जितः पूर्व नरः । २. तव । ३. रुद्रादपि । *. 'रहन्ति' इति मु० व ख० । टिप्पण्यां रह त्यागे त्यजन्ति ।
 ४. २४ चौबीस तीर्थङ्कर । ५. अनुक्रमेणोत्पन्नेषु । ६. हे पूजागत । ७. भस्तकं । ८. बहुषु हरिहरादिषु ।
 ९. चारित्र्येषु । १०-११. त्वयि विषये निश्चयेन चारित्र्यादीनामैक्यं वर्तते । १२. परिपूर्ण । १३. जानामि ।
 १४. हे चूर्णीकृतमदनवाण ! । १५. घूके अन्धे सति इनें सूर्यं न कोऽपि निन्दति ।
 १६. व्यङ्ग्यार्थ—मोतीमाला नायकमणि (मध्यमणि) से युक्त होती है व सूत्रों—तन्तुओं-से गुम्फित होती है, यह बात
 भी यहाँ झलकती है—सम्पादक

निदिक्ञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन १ दिशसि निकामं कामितानि ।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो २ चकास्ति ॥१३४॥

पद्धतिका—

इति ३ तदमृतनाथ स्मरशरमाय ४ त्रिभुवनपतिभक्तिकेतन ५ ।
मम विश जगदीश ६ प्रशमनिवेश त्वत्पञ्चनुतिहृदय ७ जिन ॥१३५॥

घत्ता—

अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमाः । ८ स्मरभदमयध्वान्तध्वंसे मतः ९ धरमोऽयं मा १० ।
अथयहृदयः कर्मरातो नरे ११ च कृपात्मवानिति १२ विसृज्यध्यापारस्त्रं तथापि भवान् महान् ॥१३६॥
१३ अनन्तगुणसन्निधौ १४ नियतबोधसंपन्नधौ धृताग्नियुष्मत्संस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते १५ ।
जिनेश्वर सतीवृशे त्वयि मयि स्फुटं तावृशे कथं सद्गुणनिश्चयं तद्विवमस्तु १६ वस्तुद्वयम् ॥१३७॥
१७ तदलमनुलक्ष्य १८ द्रवाणीपयस्तवनोचिते स्वयि गुणगणापात्रं स्तोत्रैर्जडस्य हि नावृशः ।
प्रणतिविषये ध्यापारेऽस्मिन्पुनः सुलभे जनः १९ कथमयमवागास्तां स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥१३८॥

वही निन्दा के योग्य है; क्योंकि उल्लू के दिन में भी अन्धे हो जाने पर कोई भी सूर्य की निन्दा नहीं करता ॥ १३३ ॥ हे जिन ! आपके पास कुछ भी नहीं है, अर्थात्—आप धन-धान्यादि परिग्रह से रहित हैं तो भी तुम जगत के लिए कौन कौन सी यथेष्ट इच्छित वस्तुएं प्रदान नहीं करते ? किन्तु इसमें आश्चर्य नहीं है; क्योंकि आकाश के पास कुछ भी नहीं है फिर भी क्या उससे जलवृष्टि होती हुई नहीं देखी जाती ? ॥ १३४ ॥ इसलिए हे मोक्षके स्वामी ! हे काम-वाणों के विध्वंस करनेवाले ! हे तीनलोक के स्वामियों की सेवा के मन्दिर ! हे कर्मों के क्षय के स्थान ! और हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! मुझे आपके चरणोंमें नमस्कार करनेवाली बुद्धि प्रदान कीजिए ॥ १३५ ॥

हे जिनेन्द्र ! देवाङ्गनाओं के नेत्ररूपी कुवलयों (चन्द्र-विकासी कमलों) के विकसित करने के लिए आप आनन्दप्रद चन्द्रमा हैं और काम के भद्ररूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए आप सूर्य कहे गये हैं एवं कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करने के लिए आप कठोर हृदय हैं, किन्तु नष्ट्रीभूत मानव के विषय में आप दयालु हैं । इस प्रकार विपरीत व्यापार वाले (चन्द्र, सूर्य, निष्ठुरता व दयालुता-आदि विजातीय व्यापार-युक्त) हो करके भी आप महान् हैं ॥ १३६ ॥ आप अनन्त गुणों की निधि (खजाना) हैं और मैं, परिमित बुद्धिरूपी (मतिज्ञान व श्रुतज्ञान) सम्पत्ति का खजाना हूँ । आप द्वादशाङ्ग धृतरूपी समुद्र के पारदर्शी विद्वानों (गणधरादि) द्वारा स्तुति किये गए हैं और मैं परिमित शब्दों वाला और सीमित छन्दों या सीमित आचरण से युक्त हूँ । हे जिनेश ! आप में और मुझमें इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए हम दोनों एक सरीखे कैसे हो सकते हैं ? इसलिए मैं और आप दोनों दो वस्तु हैं ॥ १३७ ॥

हे अनुपम ! जब तुम आप सरीखी वाणी के मार्ग (गणधरादि) द्वारा स्तवन करने के योग्य हो तो मुझ अज्ञानों के आपके गुण-समूह के स्थान न होनेवाले स्तवनों से आपकी स्तुति करना व्यर्थ है, परन्तु जब

१. अपि तु सर्वाणि वाञ्छितवस्तूनि त्वं ददासि । २. किं न भवति ? ३. मोक्ष । ४. विध्वंसक । ५. सेवा-हृदयमन्दिर । ६. कर्मक्षयस्थान । ७. बुद्धि दिश । ८. कामभद्रमयी मोक्षो अन्धकारः । ९. कथितः । १०. रश्मिः । ११. नम्रे नरे । १२. विपरीत । १३. त्वयि । १४. मयि । १५. आचरण मयि । १६. त्वं, अहं च । १७. स्तोत्रैर्मादृशो जडस्य । १८. भवत्सद्गुणवाणीमार्गयोग्ये । १९. कथं सिद्धुं अर्थं मल्लक्षणः तेन किञ्चिज्जल्पितं, परन्तु मया स्तोत्रं कर्तुं न पार्यते ।

तान्तेषां पात्रं निश्चितविधानात्तन्त्रं^१ । महान्तं तेषां तन्त्रं सकलजनयनीतिस्मृतगुणम्^२ ।

महोदारं सारं विनतहृदयानन्वविषये ततो पात्रे नो चेद्भूर्यास भगवन्तयिविमुक्तः ॥१३९॥

भनुजविविजलक्ष्मीलोचनालोकलीला^३ शिवरनिह^४ चरितावस्तिवत्प्रसादात्प्रजाताः ।

हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात्सहवसतिसनाथं छात्रमिच्छे^५ विधेहि ॥१४०॥

इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिनाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

^१सर्वक्षर^६नामाक्षर^७मुखपाक्षराद्येक^८वर्णविध्यासात् । ^२निगिरन्ति जपं केचिदहं तु ^३सिद्धकमेरेव ॥१४१॥

पातालमर्त्यलेखरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य । ^४अविगानात्संसिद्धिः ^५समवाये ^६देवयात्रायाम् ॥१४२॥

पुष्पैः पर्वभिर^९भुजयीजस्वर्णा^{१०}कंकान्तरत्नैर्वा । निष्कम्पिताक्षवलयः^{११} पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ॥१४३॥

नमस्कार संबंधी व्यापार सुलभ है तब मुझ सरोखा विद्वान् मूक कैसे रहे ? इसलिए मैंने कुछ कहा है । परन्तु मेरे द्वारा स्तवन करना शक्य नहीं है, अतः हे स्वामिन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १३८ ॥

हे भगवन् ! आप जगत् के नेत्र हैं, समस्त पदार्थों के ज्ञानरूपी तेज के स्थान हैं, महान् हैं, समस्त सिद्धान्तों में आपके गुण स्मरण किये गए हैं, विनयशील मानवों के हृदय प्रमुदित करने के लिए महान् उदार हैं, अतः मैं आपसे याचना करता हूँ, यदि आप याचकों से विमुख नहीं हैं ॥ १३९ ॥ भगवन् ! आपके प्रसाद से हम इस लोक में चिरकाल तक मानवीय लक्ष्मी व स्वर्गलक्ष्मी के नेत्रों के दर्शन की शोभा प्राप्त करनेवाले होकर कृतार्थ हो चुके । अब तो 'छात्रमित्र' इस दूसरे नामवाले सोमदेवसूरि का यह हृदय प्रभु की सेवा के लिए उत्सुक है, इसलिए अब मेरे हृदय को अपने साथ निवास से सहित कीजिए—मेरे हृदय में निवास कीजिए ॥ १४० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में स्तवन विधि नामक सैंतीसवीं कल्प समाप्त हुआ ।

[अब जप करने की विधि निरूपण कहते हैं—]

जप-विधि

कोई आचार्य 'णमो अरहंताण' आदि पूरे नमस्कार मन्त्र से जप करना कहते हैं । कोई अरहंत व सिद्ध-आदि पंच परमेष्ठी के वाचक नामाक्षरों से जप करना कहते हैं । कोई पंचपरमेष्ठी के वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरों से जप करना कहते हैं । कोई 'ओ' अथवा 'अ' आदि एक अक्षर से जप करना कहते हैं, किन्तु मैं (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पैंतीस अक्षरों वाले पञ्च नमस्कार मन्त्र से ही जप करना कहता हूँ ॥ १४१ ॥ अधोलोक में (भवतदारी व व्यन्तर देवों में), मनुष्यों में, विद्याधरों में, वैमानिक देवों में, जन-समाज में और तीर्थङ्कर-पूजा में सिद्धि-दायक होने के कारण पंचनमस्कार मन्त्र का सर्वत्र विशेष आदर है, इसमें किसी प्रकार

१. तेजसां पात्रं स्थानं । २. समयसिद्धान्तनिमित्तगुणं । ३. शोभा । ४. सत्यार्थः ।

५. 'सहनिवाससहितं मदीयं हृदयं कुरु' टि० ख०, ।

'वसनं वसति सह वसत्या सनाथं सहितं सहवसतिसनाथं' टि० ख० ।

छं. 'छात्रा एव मित्राणि यस्य' टि० ख०, 'मयि सोमदेवे' टि० ख० ।

'छात्रमित्रेति कवेरवेदनं नाम' इति पञ्जिकायां ।

६. णमो अरहंताणमित्यादि पंचत्रिंशत् । ७. अरहंत, सिद्ध इत्यादि । ८. असि आ उसा । ९. ओं अथवा अ ।

१०. कथयन्ति । ११. अनादिसंसिद्धपंचविंशदक्षरैः । १२. अविप्रतिपत्तेः आदरात् । १३. 'अविगानात् संसिद्धिः' च० ।

१४. समाजे संघमेलापके । १५. तीर्थङ्करपूजायां । १६. कमल, काकड़ी । १७. सूर्यकान्त । १८. इन्द्रियसमूहः ।

अङ्गुष्ठे भोक्तार्यो^१ तर्जनीं साधू बहिरिव नयतु । इतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बाहिरस्तच्चैहिकापेक्षौ ॥१४४॥
 वचसा वा मनसा वा कार्यो^२ जापः समोहितस्वान्तैः । शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसंख्यं द्वितीये तु ॥१४५॥
 नियमितकरणग्रामः स्थानासनमानसप्रचारज्ञः । पञ्चप्रयोगनिपुणः सम्यक्सिद्धो भवेदशेषकः ॥१४६॥
 इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चाशत्प्रकारवर्णस्थम् । मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥१४७॥
 मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यकृद् भवेत्सिद्धः । 'अस्यैकदेशकार्यं' परे^३ तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥१४८॥
 कुर्यात्करयोर्व्यासं कनिष्ठिकान्तः^४ प्रकारपुगलेन । तद्यतु 'हृदयमनमस्तककवचास्त्रविधिविधातयः' ॥१४९॥

का विवाद नहीं है ॥ १४२ ॥ पद्मासन से बैठकर इन्द्रिय-समूह को चञ्चल न करके (निश्चल करते हुए) जपकर्ता को पुष्पों से या अङ्गुलियों के पर्वों से अथवा कमलगट्टों से या सुवर्ण के दानों से अथवा सूर्यकान्त-मणि के दानों से पञ्च नमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए ॥ १४३ ॥

मुक्तिप्राप्ति के इच्छुक जपकर्ता को माला के लिए अँगूठा और उसके पास की तर्जनी अँगूली पर रखकर तर्जनी अँगूली से भलीभाँति बाहर की ओर जप करना चाहिए और ऐहिक सुख की अपेक्षा करनेवाले जपकर्ता को शेष अँगुलियों (मध्यमा व अनामिका) द्वारा बाहर व अन्दर की ओर जप करना चाहिए ॥ १४४ ॥ ध्येय वस्तु में निश्चलीकृत मनवाले जपकर्ता द्वारा वचन से या केवल मन से पञ्चनमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए । क्योंकि वाचनिक जप में सौगुना और मानसिक जप में तो हजार गुना पुण्य होता है ॥ १४५ ॥ ऐसा विवेकी जपकर्ता सर्वज्ञ होकर सिद्धपद प्राप्त करता है, जिसने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश में किया है, जो एकान्तस्थान, आसन (पद्मासन व खड्गासन), और मानस प्रचार (मन को नाभि, नेत्र व ललाट-आदि में संचारित करना) का शास्त्र है, अर्थात्—जो अपनी मनोवृत्ति समस्त बाह्य विषयों से खींचकर आत्मस्वरूप में ही प्रवृत्त करता है, जो प्राणायाम-विधि द्वारा वायु-तत्त्व के प्रयोग करने में निपुण है ।

भावार्थ—जपकर्ता को सबसे पहले जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक व अनिवार्य है, अन्यथा उसका जप हस्ति-स्नान की तरह निष्फल है । इसी प्रकार उसे एकान्त स्थान में पद्मासन व खड्गासन लगा कर एकाम्र चित्तपूर्वक जप करते हुए प्राणायाम विधि द्वारा कुम्भक व पूरक-आदि वायुतत्त्व का यथाविधि उपयोग करने में चतुर होना चाहिए; क्योंकि विधि पूर्वक पञ्चनमस्कार मन्त्र का जपकर्ता सर्वज्ञ होकर सिद्धपद प्राप्त करता है ॥ १४६ ॥

क्योंकि मुनिराज मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए अन्त में इसी पैंतीस अक्षरोंवाले पञ्चनमस्कार मन्त्र को सदा विधि पूर्वक जपते हैं ॥ १४७ ॥ यह अकेला ही सिद्ध किया हुआ होनेपर सब मन्त्रों का कार्य करता है, किन्तु दूसरे सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी कार्य नहीं करते ॥ १४८ ॥

[जप-प्रारम्भ करने से पूर्व सकलीकरण-विधान—]

दोनों हस्तों की अँगुलियों पर अँगूठे से लेकर कनिष्ठिका अँगुलि तक दो प्रकारसे मन्त्र का न्यास करना चाहिए । तदनन्तर हृदय, मुख व मस्तक-आदि का अङ्गन्यास करके जपकर्ता को निर्विघ्न इष्ट-सिद्धि के लिए सकलीकरण विधिरूपी कवच (बस्तर) व अस्त्र-धारण की विधि करनी चाहिए ।

भावार्थ—जप करने से पूर्व अङ्ग-शुद्धि, न्यास व सकलीकरण विधि करनी चाहिए । अर्थात्—प्रतिष्ठा-

१. जाप्ये कृते सति इदं बहिरवस्तु उच्चाटनीयं जपः प्रापयतु । २. सर्वैकसामपञ्चसि जप्यं त्रिष्वधर्मवर्षणे ।
३. मन्त्रस्य । ४. शमो अरहन्ताणमेतावन्मात्रेणापि । ५. मन्त्राः । ६. विधिपूर्वक अँगुलिरेखा । ७. एष विस्तारः सकलीकरणविधौ ज्ञातव्यः ।

संपूर्णमतिस्पर्ष्टं 'सनादमानन्वसुत्वरं जपतः । सर्वसमोहितसिद्धिनिःसंशयमस्य जायेत ॥१५०॥

मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलभ्येऽपि । पञ्चाप्यपि चिदपी फलति तथाप्यस्य सिध्यते मूलम् ॥१५१॥

अत्रामुत्र च नियतं कामितफलसिद्धये परो मन्त्रः । नाभूदस्ति भविष्यति गुरुपञ्चकवाचकाम्मन्त्रात् ॥१५२॥

अभिलषितान्तरात्तेनो बुद्धिबुधवाचके हि मन्त्रोऽस्ति ॥ ३ ॥ इन्द्राभुवाचके सति परत्र मन्त्रे कथं सजतु ॥१५३॥

इत्थं मनो मनसि बाह्यमवाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगरं भवतो^२ नियम्य ।

सम्यग्जपं विवक्षतः सुधियः प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य कृतिनः किमसाध्यमस्ति ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिनामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ।

^३आविध्यासुः परं व्योतिरीप्सुस्तद्धाम शाश्वतम् । इमं ध्यानविधिं यस्माद्यस्यस्तु समाहितः ॥१५५॥

सार संग्रह पृ० १८ में लिखे हुए मन्त्र (ॐ ह्रां णमो अरहंताणं ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः-आदि) पढ़कर सकलीकरण विधि करनी चाहिए । पश्चात् जप-विधि आरम्भ करनी चाहिए । विद्वद्वचनं पं० श्री. आशाधरजी ने प्रतिष्ठा-सारोद्धार में लिखा है, कि 'इस सकलीकरणरूपी बस्तर को धारण किये हुए जो मन्त्रवाला इष्ट कर्म (पूजा व जप-आदि) करता है, उसके कोई विघ्न नहीं आता ।' ॥ १४९ ॥

[पञ्च नमस्कार मन्त्र के जप का फल व माहात्म्य—]

ऐसे जपकर्ता के निस्सन्देह समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं, जो कि आनन्द-पद होने से मनोज्ञ विन्दु-सहित णमोकार मन्त्र को शुद्ध व स्पष्ट उच्चारणपूर्वक जपता है ॥ १५० ॥ दूसरे मन्त्रों से फल-सिद्धि होने पर भी इसी पञ्चनमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए । क्योंकि वृक्ष यद्यपि अग्रभाग पर फलता है तथा इसकी जड़ सौंची जाती है, अर्थात्—यह मन्त्र सब मन्त्रों का मूल है, अतः इसी का जप करना चाहिए ॥ १५१ ॥ पञ्च परमेशी के वाचक इस णमोकार मन्त्र के सिवा दूसरा मन्त्र इसलोक व परलोक में निश्चित रूप से अभिलषित फलसिद्धि करनेवाला न हुआ है, न है और न होगा ॥ १५२ ॥

जब यह णमोकार मन्त्र निस्सन्देह अभिलषित वस्तु के देने में कामधेनु-सरीखा है और पापरूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-जैसा है एवं ऐहिक व पारलौकिक सुख देने में समर्थ है, तब कौन जपकर्ता मानव दूसरे मन्त्र को जपविधि में तत्पर होगा ? ॥ १५३ ॥ इस प्रकार मन को नियन्त्रित करके और इन्द्रिय-रूपी नगर को बाह्य विषयों से हटाकर आभ्यन्तर की ओर करके तथा स्वासोच्छ्वास को प्राणायाम विधि द्वारा नियन्त्रित करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है, उस पुण्यशाली जपकर्ता के लिए तीनों लोकों में कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १५४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जपविधि नाम का यह अड़तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ध्यान-विधि का निरूपण करते हैं—]

१. विन्दुसहितं णकारस्यानुस्वारो दीर्घं पद्यते । २. नियन्त्र्य । ३. आध्यातुमिच्छुः ।

श्री. तथा च विद्वान् आशाधरः—

'अमितोज्जेन सकलीकरणेन महामताः । कुर्वन्निष्ठानि कर्माणि केनापि न बिभ्रन्त्यते' ॥ ७० ॥

—प्रतिष्ठासारोद्धार अ० २ पृ० ३६ से संकलित—सम्पादक

तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ बृहन्मनतया मनः । बहिर्व्याप्तौ जडं कृत्वा ^१द्वयमासनमाचरेत् ॥१५६॥

^२सूक्ष्मप्राणयमाधामः* ^३सन्तसर्वाङ्गसंचरः । ^४प्रायोत्कीर्ण इवासीत् ध्यानानन्वमुषां लिहन् ॥१५७॥

यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते । तदा ज्योतिः स्फुरत्य^५न्तश्चले^६ चित्तं निमग्नवति ॥१५८॥

चित्तस्यैकाग्रता^७ ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः । ध्येय*मात्मागमज्योतिस्तद्विधिं देहयातना^८ ॥१५९॥

तंदेवमामरं मार्त्यं माभसं भौममङ्गजम् । सहेतुं समधोः सर्वमन्तरायं ^९द्वयातिगः ॥१६०॥

^{१०}नास्मिन्मविष्णवे न ^{११}कलीब्रह्ममृत्यवे । तस्माद्विलिख्यमानात्मा परं ब्रह्म चिन्तयेत् ॥१६१॥

ध्यान-विधि

जो अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने का अभिलाषी है और जो उस स्थायी मोक्षपद की प्राप्ति का इच्छुक है, उसे सावधान होकर आगे कहो जानेवाले इस ध्यानविधि का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिए ॥ १५५ ॥ तत्त्वों (अर्हन्तभगवान् या जीवादि) के चिन्तवनरूपी अमृत के समुद्र में अपना मन दृढ़तापूर्वक मग्न करके और उसे बाह्य विषयों की व्याप्ति से इकट्ठम जड़ करके पद्मासन या खड्गासन से ध्यान करना चाहिए ॥ १५६ ॥ धर्मध्यानी को ध्यानरूपी सूखामृत का आस्वादन करते हुए उच्छ्वास-निःश्वासरूप प्राणवायु के प्रवेश व निर्गम को सूक्ष्म करनेवाला निश्चल और समस्त अङ्गों का हलन-चलन न करनेवाला होकर पाषाण-घटित-सा होते हुए ध्यानस्थ होना चाहिए ॥ १५७ ॥ जब धर्मध्यानी की पाँचों ही इन्द्रियाँ (स्पर्शनादि) बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाती हैं और जब उसका मन आत्मस्वरूप के चिन्तन में डूब जाता है तब उसको अन्तरात्मा में सम्यग्ज्ञान रूप प्रकाश प्रकट होता है ॥ १५८ ॥

ध्यान-आदि का स्वरूप

चित्त की एकाग्रता (चित्त को ध्येय वस्तु से दूसरी जगह व्यापारित न करना) ध्यान है । ध्यान का फल (स्वर्ग-आदि) भोगने में समर्थ आत्मा ध्याता (ध्यान करनेवाला) है । आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय (ध्यान करने योग्य) है तथा देहयातना (करणग्राम-नियन्त्रणा—समस्त इन्द्रिय-समूह को नियन्त्रित करना) ध्यान की विधि जाननी चाहिए ॥ १५९ ॥

धर्मध्यानी का परीषह-सहन

धर्मध्यानी को शत्रु-मित्र में समान बुद्धि-युक्त और तोष-रोष (राग-द्वेष) से रहित होना चाहिए । अन्यथा—राग द्वेष होनेपर उसका आर्त व रोद्र ध्यान हो जायगा और धर्म-ध्यान करते समय उन समस्त अन्तरायों (विघ्नबाधाओं—उपसर्ग व परीषहों) को सहन करना चाहिए, जो पशु-कृत हैं [उदाहरण में जैसे सुकुमाल मुनि पर शृगाली ने उपसर्ग किया था], जो देव-कृत हैं, [उदाहरण में जैसे पार्श्वनाथ भगवान् पर कमठ के जीव व्यन्तर ने उपसर्ग किया था], जो मनुष्यों से उत्पन्न हुए हों, [जैसे पांडवों पर कौरवों ने उपसर्ग किये थे], जो आकाश से उत्पन्न (वज्रपात-आदि) हुए हैं व जो भूमि से उत्पन्न (भूकम्प-आदि) हुए हैं और जो शरीर-कृत (रोगादि) हैं ॥ १६० ॥ क्योंकि उपसर्ग-आदि के समय असमर्थता दिखाने से धर्मध्यान संबंधी

१. ऊर्ध्वमुपविष्टं च । २. सूक्ष्म उच्छ्वासनिःश्वायः तस्य यमः प्रवेशः जायामी निर्गमः । * 'शान्तः सर्वाङ्गसुन्दरः' क० ।

'शान्तः निश्चलः' पं० । ३. निश्चलः । ४. पाषाणघटितः । ५. मध्ये अन्तरात्मनि । ६. मनसि सति ।

७. ध्येयादन्धत्र व्यापाराभावः । * 'मात्मगमं ज्योतिः' क० । ८. करणग्रामनियन्त्रणा । ९. तोषरोषाभ्यां

विनिर्मुक्तः । १०. असमर्थत्वं । ११. कातरत्वं दीनता ।

*यत्रायनिग्रियप्राप्तो 'व्यासङ्गस्तेनविप्लवम् । भावुवीत तमुद्देशं' मजेताध्यात्मसिद्धये ॥१६२॥
 फल्गुवन्मप्ययं वेहो यवलाकुफलायते । संसारसागरोत्तारे रक्ष्यस्तस्मात्प्रयत्नतः ॥१६३॥
 नरेऽपीरे वृथा 'बर्म क्षेत्रेऽसस्ये' वृतिर्वृथा । यथा तथा वृथा सर्वे ध्यानशून्यस्य तत्तिथिः ॥१६४॥
 बहिस्तस्तमोवातरत्पद्मं' दीपवन्मनः । यस्तथासोकनोत्थासि तत्स्थानाद्धानं सबीजकम् ॥१६५॥
 निविचारावतारामु चेत्'ज्योतःप्रभृत्सिधु । आत्मन्येव 'स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम्' ॥१६६॥

विघ्न दूर नहीं हो सकते और न दौलता दिखाने से जीवन की रक्षा ही हो सकती है; अतः उपसर्ग-सहन में संक्लेश परिणाम से रहित होकर परमात्मा का ही ध्यान करना चाहिए ॥ १६१ ॥

धर्मध्यानी के स्थान का निर्देश

धर्मध्यानी को आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए ऐसा एकान्त स्थान सेवन करना चाहिए, जहाँ पर उसका यह इन्द्रिय-समूह व्याकुलतारूपी चोर की विघ्न-बाधा प्राप्त न कर सके ॥ १६२ ॥ शरीररक्षा—यद्यपि इस मानव-शरीर का जन्म निरर्थक है तथापि यह तपश्चर्चा-आदि के द्वारा संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए तुम्ही-सरीखा सहायक है अतः प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १६३ ॥

ध्यानविधि की निरर्थकता

जिसप्रकार शत्रु से भयभीत हुए कायर पुरुष के लिए कवच का धारण व्यर्थ है एवं जिसप्रकार धान्य से शून्य खेत पर काँटों की बाड़ी लगाना निरर्थक है उसीप्रकार ध्यान न करने वाले पुरुष के लिए ध्यान की सब विधि (आसन-आदि) व्यर्थ है ॥ १६४ ॥

[शुद्धध्यान—दो प्रकार का है, एक सबीजध्यान और दूसरा अबीज ध्यान दोनों का स्वरूप निरूपण करते हैं—]

सबीजध्यान (पृथक्त्ववितर्क सबीचार शुक्लध्यान) जैसे वायु-रहित स्थान में दीपक की लौ निश्चल होकर बाह्य प्रकाश से सुशोभित होती है वैसे ही जिस ध्यान में जब योगी का मन आत्मा में स्थित हुई अज्ञान-रूपी वायुओं से होनेवाली चञ्चलता छोड़कर (निश्चल होकर) जीवादि सप्त तत्त्वों के दर्शन से सुशोभित होता है उसे सबीजक (पृथक्त्ववितर्क सबीचार नामक शुक्लध्यान) कहते हैं ॥ १६५ ॥

अब अबीजध्यान (एकत्ववितर्क अबीचारनामक शुक्लध्यान) को बतलाते हैं—

जब योगी के चित्तरूपी झरने की प्रवृत्तियाँ (प्रवाह या व्यापार) निविचार (संक्रमण-रहित—अर्थात्—द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य-आदि के ध्यानरूप संक्रमण से रहित) के अवतार वाली होती हैं, जिससे उसकी आत्मा विशुद्ध आत्मस्वरूप में ही चमत्कार करनेवाली (लीन होनेवाली) होती है तब उसका वह ध्यान (अबीजक एकत्ववितर्कअबीचार नामक शुक्लध्यान) है ।

भावार्थ—यहाँपर दूसरे शुक्लध्यान (एकत्ववितर्क) का निरूपण किया गया है, इसमें चित्तरूपी झरने का प्रवाह अर्थ (द्रव्य) व व्यञ्जन-आदि के संक्रमण से हीन होता है, जिससे आत्मा आत्मा में ही लीन

*. स्थाने । १. व्यासङ्गः (व्याकुलता) एव स्तेनश्चौरस्तस्य विघ्नं न प्राप्नोति । २. स्थानं । ३. कवच । ४. धान्यरहिते ।

५. निश्चलं । ६. प्रवाह । ७. चमत्कुर्वन् । ८. एकत्ववितर्कअबीचाराख्यं शुक्लध्यानमित्यर्थः ।

चिन्तोऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्प्रकृत्या १सर्ववच्चले । २तत्संजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्त्रये ॥१६७॥

३निर्मनस्के मनोहंसे पुंहुंसे सर्वतः स्थिरे । बोधहंसोऽक्षिलाः*लोम्य सरोहंतः प्रजायते ॥१६८॥

यद्यप्यस्मिन्मनःश्रेत्रे क्रियां तां तां समादधत् ४ । कंचिद्देवते ५ भावं तस्याप्यत्र न विधमेत् ६ ॥१६९॥

७विपक्षे बलेशराशीनां यस्मान्न विधिर्मतः । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन्परं ब्रह्मसमाश्रितः ॥१७०॥

प्रभावंस्वर्गविज्ञानदेवतासंगमादयः । योगोन्मेषाद्भुवन्तोऽपि नामो तत्त्वचिदां भुवे ॥१७१॥

भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भूतः । तथात्मजमिति ध्यानं सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत् ॥१७२॥

तस्य कालं घटयन्तमुद्भूतं मुनयः परम् । अपरिस्पन्दमानं हि ८तत्परं बुधैरं मतः ॥१७३॥

होती है। यह तेरहवें गुणस्थान में केवलीभगवान् के प्रकट होना है। इस एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्नि द्वारा धातियाकर्मरूपी ईंधन भस्मसात् होकर केवलज्ञान प्रकट होता है ॥ १६६ ॥ अनन्त-सामर्थ्यशाली यह मन, जो कि पारद-सरीखा स्वभाव से चञ्चल है, जब उस तेज (अध्यात्मज्ञान व पक्षान्तर में अग्नि) में स्थिर निश्चल व सिद्ध (ध्यान-मग्न व पक्षान्तर में शुद्ध, मारित, मूच्छित व वद्ध-आदि) हो जाता है तब तीन लोक में उस योगी को क्या सिद्ध (प्राप्त) नहीं होता? अपि तु समस्त स्वर्गस्थी व मुक्तिस्थी प्राप्त हो जाती है ॥ १६७ ॥ यदि यह मनरूपी हंस अपने मनोव्यापार से रहित हो जाय, अर्थात्—अपनी चञ्चलता छोड़ देवे और आत्मारूपी हंस परमात्मा में लीन होकर सर्वथा स्थिर (आत्मस्थ) हो जाय तो ज्ञान-रूपी हंस समस्त शेष-इष्टों का प्रदत्त-दाता का हंस हो जाता है। अर्थात्—मन निश्चल होने के साथ यदि आत्मा आत्मामें स्थिर हो जाय तो समस्त विश्व को प्रत्यक्ष जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट होता है ॥ १६८ ॥ इस मनरूपी स्थान में जोवादि ध्येय वस्तु में चित्त की एकाग्रतारूप प्रवृत्ति को करता हुआ मुनि हेय (त्याज्य) व उपादेय (ग्राह्य) वस्तु को यथावत् जान लेता है तथापि उसे इसमें विभ्रम (तत्त्व और अतत्त्व में समान बुद्धि या अज्ञान) नहीं करना चाहिए। अर्थात्—हेय वस्तु को उपादेय व उपादेय को हेय नहीं समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि विभ्रम (अज्ञान) होने से धर्मध्यान नष्ट होकर आर्त-रौद्रध्यान हो जाता है ॥ १६९ ॥

क्योंकि हमने दुःख-समूह को देनेवाले शत्रुभूत ध्यान (आर्त व रौद्र ध्यान) में ऊपर कही हुई विभ्रम लक्षणवाली विधि नहीं कही है। अतः परब्रह्म परमात्माका आश्रय लेनेवाले धर्मध्यानी को इस विषय में (ध्यान से उत्पन्न होनेवाली ऋद्धि-आदि में) आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥ १७० ॥ ध्यान के प्रकट होने से प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्टज्ञान और देवों का समागम-आदि प्राप्त हो जाने पर भी तत्त्वज्ञानी इनसे प्रमुदित (हर्षित) नहीं होते; क्योंकि उनका लक्ष्य ध्यानरूपी अग्नि द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्ति का होता है ॥ १७१ ॥

ध्यान की दुर्लभता व माहात्म्य-आदि

जिसप्रकार पृथिवी से रत्नों की उत्पत्ति होती है तथापि सर्वत्र रत्न उत्पन्न नहीं होते उसीप्रकार ध्यान भी आत्मा से उत्पन्न होता है तथापि वह समस्त प्राणियों की आत्माओं से उत्पन्न नहीं होता ॥ १७२ ॥ ऋषि धर्मध्यान व शुक्लध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त तक कहते हैं; क्योंकि निश्चय से इससे अधिक

१. पारदचञ्चले । २. अग्नी ज्ञाने च । ३. मनोव्यापाररहिते । ४. निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहुंसे सर्वथा स्थिरे । बोधहंसः प्रवर्तेन विश्वत्रयसरोवरे ॥ १ ॥ —प्रबोधसार । ५. 'लोके' ख० । ६. मुनिः । ७. जानाति—हेयमुपादेयं वस्तु यथावत् पश्येदित्यर्थः । ८. हेयमुपादेयतया उपादेयं हेयतया न पश्येत् । ९. शत्रुभूत ध्याने एव विभ्रमलक्षणो विधिर्न कथितः । ८. अन्तर्मुहूर्तकालात्परं ।

तत्कालमपि तद्वचनं स्फुरदेकाग्रमात्मनि । उच्चैः कर्मोच्चैः भिन्नाद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥१७४॥

‘कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यश्चलुर्कं नोच्चलुस्त्वितुम् । कल्पागतसूः पुनर्वतिष्ठतः’ मुहुः शौचमानयेत् ॥१७५॥

‘रूपे नरुति’ चित्तोऽपि ‘तथान्यत्र यथा विशन् । लभेत कामितं तद्वत्तत्त्वमा परमात्मनि ॥१७६॥

‘वेराग्यं’ ‘ज्ञानसंपत्तिरसङ्गः’ ‘स्थिरचित्तता’^{१०} । ‘‘अस्मिन्मयसहृत्वं’* च पठ्यते ‘योगस्य हेतवः’* ॥१७७॥

‘‘आधि’ ‘व्याधिविपर्ययः’ ‘प्रमादा’^{१६} ‘लस्य’^{१७} ‘विभ्रमाः’^{१८} ।

‘‘अलाभः’^{१९} ‘सङ्गितास्थैर्यं’^{२०} ‘भेदे’^{२१} ‘तत्त्वान्तरायकाः’* ॥१७८॥

काल तक मन का स्थिर होना अत्यन्त कठिन है ॥ १७३ ॥ जिसप्रकार वज्र क्षणभर में महान् पर्वत को चूर-चूर कर डालता है उसीप्रकार आत्मा में प्रकट हुआ अन्तर्मुहूर्त कालवाला निश्चल शुक्लध्यान भी महान् धातिया कर्मसमूह को विदीर्ण (नष्ट) कर देता है ॥ १७४ ॥ जिस प्रकार सैकड़ों कल्पकालों (युगान्तरों) तक हस्त की चूलुओं से समुद्र के जल को उलीचने पर भी समुद्र खाली नहीं होता, परन्तु प्रलयकालीन प्रचण्ड वायु उसे बार-बार शोषण में ला देती है—सुखा देती है उसी प्रकार आत्मा में प्रकट हुआ शुक्लध्यान भी अन्तर्मुहूर्त में धातिया कर्म-समूह को नष्ट कर देता है ॥ १७५ ॥ जैसे कामतत्व (कमनीय कामिनो) आदि में व दूसरे के अरीर में प्रवेश-करना-आदि में एवं बाह्य वस्तुओं में मन को स्थिर करने से अभिलषित वस्तु (कामतत्व-आदि) प्राप्त होती है वैसे ही आत्मा के द्वारा परमात्मा में मन स्थिर करने से परमात्मपद की प्राप्ति होती है ॥ १७६ ॥

निम्नप्रकार पाँच प्रवृत्त गुण धर्मध्यान की उत्पत्ति में कारण हैं । वेराग्य (देखे हुए व आगामी काल में आनेवाले इन्द्रियों के विषयों में तुष्णा का अभाव), ज्ञानसम्पत्ति (बंध व मोक्ष की प्राप्ति के उपाय का ज्ञान), असङ्ग (बाह्य व आन्तरिक परिग्रहों का त्याग), स्थिरचित्तता (तप, स्वाध्याय व ध्यान कर्म में चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न) व अस्मिन्मयसहृत्वं (शारीरिक—क्षुधा-तृषा-आदि, मानसिक—शोक-आदि व आगन्तुक परीषदों-दुःखों) के उद्रेक (वृद्धि) पर विजय प्राप्त करना ॥ १७७ ॥

निम्नप्रकार ९ दुर्गुण धर्मध्यान के अन्तराय (विघ्नवाधा उपस्थित करने वाले) हैं । आधि (दौर्मे-नस्य—मानसिक पीड़ा या कुत्सित मनोवृत्ति), व्याधि (दोष-वेदम्य—शारीरिक रोग), विपर्यय (अतत्त्व में तत्त्व का आग्रह), प्रमाद (तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में अनादर), आलस्य (प्राप्त हुए तत्त्व का अनुष्ठान न

१. युगान्तरैः । २. प्रलयकालोत्पन्नः । ३. अम्बुधिः । ४. कामतत्त्वशब्दः । ५. परकायप्रवेशशब्दः । ६. अन्यत्र बाह्ये वस्तुनि यथा वाञ्छितं भवति । ७. दृष्टागामिविषयेषु वैतुष्यं । ८. बन्धमोक्षोपायविवेकः । ९. बाह्यान्तरपरिग्रह-त्यागः । १०. तपःस्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविवर्तितप्रयत्नः । ११. शारीरमानसागन्तुकपरीषदोद्रेकविजयित्वं । * ‘प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे, मनसः शोकमोहने, जन्ममृत्यु शरीरस्य यद्गमिरहितः शिवः’ । तथा च श्रीभागवतटीकायां—‘शोकमोही जरामृत्यु, क्षुत्पिपासे यद्भूमयः’ ।

१२. योगतत्त्वमात्ममनःसाधनचित्तवृत्तिनिरोधः, न चित्तवृत्तिनिरोधमात्रमन्यथा सुप्तमूर्च्छितादीनामपि योगतापसोः ।

* तथा चोक्तं प्रबोधसारे—‘निर्वेदोदयसम्पत्तिः स्वान्तास्थैर्यं रहःस्थितिः । विविनोमिसहृत्वं तु साधूनां ध्यानहेतवः ॥ १ ॥

तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने—‘सङ्गत्यागः कथायाणां निग्रहो व्रतधारणं । मनोऽज्ञायां जयश्चेति सामग्रीं ध्यानजन्मने ॥ १ ॥

१३. आधिदौर्मेनस्यं । १४. दोषवेदम्यं व्याधिः । १५. ‘परमतत्त्वान्तिः’ टि० ख०, ‘अतत्त्वे तत्त्वामिनिवेशो विपर्ययः’ टि० घ० च० पञ्चिकायां च । १६. तत्त्वाधिगमानादरः प्रमादः । १७. लब्धस्यापि तत्त्वस्थानानुष्ठानमालस्यं । १८. तत्त्वातत्त्वयोः सभा बुद्धिविभ्रमः । १९. स्वपरयोरज्ञानादभ्यस्ततत्त्वप्राप्तिरलाभः । २०. सत्यपि तत्त्वज्ञाने सुखदुःख-साधनोत्कर्षाभ्यामभिनिवेशः संगिता । २१. योगहेतुषु मनसोऽज्ञातिरस्थैर्यं । २२. ध्यानस्य ।

* तथा चोक्तं प्रबोधसारे—‘स्वान्तास्थैर्यं विपर्ययं प्रमादालस्यविभ्रमाः । रौद्रार्ताधिर्यासास्थानभेदे प्रत्युद्बुद्धयिनः ॥ १ ॥

यः कण्ठकंस्तुवत्यङ्गं यश्च लिङ्गमिति उच्यते । तेष्वप्येकानि विष्काराणि तयोरासीत लोढवत् ॥१७९॥

१ ज्योतिर्विन्दुः कला नादः कुण्डलीवायुसंचारः । मुद्रा मण्डलचोद्यानि निर्बीजीकरणाविकम् ॥१८०॥

करना), विभ्रम (तत्त्व व अतत्त्व में सदृश बुद्धि), अलाभ (आत्मा व अनात्मा का ज्ञान न होने से अभ्यास किये हुए तत्त्व की प्राप्ति न होना), संज्ञिता (तत्त्वज्ञान होने पर भी मुख-साधनों में हर्ष व दुःख-साधनों में द्वेष का आग्रह करना) व अस्थैर्य (ध्यान के कारणों में मन की अशान्ति अर्थात् मन को न लगाना) ॥ १७८॥

धर्मध्यानी का कर्त्तव्य

जो कांटों से ध्यानी का शरीर व्यथित करता है और जो उसके शरीर पर चन्दनों का लेप करता है ऐसे शत्रु-मित्रों पर जिसका अभिप्राय क्रम से द्वेष व राग से असम्पृक्त (नहीं छुआ हुआ) है, ऐसे धर्मध्यानी को पापाण-घटित-सरोस्त्रा होकर ध्यान में स्थित होना चाहिए ॥ १७९ ॥

[अब अन्य मत संबंधी ध्यान कहकर उसकी समीक्षा करते हैं]

तान्त्रिकों को मान्यता है कि योगी पुरुष ज्योति (ओंकार की आकृति का ध्यान, अर्थात्—यथा-विधि प्रणवमन्त्र (ओंकार) का जप करना), विन्दु—पीत व शुभ्र-आदि विन्दुका दर्शन (प्राणायाम विधि के अवसर पर मुख के दक्षिण भाग पर व वाम भागपर क्रम से दाहिनी व बाईं हस्ताङ्गुलियों का तत्तत्स्थानों पर स्थापन करने के बाद जैसे कानों में अङ्गुष्ठ को, नेत्र-प्रान्त में तर्जनी को, नासापुट में मध्यमा अङ्गुली को, ऊर्ध्व ओष्ठ के प्रान्त भाग में अनामिका और अधरोष्ठ के प्रान्त भागमें कनिष्ठिका अङ्गुली को स्थापित करना चाहिए इसके बाद अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन करने पर विन्दु का दर्शन होता है जैसे पीतविन्दु के दर्शन से पृथिवी तत्व का, श्वेत विन्दु के दर्शन से जलतत्व का, अरुणविन्दु के दर्शन से तेजतत्व का, श्याम-विन्दु के दर्शन से वायु-तत्व का और पीतादिवर्ण-रहित परिवेषमात्र के दर्शन से आकाश तत्व का ज्ञान होता है), कला (अर्धचन्द्र), नाद (अनुस्वार के ऊपर रेखा-), कुण्डली (प्राणियों की पिङ्गला नाम की दक्षिण नाड़ी व इडा नाम की वामनाड़ी एवं मध्यवर्ती सुषुम्ना नाड़ी, अर्थात्—प्राणायाम-विधि में वायु का संचार ढाई घड़ी पर्यन्त पिङ्गला व इडा नाड़ी द्वारा होता है-इत्यादि) व वायु-संचार (कुम्भक—नासापुट द्वारा शरीर के मध्य प्रविष्ट की जाने-वाली घटाकार वायु, पूरक—बाह्य वायु को पूर्ण शरीर में प्रविष्ट करना व रेचक—कोष्ठय वायु का बाहिर निकासना-इत्यादि, श्वास (बाह्य वायु को नासापुट द्वारा शरीर के मध्य स्थापित करना) व प्रश्वास (कोष्ठय

१. अविषिक्तात्मा असंपृक्ताशयः । २. ओंकारस्याकारेण विन्दुकलादीनामाकारेण च निर्बीजीकरणं कर्म करोति, तदवसाने मरणस्य जयो भवतीति सिध्मादृष्टयः कथयन्ति तदसत्यं । विन्दुः (तथा चोक्तं—'पीतश्वेतारुणश्यामैर्विन्दुभिर्निरुपाधि क्षम्' सं० टीका—पीतवर्णं विन्दुं दृष्ट्वा पृथिवीतत्त्वं वहतीतिज्ञेयं, श्वेतविन्दुदर्शने जलतत्त्वं, अरुणविन्दुदर्शने तेजस्तत्त्वं, श्यामविन्दुदर्शने वायुतत्त्वं, पीतादिवर्णरहितपरिवेषमात्रदर्शने आकाशतत्त्वमिति । उपाधि शब्देन पीतादयो वर्णा गृह्यन्ते । खमाकाशम् यथावद्वायुतत्वमवगम्य तन्निमगने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मशयो भवति, तपो न परं प्राणायामात् । सं० टीका—उक्तीत्या श्वासोच्छ्वासतत्त्वं विज्ञाय प्राणायामेन वायोनिरोधे कृते विवेकज्ञानाच्छादकं कर्म श्रीयते । सर्वदर्शनसंग्रह पातञ्जलदर्शनप्रकरण पृ० ३८० से संकलित—सम्पादक) अर्धचन्द्रं कला, अनुस्वारस्योपरि रेखा स नादः कथ्यते । कुण्डली तदाकारेण बीजीकरणम् । ३. त्रिकोण चतुष्कोणादि बहुप्रकारं तेन बहुवचनं । ४. प्रेर्याणि । ५. यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्बीजीकरणं क्रियते ।

‘नाभौ नेत्रे’ ललाटे च^३ ब्रह्मचर्यो व तालुनि ।

‘अग्निसंख्ये रवौ’ च^४ लूतातन्तो^५ हृदयकुपरे^६ ॥१८१॥

मृत्युंजयं यवन्तेषु^७ सत्त्व^८ किल मुक्तये । अहो मूढधिषामेष नयः स्वपरवञ्चनः ॥१८२॥

वायु को शरीर से बाहर निकालना) को गतिविच्छेद लक्षणवाला प्राणायाम) मुद्रा (आसन, अर्थात्—हस्त व पादादि का अवस्थान विशेषरूप पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार का आसन) व मण्डल (त्रिकोण व चतुष्कोण व वृत्ताकार-आदि आकार) इन सबकी प्रेरणा से की जानेवाली चिन्ताएँ (कर्म) बीजीकरणकर्म (संप्रज्ञात समाधि—बाह्य पदार्थों को विषय करनेवाली अविद्या-आदि वृत्तियों का निरोध) में और निर्वीजीकरण (असंप्रज्ञात समाधि) में कारण है । अभिप्राय यह है, कि आसन को स्थिरता-आदि में प्रतिष्ठित हुआ प्राणायाम उत्कृष्ट तपस्वरूप होकर संप्रज्ञात समाधि-आदि में कारण होता है । इसी प्रकार वह प्राणायाम-विधि से निम्न प्रकार बीजीकरण कर्म (संप्रज्ञात समाधि) को नाभि, नेत्र, ललाटे (मस्तक), ब्रह्मप्रस्थि (समस्त आतड्डियों का समूह) व तालु, अग्नितत्त्ववाली नासिका, रवि (दक्षिणनाड़ी), चन्द्र (वामनाड़ी), जननेन्द्रिय व हृदयकुपरे (हृदयछिद्र के बिना भी उस काल में मेद-सरोखी गाँठ हो जाती है) इनके प्रमुख मार्ग द्वारा करता है और जब मरणवेला होती है तब मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्वीजीकरण कर्म (असंप्रज्ञात समाधि) करता है जिससे वह मृत्यु से वञ्चित होता है, अर्थात्—उसका पश्चात् मरण नहीं होता; क्योंकि प्रस्तुत तत्त्व (निर्वीजीकरण) निश्चय से मुक्ति का कारण है । अहो—आश्चर्य की बात है; क्योंकि यह अपने व दूसरों को ठगनेवाली नौति मूढ़ बुद्धिवालों की समझनी चाहिए ।

भावार्थ—पातञ्जल दर्शन में योग (ध्यान) के आठ अङ्ग कहे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि* । अहिंसा, सत्या, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पाँच यम हैं ।^{११} शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं ।^{१२} पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार के आसन हैं । क्योंकि आसन की स्थिरता होनेपर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है । श्वास (नासापुट द्वारा बाह्य वायु का भीतर प्रवेश, जिसे पूरक कहते हैं) और प्रश्वास- (नासापुट द्वारा कोष्ठ्य वायु का बाहर निकालना, जिसे रेचक कहा है) काल में वायु की स्वाभाविक गति का निरोध (रोकना) प्राणायाम है^{१३} । उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक व रेचक ।

१-२. ‘नेत्रनाभिप्रमुखमार्गेण शुक्रनिष्कासनं कर्म मृत्युञ्जयं भवति साधनान्म्यासेन’ । विमर्श—अयं विषयः त्रिप्पणोकारेण कुतः शास्त्रात् संकलितः ? इति न जानीमो वयं यतः पातञ्जलयोगदर्शने नास्ति । —सम्पादक
३. निखिलान्मज्जालं ब्रह्मप्रस्थिश्चयते तथापि निर्वीजीकरणं भवति । ४. नासिकायां अग्नितत्त्वं वर्तते । ५. दक्षिणनाड्यां । ६. चन्द्रे वामनाड्यां । ७. लूतातन्तो लिङ्गविषये । ८. हृदयछिद्रे विनापि तदाकाले मेद-सदृशप्रस्थिः स्यात् । ९-१०. यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्वीजीकरणं क्रियते तेन कर्मणा मृत्यौ वञ्चिते सति पश्चात् कदापि मरणं न स्यादित्यर्थः ।

*. तथा चोक्तं पतञ्जलिना—‘यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि योगस्येति (पात० यो० सू० २।२९)

११. तथा चाह पतञ्जलिः—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (पात० यो० सू० २।३०)

१२. “तथा चोक्तं पतञ्जलिना—‘यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि योगस्येति (पात० यो० सू० २।२९)

१३. “तथा चोक्तं पतञ्जलिना—‘यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि योगस्येति (पात० यो० सू० २।२९)

श्वासी नाम बाह्यस्य वायोः उत्तरानयनम् । प्रश्वासः पुनः कोष्ठ्यस्य बहिर्निःसारणम् ॥

नासापुट से बाह्य वायु को शरीर के मध्य प्रविष्ट करके शरीर में पुराने को पूरक कहा है। उस पूरक वायु को स्थिर करके नाभिकमल में घट की तरह भरकर रोके रखने को कुम्भक कहा है। पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। प्राणायाम से स्थिर हुआ चित्त, इन्द्रियों के विषयों से संयुक्त नहीं होता और ऐसा होने से इन्द्रियाँ भी विषयों से संयुक्त नहीं होतीं वे इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप को अनुकरण करनेवाली हो जाती हैं। इसी को प्रत्याहार कहते हैं^१।

जिस देश में (नाभिकमल, हृदयकमल, नासाग्र, भ्रुकुटि का मध्यभाग व मस्तक-आदि देश में) ध्येय (प्रणव—ओंकार-मन्त्र-आदि) चिन्तनीय है, उस देश में चित्त के स्थिरीकरण को धारणा कहते हैं^२।

पौराणिकों ने कहा है कि 'प्राणायाम से वायु को वश में करके और प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को वश करके पश्चात् नाभिकमल-आदि देशरूप शुभाश्रय में चित्त को अवस्थिति (एकाग्रता) करे।^३ प्रसन्नवदन (विष्णु-आदि) ध्येयरूप के ज्ञान के ऐसे प्रवाह को ध्यान कहते हैं, जो कि एकारूप और दूसरे विषयों के व्यवधान से शून्य है।^४ * पौराणिकों ने भी वही कहा है। 'वही ध्यान ध्येय के आवेश के वश से जब ध्यान व ध्याता की दृष्टि से शून्य होकर ध्येयरूप अर्धमात्र को ग्रहण करनेवाला होता है उस काल में ध्यान विद्यमान होकर के भी ध्याता, ध्यान व ध्येय-आदि विभागको ग्रहण न करने के कारण स्वरूप-शून्य की तरह हो जाता है, उसे समाधि कहते हैं।^५ समाधि के दो भेद हैं—संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि। उक्त आठ योग (ध्यान) के साधनों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच योग के बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि ये चित्त की स्थिरता द्वारा परम्परा से ध्यान के उपकारक हैं। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन योग के अन्तरङ्ग कारण हैं; क्योंकि समाधि के स्वरूप को निष्णादन करते हैं। इसप्रकार यह ध्यानरूपी वृक्ष चित्तरूपी क्षेत्र में यम व नियम से बीज प्राप्त करता हुआ आसन व प्राणायाम से अङ्कुरित होकर प्रत्याहार से कुसुमित होता है एवं धारणा, ध्यान व समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनों से फलशाली होता है।

प्राकरगिक अभिप्राय यह है कि योगी (ध्यानी) को पूर्वोक्त यम (अहिंसा-आदि) व नियम (शौच व सन्तोष-आदि) को धारण करते हुए आसन (पद्मासन-आदि) की स्थिरता से प्राणायाम को प्रतिष्ठित करना चाहिए और प्राणायाम की बेला में सबसे प्रथम प्रणवमन्त्र (ओंकार) रूप ध्येय तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। पश्चात् पीत व शुभ्र-आदि बिन्दु का दर्शन करना चाहिए, जो कि पृथिवीतत्त्व, जलतत्त्व व तेजतत्त्व आदि के ज्ञान में साधन है। अर्थात्—प्राणायाम के समय योगी को मुख के दक्षिण भाग पर व वामभाग पर क्रम से दाहिनी व बाईं हस्ताङ्गुलियों को तत्तत्स्थानों पर स्थापन करने के बाद, जैसे कानों में अङ्गुष्ठ को, नेत्रप्रान्त में तर्जनी को, नासापुट में मध्यमा अङ्गुलि को, ऊर्ध्व ओष्ठ के प्रान्तभाग में अनामिका को और

१. तथा चाह पतञ्जलिः—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (पात० यो० सू० २।५४)

२. " " " देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (पात० यो० सू० २।१)

३. तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्वाच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥ १ ॥ (वि० पु० ६।७।४५)

४. तथा चाह पतञ्जलिः—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (पा० यो० सू० ३।२)

* तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—

तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या संततिश्चान्यनिःस्पृहा । नन्दवानं प्रथमैरङ्गैः षडभिनिष्पाद्यते नृप ॥ १ ॥ (वि० पु० ६।७।८९)

५. तथा चाह पतञ्जलिः—तदेवार्धमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । (पात० यो० सू० ३।३)

कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्त्येवंविधैर्नयैः । अलं तपोऽप्याप्तेष्टि^१ शान्ताध्ययनकर्मभिः ॥१८३॥

योऽविचारितरम्येषु क्षणं वेहातिहारिषु । इन्द्रियाण्येषु वश्यात्मा सौख्यं योगी किलोच्यते ॥१८४॥

यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरौकुचते मनः । तद्विरोधभूयो ध्यात्मः^२ स^३ ईप्सति कथं नरः ॥१८५॥

आत्मज्ञः संचितं दोषं^४ पातनायोगं^५ कर्मभिः । कालेन^६ क्षययन्नेति योगी रोगीव^७ कल्पताम् ॥१८६॥

अधरोष्ठ के प्रान्तभाग में कनिष्ठिका अङ्गुली को स्थापित करना चाहिए । इसके पश्चात् अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन करने पर बिन्दु का दर्शन होता है । जैसे पीतबिन्दु के दर्शन से पृथिवीतत्त्व का, श्वेतबिन्दु के दर्शन से जलतत्त्व का, अरुणबिन्दु के दर्शन से तेजतत्त्व का, श्यामबिन्दु के दर्शन से वायुतत्त्व का और पीतादिवर्ण-रहित परिवेष साग के दर्शन से आकाश तत्त्व का ज्ञान होता है ।

प्राणायाम की बेला में अर्द्धचन्द्ररूप कला का चिन्तन करते हुए नाद (ध्वनिविशेष—अजा शब्दानुकरण) करना चाहिए ।

इसके बाद वायु के वहन व स्थान का ज्ञान करने के लिए कहा गया है—प्राणियों की पिङ्गला नामकी दक्षिणनाड़ी, इडा नामकी वामनाड़ी एवं सुषुम्ना नामकी मध्यवर्ती नाड़ी है । वायु का संचार ढाई घड़ी पर्यन्त पिङ्गला से होता है, बाद में ढाई घड़ी तक इडा से होता है । पुनः उतने काल तक पिङ्गला से पश्चात् उतने काल तक इडा से होता है । इस प्रकार दिन रात रहित की धारियों के घूमने की तरह दोनों नाड़ियों से वायु बहती है । एक एक घड़ी में ६० साठ पल होते हैं और एक एक पल में श्वास-प्रश्वास छह होते हैं, इस प्रकार एक घड़ी में $60 \times 6 = 360$ श्वास-प्रश्वास होते हैं और ढाई घड़ी में ९०० श्वास-प्रश्वास होते हैं । अर्थात्—एक घंटे में ९०० श्वास-प्रश्वास होते हैं । इस प्रकार सूर्योदय से लेकर पुनः सूर्योदय पर्यन्त (२४ घंटे में) २१६०० श्वास-प्रश्वास होते हैं । इस प्रकार नाड़ी-संचरण की दशा में वायु का संचार होने पर पृथिवी-आदि तत्वों का ज्ञान होता है ।

इसी प्रकार योगी प्राणायाम विधि से निम्नप्रकार संप्रज्ञातसमाधि को नाभि, नेत्र, ललाट, समस्त आतडियों का समूह, तालु, अग्नितत्त्ववाली नाभिका, दक्षिणनाड़ी, वामनाड़ी, जननेन्द्रिय व हृदयकुर इनके प्रमुख मार्ग द्वारा करता है (जिसे हम धारणा के विवेचन में स्पष्ट कर चुके हैं) और जब मरणवेला होती है तब मुक्ति की प्राप्ति के लिए असंप्रज्ञात समाधि करता है, जिससे वह मृत्यु से धञ्चित होता है* ॥ १८०—१८२ ॥

यदि इस प्रकार के प्राणायाम-आदि उपायों से इस कर्मों का क्षय हो सकता है तो उनके क्षय के लिए तप, जप, जिनपूजा, दान व स्वाध्याय-आदि क्रियाकाण्ड व्यर्थ हो जायेंगे ॥ १८३ ॥ आश्चर्य है कि वह मानव भी, जिसकी आत्मा बिना विचारे मनोज्ञ प्रतीत होनेवाले व क्षणभर के लिए शारीरिक पीड़ा दूर करनेवाले इन्द्रियों के विषयों में वशीभूत है, निस्सन्देह योगी (ध्यानी) कहा जाता है ? ॥ १८४ ॥ इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा जिसके मन को पीड़ित करती है, वह मानव इन्द्रियों के रोकने से उत्पन्न होनेवाले मोक्षरूपी तेज की प्राप्ति की इच्छा कैसे कर सकता है ? ॥ १८५ ॥ आपके यही आत्मज्ञानी मुनि उस प्रकार संचित (पूर्व में बाँधे हुए) दोषों (राग, द्वेष व मोहादि) को यातना (शारीरिक तीव्रवेदना) व योगकर्मों (प्राणायाम-आदि-

१. जिनपूजा । २. इन्द्रिय । ३. तेजसः । ४. कथं प्राप्तमिच्छति ? । ५. लङ्घनादि तीव्रवेदना । ६. योगः औषधादि-प्रयोगः ध्यानं च । ७. क्षयं कुर्वन् । ८. नीरोगता ।

* प्रस्तुत लेखमाला 'पाल्कजलयोगदर्शन' के आधार से गुम्फित की गई है—सम्पादक

लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये । सुखे दुःखे समानात्मा भवेत्तद्विद्वानधीः सदा ॥१८७॥

परे^१ ब्रह्मण्यनूचानो^२ धृतिमैत्री^३ दया^४ न्वितः ।

^५अन्यत्र सुनुताद्वाक्याश्रित्यं ^६वाचंघमी भवेत् ॥१८८॥

^७संयोगे विप्रलम्भे च ^८निदानं ^९परिदेवने । ^{१०}हिंसायामनृते स्तेये भोगरक्षानु तत्परे^{११} ॥१८९॥

ध्यान के अङ्गों) से चिरकाल में लाभ करता हुआ कल्पता (मुक्ति) प्राप्त करता है, जिस प्रकार रोगी शरीर में संचित किये हुए दोषों (वात, पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न हुए रोगों) को यातना (लङ्घन-आदि) व योगकर्म (औषधि के प्रयोग) द्वारा चिरकाल से क्षय करता हुआ कल्पता (निरोगता) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—यदि आपके यहाँ आत्मशानी योगी पुरुष प्राणायाम की विधि से उत्पन्न हुई शारीरिक तीव्रवेदना व योगकर्मों (ध्यानादि क्रियाकाण्डों) से पूर्व में बाँधे हुए अज्ञानादि पाप कर्मों को क्षय करता हुआ चिरकाल में मुक्ति-लाभ करता है तो वह रोगी-सरीखा ही है; क्योंकि रोगी भी प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार द्वारा संचित हुए वात, पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाले रोगों को लङ्घन व औषधि के प्रयोग से समय पाकर क्षीण करता हुआ निरोगता प्राप्त करता है ॥१८६॥

धर्मध्यान में बुद्धि रखनेवाले को सदा लाभ व हानि में, वन और गृह में, मित्र व शत्रु में, मनोज्ञ व अमनोज्ञ में एवं सुख व दुःख में समभाव रखनेवाला होना चाहिए ॥ १८७ ॥ धर्मध्यानी को परमात्मा में लवलीन होते हुए द्वादशाङ्ग श्रुत का अभ्यासी एवं धृति (प्रिय-अप्रिय वस्तु को प्राप्ति होने पर चित्त को विकृत न करना), मैत्री (समस्त प्राणियों से द्रोह न करने की बुद्धि) और दया (अपने समान दूसरे प्राणियों के हित करने की बुद्धि) से युक्त होते हुए सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए अथवा मौन पूर्वक रहना चाहिए ॥ १८८ ॥

आर्त व रौद्रध्यान का स्वरूप और उनके त्यागने का उपदेश

दिवेकी को आर्त व रौद्रध्यान त्याग देना चाहिए, जो कि संयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिंसा, झूठ, चोरी व भोगों की रक्षा में तत्परता से उत्पन्न होते हैं और जीव को अनन्त संसार में भ्रमण लक्षणवाले पापरूपी रथ के मार्ग हैं और परिणाम में विशेष दुःख देनेवाले हैं ।

भावार्थ—इनमें पहला आर्तध्यान चार प्रकार का है । अनिष्ट संयोगज, इष्टवियोगज, निदान व परिदेवनरूप । अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जाने पर उससे छुटकारा पाने के लिए जो सदा अनेक प्रकार के उपायों

१. आत्मनि । २. प्रवचने साङ्गे अभीती । ३. प्रियाप्रियवस्तुपनिपाने चित्तस्याविकृतिर्वृत्तिः । ४. सर्वसत्त्वानभिद्रोह-बुद्धिमैत्री । ५. आत्मवत् परस्मापि हितापादानवृत्तिर्दया । ६. विना । ७. सत्यं वदेत् अथवा मौनो स्यात् । ८. संयोगे इत्यादिना चतुर्विधमार्तव्यानमुपदिशति—तत्र गंचानामिन्द्रियाणां मनसाऽधिष्ठितानामुपभोक्तृत्वेन स्वेषु विषयेषु प्रवृत्तिः संयोगः । ९. 'वियोगे' टि० ख०, 'प्रीतिविषयस्य वस्तुनो देनकालाभ्यां विप्रकर्षात्मिनो दीर्घतस्य विप्रलम्भः । १०. निजानुष्ठानमूल्येनानिमित्तं मनुष्येष्वभिलषितवस्तुपरिपणनं निदानं । ११. आगतयोरिष्टानिष्टयोरवि-योगवियोगप्रार्थनमनागतयोरुत्पत्त्यनुत्पत्तिप्रार्थनं वा परिदेवनं ।

तथा चार्था—प्राप्तेऽप्राप्ते च हिते त्रियोगसंयोगबुद्धिरतिः स्यात् । विद्यमानामागमचिन्तनमहिते च तदुद्भवं वार्त्तं ॥ १ ॥

१२. हिंसायामित्यादिना पशुविधं रौद्रं समुपदिशति—हिंसादयः कविना स्वयमेव व्याख्याताः ।

तथा चोक्तं—स्वपरापायगो भावो रथ इत्युच्यते बुधैः । तत्र मार्तं तुर्यं कर्म रौद्रं सन्तस्तद्वचिरे ॥ १ ॥

१३. पूर्वोक्ते पदार्थे तत्परे तन्मये द्वे आर्तरौद्रध्याने ।

अन्तोरनन्तसंसारधर्मनो^१ रथधर्मनो ।^२ आर्तरोद्रे त्यजेद्दधाने बुरन्तकलधामिनो ॥१९०॥
 बोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गगले परे । सोपाते इवअलोकस्य तत्त्वेषावृत्तिपद्मनी^३ ॥१९१॥
 लेशतोऽपि मनो याववेते समधितिलतः । एष जन्मतदस्तावदुच्छ्वः समधिरोहति ॥१९२॥
 अवलम्बजनमाधत्ते प्रधीषो न रविः पुनः । तयाशयविशेषेण ध्यानमारभते कलम् ॥१९३॥
 प्रमाणनयनिक्षेपः साधुयोगैविशुद्धयोः । मतिं तनोति^४ तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥१९४॥
 "अरहस्ये यथा लोके सती" कारुधनकर्मनी^५ । "अरहस्यं तमेच्छन्ति सुधियः परमाणमम् ॥१९५॥

का चिन्तवन करना है, वह अनिष्ट संयोगज नामका पहला आर्तध्यान है। इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए हमेशा चिन्तवन करते रहना वह इष्टवियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान है। आगामी भोगों की प्राप्ति के लिए सतत चिन्तवन करना तीसरा निदान नामका आर्तध्यान है। शारीरिक पीड़ा हो जाने पर उसे दूर करने के लिए निरन्तर चिन्तवन करना वह वेदना नामका चौथा आर्तध्यान है। इसीप्रकार रौद्रध्यान भी हिंसानदी, मृषानदी, चौर्यानदी, व परिग्रहानदी के भेद से चार प्रकार का है। दूसरों को सताने में आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। झूठ बोलने में आनन्द मानना मृषानन्दी, चोरी करने में आनन्द मानना चौर्यानन्दी और विषय-भोग की सामग्री के संचय करने में आनन्द मानना विषयानन्दी नामका चौथा-रौद्रध्यान है। उक्त दोनों आर्त व रौद्रध्यान त्याग देने चाहिए ॥१८९-१९०॥ ये दोनों अशुभ ध्यान जाननेयोग्य आगम के ज्ञान को रोकने के लिए किवाड़-सरीखे हैं और मोक्षमार्ग के रोकने के लिए बड़े अर्गल- (देड़ा) जैसे हैं एवं नरकलोक में उतरने के लिए सीढ़ी-जैसे हैं और तत्त्वदृष्टि को ढाँकने के लिए पलकों के समान हैं ॥ १९१ ॥ जब तक मन में ये दोनों ध्यान लेशमात्र भी अधिष्ठित रहते हैं तबतक यह संसाररूपी वृक्ष विशेष ऊँचा होकर बढ़ता चला जाता है ॥ १९२ ॥ जिसप्रकार जलता हुआ दीपक कज्जल धारण करता है कि जलता हुआ सूर्य, उसीप्रकार ध्यान भी ध्यान करनेवाले के अच्छे या बुरे भावों के अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥ १९३ ॥

धर्मध्यान

[दोष व दोष-फल प्रदर्शित करने पर मनुष्य-लोक का गुण व गुण-फल के श्रवण में आग्रह होता है, ऐसा निश्चय करके शास्त्रकार आर्त व रौद्र ध्यान के बाद धर्मध्यान का निरूपण करते हैं]

जो निर्मल बुद्धिशाली मानव धर्मध्यान में तत्पर होता है, वह प्रमाण (सम्यग्ज्ञान), नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारों के साथ तत्त्वों के ज्ञान में अपनी बुद्धि प्रेरित करता है, वह उसका आज्ञाविचय धर्मध्यान है ॥ १९४ ॥ जिसप्रकार लोक में सुवर्ण की दो क्रियाएँ (कसौटी पर कसना और छेदन करना) प्रकटरूप से होती हैं उसीप्रकार विद्वान् पुरुष परमाणम को भी गूढ़ता-रहित (प्रकट अर्थवाला) चाहते हैं। अभिप्राय यह है कि सुवर्ण की तरह परमाणम भी ऐसा होना चाहिए, जिसे सत्य की कसौटी पर कसा जा सके, ऐसा आगम ही श्रेष्ठ है, उसमें कहीं हुई बातें यथार्थ होती हैं, परन्तु जो आगम हमारे-सरीखे अल्प बुद्धि वाले

१. एतोरथ—पापरथमार्गभूते हे ध्याने । २. तथा चोक्तं तत्त्वार्थसूत्रे—(अ० ९) 'आर्तममनोजस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसम्बन्धाहारः ॥ ३० ॥ विपरीतं मनोजस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ हियानृतस्त्यविययसंरजणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥ ३. नेत्रनिमीलने नेत्राङ्गनोपकरणविस्फारणि ?
४. करोति । ५. प्रकटे । ६. विद्यमाने भवतः । ७. सुवर्णस्य द्वे कर्मणी कषण्णदलक्षणे । ८. प्रकटार्थः ।

- ‘यः सत्त्वः सत्त्वबोधनां विवारेऽपि बाधुर्वा । स संसारार्णवे मज्जन्जन्मदालम्बः कथं भवेत् ॥१९६॥ (इत्याशा)
 ग्रहो मिथ्यातमः पुंसां युक्तिद्योतः स्फुरत्यपि । यवन्वयति चेतांसि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥१९७॥
 २ आशास्महे तवेतेषां विनं यत्रास्तकस्मयाः । इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं बुद्धिनिवर्हणम् ॥१९८॥ (इत्यपायः)
 अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसरजिमान् । मन्त्रत्रयीवृत्तो लोकः प्राप्ते तन्नामनिष्ठितः ॥१९९॥ (इति लोकः*)
 ३ रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च । अनारतं भ्रमस्येते मित्रकर्मजितेरिताः ॥२००॥ (इति विपाकः)

मानवों की परीक्षा में स्खलित (असफल) होता है, वह संसार समुद्र में डूब रहे प्राणियों को अवलम्बन (सहारा) देनेवाला किसप्रकार हो सकता है ?

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान से सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित परमागम से परमात्मा के स्वरूप का निश्चय करके परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, इसी से परमात्म पद की प्राप्ति होती है । जिस ध्यान में जैन सिद्धान्त में कहे हुए वस्तुस्वरूप का चिन्तन सर्वज्ञ भगवान् को प्रमाण मानकर—उनको आज्ञा को ही प्रधान करके किया जाता है उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ १९५-१९६ ॥

अपायविचय का स्वरूप

आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाश के विस्तृत होने पर भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार, प्रम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्यरूप रत्नत्रय को ग्रहण करने में (मोक्षमार्ग को स्वीकार करने में) मनुष्यों के चित्तों को अन्धा बनाता है । अर्थात्—हिताहित के विवेक से शून्य करता है, इसलिए हम इन भव्यजनों के उस दिन की आशा करते हैं, जिस दिन ये मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वरूपी पाप को नष्ट करने वाले होकर सम्स्त दुःखों से छुड़ानेवाले तत्त्वों की श्रद्धा करेंगे, अर्थात्—सन्मार्ग से भ्रष्ट हुए मानवों के उद्धार करने के विषय में जो चिन्तन किया जाता है, उसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ १९७-१९८ ॥

संस्थानविचय का स्वरूप

यह लोक किसी ईश्वर-आदि द्वारा रचा हुआ नहीं है, और इसका स्वरूप भी विचित्र है, इसके बीच में एक राजू चौड़ी व चौदह राजू लम्बी असनाली है एवं जो तीन वातवलयों (घनोदधिवातवलय, धनवातवलय व तनुवातवलय) से वेष्टित (घिरा हुआ) है तथा लोक के ऊपर उसके प्रान्तभाग में सिद्धस्थान है, अभिप्राय यह है उक्त प्रकार लोक के स्वरूप के चिन्तन करने को संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१९९॥

१. परकीयः आगमः । २. घयं वाच्छामः । ३. यत्र यस्मिन् दिने एते मिथ्यादृष्टयः वस्तुकल्मषाः सन्तः तत्त्वं पर्यन्ति तद्दिनं वाच्छामः ।

तथा चाह पूज्यपादः—

‘जात्यन्ववन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद् विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ् मार्गपरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्येभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽप्येयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः’ । —सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सू० ३६ । ४. मोक्ष । *, संस्थानविचयधर्मध्यान ।

तथा चाह टिप्पणीकारः—‘श्रुतिमतिबलवीर्यप्रेमरूपायुरंग, स्वजनतनकास्ताभ्रातृपित्रादिसर्व ।

सितउगतजलं वा न स्थिरं वीक्षतेऽपि तदपि वत विमूढो नात्मकार्यं करोति ॥ १ ॥ इति संस्थानविचयः’ टि० सू० ।

तथा चाह पूज्यपादः—लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः । —सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ३६ ।

५. तथा चाह पूज्यपादः—‘कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविषयः ।

—सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ३६,

इति चिन्तयतो बन्धं यतात्मेन्द्रियचेतसः । तमांसि ^१व्रवमायान्ति ^२द्वावशास्मोषयादिषु ॥२०१॥

^३भेदं ^४विवर्जितामेवमभेदं^५ भेदवर्जितम्^६ । ध्यायन्^७सूक्ष्मक्रियाशुद्धौ ^८निष्क्रियं ^९योगमाचरेत्* ॥२०२॥

विपाकविचय का स्वरूप

ये प्राणी धूलि-सरीखे अपनी कर्मरूपी वायु द्वारा प्रेरित हुए निरन्तर इस लोक के मध्य, ऊर्ध्व व अधो लोक में भ्रमण करते हैं, उस प्रकार ज्ञानावरण-आदि कर्मोंके फल के चिन्तन करने को विपाकविचय कहते हैं ।

भावार्थ—पञ्जिकाकार* ने कहा है कि 'आः कष्ट' है कि निश्चय से विचित्र फल (सुख-दुःख) देनेवाले ज्ञानावरण-आदि कर्मों द्वारा संसार के प्राणी चारों गतियों में दुःखित किये जाते हैं, इसलिए कब मैं इस कर्म-फल की निर्जरा करके आगामी कर्म-फल को तिरस्कृत करता हुआ मोक्ष प्राप्त करनेवाला होऊँ, इसप्रकार चिन्तन करना विपाकविचय है ॥ २०० ॥

धर्मध्यान का फल

जैसे सूर्य के उदय से तम (अन्धकार) नष्ट हो जाते हैं वैसे ही अपनी इन्द्रिय व मन को वश करके धर्मध्यान का चिन्तन करनेवाले मानव के तम (अज्ञान या पाप) नष्ट हो जाते हैं ॥ २०१ ॥

शुक्लध्यान का स्वरूप

[उक्त चारों प्रकार की धर्मध्यान-विधि में प्रवीण हुआ योगी मोक्षोपयोगी शुक्लध्यान प्राप्त कर

१. विनाशं । २. सूर्य । ३. भेदं पृथक्त्वं । ४. विवर्जितामेदमेकत्वरहितमर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रमात् । अनेन पृथक्त्ववितर्कविचारार्थं शुक्लध्यानमुक्तं । ५-६. अभेदमेकत्वं भेदवर्जितं पृथक्त्वरहितमर्थव्यञ्जन-योगान्तरेष्वसंक्रमात् । अनेन एकत्ववितर्कविचारार्थं शुक्लध्यानमुक्तं । ७. सूक्ष्मक्रियाशुद्धः सूक्ष्मैकक्रियावलम्बनः, अनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्तिः शुक्लध्यानमुक्तं । ८-९. निष्क्रियं सकलयोगरहितं योगं ध्यानं, अनेन समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानमुक्तम् ।

भवन्ति चात्र सुभाषितानि—

वितर्कः श्रुतमित्याहुर्विचारः संक्रमो मतः । अर्थव्यञ्जनयोगेषु स च संक्रम इष्यते ॥ १ ॥

व्यवर्थाय रूपः स्यादर्थस्तत्त्वार्थवेदिना । यद्वाचकवचस्तस्य सत्त्वव्यञ्जनमुदाहृतम् ॥ २ ॥

श्रेणिद्वयसमालम्ब्य हेतुः स्वर्गापवर्गयोः । शुक्लमाद्यं भवेद्ध्यानं श्रुतकेवलिनो मुनेः ॥ ३ ॥

योगं यं वाचं वा, संक्रम्योक्तवाणुपर्यये वितर्कयतः । श्रुतिविषयं भवति यतोः केवलज्ञानं क्षपकश्रेणिमारुहोः ॥४॥

*. तथा चाह सूत्रकारः—'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥ परे केवलिनः ॥ ३८ ॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति-
व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥ —तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ ।

*. तथा च पञ्जिकाकारः—आः कष्टं खलु विभ्रं फलमनुभावयद्भिरभीभिः कर्मभिश्चतसृषु गतिषु प्राणिनः क्लिश्यन्ते तत्कदाऽ-
हुमेतत्फलं निर्जोर्पावघोरिहागामिकर्मफलसंबन्धः सिद्धी स्वामिति भावनं विपाकः ।

ह० लि० पञ्जिका से संकलित—सम्पादक

बिलीनाशमसंबन्धः शान्तमावृतसञ्चयः । वेहातीतः परं धाम कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥२०३॥
 प्रसीणोभयकर्माणं जन्मदोषविवर्जितम् । लब्ध्यात्मगुणमात्मानं भोजमाहुर्मनीषिणः ॥२०४॥
 २. मार्गं सूत्रमनुप्रेक्षाः सप्ततत्त्वं जिनेश्वरम् । ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसंख्यानपरायणः ३ ॥२०५॥
 ४. जाने तत्त्वं यथैतिह्यं ५. अदृष्टे तदनन्यधीः ६. भुङ्क्तेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमावधे ॥२०६॥
 ७. आत्मायं बोधिसंपत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना । यवा ८. सूते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥२०७॥

सकता है ऐसा चित्त में निश्चय करके ग्रन्थकार धर्मध्यान के बाद शुक्लध्यान का निरूपण करते हैं*]

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति । उनमें से पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार विवर्जिताभेद है, अर्थात्—एकत्व-रहित है—अर्थ (द्रव्य व पर्याय) व्यञ्जन (द्रव्य-पर्याय को कथन करनेवाला वचन) व योगान्तरों (मनोयोग-आदि) में संक्रमण करता है । दूसरा एकत्ववितर्कवीचार भेद-विवर्जित है, अर्थात्—पृथक्त्व से रहित है; क्योंकि यह अर्थ व व्यञ्जन-आदि में संक्रमण नहीं करता । तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, जो कि सूक्ष्म क्रिया का अवलम्बन करनेवाला है और चौथा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति, जिसका लक्षण निष्क्रिय है, अर्थात्—समस्त योग-रहित है । अर्थात्—योगी उक्त तीन प्रकार के शुक्लध्यान को ध्याता हुआ निष्क्रिय ध्यान को ध्याता है । ऐसे अयोग केवली भगवान् इस चौथे शुक्लध्यान से समस्त कर्मों का संबंध नष्ट करनेवाले होकर जिनका प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) वायु का प्रचार रुक गया है और जो वर्तमान शरीर छोड़कर सर्वोत्कृष्ट भुक्तिपद प्राप्त करते हैं ॥ २०२-२०३ ॥

मोक्ष का स्वरूप

विद्वानों ने ऐसी विशुद्ध आत्मा को मोक्ष कहा है, जिसने दोनों प्रकार के कर्म (धातिया व अधातिया) नष्ट किये हैं व जो जन्म, जरा व मृत्यु-आदि दोषों से रहित है एवं जिसने आत्मिक गुण (अनन्तज्ञान-आदि) प्राप्त किये हैं ॥ २०४ ॥

ध्यान करने योग्य वस्तु

धर्म-ध्यान में तत्पर हुए मानव को शास्त्ररूप चक्षु से युक्त होकर मोक्षमार्ग के सूत्र (सम्पददर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः) का ओर बारह भावनाओं का तथा मोक्षोपयोगी सात तत्त्वों का एवं वीतराग सर्वज्ञ-जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करना चाहिए ॥ २०५ ॥

धर्मध्यानी को क्या विचार करना चाहिए ?

मैं आगमानुसार तत्त्वों को जानता हूँ और एकाग्रचित्त होकर उनका श्रद्धान करता हूँ एवं समस्त आरम्भों को छोड़ता हूँ तथा आत्मा में आत्मा को स्थिर करता हूँ ॥ २०६ ॥ संसारी यह आत्मा जब सम्पदज्ञान-

१. धाति-अधाति । २. रत्नत्रयलक्षणं । ३. ध्यानसत्परः । ४. अहं । ५. रीचे । ६. एकाग्रचित्तः ।

*. तथा च पञ्चिकाकारः—

धर्मध्यानविधौ सिद्धः शुक्लध्यानविधानभाक् । अतएवास्य भाषन्ते निर्वेशं तदनन्तरम् ॥ १ ॥

इति चेतेति निधाय धर्मध्यानानन्तरं चतुर्भेदं शुक्लध्यानं भेदमित्यादिनोदाहरति । यश० पञ्चिका द्वे संकलिता - सम्पादक

७. संसारी सन्नपि । ८. जनयति ध्यायति वा ।

ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा । आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथा युक्तिपरिग्रहः ॥२०८॥

सुखामृतसुखाधूतिस्तत्र वेद्ययाचलः । परं ब्रह्माहम्^१ ज्ञाते तमःपाशबन्धीकृतः ॥२०९॥

एवा चकाशित मे त्रेतस्तद्वृत्तान्तेन्द्रियगोचरम् । तवाहं जगतां चक्षुः स्यान्नादित्य इवातमाः ॥२१०॥

आदौ मध्वमधुप्राप्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम् । प्रातःस्नानयिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥२११॥

यो दुरामयकुर्बन्ते बद्धप्राप्तो यमोऽङ्गिनि । स्वभावसुभगे तस्य^२ स्पृहा केन निवार्यते ॥२१२॥

जन्मयोमनसंयोगमुखाणि यदि देहिनाम् । निविपक्षाणि को नाग सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥२१३॥

अनुयाचेत नायूषि नापि मृत्युमुपाहरेत् । भूतो भूय इवासीत्^३ कालावधिमविस्मरन् ॥२१४॥

महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्ववचितेजसा । सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठितः ॥२१५॥

रूपीलक्ष्मी से आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का ध्यान करता है तब आत्मा को परमात्मरूप से प्राप्त करता है—परमात्मा बन जाता है ॥ २०७ ॥ आत्मा ही ध्याता (ध्यान करनेवाला) है, आत्मा ही ध्येय (ध्यान करने योग्य) है एवं आत्मा ही ध्यान है तथा रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही ध्यान का फल है । अर्थात्—ध्याता, ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं, युक्ति के अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥ २०८ ॥ मैं सुखरूपी अमृत की उत्पत्ति के लिए चन्द्रमा हूँ तथा सुखरूपी सूर्य को उदित करने के लिए उदयाचल हूँ । एवं मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ, परन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जाल से पराधीन होकर इस शरीर में ठहरा हुआ हूँ ॥ २०९ ॥ जब मेरा मन उस शुक्लध्यान के उदय को विषय करनेवाला होकर प्रकाशित होगा तब मैं उस प्रकार अतम (अज्ञान नष्ट करनेवाला) होकर तीन लोक के पदार्थों का दृष्टा (केवली) हो जाऊँगा जिस प्रकार अतम (अन्धकार नष्ट करनेवाला) सूर्य जगत की चक्षु (लोक के पदार्थों) को प्रकाशित करनेवाला होता है ॥ २१० ॥ समस्त इन्द्रिय-अन्य सुख शुरु में मधु-जैसा मीठा प्रतीत होता है परन्तु अखीर में कटुक मालूम पड़ता है जैसे शीत ऋतु में सवेरे स्नान करनेवाले प्राणियों को उष्ण जल प्रिय मालूम पड़ता है न कि शीष्म ऋतु में प्रातः स्नान करने वालों को ॥ २११ ॥ जो यमराज दुष्ट व्याधियों से पीड़ित होने के कारण दुःख से भी देखने के लिए अशक्य (कुरूप) प्राणी को अपने मुख का ग्रास बनाता है, तो स्वभाव से सुन्दर प्राणी को अपने मुख के ग्रास बनाने की उसकी इच्छा को कौन रोक सकता है ? अर्थात्—वह सुन्दर मनुष्य को भी खा लेता है ॥ २१२ ॥ यदि प्राणियों के जन्म, धौवन व इष्ट-संयोग से होनेवाले सुख विपक्षों (जन्म का विपक्षी मरण और जवानी का विपक्षी बुढ़ापा एवं इष्ट संयोग-सुख का विपक्षी इष्टवियोग) से रहित होते तो ऐसी संभावना है कि कौन बुद्धिमान मनुष्य संसार को छोड़ता ? ॥ २१३ ॥

योगी पुरुष को काल की अवधि को न भूलते हुए (इस प्रकार निश्चय करते हुए कि स्वादिष्ट अन्न-आदि से पुष्ट किया हुआ भी यह शरीर यमराज की वञ्चना का उल्लंघन नहीं करता) न तो जीवन की याचना करनी चाहिए कि मैं अधिक काल तक जीवित रहूँ और न मृत्यु की अनिच्छा करनी चाहिए कि मैं कभी न मरूँ । उसे उसप्रकार अपने कर्तव्य (ध्यानादि) में स्थित होना चाहिए जिसप्रकार स्वामी द्वारा भरण-पोषण किया हुआ (वेतन पानेवाला) नौकर उसके कर्तव्य में सावधान रहता है ॥ २१४ ॥ मैं आज विशेष भाग्यशाली हूँ; क्योंकि तत्त्वबुद्धानरूपी प्रकाश से मेरी अन्तरात्मा विगुद्ध हो गई है और मैं मिथ्यात्व-रूपी गाढ़ अन्धकार को पार करके प्रतिष्ठित हूँ ॥ २१५ ॥ संसार में ऐसा कोई भी सुख-दुःख नहीं है, जिसे

१. सुखसूर्यस्य । २. देहे तिष्ठामि । ३. यमस्य । ४. शाश्वतानि । ५. पुष्टो मृष्टाश्चादिभिः कायः । ६. भूतः कायः यमवचनां न लङ्घयतीत्यर्थः, तेन कारणेन योगिना जीवितमरणयोर्वाञ्छा अवाञ्छा न कर्तव्या ।

तन्नास्ति यत्तु लोके सुखं दुःखं च नाप्तवान् । स्वप्नेऽपि न भया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥२१६॥
 सम्यगेतत्सुधाभोये*विन्दुमप्यालिहन्मुहुः । जन्तुर्न प्राप्नु जायेत जन्मवृत्तनभाजनः ॥२१७॥
 *येन वेवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् । चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥२१८॥
 निरञ्जनं जनाधीशं परमं रमयाभितम् । अश्रुतं श्रुतदोषोद्यमभवं भवभृद्गुहम् ॥२१९॥
 सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्य^१सर्वेश्वरमतीश्वरम्* । सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वश्रयमनाश्रयम् ॥२२०॥
 प्रभवं सर्वविद्यामं सर्वलोकपितामहम् । सर्वमत्त्वहितारम्भं^२ गतमर्षमसर्वगम्^३ ॥२२१॥
 नन्नामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले । भवत्पदद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥२२२॥
 स्तुयमानमनूजाने^४शंभोशेर्ब्रह्मकानिभिः । अध्यात्मागमवेषोभिर्योगिमुख्यैर्भह्द्विभिः ॥२२३॥
 नीरूपं^५रूपिताशेषमशब्दं^६ शब्दनिष्ठितम् । अस्पर्शं^७योगसंस्पर्शमरसं^८सरसागमम् ॥२२४॥

मैंने प्राप्त न किया हो किन्तु जैनागमरूपी अमृत का पान मैंने स्वप्न में भी नहीं किया ॥ २१६ ॥ जो प्राणी इस आगमरूपी क्षीरसागर की एक विन्दु का भी आस्वादन कर लेता है, वह फिर कभी भी जन्मरूपी अग्नि का पात्र नहीं होता । अर्थात्—उस शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है, जिससे उसे संसार में भ्रमण नहीं करना पड़ता ॥ २१७ ॥

[अब अर्हन्त भगवान् के ध्यान करने की प्रेरणा करते हैं—]

धर्मध्यामी को ऐसे अर्हन्त भगवान् का ध्यान करना चाहिए, जो कि समवसरण में विराजमान; पंच कल्याणकों के स्वामी, चौत्तीस अतिशयों से युक्त और आठ प्रतिहार्यों से विभूषित हैं, जो निरञ्जन (धातिपा-
 कर्मरूपी मल से रहित), मनुष्यों के स्वामी, व सर्वल्लिख्य हैं, जो अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग लक्ष्मी से आश्रय किये हुए, आत्मस्वरूप से श्रुत न होनेवाले, दोष-समूह से रहित और संसार-रहित होकर संसारी प्राणियों के गुह हैं, जो समस्त प्राणियों द्वारा स्तुति-योग्य हैं किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य नहीं है, जो समस्त प्राणियों के स्वामी हैं किन्तु जिनका कोई स्वामी नहीं है, जो सबके आराध्य हैं परन्तु जिनका कोई आराध्य नहीं है, जो सबके आश्रय हैं परन्तु जिनका कोई आश्रय नहीं है, जो समस्त विद्याओं के उत्पत्तिस्थान और समस्त लोक के पितामह हैं, जिनके कार्य का प्रारम्भ समस्त प्राणियों के हित के लिए है जो समस्त विश्व के ज्ञाता और स्वशरीर के परिमाण हैं ॥ २१८-२२१ ॥ जिनके चरण-युगल का प्रकाशमान नखरूपी नक्षत्र-समूह, नमस्कार करने वाले देवों के मुकुटों के किरण-मण्डलरूपी आकाश में शोभायमान हो रहा है ॥ २२२ ॥ द्वादशाङ्ग श्रुत के पारगामो, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्म की कामना करनेवाले अध्यात्मशास्त्र के कर्ता तथा महान् ऋद्धिधारी गणधर जिनकी स्तुति करते हैं ॥ २२३ ॥ जो रूप-रहित हैं और समस्त वस्तु-समूह के ज्ञाता हैं, जो स्वयं शब्दरूप नहीं हैं किन्तु आगम से निर्णीत हैं, जो स्पर्श-रहित हैं किन्तु ध्यान से स्पृष्ट हैं, जो रस गुण से रहित हैं, किन्तु जिनका आगम सरस (सुखरस का उत्पादक) है, जो गन्धगुण से रहित हैं किन्तु अनन्त ज्ञानादि गुणों से अपनी आत्माको सुगन्धित करनेवाले हैं, जो चक्षुरादि इन्द्रियों के संबंध से रहित हैं अर्थात्—जब भगवान् केवलज्ञानी हुए तभी से इनका भावेन्द्रियों से संबंध छूट गया, किन्तु इन्द्रियों-के विषयों के प्रकाशक

*. क्षीरसमुद्रस्य । १. अर्हन्तं ध्यायेत् । २. चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं—निःस्वेदल्लादयो दश सहजाः, गन्धूतिसतचतुष्टय सुभिक्षितादयो धातिक्षयजाः दश, सर्वार्थिमागवीभाषादयो देवोपनीताश्चतुर्दश । ३. न विद्यते स्तुत्यो यस्य । ४. न विद्यते ईश्वरः स्वामी यस्य सः अर्हन् ।

५. ज्ञातं सर्वं येन । ६. न सर्वं गच्छतीति शरीरप्रमाणमित्यर्थः । ७. ब्रह्मविद्धिः । ८. आगमकर्तृभिः । ९. ज्ञात । १०. आगमेन निष्ठा यस्य । ११. ध्यान । १२. सुखरसागमं ।

गुणः सुरभितास्मानमगन्धगुणसंगमम् । व्यतीतेन्द्रियसंबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥२२५॥
 भुवमानन्वसस्यानामस्मस्तृष्णानलाधिवाम् । पवनं दोषरेणूनामग्निमेनोवनीदहाम् ॥२२६॥
 'यजमानं सवर्षानां व्योमालेपादिसंपदाम्' । भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतधियाम् ॥२२७॥
 'अतावकगुणं सर्वं त्वं सर्वगुणभाजनः । त्वं सृष्टिः 'सर्वकामानां कामसृष्टिनिमीलनः' ॥२२८॥
 स्वमुप्तदीपनिर्वाणे *प्राकृते वा स्वयि स्फुटम् । 'स्वमुप्तदीपनिर्वाणं' प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ॥२२९॥
 'त्रयीमार्गं' 'त्रयीरूपं' 'त्रयीमुक्तं' १० '११' 'त्रयीपतिम्' ।
 '१२' 'त्रयीव्याप्तं' '१३' 'त्रयीतरणं' 'त्रयीबूडामणिस्थितम्' १४ ॥२३०॥

हैं; जो शाश्वत सुखरूपी बान्ध की उत्पत्ति के लिए पृथिवी, तृष्णारूपी अग्नि-ज्वालाओं के बुझाने के लिए जल, दोष (क्षुधा-तृषा-आदि) रूपी धूलि को उड़ाने के लिए वायु और पापरूपी वृक्षों को भस्म करने के लिए अग्नि हैं, जो प्रशस्त पदार्थों के दाता और समवसरण-आदि दिभूतियों की प्राप्ति होने पर भी उनमें अनुरक्त न होने के कारण जो निर्लिप्त रहना-आदिरूपी सम्पत्तियों के लिए आकाश-सरीखे हैं, जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य एवं मोक्षरूपी अमृत-लक्ष्मी के लिए चन्द्र हैं, समस्त वस्तु-समूह में तुम्हारे गुण (अनन्त ज्ञानादि) नहीं हैं, और तुम समस्त गुणों के पात्रभूत हो, एवं तुम समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले तथा काम की सृष्टि का संकोचन करने वाले हो अर्थात्—काम-विकारों को दूर करने वाले हो ॥ २२४-२२८ ॥ वैशेषिक दर्शन में निर्वाण (मुक्ति) का स्वरूप आकाश-सरीखा शून्य माना है; क्योंकि उनके मत में मुक्त अवस्था में आत्मा के बुद्धि व सुख-आदि नो विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद (नाश) हो जाता है । सांख्यदर्शन में निर्वाण का स्वरूप सोये हुए मनुष्य की तरह अर्थ-क्रिया-शून्य माना गया है; क्योंकि उन्होंने पुरुष के ऐसे चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) को मुक्ति मानी है, जो कि पदार्थों के ज्ञानरूपी अर्थक्रिया से शून्य है और बौद्धमत में दीपक के बुझने सरीखी आत्मा की निरन्वय हानि (नाश) को मुक्ति माना है, किन्तु अलौकिक अहन्त भगवान् में उक्त तीन दर्शनकारों के निर्वाण अनेकान्त शैली के अनुसार प्रकटरूप से विद्यमान हैं । अर्थात्—जैनदर्शन में मोक्ष में राग, द्वेष व मोह से रहित होने के कारण आत्मा की विशुद्ध अवस्था को आकाश-सरीखी मानी है और ध्यान में लीन होने के कारण सुप्त मानी है और दीपक की तरह केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली दीप-सरीखी मानी है; अतः हे जिन ! उक्त तीनों दर्शनकारों की मुक्ति का स्वरूप हीन (युक्तिविरुद्ध) है ॥ २२९ ॥ जिनका मोक्षमार्ग रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-

१. दातारं उत्तमार्थानां । २. आदिशब्दान्महत्वादि । ३. यद्वस्तु तत्सर्वं ज्ञातव्यगुणं त्वत्त्वरूपं न भवति ।
४. वाञ्छितवस्तुतां । ५. संकोचनः । ६. 'स्वनिर्वाणं नैयायिकानाम्, सुप्तनिर्वाणं सांख्यानां, दीपनिर्वाणं बौद्धानाम्, पक्षे रागद्वेषमोहरहितत्वादाकाशवत् शून्यं, योगनिद्रायां सुप्तं, दीपवत् केवलज्ञानेन द्योतकम्' । टि० ख० ।
- 'स्वनिर्वाणं नैयायिकानामित्यादि' टि० ख० वत्, 'स्वादिवनिर्वाणं वैशेषिकसांख्यबौद्धानां ज्ञानाद्यभावचैतन्यमात्रान्वयविशेषविनाशाम्युपगमात् । * अलौकिके निश्चितं त्वयि विषये भवति' इति टि० घ० च० । 'स्ववत् निर्वाणं वैशेषिकारणां ज्ञानाद्यभावाम्युपगमात्, सुप्तवन्निर्वाणं सांख्यानां चैतन्यमात्राम्युपगमात्, प्रदीपवन्निर्वाणं बौद्धानां निरन्वयविनाशाम्युपगमात्' । इति पञ्चविधकारः प्राह । ७. हीनं । ८. रत्नत्रयमार्गं (रत्नत्रयं मार्गो यम्य) ।
९. 'रत्नत्रय, सत्तासुखचैतन्यरूपं वा' । टि० ख० । 'रत्नत्रयरूपं' टि० घ० च० पं० च । १०. 'जातिजरामरणमुक्तं' टि० घ० पं० च । 'रागद्वेषमोह' टि० ख० । ११. 'जगत्त्रयपति' इति पं०, 'मतिथुसावधिप्रयं गृहस्थापेक्षया' टि० ख० । १२. कालत्रयव्याप्तं (अतीतानागतवर्तमानत्रयी) । १३. राग, द्वेष, मोह, स्वर्गमर्त्यपाताल, गृहस्थापेक्षया मतिथुतावधिप्रयं । १४. त्रैलोक्यशिक्षायां मणिवत् स्थितम् ।

जगतां कीमुबोचनं कावकल्पावनीरुहम् । पुनश्चित्तामणिश्रेष्ठं कल्याणमभाकरम् ॥२३१॥

^१प्रणिर्वाणप्रक्षोपेषु साक्षादिव चक्षस्ततम् । प्यायेज्जगत्त्रयाद्याहंमहंतं सर्वतोमुखम् ॥२३२॥

^२आहुस्तस्मात्परं कृत्वा तस्मादेन्द्रं पदं करे । इमास्तस्मादवतनाप्या^३इवक्राज्जुः क्षितिपथियः ॥२३३॥

यं यमव्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः । तत्पद्याय दधरयतः स स तत्रैव लीयते ॥२३४॥

अनुपायानिलोद्भ्रान्तं पुंस्तत्कृपां मनोबलम्^४ । तद्भूमावेव^५ मध्येत लीयमानं चिरादपि ॥२३५॥

^६अथोतिरेकं परं वेद्यः^७ करोषादमसमित्तमः । तत्प्राप्त्युपायविज्ञूढा भ्रमन्ति भवकानने ॥२३६॥

आदि) हे, ओ रत्नत्रयरूप है अथवा सत्ता, सुख और चैतन्य से विशिष्ट होने के कारण जो त्रयीरूप है, जो राग, द्वेष और मोह से मुक्त है अथवा जन्म, जरा व मरण से मुक्त है, जो तीन जगत के स्वामी है अथवा गृहस्थ की अपेक्षा से मति, श्रुत व अविधिज्ञान से मुक्त है, जो कालत्रय में व्याप्त है, जिनका तत्त्व उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यात्मक है और जो तीनों लोकों के शिखर पर मणि-सरोखे विराजमान है ॥ २३० ॥ जो जगत के लिए पूर्णिमासी के चन्द्र है, जो अभिलषित वस्तु देने के लिए कल्पवृक्ष है, जो गुणरूपी चित्तामणि के स्थान है एवं जो कल्याण-प्राप्ति के लिए खानि है ॥२३१॥ जो ध्यानरूपी दीपकों के प्रकाश में साक्षात् बसकनेवाले और तीन लोकों से पूजनीय है एवं जिनका मुख समस्त दिशाओं में है ॥२३२॥ आचार्यों ने कहा है, कि उन अर्हन्त का ध्यान करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है और उनके ध्यान से इन्द्रपद हस्त-गत होता है एवं चक्रवर्ती की विभूतियाँ बिना यत्न के प्राप्त हो जाती हैं ॥२३३॥ मान व ईर्ष्या से रहित पुरुष अध्यात्म-मार्ग में अपने अन्तःकरण में मोक्षपद की प्राप्ति के लिए जो-जो भाव स्थापित करते हैं वह-वह भाव उसी पद में ही लीन होता जाता है अर्थात्—प्रकर्ष को प्राप्त हुआ वह भाव अर्हन्त पद की प्राप्ति का कारण होता है ॥२३४॥ पुरुषरूपी वृक्षों का मनरूपी पत्ता मोक्ष प्राप्ति में जो कारण नहीं है, ऐसे मिथ्यादर्शन-आदि रूपी वायु से सदा उद्भ्रान्त (चञ्चल व पक्षान्तर में भ्रान्ति-मुक्त) बना रहता है किन्तु अर्हन्तरूपी भूमि में पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसी में चिरकाल के लिए लीन हो जाता है ।

भावार्थ—ताना प्रकार के सांसारिक प्रपञ्चों में फँसे रहने के कारण मानव का मन सदा चञ्चल व भ्रान्तिमुक्त बना रहता है, किन्तु जब मनुष्य मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर अपने मन को स्थिर करने में प्रयत्नशील होता है और अर्हन्तदेव का ध्यान करता है तो उसका मन उसी में लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पड़ता है; क्योंकि अर्हन्त अवस्था में भावमन नहीं रहता ॥२३५॥ ध्यान करने योग्य आत्मतत्त्वरूपी ज्योति (अग्नि) एक ही है परन्तु उसका आकार उस प्रकार पृथक् है जिस प्रकार अग्नि एक होकर भी आकार से पृथक्-पृथक् होती है । अर्थात्—जिस प्रकार अग्नि एक होकर शुष्क गोबर (कण्डा), पाषाण व लकड़ी के कारण कण्डे की अग्नि, पाषाण-अग्नि व लकड़ी की अग्नि-आदि भिन्न-भिन्न आकार धारण करती है उसी प्रकार ध्यान करने-योग्य आत्मा भी एक ही है, परन्तु स्त्री, पुरुष व नपुंसक के वेष में वह तीनरूप प्रतीत होती है, परन्तु ये अज्ञानी मानव उस आत्मा व अग्नि की प्राप्ति के उपाय की दिशा में मूढ़ हुए (दिग्भ्रान्त हुए) संसाररूपी वन में भ्रमण करते हैं । अभिप्राय यह है कि जैसे कण्डे से अग्नि का प्रकट होना कठिन है वैसे ही स्त्री-शरीर में आत्मा का विकास होना कठिन है और जैसे पाषाण से अग्नि शीघ्र प्रकट होती है वैसे ही पुरुष शरीर में आत्मा का विकास शीघ्र होता है एवं जैसे लकड़ी से अग्नि का प्रकट

१. ध्यान । २. अर्हन्तः । ३. प्राप्य । ४. पर्ण । ५. मोक्ष एव । ६. आत्मा अग्निश्च । आत्मा एक एवं आकारस्तु पृथक् स्त्री-पुंनपुंसकभेदात् । ७. गोमयेऽग्निः शीघ्रं प्रकटो न स्यात्तथा स्त्रीषु आत्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति । पाषाणज्ज्वाः शीघ्रं प्रकटः स्यात्तद्वत् पुंस्यात्मा । समिधिविषये शीघ्रं प्रकटो न स्यात्तद्वन्तपुंसके, आत्मनोज्ज्वलश्च । ८. मोक्षोपाय ।

^१परस्परं देवमेवं चिन्तयतो यतेः । भवन्त्यतीन्वित्रास्ते ते भावा लोकेस्तरभियः ॥२३७॥

^२अपोम, ^३छायायानरोत्सङ्गि यथासूतमपि स्वयम् । योगयोगात्सत्तामायं भवेत्प्रत्यक्षधीश्वरः ॥२३८॥

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा बुद्धिर्म तत्सुखम् । पद्मयोगद्योतने न स्थावाःसन्त्यस्ततमद्वये ॥२३९॥

देवं जगत्त्रयोमेशं श्वस्तराद्याद्व देवताः । समं पूजाविधानेषु मध्यमूरं ज्ञेयम् ॥२४०॥

ताः शासनाधिकार्य कल्पिताः परमागमे । अतो यथाज्ञानेन माननीयाः सुबुद्धिभिः ॥२४१॥

तच्छासनकर्मक्षीनां सुवृशां सुवसात्मनाम् । स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुंसां सपुरंधराः ॥२४२॥

^४तद्वामवद्वक्त्राणां रत्नत्रयमहीयसां । उभे कामद्वये स्यातां छायासूमी मणोरयः ॥२४३॥

होना विशेष कठिन है वैसे ही नपुंसक-शरीर में आत्मा का विकास विशेष कठिन है ॥ २३६ ॥ इसप्रकार पर (मुनि) और अपर (गणधर) से भी श्रेष्ठ अर्हन्त देव का ध्यान करनेवाले योगी पुरुष में इन्द्रियों के अगोचर भाव (अवधिज्ञान-आदि) अलौकिक लक्ष्मी (मुक्तिश्री) को देनेवाले प्रकट होते हैं ॥ २३७ ॥ जिसप्रकार आकाश स्वयं अमूर्तिक होकर के भी छाया-पुरुष को मध्य में धारण करने से छाया पुरुष हो जाता है । अभिप्राय यह है कि निस्तान्देह कोई निमित्तज्ञानी छाया-दर्शन के अभ्यास से अपने शरीर की छाया का दर्शन करता है और जब छाया विघटित हो जाती है तब आकाश शून्य होने पर भी तमके द्वारा उसमें छाया-हीन पुरुष देखा जाता है उसीप्रकार ध्यान के अभ्यास से ध्यानी को अमूर्तिक आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ २३८ ॥ ऐसे वे गुण नहीं, वह सम्यग्ज्ञान नहीं और वह सम्यक्त्व नहीं एवं वह यथार्थ सुख भी नहीं, जो ध्यान के प्रकाशवाली व अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाली विषुद्ध आत्मा में प्रकट नहीं होते । अर्थात्—धर्म व शुक्लध्यान के प्रभाव से आत्मा में समस्त प्रशस्त गुण, केवलज्ञान, परमावगाढ़ सम्यक्त्व व मुक्तिश्री का यथार्थ सुख प्रकट होता है ॥ २३९ ॥

शासन-देवता की कल्पना

जो श्रावक तीनों लोकों के दृष्टा जिनेंद्र भगवान् को और व्यन्तर-आदि देवताओं की पूजाविधि में समान रूप से मानता है । अर्थात्—दोनों की एक सरीखी पूजा करता है, वह विशेष रूप से तरकगामी होता है । अभिप्राय यह है कि विवेकी पुरुष को पूजाविधि में दूसरे देव जिनेंद्र-सरीखे पूज्य व सर्वोत्कृष्ट नहीं मानने चाहिए, किन्तु उन्हें हीन समझना चाहिए । जिनागम में जिन शासन की रक्षा के लिए उन शासन-देवताओं की कल्पना की गई है, अतः पूजा का एक अंश देकर सम्यग्दृष्टियों को उनका सम्मान करना चाहिए ॥ २४०-२४१ ॥ व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र, जिनशासन के अनन्य भक्त, सम्यग्दृष्टि व व्रती पुरुषों पर स्वयं प्रसन्न होते हैं ॥ २४२ ॥ स्वर्ग व पृथिवी दोनों ही उनके मनोरथों की पूर्ति द्वारा इच्छित वस्तु देनेवाले होते हैं, जिन्होंने मोक्ष को अपनी कांख में बाँधा है और जो रत्नत्रय से महान् हैं ॥ २४३ ॥

१. परः अनगरः केवलः, तस्मात् परः उत्कृष्टः गणधरस्तस्मात् परो जिनः । २. आकाशं । ३. छायायानरोत्सङ्गि छायापुरुषो भवतीति शेषः । किल कश्चिन्नमित्तीपुरुषः स्वशरीरछायाज्वलोकनं करोति, छायावलोकनाभ्यासवशात् छाया विघटति, आकाशे शून्येऽपि नरो दृश्यते, तद्वत् ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थः । ४. अतिशयेन अधोगामी स्यात्, तेन कारणेन अम्यदेवाः जिनसदृशाः न माननीयाः, किन्तु जिनात् हीनाः ज्ञातव्याः इत्यर्थः । ५. न तु जितवत् स्तपनादिना । ६. मोक्ष ।

क्षुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्मन्त्रेणापि वेद्यताः । सस्पृहं यच्च तत्त्वतो रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥२४४॥
 ध्यायेद्वा 'बाहुमर्धं ज्योतिर्गुणपञ्चकवाचकम् । एतद्धि सर्वविद्यानामविष्ठानमन्त्रवरम् ॥२४५॥
 ध्यायन्निवमस्य 'वेहेऽस्मिन्निवे' मन्दरमुद्रया' । 'सर्वनामादिवर्णाहं' 'वर्णाद्यन्तं' 'सबीजकम् ॥२४६॥
 तपःश्रुतविहीनोऽपि तद्ध ध्याता' विद्धमानसः । न जातु तमसां सृष्ट्या तत्तत्त्वचित्रीप्रधीः ॥२४७॥
 अथोस्य सार्धशतश्राणि विधाय च तपः परम् । इमं मन्त्रं स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्वचेतसः ॥२४८॥
 मन्त्रोऽयं स्मृतिधाराभिषिक्तं यस्यामिचरति । तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसवः ॥२४९॥
 अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा । भवत्येतस्मृतिर्जन्तुराम्पदं सर्वसंपदाम् ॥२५०॥
 उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं किञ्चित्लौकिकमुच्यते । 'प्रकीर्णरूपपञ्चेन वृष्टावृष्टफलाभयम् ॥२५१॥

निष्काम होकर धर्माचरण की प्रेरणा

धार्मिक पुरुष तप करे, मन्त्रों का जाप करे अथवा देवों को नमस्कार करे किन्तु यदि उसका चित्त लौकिक वस्तुओं की लालसा-युक्त है तो वह इस लोक व परलोक में रिक्त (फल-शून्य) रहता है ॥२४४॥ धर्म-ध्यानों को अर्हन्त व सिद्ध-आदि पञ्चपरमेष्ठी को वाचक पञ्चनमस्कार मन्त्ररूपी ज्योति का एकाग्र-चित्त होकर ध्यान करना चाहिए; क्योंकि यह पञ्चनमस्कार मन्त्ररूपी ज्योति निस्सन्देह समस्त विद्याओं की अविनाशी आधार है ॥ २४५ ॥ जिसमें पञ्चनमस्कार मन्त्र के पाँचों पदों के प्रथमाक्षर सन्निविष्ट हैं, और जो 'अहं' रूप है तथा बीजाक्षरवाला है, ऐसे 'अहं' इस मन्त्र को अपने मस्तक के ऊपर स्थापित करके मन्दर मुद्रा (मस्तक के ऊपर दोनों हाथों से शिखराकार कुड्मल करता अथवा पंचमेरुमुद्रा) द्वारा ध्यान करना चाहिए; क्योंकि उस तत्व के ध्यान से व्यास चित्तवाला मनुष्य तप और श्रुत से रहित होने पर भी कभी अज्ञानों का सृष्टा—उत्पादक—नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि उस तत्व की श्रद्धा से सदा प्रकाशित रहती है ॥ २४६—२४७ ॥ योगी पुरुष समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके व उत्कृष्ट तप करके समाधिमरण की वेला में एकाग्रचित्त होकर इसी मन्त्र का ध्यान करते हैं ॥ २४८ ॥ यह पञ्चनमस्कार मन्त्र जिस ध्याती के चित्त को पंचपरमेष्ठी के गुण-स्मरणरूपी जलधाराओं से अभिषिक्त करता है, उसकी समस्त क्षुद्र उपद्रवरूपी घूलियाँ शान्त हो जाती हैं ॥ २४९ ॥ अपवित्र या पवित्र, निरोगी या रोगी जो प्राणी इस मन्त्र का स्मरण करता है, वह समस्त बिभूतियों का स्थान हो जाता है ॥ २५० ॥ अलौकिक ध्यान के निरूपण के पश्चात् अव-उसकी चूलिका-व्याख्याके कारण प्रत्यक्ष व परोक्षफल का आधारभूत लौकिक ध्यान संक्षेप रूप से कहा जाता है ॥ २५१ ॥

१. पंचनमस्कारमन्त्र । २. ललाटे । ३. अहं । ४. 'मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकारः कुड्मलः क्रियते स एव मन्दरः' इति टि० ख०. 'मन्दरमुद्रा पंचमेरुमुद्रा' इति पं० । ५. 'पंचपदप्रथमाक्षरेण योग्यं' इति टि० ख०, 'सर्वनामा दिवर्णाहं—सर्ववर्णाः, नामवर्णाः, नामादिवर्णाः—अर्हन्त । अ सि आ । आदि अकार तदन्ते बीजं 'हं' इत्यादिकं' इति पञ्जिकाकारः । ६. अहं । तथा च—व्युत्पत्तिः 'अहं' इति पदस्य 'अहन्' वाचकस्य 'अहं' इति गृह्यते । अशरीर अर, अर्य अर, अभ्यापक अ, गुणि म् । पश्चाद्गुणं रूपं प्रविष्टमिति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तरं अहं इत्यत्र उच्चारणार्थं अकारः क्षिप्यते । मोज्जुस्वारः व्यञ्जने 'अहं' इति तत्त्वं निष्पन्नम् ।
 तथा चाह शुभवन्दार्थः—

अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सविन्दुकम् । तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥'

ज्ञानार्णव पृ० २९१ के संकलित—सम्पादक

७. साक्षरं ध्यानमिव । ८. सहित । ९. चूलिकान्याख्यया ।

पञ्चमूर्तिमयं धीर्ध^१ नासिकाग्रे विचिन्तयन् । निधाय^२संगमे चेतो विष्यद्भानमवाप्नुयात् ॥२५२॥
यत्र यत्र^३ हृषीकेऽग्निमनि^४ दधीतामलं मनः । तत्र तत्र लभेतायं बाह्याबाह्याभयं पुनश्च ॥२५३॥
स्थूलं सूक्ष्मं द्विषा ध्यानं तत्त्वबीजसमाधयम् । आद्येन लभते कामं द्वितीयेन परं पदम् ॥२५४॥
^५पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्ततः । मधुञ्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥२५५॥

नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके और मन को भ्रुकुटियों के मध्य में स्थापित करके पंच-परमेष्ठोन्वाचक और बीजाक्षर वाले 'ओं' मन्त्र का ध्यान करनेवाला मानव दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २५२ ॥ जिस जिस इन्द्रिय (स्पर्शन-आदि) में यह अपना मन निश्चल करके आरोपित करता है, इसे उस उस इन्द्रिय में बाह्य पदार्थों के आश्रय से होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥ २५३ ॥

ध्यान के दो भेद हैं । स्थूलध्यान व सूक्ष्मध्यान । स्थूलध्यान तत्त्व के आश्रय से प्रकट होता है और सूक्ष्मध्यान बीजाक्षर मन्त्र के आश्रय से होता है । स्थूलध्यान से अभिलषित वस्तु को प्राप्ति होती है और सूक्ष्म ध्यान से उत्तमपद (मोक्ष) प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥

लौकिक ध्यान की विधि—ध्यानी लौकिक ध्यान की सिद्धि के लिए नाभि में स्थित कमल को संचालित करे । पश्चात् नाडी (कमल-नाल) को संचालित करे । पुनः कमल-नाल के संचालन द्वारा कुम्भक, पूरक व रेचक वायुओं को हृदय के प्रति प्राप्त करावे । पश्चात् नासिका के मध्य में सूक्ष्म रूप से स्थित हुए पृथिवी, जल, तेज व वायुमण्डल को आत्मा में प्रचारित—योजित करे ।

भावार्थ—पातञ्जल दर्शन में योग (ध्यान) के आठ अङ्ग कहे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पाँच यम हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं । पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार के आसन हैं । क्योंकि आसन की स्थिरता होने पर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है ।

श्वास (नासापुट द्वारा बाह्य वायु का भीतर प्रवेग, जिसे पूरक कहते हैं) और प्रश्वास- (नासा-पुट द्वारा कोष्ठस्थ वायु का बाहर निकालना, जिसे रेचक कहा है) काल में वायु की स्वाभाविक गति का निरोध (रोकना) प्राणायाम है, उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक व रेचक ।

नासापुट द्वारा बाह्य वायु को शरीर के मध्य प्रविष्ट करके शरीर में पूरने को पूरक कहा है । उस पूरक वायु को स्थिर करके नाभिकमल में घट की तरह भरकर रोके रखने को कुम्भक कहा है । पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे बाहिर निकालने को रेचक कहते हैं । प्राणायाम से स्थिर हुआ चित्त, इन्द्रियों के विषयों से संयुक्त नहीं होता और ऐसा होने से इन्द्रियाँ भी विषयों से संयुक्त नहीं होतीं । वे इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप को अनुकरण करनेवाली हो जाती हैं, इसी को प्रत्याहार कहते हैं । उक्त आठ योग (ध्यान) के साधनों में से यम,

१. धीर्धकारं । २. भूमध्ये । ३. स्पर्शनादी । ४. आरोपयेत् । ५. नाभी स्वभावेन स्थितं कमलं चालयेत्, पश्चात्त्रालाकारेण नाडीं—नालिकां (कमलनाल) संचालयेत्, नाड्या कृत्वा मस्तः हृदयं प्रति प्रापयेत्, पश्चात्संरुञ्चतुष्टयं—पृथ्वी अप्तेजोवायुमंडलानि नासिकामध्ये सूक्ष्माणि स्थितानि सन्ति तानि चेतसि आत्मविषये प्रचारयतु योजयतु ।

दीपहस्तो यथा क्षिप्रक्षिप्रालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तद् ज्ञानमुत्सृजेत् ॥२५६॥
 सर्वपापाज्वले क्षीण ध्याने भवति भावना । पापोपहतबुद्धीनां ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥२५७॥
 बधिभावगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् । तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुनः पापेन तिप्यते ॥२५८॥
 मन्वं मन्वं^१ क्षिपेद्वायुं मन्वं मन्वं विनिक्षिपेत् । न क्वचिद्वायते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥२५९॥
 *रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं धैर्यं विदूरतः । आसनमसिधं गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥२६०॥
 बन्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा बन्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥२६१॥

नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योग (ध्यान) के बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि ये चित्त को स्थिरता द्वारा परम्परा से ध्यान के उपकारक हैं। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन योग के अन्तरङ्ग कारण हैं, क्योंकि ये समाधि के स्वरूप को निष्पादन करते हैं। 'तत्त्रयमेकत्र संयमः (पात० योगसूत्र ३।४) अर्थात्—धारणा, ध्यान व समाधि इन तीनों को संयम यह पारिभाषिकी संज्ञा है।

इसप्रकार यह ध्यानरूपी वृक्ष चित्तरूपी क्षेत्र में यम व नियम से बीज प्राप्त करता हुआ आसन व प्राणायाम से अङ्कुरित होकर प्रत्याहार से कुमुदित होता है एवं धारणा, ध्यान व समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनों से फलशाली होता है। प्रकरण में लौकिक ध्यान का निरूपण करते हुए आचार्य श्री ने प्राणायाम द्वारा नाभिस्थ कमल-आदि को संचालित करने एवं पार्थिवी, आग्नेयी-आदि धारणाओं का भी निर्देश किया है, जिनका हम पूर्व में (श्लोक नं० ९२ के भावार्थ में) विस्तृत विवेचन कर चुके हैं* ॥ २५५ ॥

जैसे दीपक को हस्तगत करनेवाला कोई मानव उसके द्वारा कोई बाह्य वस्तु को देखकर उस दीपक को त्याग देता है वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ जानकर पश्चात् उस ज्ञान को त्याग देना चाहिए ॥२५६॥ समस्त पाप कर्मों का आस्रव क्षीण हो जानेपर ही मानव में ध्यान करने की भावना प्रकट होती है; क्योंकि पाप-संचय से नष्ट बुद्धिवाले मानवों के लिए तो ध्यान की चर्चा भी दुर्लभ है। अर्थात्—कषायों के उदय होनेपर ध्यान प्रकट नहीं होता ॥२५७॥ जो दूध दही हो चुका है, वह पुनः दूध नहीं होता वैसे ही जैसे तत्त्वज्ञान द्वारा विशुद्ध हुई आत्मावाला योगी भी पुनः पापों से लिप्त नहीं होता ॥२५८॥ प्राणायाम की विधि में ध्यानी को रेचकवायु (प्राणायाम द्वारा शरीर से बाहर की जानेवाली वायु) को धीरे-धीरे छोड़नी चाहिए एवं कुम्भकवायु (प्राणायाम से शरीर के मध्य में प्रविष्ट की जानेवाली घटाकर वायु) और पूरकवायु (प्राणायाम से पूर्ण शरीर में प्रविष्ट की जानेवाली वायु) को धीरे-धीरे शरीर में स्थापित करनी चाहिए—अर्थात् खींचनी चाहिए। क्योंकि ध्यानी द्वारा प्राणायाम में न तो हठपूर्वक कुम्भक व पूरक वायु इकट्ठी धारण की जाती है और न हठपूर्वक रेचक वायु शीघ्र छोड़ी जाती है ॥ २५९ ॥ योगियों का ज्ञान विचित्र होता है, क्योंकि वे लोग दूरवर्ती रूप, स्पर्श, रस, गन्ध व शब्दों को अपनी इन्द्रियों के समीपवर्ती-सरोखे प्रत्यक्ष जान लेते हैं ॥ २६० ॥ जिसप्रकार बीज के अत्यन्त जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार कर्मरूपी बीज के भी अत्यन्त जल जाने पर उससे संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता ॥ २६१ ॥

१. मुञ्चेत् । * तथा श्रोतम्—

संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादनघ्राणविलोकनानि । दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् यदन्तः स्वस्तिः क्रियासुः परमर्षयो नः^१ ॥१॥

संस्कृत देशशास्त्रगुरुपूजा ।

*. प्रस्तुत लेखमाला पातञ्जल योगदर्शन के आधार से शुष्मिक्त की गई है—सम्पादक

‘नाभौ चेतसि नासाग्रे दृष्टी भाले च मूर्धनि । विहारयोगमनोहंसं सदा कायसरोवरे ॥२६२॥
 ‘प्राणायामोऽस्मि जले तिष्ठेन्नियोदेवनसत्त्विति । मनोमयप्रयोगेण तत्त्वरपि न बाध्यते ॥२६३॥
 जीवः शिवः शिवो जीवः किं भेदोऽस्त्यत्र कश्चन । पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः शिवः पुनः ॥२६४॥
 साकारं भस्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते । पञ्चद्वयविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥२६५॥
 अत्यन्तं मलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मलः । वेहादेनं पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत् ॥२६६॥
 तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति । तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तथा ॥२६७॥
 बध्नः सविश्वात्मायमुपायेन शरीरतः । पृथक्क्रियेत तत्त्वज्ञश्चिरं संसर्गवानपि ॥२६८॥

ध्यानी को नाभि में, हृदय में, नासिका के अग्र भाग में, नेत्रों में, ललाट में, व शिर में और शरीररूपी सरोवर में अपने मनरूपी हंस का सदा विहार कराना चाहिए । अर्थात्—ये सब ध्यान लगाने के स्थान हैं इनमें से किसी भी एक स्थान पर मन को स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥ २६२ ॥ मन को स्थिरता से और प्राणायाम के अभ्यास से ध्यानी आकाश में विहार कर सकता है, जल में स्थिर रहता है और अग्नि की ज्वालाओं के मध्य स्थित हो सकता है, अधिक क्या शस्त्रों द्वारा भी वह घेड़ित नहीं किया जा सकता ॥ २६३ ॥ शङ्काकार—संसारी जीव शिव (मुक्त) है और शिव संसारी जीव है, इन दोनों में क्या कुछ भेद है ? क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा एक हैं ।

उत्तर—जो कर्म कर्मसमूहरूपी बन्धन से बंधा हुआ है, वह संसारी जीव है और जो उससे छूट चुका है, वह शिव (मुक्त) है । अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा में शुद्धता और अशुद्धता का ही भेद है, अन्य कुछ भी भेद नहीं है, शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहते हैं ॥ २६४ ॥

आत्मध्यान के विषय में प्रश्न व उत्तर

यदि समस्त वस्तु-समूह साकार है ? तो वह सब विनाश-शील है और यदि निराकार है ? तो वह दिखाने नहीं देती किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है तो योगी पुरुष उसका ध्यान कैसे करते हैं ? अभिप्राय यह है कि ध्यान करने योग्य दोनों वस्तुएँ (अर्हन्त व सिद्ध) पहले साकार शरीर-प्रमाण वा (पर्याय-सहित) होती हैं बाद में निराकार (पर्याय-रहित) होती हैं; क्योंकि जिनागम में ‘सायारमणायारा’ ऐसा कथन है । अर्थात्—अर्हन्त अवस्था में साकार (पर्याय-सहित) है और पश्चात्—सिद्ध अवस्था में निराकार—पर्याय-रहित है ॥ २६५ ॥ शरीर अत्यन्त मलिन है, क्योंकि सप्त घातुओं से निर्मित हुआ है और आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है; क्योंकि सप्तधातु-रहित है; अतः ध्यानी को इसे शरीर से पृथक् करके नित्यरूप से चिन्तन करना चाहिए ॥ २६६ ॥

शरीर और आत्मा की भिन्नता में उदाहरणमाला—जैसे तैल, जल के मध्य रहकर भी जल से पृथक् रहता है वैसे ही यह आत्मा भी शरीर में रहकर उससे पृथक् रहता है ॥ २६७ ॥ यह आत्मा, जो कि चिरकाल से शरीर के साथ संसर्ग (संयोग-सम्बन्ध) रखने वाली भी है, तत्त्वज्ञानियों द्वारा ध्यान-आदि

१. तथा चाह शुभचन्द्राचार्यः—

‘नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।

ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३॥

ज्ञानार्णव पृ० ३०६ ।

२. गच्छेन्मुक्तिः । ३. प्राणायाम । ४. प्रश्ने । ५. विनाशि । ६. तेन कारणेन उभयमपि ध्येयं, पूर्व साकारं पर्यायसहितं पश्चात्निराकारं, ‘सायारमणायारा’ इतिवचनात् ।

^१पुष्पामोदी तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले । तद्वत्ती देहवेहस्थो यद्वा ^२सपनविम्बवत् ॥२६९॥

एकस्तम्भं नवद्वारं ^३पञ्च ^४पञ्चजनाश्रितम् । ^५अनेककक्षमेवेवं शरीरं योगिना गृहम् ॥२७०॥

उपायों से वैसी शरीर से पृथक् की जाती है जैसे घृत, जो कि दही के साथ चिरकालीन संसर्ग रखनेवाला है, मन्थन-आदि उपाय द्वारा दही से पृथक् कर दिया जाता है ॥ २६८ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है, किन्तु उसकी गन्ध निराकार है या वृक्ष साकार है और उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है और दर्पण-गत सम्पूर्ण व असम्पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब निराकार है वैसे ही शरीर साकार है और उसमें स्थित हुई आत्मा निराकार है ॥ २६९ ॥

भावार्थ—यहाँपर किसी ने शङ्का (प्रश्न) उपस्थित की—‘जो वस्तु साकार (अवयव-विशिष्ट) है, वह विनाशशील होती है, जैसे घट व पट-आदि, और जो वस्तु निराकार (निरवयव—अवयव-रहित) है, वह दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे आकाश । परन्तु ध्यान करने योग्य आत्मद्रव्य जल साकार (सावयव) नहीं है, क्योंकि वह नित्य (सकलकाल-कलाव्यापी—शाश्वत रहनेवाला) व अनाद्यनन्त है । इसी तरह वह न निराकार है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होती है, तब योगी पुरुष उसका ध्यान कैसे कर सकते हैं ?’ इस शङ्का का समाधान करते हुए टिप्पणीकार ने कहा है—‘ध्यान करने योग्य दोनों पदार्थ (अर्हन्त व सिद्ध) पूर्व में (जीवन्मुक्त अवस्था—अर्हन्त-अवस्था में) साकार (पर्याय-सहित—शरीरपरिमाण) होते हैं और पश्चात् सिद्ध अवस्था में निराकार (पर्याय-रहित) होते हैं ।

ग्रन्थकार आचार्यश्री ने उक्त शङ्का के समाधान करने के लिए दृष्टान्तमाला उपस्थित की है । इसके पूर्व उन्होंने सप्तधातुमय शरीर को मलिनता और आत्मा की अत्यन्त विशुद्धता निर्देश करके आत्मद्रव्य को शरीर से पृथक् और नित्य (शाश्वत रहनेवाला अनाद्यनन्त) चिन्तन करने के लिए कहा, इसके बाद कहा है, कि संसार अवस्था में आत्मा, शरीर में रहकर भी उससे वैसा पृथक् (भिन्न) है जैसे जल में स्थित हुआ तैल, जल से पृथक् होता है । पुनः घृत का दृष्टान्त देकर समझाया कि जिसप्रकार दही के साथ चिरकालीन संसर्ग रखनेवाला घी, मन्थन क्रिया द्वारा दही से पृथक् (जुदा) कर लिया जाता है उसीप्रकार चिरकाल से शरीर के साथ संयोगसंबंध रखनेवाली आत्मा भी तत्त्ववेत्ताओं द्वारा ध्यान-आदि उपायों से शरीर से पृथक् की जाती है । इसके बाद शङ्काकार की शङ्का के समाधान करने के लिए आचार्यश्री ने शरीर को साकार और आत्मा को निराकार सिद्ध करने के लिए तीन मनोज्ञ दृष्टान्त दिये हैं—१. पुष्प और उसकी सुगन्धि, २. वृक्ष और उसकी छाया एवं ३. मुख और दर्पण-गत सम्पूर्ण व असम्पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब । अर्थात्—जैसे पुष्प, वृक्ष व मुख, साकार हैं वैसे ही शरीर भी साकार (अवयव-विशिष्ट) है और जैसे पुष्प की सुगन्धि, वृक्ष की छाया और दर्पण-गत मुख का प्रतिबिम्ब निराकार हैं वैसे ही आत्मा भी निराकार—निरवयव—है ।

निष्कर्ष—आत्मा में शरीर को तरह अवयव नहीं हैं और न वह कारणसामग्री से घट-पटादि की तरह उत्पन्न होता है, अतः निराकार है और इसीलिए वह नष्ट भी नहीं होता, और शरीर-परिमाण होने से सर्वथा निराकार न होने के कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर भी होता है ।

यह शरीर ही योगियों का गृह है, जो कि एक आयुरूपी क्षम्य पर ठहरा हुआ है, और जिसमें नौ

१. पुष्प साकारं, परिमलः निराकारः । २. आदर्श सकलनिष्कलमुखवत् । ३. ‘आयुषा घृतम्’ टि० ख० । ‘एकस्तम्भं आयुर्भूत’ इति पञ्चिकायां । ४. पञ्चेन्द्रियाणि । ५. ‘मनुष्य’ टि० ख०, ‘पञ्चजनाः मनुष्यास्तीराश्रितं’ पं० । ६. ‘नाभिकमलादि’ टि० ख०, अनेककक्षं हृन्नाभिग्रहान्ध्रादिभेदेन ।

ध्यानामृतान्नवृत्तस्य आन्तियोषिद्वरतस्य च । अग्नेव रमते चित्तं योगिनो योगबान्धवे ॥२७१॥
 रज्जुभिः कुण्ड्यमाणः स्वाध्याया^१ पारिप्लवो ह्ययः । कुण्डस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लोपेत न क्षणम् ॥२७२॥
^२रक्षां^३ संहरणं^४ सृष्टिं^५ गोमुद्रामृतवर्षणम् । विधाय चित्तयेदाप्तमाप्तरूपधरः स्वयम् ॥२७३॥
 *धूमवन्निर्वन्तेपापं^६ गुरुबीजेन तादृशाः । गृह्णीयादमृतं^७ तेन^८ तद्वर्णनं मुहुर्मुहुः ॥२७४॥
^९संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्ध्वोपरि युक्तितः । अवेष्य^{१०} समगुल्फाभ्यां पञ्चवीरसुखासनम् ॥२७५॥

द्वार (दोनों नेत्रों के दो छिद्र-आदि) हैं एवं जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी मनुष्य निवास करते हैं तथा जो हृदय, नाभि व ब्रह्म रन्ध्र-आदि रूपी अनेक कोठरियों वाला है ॥ २७० ॥ धर्मध्यानरूपी अमृतान्न से सन्तुष्ट हुए और क्षमारूपी स्त्री में अनुराग करनेवाले योगी का चित्त इसी ध्यानरूपी बन्धुजनों में ही क्रीड़ा करता है ॥ २७१ ॥ जैसे लगाम से खींचा जानेवाला घोड़ा चञ्चल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियों से प्रेरित आत्मा भी क्षण भर ध्यान में स्थिर नहीं होता; अतः ध्यानी को इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए ॥ २७२ ॥ स्वयं आत्मा (अर्हन्त) के स्वरूप का धारक 'मैं अर्हन्त भगवान् की तरह परमौदारिक शरीर में स्थित हूँ' ऐसी भावना करके धर्मध्यानी को रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा (आसन विशेष) और अमृत वृष्टि को करके आस के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए । अर्थात्—जिसप्रकार सकलीकरणविधान में पहले शरीर-रक्षा की जाती है और बाद में अग्नि तत्त्व द्वारा दहन-लक्षणवाला संहरण किया जाता है एवं पश्चात् चन्द्र (वरुणमण्डल) से अमृत-वृष्टि की सृष्टि की जाती है उसीप्रकार योगी को पिण्डस्थ नामक धर्मध्यान में पूर्व में शरीर-रक्षा करके और बाद में अग्नितत्त्व के चिन्तन द्वारा कर्म-दहन लक्षण वाला संहरण करके पश्चात् चन्द्र (वरुणमण्डल) से अमृतवृष्टि को सृष्टि करके सुरभिमुद्रा नामका आसन लगाकर आसस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँपर ग्रन्थकार ने पिण्डस्थ नामक धर्मध्यान में पारिप्लवो व आग्नेयी-आदि धारणाओं के चिन्तन के विषय में लिखा है, उन धारणाओं-का विस्तृत स्वरूप हम इसी '३९ वें कल्प के श्लोक नं० ९२ के भावार्थ में उल्लेख कर चुके हैं ॥ २७३ ॥ ध्यानी को उस प्रकार के पंचपरमेष्ठी-वाचक बीजाक्षर 'ह्रीं' से धूम की तरह पाप को नष्ट करना चाहिए । अर्थात्—आग्नेयी धारणा में 'ह्रीं' की रेफ से निकलती हुई धूम-शिखा के चिन्तन करने से धूम की तरह पाप का क्षय होता है तथा उस अमृतवर्ण पकार के ध्यान से बारम्बार अमृत (मोक्षपद) को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि श्रुत के अक्षर का ध्यान मोक्ष में कारण है ॥ २७४ ॥

ध्यान के आसनों का स्वरूप

जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों से नीचे दोनों पिण्डलियों पर रखकर यथाविधि बैठा जाता है, उसे

१. यो द्रुष्टाश्वः स्मात्सः प्रेरितस्तिष्ठति, खंचितश्चलति, तथेन्द्रियैः खंचितो न तिष्ठति किन्तु आत्मना ग्राह्यः इति भावः, पारिप्लवः चञ्चलः । २-४. सकलीकरणे तथा पूर्व शरीररक्षा क्रियते, पश्चादग्नितत्त्वेन दहनलक्षणं संहरणं, चन्द्रादमृतमण्डलादमृतवर्षणं सृष्टिः । ५. सुरभिमुद्रा । * 'धूमवन्निर्वन्ते' ग० । ६. 'ऊँकारेण कारणेन' । टि० पृ० ७, 'गुरुबीजेन ह्रींकारेण' इति पं० । ७-८. अमृतवर्णनं पकारेण । ९-१०. सक्थ्योरधः पादौ तदा पश्चासनं, सक्थ्योपरि तदा वीरासनं, घूँटी उपरि घूँटी तदा सुखासनं ।

तथा श्रोक्तममितगत्याचार्येण—

जङ्घाया जङ्घया श्लेयो समभागे प्रकोतिसम् । पद्मासनं सुखाधायि सुखाध्यं सकलैर्जनैः ॥ १ ॥

कुर्धैर्यथोभागे जङ्घयोरुभयोरपि । समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥ २ ॥

ऊर्ध्वोपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं वीरैर्न कातरैः ॥ ३ ॥

तत्र सुखासनस्येवं लक्षणम्—

गुल्फोत्तान^१ कशङ्कुष्ठरेखारोमालिनामिकाः । समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥२७६॥

^२तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः स्थिरशीर्षशिरोऽधरः^३ । समनिष्पन्वपाण्यग्रजानुधूहस्तलोचनः ॥२७७॥

न स्वात्कृतिर्न^४ कण्डूतिर्नोष्ठभक्तिर्न^५ कम्पतिः^६ । न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरभ्योलितिः स्मितिः ॥२७८॥

न कुर्याद्दूरवृक्षपातं न च^७ केकरवोक्षणम् । न स्पन्वं पद्ममालातां तिष्ठेन्नासःप्रवृत्तानः ॥२७९॥

^८विक्षेपाभेपसंमोहपुरीहरहिते हृदि । लब्धतत्त्वे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधिः ॥२८०॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः कल्पः ।

यस्याः ^९पवद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसरः प्रविहारहारि ।

तां वाग्विलासवसति सलिलेन देवीं सेवे^{१०} कविचुतशमण्डनकल्पवल्लीम् ॥२८१॥ (इति तोयं)

धामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि^{११} भोवोऽवकेशितरुच्यन्^{१२} कलाधिसेव्यः ।

सोऽयमरूपवेद्यपि^{१३} ययानुगतस्त्रिलोक्या सेव्यः^{१४} सुरभुरिव तां प्रयजेय गन्धः ॥२८२॥ (इति गन्धम् ।)

पद्मासन कहते हैं । जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों के ऊपर के हिस्से पर रखकर बेटा जाता है, उसे बीरासन कहते हैं और जिसमें पैरों की गाँठें बराबर में रहती हैं, उसे सुखासन कहते हैं ॥ २७५ ॥

गृहस्थों के ध्यानोपयोगी सुखासन का स्वरूप बताते हैं—पैरों की गाँठों पर बायों हथेली के ऊपर दाहनी हथेली को सीधा रखे । अंगुठों की रेखा, नाभि से निकल कर ऊपर को जानेवाली रोमावली और नासिका एक सीध में हों । दृष्टि सम हो । शरीर न एकदम तना हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो । खड़ासन अवस्था में दोनों चरणों के बीच में चार अंगुल का अन्तर होना चाहिए । मस्तक और ग्रीवा स्थिर हों । एड़ी, घुटने, भ्रुकुटि, हाथ और नेत्र समानरूप से निश्चल हों । न खसि, न खुजाए । न ओष्ठ संचालित करे, न कपि, न हस्त के पर्वों पर गिने, न बोले, न हिले-डुले, न मुस्कराए, न दृष्टि को दूर तक ले जाये और न कटाक्षों से देखे । नेत्रों की पलक-श्रेणी चंचल न करे । एवं नासिका के अग्रभाग में अपनी दृष्टि स्थिर रखे ।

जब योगी का मन ऐसा होता है, जो अस्थिरचित्तपना, आक्षेप (तप, स्वाध्याय व ध्यान में चित्त को कुछ विचलित करना), संमोह (अज्ञान—अतत्त्व में तत्त्व का आग्रह या परमत-आन्ति) व दुरोहित दुरभिलाषा) से रहित होता है तब उसके विशुद्ध मन में यह समस्त ध्यान-विधि हस्त-गत—सुलभ होती है ॥ २७६-२८० ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में ध्यानविधि नामक उन्तालीसवां कल्प समाप्त हुआ ।

जिसके स्यादस्ति व स्यान्नास्ति-आदि अनेकान्त-वाचक शब्द व धातुरूप दोनों पद (चरण) शब्दालंकार व अर्थालङ्कार के योग्य हैं और जो तीनों लोकरूपी कमल-सरोवर में क्रीड़ा करने से मनोज्ञ है एवं जो कविरूपी कल्पवृक्षों को विभूषित करने के लिए कल्पलता-गरीखी है ऐसी स्याद्वादवाणी की लीलावाली सरस्वती देवी को मैं जल से पूजता हूँ* ॥ २८१ ॥ मैं ऐसी स्याद्वादवाणी को गन्ध से पूजता हूँ; जिसके बिना समस्त पदार्थों को प्रतिपादन करनेवाला भी ज्ञान उसप्रकार फलार्थी (स्वर्ग व मोक्षफल के इच्छुक) पुरुषों द्वारा

१. चतुःकर पार्श्वनाथवत् । २. विद्यस्तेस्तृतीयभागरचतुरङ्गलः । ३. ग्रीवा । ४. लज्जनम् । ५. पृथक्करणं । ६. कम्पानम् । ७. कटाक्ष । ८. आ—ईषत् । ९. शब्दालंकारः अर्थालङ्कारश्च । १०. कविरेव कल्पतरुस्तस्यालंकरणे । ११. परिज्ञानं । १२. 'वध्यवृत्तवत्' टि० ख०, 'अत्रकेही बन्ध्यः' इति पं० । १३. नरः । १४. वाण्या । १५. 'सुरदुः सुरदुमः' यश० पं० । * रूपकालंकारः ।

यत्^१स्वल्पवस्तुरचनापि ^२मितप्रवृत्तिः ^३संस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मीः^४ ।

स्वयंस्लरोवनलतेषु सुधानुबन्धात्तामदमृतस्थितिमहं स्वर्कः धूयामि ॥२८३॥ (इत्युक्तम्)

^५यद्बीजमल्पमपि * सज्जनयोधरायां लक्ष्यप्रवृत्तिविविधानवधिप्रबन्धः ।

^६सत्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधि^७ प्रसवर्भजे ताम् ॥२८४॥ (इति पुष्पम्)

या^८ स्पष्टसाधिकविधिः ^९परतन्त्रनीतिः प्रायः ^{१०}कलापरिगतापि मनः प्रसूते ।

स्पष्टं स्वतन्त्रमुपशान्तकलं नृणां च चित्रा हि वस्तुगतिरन्तविधेयंजेत ॥२८५॥ (इति चक्षुः)

^{११}एकं पदं ^{१२}बहुपदापि वदसि तुष्टा ^{१३}वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम् ।

सेवे *तथापि भवतोमयया जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तद्वस्तु तर्षव दोषः ॥२८६॥ (इति बाणम्)

सेवनीय नहीं होता जिसप्रकार न फलनेवाला वृक्ष फलार्थी पुरुषों द्वारा सेवनीय नहीं होता और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्षा की तरह तीनों लोकों से पूजनीय होता है^{११} ॥२८२॥ मैं उस आश्चर्यजनक स्थितिवाली ऐसी सरस्वती देवी को अक्षतों से पूजता हूँ, जिसके अभ्यास से अल्प अर्थवाली व अल्प शब्दवाली रचना भी उस प्रकार अपरिमित अर्थवाली व अपरिमित शब्दवाली होकर सुशोभित होती है जिसप्रकार अमृत के सिञ्चन से वनलता भी कल्पलता होकर सुशोभित होती है^{१२} ॥२८३॥ जिसकी विधि आश्चर्य का विषय है, उस जिनवाणी को मैं पुष्पों से पूजता हूँ, जिसका छोटा-सा भी बीज सज्जनों की बुद्धिरूपी भूमि में बुद्धिगत, नानाप्रकार के व असीम प्रबन्धों (गद्य व पद्यरूप काव्य-रचनाओं) द्वारा अपूर्वरस (शृङ्गार-आदि व पद्मान्तर में मिष्टरस) वाले फलों के साथ ऊँगता है^{१३} ॥२८४॥ ऐसी वाणी को नानाप्रकार के नैवेद्यों से पूजना चाहिए, जो शब्दरूप होने के कारण नेत्रों से अगम्य है, अतएव अति अस्पष्ट है तथापि वह मानवों की आत्मा को स्पष्ट प्रकट करती है, जो कण्ठ व तालु-आदि आठ स्थानों से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है तो भी वह आत्मा को स्वाधीन करती है, जो मूर्ति-सहित है तो भी वह मानवों की आत्मा को शरीर-रहित कर देती है, सच है कि तत्त्वज्ञान बड़ा विचित्र है । आशय यह है, कि जिनवाणी श्रुत-ज्ञानरूप होने पर भी केवलज्ञान को प्रकट करती है, जिससे वह केवलज्ञान मानवों की आत्मा को स्पष्ट जानता है और स्वाधीन बनाता है व शरीर-रहित कर देता है; अतः तत्त्वज्ञान विचित्र है ॥२८५॥

हे देवी ! तुम बहुत पदोंवाली होकर के भी सन्तुष्ट होने पर आराधक जन के लिए एक पद प्रदान करती हो, यही विरोध प्रतीत होता है, उसका परिहार यह है कि द्वादशाङ्ग के पदों की संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अठ्ठावन हजार पाँच है, अतः जिनवाणी बहुपदा (बहुत पदोंवाली व पद्मान्तर में अमृत स्वरूप) है और उसके द्वारा एक पद (मोक्ष) प्राप्त होता है । और वर्णात्मक होकर के भी आराधक जन को ब्राह्मणादि वर्णों का धारक नहीं करती; यहाँ पर भी विरोध मालूम पड़ता है, उसका परिहार यह है कि जिनवाणी वर्णात्मक (अक्षरात्मक) है, परन्तु सन्तुष्ट हुई आराधक जन को ब्राह्मणादि वर्णों से मुक्त करती है, तथापि

१. 'अल्पशब्दसहितापि' टि० ख०, 'स्तांकार्यापि' टि० च० घ० । २. 'अल्पार्थापि' टि० ख०, 'स्वल्पशब्दापि' टि० च० । ३. भगवत्याः अभ्यासवशात् । ४. अमितायहा । ५. यस्याः बीजं । * अल्पार्थापि । ६. फलैः कृत्या । ७. आश्चर्येण गोचरो गम्यश्चासी विधिर्यस्याः सा ताम् । ८. शब्दरूपत्वान्तेनाणामगम्या तथापि मनः आत्मानं स्पष्टं स्वाधीनं प्रसूते प्रकटो करोति । ९. अष्टस्थानापेक्षया तथापि मनः स्वाधीनं सूते । १०. मूर्तिसहितापि मनः आत्मानं उपशान्तकलं शरीररहितं सूते । ११. अद्वितीयं मोक्षं । १२. कौटिल्यतमित्यादि पक्षे अमृतस्वरूपा । १३. अक्षरस्वरूपा पक्षे विप्रादि । * यद्यप्येकपदत्वात् कृपापि । १४. उपमालंकारः । १५. उपमालंकारः । १६. विलोपोपमालंकारः ।

“चक्षुः परं^१ करणकन्दरदूरितेऽर्थं मोहान्धकारविधुतो^२ परमः प्रकाशः ।

तस्यामगामिपथवीक्षणरश्नदीपस्त्वं सेवसे तविह देवि जनेन धूपः ॥२८७॥ (इति धूपम्)

चिन्तामणित्रिविधधेनुसुरद्वमाद्याः पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।

भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तद्विदमस्तु मुदे फलं ते ॥२८८॥ (इति फलम्)

“कलशोत्कमलमौक्तिककुलमणिजालचामरप्रायः । आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलसर्वाङ्गः ॥२८९॥

स्याद्वावभूषरभसा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणः समुपासनीया ।

स्थान्ताश्रितास्त्रिलोकलङ्कृतप्रवाहा वागपगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥२९०॥

“मूर्धाभिषिक्तोऽभिषेकाग्निनामचर्योऽर्चनात्संस्तवनात्सबाहुः ।

“ऊपी जपाद्विज्ञानविधेरवाध्यः^३ श्रुताश्रितधीः श्रुतसेवनाच्च ॥२९१॥

दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां भाधेरनन्याधर्यः । स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्समविविभंते विरक्तोऽपि न ॥

मन्वेतः पुनरेतदीना भवति प्रेमप्रकुण्ठं ततः । किं भाषे परमत्र यामि मधतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥२९२॥

मैं आपकी पूजा करता हूँ, क्योंकि प्रयोजनार्थी प्रयोग करनेवाले का प्रोष नहीं देखा; अतः मैं तुम्हें दीप अर्पित करता हूँ^१ ॥२८६॥ हे देवि ! तुम इन्द्रियरूपी गुफाओं से दूरवर्ती पदार्थों को देखने के लिए उत्कृष्ट नेत्र हो, अर्थात्—आपके प्रसाद से इन्द्रियों के अगोचर पदार्थ जाने जा सकते हैं; और प्राणियों के अज्ञानरूपी अन्धकार के स्फोटन—विध्वंस करने के लिए तुम उत्कृष्ट प्रकाश हो तथा मोक्षस्थान में जानेवाले मार्ग के दर्शन में रत्नमयी दीपक हो; इसलिए लोग धूप से तुम्हारी पूजा करते हैं^२ ॥२८७॥ हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करने से चिन्तामणि, कामधेनु व कल्पवृक्ष-आदि पदार्थ, जिनका प्रभाव प्राणियों की इच्छा-पूर्ति के विषय में प्रसिद्ध है, नियम से प्राप्त होते हैं; इसलिए यह फल तेरी प्रसन्नता के लिए हो ॥२८८॥ मैं सुवर्ण-कमल, मोती-समूह, रेशमीवस्त्र, मणि-समूह और चमरों की बहुलतावाली समस्त माङ्गलिक वस्तुओं से सरस्वती देवी की आराधना (पूजा) करता हूँ ॥२८९॥

ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथों का प्रवेश करानेवाली हो, जो कि स्याद्वादरूपी पर्वत से उत्पन्न हुई है, जो मुनियों द्वारा सम्माननीय है, जो अन्य की शरण में न जानेवाले देवों द्वारा सम्यक् रूप से उपासनीय है, एवं जिसका प्रवाह प्राणियों के मन में स्थित हुए समस्त कर्मरूपी कलङ्क को नष्ट करनेवाला है^३ ॥२९०॥ जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करने से भक्त पुरुष मस्तक पर अभिषेक किया हुआ (राजा) होता है, पूजा करने से पूजनीय होता है, स्तुति करने से स्तुति के योग्य होता है एवं जप करने से जप-योग्य होता है एवं ध्यान-विधि से बाधाओं से रहित होता है तथा श्रुत की आराधना से बहुश्रुत विद्वत्तारूपी लक्ष्मीवाला होता है ॥२९१॥ हे जिनेन्द्र ! मैंने तुम्हारा दर्शन किया और जिसका अन्य आश्रय नहीं है, ऐसे भावों (आठ द्रव्यों) से तुम्हारी विशेष पूजा को । तो भी राग, द्वेष से रहित होने के कारण तुम मुझ से स्नेह-रहित हो; क्योंकि तुम भक्त व विरक्त पुरुष में समता-युक्त (मध्यस्थ—राग-द्वेष-रहित) हो, अर्थात्—तुम भक्त से राग और विरक्त से द्वेष नहीं करते । फिर भी मेरा यह चित्त आपके प्रति प्रेम से भरा है । अधिक क्या कहूँ अब मैं जाता हूँ । मुझे आपका पुनः दर्शन प्राप्त हो ॥२९२॥

१-२. करणान्येव कन्दराणि गुफास्तेषां कन्दराणां दूरे पदार्थं त्वं सरस्वती चक्षुः । ३. स्फोटने । ४. सुवर्ण । ५. राजा भवति । ६. जप्यः । ७. बाधारहितो भवति । ८. पदार्थः अष्टप्रकारपूजनीयः । ९. समतायुक्तः मध्यस्थः । १०. विरोधाभासालंकारः । ११. रूपकालंकारः । १२. रूपकालंकारः ।

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशसमः कल्पः ।

पर्वणि *प्रोषधाय्याहुमसि चत्वारि तानि च । पूजाक्रियापताधिषणाद्धर्मकर्मात्रं कृते ॥२९३॥
रसत्यागं कर्मसंस्कृत्यानौपवसनक्रियाः । यथाशक्तिविधेयाः स्युः 'पर्वसन्धि' च पर्वणि ॥२९४॥
तन्मन्त्रान्त्यं सान्तर्यं तिथितीर्थैर्धर्मपूर्वकः^१ । उपवासविधिविधत्र^२ श्वित्यः श्रुतसमाश्रयः ॥२९५॥
'स्नानगन्धार्जुनसंस्कारधूपागोषाऽविषकृषीः । निरस्तसर्वसावकक्रियः संयमतत्परः ॥२९६॥
देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गृह्णेऽपि वा । उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥२९७॥
पुंसः कुतोऽप्युपासस्य बह्मरम्भरतात्मनः । कायध्वलेनः प्रजायेत गजस्नानसमक्रियः ॥२९८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में श्रुताराधनविधि नामक चालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

प्रोषधोपवास का स्वरूप

प्रत्येक मास में वर्तमान दो अष्टमी व दो चतुर्दशी इन चार पर्वों को 'प्रोषध' कहते हैं, इन पर्वोंमें व्रती श्रावक को विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतों का पालन करके धर्म-कर्म की वृद्धि करनी चाहिए ॥२९३॥ पर्वसन्धि (अष्टमी) व पर्व के दिनों में रसों का त्याग, एकाशन, एकान्त स्थान में निवास व उपवास-आदि क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥२९४॥ लगातार या बीच में अन्तराल देकर के तिथि, तीर्थंशुओं के कल्याणक तथा नक्षत्र को आधार बनाकर आगमानुसार अनेक प्रकार की उपवास-विधि विचार लेनी चाहिए । अर्थात्—कोई तो रसत्याग-आदि सदा करते हैं, कोई अमुक तिथि में करते हैं, कोई तीर्थंशुओं के कल्याणकों के दिन करते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकार की उपवासविधि आगम में निर्दिष्ट है, उसे विचार लेनी चाहिए ॥२९५॥

उपवास करनेवाले गृहस्थ को स्नान, इत्र-फुलेल, शरीर-संस्कार, आमूषण और स्त्री में वनासक्त वृद्धि रखकर अर्थात् इन्हें त्यागकर, और समस्त पाप क्रियाओं का त्याग करने वाला होकर चरित्र-पालन में तत्पर होना चाहिए और जिनमन्दिर में या पर्वत पर, गृह में या वन में जाकर सदा धर्मध्यान में तत्पर होना चाहिए ॥२९६-२९७॥

जो मानव उपवास करके भी अनेक प्रकार के आरम्भों में अनुरक्त चित्तवाला है, उसका उपवास केवल काय-क्लेश ही है और उसकी क्रिया हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है । अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके पुनः अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है, वैसे उसका स्नान व्यर्थ है उसी प्रकार उपवास करके गृहस्थ संबंधी प्रपञ्चों में फँस हुए का उपवास निरर्थक है, क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता ॥२९८॥

* तथा चोक्तं समन्तमद्राचार्यैः—'चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद् भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भ-माचरति ॥१०९॥ रत्न धा० । तथा च पूज्यपादः—'प्रोषधशब्दः पर्वपययिवाची प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः' ।—सर्वार्थसिद्धि । १. अष्टम्यां । २. नक्षत्र । ३. तानाप्रकारा । ४. तथा चाह समन्तमद्राचार्यैः—
'पश्चानां पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणां । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे नरिहतिं कुर्यात् ॥१०७॥
धर्ममृतं सत्पुण्यं श्रवणाम्नां पिबन् पायवेढाऽभ्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भक्त्युपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥'—रत्नकरण्ड धा० ।

*अनवेसाप्रतिलेखनबुष्कभारम्भबुर्मेनस्काराः । १आवश्यकविरतिमुताप्य २तुर्थमेते चिन्तितम् ॥२९९॥

विशुद्धयेतान्तरात्मायं कायक्लेशत्रिविधं विना । किमनेरव्यवस्तीह काञ्चनामविशुद्धये ॥३००॥

हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखदुःखवानलः । पवित्रं यस्य चारित्र्यदिवसं सुकृतिजन्मनः ॥३०१॥

एतदुपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिनमिकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

यः 'सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः । भूषाविपरिभोगः स्यात्पोनः पुन्येन सेवनात्' ॥३०२॥

परिमाणं तयोः कुर्यान्न तन्माप्तिनिवृत्तये : प्राप्तः होये च तर्पणोत्तमचक्षुः नियमं भजेत् ॥३०३॥

'यमश्च नियमश्चेति द्वौ व्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ । यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सार्वधिनियमः स्मृतः ॥३०४॥

विना देखी व विना शोधी भूमि पर मल-मूत्रादि का क्षेपण करना, मृदु उपकरण (मयूर-पिच्छ) से विना शुद्ध किये हुए पूजा के उपकरण व शास्त्र-आदि का ग्रहण करना, पाप कार्य का आरम्भ करना, अशुभ मन से विचार करना और सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण-आदि छह आवश्यक क्रियाओं को न करना ये कार्य प्रोषधोपवासव्रत के घातक हैं; अतः प्रोषधोपवास के दिन इन अतीचारों का त्याग करना चाहिए ॥२९९॥ उपवास-आदि द्वारा कायक्लेश किये विना आत्म-युद्धि नहीं होती । क्या इस लोक में सुवर्ण-प्रापण को शुद्धि के लिए अग्नि को छोड़कर दूसरा कोई साधन है ? अर्थात्—जैसे अग्नि में तपाने से ही सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही वारीर को कष्ट देने से आत्मा विशुद्ध होती है ॥३००॥ पुण्य से जन्मवाले जिसका चित्त चारित्र्य से पवित्र है, उसे ऐसा चिन्तामणि रत्न हस्तगत (प्राप्त) होता है, जो कि दुःखरूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि-सरीखा है ॥३०१॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में प्रोषधोपवासविधि नामक इकतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

भोगपरिभोग परिमाणव्रत

जो पदार्थ एकवार ही भोगा जाता है उसे 'भोग' कहते हैं जैसे भोजन-वगैरह और जो बार-बार भोगा जाता है, उसे 'परिभोग या उपभोग' कहते हैं । जैसे आभूषण वगैरह ॥ ३०२ ॥ धार्मिक पुरुष को अपने चित्त की अधिकाधिक संग्रह करने की तृष्णा की निवृत्ति के लिए भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण कर लेना चाहिए और जो कुछ प्राप्त है और जो सेवन-योग्य है, उन समस्त वस्तुओं का भी अपनी इच्छानुसार नियम कर लेना चाहिए, कि आज मैं इतनी भोगोपयोग वस्तुएँ भोगूँगा ॥ ३०३ ॥ त्याज्य पदार्थों के त्याग के विषय

*. तथा चाह उमास्वामी-आचार्यः—'अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥'—
मौक्तशास्त्र ७-३४ ।

तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—'ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे । यत्प्रोषधोपवासव्यतिकङ्कधनपञ्चकं तदिदम् ॥११०॥' रत्न० आ० । १. षडावश्यकग्रहिताः । २. उपवासं । ३. सुकृत्या पुण्येन जन्म यस्य । ४. एकवारं ।

*. तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—'भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपञ्चैन्द्रियो विषयः ॥ ८३ ॥' रत्न० आ० ।

तथा चाह पूज्यपादः—'उपभोगोऽशनपानगन्धमात्यादिः, परिभोगः आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् ।'—सर्वार्थसि० ७-२१ ।

५. तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—'नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।

नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो धियते ॥ ८७ ॥'—रत्नकरण्ड आ० ।

^१पलाण्डुकेतकीनिःसुप्तनःसूरणाविकम् । त्यजेवाजन्म तद्रूपधुप्राणिसमाश्रयम् ॥३०५॥

^२द्रुपकवस्य निषिद्धस्य जन्तुसंबन्धमिधयोः । अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याज्ञातिकारणम् ॥३०६॥

इत्थं नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽध्याभयः श्रियाः । नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसंविधानमः ॥३०७॥

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचरवारिज्ञासमः कल्पः ।

*यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् । यथापात्रं यथाकालं दानं देवं गृह्णाश्रमः ॥३०८॥

आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये । स्वपरानुग्रहायेत्यं यस्यास्तद्दानमिष्यते ॥३०९॥

में यम और नियम दो विधि कही गई हैं । अर्थात्—भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण दो प्रकार से किया जाता है । एक यमरूप से और दूसरे नियमरूप से । जीवनपर्यन्त त्याग करने को यम समझना चाहिए और कुछ समय के लिए त्याग करने को नियम समझना चाहिए । अर्थात्—परिमितकाल पर्यन्त त्याग को नियम जानना चाहिए ॥ ३०४ ॥

व्रती को प्याज-आदि जमीकन्द, केतकी के पुष्प व नीम के पुष्प तथा मूरण-वगैरह जमीकन्द जन्म पर्यन्त के लिए छोड़ देने चाहिए; क्योंकि ये पदार्थ उसी प्रकार के बहुत से जीवों के निवासवाले हैं ॥ ३०५ ॥ ऐसे भोजन का भक्षण भोगपरिभोगपरिमाणव्रत की क्षति का कारण है, जो कच्चा या जला हुआ है, जो व्रती-द्वारा त्याग किया हुआ है, जो जन्तुओं से छू गया है, या जिसमें जन्तु गिरकर मर गए हों और जो दृष्टि-गोचर नहीं हुआ ॥ ३०६ ॥ उक्त प्रकार से भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण करनेवाला श्रावक मनुष्य इच्छुक न होता हुआ भी मनुष्यों की लक्ष्मी (चक्रवर्ती-विभूति) व देवों की लक्ष्मी (इन्द्र-विभूति) का आश्रय होकर मुक्तिश्री को निकट में प्राप्त करनेवाला हो जाता है ॥ ३०७ ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में भोगोपभोगपरिमाण नामक ब्यालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

दान का स्वरूप

गृहस्थाश्रमी को विधि (पड़गाहना-आदि), देश, द्रव्य, आगम, पात्र एवं काल के अनुसार दान देना चाहिए ॥ ३०८ ॥ जो अपने कल्याण के लिए है और भुनि-आदि सत्पात्रों की रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य) की वृद्धि के लिए होता है, इसप्रकार जो दाता और पात्र के उपकार के लिये

१. तथा चाह पूज्यपादः—‘मधु मांसं मद्यञ्च सदा परिहर्तव्यं वसधाताश्रितवृत्तशेतसा । केतक्यर्जुनपृष्पादीनि मृद्वग-वेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुधाताल्पफलत्वान् । यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टाश्रितवर्तनं कर्त्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति ।’—सर्वार्थे ७-२१ ।
२. तथा चाह सूत्रकारः—‘सन्नित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिष्वन्नदुःपक्वाहाराः’ ।—मोक्षशास्त्र ७-३५ ।
- *. तथा चोक्तं—‘यथाद्रव्यं यथादेशं यथापात्रं यथापयम् । यथाविधानसम्पत्त्या दाने देयं तदर्थिनाम् ॥१३॥ प्रबोधसारपु. १८७ ।
३. महाभुनीनां । ४. तथा चाह सूत्रकारः—‘अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं ।’—मोक्षशास्त्र ७-३८ । ‘स्वपरोपका-रोऽनुग्रहः । स्वोपकारः पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः ।’—सर्वार्थसिद्धि भाष्यकारः पूज्यपादः पु० २१९ ।
- तथा चोक्तं श्रीमद् विद्यानन्दिस्वामिना—
‘अनुग्रहार्थमित्येतद्विशेषणमुदीरितं । तेन स्वमांसदानादि निषिद्धं परमापकृत् ॥२॥’
‘तेन च विशेषणेन स्वमांसाविदानं स्वापायकारणं परम्यावयनिवन्धनं च प्रतिक्षिप्तमालभ्यते, तस्य स्वपरयोः परमाप-कारहेतुत्वात् ।’—वत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पु० ४७२ ।

^१दातृपात्रविधिविषयविशेषास्तद्विशिष्यते । यथा ^२धनाधनोद्गोर्णं तोयं भूमिसमाश्रयम् ॥३१०॥

दातानुरागसंपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम् । सत्कारः स्याद्विधिविषयं^३ तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥३११॥

परलोकधिया कश्चित्कश्चिद्वैदिकचेतसा । औचित्यमनसा कश्चित्सतां विशिष्यवस्त्रिधा ॥३१२॥

परलोकीहिकोऽवित्येवस्ति येषां न धीः समा । धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत्त्रयं कुतः ॥३१३॥

^४अभयाहारभेषज्यभुतभेदास्तुविधम् । दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥३१४॥

दिया जाता है, उसे ही दान कहा जाता है ॥ ३०९ ॥ जैसे मेघों से बरसा हुआ जल भूमि का आश्रय प्राप्त करके विशिष्ट फलदायक होता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से दान में भी विशेषता होती है, अर्थात्—ऐसा दान विशेष फलदायक होता है ॥ ३१० ॥

दाता-आदि का स्वरूप

जो पात्र के गुणों (सम्यग्दर्शन-आदि) में अनुरक्त होकर देवे, वह दाता है । जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय से विभूषित है वह पात्र है । नवधा भक्ति को विधि कहते हैं और मुनियों के तप व स्वाध्याय में सहायक अन्न व शास्त्र-आदि को द्रव्य कहते हैं ॥ ३११ ॥ सज्जन दाताओं का धन-वितरण तीन प्रकार से होता है । कोई सज्जन परलोक की बुद्धि के उद्देश्य से कि परलोक में हमें स्वर्गश्री की प्राप्ति होगी, धन-वितरण करते हैं । कोई सज्जन ऐहिक सुख की वाञ्छा से कि इस लोक में मेरी कीर्ति हो और जनता से सन्मान प्राप्त होगा, धन वितरण करते हैं एवं कोई सज्जन औचित्य (दान व प्रिय वचनों द्वारा दूसरों के लिए सन्तोष उत्पादन करना) से युक्त अभिप्राय से दान करते हैं ॥ ३१२ ॥ जिनकी बुद्धि न परलोक सुधारने की है और न ऐहिक कार्य की ओर है और न औचित्य की ओर है अर्थात्—जो उक्त उद्देश्यों से दान द्वारा पात्रों को सन्मानित नहीं करते, उनके लिए धर्म, लौकिक कार्य व कीर्ति ये तीनों कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

भावार्थ—परलोक की बुद्धि के उद्देश्य से और औचित्य मनोवृत्ति से दान करने से क्रमशः धर्म व कीर्ति प्राप्त होती है । जैसे मुनियों को दान देना-आदि, बाढ़-पीड़ितों या दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करना, शिखालयों व औषधालयों के संचालनार्थ दान देना-आदि । इस लोक की बुद्धि से किया हुआ धन-वितरण लौकिक कार्यों में उपयोगी है । जो लोग उक्त तीनों आधारों में धन खर्च नहीं करते, वे लौकिक कार्यों में भी खाली हाथ रहते हैं और पारलौकिक सुख से भी वञ्चित रहते हैं और न उन्हें यश भी मिलता है ॥ ३१३ ॥

दान के भेद

विद्वानों ने चार प्रकार का दान कहा है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान । ये चारों दान दाता की शक्ति व श्रद्धा का आश्रय करते हैं । अर्थात्—यदि दाता के पास धन नहीं है, तो वह देने का इच्छुक होकर के भी नहीं दे सकता और उसके पास धन होने पर भी श्रद्धा के बिना उसमें दान करने

१. तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्यः—‘विधिविषयदातृपात्रविशेषास्तद्विशेषः’—मोक्ष० ७-३९ । २. धनाधनो मेघः ।

३. ओदनावि ।

४. तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—‘आहारोपधयोत्पुपकरणावासयोश्च दानेन ।

वैराग्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्ताः ॥११७॥’—रत्न० आ० ।

तथा चाह पूज्यपादः—‘त्यागो दानं । तत्त्रिविधं आहारदानअभयदान ज्ञानदानं चेति’ ।—सर्वार्थ० ६-२४ ।

- १ सौख्यमभयाद्वाहुराहाराद्भोगवान्भवेत् । आरोग्यमौषधाश्चैवं श्रुतास्त्वाष्ट्रुतकेवली ॥ ३१५ ॥
 * अभयं सर्वसत्त्वानामासीदद्यात्सुधीः सदा । तद्धीने हि ब्रूया सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥ ३१६ ॥
 दानमन्यद्वेन्या वा नरश्चेदमयप्रदः । सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥ ३१७ ॥
 तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् । तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥ ३१८ ॥
 २ नवोपचारसंपन्नः समेतः सप्तसिर्गुणः । अन्नेद्यत्तुविधा^३ शुद्धः^४ साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥ ३१९ ॥

की इच्छा नहीं होती; अतः जो बनावट व श्रद्धालु होते हैं, वे ही उक्त चारों प्रकार का दान पात्रों के लिए दे सकते हैं ॥ ३१४ ॥

चारों दानों का मूल

आचार्यों ने कहा है कि अभयदान (प्राणि-रक्षा) से दाता को सुन्दर रूप मिलता है, आहार-दान से भोगसामग्री प्राप्त करनेवाला होता है एवं औषधिदान से निरोगता प्राप्त होती है तथा शास्त्रदान से श्रुत केवली होता है ॥ ३१५ ॥

अभयदान की श्रेष्ठता

विवेकी मानव को सबसे प्रथम समस्त प्राणियों के लिए सदा अभयदान देना चाहिए । क्योंकि अभयदान न देनेवाले (निर्दयी) मानव को निस्सन्देह सभी पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥ ३१६ ॥ क्योंकि अभयदान (प्राणि-रक्षा) समस्त दानों में श्रेष्ठ है; अतः यदि अभयदान देनेवाला मानव दूसरे दान करनेवाला हो अथवा न भी हो तो भी उसका कल्याण होता है ॥ ३१७ ॥ जो मानव अभयदान देता है, उसने समस्त शास्त्र पढ़ लिए और उत्कृष्ट तप कर लिया एवं समस्त दान कर लिए । अर्थात्—बहु शास्त्रवेत्ता, परमतपस्वी व समस्त दानों का कर्ता है ॥ ३१८ ॥

[अब आहारदान को कहते हैं]

सात गुणों (श्रद्धा व तुष्टि-आदि) से युक्त दाता को नवधा भक्ति (प्रतिग्रह व उच्चासन-आदि) पूर्वक अन्न, पान, स्वाद्य व लेह्य के भेद से चार प्रकार के शुद्ध आहार द्वारा मृत्तियों की भोजन विधि करना चाहिए, अर्थात्—उनके लिए चार प्रकार का शुद्ध आहार देना चाहिए ॥ ३१९ ॥

१. तथा चोक्तं—'सौख्यमभयाद्वाहुराहाराद् सर्वमुत्थता । श्रुतात् श्रुतमतामीशां निर्व्याधित्वं तथोपश्रुतम् ॥ १८ ॥'

—श्रवोपसार पृ० १९० ।

*. तथा चोक्तं—'धर्मार्थकाममोक्षाणां औचित्यं यतः स्थितिः । सहानसस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिताम् ॥ ८४ ॥

—अमि० ध्या० ९ परि० ।

२. तथा चाह स्वामिसमन्तभद्राचार्यः—

नक्षुण्णैः प्रतिपत्तिः सत्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥ ११३ ॥—रत्न० ।

३. अन्नपानखाद्यलेह्यभेदात् । ४. अविद्धः चर्मजललादिरहितः ।

^१प्रतिग्रहोच्चवासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।

^२विद्याविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥३२०॥

अद्धा तुष्टिर्भक्तिविज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः । यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥३२१॥

तत्र विज्ञानरूपेण लक्षणम्—

विवर्णं खिरसं विद्धमहात्मनं ^१पुनः पुनः न तद्देयं यच्च भुक्तं 'गवायहम्' ॥३२२॥

उच्छिष्टं नोचलोकार्हमभ्योद्दिष्टं ^२विगृहीतम् । न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयज्ञादिकल्पितम् ॥३२३॥

धामांतरासमादीतं सन्धानीतमुपायनम् ^३ । न देयमापणयोतं विद्वदं वाज्ययत्तुकम् ॥३२४॥

गृहस्थ को मुनियों की नवधा भक्ति करनी चाहिए । १. प्रतिग्रह (पड़गाहना, अर्थात्—अपने गृहके द्वार पर मुनि को आते देखकर उन्हें आदरपूर्वक स्वीकार करते हुए 'स्वामिन् ! नमोऽस्तु ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए' इस प्रकार तीन बार कहना) २. उच्चासन (गृह के मध्य ले जाकर ऊँचे आसन पर बैठाना) ३. पाद-प्रक्षालन (उनके चरणकमलों को प्रक्षालित करना) ४. पादपूजा (पश्चात्—उनके चरणकमलों की पूजा करना), ५. प्रणाम (पञ्चाङ्ग नमस्कार करना), ६. ७. ८. मनशुद्धि, वचनशुद्धि व कायशुद्धि कहना और ९. आहार-शुद्धि (अन्न-जलशुद्धि) । ये नवधा भक्ति हैं ॥ ३२० ॥

जिस दाता में निम्न प्रकार ये सात गुण होते हैं, उसकी आचार्य प्रशंसा करते हैं—१. श्रद्धा (पात्र-दान के फल में विश्वास करना), २. तुष्टि (सन्तोष—दिये हुए आहार दान से हर्षित होना), ३. भक्ति (पात्र के गुणों में अनुराग होना), ४. विज्ञान (आचार शास्त्र का ज्ञान), ५. अलुब्धता (दान देकर सांसारिक सुख की अपेक्षा न करना), ६. क्षमा (क्रोध के कारणों की उत्पत्ति होनेपर भी क्रोध न करना) और ७. शक्ति (स्वल्प दान होनेपर भी दान देने में रुचि होना) ॥ ३२१ ॥

[अब इन गुणों में से विज्ञान गुण का स्वरूप शास्त्रकार स्वयं बताते हैं]

विवेकी श्रावक को मुनियोंके लिए ऐसा सदोष भोजन नहीं देना चाहिए, जो विरूप है, जो चलित-रस है, जो धुना हुआ (क्रोड़ों के व्याप्त) है, जो साधुकी प्रकृति के विरुद्ध है, और जो विशेष जोर्ण या जला हुआ है तथा जिसके खाने से रोग उत्पन्न होते हैं । जो जूठा है, जो मोच पुरुषों के खाने-योग्य है, जो दूसरे (किसानों-आदि) के उद्देश्य से बनाया गया है, जिससे अशोधित है, जो निन्द्य है, जो दुर्जनों से छू गया है, और जो देव व यक्ष-आदि के सत्कार के लिए बनाया गया है ॥ ३२२-३२३ ॥ इसी तरह जो दूसरे गाँव से लाया हुआ है, जो सिद्ध मन्त्रों से लाया हुआ है, जो भेंट में आया है, और जो बाजार से खरीदा गया है एवं

१. तथा चाह भगवज्जिनसेनाचार्यः—

'प्रतिग्रहणमत्पुच्छैः स्थानेऽयं विनिवेशनम् । पादप्रधावनञ्चार्या नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी ॥ ८६ ॥ —महापुराण' ।

तथा चोक्तं—'प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादप्रक्षालनमर्चनम् । प्रणामो योगशुद्धिश्च शिक्षाशुद्धिश्च ते नव' ॥ १ ॥

—चारिप्रसार पृ० १४ ।

अभ्युत्थानं । पूर्व-पादप्रक्षालनं पश्चात् पूजा । २. विद्या आहारः ।

३. 'अतिजोर्ण' टि० ख०, 'प्रभुतं यदुतं धान्यं न प्ररोहति, प्रच्छेदं वा न फलति' इति यश० पञ्जिकाकारः । ४. रोग-कारि । ५. कर्मकरादिनिमित्तनिष्पन्नमशोधितत्वात् । ६. प्रागृतं—लाहनकं ।

वधिसपिः पयोमक्ष्यप्रायं 'पयु'षितं नतम्^१ । गन्धवर्णरसअष्टमव्यत्सर्वं विनिम्बितम् ॥३२५॥
 बालग्लानि^२ तपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान् । मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते ह्युस्तपःक्षमाः ॥३२६॥
 'शाठ्यं गर्वमवज्ञानं'^३ 'पारिप्लव्यमसंयमम्' । वाक्पाशव्यं विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥३२७॥
 अभक्तानां 'कदर्याणामव्रतानां च' सधसु । न भुञ्जीत तथा साधुर्वैयकाशव्यकारिणाम्* ॥३२८॥
 नाहरन्ति महासत्त्वादिचत्सेनाप्यनुकम्पिताः^४ । किं तु ते वैयकाशव्यसंकल्पोचितवृत्तयः^५ ॥३२९॥

जो आचार शास्त्र से व प्रकृति से विरुद्ध है तथा जो ऋतु के प्रतिकूल है ॥ ३२४ ॥ दही, घी व दूध से सिद्ध हुआ आहार वासा होनेपर भी पात्रों के देने के लिए अभीष्ट है किन्तु जिनका गन्ध, रूप व स्वाद बदल गया है, वह सब आहार निन्दित है, अर्थात्—मुनि को देने-योग्य नहीं है ॥ ३२५ ॥

साधु-सेवा—विवेकी श्रावक को ऐसे मुनियों को सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करने में समर्थ हो सकें, जो अल्प उम्रवाले हैं, जो रोगों से पीड़ित हैं, जो तप से दुर्बल हैं, जो वयोवृद्ध (बूढ़े) हैं और जो व्याधियों से पीड़ित हैं ॥ ३२६ ॥

भोजन की बेला में त्याज्य दुर्गुण—भोजन की बेला में कपट, अभिमान, निरादर, चित्त को चञ्चलता, असंयम और कर्कश वचनों को विशेषरूप से छोड़ना चाहिए । क्योंकि इनसे मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है ॥ ३२७ ॥

किनके गृहों में साधु-वर्ग आहार-ग्रहण न करे ?

जो साधुओं के गल नहीं हैं, अर्थात्—जो नदया भक्तिपूर्वक दान नहीं देते । जो अत्यन्त कृपण हैं, जो व्रत-रहित (अहिंसा-आदि व्रतों को न पालनेवाले) हैं, जो अपनी दीनता प्रकट करते हैं और करुणा उत्पन्न करनेवाले हैं । अर्थात्—जो करुणा-बुद्धिसे दान देते हैं, अर्थात्—जो यह कहते हैं कि 'यह मुनि दया का पात्र है इसे आहार देना चाहिए' । उनके गृहों पर साधु को आहार नहीं लेना चाहिए ॥ ३२८ ॥

[अब साधु दीन व दयापात्र नहीं होते, इसका समर्थन करते हैं—]

वे साधु महासत्त्वशाली-धीर-वीर-होते हैं और चित्त से भी बड़े दयालु होते हैं, अर्थात्—वे दुःखी व अश्रुपात करनेवाले को देखकर आहार में अन्तराय करते हैं, इसलिए वे अपनी दीनता प्रकट करनेवालों के गृहों पर और मुनियों को दयापात्र कहनेवालों के गृहों पर आहार नहीं करते, क्योंकि जब वे दीनता व करुणा के संकल्प मात्र से उचित वृत्तिवाले, अर्थात्—दीन व दयापात्र को देखकर आहार-ग्रहण में अन्तराय करनेवाले होते हैं तब निस्सन्देह क्या वे दीन व दयापात्र कहनेवालों के गृहों पर आहार करते हैं ? अपितु नहीं करते ॥ ३२९ ॥

१. बासी । २. अभीष्ट दातुं । ३. रुजादिविलप्यरीरः । ४. कपटव्यं । ५. निरादरः । ६. 'चञ्चलत्वं' टि० ख०, 'पारिप्लव्यं चपलता' यश० पं० । ७. 'कदर्यहीनकोनाशकिपचानमितपचाः कृपणक्षुल्लबल्लीवक्षुद्रा एकार्थवाचकाः' टि० ख०, 'यां भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिन्तोति स कदर्यः ॥ ९ ॥' नीतिवाक्यामृत अर्थसमु० पृ० ४७ ।

'कदर्याः क्लृप्ताः' यश० पं० ।

*. 'असम्मताभक्तकदर्यमर्त्याकारुण्यवैय्यातिशयान्वितानाम् । एषां निवासेषु हि साधुवर्गः परानुकम्पाहितधीर्न भुङ्क्ते ॥ ३९ ॥
 —वसंतरत्नाकर । पृ० १२४ । ८. दुःखितं अश्रुपातं वा दृष्ट्वा ये भुनयोऽन्तरायं कुर्वन्ति । ९. वृत्तयः सन्तः किं आहरन्ति ? अपि तु न ।

धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः । ^१अन्यत्र कार्यदेवान्या ^२प्रतिहस्तं समाविशेत् ॥३३०॥

^३आत्मवित्तपरित्यागात्परिधर्मविधायने । निःसंवेहमवाप्नोति परभोगाय सत्फलम् ॥३३१॥

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः । विभवो दामशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम् ॥३३२॥

शिल्पि^४ कारक^५ वाक्पण्य^६, संभलीपतिताविषु^७ । वैहस्त्विति न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु^८ ॥३३३॥

वीजायोग्यास्त्रयो वणश्चित्तवारद्वय^९ विधोचिताः^{१०} । मनोवाक्कायधर्माय सताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥३३४॥

[अब ग्रन्थकार दूसरों से दान-पुण्यादि करानेवालों के विषय में कहते हैं] जो कार्य दूसरों से कराने-योग्य है या जो भाग्य-वश हो जाता है (जो कुछ भी इष्ट-अनिष्ट-सुख-दुःख होता है, वह भाग्याधीन है उसे स्वयं करने का नियम नहीं है) उनको छोड़कर दान पुण्यादि धार्मिक कार्य व स्वामी को सेवा एवं पुत्रोत्पत्ति को कौन बुद्धिमान् मानव दूसरों के हाथ से कराने के लिए वादेश देगा ? अर्थात्—विवेकी पुरुषों को उक्त कार्य स्वयं करने चाहिए ॥३३०॥ जो अपना धन देकर दूसरों के हाथ से धर्म कराता है, वह उसका फल दूसरों के भोगने के लिए प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है, अर्थात्—उसका फल दूसरे ही भोगते हैं ॥३३१॥ भोज्य-पदार्थ, भोजन करने की शक्ति, रतिविलास करने की सामर्थ्य, कमनीय कामिनियाँ, धनादिवैभव और दान करने की शक्ति ये वस्तुएँ स्वयं धर्म करने से प्राप्त होती हैं, न कि दूसरों से धर्म कराने से ॥३३२॥

मुनियों के आहार-ग्रहण के अयोग्य गृह

मुनियों को बड़ई, माली, कारक (नाई, धोबी, आदि), भाट, कुट्टिनी स्त्री, नीच व जाति से बहिष्कृत और साधुओं के उपकरण (पोछी-आदि) बनाकर जीविका करनेवालों के गृहों में आहार नहीं करना चाहिए ॥३३३॥

जिनदीक्षा व आहारदान के योग्य वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये तीन वर्ण ही जिन-दीक्षा के योग्य हैं किन्तु आहारदान देने योग्य चारों ही वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व सत् गृह) हैं; क्योंकि सभी प्राणी मानसिक, वाचनिक व कायिक-धर्म के पालन के लिए आगम से अनुमति हैं ॥३३४॥

१-२- यत् किमपि इष्टमनिष्टं च देवः करोति, तत्र स्वहस्तः न किमपि कर्तुं शक्नोति,
अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति ।

३. निजधनेन परहस्तेन धर्मं कारयति स्वहस्तेन न वत् ।

४. तथा चाह—भगवद्विजयसेनाचार्यः—

न्यावृत्तिनियतान् शूद्रान् पदभ्यामेवासृजत् सुधीः । वर्णोत्तमेषु शूद्रूपा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥१९०॥

‘शूद्रा न्यावृत्तिराध्याता’ ॥१९२-४॥

‘तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कर्तव्यकारवः । कारश्चो रजकाद्याः स्थुस्ततोऽन्वे स्युरकारवः ॥१८५॥

कारवोऽपि सता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्याः प्रजावाहाः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥१८६॥

—महापुराण १३ वाँ पर्व ।

५. वाक्पण्याः बन्दिनः । ६. संभली कुट्टिनी । ७. जातियाणः । ८. आहारं । ९. यतीनामुपकरणपागलीपि-च्छयोगपट्टादिकरणजीविनां गृहे आहारो न कर्तव्यः । १०. वर्णाः । ११. शुद्रजैतानामपि विधा-आहार-उचितो योग्यः दीयते इत्यर्थः ।

^१पुष्पाविरजनादिर्वा^२ न स्वयं धर्म एव हि । अित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य^३ कारणम् ॥३३५॥

युक्तं हि अद्वया साधु^४ सकृदेष मनो नृणाम् । परां बुद्धिमवाप्नोति लोहं सिद्धं रसैरिव ॥३३६॥

तपोदानार्चनाहीनं मनः सद्यपि वेद्मिनाम् । तत्फलप्राप्तये न स्मात्कु^५ शूलस्थितबीजवत् ॥३३७॥

^६आवेशिकाधितज्ञातिबीजात्मसु यथाक्रमम् । यथोचितं यथाकालं यज्ञपञ्चकमाचरेत्* ॥३३८॥

धर्म क्या है ? और धर्म का कारण क्या है ?

यह पुष्प-आदि व अन्न-आदि वस्तुएँ निस्सन्देह स्वयं धर्म नहीं हैं, किन्तु ये वस्तुएँ वैसे परिणामों की निर्मलता में कारण हैं जैसे उपजाऊ भूमि-आदि धान्य की उत्पत्ति में कारण होती है ।

भावार्थ—यद्यपि पूजा में चढ़ाई जानेवाली पुष्प-वगैरह वस्तुएँ और मुनि-आदि पात्रों के लिए दिया जानेवाला आहार स्वयं धर्म नहीं है, तथापि इनके निमित्त से होनेवाले शुभभाव वैसे धर्म के कारण हैं, क्योंकि उनसे शुभ कर्म का बन्ध होता है, जैसे खेत व जल वगैरह यद्यपि स्वयं धान्य नहीं हैं तो भी धान्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं ॥३३५॥

यथार्थ श्रद्धा का माहात्म्य

निस्सन्देह मानवों का मन यदि एक बार भी यथार्थ (निष्कण्ट) श्रद्धा से युक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट विगुद्धि को प्राप्त होता है, जैसे पारदरस के योग से लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है (सुवर्ण हो जाता है) । अर्थात्—जैसे लोहा, जिसके भीतर पारदरस के प्रविष्ट हो जाने से सुवर्ण हो जाता है वैसे ही यथार्थ श्रद्धा से युक्त हुआ मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥ ३३६ ॥

मन को विशुद्ध करने का उपाय

प्राणियों का मन प्रशस्त होने पर भी यदि तप, दान व देव पूजा से रहित है तो वह निस्सन्देह उस प्रकार तप-आदि से होनेवाले फल को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता जिस प्रकार कोठी में भरे हुए धान्य-बीज प्रशस्त होने पर भी धान्य के अङ्कुरों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते ।

भावार्थ—जिस प्रकार धान्य-आदि के बीज प्रशस्त (अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति वाले) होने पर भी यदि केवल कोठों में भरे हुए रखे रहें तो कदापि धान्य के अङ्कुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु जब उन्हें खेत में बोया जायगा और खाद व जल-संयोग-आदि कारण-सामग्री मिलेगी तभी वे धान्याङ्कुरों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार मानवों का प्रशस्त मन भी जब तप, दान व जितेन्द्र भक्ति से युक्त होगा तभी वह स्वर्गश्री-आदि का उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं, अतः मन को सदा शुभ कार्यों में लगाना चाहिए ॥ ३३७ ॥

पाँच शानों का विधान—आगन्तुक अतिथि को, अपने आश्रितों को, अपने वंशवालों को एवं दुःखी

१-३. पुष्पाद्यादिकं वस्तु भावस्य परिणामनिर्मलतायाः कारणं स्यात् । ४. एकवारमपि । ५. गृहकोष्ठं भाण्डागारं ।

६. अतिथिः । ७. दानपञ्चकम् । * तथा चोक्तं दासत्रातरे—

‘अपियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न ह्यपयेत् ॥ २१ ॥’—मनुस्मृति, अ० ४ । तथा

चोक्तं—‘आवेशिकज्ञातिषु संस्थितेषु दीनानृकम्पेषु यथायथं तु । देशोचितं कालवलानुसृत्य दद्याच्च किञ्चित् स्वयमेव बुद्ध्वा ॥’ धर्मरत्ना० पृ० १२६ ।

काले कलौ चले चित्ते वेहे चाग्नाविकोटके । एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥३३९॥
 यथापूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिमित्तम् । तथा पूर्वमुनिचक्षायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥३४०॥
 तदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं नरे । वैश्वती भवेन्मध्यमन्यच्चासंयतः सुदृक् ॥३४१॥
 यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः । उत्तं तत्र बुधा सर्वमूषरायां क्षितायिव ॥३४२॥
 पात्रे वत्तं भवेन्न पुण्याय गृहमेधिनाम् । शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं सयत् ॥३४३॥
 मिथ्यास्वप्नस्त्वचित्तेषु चारित्राभासभागिषु । दोषाद्येव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥३४४॥
 कारुण्यदयस्योर्विषयासेषां^१ किञ्चिद्दिशन्मपि^२ ।^३विश्वेबुद्धयुतमेवान्नं^४ गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥३४५॥
 सत्कारादिविधावेषां^५ दर्शनं दूषितं भवेत् । यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥३४६॥
^६शाक्यनास्तिकयागज्जटिला^७जीवकाविभिः^८ । सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥३४७॥
 अज्ञाततत्त्वचेतोर्भर्तुराग्रहमलोमसैः । युद्धमेव भवेद्गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥३४८॥

व दरिद्र मनुष्यों को क्रमानुसार औचित्य (दान व प्रिय वचन बोलकर सन्तुष्ट करना) व काल का उल्लङ्घन न करके पाँच दान (ऋषियज्ञ-आदि) देने चाहिए ॥ ३३८ ॥

[अब पंचम काल में साधुओं का विहार बतलाते हैं—] इस दुःषमा नामक पंचमकाल में जब मानवों का मन चञ्चल रहता है और शरीर अन्न का भक्षक कोड़ा बना रहता है, यह आश्चर्य है कि आज भी जिनेन्द्र की मुद्रा के धारक साधु महापुरुष पाये जाते हैं ॥ ३३९ ॥ जैसे पाषाण वगैरह से निर्मित जिन विम्ब पूज्य है वैसे ही वर्तमान के मुनि भी, जिनमें पूर्व मुनियों को सदृशता पाई जाती है, पूज्य हैं ॥ ३४० ॥

पात्र के तीन भेद—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र से विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं । अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्पददृष्टि जघन्य पात्र है ॥ ३४१ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शून्य (मिथ्यादृष्टि) मानव को विद्वानों ने अपात्र समझा है, उसके लिए दिया हुआ समस्त दान उस प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार ऊपर भूमि में बोया हुआ बीज निरर्थक होता है ॥ ३४२ ॥ मुनि-आदि पात्रों के लिए दिया हुआ आहारदान गृहस्थ श्रावकों को पुण्यवृद्धि के लिए होता है क्योंकि निस्सन्देह मेघों का जल सोप में ही पड़ने से मोती होता है, अन्यत्र नहीं ॥ ३४३ ॥ जिनका चित्त मिथ्यात्व से आविष्ट है और जो मिथ्याचारित्र को पालते हैं, उनके लिए दान देना वैसा दोषजनक होना है जैसे साँप का दूध पिलाना दोष-जनक होता है, अर्थात्—जहर उगलकर काटनेवाला होता है ॥ ३४४ ॥ मिथ्यादृष्टियों के लिए दयाभाव के कारण अथवा औचित्य के कारण यदि कुछ स्वल्प दिया भी जाय तो भोजन के पदचात् पकाये हुए अधिक आहार में से स्वल्प आहार दे देना चाहिए, किन्तु उन्हें गृह पर नहीं जिमाना चाहिए ॥ ३४५ ॥ मिथ्यादृष्टियों का सन्मान-आदि करने से सम्यग्दर्शन वैसा दूषित हो जाता है जैसे स्वच्छ पानी भी विषले वर्तन के संसर्ग से दूषित हो जाता है ॥ ३४६ ॥ अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी व कनछिद्रा संन्यासी-आदि सम्प्रदाय के साधुओं के साथ निवास व वार्तालाप व उनकी सेवा छोड़ देनी चाहिए ॥ ३४७ ॥ ऐसे मिथ्यादृष्टियों के साथ वार्तालाप करने से, जिनके मन यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता नहीं हैं और जो

१. मिथ्यादृष्टाः । २. स्वल्पं ददद् । ३. दद्यात् । ४. स्वभोजनानन्तरमृद्धूर्तं अधिकं शिवत्वं तदेव,
 न तु पूर्वं समीचीनं । ५. कुदृष्टाः । ६. बौद्ध । ७. तपस्वी । ८. बाजीवकाः बाचियकर्णाः 'कनछिद्रा'
 इति मायायां ।

भयलोभोपरोक्षार्थः^१ कुलिङ्गिषु मिशेषणे^२ । अवश्यं दर्शनं स्थापेन्नीचराचरणे सति* ॥३४९॥
 बुद्धिपीरुपयुक्तेषु देवायसविभूतिषु । नृषु कुतिसतसेवायां देव्यमेवातिरिच्यते ॥३५०॥
^३समयी साधकः साधुः सूरिः समयदीपकः^४ । तत्पुनः पञ्चधा पात्रमात्मनसि समीपिणः ॥३५१॥
 गृहस्थो वा प्रतिवर्षि जैनं समयमास्थितः । यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥३५२॥
 ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुभक्तः कायकर्मसु^५ । मायः समधिभिः सम्यक्परोक्षार्थं^६ समर्थोः ॥३५३॥
 क्षीमायात्राप्रतिष्ठादाः श्रियास्तद्विरहे^७ कुतः । तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥३५४॥
 मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोमिनिष्ठितस्थितिः । साधुः साधु भवोपूज्यः पुण्योपाजनपवित्रैः ॥३५५॥
 ज्ञानकाण्डे श्रियाकाण्डे^८ चातुर्वर्ण्यपुरःसरः । सूरिदेव इवाराध्यः संसाराविवतरणकः ॥३५६॥

दुराग्रही होने से मलिन है, ऐसे लड़ाई झगड़े को नीवत आ जाती है, जिसमें दण्डादण्डी और एक दूसरे के बाल पकड़ कर खींचने का अवसर होता है ॥ ३४८ ॥

जब विवेक-हीन मानव किसी अनिष्ट के भय से या धनादि के लोभ से या दूसरों के आग्रह से कुलिङ्गी साधुओं की सेवा रूप नीच आचरण करता है तो उसका सम्यग्दर्शन अवश्य ही मलिन होता है ॥ ३४९ ॥ जब बुद्धिमान् व पुरुषार्थी धार्मिक पुरुष यह समझ लेता है कि 'धनादि विभूतियाँ भाग्याधीन होती हैं,' तो भी धन की चाह से नीचों की सेवा करता है, इसमें उसकी दीनता ही कारण है ॥ ३५० ॥

[अब अन्य तरह से पात्रों के पाँच भेद और उनका स्वरूप कहते हैं]

विद्वान् पुरुष निम्न प्रकार पाँच प्रकार के पात्र मानते हैं—समयी, साधक, साधु, सूरि (आचार्य) और समय-दीपक (जैनशासन की प्रभावना करनेवाला) ॥ ३५१ ॥ जो जैन धर्म का अनुयायी है, चाहे वह गृहस्थ है या साधु, जब योग्य समय में प्राप्त हो जाय तो सम्यग्दृष्टि सज्जनों को उसका आदर-संस्कार करना चाहिए ॥ ३५२ ॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष वस्तु को भली प्रकार जानने में समर्थ है, ऐसे ज्योतिष, मन्त्र व निमित्त-शास्त्र के ज्ञाताओं का और शारीरिक चिकित्सा में निपुण व परोक्ष व्याधि का ज्ञाता वैद्य का अथवा पाठान्तर में प्रतिष्ठा-आदि के ज्ञाता का साधर्मि जनों को सन्मान करना चाहिए ॥ ३५३ ॥ क्योंकि यदि ज्योतिषी-आदि नहीं हैं तो जिनदोषा, तीर्थयात्रा और जिन्निम्ब-प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि इनमें मूर्हत-आदि देखने के लिए ज्योतिषी व नैमित्तिक की अपेक्षा होती है । यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि जेनेतर सम्प्रदाय में भी ज्योतिषी व निमित्तज्ञानी आदि हैं उनसे काम चल जायगा किन्तु इस तरह मूर्हत आदि के

१. आग्रह । २. सेवायां सत्या । ३. तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—

'भयापासनेहलोभाच्च कुक्षेपागमलिङ्गिताम् । प्रणामं वित्तयं चैव न कुर्याः दृढदृष्टयः ॥ ३० ॥'—रत्न० आ० ।

३. तथा चोक्तं विदुषा आशाचरेण—

'समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात् । दानादिना श्रयोत्तरगुणरागात् सद्गुही नित्यम् ॥ ५५ ॥—

सागर०, अ० २ । ४. समयिक, साधक, नैष्ठिक, गणाधिप व प्रभावक । ५. 'वैद्यः' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु

'कायकर्मसु चिकित्सादिक्रियासु' इत्याह । ६. देहान्तःस्थितो व्याधिः परोक्षार्थः । ७. नैमित्तिकं विना । ८. काण्डो-

जलेश्रमे बगै दुष्कन्धे सरे नारे सहृदलाणां वपु स्तवे ॥' टि० ख०, 'काण्डोऽश्री शर्मब्राणार्थनालावसरदारिषु । दण्डे

प्रकाण्डे रहसि स्तवे कुतिसतकुत्सयोः ॥ इति विषयः ।' अर्थात्—काण्ड-वर्ग (विषयसमाप्ति), बाण, अर्थ, नाक-खंडी,

अवसर, जल ॥ २ ॥ दण्ड (डंडा), वृक्षका स्थूलभाग, एकान्त, गुच्छ, निन्दित, निदा । (पुं० न०) विश्वलो०

को० पृ० ९० से संकलित—सम्पादक

लोकवित्त्वकविशार्द्धार्द्धाग्निस्वकौशलः । भार्गवभावनीधुक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥३५७॥
 मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽहितम् । इयं यत्र स देवः स्याद्विहीनो गणपूरणः* ॥३५८॥
 अर्हन्तूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया । अन्योन्यक्षुल्लके शार्हमिच्छाकारवधः सदा ॥३५९॥
 अनुवीचिवचो भाव्यं सदा पूज्यादिसन्निधौ । यथेष्टं हसनालापावर्जयेद् गुह्यसन्निधौ ॥३६०॥
 भक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् । ते सन्तः सत्त्वसन्तो वा गृही बानेन शुद्धयति ॥३६१॥
 सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां घनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽप्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥३६२॥
 यथा यथा विशिष्यन्ते तानेकानि विनियुज्यते । सदा तत्रापि पूज्या मुनयो गृहमेविभिः ॥३६३॥

लिए जैनेतर ज्योतिषी-आदि से पूँछने पर अपने धर्म की उन्नति कैसे हो सकती है ? ॥ ३५४ ॥ पुण्य के संचय करने में निपुण श्रावकों को, मूल गुणों व उत्तरगुणों के कारण श्लाघनीय—प्रशंसनीय—तपों के द्वारा जिसकी स्थिति मुनि-धर्म में दृढ़ है, ऐसे साधु की मत्त, वचन व काय से पूजा करनी चाहिए ॥ ३५५ ॥

जो ज्ञानकाण्ड (न्याय व व्याकरण-आदि) और क्रियाकाण्ड में निपुण होने से चतुर्विध संघ (मुनि, ऋषि, धर्मा व भक्तमार) में अग्रेसर होते हैं और जो संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में नौका सरीखे हैं, उन आचार्यों की अर्हन्त भगवान् का तरह पूजा करनी चाहिए ॥ ३५६ ॥ लोकव्यवहार की निपुणता व कवित्व (काव्य रचना की चतुरता) द्वारा और शास्त्रार्थ एवं वक्तृत्व कला के कौशल द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करने में तत्पर रहनेवाले सज्जन पुरुष (चाहे गृहस्थ हों या मुनि हों) दान व सन्मानादि द्वारा विशेषरूप से पूज्य हैं ।

भावार्थ—जैनधर्म की उद्दीपित करने के लिए लोकव्यवहार में निपुण, काव्यरचना में कुशल, शास्त्रार्थ करने में प्रवीण विद्वान् और तात्त्विक, मधुर व प्रभावशाली भाषण देने में कुशल विद्वानों की अपेक्षा रहती है, अतः उनका भी सन्मान करना चाहिए ॥ ३५७ ॥

तप से रहित ज्ञान भी पूज्य है और ज्ञान से होन तप भी पूज्य है, किन्तु जिसमें ज्ञान (केवलज्ञान) और तप दोनों हैं वह देव है, जिसमें दोनों नहीं हैं, वह तो केवल संघ का स्थान भरनेवाला हो है ॥ ३५८ ॥

विनय-विधि—जिनमुद्रा के धारक साधुओं को नमोऽस्तु कहकर उनकी विनय करनी चाहिए । आर्यिका के प्रति वन्दे कहकर उसकी विनय करनी चाहिए और क्षुल्लक त्यागी परस्पर में एक दूसरे को सदा इच्छामि कहकर विनय करते हैं ॥ ३५९ ॥ आचार्य-आदि पूज्य पुरुषों के समक्ष सदा शास्त्रानुबूल निर्दोष वचन बोलना चाहिए और गुरुजनों के समीप स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करनी चाहिए ॥ ३६० ॥ केवल आहारदान के लिए साधुओं की परीक्षा, कि (ये आगमानुसार मुनियों के आचार को पालते हैं अथवा नहीं इस प्रकार का विचार) नहीं करनी चाहिए, चाहे वे सच्चे मुनि हों या झूठे, क्योंकि गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध होता है ॥ ३६१ ॥

क्योंकि समस्त प्रकार के कृषि व व्यापार-आदि उद्योगों में प्रवृत्त होनेवाले गृहस्थों का घन अनेक प्रकार से (लज्जा व भय-आदि) खर्च होता है अतः तपस्वियों के लिए आहार दान देने में विशेष परीक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ३६२ ॥ तपस्वी साधु जैसे-जैसे तप व ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट हों, वैसे-वैसे

१. पूजितं । * तया चोक्तं—'मान्यो बोधस्तपोहीनो बोधहीनं तपोऽहितम् । इयं यत्र स देवः स्यात् द्विहीनो घनवेषभृत् ॥ ४६ ॥'—प्रबोधसार पृ० २०२ । २. 'आगमानुसारि' टि० ख०, घ० च०, 'अनुवीचि अनुत्थणं' इति पञ्जिकाकारः ।

देवाल्लक्ष्यं धनं धन्यैर्वत्तम्^१ समपाधिते । एको मुनिर्भवेत्तन्मो न लभ्यो वा यथायमम् ॥३६४॥
 उपचावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशनाम् । नैकस्मिन्पुण्ये तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥३६५॥
^२ते नामस्थापनाद्व्यभावस्यासंज्ञतुष्टिषाः । भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानाधिकमसु ॥३६६॥
 उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते । पुण्यार्धने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिविव^३ ॥३६७॥
^४अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये । मत्संज्ञाकर्म सन्नाम नरेष्व्यावशवर्तनात् ॥३६८॥
 साकारे वा निराकारे काष्ठादी यन्निवेशनम् । सोऽयमित्यवधानेन* स्थापना सा निगद्यते* ॥३६९॥

गृहस्थों को उनकी विशेष पूजा करनी चाहिए ॥ ३६३ ॥ भाग्यशाली पुरुषों को भाग्य से प्राप्त हुए धन को जैन धर्मानुयायियों में अवश्य खर्च करना चाहिए भले ही उन्हें आगमानुकूल कोई मुनि मिले अथवा न भी मिले ॥ ३६४ ॥ जिनेन्द्र भगवान् का यह धर्म उत्तम और जघन्य अनेक प्रकार के मनुष्यों से भरा हुआ है । जैसे गृह एक खम्भे पर नहीं ठहर सकता वैसे यह धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नहीं ठहर सकता ॥ ३६५ ॥

मुनियों के चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य व भावनिक्षेप की अपेक्षा से मुनि चार प्रकार के होते हैं और वे सभी दान व सम्मान के योग्य हैं ॥ ३६६ ॥ गृहस्थों के पुण्य-उपार्जन की दृष्टि से जिनविम्बों की तरह उन चार प्रकार के मुनियों में उत्तरोत्तररूप से विशिष्ट विधि (विशेष दान व मानादि) होंती जाती है । अर्थात्—जिसप्रकार नाम-जिन से स्थापना जिन विशेष पूज्य हैं और स्थापना जिन से नाम जिन विशेष पूज्य हैं और म.पीजिन से भाव-जिन विशेष पूज्य हैं उसीप्रकार नाम मुनिसे स्थापना मुनि-आदि विशेष पूज्य हैं ॥ ३६७ ॥

[अब क्रमशः चारों निक्षेपों का स्वरूप निर्देश करते हैं—]

नामनिक्षेप

नाम के अनुसार गुण व क्रिया-आदि से रहित पदार्थों में लोक व्यवहार चलाने के लिए पुरुष के अभिप्राय को अवलम्बन करके जो नाम रक्खा जाता है उसे नाम निक्षेप कहते हैं ॥ ३६८ ॥

स्थापनानिक्षेप

तदाकार व अतदाकार काष्ठ वगैरह में 'यह अमुक है' इसप्रकार के अवधारण से जो स्थापना की जाती है, वह स्थापना निक्षेप कहा जाता है ॥ ३६९ ॥

१. दुषप् वीजतन्तुसंताने । २. मुनयः । ३. प्रतिमावत् ।

४. तथा चाह पूज्यपादः—'अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुण्याकारान्निपुण्यमानं संज्ञाकर्म नाम' ।—सवार्थ० १-५ ।

तथा चाह श्रीमद्विद्यानन्दस्वामी—'संज्ञाकर्मानपेक्षैव निमित्तान्तरमिहितः ।

नामानैकविधं लोकव्यवहाराय सुवितम् ॥ १ ॥ --तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-५ पृ० ९८ । * अवधारणेन । * तथा

चाह पूज्यपादः—'काष्ठपुस्तचित्रकर्मक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना' ।—सवार्थ० १-५ ।

तथा श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिना—

'वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता । सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः ॥ ५४ ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १११

^१आगाभिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यग्रासस्य गोचरः । ^२तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते ॥३७०॥

यथात्मवर्णनप्रायं^३ क्षणिकाहार्यविश्रमम् । परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्वाजसं मतम् ॥३७१॥

^४पात्रपात्रसमावेक्ष्यमहाकारमसंस्तुतम् । वासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥३७२॥

^५आतिथेयं स्वयं यत्र पात्रपरीक्षणम् । गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्त्विकं विदुः^६ ॥३७३॥

उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् । दानानामेक सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥३७४॥

द्रव्य व भाव निक्षेप

जो वस्तु भविष्य में होनेवाले गुणों की प्राप्ति के योग्य है, उसे वर्तमान में उस गुणरूप से संकल्प करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्याय में स्थित हुई वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं । अर्थात्—वर्तमान कालानुगुण व पर्याय विशिष्ट पदार्थ को भावनिक्षेप कहते हैं ॥ ३७० ॥

[अब दूसरी तरह से दान के तीन भेद बतलाते हैं—]

राजसदान

जिस दान में अपनी प्रशंसा की बहुलता पाई जाती है और जो तत्काल मनोज्ञ प्रतीत हो, अर्थात्—जिसे दाता प्रतिदिन नहीं देता, कभी-कभी देता है; अतः जो क्षणभर के लिए मनोज्ञ है, एवं जो दूसरे दाता के विश्वास से उत्पन्न हुआ है, अर्थात्—जिसमें दाता की स्वयं की दान पर विश्वास नहीं होता, अतः किसी को दान से मिलनेवाले फल को देखकर जो दान दिया जाता है, वह राजोगुण की प्रधानता के कारण राजसदान माना गया है ॥ ३७१ ॥

तामसदान

आचार्यों ने उस दान को तामसदान कहा है, जिसमें पात्र व अपात्र दोनों एकसरीखे माने जाते हैं और जो बिना किसी आदर-सत्कार व स्तुति के दिया जाता है और जिसमें दास व नीकियों के उद्योग की अपेक्षा होती है ॥ ३७२ ॥

सात्त्विक दान

जिसमें स्वयं पात्र को देखकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है, और जिसमें दाता के श्रद्धा-आदि गुण पाये जाते हैं, विद्वानों ने उस दान को सात्त्विक दान माना है ॥ ३७३ ॥ इन तीनों दानों के

१. तथा चाह—श्री भट्टकलङ्कदेशः—‘अनागतपरिणामविजेषं प्रति गृह्यताभिमुख्यं द्रव्यं’ —तत्त्वार्थवार्तिक १-५ ।

तथा चोक्तं श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिना—

‘यत्स्वतोऽभिमुखं वस्तु भविष्यत्पर्ययं प्रति । तद् द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरमंदतः ॥६०॥ —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १११ ।

२. तथा चाह श्रीमत्तुल्यपादः—‘वर्तमानतत्पर्यायोपलभितं द्रव्यं भावः’ । सवार्था १-५ ।

तथा चाह श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामी—‘सांप्रती वस्तुपर्यायो भावो द्रव्यात् पूर्ववत् । —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ११३ ।

३. कदाचित् ददाति । ४. स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति, परन्तु कस्मैचिद् दानस्य फलं दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं पश्चाद् ददाति । ५. सदृशावलोकनेन यद्दानं । ६. अतिथी भवं ।

७. तथा चोक्तं—‘यत्रातिथेयं स्वयमेव साक्षात् ज्ञानादयो यत्र गुणाः प्रकाशाः ।

पात्राद्यवेषापरता च यत्र तत्सात्त्विकं दानमुपाहृन्ति ॥७८॥ —धर्मरत्ना ० पृ० १२७ ।

यदेतं तदमुत्र स्यादित्यस्यपरं वचः । गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतूणाशनाः ॥ ३७५ ॥
 मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्ष्यः काले प्रकल्पितः । मवेक्ष्यपुण्यार्थं भक्तिचिन्तामणिर्यतः ॥ ३७६ ॥
 अभिमानस्य रक्षणार्थं विनयायागमस्य च । भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मनोऽह्वराः ॥ ३७७ ॥
 लोभ्याद्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणं । तत्तद्वच समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥ ३७८ ॥
 श्रुतस्य प्रध्याच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥ ३७९ ॥
 शारीरमानसागतुष्याचित्तबाधसंभवं । साधु संयमिनां कार्यः अतीकारो गृहभित्तः ॥ ३८० ॥

तत्र 'दोषधातुमलविकृतिजनिताः शारीराः, शीर्षमस्यनुःस्वप्नसाज्वसाऽधिसंपाविता मानसाः' शीतवातभि-
 दाताविकृता आगन्तवः ।

मध्य सात्त्विक दान उत्तम है, राजसदान मध्यम है और तामसदान निकृष्ट है ॥ ३७४ ॥ जो दान दिया गया, वह दाता को परलोक में फलदायक होता है, यह वचन मिथ्या है; क्योंकि दान का फल इसी लोक में मिल जाता है, जैसे पानी पीनेवाली व घास-भक्षण करनेवाली गाएँ क्या दूध नहीं देती ? अर्थात्—जिस दिन गायों के लिए पानी पिलाया जाता है और घास खिलाई जाती है उसी दिन वे दूध दे देती हैं, इससे दाता को दान का फल (कीर्ति-लाभ व मानसिक शुद्धि) इसी लोक में मिल जाता है । अथवा दूसरी तरह से यह अर्थ समझना चाहिए कि दाता पात्र के लिए यदि रुखा-सूखा अन्न देता है तो वही रुखा-सूखा अन्न उसे परलोक में मिलेगा, यह कथन झूठ है; क्योंकि गायों के लिए प्रेमपूर्वक पानी व घास ही दिया जाता है, परन्तु वे उसके बदले मधुर दूध दे देती हैं । अतः मुनियों के लिए आहार की बेला में भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात का पुञ्ज भी, अपरिमित पुण्य का कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ।

निष्कर्ष—दाता की श्रद्धा व भक्ति से ही दान की कीमत आँकी जाती है, न कि पात्र के लिए दिये जानेवाले द्रव्य की कीमत से । अतः पात्र के लिए भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी दाता को प्रचुर फल-दायक होता है, न कि बिना भक्ति के दिया हुआ मिष्ठान्न-भोजन ॥ ३७५-३७६ ॥

[अब आहार की बेला में मौन का विधान करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान् ने स्वाभिमान की रक्षा के लिए और श्रुत की विनय के लिए आहार की बेला-आदि के अवसर पर मौन रखना कहा है । जिह्वा की लम्पटता का त्याग करने से तप की वृद्धि होती है और स्वाभिमान (याचना न करना) की रक्षा होती है और उनके होने से तीन लोक में मनसिद्धि होती है । मौन द्वारा श्रुत की विनय करने से कल्याण होता है और वह मुक्तिरूपी सम्पत्ति का आश्रय होता है और उससे (मान से) मनुष्यलोक के ऊपर सरस्वती प्रसन्न होती है, अर्थात्—तीन लोक के अनुग्रह करने में समर्थ दिव्यध्वनि का प्रसाद प्राप्त होता है ॥ ३७७-३७९ ॥

संयमी मुनियों की व्याधियों के प्रतीकार का विधान

संयमी मुनिजनों को शारीरिक (वात, पित्त व कफ की विकृति-आदि से उत्पन्न होनेवाले बुखार-आदि रोग), मानसिक व आगन्तुक व्याधियों की पीड़ा होने पर गृहस्थ आदिकों को भलीप्रकार उन कष्टों के दूर करने का उपाय करना चाहिए ॥ ३८० ॥

उनमें वात, पित्त व कफ की विकृति से, रस-रक्त आदि धातुओं के विकार से और मल के विकार

१. वातपित्तश्लेष्म । २. तथा चोक्तं—'शारीराः ज्वरकुष्ठाद्याः कोषाद्या मानसाः स्मृताः ।

आगन्तवोऽभिधातोऽस्याः सहजाः श्रुतपादयः ॥ ८८ ॥'—वर्मरत्ना, पृ० १२८ ।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः । असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य धामर्मसंज्ञता ॥३८१॥

सौमनस्यं सवाच्यं व्याख्यातृषु पठरसु च । आवासपुस्तकाहारसौकर्यादिविधानकैः ॥३८२॥

*अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केषलिभाषितम् । नश्येन्निर्मुक्तः सर्वं श्रुतस्तत्त्वधरात्यये ॥३८३॥

प्रशयोत्साहनामन्त्रस्वाध्यायोचितवस्तुभिः । श्रुतबुद्धिर्भुनीकुर्वन्जायते श्रुतपारगः ॥३८४॥

१श्रुतास्तत्त्वपरिज्ञानं श्रुतास्तत्त्ववर्धनम् । श्रेयोयिता श्रुताभावे सर्वमेतत्समस्यते ॥३८५॥

से उत्पन्न हुई व्याधियों—रोगों—को शारीर व्याधि कहते हैं। मानसिक पीड़ा, खोटे स्वप्नोंका देखना व भय-आदि से उत्पन्न होनेवाले कष्टों को मानस-कष्ट कहते हैं एवं शीत व वात के आक्रमण-आदि से उत्पन्न हुई व्याधियों को आगन्तुक कहते हैं। इन बाधाओं के दूर करने का प्रयत्न गृहस्थों को करना चाहिए।

क्योंकि रोग-ग्रस्त मुनियों को उपेक्षा करने से मुनियों के रत्नत्रय की विराधता होती है और श्रावकों का अधर्म-कार्य प्रकट होता है, अतः गृहस्थों को रण साधुजनों को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ३८१ ॥

श्रुत की रक्षा के लिए श्रुतधरों की रक्षा का विधान

अतः जेनागम का व्याख्यान करनेवाले विद्वानों के लिए और जेनागम को पढ़नेवाले छात्रमुनि-आदि के लिए रहनेको निवास-स्थान, शास्त्र और आहार-आदि की सुविधा देकर गृहस्थों को अपनी सज्जनता का परिचय देना चाहिए ॥ ३८२ ॥ क्योंकि श्रुत-समूह के धारकों (श्रुत के व्याख्याताओं व पाठकों) के नष्ट हो जाने से तीर्थङ्कर केवली भगवान् के द्वारा उपदिष्ट समस्त श्रुत, जो कि ग्यारह अङ्गों (आचारङ्ग-आदि) व चौदह पूर्वों तथा प्रकीर्णकों में कहा हुआ है, जड़ से नष्ट हो जायगा ॥ ३८३ ॥ जो विनय करके, उत्साह-बुद्धि करके व आनन्दित करके एवं स्वाध्याय के योग्य शास्त्र-आदि वस्तुएँ देकर मुनियों को शास्त्र में निपुण (विद्वान्) बनाने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं श्रुत का पारगामी (श्रुतकेवली) हो जाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री ने श्रुत-समूह के धारकों (श्रुत के व्याख्याताओं व पाठकों) के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ देकर श्रुत की रक्षा करने के लिए कहा है। वास्तव में जैनशासन को सुरक्षित व उद्दीपित करने में जैनशास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों की महती आवश्यकता होती है। और यह तभी संभव है जब जैनों के विद्यालयों व गुरुकुलों में जैनशास्त्रों का पठन-पाठन चालू रहे। यदि जैन समाज में से शास्त्रज्ञान लुप्त हो गया तो धर्म-कर्म भूल जाने से नाममात्र के जैन रह जायेंगे।

अतः समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए जैनशास्त्रों का पठन-पाठन चालू रखने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात्—वर्तमान में जैन समाज में जो विद्यालय व गुरुकुल-आदि खुले हुए हैं, जिनमें जैनशास्त्रों का पठन-पाठन-आदि चालू है, उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान द्वारा श्रुत लक्ष्मी से अलङ्कृत होना चाहिए ॥ ३८४ ॥

श्रुत का महत्त्व

शास्त्र से हो मोक्षोपयोगी तत्वों का ज्ञान होता है और शास्त्र से ही जैनधर्म की वृद्धि होती है,

* तवा चोक्तं—‘अङ्गपूर्वरचितप्रकीर्णकं बोलरागमुखपद्मनिर्गतम् ।

नश्येत्तौह सकलं सुदुर्लभं सन्ति न श्रुतधरा यदर्थयः ॥ ९१ ॥

सत्प्रशयोत्साहनयोग्यदानानन्वप्रयोदादिमहाक्रियाभिः ।

कुर्वन् भुनीनागमवृद्धिचित्तान् स्वयं नरः स्याच्छ्रुतपारगामी ॥ ९२ ॥’ —धर्मरत्ना० प० १२८ ।

१. तथा चोक्तं—‘श्रुतेन तत्त्वं पुनर्विः प्रबुध्यते, श्रुतेन वृद्धिः समयस्य जायते । श्रुतप्रभावं परिवर्णयेज्जिनः श्रुतं विना सर्वमिदं विनश्यति ॥ ९३ ॥’ —धर्मरत्ना० प० १२९ ।

अस्त्रधारणवद्बाह्ये क्लेशो हि सुलभा नराः । यथार्थज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥३८६॥
 ज्ञानभावनया होने कायक्लेशनि केवलम् । कर्म बाह्यीकर्त्तव्यमिति^१ किञ्चिदुच्यते च^२ ॥३८७॥
^३सृणिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयश्चित्तनः । तद्वृत्ते च बहिः क्लेशः क्लेश एव परं भवेत् ॥३८८॥
 बहिस्तपः स्वतोऽप्येति^४ ज्ञानं भावयतः सतः । क्षेत्रज्ञे यत्प्रियमनेऽत्र कुतः स्युरपराः^५ क्रियाः* ॥३८९॥
^६यश्ज्ञानी युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेत् वा । तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतोऽप्युषम् ॥३९०॥
 ज्ञानी पटुस्तर्ध्व स्याद्बहिः क्लेषु^७ धर्तेऽक्षिते । ज्ञातुर्जानलब्धे यस्मात् पटुर्ध्वं युगैरपि ॥३९१॥
^८शब्देतिह्यर्त्तं गीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयः । स परमस्ययात्स्वित्यन्तर्ध्वेदन्वसमः पुमान् ॥३९२॥

अतः शास्त्रज्ञानके अभाव हो जानेपर अपने कल्याण के इच्छुकों को यह समस्त लोक अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त हुआ आचरण करता है ॥ ३८६ ॥ जैसे तलवार-बगैरह अस्त्रों का धारण करना सुलभ है वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं परन्तु जैसे वीर पराक्रमी पुरुष दुर्लभ होते हैं वैसे ही सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥ ३८६ ॥ जो मनुष्य ज्ञान की भावना से शून्य है और केवल शरीर को कष्ट देता है, उसका उस प्रकार कुछ कर्म नष्ट होता है और कुछ नया कर्म उदय में आता है जिस प्रकार बोझा होनेवाले का कुछ भार हल्का होता है और कुछ नया भार आता रहता है । इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥ ३८७ ॥

सच्चे ज्ञान की विशेषता

मानव के इस मनरूपी हाथी को वश में करने के लिए सम्यग्ज्ञान ही अङ्कुश-सरीखा है, अर्थात्—जैसे अङ्कुश हाथी को वश में रखता है वैसे ही ज्ञान मानव के मन को वश में रखता है । सम्यग्ज्ञान के बिना मिथ्यादृष्टि मानव का बाह्य काय-क्लेश केवल काष्टप्रद ही है ॥ ३८८ ॥ सम्यग्ज्ञान की भावना करनेवाले सज्जन साधु के निकट बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है । क्योंकि जब आत्मा ज्ञान में लीन हो जाता है तो अन्य बाह्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? ॥ ३८९ ॥ अज्ञानी (आत्मज्ञान से शून्य—मिथ्यादृष्टि) जिन कर्मों को बहुत से युगों में भी नष्ट नहीं कर सकता, ज्ञान से युक्त ज्ञानी पुरुष उन कर्मों को निश्चय से क्षणभर में नष्ट कर डालता है ॥ ३९० ॥ सम्यग्ज्ञानी साधु जब परिपूर्ण यथास्थाय चारित्र प्राप्त करता है तभी उससे वह परिपूर्णज्ञानी (केवली) हो जाता है, उक्त चारित्र के बिना सम्यग्ज्ञानी साधु ज्ञान के लवलेशमात्र से केवली नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार बाह्य कायक्लेश करनेवाला अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) साधारण शास्त्रज्ञान के लवलेश मात्र से बहुत से युगों में परिपूर्णज्ञानी (केवली) नहीं हो सकता । (उक्त अर्थ टिप्पणीकार के अभिप्राय से किया गया है) । इसका दूसरा अर्थ यह है कि समस्त बाह्य व्रतों में क्लेश सहन करनेवाले अज्ञानी मुनि से ज्ञानी साधु तत्काल कुशल (कर्मों के क्षय करने में समर्थ) हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतों को करनेवाला

१. चित्तश्च्यति । २. उदयभागच्छति । ३. अङ्कुशवत् । ४. ज्ञानं विना । ५. आगच्छति । ६. आत्मनि । ७. बाह्याः ।
 * तत्र चोक्तं—'बाह्यं तपः प्रार्थितमेति पुंसो ज्ञानं स्वयं भावयतः सदैव । क्षेत्रज्ञरत्नाकरसंश्रित्यने बाह्याः क्रियाः सन्तु कुतः समस्ताः ॥ ९६ ॥'
 —धर्मरत्ना० पृ० १२९ ।
 ८. तथा चोक्तं—'यश्ज्ञानी क्षपेत् कर्म बह्वीभिर्मवकोटिभिः । तज्ज्ञानयास्त्रिभिर्गुणैः क्षपयेदन्तर्मुहूर्ततः ॥ ९७ ॥'
 —धर्मरत्ना० पृ० १२९ ।
 ९. क्लेशं कुर्वतः । ३. सम्पूर्णं चारित्र्यं सति पटुः परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भावः ।
 १०. व्याकरणैः ।

स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषणश्च समासतः । प्रत्येकमागमस्येतद्बुद्धिर्बुद्धं प्रतिपद्यते ॥ ३९३ ॥

तत्र स्वरूपं च द्विविधम्—अक्षरम्, 'अनक्षरं' च । रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा—प्रमाद-प्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—मागलंकारः, अर्थालंकारश्च । अर्थो द्विविधः—'चेतनो-ऽचेतनश्च', 'जातिर्भ्यस्तिष्ठेति' वा ।

'सायं सचित्तनिक्षेपविधानान्यां वानुमानये । अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः ॥ ३९४ ॥

अज्ञानी युग वीत जानेपर ज्ञान के लवलेषामात्र में भी कुशल नहीं होता ॥ ३९१ ॥ जिसकी वाणी व्याकरण-शास्त्र के अभ्यास से शुद्ध नहीं हुई, अर्थात्—जो व्याकरणशास्त्र का वेत्ता नहीं है, और जिसकी बुद्धि नीति-शास्त्रों के अभ्यास से अथवा नयी (द्रव्याणि न गद्यानि) के अभ्यास से शुद्ध नहीं हुई, अर्थात्—जो नीतिशास्त्र का अथवा नयी का वेत्ता नहीं है, वह मानव दूसरों के विश्वास के अनुसार चलने से कष्ट उठाता हुआ अन्धा-सरीखा है ॥ ३९२ ॥

प्रत्येक शास्त्र में संक्षेप से निम्नकार वस्तुएँ होती हैं । स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलङ्कार और वर्णन किया हुआ विषय और ये प्रत्येक दो दो प्रकार के हैं ॥ ३९३ ॥

स्वरूप दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक, जो कि द्वादशाङ्गों के अक्षरोंवाला है और दूसरा अनक्षरात्मक (अस्फुट अर्थ को सूचन करनेवाला जैसे तडत्-तडत् इत्यादि । रचना दो प्रकार की है—गद्यरूप और पद्यरूप, अर्थात्—विना श्लोकवाले और श्लोकवाले शास्त्र । शुद्धि दो प्रकार की होती है । एक तो शास्त्रकार की असावधानी से शब्दों के प्रयोग में होनेवाली अशुद्धियों का अभाव और दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दालंकार (शब्दों में सौन्दर्य के उत्पादक अनुप्रास-आदि) व अर्थालङ्कार (अर्थ में सौन्दर्य लानेवाले उपमा-आदि) और वर्णित विषय दो प्रकार का है—चेतन (जिसमें जीव द्रव्य का निरूपण हो जैसे समयसार-आदि) व अचेतन (जिसमें पर्वत-आदि जड़ पदार्थों का कथन हो) या जाति (पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग वाले शब्द जिसमें पाए जाते हैं) और व्यक्ति (जिसमें एकवचन व बहुवचनवाले शब्द समूह हों) ।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतीचार

सचित्त कमल के पत्तों-आदि में आहार स्थापित करना, सचित्त पत्ते वगैरह से आहार को ढाँकना, दूसरे दातार को वस्तु दान देना, अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना और असमय में आहार देना, ये पाँच

१. अस्फुटार्थसूचनायं, यथा तडत्तडिति पठपठायति । २. यत्र जीवादीनां व्याख्या क्रियते सोऽर्थश्चेतनः । ३. यत्र पर्वतादीनां व्याख्या स अचेतनः । ४. जातिलिङ्गं । ५. व्यक्तिरेकवचनं द्विवचनं, बहुवचनं ।

६. तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्यः—

'सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः—भोक्षशास्त्र ७-३६ ।

तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—

'हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरस्त्वानि । वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ १२१ ॥ —रत्न० ।

^१तत्तेर्गोत्रं धियो दानादुपासतेः सर्वसंव्यताम् । भक्तेः कीर्तिसवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥३९५॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

^२भूलगतं यतान्यर्चापर्वकर्मकृद्विक्रियाः । विधा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥३९६॥

परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता । तद्वानो च वदस्येतान्येकावश यथाक्रमम् ॥३९७॥

^३अध्यधित्तमारोहेत्पूर्वपूर्ववत्स्थितः । सर्वत्रापि सप्ताः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥३९८॥

षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः । भिक्षुको द्वी तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥३९९॥

तत्सद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः । निर्दिष्टं युक्तितस्तेषां श्वसो मन्निबोधत ॥४००॥

अतिथि सविभाग व्रत के असीचार हैं, अतः श्रावक इन्हें छोड़ देवे ॥ ३९४ ॥ मुनियों की स्वयं सेवा करनेवाले दाता को मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र का बंध होता है, दान देने से लक्ष्मी प्राप्त होती है, उपासना करने से समस्त लोक द्वारा सेवनीय होता है एवं उनको भक्ति करने से कीर्ति-लाभ होता है ॥ ३९५ ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में 'दानविधि' नाम का तेतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

ग्यारह प्रतिमाएँ

आचार्य श्रावकों की निम्नप्रकार ग्यारह प्रतिमाएँ (चारित्र के पालन करने की श्रेणियाँ) कहते हैं । दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोधघोषवास, आरंभत्याग, दिवामैथुनत्याग, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमत्तित्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा । इनमें पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के चारित्र को पालन करने में स्थित होकर ही आगे-आगे की प्रतिमाओं का चारित्र पालन करना चाहिए । जैसे दर्शन-प्रतिमा के चारित्र-पालन पूर्वक व्रत प्रतिमा की आराधना करना चाहिए । उक्त समस्त प्रतिमाओं में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-आदि) को भावनाएँ एक सरीखी कही गई हैं । श्रावकों की इस ग्यारह प्रतिमाओं में से पहले की छह प्रतिमा के धारक गृहस्थ कहे जाते हैं । सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमा के धारकों को ब्रह्मचारी समझने चाहिए और अन्तिम दो प्रतिमा के धारक भिक्षु समझने चाहिए और इन सबसे ऊपर मुनि होते हैं ॥ ३९६-३९९ ॥

भावार्थ—निरतिचार सम्यग्दर्शन के साथ अष्ट भू लक्षणों का निरतिचार पालन करता पहली प्रतिमा

१. तथा चाह श्रोसमन्तभद्राचार्यः—

'उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्तेः सुन्दरूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ ११५ ॥ —रत्न० ।

२. तथा चोक्तं—'दंशण वय सामाद्य पोसह सच्चित्त राइ भत्ती य । वंभारम्भपरिग्राह अनुमण उद्दिष्ट देसविरदेदे ॥
—चारित्तपादक ११ ।

तथा चाह श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यः—

'सदर्शनं व्रतोद्योतं समतां प्रोषधन्नतम् । सचित्तसेवाविरतिमहः स्त्रीसङ्गवर्जनम् ॥ १५९ ॥

ब्रह्मचर्यमधारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम् । तत्रानुमननत्यागो स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥ १६० ॥

स्थानानि गृहिणां प्राहुः एकादश गणाधिपाः ।' —महापुराण पर्व १० ।

तथा चाह विद्वान् आशाधरः—

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिको प्रोषधोपवासो च । सचित्तदिवामैथुनविरतो गृहिणोऽणूयमिषु होनाः षट् ॥ २ ॥

अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता यगिनस्त्रयो मध्याः । अनुमतिविरतोऽद्दिष्टविरतासुभौ भिक्षुको प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥'

—सागर धर्मा० अ० ३ ।

३. दर्शनप्रतिमापूर्वकं व्रतप्रतिमापाराधयेदित्यर्थः । ४. प्रथमप्रतिमादिषु क्रमेण रत्नत्रयभावनाः सदृशाः ।

जितेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना । गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥४०१॥

मानमायामवामर्षज्ञपणात्क्षणः स्मृतः । यो न ध्यान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥४०२॥

यो 'हस्ताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूर्ध्विरे । यः सर्वसङ्गसंस्पृक्तः स भग्नः परिकीर्तितः ॥४०३॥

है। जो निःशल्य होकर पाँच अणुवर्तोंको निरतिचार पालन करता हुआ सात शील धारण करता है। वह व्रत प्रतिमाधारी है। पूर्वोक्त दो प्रतिमाओं को धारण करके तीनों सन्धाओं में यथाविधि सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को नियम से उपवास करना चौथी प्रोपद्योपवास प्रतिमा है। कृषि व व्यापार आदि का त्याग करना पाँचवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा है। जो अपनी स्त्री से दिन में रति-विलास न करके उसके साथ हँसी मजाक भी नहीं करता वह दिवा मैथुन त्यागी है। कोई आचार्य इसके स्थान में रात्रिभुक्तित्याग को कहते हैं, उसका अर्थ यह है रात्रि में सभी प्रकार के आहार का निरतिचार कृत कारित व अनुमोदनापूर्वक त्याग किया जाता है। मन, वचन, काय और कृत, कागित व अनुमोदना से स्त्री-सेवन का त्याग, सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तु के खाने का त्याग करना अर्थात्—कच्चे मूल, पत्ते-आदि प्रत्येक वनस्पतिकायिक शाक या फल भक्षण न करके उन्हें अग्निमें पकाकर या आचार शास्त्र के अनुसार प्रासुक करके भक्षण करता है, वह सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है। समस्त परिग्रह को त्याग देना परिग्रह त्याग प्रतिमा है। समस्त आरम्भ, परिग्रह व लौकिक कार्यों में अनुमति न देकर केवल भोजनमात्र में अनुमति देना दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है। जो उक्त दश प्रतिमाओं का चारित्र्य पालन करता हुआ गृहत्याग करके मुनियों के आश्रम (वन) में जाकर गृह के समीप व्रत (ग्यारहवीं प्रतिमा का चारित्र्य) धारण करके तप करता है और खण्डवस्त्र या लँगोटी मात्र धारण करता हुआ भिक्षा भोजन करता है, वह ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है। इसके दो भेद हैं, क्षुल्ल व ऐलक। क्षुल्लक कौपीन (लँगोटी) व खण्डवस्त्रधारी होता है और ऐलक केवल कौपीन मात्र धारण करता है। क्षुल्लक केशों का मूण्डन करता है और ऐलक केश लुञ्चन करता है, यह उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। इनमें आगे की प्रतिमाओं में पूर्व पूर्व की प्रतिमाओं का चारित्र्य अवश्य होना चाहिए एवं रत्नय की भावना भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत होनी चाहिए।

विमर्श

यहाँ पर ध्यान देने योग्य यह है कि शास्त्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि ने पाँचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा की जगह आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा का उल्लेख किया है एवं आठवीं प्रतिमा की जगह पाँचवीं प्रतिमा का। जबकि अन्य ध्यायकाचार्यों में ऐसा व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अतः क्रमिक त्याग की दृष्टि से पूर्वाचार्यों का निरूपण सही मालूम पड़ता है। परन्तु हमने उक्त दोनों श्लोकों का अर्थ ग्रन्थकार के अनुसार ही किया है।

मुनियों के विविध नामों का अर्थ

उन-उन गुणों की मुख्यता के कारण मुनि अनेक प्रकार के कहे गये हैं। अब उनके उन नामों को युक्तिपूर्वक निरुक्ति (व्युत्पत्ति-पूर्ण व्याख्या) कहते हैं, उसे मुक्षसे सुनिष् ॥४००॥ जो समस्त इन्द्रियों को जोतकर अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जानता है, वह गृहस्थ ही या वानप्रस्थ, वह जितेन्द्रिय कहा जाता है ॥४०१॥ गर्व, कपट, मद व क्रोध का दाय कर देने के कारण साधु को 'क्षपण' कहा गया है और अनेक स्थानों में ईर्यासमिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नहीं होता, इसलिए विद्वान् उसे 'श्रमण' जानते हैं ॥४०२॥ जो पूर्व-आदि दश दिशाओं के परिमाण से रहित है और जिसकी समस्त प्रकार की लालसाएँ (जीवन, आरोग्य,

१रेषणात्केशराशोमाभृयिमाहुर्मनीषिणः । भाग्यस्यावात्मविद्वानां महद्भिः कीर्यते मुनिः ॥४०४॥

यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् । योजोहो वेहोहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥४०५॥

आत्माऽद्युद्विक्तरमस्य न ज्ञः कर्मदुर्जनेः । स पुमाञ्जुचिराख्यातो नाम्बुसंस्तुतमस्तकः ॥४०६॥

धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मणः । तं निर्मममुशन्सीह केवलोऽभपरिचक्ष्वम् ॥४०७॥

यः २कर्मद्वितयातोतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते । पाक्षिलोऽहस्य हेमनो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥४०८॥

निर्ममो निरहंकारो निर्माणमवतस्सरः । निराधार्ता संस्तवे चैव समधीः शसितवतः ॥४०९॥

योऽवगम्य यथाभ्यासं तत्त्वं तत्त्वंकभाधमः । वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥४१०॥

भूते यते प्रसंख्यानं ३ संयमे नियमे यमे । यस्योर्ध्वः सर्वदा चित्ताः सोऽनूचानः ४ प्रकीर्तितः ॥४११॥

भोग व उपभोग संबंधी तृष्णाएँ) शान्त (नष्ट) हो चुकी हैं; इसलिए विद्वान् आचार्यों ने उसे 'आशाम्बर' कहा है और जो समस्त प्रकार के बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों का त्यागी है; अतः उसे 'नग्न' कहा गया है ॥ ४०३ ॥ समस्त दुःख-समूह का संवरण (आच्छादन) करने के कारण विद्वानों ने उसे 'श्रुति' कहा है और अध्यात्म विद्याओं (केवलज्ञान-आदि) की प्राप्ति से पूज्य होने के कारण महापुरुष उसे 'मुनि' कहते हैं ॥४०४॥ जो पापरूपी जाल को नष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है, इसलिए वह 'यति' है और शरीररूपी गृह में भी लालसा-रहित होने के कारण सज्जनों ने उसे 'अनगार' माना है ॥ ४०५ ॥ आत्मा को मलिन करनेवाले कर्मरूप दुर्जनों के साथ जिस संसर्ग नहीं है, वही पुरुष 'शुचि' कहा गया है, न कि जल से धोये हुए मस्तकवाला । अर्थात्—जो जल से मस्तक पर्यन्त स्नान करता है, वह पवित्र नहीं है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल है, वही पवित्र है । अर्थात्—यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते, किन्तु उनकी आत्मा विशुद्ध है, इसलिए उन्हें पवित्र कहते हैं ॥ ४०६ ॥ जो धर्माचरण (सम्यग्दर्शन-आदि) के फल (स्वर्ग-सुख-आदि) का इच्छुक नहीं है और अधर्माचरण (पापाचरण) से निवृत्त है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार है लोक में उसे आचार्य 'निर्मम' कहते हैं । अर्थात्—मुनि पापाचरण न करके केवल धर्माचरण ही करते हैं, और उसे भी लौकिक इच्छा न रखकर केवल अपना कर्तव्य समझकर करते हैं एवं उनके पास अपनी आत्मा के सिवा कोई भी परिग्रह नहीं रहता, अतः उन्हें 'निर्मम' कहा गया है ॥ ४०७ ॥ आचार्य, साधु को पुण्य-पाप लक्षणवाले दोनों प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त (छूटा हुआ) होने के कारण मुमुक्षु कहते हैं । क्योंकि जो मानव लोहे की या सुवर्ण की जंजीरों से बँधा हुआ है, उसे बँधा हुआ ही कहा जाता है । अर्थात्—पुण्यकर्म सुवर्ण के बन्धन हैं और पापकर्म लोहे के बन्धन हैं; क्योंकि दोनों ही जीव को संसार में बांधकर रखते हैं । अतः जो पापों से निवृत्त होकर पुण्यकर्म करता है, वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनों का छोड़कर शुद्धोपयोग में लीन है वही 'मुमुक्षु' है ॥ ४०८ ॥ जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहंकार-शून्य है, जो मान, मद व ईर्ष्या से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशंसनीय हैं और जो अपनी निन्दा व स्तुति में समान बुद्धि-युक्त (राग-द्वेष-शून्य) है, अर्थात्—जो अपनी निन्दा करनेवाले शत्रु से द्वेष नहीं करता और स्तुति करनेवाले मित्र से राग नहीं करता, अतः उसे 'समधी' कहते हैं ॥ ४०९ ॥

जो आगम के अनुसार मोक्षापयोगी तत्त्वों (जीवादि) को जानकर केवल उसी की एकमात्र भावना (चिन्तवन) करता है, उसे वाचंयम (मौनी) जानना चाहिए । जो पशु-सरीखा केवल भाषण-नहीं करता,

१. संवरणात् । २. पुण्यपापलक्षण । ३. ध्याने । ४. अनूचानः प्रवचने साहज्यधीती गणरथ स इति हेमः । 'अनूचानो विनीते स्यात् साङ्गवेदविचक्षणं'—इति मेदिनी ।

'योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्तः प्राद्वते पथि निष्ठितः । समस्तसर्वविद्यास्यः सोऽज्ञादबानिह गीयते ॥४१२॥
 तत्त्वं पुमान्मनः पुंसि^२ मनस्यक्षकदम्बकम् । यस्य युक्तं स योगी स्यात् परेच्छादुरीहितः ॥४१३॥
 कामः क्रोधो भवो माया लोभश्चेत्यग्निवच्छकम् । येनैवं साधितं स स्यात्कृतो पञ्चाग्निसाधकः* ॥४१४॥
 ज्ञानं ब्रह्म वयाब्रह्म ब्रह्म कामवित्प्रहः । सम्यग्ज्ञानं ब्रह्मधारा भवेन्नरः ॥४१५॥
 शान्तियोषिति यः सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः । स गृहस्थो भवेन्नरं मनोवैवतसाधकः ॥४१६॥
^३धाम्यमयं बहिष्वागतयः परित्यज्य संयमी । शान्तप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥४१७॥
 संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः । तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥४१८॥
 कर्मात्मनोर्विभेक्ता^४ यः क्षीरनीरसमाश्रयोः । भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवात्सर्बमक्षकः ॥४१९॥

वह मीनी नहीं है ॥ ४१० ॥ जिसका मन द्वादशाङ्ग श्रुत के अभ्यास में, अहिंसा-आदि व्रतों के पालन में, धर्मध्यान के चिन्तन में, प्राणि-संरक्षणरूप व इन्द्रिय-वशीकरणरूप संयम में और नियम (परिमित कालवाले भोगोपयोग वस्तु के त्याग) में और यम (आजन्म भोगोपभोग के त्याग) में अत्यधिक संलग्न रहता है, उसे 'अनूचान' (द्वादशाङ्ग श्रुत का वेत्ता) कहा गया है ॥ ४११ ॥ जो इन्द्रियरूपी चोरों पर विश्वास नहीं करता और शाश्वत कल्याणकारक रत्नत्रयरूप-मोक्षमार्ग में स्थित है एवं जो समस्त प्राणियों द्वारा विश्वास-योग्य है, उसे आगम में 'अन्ताश्वान्' कहा जाता है ॥ ४१२ ॥ जिसकी आत्मा मोक्षोपयोगी तत्त्व में लीन है, मन आत्मा में लीन है और जिसका इन्द्रिय-समूह मन में लीन है, वह योगी है, अर्थात्—जिसका इन्द्रियसमूह मन में, मन आत्मा में और आत्मा तत्त्व में लीन है, वह योगी है । किन्तु जो दूसरों वस्तुओं की चाहरूपी दुष्ट संकल्प से युक्त है, वह योगी नहीं ॥ ४१३ ॥ काम, क्रोध, मद, माया व लोभ ये पाँच प्रकार की अग्नियाँ हैं; अतः जिसके द्वारा ये पाँचों अग्नियाँ वय में की गई हैं, वही कृतकृत्य मुनि ही पञ्चाग्नि-साधक है, न कि बाह्य अग्नियों का उपासक ॥ ४१४ ॥ सम्यग्ज्ञान ब्रह्म है, प्राणिरक्षा ब्रह्म है, कामवासना के विशेष निग्रह को ब्रह्म कहते हैं । जो मनुष्य सम्यक् रूप से सम्यग्ज्ञान को आराधना करता है और प्राणिरक्षा में तत्पर रहता है एवं काम को जीत लेता है, वही 'ब्रह्मचारी' है ॥ ४१५ ॥ जो क्षमारूपी स्त्री में आसक्त है, अर्थात्—जो अहिंसक है, जिसे सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथि प्रिय है । अर्थात्—जो सदा शास्त्र-स्वाध्यायरूपी पात्र की आराधना करता है, तथा जो मनरूपी देवता की साधना करता है, वही सच्चा गृहस्थ है ॥ ४१६ ॥ जो साधु इन्द्रिय-समूह के बाह्य विषयों (स्पर्श-आदि) को अथवा टि० के अभिप्राय से मकान वगैरह बाह्य परिग्रह को तथा अन्तरङ्ग परिग्रह (रागद्वेष-आदि) को छोड़कर संयम धारण करता है उसे 'वानप्रस्थ' जानना चाहिए, किन्तु जो कुटुम्ब को लेकर घन में निवास करता है, वह वानप्रस्थ नहीं है ॥ ४१७ ॥

जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी तलवार से संसाररूपी अग्नि की शिखा विदीर्ण (नष्ट) की है, उसे आचार्यों ने 'शिखाच्छेदी' कहा है, केवल शिर घुटानेवाले को नहीं ॥ ४१८ ॥ संसार अवस्था में कर्म और आत्मा दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं, अतः जो साधु भेदज्ञान द्वारा दूध व जल-सरोखे संयोगसंबंध को प्राप्त हुए कर्म (ज्ञानावरण-आदि) व आत्मा को जुदा-जुदा करनेवाला है, वही 'परमहंस' साधु है । जो अग्नि-सरीखा

१. इन्द्रियचोरेषु । २. आत्मनि मनः । * तथा चोक्तं शास्त्रान्तरे—'उदरे गार्हपत्याग्निमंध्यदेशे तु दक्षिणः । आस्य आहवनीऽग्निश्च सत्यपर्वा च धूर्धनि । यः पश्चान्नीनिमान् वेद आहिताग्निः स उच्यते' । —गरुडपुराण ।
 ३. वास्त्वादि । ४. पुण्यं कर्त्ता ।

ज्ञानमनो वपुर्वृत्तं नित्यमस्मिन्निद्रियाणि च । तित्थं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥४२०॥
 पृथगेन्द्रियप्रवृत्त्याद्यास्तित्थयः पञ्च कीर्तिताः । संसाराध्यहेतुत्वास्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥४२१॥
 अत्रोहः सर्वसत्त्वेषु धनो यस्य विने विने । स पुमान्वीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः १ ॥४२२॥
 दुष्कर्मबुर्जनास्पर्शा सर्वसत्त्वहिताशयः । स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशोचवान् ॥४२३॥
 अग्न्यात्मनो दयामन्त्रः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् । यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेषकः ॥४२४॥
 भावपुष्पसंज्ञेहेतुं कृतपुष्पं दर्शयन् हन् । पञ्चतुर्गोत्रोऽग्निं यः प्रज्वालयति तस्य मृतः ॥४२५॥
 २ षोडशानामुवासात्मा यः प्रभुर्भावनस्त्वजाम्* । सोऽध्वर्युरिह योद्धव्यः शिवसर्माध्वरोद्भूतः ॥४२६॥

सर्वभक्षी है, अर्थात्—समस्त भक्ष्य व अभक्ष्य वस्तुओं को भक्षण करने वाला है, वह परमहंस नहीं है ॥ ४२० ॥
 जिसका मन सदा तत्त्वज्ञान से प्रदीप्त है, शरीर अहिंसादि व्रतों के धारण से प्रदीप्त है और जिसको इन्द्रियाँ सदा सेवनीय पदार्थों के त्याग से प्रदीप्त हैं वही 'तपस्वी' है, किन्तु केवल बाह्य वेष का धारक तपस्वी नहीं है, अर्थात्—जो नरन हाँकर पीछी व कमण्डल-आदि बाह्य वेष को धारण करता है, वह तपस्वी नहीं है ॥४२०॥
 पाँचों इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्तियाँ ही पाँच तिथियाँ कहीं गई हैं, जो कि संसार के आश्रय की कारण हैं; अतः जो इन तिथियों से मुक्त हो गया है, उसे 'अतिथि' कहते हैं। अर्थात्—पाँचों इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशीरूप पाँच तिथियाँ हैं, जो इनसे मुक्त हो गया अर्थात्—जिसने पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया, वही वास्तव में अतिथि है।

भाषार्थ—आहार-निमित्त आनेवाले साधु को अतिथि कहते हैं, क्योंकि जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं उसे लोक में अतिथि कहा है। ग्रन्थकार ने कहा है कि अतिथि शब्द का यह अर्थ लौकिक है। वास्तव में पाँचों इन्द्रियाँ ही पाँच तिथियाँ (द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी) हैं और जो इनसे मुक्त हो गया (जिसने पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया) वही साधु वास्तव में अतिथि है ॥४२१॥

समस्त प्राणियों को रक्षा करना ही जिसका दैनिक यज्ञ (पूजा) है, वह साधु पुरुष 'दीक्षितात्मा' है। जो बकरे-बगीरह प्राणियों का घातक है, वह दीक्षितात्मा नहीं है ॥ ४२२ ॥ जो पापकर्मरूपी दुर्जनों को स्पर्श करनेवाला नहीं है और समस्त प्राणियों का हित चाहता है, वह वास्तव में 'श्रोत्रिय' है, जो केवल बाह्य शुद्धि वाला है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ४२३ ॥ जो आत्मारूपी अग्नि में दयारूपी मन्त्रों के द्वारा कर्म (ज्ञानावरण-आदि) रूपी ईंधन-समूह को अच्छी तरह हवन करता है, वही सच्चा होता (होम करनेवाला) है; जो केवल बाह्य अग्नि में काष्ठ-समूह रखकर उसे प्रदीप्त करता है, वह होता नहीं है ॥ ४२४ ॥ जो विशुद्ध भावरूपी पुष्पों से देवपूजा करता है, अहिंसादि व्रतरूपी सुमनों से शरीररूपी गृह की पूजा करता है एवं क्षमारूपी पुष्पों से मनरूपी अग्नि की पूजा करता है, उसे सज्जनों ने यज्ञ (पूजा करनेवाला) माना है ॥ ४२५ ॥ जो महात्मा, तीर्थङ्कर प्रकृति की कारण सोलह कारण भावना (दर्शन-विशुद्धि-आदि) रूपी यज्ञ करानेवाले ऋत्विजों का स्वामी है और जो मोक्ष-सुखरूपी यज्ञ का उद्धारक है, उसे 'अध्वर्यु' समझना चाहिए ॥ ४२६ ॥ जो शरीर और आत्मा के भेद को विशेष रूप से ज्ञापन करता है, वह विद्वानों के लिए प्रीतिजनक सच्चा वेद है, परन्तु जो समस्त प्राणियों के क्षय का कारण है, वह वेद नहीं है।

१. छायादीनां घातकः । २. षोडश भावना एव ऋत्विजस्तेषां मध्येऽध्वर्युः यजुर्वेदज्ञाता मुख्यः आत्मा एव ।

*. 'यः प्रभुर्भावनस्त्वजाम्' क० ।

विवेकं वेदवेदुर्चर्यः शरीरशरीरिणोः । स प्रीत्यं विवृषां वेदो नाजितलक्ष्यकारणम् ॥४२७॥

जातिर्बरा मतिः पुंसां त्रयो संसृतिकारणम् । एषा त्रयो यतस्त्रय्याः^१ क्षीयते सा त्रयो मता ॥४२८॥

अहिंसः सव्रततो ज्ञानो निरीहो निष्परिग्रहः । यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु कातिमवाप्त्यसः ॥४२९॥

सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः । न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूषोज्ज्वलिता ॥४३०॥

स वीरो यः शिष्यज्ञाता स बौद्धो योऽन्तरात्मभूत्^२ । स सांख्यो यः प्रसंख्यावाप्त द्विजो यो न जन्मवान् ॥४३१॥

ज्ञानहीनो दुराचारो निर्वयो लोलुपाशयः । वानयोग्यः कथं स स्याद्यश्वाक्षामुमतक्षिपः^३ ॥४३२॥

‘अनुमान्या’^४ समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरो तथा । भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया^५ यतिद्वयसमाश्रया ॥४३३॥

भावार्थ—श्री भगवज्जिनसेनाचार्य* ने भी कहा है कि ‘निर्दोष (अहिंसा धर्म का निरूपण करने-वाला) द्वादशाङ्ग श्रुत ही वेद है, परन्तु प्राणि-हिंसा का समर्थक वाक्य (शास्त्र) वेद नहीं है, उसे तो कृतान्त की वाणी समझनी चाहिए’ ॥ ४२७ ॥

पुरुषों के जन्म, जरा व मरण ये तीनों संसार के कारण हैं, इस त्रयी (इन तीनों) का जिस रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य) रूपत्रयो से नाश हो वही त्रयी मानी गई है। अभिप्राय यह है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद को त्रयी कहते हैं किन्तु शास्त्रकार कहते हैं, कि जो संसार के कारण जन्म, जरा व मरण को नष्ट करने में समर्थ है, वही रत्नत्रय ही सच्ची त्रयी है ॥ ४२८ ॥ जो त्रयात् है समीचीन रूप से अहिंसा-आदि त्रयों का आचरण करता है, ज्ञानवान् है, निःस्पृही है एवं वाह्य (धन-धान्यादि) व अन्तरङ्ग (मिथ्यात्व-आदि) परिग्रहों से रहित है, वही साधु यथार्थ ब्राह्मण है, जो मनुष्य केवल जाति (ब्राह्मणत्व) के भेद से अन्धा है, वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ४२९ ॥ वही जाति परलोक के लिए उपयोगी है, अर्थात्—स्वर्ग आदि सुख को उत्पन्न करनेवाली है, जिससे प्रशस्त धर्म (सम्यग्दर्शन-आदि) की उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिसप्रकार भूमि के शुद्ध होने पर भी यदि वह धान्यादि के बीजों से रहित है तो वह धान्योत्पत्ति के लिए समर्थ नहीं होती उसी प्रकार प्रशस्त ब्राह्मणत्व-आदि जाति भी सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म-प्राप्ति के बिना स्वर्ग-आदि सुख को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ४३० ॥ जो शिव (कल्याणकारक मोक्ष या मोक्ष-मार्ग) का ज्ञाता है, वही शैव (शिव का अनुयायी) है। जो आत्मतत्त्व का ज्ञाता है, वही बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है एवं जो संसार में पुनः जन्मधारण करनेवाला नहीं है, वही द्विज (ब्राह्मण) है। अभिप्राय यह है कि जो कुलीन माता-पिता से उत्पन्न होकर उपनयन संस्कार-युक्त होकर गुरु के पादमूल में तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, जिसका द्वितीय संस्कार-जन्म हुआ है और पुनः जिनदीक्षा धारण करके कर्मों का क्षय करता है। अतः जिसे तीसरा जन्म धारण नहीं करना पड़ता वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ४३१ ॥ जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दयी है, विषय-लम्पट है और पाँचों इन्द्रियों के बश में है, वह आहार-आदि दान का पात्र कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसे निःकृष्ट मानव के लिए कभी दान नहीं देना चाहिए ॥ ४३२ ॥ देशविरत और सर्वविरत की अपेक्षा से भिक्षा के चार भेद हैं—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरीभिक्षा। टिप्पणीकार ने कहा है कि अनुमान्या भिक्षा दशप्रतिमा तक होती है। आमन्त्रणपूर्वक आहार को समुद्देश्य कहते हैं, अतः

१. सम्यक्त्वादेः । २. अन्तरात्मानं बुध्यतीति । ३. पञ्चेन्द्रियवशः । ४. दशप्रतिमापर्यन्तं । ५. आमन्त्रणपूर्विका षट्प्र-
तिमापर्यन्तं । ६. ब्रह्मचारि-मुनि ।

*. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषं । हिंसापदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥२२॥ —आदिपुराण पर्व० ३९

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

तद्यत्नमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रक्षीपमिव वेहम् । स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्र्यम् ॥४३४॥

‘गहनं’ * न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ।

तन्न २स्थास्तु विनाश्यं न नश्यरं शोध्यमिवमाहुः ॥४३५॥

‘प्रतिविद्यसं विजहद्वलमुज्जाद्भुतिं त्यजत्प्रतीकारम् । कपूरेव नृणां निगिरति * चरमचरिप्रोचितं समयम् ॥४३६॥

‘सविधा पापकृतेरिव’ * अनिताखिलकायकम्पनातङ्का । यमवृत्तीव वरा यवि समानता जीवितेषु कस्तर्थाः ॥४३७॥

दूसरी समुद्देश्या भिक्षा छठी प्रतिमा तक होती है और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक व ऐलक त्रिणुद्धा नाम की भिक्षा करते हैं तथा साधु आमरी भिक्षा करते हैं; क्योंकि मुनिजन दाताओं को वाधा न पहुँचाकर भँवरे की तरह आहार करते हैं; अतः उनकी भिक्षा का नाम आमरी है ॥ ४३३ ॥

इसप्रकार श्रीमत्सोमदेवमूरि के उपासकाध्ययन में मुनि के नामों की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या को बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब समाधिमरण की विधि का निरूपण करते हैं—]

वृक्ष के पके हुए पत्ते-सरीखा या तैल-रहित दीपक-सरीखा शरीर को स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर समाधिमरण करना चाहिए ॥ ४३४ ॥ आचार्यों ने कहा है कि शरीर का त्याग करना आश्चर्य-जनक नहीं है किन्तु लोक में संयम-धारण करना आश्चर्य-जनक है; अतः यदि शरीर स्थिर-शील है तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि विनाश-शील हो तो उसके नष्ट होने में शोक नहीं करना चाहिए ॥ ४३५ ॥

[अब समाधिमरण का समय बताते हैं—]

जब शरीर प्रतिदिन क्षीण शक्तिवाला हो जाय और जिसने आहार-ग्रहण छोड़ दिया हो एवं जब उसकी रक्षा के उपाय (औषधादि) व्यर्थ हो जाय तब स्वयं शरीर ही मनुष्यों को कह देता है, कि अब समाधि-मरण का समय आ गया है ॥ ४३६ ॥ जब मानवों को यमराज की दूती-सरीखी वृद्धावस्था आ जाय, जो कि समस्त शरीर में कम्पन व व्याधि को उत्पन्न करनेवाली है और जो ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—पापकार्य की निकटवर्तिनी ही है—तब उन्हें जोवन की लालसा क्यों करनी चाहिए ? अर्थात्—उम समय गृहस्थ या मुनि को जीवन की अभिलाषा छोड़ देनी चाहिए ॥ ४३७ ॥ वृद्धावस्था द्वारा कानों के समीपवर्ती श्वेत बालों को

१. तथा च विद्वान् आशाधरः—

‘गहनं न तनोर्हानं पुंसः कित्त्वच संयमः । योगानुभूतेर्व्यवृत्त्य तदात्माश्रमनि युज्यताम्’ ॥२४॥ —सागार० अ० ८ ।

*. आश्चर्यं न शरीरमोचनं ।

२. तथा च गं० आशाधरः—

‘न धर्मसाधनमिति स्थास्तु नाश्वं वपुर्बुधैः । न च केनाऽपि नो रक्ष्यमिति शोष्यं विनश्यरं ॥१॥ —सागार० अ० ८ ।

३. तथा च श्रीमद्विद्यानन्दि आचार्यः—

मरणसंवेतनाभावे कथं सल्लेखनायां प्रपन्न इति चेन्न, जरारोगेन्द्रियहानिभिरावयकपरिणामसंप्राप्ते यत्तस्य स्वगुण-रक्षणे प्रयत्नान् ततो न सल्लेखनात्मकः प्रयत्नस्य विशुद्धभंगत्वात्तपश्चरणादिवत् । —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० ७

सूत्र २२ पृ० ४६७ की अन्तिम ल० १ तथा पृ० ४६८ की शुद्ध की १३ लकीर । *. मरणावसरं । ४. समीपवर्ति-नीव । *. ‘सविधापापकृतेरिव’ क० । ५. का तृष्णा ? ।

- ^१कर्णात्तिकेशपाशग्रहणाविधिर्बोधितोऽपि यदि जरया । स्वस्थ हितधी न भवति तं किं मृत्युर्न संप्रसते ॥४३८॥
^२उपवासादिभिर्हृते कषायक्षोभे च बोधिभावनया । कृतसंस्मरणमकर्म प्राप्य यतेत गणमध्ये ॥४३९॥
 यमनिग्रमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनाविधिर्दानम् । एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥४४०॥
^३त्रावशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत् । किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यतेः पुराचरितम् ॥४४१॥
^४स्नेहं विहाय बन्धुषु मोहं विमर्शेषु कलूपतामहिते ।
 गणिनि च निवेद्य निखिलं कुरीहितं तदनु भजतु विधिमुचितम् ॥४४२॥

पकड़कर समझाये जाने पर भी वृद्ध पुरुष यदि आत्मकल्याण का इच्छुक नहीं होता तो क्या उसे मृत्यु अपने मुख का कौर नहीं बनाती ?

भावार्थ—वृद्धावस्था के बाद मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होना निश्चित है; अतः वृद्ध को आत्मकल्याण में ही प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है, न कि जीवन की लालसा रखना ॥ ४३८ ॥

समाधिमरण की विधि

ऐसे साधु या आचक को, जिसने उपवास-आदि द्वारा अपना शरीर कुश (क्षीण) किया है और रत्नत्रय की भावना द्वारा कषाय रूप दोष कुश किये हैं, मुनिसंघ के समक्ष आहार के त्याग के लिए प्रयत्न करना चाहिए । अर्थात्—श्रावज्जीवन या काळ की अवधि पर्यन्त आहार का त्याग करना चाहिए ॥ ४३९ ॥ यदि अन्तसमय (मरणवेला) में मन मलिन रहा तो जीवनपर्यन्त किये हुए यम (ब्रह्म व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और धर्मध्यान), नियम (अहिंसादि), शास्त्र-स्वाध्याय, इच्छातिरोध लक्षणवाला तप, देवपूजा व पात्रदान-आदि समस्त धार्मिक अनुष्ठान निष्फल हैं ॥ ४४० ॥ जैसे कोई राजा, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त शस्त्रविद्या (शस्त्रों का संचालन-आदि) का अभ्यास किया है, यदि युद्धभूमि पर शत्रु के प्रति कायरता दिखाता है तो उसकी शस्त्रविद्या निष्फल है वैसे ही साधु भी, जिसने पहले जीवनभर गदाचार व तत्त्वज्ञान-आदि का अभ्यास किया, यदि मृत्यु के अवसर पर समाधिमरण से विमुख हो गया तो उसका पूर्वकालीन समस्त धार्मिक अनुष्ठान व्यर्थ है ॥ ४४१ ॥ बन्धुजनों से स्नेह, धनादि वैभव से मोह और शत्रु के प्रति कलुपता को छोड़कर समस्त दोषों का आचार्य से निवेदन करे और उसके बाद समाधिमरण की योग्य विधि का पालन

१. पलितकेशाः किल पूर्वं कर्णसमीपे दृश्यन्ते ।

२. तथा चाह पं० आशाधरः—

‘उपवासादिभिः कार्यं कषायं च श्रुतामृतैः । संतिलिख्य गणिमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमो’ ॥१५॥ सागार० अ० ८ ।

३. मरणाय । ४. तथा चाह पं० आशाधरः—

‘नृपस्यैव यतैर्धर्मो विरमम्यस्तिनोऽस्त्रवत् । युधीव स्तब्धचित्तो मृत्यौ स्वार्थभ्रंजोऽयजः कटु ॥१७॥ —सागार० अ० ८ ।

५. तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

‘स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः । स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्या क्षमयेत् प्रियैर्बन्धनैः ॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेतः कृत्रकारितमनुमतं च निर्व्याजम् । आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥’

—रत्नकरण्ड श्र० ।

*अशनं कसेण हेयं स्निग्धं पानं ततः सरं^१ चैव । तदनु च सर्वनिवृत्तिं कुर्याद्विगुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः ॥४४३॥

*कदलीघातवदायुधि^२ कृतिनां सकृदेव विरतिमुपयाति । तत्र पुनर्नैव विधियंद्देवे^३ क्रमविधिर्नास्ति ॥४४४॥

सूरी प्रवचनकुशले साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे । वित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं यतेरस्ति ॥४४५॥

*जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधिः । एते सनिधाताः स्युः सल्लेखमहानये पञ्च ॥४४६॥

करे ॥ ४४२ ॥ धीरे-धीरे अन्न का त्यागकर दूध व मट्ठा रख लेवे फिर उन्हें भी छोड़कर गर्म जल रख लेवे, उसके बाद पञ्चनमस्कारमन्त्र के स्मरण में लीन होकर सब कुछ छोड़ देना चाहिए ॥ ४४२ ॥ जब किन्हीं पुण्यवात् पुण्य की आयु कटे हुए केले की तरह एक साथ ही समाप्त होती हो, अर्थात्—शत्रु, विष व अग्नि-आदि द्वारा एकबार में ही नष्ट हो जाय तो वहाँ समाधिसमरण की यह क्रमिक विधि नहीं है; क्योंकि देव (भाग्य) की प्रतिकूलता में क्रमिक विधान नहीं बन सकता । अर्थात्—भाग्य की प्रतिकूलता से होनेवाले कदलीघातमरण में यह विस्तृत सन्यास-विधि नहीं होती, किन्तु उस अवसर पर सर्वसन्यास (समस्त चारों प्रकार के आहार का त्याग) विधि होती है ॥ ४४४ ॥

जब समाधिसमरण करनेवाले साधुओं परितः देव में कुत्सित हों और साधु-समूह सन्यासविधि में प्रयत्नशील हो एवं समाधिसमरण करनेवाले का मन ध्यान में अनुरक्त हो तो समाधिसमरण करनेवाले साधु को लोक में कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ४४५ ॥ सल्लेखनादृत की शक्ति करनेवाले निम्नप्रकार पाँच अतिचार हैं— जीने की इच्छा करना, मरण की इच्छा करना, मित्रों के साथ अनुराग प्रकट करना, पहले भोगे हुए भोगों का

*. तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

‘आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम् । स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥१२७॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्यम् । पञ्चनमस्कारमनास्तमुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥१२८॥’

—रत्नकरण्ड भा० ।

१. खरपानं । *. ‘कदलीघातवदायुः’ ग० । ‘कदलीघातवदायुधि’ मृ०, क०, ख०, घ० । विमर्शः—अयं पाठः समीचीनः ।

—सम्पादकः ।

२. उपयाति शक्ति को विरति अन्नपानादिविरति कथं ? सकृदेव एकहेलमा, मुकृतिनां पुण्यवतां कदलीघातवदायुधि— भवा वैरविषमन्याविकेन मरणमायाति तदा एवं वदति मम सर्वसन्यासः तत्र पुनः कदलीघातमरणे एतः विस्तर-सन्यासविधिर्न भवति ।

३. यतो दैवे क्रमविधिर्नास्ति ।

तथा चाह पं० आशाश्ररः—‘गुणापवर्तकवशात् कदलीघातवत् सकृत् । विरमत्यायुधि प्रायसविचारं समाचरेत् ॥११॥’

—सागर० अ० ८ ।

४. आचार्ये । *. न किमपि । ५. यदि स्तोकं कालं जीव्येत तदा भव्यमिति जीवितार्शसा । यदि शीघ्रं श्रियते तदा भयं किमपि दुःखमनुभूयते, इति मरणाशंसा—आच्छा, यदि स आयाति तदाश्वं सन्यासः सफलः कथयति । यदि सुखेन श्रियते तदा भव्यमिति चिन्तयति ।

तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्यः—‘जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि’ ॥ ३७ ॥

—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ ।

तथा चाह श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः—

‘जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिवासनामानः । सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥’—रत्नकरण्ड ।

आराध्य रत्नत्रयमित्यमर्था समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।

समाधिभावेन कृतात्मकार्यः कृतो जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥४४७॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ।

अथ प्रकीर्णकम् ।

१ विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिदत्तं प्रकीर्णकम् । उक्तानुक्तामृतस्यन्वविन्दुस्वादनकोषिदैः ॥४४८॥

अनुर्जनत्वं विनयो विवेकः परीक्षणं तस्यवित्तित्वयश्च ।

एते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्धर्मकथापरः स्यात् ॥४४९॥

असूयकरं कठताडविचारो दुराग्रहः सूक्तविमानना च । पुंसामसौ पञ्च भवन्ति दोषास्तस्यावबोधप्रतिबोधमाय ॥४५०॥

कुंसी यथा संशयिताशयस्य वृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ।

धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ॥४५१॥

स्मरण करना और आगामी भोगों की इच्छा करना ॥ ४४६ ॥ इसप्रकार रत्नत्रय को आराधना करके आचार्य के अधीन होकर उनकी आज्ञा के अनुसार चलनेवाला समाधिमरण का इच्छुक, जिसने यथाविधि धर्मध्यान परिणति से समाधिमरण किया है, पुण्यात्मा पुरुष जगत्पूज्य तीर्थङ्करपद का स्वामी हो जाता है ॥ ४४७ ॥

इसप्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन में सल्लेखनाविधि नामक पैंतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब कुछ सुभाषितों का कथन करते हैं—]

उपदिष्ट व अनुपदिष्ट सुभाषितरूपी अमृत से श्रवण करनेवालीं विन्दुओं के आस्वादन करने में चतुर विद्वानों ने, शास्त्रों में विस्तृत हुए सार्थक सुभाषित वचनों के कथन करने को प्रकीर्णक कहा है ।

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री^१ ने कहा है कि 'जो समुद्र सरीखे विस्तृत सुभाषितरूपी रत्नों की रचना का स्थान है, उसे प्रकीर्णक कहते हैं।' अर्थात्—जिसप्रकार समुद्र में फैली हुई प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती है उसीप्रकार प्रकीर्णक काव्यरूपी समुद्र में भी फैली हुई सुभाषित काव्यरूपी रत्न-राशि पाई जाती है ॥ ४४८ ॥

धर्म कथा करने का पात्र

वही विशिष्ट आश्मा धर्मोपदेश देने में तत्पर होता है, जिसमें ये पाँच गुण वर्तमान हों—सज्जनता, विनय, सद्बुद्धि, परीक्षा और मोक्षोपयोगी तत्त्वों का निश्चय ॥ ४४९ ॥

तत्त्वज्ञान में बाधक दोष

मानवों के निम्नप्रकार पाँच दोष तत्त्वज्ञान में बाधक हैं—दूसरे के गुणों में मात्सर्य करना, दुष्टता, हिताहित का विचार न होना, दुराग्रह (हठ-ग्रहण) और हितकारक उपदेश का अनादर करना ॥ ४५० ॥

संशयालु की असफलता

जैसे लौकिक कार्यों (व्यापार-आदि) में संदिग्ध अभिप्रायवाले मानव की कोई भी लौकिक प्रवृत्ति सफल नहीं देखी गई उसीप्रकार धर्म के स्वरूप में संदिग्ध बुद्धिवाले मानव की कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति सफल नहीं होती ।

१. विशिष्टानां पूर्वोक्तानां । २. तथा च सोमदेवसूरिः—'समुद्र इव प्रकीर्णकयुक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकम् ।'

नीतिवाक्यामृत (भा० टी० समेत) पृ० ४११

*जातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोषले । उदात्तग्रहपुत्रोत्प्रेकं^१ सवधस्मयमानसाः ॥४५२॥

यो मदाहसमयस्थानामवह्लादेन^२ मोचते । स नूनं धर्महा यस्मात्त धर्मो धार्मिकैर्विना ॥४५३॥

देवसेवा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः । दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥४५४॥

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तपः^३ । षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवाभु गेहिनाम् ॥४५५॥

आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् । सत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥४५६॥

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री ने कहा—‘सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः’ अर्थात्—‘सभी स्थानों में संदेह करनेवालों के कार्य सिद्ध नहीं होते’—(नीतिवाक्यामृत सदाचारसमुद्देश सूत्र ५३ पृ० ३४३ हमारी भाषा टीका) अतः विवेकी गुरुषु को कार्य-सिद्धि के लिए सभी स्थानों में संदेह नहीं करना चाहिए ॥ ४५१ ॥

मदों का निषेध

गर्व-रहित मनोवृत्तिवाले (विनयशील) आचार्य, जाति (माता के वंश की शुद्धि), प्रतिष्ठा, कुल (पिता की वंश-शुद्धि), विद्या, लावण्य, सम्पत्ति, तप व दान इनके गर्वोद्रेक (विशेष अहंकार) को मद या घमण्ड कहते हैं ॥ ४५२ ॥ जो मानव घमण्ड में आकर अपने साधर्मि जनों की निन्दा करके हर्षित होता है वह निश्चय से धर्म-घातक है; क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं है ॥ ४५३ ॥

गृहस्थ के छह कर्तव्य

देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के छह धार्मिक कर्तव्य हैं, जो कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए ॥ ४५४ ॥

देवपूजा की विधि

सज्जनों ने गृहस्थों के लिए देवपूजा के विषय में छह धार्मिक क्रियाएँ कहीं हैं—पूर्व में अभिषेक, पुनः पूजन, पश्चात् भगवान् के गुणों का स्तवन, पुनः पञ्चनमस्कार मन्त्र-आदि का जाप पश्चात् ध्यान और अन्त में श्रुतदेवता की आराधना (स्तुति) । अर्थात्—इस क्रम से जिनेन्द्रदेव की आराधना करनी चाहिए ॥ ४५५ ॥

कल्याण-प्राप्ति के उपाय

आचार्यों की पूजा करना, देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा, शास्त्रों में कहे हुए मोक्षोपयोगी तत्त्वों का ज्ञान और शास्त्र-विहित क्रियाओं का आचरण ये सब कर्तव्य-समूह कल्याण की प्राप्ति करनेवाले हैं ॥ ४५६ ॥

*. तथा च श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः—

‘ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टाधाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥

स्मयेन धोऽज्यातयेति धर्मस्थान् गविताशयः । सोऽप्येति धर्ममास्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥’ —रत्नकरण्ड० ।

१. गर्वोद्रेक । २. निन्दया । ३. श्रुताराधनमित्यर्थः ।

गुचिविनयसंपन्नस्तु वापलुधजितः । *अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥४५७॥

अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु । अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥४५८॥

शिष्य-कर्तव्य

अपने कल्याण के इच्छुक शिष्य को बाह्य व आभ्यन्तर बुद्धि से युक्त होकर शारीरिक चञ्चलता छोड़ते हुए विनयपूर्वक गुरु के समीप अष्ट दोषों (अकाल, अविनय, अनवग्रह, अबहुमान, निह्व, अव्यञ्जन, अर्धविकल और अर्थव्यञ्जनविकल) को टालकर आगम का अध्ययन करना चाहिए ।

भाषार्थ—ज्ञान की आराधना के आठ दोष होते हैं । अकाल व अविनय-आदि । अकाल (सूर्य-ग्रहण-आदि में पढ़ना), अविनय (विनयपूर्वक अध्ययन न करना), अनवग्रह (पढ़े हुए आगम के विषय को अवधारण न करना), अबहुमान (गुरु का आदर न करना), निह्व (जिनसे पढ़ा है, उनका नाम छिपाना), अव्यञ्जन (शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिक को छोड़ जाना), अर्धविकल (शास्त्र का अर्थ ठीक न करना), और अर्थव्यञ्जन विकल (न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना) । साधु शिष्य को आचार्य व उपाध्याय परमेश्वरी के पास इन आठ दोषों को टालकर आगम का अध्ययन व भजन-आदि करना चाहिए ।

इसी प्रकार गुरु के पादमूल में श्रुताभ्यास करनेवाले भञ्जन शिष्य को विनयशील होना चाहिए । नीतिकार आचार्यश्री ने विनय के विषय में कहा है—‘व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥ ६ ॥ पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं भक्तपुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥ ७ ॥’—नीतिवाक्यामृत पुरोहितसमुद्देश पृ० २११-२१२ । अर्थात्—व्रत-पालन—अहिंसा, सत्य व अचौर्य-आदि सदाचार में प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन व आयु में बड़े पुरुषों के साथ नमस्कारादि नम्रता का वर्तव्य करना विनय गुण है । सारांश यह है कि व्रती, विद्वान् व वयोवृद्ध माता-पिता-आदि पुरुष, जो कि क्रमशः सदाचार-प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन व हित-चिन्तन-आदि सद्गुणों से विभूषित होने से श्रेष्ठ हैं, उनकी विनय करना विनयगुण है । क्योंकि व्रती महापुरुषों की विनय से पुण्यप्राप्ति, विद्वानों की विनय से शास्त्रों का वास्तविक स्वरूपज्ञान एवं माता-पिता-आदि हितैषियों की विनय से शिष्ट पुरुषों के द्वारा सन्मान प्राप्त होता है । इसी प्रकार शिष्य-कर्तव्य का निर्देश करते हुए आचार्यश्री ने कहा है—‘अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥ १८ ॥’—नीतिवाक्यामृत पुरो० पृ० २१३ । अर्थात्—शिष्य को विद्याध्ययन करने के सिवाय दूसरा कार्य, शारीरिक व मानसिक चपलता तथा चित्तप्रवृत्ति को अन्मग्न ले जाना ये कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेवाला शिष्य मूर्ख रह जाता है ॥ ४५७ ॥

स्वाध्याय का स्वरूप

चार अनुयोगों (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग) के शास्त्र तथा गुणस्थान (मिथ्यात्व-आदि) और मार्गणास्थान (गति व इन्द्रिय-आदि चौदह मार्गणास्थान) के निरूपक शास्त्रों का एवं अध्यात्मतत्त्वविद्या का यथाविधि पढ़ना स्वाध्याय है । ॥ ४५८ ॥

१. शरीर । * १. अकाल, २. अविनय, ३. अनवग्रह, ४. अबहुमान, ५. निह्व, ६. अव्यञ्जन, ७. अर्धविकल, ८. अर्थव्यञ्जनविकल हरमण्टी श्लोकाः टि० ख० । ‘अकालाध्ययनावि’ टि० घ० ।

गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः । 'प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरिताश्रयः ॥४५९॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् । 'शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥४६०॥
ममेवं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः । इत्यमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगद्वयणाश्रितः ॥४६१॥
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्माद्यबोधनम् । अन्धमोक्षलताचेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥४६२॥
'जीवस्थान' गुणस्थान' मार्गणास्थानगो विधिः । चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येकं पद्याणामम् ॥४६३॥

प्रथमानुयोग का स्वरूप

धर्म-बुद्धि गृहस्थ जिससे अपना सिद्धान्त भलीभाँति जानता है, वह प्रथमानुयोग है, जो कि पुराण के आधारवाला और चरित के आधारवाला है, अर्थात्—जिसमें चौबीस तीर्थङ्कर-आदि तिरैसठ शलाका के पूज्य महापुरुषों का चरित्र अथवा किसी एक पूज्य पुरुष का चरित्र उल्लिखित होता है ॥ ४५९ ॥

करणानुयोग का स्वरूप

अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक में पाई जानेवाली चारों गतियों का विचार जिसमें किया गया हो उसको विद्वानों ने करणानुयोग कहा है । यह दूसरे अनुयोगों की परीक्षा करनेवाला है ॥ ४६० ॥

चरणानुयोग का स्वरूप

यह मेरा अणुलत व महाप्रतात्मक कर्तव्य कर्म (आधरण) है और उसके संरक्षण व संवर्धन का यह क्रम है, अर्थात्—अतीचारों के त्याग से व्रतों का संरक्षण होता है और भावनाओं से व्रत वृद्धिगत होते हैं, इसप्रकार आत्मा के चरित्र का निरूपण जिसमें किया गया हो, वह चरणानुयोग है ॥ ४६१ ॥

द्रव्यानुयोग का स्वरूप

द्रव्यानुयोग से विवेकी पुरुष को जीव और अजीव द्रव्य का ज्ञान होता है, धर्म, अधर्म, बन्ध एवं मोक्षतत्त्व का ज्ञान होता है ॥ ४६२ ॥

जीवसमास-आदि जानने योग्य तत्त्व

जीवसमास (एकेन्द्रिय-आदि), गुणस्थान (मिथ्यात्व-आदि) व मार्गणास्थान (गति व इन्द्रिय-

१-४. तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यातं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बाविसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

लोकालोकविभक्त्युपपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथासतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥

गृहमेध्यनमाराणां चारित्र्योत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् । चरणानुयोगसमयं सम्पराज्ञानं विजानाति ॥४५॥

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकभातगुते ॥४६॥ अरत्नकरः ॥

५. वादरगृहमेहन्द्रिय वित्तचउरिन्द्रिय असण्णिसण्णीय । पज्जत्ताअपज्जत्ता भूदा इदि चसदसा होंति । अर्थात्—

एकेन्द्रियाः सूक्ष्मवादरभेदेन द्विविधाः, विकलेन्द्रियास्त्रयः, पञ्चेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च । एते सप्त पर्यामेतरभेदेन चतुर्दशजीवस्थानानि भवन्ति । ६. मिथ्यादृष्टि, मासादन, मिथ्य, अमंयतसम्पदृष्टिः, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपुर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, मुक्षसाम्पराय, उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय, संयोगकेवली व अयोगकेवली, इति चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति । ७. गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेष्या, मग्नत्व, सम्पत्त्व, संज्ञि, आहारक भेदेन चतुर्दश मार्गणास्थानानि भवन्ति ।

^१आवितः पञ्च तिर्यसु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः । गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥४६४॥

^२अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम् । तच्छ मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥४६५॥

अन्तर्बहिर्मलप्लोषा^३ वाश्मनः शुद्धिकारणम् । शरीरं मानसं कर्म तपः प्रातुस्तपोधनाः ॥४६६॥

कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् । संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः धर्मिषुभिच्छताम् ॥४६७॥

आदि) प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद हैं, इनका स्वरूप आगमों से जानना चाहिए ।

भावार्थ—जीवसमास के चौदह भेद हैं—एकेन्द्रिय सूक्ष्म व वादर, दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सेनो पंचेन्द्रिय व असेनी पंचेन्द्रिय । ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह होते हैं, इसप्रकार जीव-समास के चौदह भेद हैं ।

इसीतरह गुणस्थान भी चौदह हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्त-विरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, मयोगकेवली व अयोगकेवली । जिनमें संसारी जीव अन्वेषण किये जाते हैं, उन्हें, मार्गणास्थान कहते हैं । उनके भी चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, भेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेदया, भव्य, सम्पक्त्व, संज्ञो और आहार मार्गणा ॥ ४६३ ॥

चारो गतियों में होनेवाले गुणस्थान

तिर्यञ्चगति में तिर्यञ्चों के शुरु से पाँच गुणस्थान होते हैं । नरकगति के नारकियों में और देवगति के देवों में पहले के चार गुणस्थान होते हैं और मनुष्यों में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं ॥ ४६४ ॥

तप का स्वरूप

अपनी शक्ति न छिपानेवाले विवेकी मानव द्वारा जो काय-क्लेश (शारीरिक कष्ट) किया जाता है, उसे तप कहा गया है, किन्तु वह जैनमार्ग के अनुकूल होने से ही गुणकारक होता है, यह जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥ ४६५ ॥ अथवा तपोनिधियों ने ऐसी शारीरिक क्रिया (उपवास-आदि) व मानसिक क्रिया (प्रायश्चित्त-आदि) को तप कहा है, जो कि अन्तरङ्ग (रागादि) व बहिरङ्ग मल के सन्ताप से सन्तप्त हुई आत्मा को शुद्धि में कारण है ॥ ४६६ ॥

संयम का स्वरूप

कषायों का निग्रह, इन्द्रियों का जय, मन, वचन व काय का कुटिल प्रवृत्ति का त्याग तथा अहिंसादि

१. तथा चाह पूज्यपादः—‘गस्थनुवादेन नरकगती सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्यग्गतौ ताभ्येव संयतासंयतस्थानाधिकारिणः सन्ति । मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । देवगती नारकवत् ।’

—सर्वाधिसिद्धि सूत्र ८ (सत्संख्या०) पृ० १२ ।

२. तथा चाह पूज्यपादः—‘अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः’ ।

—सर्वाधिसिद्धि अ० ६ सूत्र २४ पृ० १९७ ।

तथा च श्रीमद्विद्यामन्दिआचार्यः—‘अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः । कायक्लेशः समाख्यातं विष्टुष्टं शक्तितस्तपः

॥ ९ ॥—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० ४५६ । ३. दाहात् ।

अस्यायमर्थः—कषण्ति संतापयन्ति दुर्गतिं सङ्गसंपादनेनात्मानमिति कषायाः^१ क्रोधादयः । अथवा यथा विशुद्धस्थ वस्तुनां सौम्यतोषादयः^२ उदायः कलुषाणां रिपयः, तथा निर्दिष्टरात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात् कषाया इव कषायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरेपायोपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः । विद्याविज्ञानैश्वर्यविभिः पूज्यपूजा-
ध्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिवर्धनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । ममोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभि-
प्रायेण प्रवृत्तिः कषातिपूजाभावाद्यभिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्मभेदं भावस्तदभिवृद्धि-
विभाजयोर्महान्संतोषोऽसंतोषो वा लोभः ।

श्रुतों का पालन करना इसे संयमी आचार्यों ने संयम कहा है, यह संयम धर्म शाश्वत कल्याण-प्राप्ति के इच्छुक (मोक्षामिलायी) साधुजनों के होता है ॥ ४६७ ॥

[अब इसका स्पष्ट विवेचन करते हैं—]

जो आत्मा को दुर्गति में लेजाकर दूःखित करती हैं, उन्हें (क्रोधादि को) कषाय कहते हैं । अथवा जैसे वटवृक्ष-आदि के कसेले रस विशुद्ध वस्तु को कलुषित (मलिन) करनेवाले हैं वैसे ही क्रोधादि कषाय भी विशुद्ध आत्मा को कलुषित (मलिन) करने में कारण हैं; अतः कसेले रस-सरीखी होने के कारण इन्हें कषाय कहते हैं । वे कषाय चार प्रकार की हैं—क्रोध, मान, माया व लोभ ।

क्रोध—अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसरों का नाश (घात) होना या नाश करना क्रोध है, अथवा अशुभभावों का उत्पन्न होना क्रोध है । मान—विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य-आदि के घमण्ड में आकर पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लङ्घन करना, अर्थात्—उनका आदर-सत्कार न करना मान है । अथवा युक्ति दिखा देनेपर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ना मान है ।

माया—दूसरों को धोखा देने के अभिप्राय से अथवा अपनी कीर्ति, आदर-सत्कार और धनादि की प्राप्ति के अभिप्राय से मन, वचन व काम की कुटिल प्रवृत्ति करना माया है ।

लोभ—चेतन स्त्री पुत्रादिक में और अचेतन घन व धान्यादि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इसप्रकार की चित्त में उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते हैं । अथवा इन पदार्थों की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और इनके विनाश होने पर जो महान् असन्तोष होता है उसे लोभ कहते हैं ।

कषायों के भेद

इसप्रकार ये चार कषाय हैं । इनमें से प्रत्येक को चार-चार अवस्थाएँ हैं—अनन्तानुबन्धिक्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ।

१. तथा चाह श्रीपूज्यपादः—'कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तेषां चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्या-
ख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति । अनन्तसंसारकारणत्वाग्निमयादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानु-
बन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्देशाविरतिं मयमासंयमाख्यामल्पापि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानाभा-
वृष्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः 'क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्विरतिं कुत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कुत्स्नं
प्रत्याख्यानाभावृष्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । समेकीभावे वर्तते । संयमेन सहावस्थानादकीभूय-
ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्यपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः । —सर्वार्थसिद्धि अ० ८-९ पृ० २२७-२२८ ।

२. निग्रोधस्थेमे नैयग्रोक्षाः वटजाः ।

सम्यक्त्वं अनन्तयन्तानुबन्धनस्ते कषायकाः । अप्रत्याख्यातकषायश्च देशव्रतविघातिनः ॥४६८॥
 प्रत्याख्यातस्वभावाः स्युः ^१सम्यक्स्थ विनाशकाः । चारित्र्ये तु यथाख्याते कुर्युः संश्रवणाः क्षतिम् ^२ ॥४६९॥
 पाषाणधूरजोवारिलेखा ^३प्रहस्यस्वभावाश्च । कोषो यथाक्रमं गत्यै श्वघ्नतिर्यङ्मृत्नाकिनाम् ॥४७०॥
 शिलास्तम्भास्थि ^४साह्रैश्च घेधवृत्तिद्वितीयकः । अथःपशुनरस्वर्गगतिसंगतिकारणम् ॥४७१॥
 वेणुमूलरजाभृङ्गगोमूर्च्छाचामरैः समाः । माया तथैव जायेत चतुर्गतिवित्तीर्णये ॥४७२॥
 किमिनीलीवपुल्लेपहरिप्रारागसन्निभः । लोभः कस्य न संजातस्तत्संसारकारणम् ॥४७३॥

कषायों का स्वरूप

इनमें से जो सम्यक्त्व गुण का घात करती हैं, अर्थात्—सम्यग्दर्शन को नहीं होने देती, उन्हें अनन्तानुबन्धि कषाय कहते हैं । जो सम्यक्त्व का घात न कर श्रावकों के देशव्रत (एकदेश चारित्र्य) को नष्ट करती हैं, वे अप्रत्याख्यातकषाय हैं । जो कषाय सम्यग्दर्शन व देशव्रत को न घातकर मुनियों के सर्वदेश चारित्र्य को घातती हैं, उन्हें प्रत्याख्यातकषाय कहते हैं । एवं जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्र्य को नहीं होने देती वे संश्रवण कषाय हैं ॥ ४६८-४६९ ॥

शक्ति की अपेक्षा कषायों के भेद

चारों लोभ-अवि कषायों में दो प्रस्तेज के शक्ति की अपेक्षा से भी चार-चार भेद हैं । पत्थर की लकीर-सरीखा क्रोध, पृथिवी की लकीर-सा क्रोध, धूलिकी लकीर-सा क्रोध और जलकी लकीर-सा क्रोध । इनमें से पत्थर की लकीर-सरीखा उत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध जीव को नरकगति में ले जाता है । पृथिवी की रेखा-सा क्रोध जीव को तिर्यञ्च गति में ले जाता है । धूलि की रेखा-जैसा क्रोध जीव को मनुष्यगति में ले जाता है और जलरेखा-सा जघन्य शक्तिवाला क्रोध जीव को देवगति में ले जाता है ॥ ४७० ॥

मान कषाय के भी शक्ति की अपेक्षा चार भेद हैं—पत्थर के खम्भे के समान, हड्डी के समान, गोली लकड़ी के समान और वेत के समान । जैसे पत्थर का खम्भा कभी नहीं नमता वैसे ही जो मान जीव को कभी विनीत नहीं होने देता, वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान जीव को नरकगति में जाने का कारण है । हड्डी-जैसा मान जीव को तिर्यञ्च गति में ले जाने का कारण है । थोड़े समय में नमने-योग्य गोली लकड़ी-जैसा अनुत्कृष्ट शक्ति वाला मान जीव को मनुष्य गति में उत्पन्न होने का कारण है और जल्दी नमने-लायक वेत-सरीखा मान जीव को देवगति में ले जाने का कारण है ॥ ४७१ ॥

इसी तरह बाँस की जड़, बकरी के सींग, गोमूत्र और चामरों-जैसी माया क्रमशः चारों गतियों में उत्पन्न कराने में निमित्त होती है । अर्थात्—जैसे बाँस की जड़ में बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं वैसे ही प्रचुर छल-छिद्रों वाली व उत्कृष्ट शक्ति वाली माया जीव को नरकगति की कारण है । बकरी के सींगों-सरीखी कुटिल माया तिर्यञ्चगति की कारण है और गोमूत्र-जैसी कम कुटिल माया मनुष्यगति की कारण है और चामरों-सरीखी माया देवगति की कारण है ॥ ४७२ ॥

किरमिच के रंग, नील के रंग, शरीर के मल और हल्दी के रंग-सरीखा लोभ शेष कषायों की तरह किस जीव के संसार का कारण नहीं होता ? अर्थात्—किरमिच के रंग-जैसा पक्का तीव्र लोभ नरकगतिरूप

किं च । यथौषधश्रिया रिक्ता रोगिणोऽप्यसेविनः । क्रोधनस्य तथा रिक्ताः समाधिष्यतसंयमाः ॥४७४॥

^१मानवावाग्निवाग्नेषु ^२मखीषरकवायिषु । नृबुधेषु प्ररोहान्तं न सख्याधीक्षिताङ्कुराः ॥४७५॥

मावन्मायानिवालेऽप्येतास्त्वाम्बुषु कृतास्पदः । न प्रबोधधियं तावद्वत्ते चित्ताम्बुजाकरः^३ ॥४७६॥

लोभः कीकसश्चिह्नानि धेतः श्रोतांसि वूरतः । गुणा^४ बन्धास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥४७७॥

तस्मान्मनोनिर्केतेऽस्मिन्नितं शल्यचतुष्टयम् । यतेतोद्धर्तुमात्मनः क्षेमाय जमकीलकः ॥४७८॥

यद्स्वर्थेषु विसर्पयन्ति स्वभावादिभिर्गुणाणि यद् । तत्स्वरूपपरिज्ञानात्प्रत्यावर्तत सर्वदा ॥४७९॥

संसार का कारण है । नील के रंग जैसा लोभ तिर्यञ्चगति का कारण है और वासीर के मल-जैसा लोभ मनुष्यगति का कारण है एवं हल्दी के रंग-सरीखा लोभ देवगति का कारण है ॥४७३॥

क्रोध का दुष्परिणाम

जिसप्रकार अपश्यसेवी रोगी का औषधि-सेवन व्यर्थ है उसीप्रकार क्रोधी मानव के धर्मध्यान, श्रुता-भ्यास व संयम निष्फल (व्यर्थ) हैं ॥ ४७४ ॥

मान से हानि

मानरूपी दावानल अग्नि से भस्म हुए और मदरूपी खारी मिट्टी से कपायले रस वाले मनुष्यरूपी वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले नये अंकुर नहीं उगते । अर्थात्—जैसे दावानल अग्नि से जले हुए व खारी मिट्टी से कपायले रसवाले वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले अंकुर नहीं उगते वैसे ही धमण्डी व अहङ्कारो मानव से सद्गुण प्रकट नहीं होते ॥ ४७५ ॥

माया से हानि

जबतक जीवरूपी जलराशि में माया (छलकपट) रूपी रात्रि का लेशमात्र भी निवास रहता है तबतक उसका मनरूपी कमल-समूह विकास-लक्ष्मी को धारण नहीं करता ॥ ४७६ ॥

लोभ से हानि

जैसे पथिक लोक में गड़ी हुई हड्डियों के चिन्होंवाली चाण्डालों की सरसी (तलेया) दूर से छोड़ देते हैं वैसे ही प्रशस्त ज्ञानादि गुण, लोक में लोभरूपी हड्डियों के चिन्होंवाले मानवों के चित्तरूपी शरत्तों को दूर से छोड़ देते हैं । अर्थात्—लोभो के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ४७७ ॥

मनुष्य-कर्तव्य

अतः आत्मज्ञानी पुरुष को अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए संयमरूपी कीलों द्वारा अपने मनरूपी गृह से इन क्रोध, मान, माया व लोभरूपी चारों शल्यों को निकालने का यत्न करना चाहिए ॥४७८॥ छह इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र व मन) स्वभाव से ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, अतः उन विषयों के स्वरूप को जानकर सदा इन्द्रियों को उनके विषयों से पराङ्मुख करनी चाहिए । अर्थात्—

१-२. तथा चाह सोमदेवसूरिः—'दुरभिनिवेजाभोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥ कुलवल्लैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्मा-

हंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥ —नीतिवाक्यामृत हमारी भाषाटीका अरिषड्वर्गसमुद्देश पृ० ६१ ।

३. कमलसमूहः । ४. अस्थि । ५. पथिकाः ।

आपाते सुखरारम्भविपाके विरसक्रियः । १विषैर्वा विषयैर्यस्ते २ कुतः कुशलमात्मनि ॥४८०॥
 बुद्धिचिन्तनं दुरालापं बुद्ध्यापारं च नाचरेत् । व्रती व्रतविशुद्धयर्थं मनोवाककायसंश्रयम् ॥४८१॥
 अश्रद्धानतिचाराम्नां गृहीतेषु व्रतेषु यत् । रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्वृत्तपालनम् ॥४८२॥
 वैराग्यभाषणा नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् । नित्यं यत्नद्वयं कर्तव्यं यमेषु नियमेषु च ॥४८३॥

१वृत्तानुधाविक २विषय ३वितुल्यास्य मनोमशीकारक्षणा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूतपदार्थविषया
 ४संप्रमोषस्वभावा स्मृतिः तत्त्वविचिन्तनं । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधानानि यमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्म-
 चर्यापरिग्रहा नियमाः ।

हृद्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिनाम षट्षत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

इन्द्रियों को उनके विषयों में फँसने से बचाना चाहिए ॥ ४७९ ॥ जब आत्मा ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ग्रस्त (व्याकुल या फँसी हुई) होती है, तो उस आत्मा को कल्याण की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? जो कि विष-सरीखे तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं, अर्थात्—जैसे विष भक्षणकाल में मिष्ट प्रतीत होता है वैसे ही इन्द्रियों के विषय भी तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं और जो फलकाल में वैसे नीरस क्रियावाले (दुर्गति के दुःख देनेवाले) हैं जैसे भक्षण किया हुआ विष उत्तरकाल में नीरस (घातक) होता है ॥ ४८० ॥

व्रती कर्तव्य

व्रती पुरुष को अपने व्रतों को विशुद्ध रखने के लिये दुष्ट मन के आधार से दूसरे का बुरा चिन्तन नहीं करना चाहिये । वचन के आधार से असत्य, निन्दा व कलहकारक वचन नहीं बोलना चाहिये और शरीर के आश्रय से बुरी चेष्टा (हिंसा व चोरी-आदि) नहीं करनी चाहिए ॥ ४८१ ॥

व्रती द्वारा जो व्रत ग्रहण किये गये हैं, उनमें न तो अतिचार लगाना चाहिए और न व्रतों को खण्डित करना चाहिए । इसप्रकार से जो व्रतों की रक्षा को जाती है उसे ही व्रतों का पालन कहा जाता है ॥४८२॥ व्रती को सदा वैराग्य की भावना करनी चाहिए । सदा तत्त्वों का चिन्तन करना चाहिए और यम (बाह्य व आभ्यन्तर शौच-आदि) व नियमों (अहिंसा-आदि) के पालन में सदा प्रयत्न करना चाहिए ॥४८३॥

वैराग्य-आदि का स्वरूप

प्रत्यक्ष से देखे हुए (राज्यादि वैभव) व आगम में निरूपण किये हुए (स्वर्गादि भोगों) की लालसा से रहित हुए माधु या श्रावक का मन को वश करना वैराग्य है । प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का ऐसा स्मरण करना तत्त्वचिन्तन है, जो कि उल्लंघन करने के लिए अशक्य स्वभाव-वाला है । बाह्य व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और ध्यान को यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये नियम हैं ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में प्रकीर्णकविधि नामका छियालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

१. विषैर्वा विषैरिव । २. त्रासदादितिः भक्तिर्नः । ३. दृष्टाः स्वयमुपलब्धाः । ४. 'अनुश्रवणे भवमनुधाविकं श्रुतमित्यर्थः' टि० ख० ख० । 'अनुश्रविकः आगमः' पं० । ५. विषयाः स्वर्गादिभवाः । ६. अनुल्लंघनीय स्वभावा ।

ध्यानं^१ सिद्धिगिरी विषाय स मुनिः सम्यक्सुवृत्ताङ्गयः कल्पे लान्तवनामन्यजायत सुरः सर्वाभिरामणीः ।
 अन्ये ये च यशोमतिप्रभृतयस्तेऽपि प्रबलव्रतव्रताः^२ संजातास्त्रिवशेश्वराः सृष्टिभिः संकीर्त्यमानश्चियः ॥४८८॥
 जयतु जगवानन्दस्यन्दी^३ जिनोक्तिमुषारसस्तवनं जयतात्कामारामः^४ सतां फलसंगमैः ।
 जयतु^५ "कवितादेवी शश्वत्तवच्च" यदाश्रया^६ त्कृतिमतिरियं सुते सुक्तं जगत्त्रयभूषणम् ॥४८९॥
 "अभिधाननिधानेऽस्मिन् यशस्तिलकनामनि । यशोधरमहाराजचरिते स्तान्मतिः सताम् ॥४९०॥
 एतामष्टसहस्रीमज्जसमुपवर्गः कृतो *विमृशन् । "कविता"^७ रहस्यमुद्रामवाप्नुधावासमुद्रगं च यशः ॥४९१॥
 श्रीमानस्ति स देवसङ्कतिलको देवो यशःपूर्वकः^८ शिष्यस्तस्य बभूव सवगुणनिधिः श्रीनेमिदेवाङ्गयः ।
 तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिभुवने^९ जेतुमंहावाविनां जिह्वोऽभूदिह सोमदेव पतिपस्तस्यैव काव्यक्रमः ॥४९२॥
 विश्वाविनोऽवनवास्तिसहस्रभुक्^{१०} पुस्तं व्यलेकिः पिरुतल्लिपिरञ्जुकेन^{११} ।
 श्रीसोमदेवचरितस्य यशोधरस्य सल्लोकमान्यगुणरत्नमहोबरस्य ॥४९३॥

श्री सुदत्ताचार्य ने सिद्धिगिरि (सिद्धवर कूट) पर भलोभांति धर्मध्यान किया, जिससे वे लान्तव नाम के सातवें स्वर्ग में समस्त देवों के नेता देव हुए । सुदत्ताचार्य से व्रतधारण करनेवाले दूसरे यशोमति कुमार-आदि, पुण्यवानों द्वारा कीर्तन की जानेवाली लक्ष्मीशाली देवेन्द्र हुए ॥ ४८८ ॥

ग्रन्थकार की कामना

तीन लोक के लिए यथार्थ मुख का क्षरण करनेवाला जिनागमरूपी अमृतरस जयवन्त हो । इसके बाद सज्जनों का मनोरथरूपी वन अपनी फल-प्राप्ति के साथ जयवन्त हो । तत्वात् सरस्वती देवी अथवा कवित्व शक्ति सदा जयवन्त हो, जिसके आश्रय में यह कवि की बुद्धि (श्रीमत्सोमदेवसूरि की प्रतिभा) ऐसे सुभाषित रस (यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य रूपी अमृत) का प्रसव (उत्पत्ति) करती है, जो कि तीन लोक का आभूषण है ॥ ४८९ ॥

सुभाषितों की निधिवाले इस 'यशस्तिलकचम्पू' नामके महाकाव्य में, जिसका दूसरा नाम 'यशोधर-महाराज चरित' भी है, सज्जनों की बुद्धि प्रवृत्त हो ॥ ४९० ॥

अष्टमहस्री नामवाले (आठ हजार श्लोक परिमाणवाले) इस यशस्तिलक महाकाव्य को निरन्तर आचार्यपरम्परा का अनुसरण करके विचार करनेवाला विद्वान् कवितारूपी स्त्री का भोग प्राप्त करता है अथवा कविता के मूर्धतत्त्व का विश्वास प्राप्त करता है और अपनी कीर्ति को समुद्र पर्यन्त विस्तारित करता है ॥४९१॥

ग्रन्थ कर्ता की प्रशस्ति

देवसंघ के आभूषण श्रीमान् 'यशोदेव' नाम के आचार्य थे, उनके शिष्य प्रशस्त सम्यग्ज्ञानादि गुणों की निधि श्रीनेमिदेव नामके आचार्य थे । आश्चर्यकारिणी तप की मर्यादावाले और तेरावने बार महावादियों पर विजयश्री प्राप्त करनेवाले उस नेमिदेव आचार्य के शिष्य, श्रीमत् सोमदेवसूरि द्वारा, जो कि गङ्गाधारा नगरी में हुए है, रचा हुआ यह 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य है ॥ ४९२ ॥

१. रे बाणहस्मितीरे पञ्चिमभाषमि सिद्धवरकूटे । दो चक्की दहकप्ये आठूडकोटिनि बुदं वंदे ॥ २. समर्पितव्रताः ।
 ३. अवणः क्षरन् । ४. अभिलाषवन् । ५. सरस्वती कवित्वशक्तिर्वा । ६. कविता । ७. कचेर्मतिः ।
 ८. सुभाषितं । * विचारयन् । ९. कविता एव स्त्री । १०. भोग । ११. यशोदेवः । १२. ९३ ।
 १३. चित्तवीरेण । १४. नाम्ना लेखकेन ।

अपि च । यस्याक्षरावलि रभीरविश्लोचभाभिः^१ राकाङ्क्ष्यते मदनशासनलेखनेषु ।

तस्मै^२ विवेकिषु न पचत्यति रच्युकाय को नाम लेखकक्षिप्रामणिनामधेयम् ॥४९४॥

शकनूपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वकाशोरप्रधिकेषु गतेषु (अङ्कतः ८८१) सिद्धार्थसंवत्सरास्तर्गतचैत्रमास-
मदनत्रयोदशी पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मल्यादीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे
सति तत्पादपद्मीपञ्जीवितः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासानन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मतः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिके-
सरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्भागराजस्य लक्ष्मोप्रवर्धमान^३ वसुधारायां^४ गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिव काव्यमिति ।

सकलतामिकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योतवद्यगद्यपद्यनिद्यावरचक्रचक्रवर्तिशिसङ्घ-
मण्डमीभवस्वरणकमलेन श्रीसोमदेवमूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये
धर्माभूतवर्धमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः ।

[अब लेखक का परिचय देते हैं—]

श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचे गए और सज्जन-समूह द्वारा प्रशंसनीय गुणरूपी रत्नों की उत्पत्ति के
लिए पर्वत-सरीखे 'यशोधरमहाराजचरित' की सुन्दर लिपिवाली पुस्तक (शास्त्र) ऐसे 'रच्युक' नामके लेखक
द्वारा लिखी गई है, जिसका हृदय रूपी नेत्रा विद्या की लीलाक्षयी जग है हुगणित है ॥ ४९३ ॥

उस लेखक की विशेषता यह है—

जिसकी अक्षर-पङ्क्ति चञ्चल नेत्रोंवाली कमनीय कामिनियों द्वारा कामदेव के शामन लिखने में
आकांक्षा की जाती है, ऐसे उस 'रच्युक' नाम के लेखक के लिए विद्वानों के मध्य में कौन सा विद्वान् 'समस्त
लेखक-शिरोमणि' नामकी पदवी प्रदान नहीं करता ? ॥ ४९४ ॥

ग्रन्थकर्ता का समय व स्थान

शक संवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) की सिद्धार्थसंवत्सर (वीरसंवत्) के अन्तर्गत चैत्रमास
की मदनत्रयोदशी (शुक्लपक्ष की त्रयोदशी) में, जब [राष्ट्रकूट या राठौर वंश के महाराजा । श्री कृष्ण-
राजदेव (तृतीय कृष्ण) पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेरम वगैरह राजाओं पर विजयश्री प्राप्त करके अपना
राज्यप्रभाव (सैनिकशक्ति) मल्यादी (मेलघाटी) नामक सेना-शिविर में वृद्धिगत कर रहे थे, तब उनके
चरणकमलों का आश्रय करनेवाला चालुक्यवंशज ऐसा अरिकेसरि नामक सामन्त राजा था, जो कि सामन्त-
राजाओं में चूडामणि-सा श्रेष्ठ है और जो पंचमहाशब्दों^१ का नियन्त्रण करनेवाले महासामन्तों का अधिपति
है, उसके चागराज (बहिर्ग) नाम के ज्येष्ठ पुत्र की राजधानी गंगाधारा नाम की नगरी में, जिसमें लक्ष्मी की
कृपा से द्रव्य-प्रवाह वृद्धिगत हो रहा है, यह यशस्तिलकचम्पू^२ महाकाव्य रचा गया ।

इसप्रकार समस्त दार्शनिक विद्वत्समूह में चूडामणि-सरीखे सर्वश्रेष्ठ श्रीमत्पूज्य नेमिदेव आचार्य के
शिष्य ऐसे श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा, जिनके चरणकमल तत्कालीन निर्दोष गद्य-पद्य काव्यों के रचयिता विद्वत्समूह
के चक्रवर्तियों के मस्तक पर अलङ्कार रूप से शोभायमान हैं, रचे हुए 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य में, जिसका
दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित' है, धर्माभूतवर्धमहोत्सव नाम का यह आठवाँ आश्वास पूर्ण हुआ ।

१. स्त्रीभिः । २. विवेकिषु मध्ये । ३. द्रव्य । ४. नाम नगर्याम् ।

वर्णः एवं वाक्यविधिः समासो लिङ्गं क्रिया कारकमन्यतन्त्रम् ।

छन्दो रसो रीतिरलंक्रियार्थो लोकस्थितिश्चात्र चतुर्विंश स्तुः ॥४९५॥

इस महाकाव्य में निम्न प्रकार चौदह वस्तुएँ पाई जाती हैं, वर्ण, पद, वाक्य (पद-समूह), समास, लिङ्ग, क्रिया, कारक (क्रिया से अन्यत्र रखने वाला), अन्य तन्त्र (अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त), छन्द (अनुष्टुप्-आदि), रस (शृङ्गार-आदि), रीति, अलङ्कार, अर्थ (वाच्यार्थ) और लोकव्यवहार-पटुता (नीतिशास्त्र) ॥४९५॥

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री, श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ कुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्य-विभाग के अध्यक्ष, 'न्यायाचार्य' 'साहित्याचार्य' व कवि-चक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्दशास्त्री खिस्ते के प्रधानशिष्य, 'नीतिवाक्यामृत' के अनुसन्धानपूर्वक भाषाटीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेदविशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागर निवासी व परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेव सूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक दीपिका' नामकी भाषाटीका में 'धर्माभूतवर्ष' महोत्सव नामका अष्टम-आश्वास समाप्त हुआ ।

इति भद्रं भूयात्--



अनन्य मङ्गल व आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्ग का नेता, अरु रागादि-विजेता है ।

जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है ॥

जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अमुगध रचता है ।

ऐसे 'श्रेष्ठभवेव' को हमने, शत-शत शीश नवाया है ॥१॥

बोहा

सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-ध्यान्य आगार । वर्णाश्रम-आचार का, शुभ्ररूप साकार ॥२॥

जैनों जन तहँ बहु बसें, दयाधर्म निजधार । पूज्यचरण वर्णी लसें, जिनसे हों भवपार ॥३॥

जैन जाति परवार में, जनक 'कन्हैयालाल' । जननी 'हीरादेवि' थीं, कान्तरूप गुणमाल ॥४॥

पुत्र पाँच उनसे भये, पहले 'पन्नालाल' । दूजे 'कुंजीलाल' अरु, तीजे 'छोटेलाल' ॥५॥

चौथे 'सुन्दरलाल' बा, पंचम 'भगवतलाल' । प्रायः सब ही बन्धुजन, रहें मुदित खुशहाल ॥६॥

वर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान । बड़े 'छोटेलाल' बा 'सुन्दरलाल' सुजान ॥७॥

भाई 'छोटेलाल' तो, करें वणिज व्यापार । जिनसे रहती है सदा, कमला मुदित अपार ॥८॥

बाल्यकाल के मम रुचि, प्रकटी विद्या-हेत । तातें हम काशी गये, ललित-कला संकेत ॥९॥

चौपाई

द्वादश वर्ष साधना करी । गुरु-पदपङ्कज में चित दर्ई ॥

'मालुसंस्था' में शिक्षा लही । गैल सदा उन्नति की गही ॥१०॥

व्याकरण, काव्य, कोश, अतिमाता । तर्क, धर्म, अरु नीति बखाना ॥

'वारिमत्व-आदि कला परधाना । नानाविध सिद्ध भयो सुजाना' ॥११॥

बोहा

कलकत्ता कालेज फी, तीर्थ उपाधि महान । जो हमने उत्तीर्ण की, तिनका करूँ बखान ॥१२॥

चौपाई

पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानो । दूजी 'प्राचीनन्याय' प्रमानो ॥

तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानो । जिसमें साहित्य सकल समानो ॥१३॥

१. श्री स्माड्दाद जैन महाविद्यालय वाराणसी का स्नातक—सम्पादक । २. वक्तृत्वकला । ३. विद्वान् ।

४. भारतीय बहूदर्शनशास्त्र ।

गुरुजन मेरे विद्यासागर । ललितकला के सरस सुधाकर ॥
 पहले शास्त्री 'अम्बावत्त' । जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥१४॥
 दूजे श्रीमद्गुरु 'गणेश' थे, न्यायाचार्य अरु तीर्थ-समान ।
 वर्षी बापू थे अति दार्शनिक, सौम्यप्रकृति वा सन्त महान ॥१५॥

दोहा

सरस्वती मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान । एक पुत्र पुत्री-उभय, जो हैं बहु गुणखान ॥१६॥
 पत्नी मम दुर्वैव ने, सद्यः लीनी छीन । है वंशवेलि बढ़ावने, सुत 'मनहर' परवीन ॥१७॥
 मेरी शिष्य परम्परा, भी है अति विद्वान । जिसका अति संक्षेप से, अब हम करें बखान ॥१८॥
 पहले 'महेन्द्रकुमार' हैं, दूजे 'पवनकुमार' । 'मनरञ्जन' तीजे लसें, चौथे 'कनककुमार' ॥१९॥

चौपाई

वि० संवत् बीस सै अठ बीस, ज्येष्ठ शुक्ल तेरस दिन ईश ।
 पूर्ण प्रकाशित अब यह हुआ, शुभ अद्यय का भक्त फल हुआ ॥२०॥

दोहा

अल्पबुद्धि परमादत्त, भूलचूक जो होय । सुखी सुवार पढ़ो सदा, जाते सज्जन होय ॥२१॥

सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ—सम्पादक



परिशिष्ट १

श्लोकानामकाराधनुक्रमः

[अ]

अप्रार्थितोऽपि जायेत	४०	अहं प्रजानां मम देवतैय—	१७७	अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष	२९९
अथागया कोऽपि न वर्तते ते	४९	अरालकालव्यालेन	१७७	अणुवतानि पञ्चैव	३०६
अहोरात्रं यथा हेतुः	५३	अज्ञातपरमार्थिना—	१८७	अतिप्रसङ्गहानाय	३०७
अचक्षेपेण हि सता-	५६	अव्यक्तनरयोनिर्त्य	१८९	अहिंसाद्वतरक्षार्थ	३०७
अस्मादृशां स धर्मः	५८	अनेकजन्मसंतते—	१९२	अमिथं मिथ्यमुत्सर्गि	३०७
अथास्ति भक्तिस्तत्र दैवतैषु	६०	अत्यसोऽप्याभमात्पुंसि	१९७	अघ्नन्नपि भवेत्पापी	३०९
अस्तर्ने विज्ञाय भुषानुरागिता	६०	अजस्तिशोत्तमाचित्तः	१९८	अदत्तस्य परस्वस्म	३२५
अज्ञानभावादथ चापलाहा	६०	अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्	२०१	अत्युक्तिमन्यदोगोक्ति	३३४
अथायमाप्तः पर एव न स्था—	६९	अशमा हेम जलं मुक्ता	२०२	असत्यं सत्यं किंचित्	३३५
असंशयं हेतुविशेषभावा—	७०	अनर्थैव दिशा चिन्त्य	२०३	अल्पैरपि समर्थः स्यात्	३३९
अङ्गारवस्तद्धि न जात् शूद्रधे—	७०	अन्योन्यानुप्रवेशेन	२०६	अस्थाने बद्धकक्षाणां	३४७
अबोधमेतद्वपुषा विभर्ति	७०	अदृष्टिर्न प्रपदित्वं	२०७	अनङ्गानलसंलीढे	३४६
अनुनयत वदत भधुरं	८२	असम्जनयनाचामो	२०९	अनवरतजलाग्निं	३६२
अन्तःपुरे भूमिपतिर्मदाग्धः	८८	अर्दन्त्यासङ्गवैराग्य	२१०	अन्तर्बहिर्गते सङ्गे	३६८
अज्ञानभावादथवा प्रमादा—	८९	अदेवे देवताबुद्धि—	२११	अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायाम्	३६८
अन्येऽपि ये स्त्रीष्वनुरक्तचित्ता	९४	अहमेको न मे कश्चि—	२१२	अनर्थदण्डनिर्मोहाद्	३७५
अन्यत्र कुरुते जन्तु—	११७	अपुत्रस्य गतिर्नास्ति	२१८	अन्तःशुद्धिं वहिःशुद्धिं	३७६
अहं पिता पूर्वभवेऽथ राज्ञः	१२४	अघोरस्य विविधद्वेदान्	२१८	अद्धिः शुद्धिं निराकुर्वन्	३७७
अलिकुलमिदं लूतातन्तु—	१२७	अन्तस्तत्त्वविहीनस्य	२१९	अहंन्ततनुर्मध्ये	३८०
अहो विवेकशून्याना—	१५२	अन्तर्द्वरन्तसंचारं	२३४	अपास्तीकान्तवादीन्द्रान्	३८३
अकर्ता निर्गुणः शुद्धो	१५२	अभिमानस्य रक्षार्थ	२३९	अष्टाङ्गं भुवनत्रयाचितमिदं—	३८७
अनुभवत पिबत खादत	१५३	अशषतस्यापराधेन	२४६	अत्यत्यायतिरक्षाया मतिरियं	३८८
अन्यथा लोकपाण्डित्यं	१५४	अलकबलयदरम्यं भूलतान्तर्गतान्तं	२५३	अमृतकृतकणिकेऽस्मिन्	४००
अग्निवत्सर्वभक्षोऽपि	१५४	अन्तःसारकारीरेषु	२६२	अवमतृगहनदहनं	४०२
असमाधिकरो वाक्स्—	१५७	अलकबलयावर्तभ्रान्ता	२६७	अर्हन्तममितमीति	४०३
अकर्तापि पुमान् भोक्ता	१५८	अथित्वं भक्तिसंपत्तिः	२७०	अनुपगकेवलवपुषं	४०३
अदृष्टविग्रहाच्छान्ता—	१५९	अद्वैतान्न परं तत्त्वं	२७३	अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमद्विवर	४०३
अशो जन्तुरनीशोय—	१६०	अबुद्धिपूर्वापेक्षाया—	२८३	अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि	४१०
अलं कुरापद्वैर्नाथ	१७०	अक्षाज्ज्ञानं कश्चिर्मीहाद्	२८८	अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्	४१२
अथ ऊर्ध्वं वा प्राणी	१७१	अधर्मकर्मनिर्मुक्ति—	२९१	अनन्तगुणसन्निधौ	४१२
		अत्पात् क्लेशात् शुक्तं सुष्टु	२९८	अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी	४१४

अत्रामृत्तं च निमतं	४१५	अभयश्चिरधापसु—	४७९	आधिग्याधिविपर्यास	४१९
अभिलषितकामघनो	४१५	अभिधाननिधानेऽस्मिन्	४८०	आत्मज्ञः संचितं दोषं	४२३
अलाभः सङ्गितास्वैर्यम्	४१९	[आ]		आशास्महे तदेतेषा	४२६
अरहभ्ये यथा लोके	४२५	आपत्मानं व्रतस्नानं	६३	आत्मायं बोधियं पत्ते—	४२८
अहो मिथ्यातमः पुंसां	४२६	आतङ्कुशोकाभयकेतनस्य	६५	आदौ मध्वमधुप्रान्ते	४२९
अकृत्रिमो विचित्रात्मा	४२६	आत्मानं सततं रक्षेद्	८४	आहुस्तस्मात्परं प्रज्ञा	४३२
अनुयाचेत नायूषि	४२९	आकल्पं परिपूर्णकामितफलाः—	९४	आत्मनः श्रेयसोऽन्वेषां	४४५
अलावकगुणं सर्वं	४३१	आत्मनि सति परसंज्ञा	१५५	आत्मवित्तपरित्यागात्	४५०
अनुपायानिलोद्भ्रान्तं	४३२	आस्तां तवान्यदपि तावदतुल्यकक्ष	१६०	आवेशिकाश्रितजाति	४५१
अशीत्य सर्वशास्त्राणि	४३४	आसीच्चन्द्रमतिर्यशोधरनुपस	१६६	आगामिगुणयोऽयोऽर्थो	४५६
अपवित्रः पवित्रो वा	४३४	आनन्दो ज्ञानमीश्वर्यं	१९४	आतिथेयं स्वयं यत्र	४५६
अत्यन्तं मलिनो देहः	४३७	आसागमपदार्थानां	१९६	आत्माशुद्धिकरैर्मस्य	४६३
अनवेष्टाप्रतिलेखन	४३८	आत्मानात्मस्थितात्माका	२०१	आराध्य रत्नत्रयमित्यमर्थो	४७०
अभयाहारमैवजय	४४६	आत्मलार्भं विदुर्मोक्षं	२०७	आचार्योपासनं श्रद्धा	४७१
अभयं सर्वसत्त्वानाम्	४४७	आप्तागमपदार्थानां—	२०७	आदितः पञ्च तिर्यक्षु	४७४
अभक्तानां कदम्बाणां	४४९	आप्तागमाविशुद्धत्वे	२३५	आपाते सुन्दरारम्भेर्	४७८
अज्ञाततत्त्वचेतोमिर्	४५२	आत्मनि मोक्षे ज्ञाने	२४१	[इ]	
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्वाद्	४५४	आधिग्याधिनिरुद्धस्य	२७०	इयं हि साधञ्जननी मदीया	६०
अनुषीचीवचो भाष्यं	४५४	आसन्नभव्यताकर्म	२८२	इहैव वात्स्यायनगोत्रजस्य	८७
अतद्गुणेषु भावेषु	४५५	आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे	२८४	इच्छन्गृहस्पात्मन एव शान्ति	८८
अभिमानस्य रक्षार्थं	४५७	आज्ञामार्गसमुद्भव	२८५	इयता ग्रन्थेन मया	१७८
अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं	४५८	आत्मा कर्ता स्वपरमि	२८८	इत्थं शङ्कितचित्तस्य	२१२
अस्त्रधारणवद् बाह्ये	४५९	आसन्नं शयनं मार्ग-	३०६	इत्थं प्रयतमानस्य	३०८
अध्यधिप्रतमारोहेत्	४६१	आश्रितेषु च सर्वेषु	३०७	इत्थं येऽत्र समुद्रकन्वरसरः—	३९१
अद्रोहः सर्वरात्रेषु	४६५	आत्मवेशपरिस्पन्दो	३११	इति तदमृतनाथ स्मरणार—	४१२
अध्यात्मार्गो दयामन्त्रः	४६५	आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे	३१२	इममेव मन्त्रमन्त्रो	४१४
अहिंसः सद्भ्रती शान्ती	४६६	आयुष्मान् सुभगः श्रीमान्	३१२	इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति	४१५
अनुमान्या समुद्देव्या	४६६	आत्माजितमपि द्रव्यं	३२५	इति चिन्तयतो धर्म्यं	४२७
अज्ञानं क्रमेण हेयं	४६९	आशादेशप्रमाणस्य	३७४	इत्थं नियतवृत्तिः स्वाद्	४४५
अदुर्जनत्वं विनयो विवेकाः	४७०	आदौ सामायिकं कर्म	३७६	इत्येष गृहिणां धर्मः	४७९
असूयकत्वं शठताश्विचारो	४७०	आप्तसेवोपदेशः स्थात्	३७६	इत्थं मुनेर्द्वितीयधर्मकथावतारं	४७९
अनुयोगगुणस्थान	४७२	आप्तस्यासन्निधानेऽपि	३७६	[ई]	
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु	४७३	आप्नुतः संप्लुतस्वान्तः	३७७	ईशानशीरोपितविभ्रमाणि	१२१
अनिगूहितवीर्यस्य	४७४	आयुः प्रजासु परमं भवतात् सदैव	३९८	ईर्ते मुक्तिः यदेवात्र	१८७
अन्तर्बहिर्मल्लोपाद्	४७४	आलस्यादपुषो हृषीकहरणौ-	४०४	[उ]	
अमङ्गानतिचाराम्यां	४७८	आदिग्यासुः परं ज्योति—	४१५	उरसि नक्षत्रतपन्ति	२०

उद्माः पद्मानां सद्गुणं प्रसन्ते	६०	एक एव हि भूतात्मा	१९४	करिभकरमुखोद्गीर्ण	१२०
उमापतिः स्कन्दपिता त्रिशूली	६८	एकः खेडनेकधान्यत्र	१९४	कुलंकया मन्तसनी मयि स्या—	१२१
उद्गतमकरन्दरजः	१२०	एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः	१९७	किं पुण्यपुञ्जनिकरस्त्रिजगज्जनानां	१४९
उद्दृष्टीनापहजडिभ्रमाकुलभवन्—	१२३	एकान्तः शरधरचैव	१९९	कारयं क्षुद्रप्रभवं कदलमशनं—	१५२
उल्लोलकल्लोलकरप्रचारात्	१२९	एकान्तसंशयाज्ञानं	२०७	कर्ता न तान्निदिह कोऽपि धियेच्छया वा—	१६१
उदधृत्य शास्त्रजलधेनितले निमग्नैः	१७८	एवमालोक्य लोकस्य	२०९	कायाकारेषु भूतेषु	१६३
उच्चावचप्रसूतोनां	१९७	एकान्तरं त्रिरात्रं वा	२१०	कुतश्चित्पित्तनाशेऽपि	१६४
उपाये सस्युपेयस्य	२०२	एतत्तत्त्वमिदं तत्त्व—	२१२	कामभेनुरखिलोत्सवसङ्ग	१७१
उत्पत्तिस्थितिसंहार	२०५	एष एव भवेद्देवस्—	२१२	कामेन निजिह्वया	१८३
उररीकृतनिर्वहि	२२२	एकापि समर्थेयं	२२२	कपदी दोषवानेध	१९८
उदधिवतेव भाणिक्यं	२२६	एकस्मिन् वासरे मद्य—	२९७	कषायाः श्लोषमानाद्याः—	२०८
उचिते स्थानके यस्य	२२६	एकस्मिन् मनसः कोणे	३०९	क्लेशायैव क्रियामीषु	२११
उद्भिन्ने स्तनकुट्टमले स्फुटरसे—	२२७	एका जीवदयैकत्र	३१२	को देवः किमिदं ज्ञानं	२३४
उपगूहस्थतीकारौ	२४६	एणेन्द्रियद्रुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टिः	३५७	कादम्बताश्चर्गोसिह	२४५
उपेक्षायां तु जायेत	२४९	एतन्निषिर्न धर्माय	३७८	कर्णवितंसमुखमण्डनकण्ठभूया	२५३
उद्भ्रान्ताभंकगर्भेऽस्मिन्	२९९	एलालवङ्ककङ्काल	३९८	कर्मणां क्षयतः शान्तेः	२८४
उपकाराय सर्वस्य	३०५	एकस्तम्भं नवद्वारं	४३८	क्लेशाय कारणं कर्म	२८८
उदङ्मुखः स्वयं तिष्ठेत्	३९५	एकं पदं बहुपदापि दद्यासि तृष्टा	४४१	कर्मकृत्यमपि प्राणी	२९८
उर्वरं लोकौत्तरं व्यानं	४३४	एतामष्टसहस्रीम्—	४८०	कुर्वन्नश्रुतिभिः सार्धं	३००
उच्छिष्टं नीचलोकार्हं	४४८	[ऐ]		कायाद्योदयतीव्रात्मा	३०८
उच्छ्वावचजन्मप्रायः	४५५	ऐश्वर्यमेकं तिमिरं नराणां—	७३	कायेन मनसा वाचा	३०८
उत्तरोत्तरभावेन	४५५	ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्—	१५९	कस्यचित्संनिविष्टस्य	३०९
उत्तमं सार्विकं दानं	४५६	ऐदंपर्यमतो मुक्त्वा	३५५	क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात्	३०९
उपवासादिभिरङ्गे	४६८	ऐश्वर्योदायशौण्डीर्यं	३५६	केवलिस्रुतसङ्घेषु—	३३५
[ऊ]		[औ]		कुब्जे पट्टिरशीतिः स्याद्	३३९
ऊर्वाद्योगतिहेतु—	१७३	और्ध्वलायाः महादेव्याः	२७०	कुतप्रमाणाल्लोभेन	३६८
[ऋ]		औपध्वः पशवो वृक्षास्—	३५२	कपिलो यदि बाञ्छति वित्तमचित्ति	४०७
ऋचः सामान्यधर्वाणि	६३	[क]		कुर्यात्करयोन्यासं	४१४
[ए]		को नाम न जगति जनः	४७	कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यम्—	४१९
एतदेव द्वयं तस्मात्	३३	कृत्वा मिथं देवमयं हि लोको	५५	कर्माप्यपि यदीमानि	४२३
एष्वर्येषु पद्मान् हिसन्	५०	को भगवन्निह धर्मो	५७	कुर्यात्तिपो जपेन्मन्त्रान्	४३४
एतदेवार्थशास्त्रस्य	८७	किं दर्शनमिदमाहु—	५८	कलघौतकमलमोक्तिका—	४४२
एकीकर्मणां गुणमाकलय्य	८९	क्रीत्वा स्वयं वा ह्युत्पाद्य	६६	काले काली चले चित्ते	४५२
एकान्तमालोक्य विकीर्यं केशान्	९४	कालश्च सकृदभ्येति	८७	कारुण्यादथवौचित्यात्	४५२
एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते—	१४३	कुर्वन्भूपतिमन्दिरेषु करिणा—	९१		

कामः क्रोधो मदो माया
कर्मात्मनोविवेका यः
कणान्तिकेषापाश—
कबलीघातयदायुषि
कषायेन्द्रियदण्डाणां
किमिनीलीवगुर्लभ

[ख]

खसुसहीगतिर्वाणे

[ग]

यलिते नितम्बदेशात्
गुणग्रामविलोपेषु
गल्पन्तरे जन्मकृतां पितॄणां
गुणाः कुतस्तस्य भवन्ति गम्याः
गतः स कालः खलु यत्र पुत्रः
गोधाहाणस्त्रामुनिदेवतानां
गविष्ठिरस्यापि मया पुरस्तात्
गन्धर्वाखर्वपर्वतकनितहनदत्—
गुरुपासनमभ्यासो
गभिणीनां मनःखेदान्
ग्रहगोत्रगतोऽप्येष
गेहिना समवृत्तस्य
गतिस्थिरप्रतीचात्
गोपठान्तनमस्कार
गृहस्थो वा यतिर्वपि
गृहकार्याणि सर्वाणि
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु
गोखले सुरभिं हन्याद्
गुणैः सुरभिस्तात्मान—
गुरुकोत्तानकराद्गुष्ठ—
ग्रामान्तरात्सगानीतं
गृहस्थो वा यतिर्वपि
ग्राम्यमार्गं बहिरचान्तरं
गहनं न शरीरस्य हि
गृही यतः स्वसिद्धान्तं

[घ]

धृध्यमाणो यथाङ्गारः

४६४

४६४

४६८

४६९

४७४

४७६

४३१

२०

३२

६१

६९

७१

७२

९०

१२८

१६५

१६८

२००

२०४

२०६

२११

२८६

३०६

३१०

३५२

४३१

४४०

४४८

४५३

४६४

४६७

४७३

१५३

[च]

चक्षुषि लाक्षारागः

चत्वार एते सहजाः समुद्रा

चपलकलहंसबालक

चिलीचिमनिरीक्षणा—

चित्तं स्वभावमृदु कोमलमेतदङ्ग-

चित्ते चिन्तामणिर्यस्य

चित्रालेखनकर्मभिर्मनमित्र—

चैत्यैर्ष्येत्यालयेर्जनैः—

चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य

चक्रिन्त्रीः संधयोत्कण्ठा

चण्डोज्वन्तिषु मातङ्गः

चित्तं द्वयोः पुरत एव निवेदनोद्यं

चेतनाचेतनासङ्गाद्

चित्तस्य चित्तचिन्तायां

चित्ते चित्ते विद्यति करणे—

चित्तं न विचारकमक्षजनितम्

चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं

चित्तेऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्

चक्षुःपरं कारणकन्दरद्वरितेऽर्थे

चिन्तामणित्रिविधेषुसुरदुमाक्षाः

[छ]

छत्रं दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि ३९०

[ज]

जरैव धन्या वनिताजनानां

जीवः को यत्रैते

जन्मकमालमाधिगमो द्वितीयं

जातिर्जराभृत्युरधामयाद्या

जलदेवीकरयन्त्रै—

जलान्मुक्तानलः काष्ठाच्च—

जलादिषु तिरोभूता—

जनागमोचितमुपास्य तपश्चिराय

जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि

ज्वालीरुक्कबीजादेः

जनमेकं मतं मुक्त्वा

२०

६४

१२०

१२१

१७४

२२६

२५४

२५७

२७१

२८७

३०५

३६०

३६७

३६८

३९४

४०९

४१६

४१८

४४२

४४२

४६

५८

६१

७४

१२०

१६४

१६४

१७२

१९३

१९४

२०३

जले तैलमिवैतिह्यं

जिने जिनागमे सूरी

जीवन्तु वा क्रियन्तां वा

जीवयोगाविशेषण

जातयोऽनादयः सर्वास्—

जिनशिखसूरिदेशक

जन्मस्नेहच्छिदपि जगतः—

जय निखिलनिखिलालापकस्य

जय लक्ष्मीकर्मकमलाचिसाङ्ग

जगन्नेत्रं पार्श्वं निखिलविषय—

ज्योतिर्विन्दुः कला नादः

जन्तोरनन्तसंसार

ज्वलन्नञ्जनमाघत्ते

जाने तत्त्वं यथैतिह्यं

जन्मयौवनसंयोग

जगतां कौमुदीचम्बं

ज्योतिरेकां परं वेषः

जीवः शिषः शिषो जीवः

ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि

जातिर्जरा मृतिः पुंसां

जीवितभरणाशंसं

जातिपूजाकुलज्ञान—

जीवाजीवपरिज्ञानं

जीवस्थानगुणस्थान

जयतु जगदागन्दस्यन्दो—

[ल]

तद्वधानस्त्वपि जातकलमवमुपि

त्वं भन्दिरद्रविणदारतनूतहासैः—

तज्ज्ञाने क उपायः

तैरेव गर्भवासे

तिलसर्पपमात्रं यो

तथा मांसं ह्यचाण्डाल

तत्रोपदेशः खलु किं न कुर्या—

तदस्य दुःस्वप्नविषेः शमार्थं

२४०

२७१

२८८

३००

३७८

३८७

३९८

४०५

४०६

४१३

४२०

४२५

४२५

४२८

४२९

४३२

४३२

४३७

४५३

४६२

४६६

४६९

४७१

४७६

४७३

४८०

१

४७

५८

५८

६५

६७

७१

७१

[त]

तिलैर्ग्रीहिर्वर्मनि—	७३	सुरीयं वर्जयेन्नित्यं	३३६	दोषस्त्वमीयां पुनरेक एव	५२
तथाप्यमीभिः कुरालोपदेशः—	९०	तथा कुर्वन् प्रजायेत	३३६	देवाभिर्देकार्चनवन्दनानि	६१
तदेतदित्यं मम दुर्नयेन	९०	तपेष्मिर्मर्षहर्षाद्यैर्	३३६	द्वयेन मार्गेण जगत्प्रवृत्तं	६१
तथा सुतेन स्नुषया च मात्रा	९४	तत्त्वेषु प्रणयः परोक्ष्य मनसः—	३८७	दाहच्छेदकपाशुद्वे	६८
त्वं सर्वस्य सदायतिर्जिनपते—	९६	ते कुर्वन्तु तपोसि दुर्धरधियो—	३८८	दस्तानुपात्रं सकलैः प्रभाषी—	९८
तद्विषयवर्णनास्फालन	१५२	त्वं सर्वदोषरहितः सुतमं वचस्ते	३९०	देवेषु चान्येषु विचारचक्षु—	६९
तद्वर्जस्तनेहातो	१६३	तथापि स्वस्य पुण्यार्थं	३९५	ह्री मासौ मत्स्यमासेन	७३
तत्त्वं गुरोः समविगम्य यथार्थरूपं	१६६	तीर्थार्थकोर्नेभिः सुवर्णदोषकोर्नेभिः	४१६	दश पासास्तु तृणमिति	७३
त्वं वीर वैरिवनितानयनेन्दुकाल	१७१	तदपि वदेयं किमपि जिन त्वयि	४०५	देवैर्मनुष्यैश्च गणसैर्वा	८७
तथागमाभ्यामुनेर्मन्यात्	१७९	तदलमनुस्मृत्वाद्दुग्वाणी—	४१२	देवे तु पुंसः प्रतिकूलवृत्तौ	९१
तद्वर्जस्तनेहातो	१९०	तत्त्वचिन्तामृताभ्युधौ	४१६	देवार्थनाशज्ञविधौ जनानां	१२१
तुच्छोऽभावो न कस्मापि	१९२	तैरप्यमामरं भार्य	४१६	दण्ड एव हि नीचानां	१३२
तदावृत्तिहृत्तौ तस्य	१९४	तस्य कालं वदन्त्यन्तरं	४१८	द्वादशवर्षा योषा	१५३
तथाप्यत्र तदावासे	१९४	तत्कालमपि तद्विधानं	४१९	दशानोऽष्टदिशः कुर्वन्	१५७
श्रीलोक्यं जठरे यस्य	१९८	तन्नास्ति यदहं लोके	४३०	दृष्टाल्ययातत्त्वमदृष्टमेव	१६३
तत्त्वभावनयोद्भूतं	२०२	ताः शासनाधिरक्षार्थं	४३३	देहात्मिका देहकार्या	१६५
ते तु यस्त्ववमग्येत	२०३	तच्छासनेकमक्तीनां	४३३	दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्	१८६
तथापि यदि मूढत्वं	२११	तद्दामबद्धकक्षाणां	४३३	दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्	१८६
तत्त्वं ज्ञाते रिपी दृष्टे	२१२	तपः श्रुतविहीनोऽपि	४३४	दृष्टान्ताः सत्यसंस्थेयाः	१८७
तत्कुदृष्टधन्तरोद्भूता—	२२६	तीयमप्ये यथा तैलं	४३७	दृष्टाप्रहृष्टप्रहृष्टे	१८७
तपस्तोत्रं जिनेन्द्राणां	२३१	तालत्रिभारमभ्याङ्गिः	४४०	दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं	१८८
तदेतिह्ये च देहे च	२३१	तन्नैरन्तर्यामिनां	४४३	दृष्टिणाधोऽज्ञजेशान	१९७
तत्संस्तवं प्रशंसां वा	२३५	तेनावीतं श्रुतं सर्वं	४४७	दाहच्छेदकपाशुद्वे	१९९
तपसः प्रत्यवस्यन्तं	२४९	तपोदानार्चनाहीनं	४५१	द्वैताद्वैताश्रयः भाव्यः	२००
तद्दानज्ञानविज्ञान	२५८	तदुत्तमं भवेत्प्रायं	४५२	दृष्टादृष्टमर्थत्यर्थं	२०२
तूणकल्पः श्रीकल्पः	२६५	ते नामस्वापनाद्रव्य	४५५	देवमादौ परोक्षेत	२०४
तद्दर्तविद्यया वित्तेः	२७१	तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्	४६१	दृष्टेऽर्थे वचसोऽप्यक्षा—	२०४
तुण्डकण्डूहरं शास्त्रं	२९२	तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि	४६४	दर्शनाद्देहदोषस्य	२३१
तत्त्वस्य हितमिच्छन्तो	२९९	तत्त्वमिव परिपक्वं	४६७	दोषं गृह्णति नो जातं	२४६
तद्द्रव्यदानुपात्राणां	३०२	तस्मान्मनोनिर्गतेऽस्मिन्	४७७	दण्डो हि कैवल्यो लोकं	२५१
तच्छास्त्रसंक्षेपचार्वाक	३०२			द्विविधं त्रिविधं दशविध—	२८३
तन्नाहिंसा कृतो यत्र	३०८			दृष्टिहीनः पुमानेति	२८६
तपोगुणाधिके पुंसि	३०८			देशतः प्रथमं तत्त्वात्	२९२
तत्सत्यमपि नो वाच्यं	३३४			देशतः सर्वतो वापि	२९२
				दृष्टिप्रायेषु पानीयं	३००
				द्विजाण्डजनिहन्तृणां	३०१

[व]

देवतातिथिपित्रर्ष	३०६	दीक्षायोग्यास्त्रयो वणश्च—	४५०	नार्पयन्ति मनः सङ्गमे	३३
दर्शनस्पर्शसंकल्प	३०७	दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः	४५३	न श्रमान्तकसंपर्कात्	४२
द्विदलं द्विदलं प्राश्यं	३०७	दीक्षाल्लब्धं धनं धर्मैर्	४५५	निष्कण्टकं राज्यमिदं प्रवृद्ध—	४९
दीनान्मुद्गरणे बुद्धिः	३०८	दुष्कर्मदुर्जनस्पर्शी	४५५	नवं वसन्नाहतरास्तक्षयो	५२
दर्पेण वा प्रमादाद्वा	३१०	द्वादशवर्गाणि नृपः	४५८	न कुर्वीत स्वयं हिंसां	५४
द्वादशाङ्गधरोऽध्वीको	३१०	देवसेवा गुरुपास्तिः	४७१	न तर्पणं देवपितृद्विजानां	५९
देवादायुर्विरामे स्यात्	३१२	दुश्चिन्तनं दुरालापं	४७८	नामापि पूर्वं न समस्त्यभीषा—	६०
दोषतोयैर्गुणघ्नोऽध्वैः	३३६	[छ]		निनिमिषं न कोऽपीह	६१
देहद्रविणसंस्कार	३५५	ध्यानामुष्ठानयत्तात्मा	४३	न स्त्रीभिः संगमो यस्य	६३
दिग्देवानर्पदण्डानां	३७४	धर्मं प्रमाणं शलु वेद एव	६०	निष्कन्ति निःसंशयमेव भूपाः	७१
दिक्षु सर्वास्वप्नःप्रोर्ध्व	३७४	धूर्तेषु नायाविपु दुर्जनेषु	८३	न कापि पुंसः पुरुषार्थसिद्धिः	७२
दिग्देशनियमादेवं	३७४	धत्ते यद्विकिरावीर्णं	११५	न मांसभक्षणे दोषो	७३
दन्तधावनशुद्धास्यो	३७८	धर्मकर्मोन्मत्तोऽप्येव	१७०	नायैष पापं मनसा विचिन्त्यं	७४
द्वा द्वि नष्टं गुरुस्थानां	३७८	धर्मात्किलैव जन्तु—	१८२	नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो—	७६
दानज्ञानचरित्रसंयमनय—	३९१	धर्माधर्मौ नमः कालो	२०६	नरेषु संकल्पवशेन सम्भयो	७९
दूराकृते प्रणिधितरणा—	३९२	धर्माच्छिमंभुजां धर्मो	२९८	नास्ति स्त्रीणां पुथग्यज्ञो	८६
देहाराभेऽप्युपरतधियः—	३९३	धर्मभूमौ स्वभावेन	३०३	न चापि मे सति विनीतचेतसः	८९
देहेऽस्मिन् विहितार्चने नित्यवति—	३९७	धनायाविद्वबुद्धीनाम्	३६७	नृत्यैः समं वार्षावलासिनीनां	९१
द्राक्षाखजूरचोचेक्षु	३९७	धर्मयोगिनरेन्द्रस्य	३८७	न व्रतमस्थिग्रहणं	९२
देवपूजामनिर्माय	४०४	ध्यानावलोकविगलस्तिमिरप्रज्ञाने	३९०	नभः परिच्छेत्तुमिधोद्यतस्य	९७
दिविजकुक्षरमौलिमन्दार—	४०५	धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतो	४०४	नमोऽसन्तानकपारिजात	९७
दीक्षासु तपसि वचसि त्वयि नु	४११	धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति	४०८	निर्मितास्यः कपिलनयन—	१०७
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुख—	४११	ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव	४२९	नित्येऽमूर्ते सदा पुंसि	१५८
देवं देवसभासीनं	४३०	ध्यायेद्वा बाङ्मयं ज्योतिर्	४३४	न हि वै सदाशरीरस्य	१५९
देवं जगत्त्रयीनेत्रं	४३३	ध्यायन्विषयस्य देहेऽस्मिन्	४३४	न केवलं तच्छुभकृष्णपदस्य	१६१
दीपहस्तो यथा कश्चित्	४३६	ध्यानामुत्ताप्ततुष्टस्य	४३९	नमस्यामो देवाश्च नु हतविद्ये—	१६२
दधिभावगतं क्षीरं	४३६	धूमवन्निर्वमेतु पापं	४३९	नाहं नैव परो न कर्मभिरिह—	१६३
दग्धे क्षीजे यथात्यग्धं	४३६	धर्मेषु स्वामिरोवायां	४५०	नेत्रे विलासविरले शरपाकपाण्डु	१६७
दहनः सर्पिर्वास्माज्यम्	४३७	धर्मकर्मफलोज्जीहो	४५३	नग्नत्वं सहजं लोके	१७०
दृष्टस्त्वं जिह मेदितोऽसि नितरां	४३२	ध्यानं सिद्धिगिरी—	४८०	नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह	१८५
देवागारे गिरौ वापि	४४३	[न]		निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः स्याद्	१८९
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य	४४५	नयननदिनिदानैरेभिर्भ्रुप्रवाहैः	१३	न्यस्यवीक्षाविनिर्मोक्षे	१९२
दातृपात्रविधिद्रव्य	४४६	नाथिनि मलिनमुखत्वं	२१	निर्वीजतेव तन्त्रेण	२००
दातानुरागसंपन्नः	४४६	नीचेवृत्तियेषां	२१	नियतं न बहुत्वं चेत्	२०२
दानमन्यद् भवेन्मा वा	४४७	नैवा रूपं प्रतीक्षन्ते	३१	निराधारो निरालम्बः	२०८
दधिसपिः पयोमद्य	४४९			नैव लग्नं जगत्स्वापि	२०८

निष्पन्दाविविधौ वक्त्रे	२१०	नवोपचारसंपन्नः	४४७	पयोधरभरालसाः—	१५५
नैष्किचन्मर्महिंसा च	२१०	नाहरन्ति महासखाश्च	४४९	पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तोः	१५६
न स्वर्गमि स्थितेभुक्ति—	२१०	नतेर्गोत्रं श्रियो दानाद्	४६१	पृथिव्यादिवदात्माय—	१६३
नदोनदसमुद्रेषु	२११	निर्ममो निरहंकारो	४६३	पुंसि तिष्ठति तिष्ठन्ति	१६४
न स्वतो जन्तवः प्रेयसि	२११	[प]		पित्तप्रकृतिर्धर्मान्	१६५
सर्वः सदिग्धनिर्वाहै—	२४९	पुष्पेष्वस्तशिलीमुखावलिभून्	२१	पापिष्ठं पापहेतुर्वा	१७०
न वेदादपरं तत्त्वं	२७२	प्रियोपचारसंचारे	३३	प्रायः संप्रति कोपाम	१८७
निरुगोऽधिगमो वापि	२८२	पौश्चल्याच्चलचित्तत्वात्	३५	प्रात्रावेशादिवन्मन्त्रा—	१८८
निश्चयोचितचारित्रः	२८७	पातालमूलं स मुजङ्गपालो	४६	पिहिते कारागारे	१९०
नात्मा कर्म न कर्मरमा	२८८	परोपरोधादयमेवमात्मा	५३	परस्परविरुद्धार्थ	१९८
निहत्य निखिलं पापं	३११	प्राणाघाताश्रित्यः परधनहरणे—	५६	पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये	२०४
न स्तूयादात्मनात्मानं	३३६	पुत्रस्य पित्रानुचरस्य भर्त्रा	६१	पूर्वापरविरोधेन	२०४
न व्रतमस्थिग्रहणं	३४६	पर्वतीर्थातिथिश्राद्ध	६१	प्रेमते कर्म जीवेन	२०६
निकामं कामकामात्मा	३५४	पद्मिनी राजहंसाश्च	६४	प्रकृतिस्थित्यनुभाग	२०६
नित्यं स्नातं गृहस्थस्य	३७६	परेषु योगेषु मनोपयाज्यः	६५	पाणिपात्रं मिलयेत्तच्च	२१०
नरोरगसुराम्भोज	३८१	प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं	६६	परीप्लव्रतोद्दिग्ध	२४९
नेत्रं हितहितालोके	३८६	प्रसिद्धिरस्त एवास्य	६७	पुष्पं वा पापं वा	२६७
नन्वावर्तस्वस्तिक	३९८	प्रमाणं व्यवहारेऽपि	६७	पुण्यायापि भवेद् दुःखं	२८९
नमधमरमोलिमण्डल—	४०४	पुराणं मानवो धर्मः	६८	प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः	२९०
नमधमरमोलिमन्दिरतटान्त	४०६	पिबेद्विषं यद्यमृतं विचिन्त्य	७४	पुष्पं तेजोमयं प्राहुः	३०८
निजकीजबलान्मलिनापि	४०६	परस्य जीवेन यदि स्वरक्षा	७४	परिणाममेव कारण	३०९
नासेषु बहुत्वं यः सहेत	४११	पुंसमसारसत्त्वानां	८२	प्राय इत्युच्यते लोक—	३१०
निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि	४१२	प्रायः सरलचित्तानां	८२	पञ्चकृत्वः किलैकस्य	३२४
मिथमितकरणग्रामः	४१४	प्रयास्ति यः श्रोतृवशेन धर्मं	८९	परप्रमोषतोयेन	३२६
नाक्षमित्वमविघ्नाय	४१६	प्रवर्तते यो नृपतिः खलानां	८९	पादमायाश्रित्वि कुर्यात्	३२७
नरेऽधोरे वृथा धर्मं	४१७	प्रतिक्षणं संशयितायुधो ये	९०	प्रियशीलः प्रियाचारः	३३५
निषिचारावतारासु	४१७	प्रजाविलोपो नृपतीच्छया स्यात्	९०	परस्त्रीराजविद्विष्ट	३३५
निर्मनस्के मनोहंसे	४१८	पिष्टं च मांसं परिकल्प्य तस्य	९४	पुराणं मानवो धर्मः	३५२
नाभौ नेत्रे ललाटे च	४२१	पाताले पावमूलोपलविलसद्वह्नि—	९९	परस्त्रीसंगमानङ्ग	३४५
निरञ्जनं अनायीशं—	४३०	पार्थः पल्लवलुप्तमं करदिभिः—	१०२	प्रासेऽर्थे ये न माद्यन्ति	३६८
नम्रामरकिरीटांशु—	४३०	प्रवणशरणागतोद्धरणकुलवीर्ययः	१०६	पापाख्यानाशुभाभ्यान्	३७४
नीरूपं रूपिताशेष—	४३०	प्रासादमण्डनमणौ रमणौविनोदे	१०९	पोषणं क्रूरसत्त्वानां	३७५
न ते गुणा न तज्ज्ञानं	४३३	पादान्तलक्ष्मीरपरः पयोधिः	१२९	पादजानुकटिप्रोक्ता	३७७
नाभौ चैतसि नासाग्रे	४३७	प्रपञ्चरहितं शास्त्रं	१५४	प्रतनकर्मविनिर्मुक्तान्	३८२
न स्नात्कृतिर्न कण्डूतिर्—	४४०	पेया सुरा प्रियतमाशुभमीक्षणीयं	१५४	पुष्पं त्वदीयवरणार्जनपीठसङ्गाच्च	३९०
न कुर्याद् दूरदृक्पातं	४४०	यः पश्यत्यात्मानं	१५५	पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य	३९९

प्रस्तावना पुराकर्म	३९५	[फ]	भूषितोऽपि चरेद्धर्म	५६
पाथः पूर्णान्कुम्भान्	३९६		फलैस्तल्लगाममृतानुकूलै—	९७
पुण्यद्रुमश्चिरमयं नवपल्लवश्रीष	३९७		कल्मुजन्माभयं देहो	४१७
पुण्योपार्जनधारणं	४०२	[ब]	भवन्नकुदमावहितो हि लोकः	७४
प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजने	४०४		बालस्य मोक्ष्यान्न तपोऽधिकारो	५३
परिमाणमिवातिशयेन वियति	४०७		बालाग्रकोटावपि यत्र सङ्गे	६५
पुरुषत्रयमवलासकृतमूर्ति	४०९		यलादभीभिद्विगमैर्वराकः	७३
पातालमत्यंक्षेचर—	४१३		बहिर्मुकुलं धृत्यान्तः	८३
पुष्पैः पर्वभिरम्बुज—	४१८		ब्रह्माजिह्वितमण्डला हरिकुल—	११६
प्रभावैश्वर्यविज्ञान—	४२४		बन्धमोक्षौ सुखं दुःखं	१५७
परे ब्रह्मण्यनूचानो	४२५		युद्धि प्रति यदीष्येत	१६५
प्रमाणतमनिशेषैः	४२८		ब्रह्मपुत्रविधिना सह माया	१७२
प्रक्षीणोभयकार्माणं	४३०		बहिः शरीराद्यद्रूप—	१८६
प्रमथं सर्वविद्यानां	४३२		बोधो वा यदि वानन्दो	१९२
प्रणिधानप्रदीपेषु	४३३		बाह्ये ग्राह्ये मलापायात्	१९३
बरापरपरं देव—	४३५		ब्रह्मं कं यदि सिद्धं स्यात्	१९४
वक्ष्यमूर्तिमये बीजं	४३५		बन्धस्य कारणं प्रोक्तं	२०७
पथमुत्थापयेत् पूव	४३८		ब्रह्मचर्योपपत्ताना—	२०९
पुष्पामोदो तच्छृण्वे	४४३		बालवृक्षगवस्तानान्	२३४
वर्षाणि प्रोषधान्याङ्गु—	४४३		बहिः क्रिया बहिष्कर्म	२८७
पुंसः कृतोपवासस्थ	४४४		बहिस्तपः स्वतोऽप्येति	४२५
परिग्रहपरित्यागो	४६१		बुद्धिपौरुषमुक्तेषु	४५३
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यात	४६३		बहिस्तपः स्वतोऽप्येति	४५९
प्रतिदिवसं विजहद्वल	४७०	[भ]		
पुंसो यथा संवायिताशयस्य	४७५		भवति कचमृद्योगात्	२०
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्मृः	४७६		भूर्धनुर्दृष्टयो वाणारु	३३
पाथाणभूरजोवारि				

मध्यमचुलुक्चमसुकर	१२०	मन्मथोन्माथितस्वास्तः	१६७	यो दद्यात्काष्ठं मेघं	१४
मन्दस्पर्शदीभवति हृदये—	१३०	ममेवमिति संकल्पो	३६७	यथात्मनि शरीरस्य	५४
मेघस्पर्शद्विवृद्धचमन्मथिशिखरो—	१४९	मृत्स्नयष्टकया वापि	३७७	यावन्ति पशुरोमाणि	५५
मदनशरचित्रकास्तै	१५१	भुक्तिरुद्धमीलतामूलं	३८५	यः कार्यवादेषु करोति संघां	६०
मलकलुषसाधारतं—	१५९	मिथ्यातमः पटलभेदनकारणाय	३८९	येनापि केनापि मिथेण भाग्यं—	६१
महदपि पाप विवर्लति	१७३	मिथ्यामहान्वतमसावृतमप्रबोध	३९०	यावत्समर्थं वपुःश्रुतायां	६५
मार्दवाधिकतरं कलघौतं	१७४	मनोमात्रोचितायापि	३९२	यथाजनाकृतमयं प्रवृत्तः	६६
मायारामसमा रमा सुखमिदं	१७५	मद्भाविलक्ष्मीलतिकावनस्य	४००	यो भागते दोषभविद्यमानं	६९
मन्त्रवन्नियतोऽप्येपो	२०६	मन्दमदमदनदमनं	४०२	युवा निजादेशनिवेशितधीः	७१
मतोवाक्कायकर्माणि	२०८	मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य	४११	यथा जलैः पङ्कजिनीदलानां	७२
मायासंघमिन्युत्सर्पे	२४९	मनुजद्विविजलक्ष्मी—	४१३	यथा मम प्राणिवधे भवत्मा	७४
महापद्मसुतो विष्णु—	२८१	मन्त्राणामखिलानां—	४१४	यद्योच्छिन्नशब्दा मण्डूक्यो	८८
मायानिदानमिथ्यात्व	२८६	मन्त्रोऽयमेव सेव्यः	४१५	यतो यथाथं वदतां नराणां—	९०
मूढत्रयं मदारुवाष्टी	२८७	मृत्युं जयं यदन्तेषु	४२१	यस्तुङ्गशृङ्गाविलिम्बिद्विम्बः	९७
मतिर्जागतिं दृष्टेऽर्थे	२९०	मार्गे रूढमनुपेक्षाः	४२२	यश्चित्रमेघाम्बरमण्डिताङ्गः	९७
मद्यमांसमधुप्रागः	२९४	महाभागोऽहमद्यास्मि	४२९	यदग्निमोद्गमस्थूल	११५
मद्येन मद्यवा नष्टा	२९४	मन्त्रोऽयं स्मृतिवाराभिः	४३४	यस्याः प्रवाहः सरितः प्रकामं	१२१
मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः	२९४	मन्दं मन्दं सिपेद्वायुं	४३६	यत्र सुखं वा दुःखं	१२७
मनोमोहस्य हेतुत्वान्	२९४	मूर्धाभिषिक्तोऽभिषेकाज्जिज्ञाना—	४४२	यन्नाम्बुविः पुष्करवत् स्थिताङ्गे	१२९
मद्यमांसमधुप्राधं	२९९	मिथ्यात्वप्रस्तविसोपु	४५२	यः क्रोधः सागराघेषु	१३२
मांसादिषु दया नास्ति	२९९	मूलोत्तरगुणरलाब्देः—	४५३	यामेवं प्रादुष्यद—	१४८
मक्षिकागर्भसंभूत	२९९	मान्यं ज्ञानं तपोहीनं	४५४	यथा स्नेहक्षयादोषः	१५५
मद्यादिस्वादोर्गोहेषु	३००	मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि	४५७	यावज्जीवत् सुखं जीवेत्—	१५७
मांसं जीवशरीरं	३००	मुनीनां व्याधियुक्तानां	४५८	यः स्यादाद्यपि सर्वयोनिक्रमय—	१७७
मैत्रीप्रमोदकादण्य	३०८	मूलव्रतं व्रतान्यर्चा	४६१	यस्मादभ्युदयः पुंसां	१८२
मनसा कर्मणा वाचा	३१०	मानमायामदामर्ष	४६२	यस्तु पश्यति राज्यन्ते	१९३
मदेर्ध्यामूयनादि	३११	ममेदं स्यादनुष्ठानं	४७३	यत्र नेत्रादिकं नास्ति	१९३
मन्दिरे पदिरे नीरे	३२५	मानदावाग्निदग्धेषु	४७७	यस्तत्त्ववेद्येनाद् दुःख	१९७
मोक्षमार्गं स्वयं जानन्	३३५			यस्यात्मनि श्रुते तस्यै	१९७
मन्त्रभेदः परीवादः	३३५	[य]			
मुखस्याहं शरीरं स्याद्	३३९	यदर्थं च महो त्यक्ता	३५	यद् दृष्टमनुमानं च	१९९
महोक्तो वा महाजो वा	३५१	यावज्जरा जग्यते न शरीरशक्ति	४७	येऽविचार्य पुनर्देवं	२०४
मानवं व्यासवासिष्ठं	३५२	यातु द्विपत्यक्षमदः समीक्षितुं	४८	यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र	२०९
मृधोद्यादीनवोर्धोगात्	३५३	यज्ञार्थं पशवः सुष्टाः	५०	ये प्लावयन्ति पानीयै—	२०९
मदनोद्दीपनवृत्तैर्	३५४	अदुषचित्तमन्यजन्मनि	५२	यदेवाङ्गमशुद्धं स्या—	२१०
मद्यं द्यूतमुपद्रव्यं	३५५	यथैव पुण्यस्य सुकर्ममाजां	५४	यतः समयकार्यार्थो	२४९
		यः क्षत्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद्	५४	यद्वागादिषु दोषेषु	२८४

यज्जानाति यथावस्थं	२९०	यजमानं सदर्थानां	४३१	राज्यस्थितं मामवहाय यैषा	८५
धृष्टिबज्जनुषान्धस्य	२९०	यं यमध्यात्ममार्गेषु	४३२	रक्तप्रान्तविलोललोचनयुगः—	१२७
यद्यर्थं दर्शितेऽपि स्याज्	२९०	यत्र यत्र हृषीकेशस्मिन्	४३५	रिक्तस्य जलोजातस्य	१५७
यत्परत्र करोतीह	२९१	यायाद् व्योम्नि जले तिष्ठेन्—	४३७	रागाद्युपहृतः शंभु	१५९
यस्तु लीन्येन मांसादी	३०२	यस्याः पदद्वयमलंकृतिर्युगमयोग्यं	४४०	रथः क्षोणी यन्ता—	१६०
यस्यात्प्रमदयोगेन	३०६	यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनांऽपि	४४०	रत्नायस्कान्तवातादे	१६१
यदन्तः सुषिरप्रायं	३०७	या स्वल्परचनापि मितप्रवृत्तिः	४४१	राजन्यशोधनृपतिः पलितं विलोक्य	१७२
यौतवन्मूनताधिक्ये	३२५	यद् बीजमल्पमपि सज्जनधीधरायां	४४१	रागाद्या द्वेषाद्या	१९७
यत्परस्य प्रियं कुर्याद्	३३६	या स्पष्टताधिकविधिः परतन्त्रनीतिः	४४१	रागादिदोषसंभूति—	१९७
यथा यथा परस्वेतम्	३३६	यः सकृत्सेव्यते भावः	४४४	रागरोगधरे नित्यं	२८४
यजार्थं पशवः सुष्टाः	३५१	यमश्च नियमदचेति	४४४	वचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं	२९२
यस्य हृत्तद्वयेऽप्यस्मिन्	३६८	यथाविधि यथादेशं	४४५	रिक्तं निधिनिधानोत्थं	३२५
यद्भवध्वान्तिनिर्मुक्तिः	३७८	युक्तं हि श्रद्धया साधु	४५१	रत्नरत्नाङ्गरत्नस्थी	३२६
यद्देवैः शिरसा धृतं गणधरैः—	३८८	यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां	४५२	रथ्यमाणे हि बृंहन्ति	३५४
यच्चिन्तामणिरीम्भितेषु वसतिः	३८९	यत्र रत्नत्रयं नास्ति	४५२	राज्यं प्रवर्धते तस्य	३६२
येषां तृणपानिमिराशिनुरम्—	३९२	यथा यथा निक्षिप्तान्ते	४५४	रक्षन्निदं प्रयत्नेन	३७४
येषामन्तस्तदमृतरसा—	३९३	यदात्मवर्णितप्रायं	४५६	रत्नत्रयपुरस्काराः	३८०
येषामङ्ग्रे मलयजरसैः	३९३	यद्दत्तं तदमुत्र स्याद्	४५७	रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धी	३९५
योगाभोगाचरणचतुरै	३९३	यदजानी युगैः कर्म	४५९	रूपे मरति चित्तेऽपि	४१९
येषां ह्येयायायकुशलया —	३९४	यो हताशः प्रशान्ताशस	४६२	रेणुबलजन्तवस्तत्र	४२६
यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च	३९५	यः पापपाशनाशाय	४६३	रूपं स्पर्शं रसं गन्धं	४३५
यस्य स्थामं त्रिभुवनशिरः	३९६	यः कर्मद्वितयातीतस	४६३	रज्जुभिः कृष्यमाणः स्याद्	४३९
यार्गेऽस्मिन् नाकनाथ उवलन पितृपते	३९७	योज्वलगम्य यथाभ्यासं	४६३	रक्षां संहरणं सृष्टि	४३९
येषां कर्मभुजङ्गनिविष्टविधौ	३९८	योज्जस्तैनेष्वविश्वस्तः	४६४	रत्नद्वयेन समलंकृतचित्तवृत्तिः	४७९
यत्तुमुदावभूयभास्तिरुपास्य देवं—	४०३	यमनियमस्वाध्यायास	४६८	रसत्यागीकर्मकर्त्ता	४४४
यस्त्वाममितगुणं जिन	४०५	यो भदात् समयस्थानाम्	४७१	रेषणात् कलेशराशीनाम्	४६३
यदेन्द्रियाणि पञ्चापि	४१६	यथोपधक्षिया रिक्ता	४७७		
यत्रायमिन्द्रियसामो	४१७	यावन्मायानिशालेशो	४७७		
यद्यप्यस्मिन् मनःक्षेत्रे	४१८	यस्याक्षरावलि—	४८१		
यः कण्टकैस्तु दत्तपद्मां	४२०				
योऽद्विचारितरम्येषु	४२३				
यस्येन्द्रियाधीतृष्णापि	४२३				
यः स्वललित्यत्पत्रोधानां	४२६				
यदा चकाशित मे चेतसि	४२९				
यो दुरामयदुर्दधे	४२९				

[र]

[ल]

रमयति मनो नितान्तं	२०	लज्जा न सज्जा कुशलं न शीलं	६५
राशि धर्मिणि धर्मिष्ठाः	५३	लोके विनिन्द्य परदारकर्म	७४
रागद्वेषमदोम्भताः	६२	लोलेन्द्रियैर्लोकमनोनुकूलैः	७५
रजस्तमोभ्यां बहुलस्य पुंसः	७४	लोलेन्द्रिया दुराम्नायाः	१७०
रक्तभारं समस्तानां	८३	लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः	२५४
		लङ्घनीयघसाध्यानां	३११
		लक्ष्मीकल्पलते समुल्लस जना—	४००
		लाभेऽलामे बने वासे	४२४
		लेखतोऽपि मनो यावद्	४२५

लोकवित्त्वकवित्त्वार्थं
लौक्यत्यागात्तपोवृद्धिर्
लोभकीकसच्चिह्नानि

[व]

विषयवत् परिपाकेषु
विमाननाञ्च भान्यानां
विमत्सरः कुचेलाङ्गः
विष्णोर्मगिवता मयाश्च सवितु-
ववन्ति जैनास्तमिहाममेते
विचक्षणः किं तु परोपदेशे
विषं विषस्यौषधमग्निरग्ने
विलासिनीविभ्रमदर्पणानि
विशीलः कामवृत्तो वा
विहाय शास्त्राण्यवमत्य मन्त्रिणो
विज्ञानिनां शिल्पविशेषभावा-
वैद्याप इताः प्रहिता हि यावद्
विहाय देहस्य मुक्तानि येषां
वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तुंवाद्
व्याक्रीणी व्यापहासी वा
विष्वग्व्यापी भवेत्तस्मा
विशुद्धज्ञानदेहाय
वक्ता नैव सदाशिवो विकरणरु
विधिर्विधाता निमतिः स्वभावः
विष्टिकर्मकरादीनां
विद्वद्गुणसंसर्गा-
विज्ञानसुखदुःखादि
वृद्धिहानी यथान्तेः स्ता-
वने वा नगरे वापि
विषाय विधिवत्सूरेः
विस्मयो जननं निद्रा
वसुदेवः पिता यस्य
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्
वक्ता नैव सदाशिवो विकरणरु
वामघटिणमार्गस्थो
वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद्
विकारे विदुषां द्वेषो

४५४ वरार्थं लोकवार्ताय-
४५७ वस्तुन्येव भवेद् भक्तिः
४७७ विष्णुमनसां पुंसां
विद्याविभूतिरूपाद्याः
विशुद्धवस्तुधीर्वृष्टि-
वृत्तमस्तिष्पयो धीः
विचिदचेत्केवलं शुद्धर्थं
विकषाक्षकषायमाणां
वपुषो वचसो वापि
वद्वृत्तिस्थियी हित्वा
विषयद्विषयाः पुंसाम्
विष्णुर्गोः कलशेण
वधवन्धनसंरोध
वज्रनारम्भहिसानाम्
वातातपादिसंसृष्टे
विचार्य सर्वमेतिहा
वाग्देवतावर इवायमुपासकानां-
वीतोपलेपवपुषो न मलानुपङ्गु
विज्ञानप्रमूखाः सन्ति विमुक्ति
वचसा वा मनसा वा
विषये वलेशराजीनां
वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिः
विलीनाशयसंबन्धः
व्योम, च्छायावरोत्सङ्गि
विक्षेपाद्योपसंमोह-
विशुद्ध्यन्तरास्मायं
दियणं विरसं विद्धं
वालभ्लानतपःक्षीण-
विवेकं वेदयेदुच्चैर्
विप्रकीर्णार्थघास्यानाम्
वेषुमूर्त्तरजाशृङ्गैर्
वैराग्यभावना नित्यं
विद्याविनोदवनवासित-
वर्णःपदं वाक्यविधिः समाप्तो
[श]
श्रीमानस्ति समस्तवस्तुविषय-

२११ श्रुतान्यधीतानि मही प्रसाविता
२११ शुक्रगीणितसंभूत-
२५२ श्रमणं सैललिताङ्गं
२८७ शौचं तिकाभं मृगिपुंगवानां
२८७ शूद्राश्रं शूद्रशूद्रपा
२९२ श्रुतास्ते देवः श्रुतमेतदस्मा-
३०१ श्रियां मनोदर्पकरविलासै-
३०६ शूरोऽपि सस्वयुक्तोऽपि
३०९ श्रीमानशेषमुवनाधिपतिजिनेन्द्र-
३५३ श्रीविलासोत्सवस्वलितसुरसमितयः
३५४ श्रीरेषा स्वर्गसिन्धो-
३६० शिषं शक्तिविनाशेन
३७४ शुद्धोऽपि देहसंबद्धो
३७५ श्रीमानत्रान्तरे सूरिः
३७७ भद्रा श्रेयोर्थिमां श्रेयः-
३८२ शून्यं तत्त्वमहं वादी
३९४ श्रुति वेदमिह प्राहु-
३९५ श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्
४०८ शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्य-
४१४ शृङ्गारसारममृतश्रुतिमिन्दुकान्ति
४१८ श्रुतिशाक्यशिवाम्नायाः
४१९ शौचं भज्जतमाचामः
४२८ शरीरमानसागन्तु
४३३ शुद्धमार्गमतोद्योगः
४४० शुद्धं दुग्धं न गोमूत्रं
४४४ शरीरावयवत्वैर्गपि
४४८ शोकसंतापसंक्रन्द
४४९ श्रीभूतिः स्तेयदोषेण
४५६ शिखण्डिकुक्कुटस्थेन
४७० शुद्धे वस्तुनि संकल्पः
४७६ श्रोत्रेण वाग्बनितानिवासं
४७८ शुद्धविशुद्धयोपस्य
४८० श्रद्धा सुष्टिर्भक्तिर्
४८२ शाठ्यं गर्ह्यमवज्ञानं
शिल्पिकाहकवाक्यस्य
शाक्यनास्तिकयागज
४२
५५
६३
६५
६७
६९
७३
८३
८६
१०५
१४८
१४८
१४८
१७९
१८८
१९१
२०३
२०४
२१२
२२८
२३४
२३५
२८४
२८९
३०१
३०१
३०८
३३४
३७४
३७६
३८४
४००
४४८
४४९

धृतस्य प्रथयाच्छ्रेयः
 दारोऽरमानसागस्तु
 धृतास्तत्त्वपरिज्ञानं
 शब्दतिर्हानं गोः बुद्ध्या
 धृते कृते प्रसंख्याने
 शुचिविनयसंपन्नसु
 शिलास्तम्भास्थिसाद्रेष्म—
 श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको—

[ष]

पदकर्मकार्यार्थमथाशुद्धार्थं
 धम्मासापेक्षागमांसेन
 पदचरणचलितजलसह—
 पदशतानि नियुज्यन्ते
 पठ्याः क्षितेस्तुलीयेऽस्मिन्
 पङ्क्तौ गृहिणो ज्ञेयाः
 षोडशानामुदारात्मा
 पदस्वर्थेषु विसर्पन्ति

[स]

स्तनयलक्ष्मणभुजगा
 स्त्रीषु साक्षाद्विषं दृष्टी
 सकृद्विजातसारेषु
 सत्यं न धर्मः क्रियते यदि स्याद्
 स्वयं कृतं जन्तुषु कर्म नो चेत्
 सन्तर्पणार्थं द्विजदेवतानां
 स्वकृतैः कर्मभिरपि
 स्नात्वा यजेताममथागमं वा
 सरित्सारोवारिधिबापिकासु
 समग्रं शनिना दृष्टः
 सन्दिग्धेऽपि परलोकं
 सप्तषामेषु यत्पाप—
 सद्यः प्रतिष्ठितोदन्ते
 सर्गस्थितिप्रत्यवहारवृत्ते—
 स्वयं स कुष्ठो पद्मोः किलार्कः
 संवत्सरं तु गम्येन
 सत्यं धाम्नामाहारं
 सर्वेषु सत्त्वेषु कृतेषु गन्धे

४५७ सैवेयं नगरी तदेव भवनं—
 ४५७ सत्यसंपत्तिर्लक्षितसीमामुवः
 ४५८ समरभरभागिभटमावधादोत्कटाः
 ४५९ सोत्सेभसौक्ष्मशिराभयशातकुम्भ
 ४६३ सिंहः सुखं निवसतादचलोपफण्डे
 ४७२ संपन्नपुरच्छायं
 ४७६ स्तेनद्विपद्विपव्याल—
 ४८० स्वामिद्रोहः, स्त्रीवधो वाल्हिरा,
 सुखदुःखानुभवार्थं
 स्त्रीमुद्रां शगकेतनस्य महतीं
 स्तोत्रं निन्दतु वा लोको
 समस्तेषु वस्तुष्वनुत्पूतमेकं
 स्वयं कर्म करोत्यात्मा
 सोऽहं तदेव पात्रं
 संतानो न निरन्वये विसदृशे—
 सुखानुभवने नमो
 स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा
 सम्यक्त्वज्ञानचारित्र—
 सम्यक्त्वं भावनामाहु—
 सम्यक्त्वज्ञानचारित्र
 सर्वं चेतसि भासेत
 स्वभावान्तरसंभूति—
 सर्वज्ञं सर्वलोकेशं
 स्वगुणैः कलाध्यतां याति
 सदा शिदकला रुद्रे
 सिद्धान्तेऽन्यत् प्रमाणेऽन्यत्
 सर्गावस्थितिसंहार
 समस्तभुक्तिनिमुक्तः
 सन्तो गुणेषु तुल्यन्ति
 सद्गोः कापालिकावेयी
 सूर्यार्धो ग्रहणस्नानं
 समयान्तरपासण्ड
 स्यां देवः स्यामहं यशः
 स्वस्थैव हि स बोधोऽयं
 स्वतः शुद्धमपि ध्येयं
 स्वस्यान्यस्य च कायौज्म

१०४ सवित्रोव तनुजाना—
 १०५ स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसूत
 १०५ सुदतीसङ्गमासकर्त
 १०६ समर्थश्चित्तवित्ताभ्या—
 ११० स्वाध्याये संयमे संघे
 १२१ सन्नसंश्च समावेय
 १२६ स्वमेव हन्तुमीहेत
 १२७ सरागवीतरागात्म—
 १२७ सत्ये सर्वत्र चित्तस्य
 १५६ सम्यक्त्वं नान्दहीनं स्याद्
 १५७ स्वतः सर्वं स्वभावेषु
 १५८ सुखदुःखाविधासापि
 १६२ सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता
 १६२ सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्त
 १६२ सखंदोषोदयो मद्यान्
 १७० समुत्पद्य विपद्येह
 १८२ स्वभावाशुचि दुर्गन्ध—
 १८३ स सुखं शेषमानोऽपि
 १८३ स पुमांस्तु लोकेऽस्मिन्
 १८३ स भूमारः परं प्राणी
 १८६ स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः
 १९० स विडान् स महाप्राज्ञः
 १९६ स धर्मो यत्र नाधर्मः
 १९७ स्वकीयं जीवितं यत्र
 १९८ स्त्रीत्वमेवैवसामान्याद्
 १९९ संकल्पपूर्वकः श्रेष्ठो
 २०२ संधानं पानकं धान्यं
 २०४ सा क्रिया कारिण नास्तीह
 २०४ संकलेशाभिनिवेशेन
 २१० सुप्रयुक्तेन दम्भेन
 २११ सत्यवाक् सत्यसामर्थ्याद्
 २११ सर्वा क्रियानुलोमा स्यात्
 २२६ स्वाध्यायध्यानधर्माद्याः
 २२१ सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ वृषानां
 २२१ स्त्रीषु धन्याश्च गङ्गाश्च
 २२१ स्त्रीणां वपुर्वैश्वभिरग्निसाक्षिकं

समिध्यात्वास्त्रयो वेदा	३६७	सर्वारम्भप्रवृत्तानां	४५४	हस्ते चिन्तामणिस्तस्य	४४४
सहस्रभूतिरग्रेय	३६७	साकारे वा निराकारे	४५५	[क्ष]	
स श्रीमानपि निःश्रीकः	३६७	सौमनस्यं सदानस्य	४५८	क्षीयेतायं क्षयाल्लोकः	१४१
सत्पात्रविनियोगेन	३६८	सुणिवज्जानमेवास्य	४५९	क्षुत्पिपासाभयं द्वेष्ट—	१९७
संभोगाय विषुद्धघर्ष	३७६	स्वरूपं रचना गुडिर्	४६०	क्षयास्यैकपक्षत्वे	२०५
सर्वारम्भविजृम्भस्य	३७७	साधं सन्निस्तनिश्चित	४६०	क्षत्रपुत्रोऽस्यविद्विप्तः	२२५
स्वजात्यैव विषुद्धानां	३७८	संसारान्निश्चिच्छेदो	४६४	क्षान्त्या सत्येन शीघ्रेण	२४६
सर्व एव हि जैनानां	३७९	सा जातिः परलोकाय	४६६	क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु	३०४
संसारान्बुधिसेतुबन्धमसम—	३८८	स वीथो यः शिवज्ञात्मा	४६६	क्षयामयसमः कर्मः	३५५
सम्यग्ज्ञानप्रयेण प्रविद्धितनिश्चल—	३९१	सविधा पापकृतेरिव	४६७	क्षेवं चान्यं धनं वास्तु	३६७
समवसरणपाशान्—	३९२	संहर्षे शिक्षायाः शत्रुपु	४६८	क्षान्तियोगिनि यो सक्तः	४६४
सौम्यं जितः सुरगिरिर्ननु पीठमेत—	३९६	सूरो प्रवचनकुसले	४६९	[ञ]	
स्मररसमिषूक्तसूक्ति	४०२	स्नपनं पूजनं स्तोत्रं	४७१	यस्यस्थावरभेदेन	२०६
स्वर्गापयर्गसंगतिविषयायिनं	४०३	सम्यक्त्वं जनस्यगन्तानु—	४७६	त्रयीमार्गं त्रयीरूपं	४३१
सुरपतिगुवतिश्रवसाम्	४०५	[ह]		[झ]	
स्तोत्रे यत्र सहासुतिपञ्चाः	४०५	हताः कृपाणेन बनेऽपि जन्तवो	५५	ज्ञानवानपि कार्येषु	८२
सुरपतिविरचितमंस्तत्र दलिता—	४०५	होमस्तान्तपोजाप्य	५६	ज्ञानध्यानतपःपूताः	१७०
सौहृदं योऽमूवं बालवयसि	४०९	हिताहितावेदि जगद्विसर्गतः	६७	ज्ञानादवगमोऽर्थानां	१८८
सर्वशिरगामाक्षर—	४१३	हरिः पुनः वाञ्छित एव कश्चित्	७०	ज्ञानहीने क्रिया पुंसि	१८८
संपूर्णमतिस्पष्टं	४१५	हिमालयाद्दक्षिणदिक्कपोलः	९७	ज्ञानं पञ्चो क्रिया चान्ये	१८९
सूक्ष्मप्राणयमायामः	४१६	हृतं ज्ञानं क्रियाशून्यं	१८९	ज्ञानवान्भूयते कश्चित्	१९६
संयोगे विप्रलम्भे च	४२४	हेयोपादेयरूपेण	२०५	ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्मः	२०६
सुखामृतसुधासूतिरु	४२९	हासारिपतुश्चतुर्थेऽस्मिन्	२३०	ज्ञानदर्शनशून्यस्य	२०६
सम्यग्मेतत्सुधान्मोघेर्	४३०	हिताहितविमोहेन	२९४	ज्ञाने तपसि पूजायां	२५७
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं	४३०	हेतुशुद्धेः श्रुतेर्विद्यात्	२९६	ज्ञातुरेव स दोषोऽयं	२९१
स्तूयमानमनूचानैर्	४३०	ह्येवं पलं पयः पेयं	३०१	ज्ञानमेकं पुनर्द्वधा	२९१
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं	४३५	हितास्तेषामनुताश्रया	३०६	ज्ञातीनामत्यये वित्त—	३२५
सर्वपापाश्रये श्रीणे	४३६	हितायामनृते वीर्या—	३०६	ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव—	३८९
साकारं नश्वरं सर्वं	४३७	हिसन्तान्रह्यवीर्यादि	३११	ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे	४५३
संन्यस्ताभ्यामघोर्द्धिम्याम्	४३९	हिरण्यपशुभूमीनां	३११	ज्ञानभावनया हीने	४५९
स्याद्वाद्भूधरभवा मुनिमाननीया	४४२	हृन्मिरिव हृतप्रीतिः	३५४	ज्ञानी षट्सदैव स्याद्	४५९
स्नानगन्धान्निष्कार	४४३	हिसनं साहसं द्रोहः	३५५	ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म	४६४
सौख्यमभयादाहु—	४४७	होमभूतवली पूर्वः	३७८	ज्ञानंर्मनो वपुर्वृत्तैर्	४६५
सत्कारादिविषावेषां	४५२	हस्ते स्वर्गसुखान्यतः कितभवास्	३८९	ज्ञानहीनो दुराचारी	४६६
समयी साधकः साधुः	४५३	हेतावनेकधर्मप्रवृद्धि—	४१०		

परिशिष्ट २

अप्रयुक्त-विलष्टतम शब्द-निघण्टुः

[श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दि. जैन सरस्वती भवन नागौर (राजस्थान) की श्रीदेव-विरचित यशस्तिलक-पञ्चिका के आधार से संकलित]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
तद्व्याप्तत्वयि—सा सर्वकर्मनिर्मूलिनी व्याप्तत्वद्			अभिनयः—पूर्ववृत्तानुकरणं शय्यागमनकालश्च		६-२
इत्यस्य*		१-३	वेनुष्याः—उत्तमगावः		६-४
त्रैलोक्यक्षुभिः—त्रैलोक्यं क्षोभयतीति		१-३	रम्भितं—गोष्वनिः		६-४
दत्तयात्रककुभिः—कृतमेव ककुप्सु तस्मिन् लोको यत्र		१-३	कुक्ष्यवनः—शक्रः		६-६
ब्रह्मततः—पलाशः		२-२	हरिहस्ती—ऐरावतः		६-७
ललान्तः—पृष्ठा		२-३	खण्डपरशुचूडामणिः—खण्डपरशुरोद्वारस्तच्चू-		
वृक्षोत्पलः—कृष्णोत्पलः		३-१	डामणिकचन्द्रः		६-८
अवस्कन्दः— ^१ वाधा		३-८	निजमुद्रितं—समुद्रस्य चन्द्र एव		७-१
वित्तिमुत्पन्नः—हरिः		४-१	वद्वण्डः—उल्लोलाः		७-१
ब्रह्मासनं ध्यानं—		४-१	*विरहिणी—विरहोत्कण्ठिता		७-२
वाक्पति—मदिरा [पश्चिमा] दिग् वा		४-२	सितिमा—श्वेतत्वं		७-३
मन्दरगिरिः—अस्तावलः		४-२	बलशता—धवलता		७-३
दरम्—ईषत्		४-५	जडिमा—जडत्वं		७-४
सुरनदीसंभेदः—गङ्गा-यमुना-संगमः*		४-७	कलधीर्त—रजतेऽपि		७-६
^२ कृष्णागुरुपिञ्जरितकर्णपालेषु—		४-८	जतु—लाक्षा		७-७
नीलोत्पलः—इन्द्रनीलः		५-४	रदी—दन्ती		७-९
तुलाकोटिः—तूपुरं		५-४	नमुषिरिपुः—इन्द्रः		८-१
कृष्णला—गुञ्जा		५-४	मणितिः—गणना		८-१
प्रदोषः—शयनयोम्यः		५-७	कुमुदपक्षुः—चन्द्रः		८-४
मुनिद्रुमः—अगस्तिः		६-१	कुमुदवधुः—चन्द्रः		
सुपाटी—पुस्तकावयवः		६-१	सितं—कर्पूरं		८-६

*. वर्त वा हि निविष्टं वा प्रसिद्धं वा तथा क्वचित् । परामुशति तच्छब्दो मुख्यं वा भाव्यमेव च ॥ १ ॥

१. 'रात्रिसंवन्धिनी पाटी' सं० टी० पृ० ७-२ ।

*. कथं सुरनदी समुनेति चेत् ? गङ्गासन्निधानात् तथा च मनुबधनं देवनद्योर्दम्भरमिति ।

२. कृष्णागुरुपिञ्जरितकर्णानां पाल्यः पर्यन्तास्तास्वेवमुत्तराणि योज्यं, न पुनरेवंविधं गृहीतव्यं कृष्णागुरुपिञ्जरितारव ताः कर्णपाल्यश्चेति । नीलोत्पलादेरन्यत्र कर्मधारयस्य महाकवीनामसम्मतत्वात् ।

*. तथा चोक्तं—'अनेककार्यव्यासङ्गाद्यस्या नागच्छति प्रियः । तस्या नाम सुदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता मता' ॥ १ ॥

सं० टी० पृ० १३ क० ९-१० ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-गणिका	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-गणिका
कापणाः—अज्ञाः विपणयश्च*		९-५	अधिरोहिणी—निःशेषिः		१५-८
संचारिका—दूती		९-९	सरणिः—मार्गः		१५-८
अवग्रहः—वृष्टिप्रतिबंधोऽस्माच्चन्द्रात्		१०-२	*अन्तरान्तरेत्यादि—मध्यं मध्ये		१६-१
१ उत्पातरविमंजलात्—इति विशेषणमनुपपन्नमप्यु- पपन्नमेव		१०-३	उपधानम्—उपाशीर्षकं, उच्छीर्षकं		१६-२
प्रवसितपथिकवनिता—प्रोषितभर्तृका		१०-४	अमरामुरगुरु—बृहस्पतिशृङ्गौ		१६-३
अन्तर्बशिकाः—राशिरक्षणनियुक्ताः		१२-६	संवेशः—सुरतं		१६-४
निःशेषभाषाः—मागध्यवस्तिकादयः*		१३-३	सागराम्बरा—भूः		१६-६
खदिरिका—धूर्ता		१४-१	*वासकसज्जिका—शृङ्गारकारिणी		१७-६
गृहावग्रहणी—देहली		१४-६	*दक्षिणाशाप्रवृत्तमासतः—इत्यनेनेदमुक्तम्		१८-४
आकेकराः—कटाक्षाः		१४-७	*पारिप्लवं—चपलत्वं		१८-५
वशा—करिणी		१४-८	अनन्यजः—कामः		१८-६
सहेलं—युगपत् सलीलं वा		१४-८	परिभाषा—संभाषणं शास्त्रं च		१९-१
सान्द्रः—विलेपनविशेषः		१५-३	उपोद्धातः—विवक्षितस्य वस्तुनोऽवतारणक्रमः		१९-१
कूर्चस्थानं—संभोगोपकरणस्थापनप्रदेशः		१५-४	*अनुतन्त्राणि—पदवात् सुरतानि पक्षे वातिकानि		१९-१
संचारिमा—संचारेण निवृत्ता संचारिमा*		१५-५	मकरन्दपानेनेत्यादिना—अधरग्रहणं तत्तन्त्रं		१९-२
तुहिनं—कर्पूरं		१५-५	नक्षप्रदानालिङ्गतसंवेशनानि—कुचपरामर्शनं साधनसुरतावसानानि निवेदितानि		
बलीका—पट्टिका		१५-५	ध्वनेरलंकारस्माद्वयणात् १९-२ से १९-५		
साराः—पासकाः ? खदिरादिवृक्षविशेषाः*		१५-७	अपविचमं—चरमं		२०-२
कुतपं—वाद्यं		१५-७	अन्तः करणं—मनः		२२-१
आचमनकानि—उदकपानानि		१५-७	उपविधाय—कृत्वा		२२-४
कलमूकाः—धण्डाः		१५-७	शैह्यायकं—कारटकं		२२-७

*. स एव काश्मीरमलयजागुशब्दस्य परिनिपातो लक्षणं हेतोः क्रियायाः इति ज्ञापकात् ।

१. तदाह—अभिधेयस्यातस्य सदानुपपन्नं तिकासमनुपपन्नमेव यत्र स्पुर्वकतृणामुन्मादोऽप्यर्थमुत्कं वा ।

२. तथा चोक्तम्—मागध्यवस्तिका प्राच्या सौरस्यध्वंमागधी । बाल्हीको दक्षिणात्या च सतभाषाः प्रकीर्तिताः ।

सं० टी० पृ० २५ से संकलित—सम्पादक ।

*. ओषिकोऽयं मि-म प्रत्ययः । ३. संशोधितः परिवर्तितश्च—सम्पादकः

४. अन्तरान्तरेत्यादिवाक्यचतुष्टयस्य उत्फुल्लकमलेत्याद्युपमानचतुष्टयं यथासंख्यं शोध्यं ।

५. तथा चोक्तं—उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा । मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥ १ ॥

६. तथा चोक्तं स्वरोदयशास्त्रे—‘दक्षिणात्योऽनिलः श्रेयान् कामसंभोगमयोर्नृणां ।

क्रियास्वव्यास्वन्यः स्यात्तामनादीप्रभञ्जनः’ ॥ १ ॥

७. देखिए पृ० १८ की टिप्पणी नं० २ ।

*. संस्कृतटीकामनुसृत्य संशोधितं परिवर्तितमिदं पदं—सम्पादकः यत्र पञ्जिकाकारस्तु केवलं ‘वातिकानि’ आह ।

॥ ध्वन्यलंकारः ।

तथा चोक्तं—‘अन्यार्थवाचकीयं पदैरन्यार्थं उच्यते । सोऽलंकारोऽवनिर्णयो वक्तुराशयसूचनात् ॥ १ ॥

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
आकृतपरिपाकः—अभिप्रायावसानं		२२-११	माभीयं—मातुलीयं		२६-८
पदवी—मार्गः		२३-१	अर्थयतः— ^१ अर्थमात्रक्षणस्य		२७-२
अपात्रयः—शय्यास्थानं		२३-२	वारवाणं—कूर्पांसकः (कञ्चुकमिति सं. टी.)		२८-१
कटक्कुराः—वृक्षवाग्नाः		२३-३	कौसोद्यम्—आलस्यं		२८-७
यवसं—तृणं		२३-३	निरादो—व्याघ्रः		२८-७
अनुपदीना—उपानतु		२३-४	अवराणा—एकाकिनी		२८-१०
नासीरं—नासामामपि		२३-६	असंस्तुताः—अपरिचिताः		३०-४
वरटकाः—कर्पादिकाः		२३-७	कञ्चरं—कुत्सितं		३०-४
धमनी—सिरानद्धं		२३-७	पाण्डुरपृष्ठा—कुलटा निर्भोग्या वा		३१-३
किटिका—कुटीरखारविधानं		२३-८	फिगाकः—विषतरुः		३२-१
गोनसः—सर्पः		२३-८	हरिद्रारागहृदयः—अस्थिरचित्तः		३२-४
अपस्तिः—करः		२३-८	*सप्तार्चिः—अग्निः		३३-८
पिण्डिकाः—जङ्घाप्रवेशाः		२३-९	कैकसी—राक्षसी		३३-९
घुण्टिका—गुल्फं		२३-१०	अनुधवः—लौकिकी श्रुतिः		३४-५
विपादिकाः—पादस्फुटनरेखाः		२३-१०	अहत्या—गीतमभार्या		३४-६
*विचचिका पादस्फोटाः			उपपत्तिः—ज्वारः		३५-१
मण्डूरं—लोहमलं		२४-१	उपप्रलोम्य—वशयित्वा (लोमं दर्शयित्वा सं. टी.)		३५-७
^१ अष्टवक्त्रः—अष्टवक्त्र नामधेयः लेसिकापसदः		२४-५	उपानत्करः—चर्मकारः		३६-३
लेसिकाः—हस्तिपदाः		२४-५	अनुपनीतं—अकृतसंस्कारं		३६-३
अहलीलं—ग्राम्यं		२४-६	गोमर्मुप्रिवारणं—गोमक्षिकाणामपनयनाय		
बिधुंतुवः—राहुः		२४-७	चीरमलकलब्धजनं		३६-४
संबंधः—आशयः		२४-८	कादम्बरी—मदिरा		३७-६
वासतेयी—राशिः		२४-९	जनुषा—जन्मना		३७-७
परवती—परायत्ता		२४-१०	अनर्थः—अनवर्मशयादि		३७-७
तपनः—कामः		२४-१०	अजिह्वानि—ऋजूनि		३७-८
कात्यायनी—चण्डिका		२५-३	कलानां—गीतनृसंवाद्यादीनां		३७-९
बेलजं—द्वारम्		२५-६	याचितकं—परकोयं		३७-१०
दुरभिसन्धिः—दुरीहितं		२५-७	^३ अपामार्ग—प्रत्यक् पुष्पं ?		३९-५

*. पुष्पाङ्कितं पदं संस्कृतटीकातः संकलितं—सम्पादकः

१. उक्तं च—'कटिपादहस्तवक्षः पृष्ठाननकण्ठनिटिलदेशेषु वक्रो यस्मात्तस्माद्विज्ञेयो ह्यष्टवङ्क इति ।

संस्कृतटीका पृ० ४१ से संकलित—सम्पादक

२. याचमानस्य सं० टी० । * . 'असिततिरग्निः' इति ह० लि० क प्रती० ।

३. 'शेखरिर्दीपमिव प्रचटिकेव' सं० टी० पृ० ६९ ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
श्रायमं—श्रेयस्करं		३९-११	ब्रह्मविप्रुगः—रक्षार्थं निष्ठोवनकर्णिकाः		४९-१
रामस्या—प्रव्रज्या		३९-११	बुधसङ्गः—विचक्षणः		४९-२
घङ्घलं—व्यसनं		४०-८	आचारान्वः—मूर्खः		४९-२
मृषोर्ध्व—मिथ्योक्तिः		४०-८	अनलः—पित्तं		४९-४
*ब्रह्मोद्यकर्मणे—श्रेयसे		४०-८	पीनसः—कफः		४९-४
माया—परब्रह्मनोपायः		४०-९	आर्याणी—स्वामिनी		४९-४
भालुः—निजजनन्याः		४०-१३	भूदेवीः—द्विजैः		४९-६
मारः—कामदेवसदृशः		४०-१३	मन्दविसर्पिणी—यूका		४९-१२
गुणमयी नाम—सत्त्वरजस्तमोभिर्निवृत्तत्वात्		४२-३	कारोरी—अप्रसूता गौः		५०-६
दोषमयी—यारीरी—वातपित्तकर्फैर्निवृत्तत्वात्		४२-३	उदर्कः—आयतिः		५१-१
सोकालोकाचल इव—उदयाचल इव अस्ताचल इव		४४-१	कर्करः—पापणः		५१-१
रसाला—भजिका—शिखरिणी		४४-३	पूर्वपक्षः—आद्योदिकल्पः 'निष्कण्टकमित्यादि		
नगः—गिरिः		४४-७	निरीक्षितोऽस्ति' इत्यन्तः		५१-४
निगमो—मार्गः		४४-८	गर्भः—शुक्रार्तवजीवसंयोगः		५१-७
गोपुराणि—नगरद्वाराणि		४४-८	अवसानं—मरणं आत्मनो चिदक्षितैः शरीरेन्द्रिय-		
उत्तानवेदी—अस्थिरः		४५-१	विषयैर्वियोग इति यावत्		५१-७
औषस्यं—प्राभातिकं		४५-२	तयोरन्तरे—मध्ये		५१-७
शोसर्गं—प्रत्यूषः		४५-२	चित्तमित्यादि—आत्मस्वरूपभेदद्वारेण ब्रह्मोष्णता-		
परिष्वङ्गः—संबन्धः		४५-३	त्मकत्वात् पृथिवीपवनपावकानां,		
उद्गमनीयं—धौतं		४५-४	शान्तमुखादिरूपत्वाच्चात्मनः		५२-१
ईषत्प्राग्भारः—मोक्षः		४५-६	शिवाः—अनन्तरायाः		५२-४
यातयामं—वृद्धं		४५-१०	अमीषां—वयः प्रभूतीनां		५२-६
उपसंव्यानं—उत्तरीयं		४६-२	तत्र दण्डः—अलुप्तप्रजननस्य प्रजनतः पूर्वः साहस-		
अर्धजितम्—अवनतं		४६-४	दण्ड इति वचनं		५३-१
तनुर्बृहः—पुत्रः		४७-३	मध्यः—मध्यमवयः		५३-१
आयच्छन्ते—निर्गच्छन्ति		४८-६	राजव्यञ्जन—राजचिह्नवानपरो नरः		५३-४
स्वोपज्ञं—स्वकृतं		४८-९	गध्यमः—द्रुःस्वप्नराक्ष्णेत्यादिकः		५३-४
उत्थितं—स्वप्नः		४८-९	विश्वाग्निप्रसृष्टिः—वर्णसंकरादिकः		५४-२
प्रतीक्ष्याः—पूज्याः		४८-१०	अनपन्नपः—अविरुद्धः		५४-६
स्नुषा—बहूः		४८-११	प्रमहः—स्वीकारः		५६-८

१. तदुक्तं—न नर्मयुक्तं ह्यनृतं हिनस्ति, न स्त्रोषु राजन्न विवाहकाले ।

प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥

इति कर्णपर्वणि जिष्णुं प्रति कृष्णोक्तिः सं० टी० पृ० ७२ से संकलित—सम्पादक

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
दर्शः—अमावास्या		५६-११	सिद्धान्तः, पञ्चेवाङ्गानि, सप्तैव मातरः		
पौर्णमासी—पौर्णमासी		५६-११	इत्यादि		७०-४
उपहृताः—ग्रहणादिवृषिताः		५६-१२	पुङ्गुः—आदिक्षिपिः		७०-६
वातः—वासना		५७-२	सोमः—चन्द्रः		७०-६
कूटपाकलः—सद्यः प्राणहरो ज्वरः		५७-४	नाडीजङ्घः—बानरः		७१-१२
कापेयं—चापलं		५७-६	सुरभितनया—सौरभेयो		७२-१
हृत्थकव्ये—देवपितृकार्ये		५९-१	उरभं—मेघमांसं		७३-५
उद्भाः—ऊर्ध्वस्थिताः		६०-१	वार्धीणसः—शल्यकाः		७३-८
संवा—प्रतिज्ञा		६०-८	वसु-शालिसिक्थमत्स्ययोः सपास्थाने कश्चिरुत्तरत्र		
घट्कर्माणि—स्तम्भनमोहनादीनि		६२-४	विस्तरेण स्वयमेव वक्ष्यति		७४-२
सुधान्वसः—देवाः		६२-५	पुंसो—गौतमादेः		७४-४
अङ्गानि—शिष्टा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं			प्राग्वंशः—यज्ञः		७४-८
निरुक्तमिति—		६३-३	अङ्गुलीधकं—मुद्रिका		७५-११
इतिहासः—भारतं रामायणं च पुराणं वा प्रोक्तम्		६३-३	अनुपदं—भरचात्		७५-१२
च शब्दान्ग्रीमांसांसाध्यायशास्त्र-परिग्रहः		६३-३	चेटस्य—दासस्य		७६-१
मयाः—यत्र देवप्रतिष्ठा नाम व्यवहारश्च ते मयाः		६४-३	प्रस्तरः—पाषाणः		७६-४
समयाः—जिनजैमिनिशाक्यशंकरागमाः, त एव चत्वारः			स्तभः—छागः		७६-५
सौख्यलोकामताधिकाः षड्दर्शनानि			काडंवाः—बाह्याणाः		७७-९
भवन्ति		६४-१०	निसृष्टार्थाः—स्वनन्त्राः		७७-१२
उद्गता—ऊर्ध्वता		६५-१	सायुज्यं—साम्यं		७८-४
काम्या—इच्छा		६६-७	अस्यासादयन्—तिरस्कुर्वन्		७८-५
कव्यादाः स्तनव्याघ्रादयः		६७-८	गृहमेघिनोऽपि मृगयः इत्यादि		७८-८
निगमे—वेदे		६७-१०	कुणपाशिनः—राक्षसाः व्याघ्रादयो वा		७९-१
वस्तानुपार्त्रं—स्वोक्तव्यवहारं		६८-९	उभयानि—कुशलाकुशलानि		७९-४
अन्यत्र—स्यर्गादी		६८-९	बोधाधिपतिः—आत्मा		७९-४
स्कन्दः—कार्तिकेयः		६८-१०	द्वयं—माता		७९-५
प्रत्यवहारः—संहारः		६९-८	जातुभञ्जनी—यन्त्रविशेषः		७९-५
हिमातपाग्भः समवाः—हेमन्तग्रीष्मवर्षाकालाः		६९-८	प्रतिश्रुतं—अभ्युपगतं		७९-६
बहुत्वं—नियमवती प्रचुरता		७०-४	रोक्षा—गुक्षा ('चोक्षा' मृ० प्रती)		७९-८
अन्यत्र—परमते, तथाहि—अथ एव पुराणाः, चत्वार					
एव वेदाः, पञ्च श्रोतोविनिर्गत एव शैव-					

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
क्षतया च लौकिकी श्रुतिरित्यादि—		८०-१	प्रवहणं—गणभोजनं		८६-७
शतक्रतुः—इन्द्रः		८०-२	पृथग्भूतथापितात्—आस्तामसी ताग्रघुड-इत्यादिकात्		
वाग्जीवनः—वन्दी		८०-२	वनैरपीत्यंतात्		८६-९
पोलस्त्यः—रावणः		८०-५	अवहित्वा—आकारसंवरणं		८६-११
दाण्डस्थः—राजा		८०-५	इहव—उज्जयिन्या		८७-२
प्रजापतिः—धत्ता		८०-६	तोलयति—संशयं मयति		८७-४
कुकवाकुः—कुर्कुटः		८०-१०	कर्णमुतः—गूलदेवः		८७-५
नीहारं—हिमं		८१-१	क्षकुचुमारः—घूर्तशास्त्रप्रणेता		८७-६
पत्नी—परिणीता		८१-९	खत्वः—खलातिः		८७-७
अकुहनः—अनील्यः		८१-११	निधितनेमिना—तीक्ष्णधारेण		८८-६
कृत्या—देवता सा किल आराधिता सती आराध-			कन्नरी—केशविन्यासः		८८-७
यितारमेव च खादति		८१-११	दुर्दुरः—मण्डूकः		८८-८
पञ्चता—मरणं		८२-१	अस्थयः—कालातिपातः		८९-२
अभिगतः—हेष्यः		८२-१	उपाकृताः—शास्त्रवाह्याः		८९-६
उत्तायकः—अस्थिरः		८२-४	षेधविधायिनी—टंकिका (सं० टी० घण्टकिका)		९०-३
उद्भवत्—उत्कलत्		८२-६	नमसितं—उपधाचितकं		९१-७
निःशलाकम्—एकान्तः		८३-६	वरिष्ठकः—तन्त्रपालः ('क्षेत्रपालः' सं० टी०)		९१-९
ताश्चर्यः—गह्वरः		८३-८	भैरवी—चण्डिका		९२-२
नवग्रहः—सद्योगृहीतः		८४-९	पाण्डुलक्षणः—वातः		९३-१
पर्यनुयोगः—प्रश्नः		८३-१०	अकस्थनः—अदलाघनीयः		९३-९
मिथुनचरः—कोकः		८४-६	अपाचीनः—प्रतिकूलः		९३-९
पाण्डुला—सापराभा कुलटा च		८५-१	आदित्यमुतः—काकः		९१-१०
मन्मथः—कामः उद्देशश्च		८५-१	उपालिङ्गानि—दुर्निमित्तानि		९३-१०
कटुस्वभावा—तिक्तस्वभावा विरसस्वभावा च		८५-२	प्रिशूलिनी—चण्डिका		९३-११
नीचानुगता—निम्नानुगा नीचानुगायिनी		८५-३	प्रोक्षिला—दत्ता		९४-१
परभागः—शोभा अन्यपुण्यं च		८५-३	तस्य—कुर्कुटस्य		९४-२
साध्वी—सती		८६-३	स्म इति—किलार्थे		९४-६
प्रायोपवेशनम्—अनशनम्		८६-६	इति चतुर्थ आश्वासः		
परीषादः—अपवादः		८६-७	सदागतिः—वानः, सदा सर्वकालं गतिः भक्तिमार्गः		९६-३

ॐ स्वर्गे किल शक्रसभामामेव दिवाद्योभूत् । मनुष्यलोककृतैर्वैह प्राणिनां शिष्टैरव्यवस्था नात्मीयाचारनिबन्धनेति ।

इदं बृहस्पतिरसहमानः सर्वाभरणविभूषितसर्पबृहन्नृणाद्येयमादाय ब्रह्मरूपेण प्रविशन् हारितसर्वस्वेन लोचना-
ञ्जनहरनाम्ना किलवेन कङ्कणमेकं धाचित्री नादात् । पुनस्तेन कुपितचेतसा एषः खलु द्विजो न भवति साधुः किन्तु
ठकोऽयं संप्रत्येव स्वाध्यायिनां मङ्गलीं निपात्यागतीत्यमिति द्विपितस्तत्र पुरे प्रवेशनलभमानः 'निविचारो मनुष्यलोक
इत्युक्त्वा नाकलोकं गतः प्रवैशं नालभतेति । * 'कुमार' मु० प्रती ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
कर्मान्तः—	कर्मावसानः, भूः पृथ्वी, विनयजनस्थ		समदन्तः—	मदनः लक्षः (राजवृक्षः सं० टी०),	
संश्रमिन्ति—	भुवमवतीति भूः, अवततेः		सम्पक्—	अदनं मरय, सह मदनेन स्मरेण वा	
किञ्चपि सति वस्य	संश्रमरणे सन्धिकार्ये च		वर्तत इति च		९८-५
कृते मूरिति भवति		९६-१	चेतकः—	हरीतकाः, चित्ती संज्ञाने चेतनं चेतः, तेज	
दत्ता—	यजमानः त्रितरिता शीलार्थं तृन्	९६-३	चेतेन सह वर्तत इति		९८-५
ते—	लोकप्रसिद्धे	९६-३	क्षोभत्सुः—	पथः	९८-५
उद्योतिषी—	ज्ञानदर्शनलक्षणे च ।	९६-३	कपयो-मर्कटाः,	क्षत्रजास्तरवः	९८-५
तेजः—	अग्निः आसश्च	९६-४	मेरुधारासनः—	ह्ररः	९८-६
अनङ्गना—	आकाशः अविद्यमाना अङ्गना यस्य	९६-४	दुर्गाणि—	विषमाः प्रदेशाः, दुर्गा—गौरी च	९८-६
तमस्तः—	अज्ञानात्, अनेनाष्टमूर्तिमत्त्वं यमवतः उक्तं	९६-४	भोगिनी—	सर्पिणी, अवद्वन्द्वधूश्च	९८-६
शका—	गूर्णमासी	९७-५	रेवतीपत्तिः—	बलभद्रः	९८-६
चामरं—	चमरोणां समूहश्चामरं तदवयवश्च	९७-६	विहङ्गिकाः—	पक्षिण्यः, कावटिश्च	९८-६
किटिः—	सूकरः	९७-७	प्राग्भारः—	विस्तारः	९८-६
दरद्—	इत्यवयवं [दरद्देहाः विदार्यमाणशरीराः		अधित्यका—	पर्वतस्थोपरिस्तनो मागः	९९-१
सं० टी० पृ० १६९-१४]		९७-८	पुण्यजनाः—	यक्षाः	९९-५
दौलेयः—	कच्छपः	९७-८	आवापः—	आभयः	९९-५
नेत्राणि—	तरुजटाः मृगविशेषाः वा लोचनानि च	९७-८	वर्णाः—	हरितपीतादयो ब्राह्मणादयश्च	१००-७
शतधृतिः—	इन्द्रः	९७-८	दलानि—	पत्राणि कारणानि च	१०१-१
उपस्थका—	पर्वतस्य अधस्तनो देशः	९८-१	कापुत्स्यः—	रामः	१०१-१
तदाधातः—	विदारणं	९८-२	पलाशाः—	मल्लवाः राक्षसाश्च	१०१-१
कुशिकसुतः—	उल्लूकः पाक्षरश्च	९८-२	द्विजराजाः—	पक्षिप्रधानाः विप्रमुख्याश्च	१०१-१
कमलाः—	मृगाः अब्जानि च	९८-३	पादाः—	अक्षरसंघाताः मूलानि च ।	१०१-२
पुण्डरीकः—	व्याघ्रः सिताब्जं च	९८-३	पत्राणि—	वाहनानि दलानि च	१०१-२
समीक्षा—	सांख्यशास्त्रं	९८-३	प्रापूर्णाः—	आगन्तवः	१०१-४
कपिलः—	मर्कटः, मुनिश्च	९८-३	उपयाचितं—	नमसितं	१०१-५
कञ्जुकिनः—	सर्पाः अन्तःपुररक्षकाश्च	९८-४	शो—	पशुं भुवं च	१०१-६
सदन्तोत्सर्गः—	सन्ति नक्षत्राणि अन्ते यस्योत्सर्गस्य		विनायकः—	धीनां (पक्षिणां) नायकाः गरुडादयो	
स सदन्तः—	उत्सर्गो व्याप्तिर्यस्य		यस्य, गणपतिश्च		१०१-६
पवनमार्गस्थ—	सदन्तः सतटश्च	९८-४	वनमाला—	स्रक्, कामदपङ्क्तिश्च	१०१-६
पारापताः—	पक्षिणः कमलानि च	९८-४	ययः—	अवस्था, ययांसि पक्षिणः	१०१-६
हेरम्बः—	महिषः विनायकश्च	९८-४	शुचिच्छदपरिच्छदः—	[शुचिभिः परिवर्तितः पणैः	
पिङ्गलेक्षणः—	रुद्रः	९८-५	परिच्छदः—	परिवृतः आच्छादितश्च, पक्षे शुचिच्छदो	
शाकवरः—	गौः	९८-५	हंसपक्षी स परिच्छदो वाहनो यस्य स तया*		

अप्रयुक्त-विलुप्ततम शब्द-निघण्टुः

५०५

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
* 'शुचीनि छदानि च'		१०२-१	धरारोहा—स्त्री (धरारोहाः मत्तकामिन्यः सं० टी० पृ० १८१)		१०५-१
सुरवाहिनी—सुरसेना गङ्गा च		१०२-१	निकायं—गृहं		१०५-१
प्रवालं—विद्रुमं बालपल्लवश्च		१०२-२	उपचार्यमानः—प्रतिपात्यमानः		१०५-१
प्रियालोकनः—प्रियदर्शनः		१०२-२	जेमनं—भोजनम्		१०५-२
संपाकः—आकृतिमालकः ? (वृक्षविशेषः)		१०२-५	सभास्तारः—सम्पः		१०५-२-३
तृणराजः—तालः		१०२-६	ईति—उपद्रवः		१०५-१०
पूतीकः—करञ्जः		१०२-६	शातकुम्भं—हैम		१०६-४
विटपिनमश्रिवसतीत्यत्र 'उपान्वध्याङ् वसः'			रहन्ति—त्यजन्ति		१०६-५
इत्यनेनाधिकरणे द्वितीया		१०३-१	मण्डलवालः—श्व		१०६-७
उद्गमः—पुरुषं		१०३-१	वर्करकः—छागशिशुः		१०६-७
तुरुम्बः—उत्तंसः		१०३-२	वृष्णिकः—मेघः		१०६-७
दुश्चम्पदनः—शकः		१०३-२	निचिकी—मुष्ना गौः		१०६-९
प्रतीचीनः—विपरीतः		१०३-८	गौरीनः—श्वः		१०६-९
चिक्कः—अल्पः [संकलितचिक्करय—सम्पादकः— सस्या सं० टी० पृ० १७९]		१०३-८	शकृत्कारिः—वत्सः		१०६-९
चिक्कणः—आसक्तः		१०३-८	अदमनिदेशः—तुणभक्षणद्रोणी		१०६-१०
पक्वर्ण—भिल्लपल्लिः		१०३-८	उद्गुर्णः—उद्यतः		१०६-१०
वातप्रमो—वातमृगः		१०४-१	द्रुघणः—मुद्गरः		१०६-१०
*वीतंसः—पक्षिणां पाशः		१०४-१	रक्ताशः—महिषः		१०६-१०
मृगबन्धं—मृगबन्धनं		१०४-२	नाथहरिः—बलभद्रः [*नाथहरयो वृषभाः सं० टी० पृ० १८५]		१०६-११
पल्लिणं—यत्र स्थित्वा मृगा हन्यन्ते स प्रदेशः			प्रण्ठीही—गभिणी गौः स्त्री वा		१०६-११
पल्लिश्च उच्यते		१०४-३	वृष्णिकणी—श्रीवत्सा		१०६-११
पल्लि—पञ्चमूलं		१०४-४	गृहावग्रहणी—देहली		१०६-११
रोदस्थोः—आवाभूम्योः		१०४-४	माहेयी—गौः		१०७-१
कारागारक्रियः—वन्दी		१०४-५	व्याहारः—शब्दः		१०७-१
प्रचलाकप्रचयः—पिच्छकलापः		१०४-५	गृष्टिः—प्रथमप्रसूता गौः [सकृत्प्रसूता सं० टी०]		१०७-२
सारे—समाप्ते ? [साराणि पुरुषरत्नादीनि इति सं० टी० पृ० १८०]		१०४-६	परेष्टुका—बहुप्रसूतिः गौः		१०७-२
कुशोदरी—स्त्री		१०४-९	*समांसमीना—प्रतिवर्षप्रसूः		१०७-२

*. अयं कोप्याङ्कितः पाठः संस्कृतटीकातः (पृ० १७६) संकलितः—सम्पादकः ।

१. यश० पञ्जिकार्या । * उक्तं च 'वीतं शस्त्रोपकरणं बन्धने मृगपक्षिणाम् ।' सं० टी० पृ० १७९ से संकलित—सम्पादकः

*. 'नाथहरिः' शब्दस्य 'वृषभः' इति सं० टीकाकारस्यार्थः प्रकरणताविच्छेदेन सम्यक् प्रतीयते—सम्पादकः

२. 'समांसमीना तु या सा प्रतिवर्षं प्रजायते' इत्यभिधानचिन्तामणिः सं० टी० पृ० १८६ को टिप्पणी से संकलित—सम्पादक

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
सुव्रता—सुखदोह्या		१०७-२	वाङ्मूली—स्थगिका ? [वाङ्मूलीजालेन पूगफलादि		
पलिकी—अल्पदिनगर्भा		१०७-३	प्रसवकेन सं. टी. पृ. १९०-११]		१०८-१०
वेहत्—गलितगर्भा		१०७-३	अनुपदीना—उपानत्		१०८-१०
वसा—बन्ध्या		१०७-३	आवर्षः—फलकं		१०९-१
अश्लोका—विधागविकला		१०७-३	भण्डिलः—दवा		१०९-४
उस्ताः—गावः		१०७-३	दिवसकरात्मजः—यमः		१०९-५
बालेयकः—गर्दभः		१०७-३	उपसन्नता—मरणं		१०९-६
आरंयः—मैयः		१०७-३	मायाकार [—हे प्रतीहार !		११०-३
मृगवंश-शाळावृक्ष-कोलेयक-विश्वकञ्चु-नित्य-			भूवेवाः—द्विजाः		११०-३
आगरुह-सारमेय-अक्षपूरुष			अन्वाहार्ये—मृतरथ मासिको विधिः		११०-४
ऐतसस ? वराहवैरी-वातादाः श्वपय्याः	१०७-४, ५, ६, ७, १०, १३, १५,		निगद्यागमः—गणितशास्त्रं		११०-८
श्वेतपिङ्गलः—सिंहः	१०७-६		नामेषणा—स्त्री		१११-१
मागपिकः—मृगयाकुशलः	१०७-६		खड्गाः—कृपाणाः मृगविशेषाश्च		१११-२
धारमा—शुनी	१०७-११		महद्भिर्देहेः जजरारश्च ।		१११-३
दंष्ट्रायुधः—वराहः	१०७-११		दन्तिनः-पर्वताः गजाश्च, 'तटो रदश्च दन्ताश्च'		
हर्म्यः—सिंहः	१०७-११, १२		इति वचनात्		१११-३
निशान्तं—अन्तःपुरं	१०८-२		अष्टापदः—व्यालविशेषः कैलाशश्च		१११-३
बाम्भली—दासी	१०८-२		नाटैरः—नटः		१११-३
अविरोहणं—सोपानं	१०८-४		चित्रं—मण्डलं		१११-४
प्रतीपदशिनी—स्त्री	१०८-५		चित्रकाः—भुगविशेषाः [चित्रकाः व्याघ्रविशेषाः		
मोहनं—सुरतं	१०८-६		सं. टी. पृ. १९४]		१११-४
त्रोटिः—चञ्चुः	१०८-७		मेघरावः—जलवशब्दः समूहश्च		१११-४
शल्कं—खण्डं	१०८-७		मागधो—गुदशिणा क्षिलीपपत्नीति यावत् तस्याः		
कुकः—करणः ? [शिरोमोवा सं. टी. पृ. १९०]	१०८-८		प्रभवः, पिप्पली च		१११-४
संवाधः—पीडा	१०८-९		अमृतं—सुधा, अमृता गुडूची च		१११-४
विरञ्चः—स्वरः ['पीडाशब्देन सावधानसमोप			विजया—गौरीसखी हरोतकी च		१११-४
शारीरिकया' सं. टी. पृ. १९०-९			जम्बुका-वस्त्रः शृगालश्च		१११-५
संशोचित ल० प्रसितः यतः मृ० प्रती			सुदर्शनं—चक्रं, सुदर्शनः औपधिश्व		१११-५
न वरीवति]	१०८-९		'मरुद्भवाः-अर्जुनकुलसहदेवाः, लतापादपजीवत-		
सुप्रतिष्ठः—पतद्ग्रहः [ताम्बूलादिभाजनसंपुटकं			आलविशेषाः, मरुद्भवो भीमश्च' इति पञ्चिकाकारः		
सं० टी० पृ० १९०]	१०८-९		[मरुद्भवार्जुनकुलसहदेवानृगं मरुद्भवो वासोत्पत्तिः,		
तालवृत्तं—व्यञ्जनं	१०८-१०		अर्जुनः केकी अर्जुनो वृक्षविशेषः, नकुलः सर्पवैरी,		
प्रकीर्णकं—चामरं	१०८-१०		सहदेवा बल्य, मरुद्भवार्जुनकुलराहदेवास्ताननुगच्छ-		
			तीति मरुद्भवार्जुनकुलसहदेवानृगं । कमिब—		

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
युधिष्ठिरमिव, यथा युधिष्ठिरो मरुद्भवेन भीमसेनेन			निःश्रेणी—खजूरो		११३-२
अर्जुनेन पार्थेन अनुगच्छति अनुगमनं करोति । अथवा			लेखपत्रः—तालः		११३-२
मरुद्भवाजुर्जनकुलसहदेवा अनुगाः यस्य स तथा तम्*] १११-५			त्रिनेत्रः—तालिकेरं		११३-२
अभीष्टः—शूरः लताविशेषश्च ^१	१११-६		लम्बस्तनी—चिञ्चा		११३-२
लक्ष्मीः—श्रीः लताविशेषश्च	१११-६		कवचः—पर्पटकः		११३-३
दृष्टी—छन्दो जातिः वीरद्विशेषश्च	१११-६		रक्तलुण्ठः—शुकः		११४-१
समर्थः—आश्रयः	१११-६		उच्चिकिञ्जं—दाडिमं		११४-१
तपस्विनी—प्रसजिता मुण्डिता ^२ च	११२-१		अवचयः—उञ्छनं		११४-१
चन्द्रलेखा—शशिकला वाकुचिका च	११२-१		उपलम्बा—लता		११४-२
कलिः—कालविशेषः विभीतकावच	११२-१		प्रलम्बः—प्रतानं		११४-२
अर्कः—रविः वीरद्विशेषश्च	११२-२		जानकाः—वृषभाः [अरण्यवृषभाः वानरा वेति		
अम्बरिषं—रणं	११२-२		सं. टी. पृ. १९८]		११४-२
अरिमेदः—अरीणां मयः तानुविशेषः अरिमेदः			वेल्लिकाः—सूताः [विलतवेल्लिकाः भिल्लानां		
तनुविशेषश्च ^३	११२-२		वालकाः सं० टी० पृ० १९८]		११४-४
शिवप्रियः—धत्तूरकः	११२-२		चुरी—वालुकावापिका कुण्ठोति यावत्		११४-४
गायत्री—खदिरः	११२-२		डामरिकाः—चौराः		११४-४
कालिदाराः—भूतः	११२-३		प्रकाण्डः—शास्त्रा [प्रकाण्डाः समूहा सं० टी० पृ० १९९]		११४-८
ब्रह्मचारी—पलाशः	११२-३		द्रुमजाः—द्रुमसमूहाः		११४-९
वर्षमानः—एरण्डः	११२-३		खञ्जनः—जन्तुविशेषः		११४-९
*दिग्गजकुलं—	११३-१		*चित्रकः—चमूः [चित्रकाः व्याघ्रविशेषसमूहाः		
वामनः—मदनलक्ष्म ^४	११३-१		सं. टी. पृ. २००]		११४-१०
सोमः—सोमवल्ली ['हरीतकीवृक्षः'					
सं० टी० पृ० १९६]	११३-१		उदग्या—तृट्		११४-१०
पूतना—हरीतकी	११३-१		रङ्गः—मृगविशेषः		११४-१०
मातृतन्वन—करञ्जः	११३-१		मालकरल्लको अपि—मृगविशेषो		११५-१-२

*. सं० टी० पृ० १९४ से संकलित—सम्पादक

१. अभीष्टरिन्दिवरी, उक्तं च—'वातगूली बहुसुता अभीष्टरिन्दिवरी स्थिरपत्रा' इति यावत् । सं० टी० पृ० १९५ ।

२. तपस्विनी—प्रसजिता, मुण्डिकल्लारा च सं० टी० पृ० १९५ ।

३. 'विद्वद्विरः' सं० टी० पृ० १९५ ।

४. उक्तं च—'ऐरावणः पुण्डरीको वागनः कुमुदोज्ज्वलः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥

ऐरावणः पुण्डरीकः पुष्पदन्तोऽथ वामनः । सुप्रतीकाञ्जनौ सार्वभौमः कुमुद इत्यपि ॥ इति पञ्जिकाकारः ।

अभ्रमृष्वंश कपिला तास्रकणी च वामना । अनूपाञ्जनवत्स्यी च शुभ्रदन्ती च पिङ्गलाः ॥' इति दिग्गजानां भार्याश्वंताः

५. सुक्तं सत् वमनं कात्यति वामनो मदनवृक्षः—सं० टी० पृ० १९६ ।

*. सं० टी० कायाः अर्थः सम्यक् प्रतिभाति—सम्पादकः

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
*मृगादनी—लताविशेषः		११५-३	पद्मावती—उज्जयिनी		११८-२
*व्याघ्री—बृहती ('मटकटैया' इति भाषार्या)		११५-३	भोगवती—अहिपुरी		११८-४
२निस्त्रिंशत्पत्रः—निहृण्डः		११५-३	पद्मः—सर्पविशेषः		११८-४
ब्रह्माणः—पलाशाः		११६-१	संवरः—जलं मृगरच		११८-५
हरयः—सिंहाः		११६-१	लक्ष्मणाः—सारसाः पक्षे सौमित्रिः		११८-५
स्थाणयः—छिन्नाग्रभागस्तरुप्रकाण्डः, पक्षे ब्रह्मा- विष्णुमहेश्वराश्च		११६-१	धार्तराष्ट्राः—कौरवाः हंसाश्च		११८-६
मधुः—दानवः क्षौद्रं च		११६-२	ज्यातुः—तुनिः विस्तारश्च		११८-६
मदनः—कामस्तरुश्च		११६-२	आस्फुरितः—शक्रः		११८-६
चिरलं—दूषिकोपहतं		११६-३	वलिः—दानवः पूजा च		११८-६
अणकं—कुत्सितं		११६-३	सौगन्धिकाः—सुगन्धिवस्तुषण्याः, पूष्पाणि च		११८-७
अवगाढं—प्राप्तं		११६-३	ग्राहाः—मकराः		११८-७
घार्ण—वास्त्योत्तेजनयन्त्रं		११६-४	कमठाः—कूर्माः		११८-७
अशना—भुत्		११६-६	पत्त्रिणः—पक्षिणः		११८-७
पञ्चाशनाः—सर्पाः		११६-६	मरालाः—हंसाः		११९-१
शक्राः—वल्मीकाः		११६-७	दावाघाटाः—सारसाः		११९-१
शिखायलः—मयूरः		११७-२	कारण्डाः—पक्षिणः		११९-२
अग्निजन्मा—श्या		११७-२	काण्डः—बाणः		११९-२
वृषः—धर्मः मूषिकश्च		११७-३	*मल्लिकाक्षाः—हंसविशेषाः		११९-३
त्रिपं—जलं गरलं च		११७-३	अवहाराः—जलव्यालाः [ग्राहाः सं० टी० पृ० २०८]		११९-५
सरीसृपः—सर्पः		११७-४	दीवयः—जलसर्पाः		११९-६
वामलूरः—वल्मीकः		११७-४	मूककाः—भेकाः		११९-६
पुरीतत्—अन्धं		११७-४	वाली—बीची		११९-९
अनन्ता—भूः		११७-५	आमलकं—स्फटिकं		१२०-१
असुखरा—त्वक्		११७-६	धानीरो—वेतसी गतः		१२०-२
अतर्ज—रुधिरं		११७-६	वञ्जुलः—लताविशेषः		१२०-२
तरसं—मांसं		११७-७	दुर्वर्णं—रजतं		१२०-६
पृषदाशुः—सर्पः		११७-८	पट्चरणः—अमरः		१२०-७
इन्दुमणिः—चन्द्रकान्तः		११८-२	भाण्डं—भाजनं		१२०-९
			सरिद्धरा—गङ्गा		१२१-२

*. पक्षे मृगानवन्ति भक्षयन्ति मृगादन्त्यो लुब्धकभार्याः प्रायेण, सं० टी० पृ० २०० ।

१. पक्षे व्याघ्री द्वीपिनी ।

२. सेहृण्डवृक्षः, पक्षे निस्त्रिंशत्पत्राः निर्वयवाहनजीवाः सं० टी० पृ० २०१ ।

*. उक्तं च—'रत्नैर्वक्त्रैः संचरणं राजहंसान् विभावयेत् ।

श्यामलैर्मल्लिकाक्षास्तु धार्तराष्ट्राः सिततरैः ॥' सं० टी० पृ० २०८ ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
चिलीचिमाः—मत्स्याः		१२१-५	त्र्युपणः—त्रिकटुकं		१२८-५
पयस्यं—दधि		१२२-६	(क्षुण्डीमरिचपिप्पलीचूर्णं)		
कूलवन्ती—नदी		१२२-६	आलम्बकः—भाजनं		१२८-५
व्यक्षः—समस्तः		१२२-७	गोर्वरः—गोमयः		१२८-५
गूलाक्षः—महिषः		१२२-७	हरंभदः—वज्राग्निः		१२८-६
चुलुकी—शिबुमारभार्या लक्षपत्यं श्रीलूकेयः			उद्धानं—चुल्लो		१२८-७
शिबुमारः		१२२-७	शिपस्तिः—भुजः		१२८-१०
लगुडः—दण्डः		१२३-४	पादान्तरुदमीः—पादपङ्क्तिशोभा		१२९-१
तरी—नीः १२३-५ तर्पः तृणमयः		१२३-५	कुतपी—तुरी [मार्दङ्गिकः सं० टी० पृ० २२९]		१२९-३
तरण्डः—फलकं		१२३-५	उपवीणनं—वीणावादनं		१२९-६
वेडिका—क्षुद्रा नीः		१२३-५	भयुः—किन्नरः		१२९-६
उडुपः—चर्मविनद्धः		१२३-५	निर्दरं—कन्दरं		१२९-६
तमलम्—ऊर्णमयमास्तरणं		१२४-६	सूर्यप्रतिमागतः—कायोत्सर्गः		१३०-३
अजिनं—चर्म		१२४-६	अरे कदाचाराचार !—अरे कृत्स्िताचार !		१३१-५
जेणं—पल्लवाणं		१२४-६	पराकदुरात्मन्—पराकेत वधेन दुरात्मा तस्य		
बम्बूलवदरीकरीराः—प्रसिद्धाः		१२४-६	संशोधनं क्रियते अरे पराकदुरात्मन्		१३१-५
सरश्वाः—मेघाः		१२४-७	खेटः—अधमः, उत्त्रासको वा खिद् उत्त्रासने		
अतिक्रामन्—अतिगच्छन्		१२४-८	इति घातोः पाठात्		१३१-५
अविकटः—मेघ-समूहः		१२४-८	याप्यः—निन्द्यः		१३१-५
सौम्यधातुः—शुक्लं		१२५-१	कुमतिः—माया		१३१-६
विपक्षाः—भासाः		१२५-२	मटहः—लघुः		१३१-६
कार्दमिकं—कर्दमेण रक्तं कुण्डलवर्णमित्यर्थः		१२५-४	ब्रह्मासनं—व्यानं		१३१-७
दण्डकः—क्षुद्रमार्गः		१२५-५	समुनद्धभावं—दृसत्वं		१३१-८
सकाण्डं—बाणसहितं		१२५-५	अवनतमुखान्नः—अधोमुखकमलः		१३२-१
कोणाः—दण्डाः		१२५-६	अनुक्रोशः—अनुकम्पा		१३२-७
चित्रगुप्तः—यमाश्रयटलिकः		१२६-१	मेदिनी—मलेच्छस्वी भूश्च		१३३-४
अधोमुखः—क्षानः		१२६-३	अकारणं—अकृतिसर्तं, युद्धं निमित्तमितं च		१३३-५
अवलम्बः—मध्यः		१२६-४	तर्कुकाः—याचकाः		१३३-६
शकली—मत्स्यः		१२६-४	निर्वहणं—निराकरणं		१३३-८
प्रमीतः—मृतः		१२६-५	अरिपञ्चर्गः—कामक्रोधलोभमानमदहृर्पाः		१३४-३
दुर्लभितां—सक्तां		१२६-७	द्वन्द्वानि—परिमितत्वं कालहरणमित्येकं द्वन्द्वं,		
विदाब्राजाः—भासाः		१२७-६	आज्ञादर्शनं श्रवणगतत्वमिति द्वितीयं, अवधीरण-		
प्रोथः—नासा		१२७-८	मनत्रसरः इति तृतीयं, महासात्विकमैश्वर्यमिति		
कासरः—महिषः		१२७-९	चतुर्थं द्वन्द्वं—		१३४-९
प्रस्फोटनः—सूयं		१२८-३	अदान्यता—स्पागिता		१३४-९

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
अपाश्रयः—निपद्या			चकीकृत—गर्दभः		१४१-५
[आश्रयः सं० टी० पृ० २४०]		१३६-१	शालाजिरं—शरावं		१४१-५
नृपयज्ञः—संश्रामः		१३७-१	आस्यनितं—मनः		१४२-४
अष्टापदं—कलक [अष्टापदभूमिका—सुरङ्गकल-			गणरात्राः—रात्रिसमूहाः		१४२-४
भूमिका इति सं० टी० पृ० २४२-४]		१३७-१	नयविधा—नैगमस्त्रिषिधौ द्रव्यपयीभोगभेदेन,		
गमः—यानं [गमः परगृहे यानमित्यर्थः सं० टी०			संभ्रूयवहारादयश्च षड्भेदाः		१४२-७
पृ० २४२-९]		१३७-२	वृषभेद्वरः—शंभुरादितोर्थकरश्च		१४२-७
उद्धवः—गर्दभः		१३७-५	कपिलतालयाशालिनी—कपिलतायां लयः लनः स्वस्-		
हिम्नः—विप्लवः (विप्लवः—विनाशः सं० टी०			पावासिः लेन शालत इत्येवं शीला, पक्षे कपि-		
पृ० २४३)		१३७-७	भिर्जालयैश्च शालिनी गोममाता		१४२-७
सम्परायः—संश्रामः		१३७-८	परलोकः—स्वर्गादिः प्रतिपक्षश्च		१४३-१
अमत्राणि—भाजनानि		१३८-२	नियोगः—नियोगभायनादयो वाक्यार्थः, नियोगः		
सालः—प्राकारः		१३९-३	अचिरणादिप्रश्नः, भावनाः—दर्शनविशुद्धि-		
समलं—अशुचि		१३९-५	रित्यादिकाः षोडश		१४३-१
अत्यायानम्—अधस्तनं		१३९-६	योगाचारः—ज्ञानाद्वैतवादी, योगः—आमागम-		
काण्डं—उपयोपः ? (काष्ठं दारु इत्यमरः)		१३९-६	पदार्थयाथात्म्यज्ञानानुविद्धसपरित्यक्तात्मप्रवेशः,		
सुखं विदन्तोऽपीतिनिर्देशः विदेःशतुर्वसुरित्यत्र			उपात्तागामिककर्मक्षयप्रतिबन्धहेतुराचारश्च		१४३-२
विकल्पस्येष्टत्वात्		१४०-६	*सत्सचिवः—		१४३-२
पुण्यं—कूष्माण्डं		१४०-८	कुङ्कुमारः—कुङ्कुमविद्योपाध्यायः		१४३-३
आदीनवः—दोषः		१४०-३	बाहुबलिः—ईश्वरः केवली च		१४३-३
प्रतिसरः—काण्डपटः		१४०-४	पाश्वगितः—चित्रकर्मणि द्यूतविशेषः तीर्थकर-		
लेखाः—देवाः		१४०-४	विशोपागतं च		१४३-३
परातगमनाः—खेचराः		१४०-६	अचोकः—तटः राजा च		१४३-४
सदाह्वरणं—मशः		१४०-८	रोहिणी—तटः राज्ञी च		१४३-४
निचोलः—निषलकः (निचुलस्तु निचोले स्यात् इति			चरणं—मक्षणं, करणं—उत्फुल्लविजृम्भादिकं,		
विश्वः, निचोलः प्रच्छदपटः अंगरक्षा इति भाषायां—			चरणकरणं—आगमविशेषौ		१४४-१
सम्पादकाः)		१४०-८	पुरन्दर इत्यादिना विजालिखितां स्वप्नावलीं वर्णयति		१४४-१
पोष्करयं—कमलं		१४१-१	रमा—श्रीः		१४४-२
मेवागारिक—मलिम्लुच-पाटञ्चर-तक्षत्रवाणिजकाः			पलाशः—राक्षसः पल्लवश्च		१४५-२
चौरपर्यायाः		१४१-३, ४, ५, ६,	परभागः—शोभा परादयं च		१४७-१
* धर्मस्थीयाः		१४१-४	देहली—देहली		१४७-२

*. तदुक्तं—सर्वदणश्रिमाचारविचारोचितचेतसः । दण्डवाचो यथावोधं धर्मस्थीयाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

१. तदुक्तं—संपत्तीः स्वामिनः स्वस्य विपत्तीस्तदरातिषु । यः साधयति बुद्धर्थं तं विदुः सचिवं बुधाः ॥ १ ॥

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
अरराणि—कपाटानि		१४७-२	स्वलक्षणं—सजातीयविजातीयव्यावृत्तक्षणिक-		
योग्या—अभ्यासः		१४७-३	निरापरमाणुमात्रं		१५५-५
विलयः—विनाशः पक्षिसंशयश्च		१४७-५	अदृष्टमाद्यं—अनुपलभ्यमानफलं		१५६-५
लिपिकराः—लेखकाः		१४७-५	वनं—जलं		१५६-७
उद्यानं—उद्गमनं		१४९-६	तदात्मकार्येत्पादिनैतदाह		१५६-८
गोपानसी—गृहाण्छादनपटलैकदेशः		१४९-११	स्थिरितस्वरः—मध्यमध्वनिः		१५७-१०
उटजं—तूणकुटीरकं		१४९-११	शोफसः—साधनस्य		१६०-३
छदिः—पटलं		१५०-१	गतधृतिः—द्वन्द्वः		१६०-४
कङ्कः—पक्षी		१५०-१	अगेन्द्रः—गेहः		१६०-४
कुण्णलेश्या—गौत्रपरिणामः		१५०-१	रथचरणपाणिः—नारायणः		१६०-४
करटाः—काकाः		१५०-२	प्रासहरं—शोभनं		१६०-६
मृगव्यदः—दवानः		१५०-२	प्रवर्हं च—शोभनं		१६५-३
अनंगमः—मालः { चण्डालः }		१५०-२	तापामते—स्वमि बोद्धे		१६२-७
श्वपचः—अन्तावसार्थो-दिवाकीर्तिश्चाण्डालाः		१५०-२	श्रुतितः—आगतः		१६३-१
पृषदंशः—मार्जारः		१५०-४	विद्यन्—कुर्वन् 'विष्' विधाने इत्यस्य रूपं,		१६३-१
शोणिकाः—कीडाः		१५०-५	कुलालः—कुम्भकारः		१६३-१
उत्कुसुदः—कचवारः ? (कुवकुदः)		१५०-५	समातनः—नित्यः		१६३-४
अवहिता—तत्परा		१५०-६	उर्वरा—पृथ्वी		१६४-२
निगूह्य—निस्त्रिच्य ?		१५०-६	प्रभवभावः—कार्यकारणभावः		१६५-५
पुष्परयकर्णीरघौ—यानविशेषौ		१५१-२	दवेष्टं—विषं		१६६-१०
*पीठमर्द्विद्विषूपकनायकस्याभाजिकानां लक्ष-			पाण्डुत्तनया इवेति निदर्शनमयुक्तं अण्डकर्मादिकां		
णानि पृथोक्तानि		१५१-३	पाण्डुत्तनयानामभावाधिति तत्र ^३		१६७-१
उपकार्यौ—मठमन्दिरादि राजसदनं		१५१-५	निगरणः—गलः		१६७-६
ग्वरपटं—ऊकशारत्रं		१५१-६	फुरलो—संहतिः		१६७-७
सार्धुकः—निजभार्याभगिनीपतिः		१५१-७	विष्वग्घुष्टं—घोषणा		१६८-२
दुःखत्रयं—आद्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन		१५१-१	कल्पपालाः—मद्यसंभामिनः		१६८-३
बोषवान्—आत्मा		१५२-३	भादि—मकारादिपञ्चमस्य मधुमांसमखलक्षणस्य		१६८-४
बहुधानकं—प्रकृतिः अव्यक्तं च		१५३-३	चिक्कसा—खिल्लाः		१६८-१०
ताधिपः—स्वर्गः		१५३-८			

१. अण्डान्गुलवसतिर्गदिवाकीर्तिजनंगमाः इत्यमरः—सम्पादकः

*. दोहापृ. ५० १५१ टि० न० २

२. तदुक्तं—देहादिभिरा देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः । मत्तत्रयमिहान्त्रित्य नास्त्यम्यासस्य गौतरः ॥ १ ॥

३. तदुक्तं—आराद् दूरसमं वस्तु कालात्मयात्पराधि यत् ।

संभाव्यते न तद्वत्ता तथात्वेन बद्धं जडः ॥ तथा भवतु वा मा वाऽदृष्टात्मजनरकाधिकं ।

न जातु दोषभाक् वक्ता स्वकालापेक्षया वेदन् तत्कालापेक्षया सर्वे न भावाः कविगोचराः

तत्सर्वज्ञादपरस्यास्ति न काव्येष्वसरोज्यया ।

इति वचनात् ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
आवी—प्रसूतिव्यथा		१६८-१०	तदागमं—भुनिकुमारयुगल-पुरदेवता-पुरेश्वर-योर-		
बंसीराः—श्वानः		१६९-६	जनागमनं		१७९-१
जोषः—सेवा		१६९-७	संयमधीः—तेषां मारिषत्तादीनामगमने प्राणिवधो		
विषीतं—करुणं		१६९-७	साभूदिति बुद्धिः		१७९-१
आविर्गन्—उद्दिग्गन्		१६९-९	कन्दलानि—शिरः प्रकलानि पल्लवानि वा		१७९-४
वैदेहकाः—वणिजः		१६९-१०	लेलिहानाः—सर्पाः		१७९-४
मन्युः—कोपः		१६९-१०	त्रिविधदीधिका—गङ्गा		१७९-६
मुकुसुमः—दर्पणः		१७०-२	अर्जुनाम्बुजं—सिताम्बुजं		१७९-६
आवैशिकः—अतिथिः		१७०-४	भिदुः—घुणकीटाः		१८०-२
पंचशालः—हस्तः		१७०-३	गोहाराणां—२ः		१८०-४
अस्तुङ्गाराः—अभिमताः		१७१-७	दयोचिताचरणानन्दिताः विनीतावनिपालदारा येन		
* अष्टाङ्गमहानिमित्तानि—		१७२-४	क्षोषादेति कप् दारकः इति—		१८०-४
सभाजनं—श्रीतिः		१७२-६	दारकः—विदारणशीलः		१८०-४
* प्रायोपवेशनं—		१७२-११	क्षुद्राः—बुराचाराः		१८१-२
अद्भुतमासमेतः—आश्चर्यलक्ष्मोसमन्वितः		१७२-१२	कादवेयाः—सर्पाः		१८१-२
ब्रह्मपुत्रः—विषं		१७२-१३	अनुजपर्यः—पदवाञ्छन्मपर्यायः		१८१-३
सौत्तिकेयं च—विषं		१७३-२	अमृदयः—हृष्टशरीरेन्द्रियविषयप्राप्तिलक्षणः स्वर्गः		१८२-६
गन्धनं—प्रकाशनं		१७३-११	निःश्रेयसं—निखिलमलदिलयलक्षणम्		१८२-६
कौलीयता—दुरपवादः		१७४-५	आम्नायः—आगमः		१८२-६
परिधत्—कर्मदः		१७५-२	मिथ्यात्वादि—मिथ्यात्वाविरलिकषाययोगाः		१८३-१
घनसारं—कर्पूरः		१७५-२	भोहः—अज्ञानं		१८३-२
अवबूलं—अघर्तसः		१७६-५	सन्देहः—इदं तत्त्वमिदं वास्तवमिति चलन्ती प्रति-		
विदग्धाः—बुधाः		१७६-५	पत्तिः सन्देहः		१८३-२
समावर्तनं—आचार्यपदं		१७७-१	विभ्रान्तिः—अतस्यै तत्त्वाध्यवसायो भ्रान्तिः		१८३-२
अरालः—दीर्घः		१७७-८	काये—स्वरूपे		१८३-६
लीलाः—दृष्टाः		१७७-८	तरसं—मांसं		१८४-३
नितले—तले		१७८-१	शक्तिः—स्त्रीशक्तिः		१८४-४
पर्यागतेः—निपण्णीः ? * निष्पन्नैः		१७८-१	मुद्रा—योनिमुद्रा		१८४-४
इति पञ्चम आशवासः			कुण्ठया—मदिरया		१८४-४

१. तथा चोक्तं—अन्तरिक्षं स्वरो मौगमगं अञ्जन्तलक्षणं । छिन्नं स्वप्न इति प्राहुर्निमित्तान्यष्ट तद्विदः ॥ १ ॥

ज्योतिर्बुधिवरादेहोरेखाङ्गादिभिर्यतः । छेदस्वप्नाधिकैर्नुणां जात्यते आत्मा दूमादुमे ॥ २ ॥

*. तथा चोक्तं—बाहुल्ये भुक्तभावे च प्रायमाहुर्विषयश्रयाः ।

*. अयं ग्रामाणिकोऽर्थः 'क०' प्रतितः संकलितः—सम्पादकः

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
वशवशः—बुद्धः		१८५-१	आप्कृत्य—स्नात्वा		२१०-१
निराश्रय—निरन्तरं		१८६-४	उत्क्रान्तिः—मरणं		२१२-३
ताथागतः—बौद्धः		१८६-४	सन्निकारं—सपरिमर्षं		२१३-४
अव्यक्तं—प्रधानं		१८९-५	प्रमीला—निद्रा		२१६-१०
न्यक्षाः—संभस्ताः		१९२-२	अलब्धं—भोक्तव्यं		२१४-२
मोक्षी—मुक्तः		१९२-२	हे अत्त—हे मातः !		२१४-७
घट्मु पातालैषु—शर्कराकालुकादिषु		१९५-३	छरं—अतीव [कठिनं टि.]		२१४-७
अन्तरेषु—किञ्चरकिम्पुरुषादिषु		१९५-४	विशस्य—मारयित्वा		२१४-८
मवमवासिषु—अमुरनागादिषु		१९५-४	सपत्नी—पूजा		२१५-१
उयोतिष्केषु—चन्द्राकादिषु		१९५-४	पताशी—सुरः		२१५-२
अथर्वः—अग्निः		१९६-१	निरुद्धः—निर्गतः		२१५-३
आम्बुतदं—सुवर्णं		१९६-१	अङ्कुपाक्षी—आलिङ्गनं		२१५-६
प्राणितं—जीवितं		१९६-३	वाता—कुशलं		२१५-६
मोगायतनं—शरीरं		१९६-४	एकतानम्—एकाग्रं		२१५-७
नगौकसां—पक्षिणां		१९७-८	अशिवतातिः—अकल्याणं		२१५-७
ब्रुहिणः—मृगा		१९७-१०	उटर्ज—तृणगृहं		२१५-८
अधोक्षजः—विष्णुः		१९७-१०	समन्ते—समीपे		२१५-९
द्वैतं—गम्यागम्ययोः प्रवृत्तिपरिहारबुद्धिर्द्वैतं		२००-४	समर्थः—आश्रमः		२१५-१०
अद्वैतं—सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वमद्वैतं		२००-४	ओतुः—मार्जारः		२१६-१
योगाः—वैशेषिकाः		२०१-९	तिततः—चालनिका		२१६-२
सायुज्यं—साम्यं		२०२-३-४	अमत्रं—पात्रं		२१६-२
गतिस्थित्यादि—सर्वत्र वस्तुनां गतिनिबन्धनं धर्मः, स्थिति- निबन्धनमधर्मः, अप्रतीघातनिबन्धनं नमः परिणामनिबन्धनः कालः		२०६-७	कुशाशयः—जलाशयः		२१७-२
*प्रकृत्यादिः—		२०६-९	पत्ररथः—पक्षी		२१७-५
अवत्यासः—विपर्ययः		२०७-५	अलोहलः—व्यक्तः		२१८-२
चतुर्विधाः—अनन्तानुद्वेगप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसं- ज्वलनमेवेन		२०८-१	कलापाः—पत्राणि		२१८-१०
पवमानः—धायुः		२०८-२	उल्लुपः—तृणविशेषः		२१८-१०
भूभाः—पर्वताः		२०८-५	कासरः—महिषः		२१९-७
पोथी—शूकरः		२०८-५	उपा—रात्रिः		२२०-३
विष्टपं—भुवनं		२०९-४	निध्नः—तत्परः		२२०-३
आत्रेयो—रजस्वला		२१०-१	विरोकः—किरणः		२२०-५
			सर्गः—अभिप्रायः		२२०-५
			महिमा—महि पूजायामस्त्रीणादिक इम प्रत्ययः		२२१-४
			वक्त्रिणो—सेना		२२१-७

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
प्रतिघः—विघ्नः		२२१-८	चतुर्थे—अक्षय्य		२३०-८
*सूदनं—निराकरणं		२२१-९	गरणः—गलः		२३२-४
नूतनं—नयं		२२२-१	अनर्गलम्—अनवरतं		२३२-४
भूच्छाया—तिमिरं		२२३-१	भासीरं—नासिकायामपि		२३२-५
वासतेधो—रात्रिः		२२३-१	सूचकः—ओष्ठपर्यन्तः		२३२-६
आतुषानाः—राक्षसाः		२२३-१	विशिखा—वीथी		२३२-६
न्यङ्गामु—सर्वासु		२२३-२	उत्पातनिपाता—उत्पन्ननिपातनक्रियाः		२३२-७
अवमणः—एकाकी		२२३-२	विष्णोर्ध्वः—अंशः		२३२-८
भागधेयी बलिः		२२३-३	अध्येषणम्—अधिता		२३२-८
पतिस्वरा—कन्या		२२३-३	आस्वनितं—मनः		२३३-१
दृष्टिः—पूजा		२२३-४	उदानोय—उद्धृत्य		२३३-२
हुतवाहनः—अग्निः		२२३-७	अशनायाः—क्षुत्		२३३-३
कृष्णवाः—राक्षसाः		२२३-८	अपघनम्—अङ्गम्		२३३-५
ताविष्म्याः—ताविषी नामकायाः		२२३-९	अप्रतिघं—निविघ्नं		२३३-५
उदाहृत्य—उक्त्वा		२२३-११	वितदि—वैदिका		२३३-६
तलवरः—तलारः		२२४-१	उपकुष्टं सुप्तम्		२३३-६
वृषन्—प्रधानः		२२४-४	इन्दिरा—श्रीः		२३३-७
शेमुषी—यतिः		२२५-३	भूमिः—धूर्तत्वं		२३३-८
केसरं—बकुलः		२२५-६	स्थाम—बलं		२३३-८
भोगायतनं—आरामा		२२५-७	त्रिविधः—देवाः		२३३-११
उदस्वितं—तर्कं		२२६-३	समज्या—कीर्तिः		२३३-११
वयस्या—सखी		२२७-१	निर्वणितः—सविस्मयं निश्चितः		२३४-१
सराणि—कुल्याः		२२७-६	अनिमिषाः—देवाः		२३४-३
पंचालिकाः—पुत्तलिकाः		२२७-६	मल्लः—यज्ञः		२३४-९
किल—पटु		२२७-६	भूमि—परवचनकरः आडम्बरः		२३४-१०
मोहनं—सुरतं		२२८-२	वृक्षी—पटुकः (कुशासनं)		२३४-११
अकूपारः—समुद्रः		२२८-५	आचामः—आवसनं		२३५-१
पालिन्दी—वीची		२२८-५	संस्तवः—मनसा वायेन वा सत्कारकरणं		२३५-४
निवायिता—अवलोकिता		२२८-७	ज्ञानं—मन्त्रवादादिविषयं ज्ञानं		२३५-४
पक्वणं—परिलः		२२९-६	निर्वोजीकरणादिविषयं		२३५-४
प्लोथः—दाहः		२२९-६	विधुराः—राक्षसाः		२३५-६
विरतिः—आयिका		२३०-३	पारावारः—समुद्रः		२३५-६
दयालः—मैथुनकः		२३०-४	अष्टाङ्गमहानिमित्तानि—मौमस्वरक्षरीरव्यञ्जन-		
			लक्षण्यछिन्नभिन्नस्वप्नाः		२३५-७

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
गगनगमनाः—विद्याधराः		२३६-१	नालं—कमलं		२४२-३
वीधः—विधदः		२३६-२	श्राव्यगल्लग्लि—लीरसप्तः		२४२-४
निलिम्पाः—देवाः		२३६-२	तत्सुता—ग्रीः		२४२-४
दोहदः—मनोरथः		२३६-५	अनस्वरणं—चक्रं		२४२-४
पदवी—स्थानं मार्गं वा		२३६-८	नन्दकः—सङ्घः		२४२-४
आवश्यकं—नियमता		२३६-८	अरुणाधुजाः—गरुडः		२४२-५
* चित्तं—आत्मा		२३६-९	कौमोदको—गदा		२४२-७
मल्लकं—भाजनं		२३७-१	पाशभृत्—वरुणः		२४२-९
किशोरः—सालकं अथविभागमित्यर्थः		२३७-३	दाधवरः—वृषभः		२४२-९
अतिस्पष्टाः—असंकीर्णाः		२३७-४	अन्धक्—पश्यात्		२४२-९
विकटाः—महान्तः		२३७-४	नगसन्दना—गौरी		२४२-९
उदयसितं—स्थानं		२३७-५	निबिरीधः—निविहः		२४२-९
अगदम्—औषधम्		२३७-८	उद्भिवाः—तरवः		२४३-१
वाक्प्रक्रमाऽसिः—वाक्प्रक्रम एव असिः खड्गः		२३८-१	पिण्डं—कायः		२४३-१
नीहारः—पुरीषं		२३८-७	अम्बकं—लोषनं		२४३-२
प्रतीक्षा—पूजा		२३९-१	भालं—ललाटं		२४३-२
आवायत्कायः—शुण्यस्थारोः, यं वै क्षोषणे इत्यस्य रूपं		२३९-२	गगनाटनाः—देवाः		२४३-३
निचायिकाः—निचायो दर्शनं स विद्यते येषामिति		२३९-४	तटिनी—नदी		२४३-३
आदोनवं—दोषः		२३९-६	प्राप्तेयकरः—चन्द्रः		२४३-३
वणिकं—शून्यं		२३९-८	विरोकाः—किरणाः		२४३-४
सर्गः—निवचयः		२४०-१	सारः—कर्तुरं		२४३-४
बहिर्द्युति—बाह्याचारे		२४०-२	काजकायं—धनुः		२४३-५
अमृतान्धसः—देवाः		२४१-१	शकोटाः—हस्ताः		२४३-५
कुतवाः—दर्भाः (कुशाः)		२४१-१	स्तम्बेरमासुरः—गजासुरः		२४३-५
* अम्भोज्ज्वलः—ब्रह्मा		२४१-४	अनलोद्भवः—गृहः		२४३-६
कीनाशः—यमः		२४१-९	हेरम्भः—विनायकः		२४३-६
पञ्चनाशनेश्वरः—शेषः		२४१-९	पारिवदाः—गणाः		२४३-६
सिषयं—वस्त्रं		२४१-१०	अहिर्बुध्नः—ह्रदः		२४३-७
अभर्त्याः—देवाः		२४२-१	वल्गवी गोपी		२४३-८
पक्षद्वयं—कुण्डलपञ्च		२४२-२	अनश्रुतिः—वार्ता		२४३-८
अञ्चरीकाः—भ्रमराः		२४२-३	काञ्चिदीसोदरः—यमः		२४३-१०
			स्वापतेयं—धनं		२४४-२

* 'बुद्धेरारमतो वा' इति टिप्पणीकारः ।

१. 'धारकः' इति माधव ।

२. 'अमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्य' इति टि० ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
अयोध्यासनं—धनुः		२४४-२	पदाकुः—सर्पः		२५३-५
बुधणं—वृष्यं		२४४-३	वारिषेण कृषिणा—इत्यत्र 'कृष्यकः' इत्यनेन		
निपाः—वटाः		२४४-६	प्रकृतिमावान्न सन्धिः		२५३-६
हरावती—नदी		२४४-८	वक्षीजो—स्तनो		२५३-९
* पर्याप्तधामनि		२४४-१०	प्रत्यवसानं—भोजनं		२५४-८
गोषाः—आहारः		२४५-१	मङ्गु—शटिति		२५४-९
वैयास्यं—धूर्तत्वं		२४५-१	उदकम्—आपतिः		२५५-१
रघुनैः—संबंधैः		२४५-४	अद्धा—लघुः (शीघ्रं)		२५५-२
पितृभिरः—श्रीमान्भिरः		२४५-५	सरागं—भञ्जकादिकं		२५५-३
* आपादितं—अपहृत्		२४५-६	आविद्धं—निर्भरः आभुङ्क्षो वा		२५५-५
कादम्बः—हंसः		२४५-८	मरालः—हंसः		२५५-७
तादृग्यः—गच्छः		२४५-८	चलनः—चरणः		२५५-७
सवित्री—माता		२४६-४	कीकसम् - अस्मि		२५६-२
पश्यतोदरः—वीरः		२४६-९	भ्रातृजाया—भ्रातृभार्या		२५६-४
सनीडं—समीपं		२४७-२	वद्वचः—दर्पः		२५७-१
मलिम्लुचाः—वीराः		२४७-३	शकलितं—खण्डितं		२५७-१-२
औकः—आवासः		२४८-१	अमुत्र—परलोके		२५७-९
कौरवं—कुमुदं		२४९-१	अन्तर्बन्ती—गर्भिणी		२५८-५
अर्जुनज्योतिः—चन्द्रः		२४९-१-२	माकन्द-रसाल-पिकप्रिय-कालिदासाः—		
प्रत्यवस्यन्तं—चलन्तं		२४९-७	क्षुतपर्यायाः—		२५८-५
पञ्चजनः—मनुष्यः		२४९-९	शिफाः—जटाः		२५८-६
गोत्रा—भूः		२५०-२	प्रवानिनो—लता		२५८-६
अभिषेणः—सेनया अभिमालीति		२५०-२	दैर्घिकेयं—कमलं		२५९-५
उद्गूर्णः—उद्यतः		२५०-३	मिश्रेण—रविणा		२५९-१
संबीणः—प्रवीणः		२५०-३	ब्रह्मवर्चसं—यतिव्रतविद्याप्रभावाः		२५९-५
मृगायितुं—पलायितुं		२५०-९	प्रसीली—वरणिङ्का		२५९-६
अमिलं—वक्रं		२५१-७	ऊर्वजोः—ऊर्वजानोः		२६०-६
निचाय्य—अवलोक्य		२५२-१	शङ्कुः—कीलकः		२६०-१०
सोत्तारं—त्वरितं		२५२-१	इलामानुलः—चन्द्रमुखी ? [चन्द्रः]		२६१-५-६
आत्महितस्योपकारिणे—आत्महितस्य			कङ्कुलिः—अशोकः		२६२-६
प्रतियत्ने कृत् इति		२५२-४	पोथं—वालस्य पोथं बुग्धादि		२६२-७
स्त्रिणैः—उद्वसैः		२५२-७	मामः—ज्येष्ठभगिनीपतिः		२६३-४
अगदंकरम्—औषधं		२५२-९	प्राग्भारः—विस्तारः		२६३-९

१. 'परि-सामस्त्येन आत्मधामनि' टि० । * 'आपादित' मू. प्रती ।

† टिप्पणीमनुसृत्य संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादकः

* टिप्पणीमनुसृत्य संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादकः

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
स्रजतिवः—धनं		२६३-११	विहायोविहाराः—खेतराः		२७०-१
घमालुः—वज्रगरः		२६४-१	चक्रचरणः—रथः		२७०-४
प्रत्यूहः—विघ्नः		२६४-२	सौचित्यं—सौमनस्यं		२७०-९
सौरिणी-फेनमालिनी च—नदी		२६४-२-६	सन्नद्धा वारी—समानदीप्तः		२७०-१०
परंषितः—परपोषितः		२६५-१	त्रिविवातकुः—शरीरमानसागन्तुभेदाः		२७१-३
सपनेतारी—आतिकरणादिक्रियाकर्तारो		२६५-२	सुधाधसो—देवाः		२७१-४
पुण्यजनाः—राक्षसाः		२६५-६	विशाला—उज्जयिनी		२७१-४
बिहलं—द्रुपिकोपहतं		२६५-९	काश्यपो—भूः		२७१-५
धिकिनं—अल्पं		२६५-९	नक्रः—मकरः		२७१-५
प्रतीक्ष्यः—पूज्यः		२६६-१	दिवस्पतिः—इन्द्रः		२७१-५
अनुहारैः—सदृशैः		२६६-८	अजिह्वाः—पटुः		२७१-८
गोत्रेण—नाम्ना		२६६-८	ब्रह्मस्त्वर्थं—भुवनत्रयं		२७१-८
अमरकाः—अलकाः (केशाः)		२६६-९	उद्यावः—उत्सवः		२७२-१
कादम्बरी—मदिरा		२६६-१०	मेदिनीमन्दनाः—तरवः		२७२-३
सविधे—समीपे		२६७-१	समूहेत—सम्यक् कही यस्य ।		२७२-३
निवार्य—एकत्रीकृत्य		२६७-६	मुकुन्द—दर्पणः		२७२-५
रणरणकः—कलमलः (अरतिजनकः)		२६७-८	कलिः—विभीतकतरुः		२७२-७
घरणं—गृहं		२६७-८	गलिः—कर्मायोग्यो बलिः		२७२-८
धुद्धोदतनयः—बुद्धः		२६८-४	प्रवेकाः—मुख्याः		२७३-५
अहानि—दिनानि		२६८-४	हलिः—महद्वलं		२७३-६
अर्हणा—पूजा		२६८-९	इला—भूः		२७३-५
प्रत्यवायः—विघ्नः		२६८-९	वावेः—वादिनः, अवेरौणादिकः इ प्रत्ययः		२७३-६
आयतनं—कारणं		२६९-१	करिणः—गजात्		२७३-८-९
क्ष्वेलितं—हस्तमुखसंयोगजो ध्वनिः		२६९-२	प्रभित्—प्रभेदनं		२७३-१०
सामयिकः—मात्रोचितः		२६९-२	अलिः—अमरः		२७३-१०
कुम्भीरं—जलखरविशेषः		२६९-४	समविसर्गः—निश्चयः		२७४-२
शकुन्तेवरः—गरुडः		२६९-४	भातलिः—सारथिः		२७४-३-४
भद्रकुम्भाः—पूर्णकुम्भाः		२६९-५	विमुषः—बुधः		२७४-४
शयाः—हस्ताः		२६९-५	भट्टः—अविद्वान्		२७४-९
कर्णारथः—यिविका		२६९-५	समाजनं—प्रीतिः		२७४-६
भम्भाः—हृदयकाः		२६९-६	अवलीलम्—अश्रव्यं		२७४-७

● अहोऽस्त्री नपुंसकलिङ्गत्वात् । स्त्रीलिङ्गे शपि की विधौ च सति अहा, अहो इति च भवति, अष्टाहा इत्यभूत् ।

अस्याहः स्त्रिया ऋह्यं अष्टाहा, अष्टाहो अष्टाहोति ।

१. दुष्टवृषः शक्तोऽन्यधूर्वाहः टि० ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
मन्दादयः—लज्जा		२७४-७	क्रायचरः—चरणः		२८१-४
अशिवता—अकल्याणं		२७५-१	चक्रवालः—मानुषोत्तरो गिरिः		२८१-४
हिमवती—गङ्गा		२७५-३	निदानं—कारणं		२८२-४
वाद्यलिः—गजागमाचार्यः		२७५-४	सगन्धः—समानः		२८२-६
सूक्ष्मणं—परिभवः		२७५-१०	निष्पानं—[प्रतिमाऽवलोकनं टि०]		२८२-७
कालेयं—कुङ्कुमम्		२७६-१	निहासनं, वाहनं—दर्शनं च		२८२-७
सुरसरित्—गङ्गा		२७६-१	नाकिपु—देवेषु		२८२-८
संवीणः—प्रवीणः		२७६-७	आधिमुक्तिः—धृष्टा		२८३-२
सर्वधुरीणः—सर्वकर्मणि कुशलः		२७६-७	संश्रुमान्—रविः		२८३-३
अवस्कन्दः—घाटकः		२७६-९	निवर्हणं—निरसनं		२८४-४
अवसर्पाः—धराः		२७६-९	त्रिविधस्य—द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदेन		२८५-६
अभ्यमिश्रीणं—शत्रु-अभिमुखं		२७६-९	एकादशविधः—मूलव्रतं व्रतान्यर्चा इत्यादिभेदेन		२८६-१
अलङ्क—स्वामिन्		२७७-३	चतुर्विधः—श्रद्धा-यति-मुन्यनगारभेदेन		२८६-१
अलङ्कः—ग्रहितश्च		२७७-८	मूढत्रयस्य मदानां च विकल्पं कविः स्वयमेवो		
समाशासः—मांसः		२७७-९	तरत्र वक्ष्यति—		२८७-३
अजस्रं—उपद्रव		२७७-१०	अनायतनानि षट्—कुक्षेत्रवालवतदागम इत्यर्थः		२८७-३
तमी—रात्रिः		२७८-१	अप्रसङ्गः—अप्रतिषेधः		२८७-९
समोरमार्गः—आकाशं		२७८-२	रविरिपुः—उलूकः		२९०-६
चमुरः—व्याघ्रः		२७८-२	ज्ञानमैकमित्यादि		२९१-२
ऊर्ध्वनाभः—लूता		२७९-१	इति यश० पञ्चिकायां पण्ड आश्वासः		
शालाजिरं—शराव		२७९-७	वेकटवर्म—शोषमादिक्रिया		२९४-१
सप्तसन्तुः—यज्ञः		२७९-८	निदानत्वात्—कारणत्वात्		२९४-११
तृतीयेन—उदात्तेन		२७९-८	उपाख्यानं—कथानकं आख्यानकं तस्य चेदं लक्षणम्		२९५-१
सवनेन—स्वरेण		२७९-८	अखर्वः—महान्		२९५-१
विरिञ्चः—ब्रह्मा		२७९-९	एकवक्त्रं—षोडशपुरं		२९५-१
सत्रं—यज्ञमण्डपः		२८०-१	पलं—मांसं		२९५-४
आलू—करकः [भृंगारं क्षारी टि०]		२८०-३	कश्यं हारहूरं च—मद्यं		२९५-४
संक्रन्दनः—शक्रः		२८०-४	आधुशुक्तिणिः—अग्निः		२९६-२
सरिप्राथः—समुद्रः		२८०-५	तरसं—मांसं		२९६-२
गोधः—गुधः		२८१-१	मत्तालयः—मत्तभ्रमराः		२९६-९

०. शरावो वर्षमानकः इत्यमरः ।

१. हल विशोषने, बहु परिकल्पने अनयोः रूपं ।

२ देखिए पृ० २९१ की टि० नं० ३३

३ इतिहासः पुरावृत्तं प्रबन्धरचना कथा । दृष्टोपलब्धकथनं वदन्त्याख्यानकं बुधाः ॥ १ ॥

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
आजं—छिद्रं		२९६-७	द्विदलं—माधमुद्गवर्णकाविधान्यं		३०७-८
खरपटागमः—ठकशास्त्रं		२९६-८	क्षिम्भयः—फल्यः		३०७-८
मल्लिभ्लुचाः—चौराः		२९६-८	साधिताः—रक्षाः		" "
मरेयं—मद्यं		२९७-३	परिवेशनं—रोदनं		३०८-२
यष्टामष्टि, मुष्टामष्टि इत्यत्र पूर्वपदात्तस्यात्वमीप संख्यानं		२९७-३	कृच्छ्रं—प्रायश्चित्तं		३१०-५
विरत्राय—चिरं		२९७-७	पृथुरीमा—मत्स्यः		३१२-६
उदकं—आयस्यां (आगामिकाले)		२९८-६	शकुली, बैसारिणः, अवडशीणः पाठीनद्वय—		
आनृशंस्यं—दया		२९९-६	मत्स्यः		३१३-३-१०
दृतिः—अस्वा, 'चर्ममाण्डेषु' टि०		३००-३	निषाव्य—अवलोक्य		३१२-८
कृतुपः—चर्ममयं स्नेहभाजनं		३००-३	आनाये—जाले		३१३-५
मयः—उष्ट्रः		३००-४	प्रमापयितव्यः—हिसितव्यः		३१३-५
विपद्रोः—विपतरोः		३०१-४	शैबलिनी—नदी		३१३-७
सद्यावेन्दिरा—उत्सवधरोः		३०२-५	अररं—कपाटं		३१४-३
आसदी—स्थानं		३०२-५	मित्तं—शकलं		३१४-४
आङ्गलं—मांसं		३०२-६	मरोसूपः—सर्पः		३१४-५
निवर्हणमतीति निवर्हणात्—अदयः		३०२-६	अमुष्टं—प्रभातं		३१४-५
पृदाकुपाकः—सर्पशिशुः		३०२-९	उषर्बुधः—अग्निः		३१४-६
अनिमिषचरो—भूतपूर्वभक्त्यो		३०३-७	द्रविणोदाश्च—अग्निः		३१४-७
एकानस्यां—उज्जयिन्यां		३०४-३	कुलपालिका—कुलस्त्री		३१४-११
परासुता—मरणं		३०५-२	समापन्नसत्त्वा—गमिणी		३१४-११
दर्शनं—मांसवधिरादीनां,			पाञ्चजनीनः—मण्डप्रियः		३१४-१२
स्पर्शनं—शूनकरजःस्वलादीनां,			कलत्रं—वचनं भार्या च		३१५-३
संकल्पः—इदं मांसमिदं वधिरमित्याशयः,			स्थापतेयं—धनं		३१५-३
संसर्गः—मूलजीवजन्त्वादिभिरशुद्धता,			वनाशयः—जलाशयः		३१५-४
त्यक्तभोजिता—परिहृताभ्यवहरणं			प्रतिग्रहः—स्वीकारः		३१५-६
प्राशप्रत्यूहः—भोजनविघ्नः		३०७-१	उद्गमनीयं—धौतवस्त्रं		३१५-७
अमिश्रं—केवलं		३०७-६	ववरकः—दोरः		३१५-७
मिश्रं—संयुक्तं		" "	वासो—वासरः		३१५-८
उत्सर्गि—निरपवादं		" "	उद्वसितं—गृहं		३१५-८-९
१ तथा कालाश्रयं, देशाश्रयं अवस्थाश्रयं च		३०७-६	परिसरः—अङ्गणं		३१५-९
बल्ली—गुह्यन्यादिका		३०७-७	विशीर्यमाणा—म्लायन्ती		३१५-९
कन्दः—सुरणादिकः		३०७-७	निध्याय—दुष्ट्वा		३१५-९
			प्रतोक्ष्याय—पूज्याय		३२२-३

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
वृषः—मुख्यः		३१६-१	कमलेशः—श्रीपतिः		३१८-७
अधिष्ठानं—आश्रयः		३१६-१	वरश्री—भोषी		३१८-७
क्षेत्रधिः—निधिः		३१६-२	कामन्दः—कामः		३१८-८
आलिन्दकः		३१६-४	प्रभुः—प्रकृष्टजानुः		३१९-१
विज्रमानुः—अग्निः		३१६-६	पौतव—तुला मानं च		३१९-२
उपांशुदण्डः—गूढवधः		३१६-६	विषयः—विषेण वधयः		३१९-२
प्रमीतः—मृतः		३१६-७	मुशलयः—मुशलेन वधयः		३१९-२
स्वपचः, जमंगमः, अस्त्यावसायी		३१६-६	एकान्तो—उज्जयिनी		३१९-४
दियाकीतिवच—आण्डालः		३१६-८-९	पदिरः—मार्गः		३१९-४
भिष्टा—कुटिलः		३१६-८	विक्रियः—चृतः		३१९-४
आह्वी—वाणो		३१६-८	कर्कोटः—कण्ठरेखा		३१९-९
स्तम्भपः—शिखः		३१६-८	अर्जुनं—तृणं		३२०-१
रामरविमः हरिणकिरणवच वनेतमानुमदम् इति			धनधेयं—अश्वत्थीयं		३२०-२
यावत्		३१६-१०	भूपदः—सहिरण्यकन्यादायं जामातृदेयं वस्तु		३२०-३
मिशलाकः—एकान्तः		३१६-१०	वेदमुखः—वर्तिः		३२०-३
पणं—व्यवहारः		३१७-२	विशिखाः—मार्गः		३२०-४
शण्डाः—वृषभाः		३१७-२	आमुष्य—वदध्वा		३२०-४
गोघोतं—गोकुलस्थानं		३१७-३	कचचरं—कुरिसतं		३२०-८
सनीडं—समीपं		३१७-३	महारजनं—कुसुभं		३२०-१०
छपनं—मुखं		३१७-३	मोरः—मयूरः		३२०-१०
तानकाः—वृषभाः		३१७-४	मौकुलिः—काकः		३२०-१०
आतं—आलं		३१७-४	अवशणः—एकाकी		३२१-३
कीनाष्टः—यमः		३१७-७	असंस्तुतः—अपरिचितः		३२१-३
लोकम्—अवस्थं		३१७-८	उपयाचितं—नमसितं		३२१-४
संज्ञपनं—मारणं		३१७-९	स्पर्शयितुं—वातुं		३२१-४
उपह्वरं—रहः		३१७-९	निकाशं—गृहं		३२१-६
उपमाता—मात्री		३१८-२	वधेयो—निर्भाग्यः		३२१-७
हंभा—गोदतं		३१८-३	प्रवासयितव्यो—मारयितव्यः		३२१-७
उपदान्तरं—समीपं		३१८-३	भेलः—अविचारकः		३२१-८
सरोजमुद्दि—आश्रित्ये		३१८-४	कुहण्डः—माज्जरः		३२१-८
बल्लवाः—गोकुलिकाः		३१८-५	तोदकः—अयकः		३२१-९
हन्दिरा—श्रीः		३१८-६	व्यावः—कर्मः		३२२-१

१. प्रमाणध्वन्यालिन्दा बहिर्द्वीरप्रकोष्ठके हत्यमरः ।

• रामः सितेऽपि निर्दिष्टो हरिणवच तथा मतः इति वचनात् ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
आप्य—आगत्य		३२२-४	अपनिधिः—स्थापनीयं द्रव्यं		३२७-९
आपेन—पित्रा		३२२-५	अस्तुमकल्पे—वस्तुसमूहं		३२८-१
दशमीस्थः—मृतः		३२२-८	अद्भुविष्यः—दैवावलम्बनपरः		३२८-२
पतिषः—विघ्नः		३२२-८	अणदा—रात्रिः		३२८-३
पद्मावती—उज्जयिनी		३२३-२	अशिकः—शून्यः		३२८-४
तुजा—पुत्रेण		३२३-२	वासिना—स्त्री		३२८-५
रमा—श्रीः		३२३-५	विषवकर्मणि—आदित्ये		३२८-५-६
अभ्रियः वज्राग्निः		३२३-६	संद्रवणं—विनाशः		३२८-६
विधान्यः—विदग्धः		३२३-८	अस्तमनस्ता—दुःखिता		३२८-६
वदान्यः—त्यागी		३२३-८	छातः—कुशः		३२८-७
अवदानं—साहसं		३२३-८	पटञ्चरं—जीर्णं		३२८-७
मिश्रयुः—व्यवहारवेदी तस्य भावो मंत्रेयिका		३२३-९	कर्पटिः—निःस्वः		३२८-७
मत्सुः—खेदः		३२३-९	पस्थं—गृहं		३२८-७
कत्तुः—कामः		३२३-९	अवर्ता—निर्जोविका		३२८-७
सक्तः—मधुरः		३२४-१	धङ्कुरा—तुष्णा		३२९-२
दमूनसि—बह्वी		३२४-३	दुर्दुष्टः—दुराग्रही		३२९-२
वचत्रं—वचनं		३२४-५	लज्जिका—दासी		३२९-४
दोषजः—अतीन्द्रियजः		३२४-६	पाटञ्चरः—चौरः		३२९-७
निरजन्यं—निर्विघ्नं		३२४-७	अणकः—कुत्सितः		३२९-७
सायुज्यं—साम्यं		३२४-८	प्रथमिकः—विध्वास्यः		३२९-७
रायि—घने		३२५-४	अतिबेलं—अतीव		३२९-७
रिषथं—द्रव्यं		३२५-५	शस्वालः—वाचालः		३२९-९
हवस्य—घनस्थ		३२५-५	पालिन्दः—राजा		३२९-९
हापराय—संशयाय		३२५-६	* अन्याय्यं—असंगतं		३२९-१०
ततः—स्तेनात्		३२५-८	अनशिततः—नापरहितः		३२९-१०
अनिमिषाः—देवाः		३२६-५	तानकः—वृषभः		३२९-१०
कुल्याः—वालाः		३२६-९	चिक्कणः ^१ —अपरिषेदकः		३३०-३
यवसं—तृणं		३२६-९	स्वाध्यायिनः—मठिकाप्रतिषेधाः		३३०-३
भटीराः—भटाः		३२६-१०	महापरिषदः—न्यायचिन्तनापिक्कताः		३३०-३
पीठमर्दः—नाटकाचार्यः		३२७-१	अनघीनश्रीः—गरवशब्दः		३३०-४
सनाभिः—बन्धुः		३२७-४	अथङ्कुका—स्थिरास्थिरा		३३०-४
पुण्यलोक—सत्यवाक्		३२७-६	नेमं—समीपं		३३०-४

* इदं पदमुपलब्धमासु कासुचित्प्रतिपु न वरीवति—सम्पादकः

१. 'लोमिष्ठः' इति टि० ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
तमस्विनी — रात्रिः		३३०-५	वेदवैद्यधिकः — वैद्यानुष्ठानरतः		३३३-३
यद्वदः — असम्बद्धप्रलापी		३३०-७	विश्वभोजः — अग्निः		३३३-४
सर्वर्तुपरिवर्तः — संवत्सरः		३३०-८	चैत्यं — आर्यद्वं		३३३-४
उपसवित्री — धात्री		३३१-१	दुर्गतिकः — जारः		३३३-४
अनुकोशः — अनुग्रहः		३३१-२	चर्मतकः — भूर्जवकः		३३३-५
परिष्कृतः — गृहीतः		३३१-३	विश्रो — जरा		३३३-५
परिवत्सरदलं — संवत्सराडं		३३१-४	वयोभाः — युवा		३३३-६
व्याहारः — आलापः		३३१-४	अभिचारं — घृतं		३३३-६
गन्धेः — सन्निधेः		३३१-५	विश्ववेद्याः — अग्निः		३३३-६-७
अम्बके — अम्बा		३३१-५	उदगवितं — भूत		३३३-८
गुल्फः — कृत्तिसः		३३१-६	शालाजिरं — शराव		३३३-८
कुक्कुटो — माया		३३१-६	किमिरः — कर्तुरः		३३४-१
ऊर्मिका — मुद्रा		३३१-६	परिघत् — कदम्बः		३३४-१
वित्तिषिका — विना		३३१-७	प्रमाष्टिः — विलेपनं		३३४-२
विषमध्विः — अग्निः		३३१-८	परिष्कृतः — अलङ्कृतः		३३४-२
संगीतिः — संकेतः		३३१-९	वालेयका — गर्दमः		३३४-२
स्वस्त्ये — भाविनि		३३१-९	हिरण्यरेताः — अग्निः		३३४-३-४
अध्येष्य — प्राच्यं		३३१-१०	अन्ववाये — वंदो		३३४-४
नन्दनं — देवोद्यानं		३३२-२	रोहिदश्वः — अग्निः		३३४-७
वैदेहिकनन्दनः — वैश्यपुत्रः		३३२-२	वंशेरः — सर्पः		३३४-७
विष्टया — पुष्पेन		३३२-३	आनुशासणीः — पराद्रोहबुद्धिः		३३५-१
उपयिकं — उचितं		३३२-८	परोवादः — असम्बद्धालापः		३३५-४
स्तिमी — हृदयं		३३२-८	अन्धासि — अन्धानि		३३५-७
कौलीनता — दुरपवादः		३३२-९	आस्थाय — प्रतिज्ञाय		३३२-८
न्युजं — अधोमुखं		३३२-१०	परिवानयेत् — मिन्दयेत्		३३६-२
हरिणी — स्वर्णप्रतिमा		३३२-१०	प्रतिकर्म — नैपुण्यं		३३८-३
सूर्मी — लोहप्रतिमा		३३२-१०	२ विप्रश्नविद्या —		३३८-३
सोमपायिनः — ब्राह्मणाः		३३३-१	३ कथा — विवाधंसा		
वैभेयः — निर्मायः		३३३-१	४ आख्यायिका — कथातार्था		३३८-३
कुशिकाः — ब्राह्मणाः		३३३-२	प्रवाह्निना — प्रहेलिका		३३८-३
पांसनं — दूषणं		३३३-२	संवीपता — पटुता		३३८-४

१. जरा विश्रोतिद्व्यते इति यचनात् ।

● देखिए पृ. ३३८ की टि. नं० ४

२. होराक्षरादिभिः अथवा अहोरात्र्यादिभिः प्ररचितज्ञानं ।

३-४. देखिए पृ. ३३८ की टिप्पणी नं० ६

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
विशिका—परवन्धनोपायः		३३८-६	अपसदः उपसदो वा—गतः		३४४-२
• कात्यायिनी—		३३८-६	अन्तेवाचिनः—विधेयाः		३४४-६
धंगरं—प्रतिज्ञां		३३८-८	परार्यं वा—गततृतीयवर्गे एव		३४४-७
चाम्पेयं—चम्पकः		३३९-४	परुत्—मत्तवर्गे		३४४-७
भोगायतनं—चारीरं		३४०-१	गजूः—सह		३४४-७
निरनुकः—असहायः		३४०-२	द्वापरः—मंशयः		३४४-८
जङ्घाकरिकः—धरः		३४०-३	अद्यस्वीने—गुराणे		३४४-९
अशनाः—क्षुधा		३४०-३	अपरवान्—स्वतंत्रः		३४४-९
वाष्पीहृः—चातकः		३४०-४	मावृन्विषीने—		३४४-९
बलमयुः—श्रमः		३४०-४	अस्तुङ्कारं—अमंगलं		३४५-१
मन्दिरं—मण्डपः		३४०-४	रसवाहिनी—जिह्व		३४५-२
कचिष्यः—शास्त्रोपदेशयोग्यः		३४०-५	कशिपू—भोजनाच्छादने		३४५-४
विदुषं—गण्डितः		३४०-५	• आचितः—भारः		
आशीतिः—आशयः		३४०-६	अन्तर्धानं—तिरोधानं		३४५-८
न्यस्तः—सर्वः		३४०-६	इन्तिन्दिरः—अमरः		३४६-५
ज्वालाभाली—पावकः		३४०-७	धरव्यीकृते—प्रक्षीकृते		३४६-६
तपस्वी—वर्षटः		३४०-९	अपराधेषुः—लक्ष्यच्युतबाणः		३४७-७
एकायनं—एकाग्रं		३४०-९	उत्कुर्वाणः—प्रकाशयन्		३४६-८
जन्युः—पुत्रः		३४१-९	उद्भिदः—तप्तः		३४६-९
विदुष्याः—विचक्षणाः		३४२-६	असमीक्ष्यं—अपरोक्षणीयं		३४७-१
विधूतः—स्फोटितः		३४२-७	मन्युः—पुत्रः		३४७-२
उपाध्यायात्—		३४२-७	लोहले—अध्यक्तो		३४७-२
एकसर्गः—एकामिप्रायः		३४२-७	काहले—चन्द्रे		३४७-३
सप्तश्विः—अग्निः		३४२-११	प्रजाः—दिवाः		३४७-५
समिधः—गोधूमचूर्णं		३४३-४	नतभूः—विलासिनी		३४७-९
ऊर्णापुः—उरणः		३४३-४	उदकगदिचारिका—कुण्डिका		३४७-११
हव्यवाहवाहनः—		३४३-५	होणता—लज्जा		३४८-४
खर्वः—लघुः		३४३-६	शललः—शलाका		३४८-५
कुम्भं—मितिः		३४३-६	अगण्यं—गणयितुमशक्यं		३४८-५
दुघणः—वेवाः		३४३-८	पिच्छोलः—वंशः		३४८-६

• देखिए पृ. ३३८ की टिप्पणी नं० १० ।

१. चरणचरः पादचारी ।

२. उपाधेरसदाचारस्य आधः उत्पादो येन सः तस्मात् ।

३. हव्यवाहवाहनः, उरभः, वृष्णिदक्ष मेघः ।

४. 'कुम्भा' सर्वत्र प्रतिपु ।

५. मादृशां विधिस्तस्य इमे ईश्वरे ।

• इदं पदं मु० एवं० ह० लि० प्रतिपु नास्ति ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
कशा—हृयहृममोपकरणं		३४८-६	हन्धे—दीपिते		३४५-३
पुरु—महत्		३४८-७	अभिव्याप्तं ^३ —आकाङ्क्षा		३४५-४
विश्वनष्टुष्टं—दुरपवादघोषणा		३४८-८	उपयमः—विवाहः		३४५-५
श्रीफलं—विलम्बं		३४९-१	उपद्रव्यं—यन्त्रलिङ्गलेपाविप्रयोगः		३४५-६
द्वीपिनी—नाम मदी		३४९-१	वृथाट्या—एवमेव विहरणं		३४५-६
उल्लासः—घटना		३४९-२	दीर्घागर्व—असूयकत्वं		३४५-७
* निर्वरः—निर्वरः		३४९-५	पद्या—श्रीः		३४५-७
पोढम्—षट्दशनः		३४९-७	पिङ्गः—विटः		३४७-१
कामिवायिनं—मद्य		३४९-११	गरालं—चाय		३४७-२
चेतन्—आमन्		३४९-११	अपहृष्टीणे—चतुर्लोकने		३४७-६
* उपन्यस्यमानः—		३५०-१	शरणे—गृहे		३४७-६
आवेगेन—शोकेन		३५०-४	* सुनयायतनपतनादिभिः—		३५७-६
सप्ततन्तूनां—यज्ञानां		३५०-५	अवन्ध्यसाध्यमिति क्रियाविशेषणं		३५७-७
ईतिभिः—* सर्पकण्टकादिभिः		३५०-८	आकृतम्—अभिप्रेते		३५७-७
श्रुतिधृतिः—ब्रह्मा		३५०-९	द्योत्यं—प्रकाश्यं		३५८-१
कलीवं—नपुंसकं		३५१-२	तरसोः—वेगयोः		३५८-१
जित्या—कृषिः		३५२-६	अचिरतनं—लघु (शीघ्रं)		३५८-९
सावर्था—मायया		३५२-७	अथकिं—एवमेतत्		३५९-३
सास्त्रा—साहित्या		३५२-९	वचनं—वचनैः		३५९-४
वीतिहोत्रः—अग्निः		३५२-९	वास्तु - गृहं		३५९-५
ब्राधोत्रः—दीर्घतरं		३५३-१	हृत्परी—कुलटा		३५९-८
अरुनादीपतिः—अग्निः		३५३-१-२	तपोडातः—अवतारणकमः		३५९-८
धनञ्जयवच—अग्निः		३५३-२	दुष्टवर्मा—रुद्रः		३६०-१०
सुख्यं—देवदेयं		३५३-२	* कुसुमकिसावः—कामः		३६१-४
कव्यं—पितृदेयं		३५३-२	पुष्पंधयः—अमरः		३६१-६
शोचिष्केतः—अग्निः		३५३-३	रसाजः—धृतः		३६१-६
जीनः—क्षीणः		३५३-३	स्कन्दः—क्षयरोगः		३६१-१०
आशीमवं—दोषः		३५३-५	सन्नता—चेष्टाभावक्षीणता		३६१-१०
हृत्प्रीतिः—अग्निः		३५४-३	अलार्द्रं—वह्मव्यजनं		३६१-१
भावातिः—रतिरसप्राप्तिः		३५४-५	कर्णं आहं—कर्णमूलं		३६२-४
तुलीया प्रकृतिः—नपुंसकः		३५४-६	एवमेवं—कठारनिङ्गस्त्वामभिलषतोति		३६२-४

१. 'निष्ठुरः' टि० ख० ।

* उपसर्गादस्यत्पूहोर्वात्मने पदं ।

२. देखिए पृ० ३५० की टि. नं० ११-१२ ।

३. आर्तध्यानं ।

* सुनयायतनपतनमवन्ति विनाशयन्ति इत्येकंशौलं ।

४. देखिए-पृ. ३६१ की टिप्पणी नं. ३ ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
वासुरेषु — पक्षिषु		३६२-८	मालवल्ली — बदरी		३७०-३
इक्षुरस्य — हिमाचलस्य		३६३-१	काशीपत्रं — मानं		३७०-४
मत्तालयः — भ्रमराः		३६३-२	चलोकमत्त — गृहपटललम्बिता ?		३७०-७
वृक्षोत्पलं — कणिकारः		३६३-२	मृकुरः — दपणः		३७०-७
अभ्यासे — समीपे		३६३-३	निकाशं — गृहं		३७०-७
प्रवयाः — वृद्धः		३६३-८	ऊर्ध्वकः — शरण्डः		३७०-८
आयतनं — कारणं		३६४-३	नवीमः — नवः		३७०-८
सुमजनः — रात्रिमध्यः		३६४-९	कदर्याः — लुब्धाः		३७१-४
प्रतीकाः — अवयवाः		३६५-४	विधापयान् — विध विधाने		३७१-६
आकल्पः — वैषः		३६५-५	मितपत्रः — लुब्धः		३७१-९
शैलपः — नटः		३६६-४	धैवविकाः, परिस्कन्धाः, काच —		३७१-९
तृणेहि — हिनस्मि		३६६-७	वहास्य एकाद्याः —		३७२-१-३
सत्री — यजमानः		३६६-८	यस्यः — विवसः		३७२-१०
आधारणः — परिभवः		३६६-८	अपस्नातक्यं — मृतस्नानं कर्तव्यं . .		३७२-९
कुप्यं — वस्त्रकम्बलादि		३६७-४	उपहृते — एकांते		३७२-४
भाण्डं — लोहकूर्पूरीत्यादि		३६६-४	शिलापुष्पकः — येषणपाषाण.		३७३-१
वेदाः — स्त्रीपुंसपुंसकभावाः		३६७-५	धैवेहि वन्यजनः — वधिवृषः राक्षसप्रणिधिः		३७३-३
हास्यस्वरतिचोकमयजुगुप्साः		३६७-५	प्राचीनवहिरिन्द्रः		३७३-३
धनायाविष्टः गर्भः		३६७-७	वधुः — नकुलः		३७४-६
अयामि — हानि		३६८-६	ऋ वृषाक्रियाः —		३७४-७
ब्रह्मः — परिग्रहः		३६८-७	सम्परायः — संसारः		३७४-८
उपशाल्ये — समीपे		३६९-१	सुहृता — मैत्री		३७५-२
संभारादि — तैलादि		३६९-५	इति यथास्तिलकपञ्चिकायां सप्तम आध्यायः		
प्रसभाम्पवहृति — गृद्धिभाजनं		३६९-६	साक्ष्यः — गरुडः		३७६-१
कठङ्गर — वाग्यतृण		३६९-७	सूयनं — अपनोदमम्		३७६-३
व्वजाः — तैलिकाः		३६९-७	दोश्चित्यम् — आर्तरीद्वयाने		३७६-४
पितृप्रियाः — तिलाः		३६९-८	दुर्जनः — चाण्डालरजःस्वलादि		३७६-६
यन्त्रं — घाटकः (पाणी)		३६९-८	ब्रह्मजिह्वास्य — ब्रह्मचर्यमन्दस्यं		३७७-४
प्रत्यवसानं — भोजनं		३६९-९	मूरस्ना — अजन्तुका भूमिः		३७७-६
स्थालीविलीयं वर्तति		३६९-१०	निर्मलता — गन्धलेपहानिः ?		३७७-६
अवन्तिसोम — काञ्चिकं		३६९-१०	आप्लुतः — स्नातः		३७७-८
विष्णुसदः — विष्णुलः		३७०-१	संछुतं — अध्ययं		३७७-८

१. बहु भुज्यते इत्यर्थः ।

ऋ निष्प्रयोजनं भूषणनं; अलसफालनं, अलसमेधनं, पवनकरणमेकेन्द्रियहितनं च ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
ऊधस्य—दुग्धं		३७८-२	अनुयोगः ^३		३८३-६
लौकिको विधिः—विवाहः		३७९-१	अवगाहनं—विमर्शनं		" "
श्रुतगीः—उपाध्यायः		३८०-१	प्रयोगः—शास्त्रार्थशासनं वचनं		" "
दृक्—दर्शनं		३८०-१	वाग्भिस्त्वं ^४ —		३८३-३
अवगमः—ज्ञानं		३८०-१	त्रिपथगा—गंगा		३८३-७
पुलं—चारित्र्यं		३८०-१	त्रातः—समूहः—		३८४-२
सिचये—वस्त्रे		३८०-२	अर्वाचोतं—अर्वाभवं		३८४-२
संकते—पुलिने		३८०-२	विरिञ्चः—कृत्वा		" "
अरिः—मोहनीयं		३८०-८	वैखानसः—तापमः		" "
रजः—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं		३८०-८	प्रत्यूहः—विघ्नः		३८४-३
* रहः—अशुभाचारः		३८०-८	अवधारणद्वय ^५ —		३८४-८
कृत्कं—इन्द्रजालं		३८०-८	प्राकाम्यं—आकाङ्क्षा		३८४-९
आजवज्जवीभावः—संसारः		३८०-८	अवह्लादनं—विचिकित्सा		३८४-९
पोतिका—वालिका		३८०-१०	अनेकविशेषविशेषाः*		३८५-१
अवीचिः—निरयः		३८०-१०	वर्ष—श्रेष्ठम्		३८५-२
मणिमकरिका—पुत्तलिका		३८०-११	सत्यंकारं—व्यवस्थानुल्लङ्घनम्		
विकटाकारः—टंकः ? (जड़िया-स्वर्णकार)		३८१-१	घनसायं इति लोकभाषा		३८५-४
विरोचनः—रविः		३८१-२	अनवद्यविद्या—केवलज्ञानं		३८७-१
आर्वात्रयं—भक्तिः श्रुतमन्त्रविद्वत्		३८१-३	मिदानं—कारणं		३८७-१
अभिनिवेशः—सम्भक्त्यं		३८१-७	पञ्चवत्यात्मनः ^६ —		३८७-४
गुह्या—ग्रहंता		३८२-२	अत्यन्तायतिः—स्वल्पव्यापारा		३८८-६
प्रत्नं—पुराणं		३८२-४	कौतुकं—कङ्कणं		३८९-५
नूतनं—नवम्		३८२-४	रदिमभिः—किरणैः, रज्जुभिश्च		३९०-१०
उदितोदितं—जात्यावरणशुद्धं		३८२-५	भोगाः—प्रवनवासिनः		३९१-७
विनियोगः—व्याख्यानं		३८२-५	चित्तवृत्तिपचारः—आत्मेन्द्रियमनसां व्या		
उपनयनं—दीक्षाप्रतारोपणं विधिः		३८२-६	सङ्गहेतुव्यापारः		३९२-७
द्विधात्मकया—गृहस्थाश्रयः		३८२-६	उपनये—परिहरयामि		३९२-९
सम्परायः—संसारः		३८३-१	सदकाः—तण्डुलाः		३९३-२
प्रमाणं—वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु		३८३-३	आरामः—परिग्रहः		३९३-३
भयः ^७ —		३८३-३	ऊर्मयः—क्षुत्पिपासादयः		३९३-३
निक्षेपः ^८ —		३८३-३	विबोकाः—दिलासाः		३९३-५

३ 'अन्तरायकर्म' टि. १

१, २, ३, देखिए पृ. ३८१ की टि. नं० ५, ६, ७ ।

४. देखिए पृ. ३८३ टि. नं. १० ।

५. देखिए पृ० ३८४ टि. नं० १४ ।

* देखिए—पृ. ३८५ की टिप्पणी नं. २ ।

६. देखिए—पृ० ३८७ की टिप्पणी नं. ६ ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
अमुषः—आवायः		३९३-६	पुरुहूतः—शक्रः		४०२-१
सक्विधे—समीपे		३९३-७	पुण्ड्रदेव—आदिदेव		४०२-१
अपचितौ—पूजायां		३९४-२	अक्षमं—दोषः		४०२-३
प्रजापतिनिकेतनं—ब्रह्मस्थानं		३९५-१०	अक्षसो—कण्ठां		४०५-१
अमर्त्यमितिभृति—भुरशले		३९५-३	कुञ्जरः—प्रधानः		४०५-२
लक्ष्मीश्रुतागमनवीजैः—श्रीसरस्वतीवीजैः			उद्धवः—गर्वः		४०६-४
'श्री' ह्रीं		३९६-६	वित्तिः—ज्ञानं		४०७-३
सवः—अभिषेकः		३९६-८	अचित्ति—अचेतने, प्रधान इति यावत्		४०७-३
पितृपतिः—यमः		३९७-१	धिषणः—बृहस्पतिः		४०७-५
नैगमेयः—नैऋतिः		३९७-१	विदि—ज्ञाने		४०७-६
प्रचेताः—वरुणः		३९७-१	विमुचि—मुक्ते		४०८-१
रैदः—घनदः		३९७-२	निषः—घटः		४०८-३
उडुपः—तरी		३९७-२	अक्षजनिता—निर्विकल्पकं		४०९-५
क्षेपीयः—शोध		३९७-४	अनेकधर्मप्रवृद्धिः—पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वादिका		४१०-३
भूतिः—भस्म		३९७-६	महेत—पूजागत		४११-३
हरिता—दूर्वा		३९७-६	विवृशि—विगतदर्शने (अन्धे)		४११-८
चोचं—नालिकेरं		३९७-९	इनः—रविः		४११-८
प्राचीनामलकं—फलविशेषः		३९७-९	अर्यमा—रविः		४१२-५
पूगं—कमुकं		३९७-९	छात्रमिबेति—कवेरवेदनं नाम ?		४१३-४
द्वैयङ्गवीनं—वृत्तं		३९८-२	अभिमानात्—अविप्रतिपत्तेः		४१३-७
मलयं—चन्दनं		३९८-७	समवाये—समाजे संधमेलापके		४१३-७
मम्भा—हुडुक्का		३९९-३	देव्यात्रायां—तीर्थङ्करपूजायां		४१३-७
घनं—तालादिकं		३९९-४	अर्ककान्तां—सूर्यकान्तः		४१३-८
ततं—वीणादि		३९९-४	द्वयं—स्थितपर्यङ्कलक्षणं		४१६-१
अवनद्धं—भुरजादि		३९९-४	यमः—प्रवेशः		४१६-२
मल्लं—स्तुतिः		३९९-६	आशामः—निर्भयः		४१६-२
भालं—ललाटं		४००-६	पान्तः—निदबलः		४१६-२
परिपत्—समवसरणसमा		४००-७	प्रावोत्कीर्णः—पापानघटितः		४१६-२
समास्ताराः—बुद्धाः		४००-७	एकाग्रता—ध्येयान्यत्र व्यापाराभावः		४१६-४
आधजितः—उपासः		४००-३	देह्यात्मना—करणभामतिपन्वना		४१६-४
उत्तरोदकः—मेघोदकः हंसोदकैर्वा		४००-६	द्रयातिगः—लोषरोषाभ्यां विनिर्मुक्तः		४१६-५
अमृतकृतकणिके ^१ —अमृतं पवर्णः		४००-७	मलोत्सवं—दैन्यत्वं		४१६-६
कलाः—अकारादयः षोडश		४००-७	व्यासङ्ग—व्याभ्रुलता		४१७-१

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
वेराग्य—दृष्टागामिविषयेषु वैतुष्यं		४१९-४	सरसागमं—सुखरसागमं		४३०-९
ज्ञानं—बंधमोक्षोपायविवेकः		४१९-४	१५खसुसदोपनिर्वाणे—		४३१-५
असङ्गः—आह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः		४१९-४	१६श्रीमती, वयोवृद्धमित्यादि १०		
स्थिरचित्तता—तपःस्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽ			मन्दरमुद्रा—पंचमेहमुद्रा		४३४-३
विचलितप्रयत्नः		४१९-४	१८सर्वनामादिवर्णहिं—		४३४-३
कर्मस्मयसहृद्वं—आरीरमावसागन्तुपरोपहोद्रेक			पंचमूर्ति—ॐकारं		४३५-१
निजयित्वं		४१९-४	संगमे—श्रुदोर्गम्ये		४३५-१
*योगतत्त्वं—		४१९-४	क्षिपेत्—मुञ्चेत्		४३६-४
आधिः—दीर्घमस्मं		४१९-५	एकस्तम्भं—आयुर्भूत		४३८-२
श्याधिः—दोषवैषम्यं		४१९-५	पञ्च—इन्द्रियाणि		४३८-२
विपर्यासः—अतत्त्वे तत्त्वामिनिवेशः		४१९-५	पञ्चशनाः—मनुष्यास्तीराश्रितं		" "
प्रमादः १—			अनेककक्षं—दृष्टामिब्रह्मरुद्रादिभेदेन		" "
आलस्यं २—		४१९-५	गोमुद्रा—सुरभिमुद्रा		४३९-३
विभ्रमः ३ इत्यादि		४१९-५	गुणबोजेन—ह्रंकारेण		४३९-४
अविपिस्तारमा—असंप्रस्ताधयः		४२०-१	अथकेली—बन्धयः		४४०-१०
१धृतिः २श्रीः ३दया ४—		४२४-२	सुरदुः—सुरदुःखः		४४०-११
*संयोगः ५, विप्रलम्भः ६, निदानः ७, परिदेवतं १०		४२४-४	पर्वसन्धि—अष्टमी		४४३-३
भेदं—पृथक्त्वं		४२७-२	चतुर्थं—उपवासं		४४४-१
विवर्जिताभेदं—एकत्वरहितं अर्थव्यञ्जन			घनाशनः—शेषः		४४६-१
योगान्तरेषु संक्रमात् ८		४२७-२	प्रतिग्रहः—अम्पुस्थानं		४४८-१
अभेदं—एकत्वं		४२७-२	विषा—आहारः		४४८-२
भेदवर्जितं—पृथक्त्वरहितमर्थव्यञ्जनयोगान्तरे-			प्रमृतं—यदुप्तं धान्यं न प्ररोहति प्रकृतं वा न		
प्वसंक्रमात् १		४२७-२	फलति		४४८-५
१२सूक्ष्मक्रियाशुद्धः—		४२७-२	पारिप्लवं—नपलता		४४९-३
१३निष्क्रियं योगं—		४२७-२	कदर्याः—लुब्धाः		४४९-४
प्रसंस्थानं—ध्यानं		४२८-३	वाक्पण्याः—वन्दिनः		४५०-४
१४चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं—		४३०-३	संभली कुट्टिनी		४५०-४

इति श्रीदेवविरचितायां यशस्तिलकचम्पूकाव्ये अष्टमः अध्यायः ।

- देखिए—पृ० ४१९, टि० नं० १२ ।
- १.२.३, देखिए—पृ० ४१९ टि० नं० १६-२१ ।
- ४.५.६, देखिए—पृ० ४२४ टि० नं० ३-५ ।
- ७-१०, देखिए—पृ० ४२४ टि० नं० ८-११ ।
- अनेन पृथक्त्ववितर्काविवाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तं ।
- ११. अनेन एकत्ववितर्काविवाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तं ।

- १२. देखिए—पृ० ४२७ टि० नं० ७ ।
- १३. देखिए—पृ० ४२७ टि० नं० ८-९ ।
- १४ देखिए पृ० ४३० टि० नं० २ ।
- १५, देखिए—पृ० ४३१ टि० नं० ६ ।
- १६ १७, देखिए—पृ० ४३१ टि० नं० ८-१२ ।
- १८. देखिए—पृ० ४३४ टि० नं० ५ ।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति
पल्लव	पल्लव	७-५	तिरोदध	तिरोदधे	२५१-१
विहित	पिहित	७-५	ह्यासानां	न ह्याप्तानां	२७१-५
स्वागत	स्वागत	१७-४	पुनरप्यमित	पुनरप्यमितप्रमः	२२०-१०
पितृदहन	पितृदेवत	५०-४	भोगवती	भोगवती	२४७ टि.नं.७
वासर	वासर	६१-७	जिदनी	शिक्षां	२६० टि. पंक्ति २
स्मृतीनिहास	स्मृतीनिहास	७२-६	पुरुषाणां	पुरुषाणां	२७६-६
दिमृश्य	दिमृश्य	८३-६	मुनि	मुनि	२७७-१७
पिष्टं च	पिष्टं च	९४-४	काहले	काहलेऽ	३४७-३
सादृहास	सादृहास	९७-७	भवन्न वा	सवेन्न वा	३७०-६
विश्वकरवद्गुनीन्द्राणां	विश्वकरवद्गुनीन्द्राणां	१०७-६	धर्मानुरोधः बुद्ध्या	धर्मानुरोधबुद्ध्या	३७२-५
सवर्धमानम्	सवर्धमानम्	११२-२	देशेऽपसदः	देशेऽपसदः	३४४-२
नित्योत्सवि	नित्योत्सवि	११८-२	अहंभ्रतनुमध्ये	अहंभ्रतनुमध्ये	३८०-१
पत्ति	पत्ति	११८-७	साधुस्तदनु	साधुस्तदनु	३८०-१
अव्ययं	अव्ययं	१२०-१	रत्नत्रय	रत्नत्रय	३८०-४
नीमिमण्डला	नीमिमण्डला	१२०-२	आत्मा	आत्मा	३९३-१३
तर्ण	तर्ण	१२३-५	भवेन्नित्यं	भवेन्नित्यं	३९५-१
दिलास	विलास	१६७-११	स्मरस	स्मररस	४०२-५
रुची	रुची	१६७-११	मङ्गलम्	मनङ्गलम्	४०३-१
कुषाग्र	कुषाग्र	" "	कोडिप	कोडिप	४१०-१
पञ्चम	षष्ठ	१८३-१	मतुलत्वा	मतुलत्वाद्	४१२-९
मुख्योधा	मुख्योधा	२११-७	यदेन्द्रियाणि	यदेन्द्रियाणि	४१६-२
सीध	सीधु	२१३-९	क्षीण	क्षीणे	४३६-२
अनन्य	अन्य	१७२-१८	ह्रीं	हं	४३९-२०
दूसरे से	यदि दूसरे से	२००-२८	श्रूयामि	श्रूयामि	४४१-२
तात्त्विककत्वसद्भावे	तात्त्विककत्वसद्भावे	२०५-४	पीठोपकण्ठ	पीठोपकण्ठे	२६४-४
ओतुः-मार्जारः	ओतुः-मार्जारः	२१६-१ टि.	चरणन	चरणन	२८१-६
धिषणन	धिषणेन	२२९-१	पूजाक्षण	पूजाक्षणे	३९५-१
मागदि	मागदि	२२६-२	कि जलता	न कि जलता	४२५-१९
विद्यने	विद्यते	२३९ टि.नं. ५	दाने	दानं	४४५ टि.पं० ५